निवेदन

१. प्रायः 'कल्पना' के पाठको के इस आशय के पत्र आते रहते हैं कि उनके नगर के पत्र-विक्रेताओं के पास या उनके पास के रेल्वे स्टाल में उन्हें 'कल्पना' नही मिलती। ऐसे पाठको से हमारा निवेदन है कि कई कारणो से देश के नगर-नगर में पत्र-विक्रेताओं के माध्यम से पाठको तक 'कल्पना' पहुँचाना संभव नही है। अतः उन्हें १२) वार्षिक *शुल्क भेज कर ग्राहक बन जाना चाहिए।*

२ ग्राहको की ओर से प्राय: हमें यह शिकायत सुननी पड़ती है कि 'कल्पना' उन्हें नही मिलती। कार्यालय से 'कल्पना' भेजते समय एक-एक ग्राहक की प्रति दो बार जाँच कर भेजी जाती है, ताकि किसी की प्रति रह न जाए। फिर भी कुछ लोगो की पत्रिका न मिलने की शिकायत बनी ही रहती है। इसलिए इस वर्ष, जनवरी १९५५ से पोस्टल सर्टीफीकेट के अन्तर्गत *'कल्पना' भेजने का प्रबंध किया गया* है। इस प्रकार हम अपनी ओर से हर संभव उपाय द्वारा यह प्रबंध कर देना चाहते हैं कि यहाँ से पत्रिका रवाना करने में किसी प्रकार की चूक न हो।

३. सार्वजनिक पुस्तकालयों, शिक्षण-संस्थाओं, तथा विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों की ओर से वर्ष के अंत में प्रायः इस आशय के पत्र आते है कि उन्हें इस वर्ष अमुक अंक प्राप्त नही हुए। फाइलें पूरी करने के लिए ये अंक भेजिए। उपर्युक्त *संस्थाओं के अधिकारियों* से निवेदन है कि वे हमें ऐसे धर्म-संकट में न डाले। जब कोई अंक प्राप्त न हो, तो अपने डाकघर से पूछिए और उनके लिखित उत्तर के साथ दूसरे महीने में ही अंक प्राप्त न होने की सूचना हमें भेजिए। अन्यथा दुबारा अंक भेज सकने मे हम असमर्थ होंगे।

कल्पना

वर्ष ६ जनवरी
अंक १ १९५५

सम्पादक-मण्डल
डॉ० आर्येन्द्र शर्मा
(प्रधान संपादक)
मधुसूदन चतुर्वेदी
बद्रीविशाल पित्ती
मुनीन्द्र

कला-सम्पादक
जगदीश मित्तल

वार्षिक मूल्य १२)
एक प्रति १)

८३१, बेगमबाजार
हैदराबाद-दक्षिण

इस अंक में

निबंध

भारतीय संस्कृति : वैदिक धारा का ह्रास ५ डा० मंगलदेव शास्त्री

नयी कहानी . परंपरा और प्रयोग १८ दुष्यन्तकुमार

चिट्ठी-साहित्य ४४ केशवचन्द्र वर्मा

यूरोप की मूर्ति-कला ५० ऊषारानी

रजन जी ! ५४ यशपाल जैन

कहानी

हैं कुछ ऐसी बात, जो चुप हूँ १३ उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

परछाईं (एकांकी) २७ भारतभूषण अग्रवाल

सिगरेट की मिठाई ३६ हरिमोहन

तूफान का अंत ६० क्षीरसागर

कविता

दो कविताएँ १२ श्याममोहन

युग-पुरुष से ! ३३ उदयशंकर भट्ट

सात कविताएँ ४८ सुरेन्द्रकुमार दीक्षित

स्तंभ

संपादकीय १

समालोचना तथा पुस्तक-परिचय ६७

सांस्कृतिक टिप्पणियाँ ७९

चित्र

चुम्बन (टेम्परा) प्राणकृष्णपाल

'यूरोप की मूर्तिकला' लेख से संबंधित दो चित्र

समीक्षार्थ प्राप्त साहित्य

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
चन्देल और उनका राजत्वकाल केशवचन्द्र मिश्र

सरिता प्रकाशन, जनरल गंज, कानपुर
वारुणी सीतादेवी

लोक-सेवक प्रकाशन, बुलानाला बनारस
चन्द्रसखी और उनका काव्य पद्मावती शबनम

हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, बनारस
रवीन्द्र कविता कानन 'निराला'
स्वदेश और साहित्य शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय

सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली
भारत विभाजन की कहानी : एलन केम्पबेल जानसन
जीवन प्रभात : प्रभुदास गांधी
ब्रह्मचर्य महात्मा गांधी
खादी द्वारा ग्राम-विकास प्रभुदास गांधी

मक्तबा जामिया लि०, दिल्ली
७७ पुस्तिकाएँ

पुस्तक मन्दिर, बक्सर
सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य-नाटक सिद्धनाथ कुमार

नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर
भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास का योगदान बलदेवप्रसाद मिश्र

किताब महल, प्रयाग–३
लहर और चट्टान विश्वम्भर मानव

आत्माराम एंड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली–६
डूबते मस्तूल : श्री नरेश मेहता
जर्जर हथौड़े बरुआ

(शेष पृष्ठ ८ पर)

कला

कला-चित्र : इस अंक में प्रकाशित रंगीन चित्र 'चुम्बन' (टेम्परा) के शिल्पी हैं श्री प्राणकृष्ण पाल। जन्म-स्थान : कलकत्ता। जन्म : सन् १९१५। बचपन असाम में बीता, जहाँ उनकी कला-अभिरुचि को प्रेरणा मिली। सन् १९३१ में वे 'इंडियन सोसायटी ऑफ ओरियन्टल आर्ट' के अवनीन्द्रनाथ टैगोर स्कूल में सम्मिलित हुए और वहाँ की शिक्षा समाप्त की। म्युज़ियम कलाकार के रूप में उन्होंने सन् १९४० में कलकत्ता विश्वविद्यालय के 'म्युज़ियम ऑफ इंडियन आर्ट' में कार्य करना प्रारम्भ किया और अभी वहीं कार्य कर रहे हैं। सादगी उनकी कृतियों की विशेषता है। व्यर्थ के विस्तार को छोड़ कर सार-भूत तत्त्व को पकड़ने का प्रयत्न उनकी कृतियों में परिलक्षित होता है।

आदर्श भाषण-कला : यज्ञदत्त शर्मा

सचित्र गृह विनोद : अरुण

इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग

रात बीती : बालकृष्ण राव

श्री 'चिदानन्द', उत्कल राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, कटक–१

मन की बातें : 'चिदानन्द'

प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली–८

भारत १९५४

सामाजिक कल्याण

शारदा मंदिर, नयी सड़क, दिल्ली

मोम के मोती : रजनी पनिकर

आनन्द कुटीर, कोटा

निश्वास : अमर सिंह

अन्जुमने तरक्कीए उर्दू (हिन्द), अलीगढ़

उर्दू साहित्य का इतिहास : सैयद एहतिशाम हुसेन

सुरीले बोल : अज़मतुल्ला खाँ

पाठकों के पत्र

'कल्पना' में प्रकाशित रचनाओं के विषय में पाठकों की जो राय होती है, उसे प्रायः प्रकाशित किया जाता है। हम यह मानते हैं कि पाठक की राय लेखक के पास पहुँचाना आवश्यक है। उसमें जो ग्राह्य है, वह उसे स्वीकार करे। ऐसा न समझा जाए कि पाठकों की वह राय ही प्रकाशित की जाती है, जिससे सम्पादक-मंडल सहमत हो।

—संपादक

आज के साहित्यकारों में साधना का अभाव है और इस अभाव के फलस्वरूप वे अपने लक्ष्य 'जीवन-सत्य' के निकट पहुँचने में असमर्थ हो रहे हैं। इस संबंध में मैंने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के मेरठ अधिवेशन में होने वाले साहित्य-परिषद् में कुछ विशेष बातें कही थी,और फिर 'कल्पना' के विद्वान् पाठकों के सम्मुख उसका एक अंश रख रहा हूँ। आशा है, कि पाठकगण सहृदयता के साथ इस पर विचार करेंगे।

"जो हो, रचना-कार को अपने पैरों पर खड़ा होना है। उचित कार्य को उचित ढंग से करने की क्षमता उसे अपने में स्वयं विकसित करनी है। उसकी असमर्थता का चाहे जो भी कारण हो, आगे आने वाली पीढ़ियाँ उसकी आलोचना करने में नहीं चूकेंगी। अतएव उसे अपने मार्ग के काँटों को स्वयं ही एक ओर फेंक कर प्रगति करनी चाहिए। उसे यह बात अच्छी तरह समझ लेनी है कि उच्च कलात्मक कृतियों का निर्माण बंगलों और अट्टालिकाओं में ही सदैव नहीं होता और न मोटरों में सैर के लिए लालायित रहने वालों के द्वारा ही वह सदा होता रहा है; विश्व की महान् कृतियाँ उन महाप्राण रचनाकारों की लेखनी से प्रसूत हुई हैं जिनके पास आज भोजन है तो कल के लिए कोई प्रबंध नहीं है, जिन्होंने अनुचित

उपायों से मिलने वाले धन के लिए हाथ नहीं फैलाये, जिन्होंने पूंजीपतियों और राजकीय अधिकारियों की दरबारदारी करके उनकी कृपा अर्जित करने के स्थान में भूखों मर जाना अधिक पसन्द किया।

"यदि विवेचक को निस्संगता, निरपेक्षता, अनासक्ति की शिक्षा ग्रहण करनी है, तो रचना-कार को भी इसी पथ पर चलना है; उसे समाज के सभी वर्गों के प्रति अपने हृदय की सहानुभूति देनी है, सच्चा स्नेह देना है और फिर भी अपने निस्संग भाव को बनाये रखना है। लम्पट, पतित, चरित्र-हीन, उत्पीड़क सभी रचना-कार के प्रेम की अपेक्षा करते हैं, उसकी कृपा दृष्टि के भिखारी हैं और सबको अपनी दया, अपनी करुणा का वितरण करना उसका महान् धर्म है, जिसका पालन न करके वह स्वयं ही पतित हो जायगा। सत्य, प्रेम और अहिंसा ही एकमात्र पक्ष है, जिसके लिए रचना-कार पक्षपात कर सकता है।

"हमारे रचना-कारों को यह स्मरण रखना चाहिए कि अमृतवर्षिणी और जीवन-दायिनी पंक्तियाँ लिखने की अपेक्षा विष पिला कर जीवन का नाश करने वाली पंक्तियाँ लिखना अधिक आसान है; अच्छे बने हुए महल को एक दियासलाई एक दिन में नष्ट कर सकती है, किन्तु उसी की रचना करनी हो, तो उसके लिए बहुत-से श्रमिकों को बरसों परिश्रम करना होगा। इस बात को ध्यान में रख कर हमारे रचनाकार भावी भारतीय समाज का निर्माण करें। जो लोग यह सोचते हैं कि कांग्रेस के सभापति, अथवा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के मंत्रि-गण इस कार्य को कर लेंगे, वे भ्रम में हैं; वे केवल उस तैयार खड़ी खेती को काटने वाले मजदूर हैं, जिसे किसान रचना-कार ने बड़े परिश्रम और बहुत अधिक सावधानी के साथ बोया था।

समाज में रचना-कार का स्थान बहुत ऊँचा है; वह पृथ्वी पर का ब्रह्मा है, भू-सुर है। अपने प्रकृत

रूप म वह विवेचक से भी महान् है, चिनक से भी श्रेष्ठतर है, प्रत्येक प्रकृत विवेचक प्रकृत रचना-कार नही हो सकता, किन्तु प्रत्येक प्रकृत रचना कार में विवेचक की विशेषता स्वभावत सन्निविष्ट रहती है। विवेचक की सार्थकता ता इसी में है कि वह रचना-कार को सचेत करे, सावधान और जाग्रत बनाए। वह उसके महत्त्व को कम करने के लिए नही है, उसके चमत्कारों की घोषणा करने के लिए है। क्या ऐसे महान् रचनाकार के उच्च सिंहासन पर आसीन होना हमारे वर्तमान युग के साहित्य-स्रष्टा अपने जीवन का लक्ष्य बनाएँगे ?"

गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश', इलाहाबाद

चोरी और सीनाजोरी इस पत्र द्वारा मैं अपनी एक उर्दू में प्रकाशित कहानी की चोरी और सीनाजोरी की घटना की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना आवश्यक समझता हूँ और विनती करता हूँ कि आप अपनी मासिक पत्रिका में इस पर अपनी ओर से एक टिप्पणी लिखिए, ताकि कोई हिंदी लेखक इस प्रकार दूसरी भाषाओं से कहानियों की चोरी करके बगैर हवाला दिये न छपवा सके।

मेरी एक कहानी 'जली हुई दियासलाई' दिल्ली के उर्दू मासिक 'शमा' के विशेषाक (जनवरी १९५१) में प्रकाशित हुई थी। यह कहानी मैंने कुछ दिन बाद उर्दू ही के एक मासिक 'जमालिस्तान दिल्ली' में 'सलीम अन्जुम' के नाम के साथ छपी हुई देखी। इन लेखक महाशय को मैंने वकील द्वारा नोटिस दी, तो उन्होंने उत्तर में लिखा कि यह कहानी उन्होंने पूना के एक मराठी मासिक 'महाराष्ट्र' (अक्तूबर १०५२) से अनूदित की है। उन्होंने बुक पोस्ट से वह मराठी अक भिजवा दिया और गलती हो जाने पर खेद भी प्रकट किया। मैंने वकील द्वारा उस कहानी को अपने नाम से मराठी में छपवाने वाले लेखक श्री मनोहर देसाई और 'महाराष्ट्र' के

संपादक महाशय को नोटिस दिलवायी, तो उन दोनों महाशय ने इस गलती पर खेद प्रकट किया और श्री मनोहर देशपांडे ने लिखा कि यह कहानी उन्होंने हिंदी के एक मासिक 'मनोहर कहानियाँ' इलाहाबाद से अनुवाद की है, और तदनन्तर उन्होंने 'मनोहर कहानियाँ' का वह अंक (सितंबर १९५१) भी भिजवा दिया, जिसमें यह कहानी कोई 'परवाज़' नामक महाशय ने 'जलती हुई सलाई' शीर्षक से अपने नाम से प्रकाशित की है। 'मनोहर कहानियाँ' के संपादक और लेखक महाशय 'परवाज़' को भी मैंने वकील द्वारा लिखा। आश्चर्य तो यह है कि यह कहानी लफ़्ज़-ब-लफ़्ज़ मेरी कहानी की हिंदी में नकल है, लेकिन कहीं यह नहीं लिखा गया कि यह कहानी अनूदित है। उत्तर में इन लोगों ने खेद प्रकट करना तो दूर रहा, कोई जवाब तक न दिया। वास्तव में ग़लती हिंदी लेखक 'परवाज़' ही की है। यदि वह अपने अनुवाद के नीचे यह लिख देते कि यह कहानी उर्दू से अनुवाद की गयी है, तो मराठी अनुवादक भी अवश्य ही 'उर्दू से अनुवाद' ये शब्द नीचे लिखते और श्री सलीम अन्जुम इसे दुबारा उर्दू में तर्जुमा करने का कष्ट न करते।

पी० मनवासी, हैदराबाद।

श्री पी० मनवासी ने अपने पत्र में जिस घटना का उल्लेख किया है, वह अत्यंत अशोभनीय है और उसकी जितनी भर्त्सना की जाए थोड़ी है।

—संपादक

अक्तूबर-अंक का सुझाव : संपादकीय स्तंभ में अक्तूबर मास में हिंदी के विभक्ति-चिह्नों और पूर्वकालिक 'कर' के संबंध में संपादकों ने अपने सुझाव प्रस्तुत किये थे। नवंबर के अंक में संपादकों ने कुछ शब्दों के रूपों के संबंध में अपने विचार रखे हैं। विद्वान संपादकों ने जो सुझाव रखे हैं, स्थानाभाव के कारण हम यहाँ उनकी विस्तृत चर्चा नहीं

कर सकते। पर स्पष्ट है कि इस समय कुछ हिंदी वालों में हिंदी के रूप को बहुत कटा-बना कर देने की गहरी प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है। हमारी समझ में यह प्रयास इस समय कोई विशेष उपयोगी नहीं है। इस समय राष्ट्रभाषा के पद पर हिंदी के पदासीन हो जाने के बाद, प्रत्येक प्रदेश में हिंदी की धाराएँ फूट निकली हैं और जो तेलुगु-भाषी हिंदी लिखता है, उसमें उसके साहित्य की छाप होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार जो बंगाली या आसामी या कन्नड़ या गुजराती वाला हिंदी लिखेगा, उसमें उसकी अपनी शैली, उसकी अपनी अभिव्यक्ति उसके लिखने की अपनी छाप रहेगी ही। ये सब धाराएँ बह कर हिंदी की मुख्य धारा में मिलेंगी और तब कुछ वर्षों के बाद हिंदी का अन्तिम रूप निश्चित होगा। इस समय 'गया' 'गई' और 'आया' 'आई' के ऊपर मगजपच्ची कोई खास मतलब नहीं रखती। वस्तुतः हिंदी मुख्य धारा किस हद तक इन नयी धाराओं को हृदयगम कर सकेगी और उनसे पाएगी और उनको देगी भी, यही आज की समस्या है।

हर्षदेव मालवीय, सपादक 'आर्थिक समीक्षा',
नयी दिल्ली।

दिसम्बर अंक · दिसम्बर की 'कल्पना' देखी। सपादकीय में जो समस्याएँ उठायी गयी हैं, वे विचारपूर्ण हैं और वास्तव में ये उलझनें समाधान चाहती हैं। डा० मगलदेव शास्त्री का विवेचनात्मक लेख 'भारतीय सस्कृति : वैदिक-धारा की देन' सुंदर है। कमल जोशी की 'सैनिटी' और 'कचन' की 'जेठ की दोपहरी' कहानियाँ बहुत स्वाभाविक है। घटनाओं का सर्वथा अभाव होते हुए भी मानव मन में बैठ कर जो भावोद्घाटन किया गया है, वह बड़ा ही सटीक है। 'मीनार की बाँहें' एकांकी पढ़ कर अत्यंत निराशा हुई। मैं समझता हूँ कि
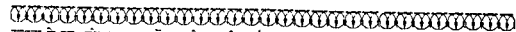
कल्पना के इन सोलह पृष्ठों में कम-से-कम तीन उत्तम रचनाएँ आ सकती थीं। एक बात जो 'साहित्य धारा' में खटकती है, वह यह है कि 'चक्रधर' की समालोचनाएँ कभी-कभी द्वेषपूर्ण होने लगती हैं। ऐसा मालूम होता है कि कुछ लोगों की रचनाएँ जिन पत्रों में छपती है, उन्हीं पत्रों का जिक्र आता है, या यह हो सकता है कि अन्य पत्र समालोचक महोदय को मिलते ही न हों। क्योंकि मैं 'सरस्वती' 'वीणा' आदि पत्रिकाओं का वर्णन नहीं देखता हूँ जब कि इन पत्रों में भी सुंदर सामग्री छपती है। समालोचक को समदर्शी होना चाहिए।

'कल्पना' कुछ विलम्ब से निकल पाती है, समय से निकले तो प्रसन्नता हो।

त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी, इलाहाबाद

'दिसंबर अंक : दिसंबर का अंक देखा। पाठकों के पत्र में श्री शांतिप्रिय द्विवेदी का पत्र हिंदी-आलोचना की एक ऐसी एकांगिता की ओर संकेत करता है, जिसे दूर करने के लिए शीघ्र कुछ ठोस कदम उठाने की जरूरत है। हिंदी-आलोचना अध्यापकीय दलीय रूप ग्रहण करती जा रही है। फलतः आलोचना भी रचनात्मकता की अपेक्षा रखती है, इस ओर ध्यान ही नहीं है। श्री शां० प्रि० द्विवेदी ऐसे आलोचकों में महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके लिए कहा गया है : To judge the poets is the faculty of the poets.

मार्कण्डेय की कहानी में मनोवैज्ञानिकता परिस्थितियों से सहज स्फूर्त है, अतः कहानी बन पड़ी है। डा० मंगलदेव और कौशिक के निबंध भी पठनीय हैं। कविताएँ 'बाजार भाव' की अच्छी हैं।

चक्रधर की 'साहित्य-धारा' सतही है। नाम से अंदाज लगा कर काम चलाना आलोचना नहीं, दूकानदारी है, जिसमें वस्तु की विशिष्टता नहीं खरीदार की रुचि का आग्रह महत्त्व रखता है। हिंदी आलोचना बे-पर उड़ने की कोशिश न करे, इसके लिए परीक्षणात्मक (Practical) प्रणाली को समृद्ध करने की जरूरत है। 'कविता' ने प्रसाद के एक गीत की ऐसी परीक्षा प्रस्तुत की है। संभवतः इस ढंग का यह हिंदी में पहला प्रयास है।

पिछले कई अंकों से आप भाषा और व्याकरण की समस्याओं को उठा रहे हैं। आपका कहना पूरा हो जाए, तब मैं अपने विचार भेजूँगा।

सिद्धेश्वर प्रसाद, बिहार शरीफ (बिहार)

'संतुलन' की आलोचना : 'संतुलन' पर शिवनन्दन प्रसाद जी की आलोचना पढ़ी। इस पुस्तक पर 'पुस्तकालय संदेश' में रामचंद्र पाण्डेय, 'साहित्य-संदेश' और 'सम्मेलन पत्रिका' में डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की आलोचनाएँ भी मैंने पढ़ीं। आलोचकों को अपना-अपना मत रखने का पूरा अधिकार और स्वातन्त्र्य है। परन्तु एक मनोरंजक बात जो जान पड़ी कि 'क्यूरेट' का अंडा जैसे सब हिस्सों में अच्छा नहीं होता, वैसे ही आलोचना का है। जो हिस्सा एक को नापसंद है, वही दूसरे को एकदम पसंद है। 'रुचीनां वैचित्र्या.'!

लेखक के नाते केवल एक कैफियत देना चाहता हूँ कि पुस्तक का संपादन श्री विजयेंद्र स्नातक ने किया है—भूमिका भी उन्हीं की है। मैंने अपने बहुत-से निबंध उनके हवाले कर दिये थे—चुनाव उनका है। प्रकाशकों ने मुझसे विशेष रूप से एक भूमिका लिखवायी थी वह न छाप कर मेरे साथ बड़ा अन्याय किया। वैसे प्रतिष्ठित (?) प्रकाशक ने न तो मुझसे कंट्रैक्ट ही किया न एक कौड़ी मुझे दी। पुस्तक विजयेंद्र जी की मारफत गयी थी—उन्हें पुस्तक छपने ही दो प्रतियाँ दीं। मुझे बड़ी झिकझिक के बाद डेढ़ महीने में दस-पंद्रह प्रतियाँ मिलीं। ऐसी दशा में इतना बताना अलम होगा कि मेरे निबंध सन् '४० से '५० तक के हैं।

प्रभाकर माचवे, नयी दिल्ली

'कल्पना' : 'कल्पना' हिंदी-जगत् का गौरव हो चली है। आशा है, आप बराबर यही स्टैंडर्ड कायम रखेंगे।

जगदीशचंद्र माथुर, पटना

चुम्बन (टेम्परा)   प्रानकृष्ण पाल (१६१५)
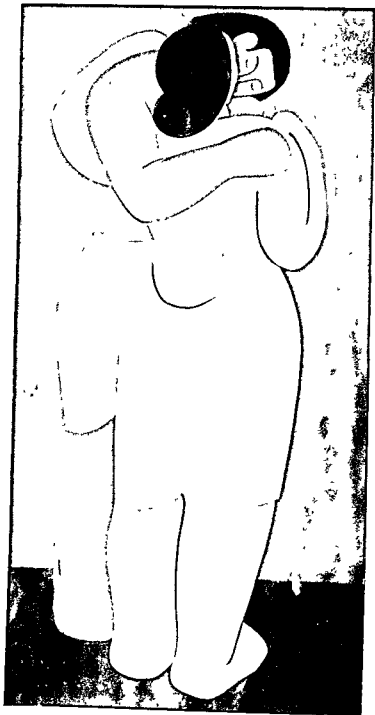
सम्पादकीय

'कल्पना' का छठा वर्ष

प्रस्तुत अंक के साथ 'कल्पना' अपने जीवन के छठे वर्ष मे प्रवेश करती है। पिछले पाँच वर्षो में 'कल्पना' हिन्दी की कुछ सेवा कर सकी है या नही; कला, साहित्य और सस्कृति की उन्नति मे कुछ सहयोग दे सकी है या नही—इसका निर्णय हम सहृदय पाठको और आलोचकों पर ही छोडते है। अपनी बुद्धि, ज्ञान तथा परिस्थितियो की सीमा मे रहते हुए हम इस दिशा में जितना प्रयत्न कर सकते थे, उतना करते रहे है, यही हम कह सकते है। लेखो, कविताओ और कहानियो के चुनाव में, जैसा हम पहले भी निवेदन कर चुके है, हमने साहित्यकार के व्यक्तित्व की अपेक्षा उसकी रचना को ही मूल्याङ्कन का अधिक प्रामाणिक मान दण्ड माना है। हिन्दी के अनेक महारथियो की रचनाएं हमने अस्वीकृत की है, और प्राय. अज्ञात व्यक्तियो की रचनाओ को स्वीकृत किया है। चुनाव मे हमसे भूले हुई होगी, पर आदर्श की उपेक्षा कभी नही हुई। नये, पुराने सभी लेखको से हमारी सदा यही प्रार्थना रहती है—आप चलते-फिरते साहित्य-निर्माण की चेष्टा न करे, इसके लिए सर्वात्मना प्रयत्न और श्रम करे, अपने महान् उत्तरदायित्व का ध्यान रखें।

'कल्पना' के सपादकीय लेखो के विषय में भी हम कुछ निवेदन कर दे। इस संबध में हमारी नीति प्रारभ से ही यह रही है कि केवल भाषा, साहित्य, सस्कृति और कला की समस्याओ पर प्रकाश डाला जाए या सुझाव दिये जाएँ। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रश्नो पर सपादकीय लिखना हमें अभीष्ट नही, न किसी नेता अथवा प्रतिष्ठित व्यक्ति के भाषण की प्रशसात्मक या निन्दात्मक आलोचना करना, और न किसी वाद का प्रचार करना। इस प्रकार के चटपटे सपादकीय अपेक्षाकृत सरलता से लिखे जा सकते है। किन्तु जिस पत्र ने हिन्दी की सेवा को अपना उद्देश्य माना हो और जो स्थायी महत्त्व के साहित्य का निर्माण चाहता हो, उसे इस सुविधा के लाभ से वञ्चित ही रहना पडेगा। आलोचकों से प्रार्थना है कि वे 'कल्पना' के संपादकीयो को इस दृष्टि से भी देखने की चेष्टा करें। हिन्दी भाषा और व्याकरण से सबंधित

हमारे मपादकीयो के विषय में कुछ आलोचको का कहना है कि ये अनावश्यक है. राष्ट्र-भाषा अभी बन रहा है, इसे अभी से सुव्यवस्थित रूप देने की चेष्टा व्यर्थ है, इत्यादि। किन्तु हम इससे सहमत नही। हमारा विचार है कि हिन्दी की वर्तमान अव्यवस्थाएँ न केवल हिन्दी-भाषियो के लिए लज्जा-जनक है, राष्ट्र भाषा के प्रचार में रोडा अटकाने वाली भी है। इसका अनुमान हिन्दी-प्रदेश के निवासियो को नही होता, पर हिन्दी सीखने वाले अहिन्दी-भाषियो से तो पूछिए! हिन्दी का अखिल-भारतीय रूप पचास या सौ वर्ष के बाद क्या होगा, यह कोई समस्या नही है, है भी तो बहुत दूर की। हिन्दी का सुनिश्चित वर्तमान रूप क्या है, यह बताना पहले आवश्यक है, और इसके लिए अव्यवस्थाएँ दूर करना अनिवार्य है।

हिन्दी व्याकरण की कुछ समस्याएँ (२)

'कल्पना' के पिछले अक मे हमने हिन्दी वर्ण माला, उच्चारण स्वराघात आदि के सबध में कुछ विचार प्रस्तुत किये थे। इस अक मे हम शब्द-साधन से सबधित कुछ समस्याओ का विवेचन करेंगे।

१. अधिकाश हिन्दी व्याकरणो मे अग्रेजी व्याकरण के अनुसार सज्ञा के पाँच भेद किये जाते हैं—व्यक्तिवाचक जातिवाचक, भाववाचक, पदार्थवाचक और समूहवाचक। ये विभाजन सज्ञाओ की प्रकृति और उनका प्रयोग समझने के लिए उपयोगी है, किन्तु व्याकरण मे लगभग निष्प्रयोजन है, क्योकि रूप-भेद आदि की दृष्टि से इनमे परस्पर कोई अन्तर नही है—सिवाय इसके कि व्यक्तिवाचक और कुछ भाववाचक तथा समूहवाचक सज्ञाएँ केवल एकवचन मे प्रयुक्त होती है। सस्कृत मे सज्ञाओ का इस प्रकार का विभाजन अज्ञात है। हिन्दी व्याकरण से भी इस झमेले को दूर कर दिया जाए तो उचित होगा।

२ यही बात विशेषणो के सबध में भी कही जा सकती है। विशेषणो के गुणवाचक, सख्यावाचक, परिमाणवाचक, सार्वनामिक इत्यादि अनेक भेद और उपभेद किये जाते है जो वस्तुत अनावश्यक है। सभी विशेषण एक प्रकार से प्रयुक्त और एक ही तरह से परिवर्तित होते हैं। अर्थ की दृष्टि से इनका विभाजन किया जाए तो भेदो की सख्या बहुत बडी हो सकती है। उदाहरण के लिए, गुणवाचक विशेषण ही आकृति-वाचक, रगवाचक, स्थानवाचक, कालवाचक इत्यादि अनेक उपभेदो में विभक्त किये जा सकते है। किन्तु इस विभाजन का कोई उपयोग नही है। अर्थ-विभिन्नता का निर्देश विशेषण के सामान्य विवेचन में कर देना पर्याप्त होगा।

३ उपर्युक्त के विपरीत हिन्दी व्याकरण में लिंग-भेद का विवेचन एक अश में अधूरा किया जाता है। सभवत कोई व्याकरण नही बताता कि हिन्दी में पुल्लिग और स्त्रीलिग के अतिरिक्त नपुसक लिग भी अभी तक वर्तमान है, उसका सर्वथा लोप नही हो गया है। कर्मवाचक की विभक्ति के प्रयोग में प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक सज्ञाओ का पारस्परिक भेद स्पष्ट दिखाई पडता है। प्राणिवाचक सज्ञाओ मे 'को' लगाया जाता है और अप्राणिवाचक सज्ञाओं में नही—मै राम को देखता हूँ और मै किताब देखता हूँ। इसी प्रकार क्या और कुछ ये दो सर्वनाम केवल अप्राणिवाचक पदार्थों के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। यह ठीक है कि हिन्दी मे अनेक अप्राणिवाचक शब्द स्त्रीलिग माने जाते है किन्तु प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक का भेद ही यह प्रमाणित करता है कि हिन्दी भाषा अभी तक सस्कृत के नपुसक लिग को भूली नही है। और क्या तथा कुछ तो रूप में भी स्पष्ट नपुसक लिग है।

४. किन्तु इन सबसे बडी समस्या कारक की है। पहले तो कारक क्या है इसी सबध में हमारे वैयाकरण एकमत नही है। कुछ का कहना है कि सज्ञा अथवा सर्वनाम का वह रूप, जो उसका सबध वाक्य के दूसरे शब्दो के साथ बताता है, कारक है। दूसरो के अनुसार, कारक वह सबध है जो वाक्य का एक शब्द दूसरे

शब्दों के साथ रखता है। इसी प्रश्न के साथ विभक्ति का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। यदि कारक का अर्थ संज्ञाओं के विभिन्न रूप किया जाए तो विभक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं रहता, क्योंकि संज्ञाओं के रूप में को, ने से आदि विभक्तियां भी सम्मिलित हो मानी जाना चाहिए। आश्चर्य है कि श्री कामताप्रसाद गुरु जैसे वैयाकरण ने कारक का अर्थ तो संज्ञा या सर्वनाम का रूप किया है और साथ ही यह भी कहा है कि कारक सूचित करने के लिए संज्ञा या सर्वनाम के आगे जो प्रत्यय लगाये जाते हैं उन्हें विभक्तियां कहते हैं (अंक ३०४)। सम्भवतः यहां गुरु जी कारण शब्द को संबंध के अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं। यह अव्यवस्था संस्कृत व्याकरण के अनुकरण का फल है। संस्कृत में कारक और विभक्ति का भेद बिलकुल स्पष्ट है। कारक वाक्य की क्रिया के साथ अन्वय रखने वाली संज्ञा है और विभक्ति उस अन्वय का सूचित करने वाले प्रत्यय हैं। संस्कृत में ये आठ वर्गों में विभाजित हैं, इसलिए विभक्तियां भी आठ मानी गयी हैं। इसके विपरीत संस्कृत में कारकों की संख्या छह है, और प्रत्येक कारक में अनेक प्रकार के संबंध सम्मिलित हैं। उदाहरण के लिए, अपादान कारक न केवल उस संज्ञा को कहेंगे, जिससे कोई वस्तु पृथक् हुई हो (वृक्ष से पत्ता गिरता है), बल्कि भय का हेतु, उद्भव-स्थान, अध्यापक इत्यादि अन्य अनेक संबंध रखने वाला संज्ञा भी अपादान कहाती है (चोर से डरता है, हिमालय से गंगा निकलती है, गुरु से वेद पढ़ते हैं)। किन्तु इन सब संबंधों का सूचित करने के लिए संस्कृत में एक ही (पञ्चमी) विभक्ति का प्रयोग होता है। साथ ही संस्कृत में प्रत्येक विभक्ति संज्ञा के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ी रहती है। इसलिए प्रत्येक का रूप निश्चित और स्पष्ट है। इसके विपरीत हिन्दी में विभक्तियां संज्ञाओं से अलग रहती हैं। विभक्तियां लगने से पहले संज्ञाओं के रूप कुछ परिवर्तित अवश्य हो जाते हैं, किन्तु यह परिवर्तन सभी विभक्तियों के लिए एक ही-सा होता है। उदाहरण के लिए, लड़का शब्द का परिवर्तित रूप लड़के और लड़कों है। ने, से, का, आदि समस्त विभक्तियां इन्हीं परिवर्तित रूपों में जोड़ दी जाती हैं। लड़के ने, लड़के से, लड़कों को, इत्यादि। साथ ही एक ही विभक्ति कई अर्थों को सूचित करती है। से संस्कृत के अपादान कारक का भी चिह्न है और करण का भी। इसी प्रकार को संस्कृत के सम्प्रदान कारक का भी चिह्न है और कर्म कारक का भी। हिन्दी की ने विभक्ति अपना अस्तित्व पृथक् ही रखती है।

अब यदि संस्कृत के अनुसार कारक को 'क्रिया से संबंध रखने वाली संज्ञा' माना जाए, जिसमें एक विशेष विभक्ति जुड़ी रहती है तो हिंदी में अपादान और करण को तथा सम्प्रदान और कर्म को एक ही कारक मानना पड़ेगा, क्योंकि दोनों में से तथा को विभक्तियां लगती हैं। संस्कृत में कारक-भेद केवल अर्थ-भेद पर आश्रित नहीं है, प्रत्युत प्रधानतः विभक्ति-भेद पर आश्रित है। अपादान में कई तरह के संबंध सम्मिलित हैं, परन्तु विभक्ति एक ही रहती है। इसी प्रकार हिंदी में उन समस्त कारकों को जिनमें से विभक्ति रहती है, एक ही कारक के अन्तर्गत रखा जाना आवश्यक है।

दूसरी ओर यदि हम विभक्ति-युक्त संज्ञाओं के रूप को कारक का नाम दें तो विभक्ति-रहित रूप तथा को, ने, से, का (की, के) और में (पर), इस प्रकार केवल छह ही कारक माने जा सकते हैं। इस अवस्था में न करण कारक के लिए कोई स्थान है और न सम्प्रदान कारक के लिए। करण कारक में भी से विभक्ति रहती है और अपादान कारक में भी, यह कहने का कोई अर्थ ही नहीं होता। केवल अर्थ-भेद से कारक-भेद माना जाए तो कारकों की संख्या शायद कई दर्जन हो जाएगी। वृक्ष से पत्ता गिरता है, चाकू से कलम बनाओ, वह सवेरे से पढ़ रहा है, राम से कहो, गंगा हिमालय से निकलती है, बच्चा कुत्ते से डरता है, राम श्याम से बड़ा है, वह हैजे से मरा, ध्यान से सुनो, इन सब वाक्यों में से द्वारा सूचित अर्थ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। इन सब अर्थों को सूचित करने वाले से से युक्त संज्ञाओं को किस कारक का नाम दिया जाए? इसी प्रकार, लड़के को फल दो, शाम को आओ, राम को भूख लगी है, चोर को दंड मिला, इत्यादि वाक्यों में को अनेक अर्थों को सूचित

करता है। इन को—युक्त संज्ञाओं को एक ही कारक माना जाए अथवा अनेक? यह कहना किसी प्रकार संगत नहीं होगा कि साधन का संबंध रखने वाली संज्ञाओं को करण, और पृथकता का संबंध रखने वाली संज्ञाओं को अपादान कहा जाए, तथा जिस पर क्रिया के व्यापार का फल पड़ता हो उस संज्ञा को कर्म और जिसके लिए कोई क्रिया की जाती है, उस संज्ञा को सम्प्रदान माना जाए। इस दशा में उपर्युक्त वाक्यों में से और को के द्वारा जो अन्य संबंध सूचित किये गये हैं उन सबके लिए अलग-अलग नाम रखने पड़ेंगे। और रूप के अनुसार कारक-भेद माना जाए, तो से वाली समस्त संज्ञाओं को अपादान अथवा करण और को वाली समस्त संज्ञाओं को कर्म अथवा सम्प्रदान मानना आवश्यक होगा।

इस झमेले का एक ही समाधान है और वह यह कि हिंदी में केवल दो कारक माने जाएँ—एक अविकारी और एक विकारी और कारक का अर्थ केवल संज्ञाओं का रूप माना जाए। लड़का का अविकारी कारक (रूप) एकवचन में लड़का और बहुवचन में लड़के तथा विकारी कारक एकवचन में लड़के और बहुवचन में लड़कों। ने, से को आदि को विभक्तियाँ माना जाए जिनमें से प्रत्येक अनेक अर्थ सूचित कर सकती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये विभक्तियाँ केवल विकारी कारक में लग सकती हैं (यह बात अलग है कि कुछ संज्ञाएँ विकारी कारक में भी परिवर्तित नहीं होतीं)। संस्कृत में छह कारक मानना इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक संज्ञा के रूप परस्पर भिन्न हैं यद्यपि प्रत्येक रूप अनेक अर्थों को सूचित कर सकता है। हिंदी में केवल विभक्तियाँ ही अर्थों को सूचित करती हैं संज्ञाओं के रूप नहीं। इसलिए संस्कृत के आधार पर हिंदी में भी छह कारक अथवा आठ विभक्तियाँ रखना न्याय-संगत नहीं है।

श्री रंजन अब न रहे, इस पर मन को विश्वास नहीं होता, लेकिन आँखों ने जो देखा है, उसे कैसे झुठलाया जा सकता है। १५ जनवरी की रात में १॥ बजे एकाएक हृदय की गति अव्यवस्थित हो गयी और दायें अंग में पक्षाघात हो गया। प्रारंभ में ही चेतनता जाती रही। ५२-५३ घंटे तक उसी अवस्था में रहे, उपचार चलता रहा, लेकिन वे हमारे देखते-देखते चल दिये, और हम निस्सहाय-से कुछ कर नहीं पाये।

रंजन जी में सघर्षशीलता और मृदुता का अनूठा समन्वय था। उनकी आडम्बर-हीन, निष्कपट, स्पष्टवादी, सहृदय और त्यागशील प्रकृति ने उन्हें इतना सर्वप्रिय बना दिया था, कि सब जगह, जहाँ भी वे गये लोग उन्हें आत्मीय मानते थे। विरोधियों के भी वे विश्वासपात्र थे। उनके इस असामयिक और आकस्मिक देहावसान से हजारों व्यक्ति, जो उन्हें किसी भी रूप में जानते थे, आज शोक विह्वल हैं। 'कल्पना' का तो यह एक अपार क्षति है, क्योंकि 'कल्पना' की कल्पना करने और उसे मूर्त रूप देने में उनका बड़ा हाथ था। जब वे साहित्य का क्षेत्र छोड़ कर कृषि-कार्य करने गये, और हृदय-रोग से आक्रान्त होने पर पुनः हैदराबाद आ कर शिक्षण के कार्य में लगे, तब भी वे 'कल्पना' के 'अभिन्न' बने रहे।

उनका सारा जीवन ही जैसे सेवा का एक व्रत रहा। राजनीति, हिंदी प्रचार, पत्रकारिता, साहित्य-सेवा, अध्यापन— जो भी काम उन्होंने अपने हाथ में लिया, उसे एक निष्काम कर्मयोगी की तरह करते रहे। जीवन के अंतिम दो वर्षों में हृदय रोग से पीड़ित रहते हुए भी उन्होंने हैदराबाद में एक शिक्षण-संस्था के संचालन और उसकी अभिवृद्धि के लिए जो कार्य किये, उन्हें देखने का जिन्हें अवसर मिला है वे उनकी कार्य शक्ति का अनुमान करके दंग रह जाते हैं।

हम उन सभी संस्थाओं, व्यक्तियों, शोक-संतप्त पत्नी तथा बच्चों के प्रति, जो आज इस महान् दुःख में सहभागी हैं, अपनी समवेदना और सहानुभूति प्रकट करते हैं और हमें इस दुःख को शान्तिपूर्वक सह सकने की शक्ति प्राप्त हो, इसकी कामना करते हैं।

मंगलदेव शास्त्री | भारतीय संस्कृति : वैदिक धारा का ह्रास

भारतीय संस्कृति-संबंधी पिछले लेखों में वैदिक धारा का जो वर्णन दिया गया है, उससे भारतीय संस्कृति के विकास में वैदिक-धारा का अद्वितीय महत्त्व स्पष्ट है। न केवल जीवन में सुखद, स्वस्थ, भव्य और स्वर्गीय भावना के माधुर्य-रस का संचार करने वाली अपनी अद्भुत दार्शनिक दृष्टि के कारण ही, न केवल अपनी उदात्त नैतिक भावनाओं के कारण ही, न केवल मनुष्य-जीवन के कर्तव्यों के विषय में अपनी व्यापक दृष्टि के कारण ही, अपितु भारतीय संस्कृति के विकास में अपने बहुमुखी, व्यापक और शाश्वतिक प्रभाव के कारण भी, वैदिक-धारा, निस्सन्देह, सदा के लिए, हमें ही नहीं, समस्त मानव-जाति को भी, प्रेरणा और प्रकाश देने वाली रहेगी।

यह आश्चर्य और खेद का भी विषय है कि उक्त उत्कृष्ट गुणों से युक्त होने पर भी, वैदिक धारा आज चिरकाल से एक जीवित परंपरा के रूप में हमारे देश में विलुप्त-सी हो गयी है।

भारतीय संस्कृति की प्रगति और विकास पर विचार करते हुए ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है, कि वैदिक धारा, जिससे व्यक्त रूप में भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ होता है, आगे चल कर, विनशन-प्रदेश में ऐतिहासिक सरस्वती नदी की तरह[१], प्रायः लुप्त हो जाती है और उसके स्थान में अन्य धाराएँ दीखती हैं।

भारतीय संस्कृति की प्रगति और विकास को एक अविच्छिन्न धारावाहिक जीवित परंपरा के रूप में

१. देखिए—"वैदिक धारा की तीन अवस्थाएँ" पृ० ५, 'कल्पना', जुलाई, १९५४।

समझने के लिए, और साथ ही वैदिक धारा के अनन्तर आनेवाली धाराओं के उदय की तात्कालिक परिस्थिति की आवश्यकता के रूप में, बुद्धिगत करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन कारणों का पता लगाएँ, जिनसे वैदिक धारा का अपना प्रवाह मन्द पड़ गया और भारतीय संस्कृति के प्रवाह में एक नया वेग लाने के लिए नयी धारा या धाराओं के योगदान की आवश्यकता हुई।

इस लेख में मुख्यत. हम यहीं दिखलाना चाहते हैं।

वैदिक धारा के ह्रास के कारण जैसा हम पहले कह चुके हैं, किसी ऐतिहासिक विकास या ह्रास के अध्ययन में हमें प्रथमतः उसके अपने अन्दर के कारणों को ही ढूँढना चाहिए। इसलिए स्वभावत वैदिक धारा के ह्रास और मन्दता के कारणों को हमें वैदिक धारा में ही देखने का यत्न करना चाहिए।

याज्ञिक कर्मकाण्ड का मौलिक रूप : वैदिक धारा की तीन अवस्थाओं को दिखलाते हुए ('कल्पना', जुलाई, १९५८) हमने कहा है कि वैदिक धारा के द्वितीय काल में, जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और सुसंगठित करने की प्रवृत्ति के आधार पर याज्ञिक कर्मकाण्ड का, एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में प्रारम्भ हुआ था। वैदिक धारा के तृतीय काल में उसी वैदिक (या श्रौत) कर्मकाण्ड को व्यवस्थित किया गया।

वैदिक धारा के उत्कर्ष के दिनों में याज्ञिक कर्मकाण्ड ही उसका महान् प्रतीक माना जाता था।

याज्ञिक प्रथा का विकास आर्य-जनता की अन्तरात्मा में हुआ था। उस समय उसमें स्वाभाविकता और सार्थकता विद्यमान थी। श्रद्धा, भक्ति और उल्लास की भावनाओं का मूर्तीकरण ही उसका आधार था।

अपने उत्कर्ष के दिनों में भी वह प्रथा समस्त आर्य-जाति के जीवन को प्रतिबिम्बित करती थी। उसकी सारी व्यवस्था में ब्रह्म, क्षत्र और विश् का (पीछे से ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का) पदे-पदे सहयोग स्पष्टतया दिखाई देता है; यहाँ तक कि याज्ञिक मन्त्रों के छन्दों का और याज्ञिक देवताओं का भी उक्त तीनों वर्णों के आधार पर वर्गीकरण किया गया था। उदाहरणार्थ, गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती, इन वैदिक छन्दों का संबंध क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र और विश् से समझा जाता था[1]। इसी तरह, अग्नि, इन्द्र और मरुतों का (तथा अन्यान्य देवताओं का भी) संबंध क्रमशः उक्त तीनों वर्णों से माना जाता था[2]।

इसका अर्थ कम-से-कम यह तो है ही कि याज्ञिक कर्मकाण्ड में समस्त आर्य-जनता का ममत्व और सहयोग था। उस समय के यज्ञों को केवल ब्राह्मणों की देवपूजा ही न समझना चाहिए। उनमें आर्य-जनता के सब वर्गों के लिए आकर्षण, रंजन और मनोविनोद का सम्भार रहता था। उदाहरणार्थ, 'वाजपेय याग', में मध्याह्न में 'रथों की दौड़' (=आजि-धावनम्)[3] नामक विचित्र दृश्य उपस्थित होता था, जो इस यज्ञ का प्रधान अंग माना जाता था। राजसूय-यज्ञ में द्यूत का विधान है[4]। इसी प्रकार अश्वमेध-यज्ञ में 'पारिप्लव'[5] नामक उपाख्यान (या कहानी) बहुत दिनों तक चलता था। उसमें सारी प्रजा, स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध, आकर इकट्ठे होते थे। वीणा बजाने वालों के झुंड-के-झुंड आ जुटते थे। इस प्रकार के नाना प्रदर्शनों से युक्त

[1] तु० "गायत्रो वै ब्राह्मण:", "त्रैष्टुभो वै राजन्य:", "जागतो वै वैश्य:" (ऐतरेय-ब्राह्मण १।२८)। [2] तु० "ब्रह्म वा अग्निः। क्षत्रमिन्द्र:" (शतपथ ब्रा० २।५।४।८)। "क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुत:" (शतपथ ब्रा० २।५।२।२७)। "क्षत्रं वै वरुणो विशो मरुत:" (शतपथ ब्रा० २।५।२।६)। [3] देखिए—शतपथ-ब्राह्मण (५।१।५)। [4] देखिए—शतपथ-ब्राह्मण (५।४।४।२३)। [5] देखिए—शतपथ-ब्राह्मण (१३।४।३)।

उन दिनों के यज्ञ, आज की पूजा के स्थानीय होने के साथ-साथ, आजकल के नाटकों और 'सिनेमाओं' आदि का भी काम करते थे।

उनमें जिन वैदिक मंत्रों का प्रयोग किया जाता था, उनमें उपयुक्तता के साथ-साथ सार्थकता या वास्तविकता भी रहती थी। उनको कहने वाले और सुनने वाले भी इसी तरह समझते होंगे, जैसे आजकल के नाटकों में पात्रों के वचनों को सब समझते हैं।

निम्न-लिखित वचन उसी समय के यज्ञ के स्वरूप को प्रकट करते हैं —

यजमानो वै यज्ञ (ऐतरेय-ब्राह्मण १।२८)

अर्थात् यजमान का स्वरूप ही यज्ञ में प्रतिफलित होता है।

आत्मा वै यज्ञस्य यजमानोऽङ्गान्यृत्विजः

(शतपथ ब्रा० ९।५।२।१६)

अर्थात् यजमान ही यज्ञ का आत्मा होता है। ऋत्विज् अंग होते हैं।

यत्र क्व च यजमानवशो भवति, कल्पत एव यज्ञोऽपि। तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैव विद्वान् यजमानो वशी यजते। (ऐतरेय ब्राह्मण ३।१३)

अर्थात्, यज्ञ में तभी तक वास्तविकता रहती है, जब तक वह विद्वान् यजमान की अनुकूलता या अधीनता में रहता है। उसी दशा में वह जनता का हित संपादन कर सकता है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड का अपकर्ष : धीरे-धीरे यज्ञों में जनता का वास्तविक सहयोग और सार्थकता घटने लगी। भावना का, जो कि किसी भी महत्त्व के कर्म में प्राण-स्थानीय होती है१, विलोप होने लगा। इसी से उनमें यान्त्रिकता का रूप आने लगा। उनमें परोक्षवाद२ और जादूपने का प्रभाव बढ़ने लगा। अर्थ के स्थान में मंत्रों के शब्दों को *ही अधिकाधिक महत्त्व दिया जाने लगा। ऐसा* समझा जाने लगा कि यज्ञों में जो मंत्र प्रयुक्त होते हैं, 'उनका क्या अर्थ या उपयुक्तता है' इसके ज्ञान की कोई आवश्यकता या उपयोगिता नहीं है। मंत्रों के शब्दों में ही कोई ऐसी अद्भुत अथवा परोक्ष शक्ति है, जिसके कारण सारे अभीष्टों की प्राप्ति यज्ञों द्वारा हो सकती है३।

ऐतरेय-ब्राह्मण (३।२२) में एक प्रसंग में कहा है कि अभिमंत्रित तृण को फेंकने से ही शत्रु-सेना को भगाया जा सकता है४।

ऐसी स्थिति में याज्ञिक कर्मकाण्ड की छोटी-से-छोटी बातों को (जैसे, कौन-सी आहुति कैसे और कब देना चाहिए, किस यज्ञ पात्र का किस प्रकार उपयोग आदि करना चाहिए) बड़ा महत्त्व दिया जाना स्वाभाविक था५।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के प्रतिपादक ब्राह्मण आदि

---

१. तु० "श्रा त्वैव श्रद्धायै होतव्यम्" (ऐतरेय- ब्रा० ५।२७) तथा "मनसा वै यज्ञस्तायते मनसाक्रियते" (ऐतरेय-ब्रा० ३।११)। २ तु० "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" (ऐतरेय-ब्रा० ३।४३)। ३ तु० "ब्रह्महि देवान् प्रच्यावयति" (शतपथ० ३।३।४।१७)। ४ देखिए—"तद्यथैवाद स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमानैति, एवमेव सा सेना भज्यमाना निलीयमानैति यत्रैव विद्वांस्तृणमुभयत परिच्छिद्येतरा सेनामभ्यस्यति। (ऐतरेय-ब्रा० ३।२२)। ५ उदाहरणार्थ देखिए—"स वै स्रुवमेवाग्रे समार्ष्टि। अथेतरा स्रुच। योषा वै स्रुग्वृषा स्रुवस्तस्मात्। यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्धं यन्ति, य एव तास्वपि कुमारक इव पुमान् भवति स एव तत्र प्रथम एति, अनूच्य इतरा। तस्मात् स्रुवमेवाग्रे समार्ष्टि। अथेतराः स्रुचः।" (शतपथ० १।३।१।९)। यहाँ स्रुवा और स्रुचों (भिन्न भिन्न प्रकार के चम्मचों जैसे यज्ञपात्र) में से पहले किस को साफ करना चाहिए इस प्रश्न का विचित्र तर्क द्वारा निर्णय किया गया है। इस तरह के विचार ब्राह्मण-ग्रंथों में भरे पड़े हैं।

ग्रंथों में उस कर्मकाण्ड के संबंध में थोड़ी-से-थोड़ी च्युति या त्रुटि के लिए प्रायश्चित्तों का विधान पाया जाता है। उसमें जहाँ एक ओर उस समय के कर्मकाण्ड की यान्त्रिकता स्पष्ट प्रतीत होती है, वहाँ दूसरी ओर उस पर हँसी भी आती है।

उदाहरणार्थ, ऐतरेय-ब्राह्मण के ३२ वें अध्याय में, अग्निहोत्री गौ (=जिसका दूध अग्निहोत्र हवि. के काम में आता था) के, दूध दुहते समय, बैठ जाने पर, रँभाने पर, अथवा छटक कर अलग खड़ी हो जाने पर, या गरम करते हुए दूध के गिर जाने पर, तरह-तरह के प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष के कारण : याज्ञिक कर्मकाण्ड के विषय में दृष्टि का यह खेद-जनक परिवर्तन क्यों और कैसे हो गया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जहाँ-तक हमने इस प्रश्न पर विचार किया है, हम यही समझते हैं कि राजनीतिक आदि कारणों से देश की क्रमश बदलती हुई परिस्थिति में आर्यजाति के स्वरूप में कुछ ऐसे मौलिक परिवर्तन हुए, जिनसे याज्ञिक कर्मकाण्ड, जनता के जीवन-नियत्रण और वृद्धिपूर्वक सहयोग से क्रमश दूर होते हुए, अपनी ही उत्तरोत्तर बढ़ती हुई पारिभाषिक जटिलता के कारण प्राय जन्म-मूलक पुरोहित-वर्ग के ही अनियन्त्रित एकाधिकार की वस्तु बन गया।

वैदिक-धारा के क्रमिक उत्कर्ष की जिन तीन अवस्थाओं का हमने पहले वर्णन किया है, उनका प्रभाव स्वभावत. आर्य-जाति के उत्साहमय, उल्लासमय, कर्मशील और सुसंगठित जीवन में दिखाई देता था। पर प्रत्येक राजनीतिक उत्कर्ष की प्रतिक्रिया प्राय अकर्मण्यता, आलस्य, आदर्शहीनता और रूढ़िपरता के जीवन में हुआ करती है। इसलिए वैदिक धारा के तृतीय काल के अनन्तर, जब कि बाह्य और आन्तरिक सघर्ष के प्राय समाप्त हो जाने से आर्य-जाति के विभिन्न वर्ग सुख और चैन का जीवन व्यतीत करने लगे थे, उनमें अकर्मण्यता, आलस्य आदि की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों का आ जाना स्वाभाविक था। साथ ही, जिसको जो महत्त्व, पद, अथवा विशेषाधिकार प्राप्त हो चुका था, वह उसी के स्थायित्व और पुष्टि में लगा था। यदि क्षत्रिय अपने राजनीतिक महत्त्व को स्थायी करना चाहता था, तो ब्राह्मण भी अपने पौरोहित्य के लाभों को सुरक्षित और दृढ़ करने में सलग्न था। इसी वातावरण में, शक्ति और प्रभाव के केन्द्रीभूत होने से, तत्तद् पदों और वर्गों में रूढ़ि और स्थिरता आने लगी, और सामान्य आर्य-जनता (=विश् या प्रजा) में से ही रूढ़ि-मूलक ब्राह्मण-वर्ग तथा क्षत्रिय-वर्ग के साथ-साथ वैश्य-वर्ग का भी प्रारम्भ हुआ। दूसरे शब्दों में, यही रूढ़ि-मूलक-वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ था[1]।

वर्ग-व्यवस्था में रूढ़ि-मूलकता के आ जाने पर, तत्तद् वर्गों में स्वार्थ तथा अकर्मण्यता की प्रवृत्ति का

१ *याज्ञिक कर्मकाण्ड के विकास से रूढ़िमूलक-वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ, इसी बात को पुराणों ने* अपनी भाषा में स्पष्ट रूप से कहा है। उदाहरणार्थ, देखिए— "**त्रेतायुगमुखे ब्रह्मा कल्पस्यादौ द्विजोत्तम। सृष्ट्वा...ऋचश्चैव...यजूंषि . असृजत्.. सामानि . अथर्वाणम्...**" (विष्णु पुराण १।५।५०–५६) । तथा "**यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै। चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम् ॥**" (विष्णु-पुराण १।६।७) अर्थात्, ब्रह्मा *त्रेतायुग के प्रारम्भ मे (सहिता-रूप में) ऋग्, यजु, साम तथा अथर्व-वेद की सृष्टि* की। तदनन्तर, यज्ञ के साधन-भूत चातुर्वर्ण्य को ब्रह्मा ने यज्ञनिष्पत्ति के लिए बनाया। श्रीमद्भागवत (११। ५।२८-२५) में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि वैदिक परपरा में यज्ञों की प्रवृत्ति त्रेतायुग में हुई थी। देखिए—"**त्रेतायां.. त तदा मनुजा देवं . यजन्ति विद्यया त्रय्या...**" इत्यादि। इसी प्रसग में ऐतरेय-ब्राह्मण (७।१९) को देखिए—"**प्रजापतिर्यज्ञमसृजत। यज्ञ सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असृज्येताम्**" इत्यादि। *अर्थात्, प्रजापति* ने पहले यज्ञ की सृष्टि की और तत्पश्चात् ब्रह्म और क्षत्र की।

बढ़ना स्वाभाविक था। इसी परिस्थिति में क्षत्रिय-वर्ग में क्रमश. ऐश्वर्य के उपभोग की प्रवृत्ति बढ़ने लगी और, न केवल धार्मिक कर्मकाण्ड में ही, अपितु राज्य अथवा राष्ट्र के संचालन में भी, वह अधिकाधिक पुरोहित-वर्ग पर निर्भर होने लगा। वेद में राजाओं की प्राय अतिशयोक्ति-पूर्ण जो दान-स्तुतियाँ[1] पायी जाती हैं, और ब्राह्मण-ग्रंथों में पुरोहितों की जो अत्यधिक महिमा गायी गयी है[2], वह स्पष्टत उक्त परिस्थिति की ही द्योतक हैं।

उक्त वातावरण में ही, याज्ञिक कर्मकाण्ड में आर्य जाति की परम्परागत श्रद्धा[3] के आधार पर, उसको अधिकाधिक जटिल, यान्त्रिक और कृत्रिम बनाया गया। इसका कारण स्पष्ट था।

जैसा ऊपर कहा है, रूढ़ि-मूलक वर्गों में स्वार्थमयी प्रवृत्ति का क्रमशः बढ़ना स्वाभाविक होता है। अतएव वे अपने कर्तव्यों को व्यवसाय की दृष्टि से देखने लगते हैं। उनको समाज के हित की उतनी परवा नहीं होती, जितनी अपने और स्ववर्गीय लोगों के हित-साधन की। इसी नियम के अनुसार यह स्पष्ट है कि रूढ़ि-मूलक पुरोहित वर्ग का हित याज्ञिक कर्मकाण्ड को अधिकाधिक जटिलता और यान्त्रिकता में ही निहित था।

याज्ञिक कर्मकाण्ड की परिधि और जटिलता का विस्तार कहाँ तक बढ़ता गया, इसका अनुमान उन अनेकानेक प्रकार की कामनाओं से किया जा सकता है, जिनकी प्राप्ति के लिए इष्टियाँ या यज्ञ किये जा सकते थे। जिन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए याज्ञिक कर्मकाण्ड का आश्रय लिया जा सकता था, उनमें से कुछ ये हैं—स्वर्ग, आयु, पुष्टि, वीर्य, अन्नाद्य, प्रजा, पशु, ग्राम (=ज़मींदारी), धन-सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, वर्षा, युद्ध में विजय, पुत्र-लाभ, शत्रु-नाश, स्त्री-वशीकरण, आदि-आदि।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य की ऐसी कोई भी कामना (नैतिक या अनैतिक) नहीं थी, जिसकी प्राप्ति का उपाय यज्ञ द्वारा न बतलाया जा सकता था। यहाँ तक कि यदि कोई नोकर नौकरी से भाग जाना चाहता था, तो उसको रोकने का (अत्यन्त बीभत्स) उपाय भी एक याज्ञिक बतला सकता था[4]।

अधिक क्या, एक पसारी के पास जैसे हर रोग के लिए पुड़िया होती है, उसी प्रकार याज्ञिक के पास प्रत्येक कामना की प्राप्ति के लिए कर्मकाण्डीय पुड़िया वर्तमान रहती थी।

वैदिक (=श्रौत) यज्ञों का विस्तार इतना बढ़ गया कि उनमें प्राय. अनेक (१६ या १७ तक) ऋत्विजों की आवश्यकता होती थी। वे सप्ताहों

---

१. उदाहरणार्थ देखिए—ऋग्० १।१२६। २ तु० "तस्मै विश संजानते सम्मुखा एकमनसः। यस्यैव विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्र गोप पुरोहित ॥ तस्य राजा मित्रं भवति द्विषन्तमप बाधते। यस्यैव विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहित ॥" (ऐतरेय ब्राह्मण ८।२५,२७)। तथा "न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति। तस्माद् राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं पुरो दधीत देवा मेऽन्नमदन्निति ॥" (ऐतरेय ब्रा० ८।२४)। तथा "अग्निर्वा एष वैश्वानर पञ्चमेनिर्यद् पुरोहितः।...स एनं (=राजान) शान्ततनुरभिहुतोऽभिप्रीत स्वर्गं लोकमभिवहति क्षत्रं च बलं च राष्ट्र च विशं च। स एवैनमशान्ततनुरनभिहुतोऽनभिप्रीतः स्वर्गाल्लोकान्नुदते क्षत्राच्च बलाच्च राष्ट्राच्च विशश्च।" (ऐतरेय ब्रा० ८।२४), तथा "ब्रह्म क्षत्रेण पृक्त देव पितृ मनुष्यान् धारयतीति विज्ञायते" (गौतम धर्मसूत्र ११।१९)। ३. तु० "न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपय।" (ऋग्० १०।४४।६)। "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" (शतपथ-ब्रा० १।७।१।५)। "यज्ञो वै सुतर्मा नौ" (ऐतरेय ब्रा० १।१३)। ४. देखिए— पारस्कार-गृह्य-सूत्र (३।७).—"उत्तूल परिमेह.। स्वपतो जीवविषाणे स्वं मूत्रमासिच्य पसव्यवित्रि. परिषिञ्चन् परीयात्...।" यहाँ किसी जीते हुए जानवर के सींग में अपने मूत्र को भर कर डालते हुए, सोते हुए दास के चारों ओर तीन बार मन्त्र विशेष को पढ़ते हुए वाम तरफ से घूमने का विधान है।

तक, कभी-कभी एक वर्ष से भी अधिक काल तक, चलते थे। उनके करने में इतना संभार करना पड़ता था और इतनी अधिक दक्षिणाएँ देनी पड़ती थी कि साधारण वित्त के लोग तो उनको कर ही नहीं सकते थे। दूसरे शब्दों में, धर्म को सपन्न-वर्ग ही कर सकता था! गीता में इसीलिए वैदिक यज्ञों को द्रव्य-यज्ञ कहा है।

बिचारी निम्न जनता को तो यज्ञो को करने का अधिकार ही नही था! शतपथ-ब्राह्मण में कहा है—

ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा तेहि यज्ञिया। ∴ न वै देवा. सर्वेणैव सवदन्ते। ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा। एतेहि यज्ञिया। (शतपथ-ब्रा० ३।१।१।९,१०)।

अर्थात्, देवता लोग सब किसी से बात-चीत नही करते! वे केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से ही बातें करते हैं, क्योंकि इनको ही यज्ञ करने का अधिकार है।

इस याज्ञिक कर्मकाण्ड में पुष्कल दक्षिणा (=ऋत्विजा की फीस) पर स्वभावत बड़ा बल दिया जाता था। हत यज्ञमदक्षिणम् (अर्थात्, दक्षिणा-रहित यज्ञ कभी सफल नहीं होता), यह यज्ञो का एक मौलिक सिद्धान्त था१।

शतपथ-ब्राह्मण (२।२।३।२८) में कहा है—
तस्य हिरण्य दक्षिणा। आग्नेयो वा एष यज्ञो भवति।
अर्थात्, इस यज्ञ (=अग्निहोत्र) में सोने की दक्षिणा देनी चाहिए, क्योंकि यह यज्ञ अग्नि-देवता के लिए किया जाता है।

कात्यायन-श्रौत-सूत्र (१०।२।३४) में कहा है—
न रजतं दद्याद् बर्हिषि
पुरास्य सवत्सराद् गृहे रुदन्तीति श्रुतेः।

अर्थात्, यज्ञ में चाँदी के रूप में दक्षिणा नही देनी चाहिए, क्योंकि श्रुति (=तैत्तिरीय सहिता १।५।१) में कहा है कि जो ऐसा करता है, उसके घर में एक वर्ष के अन्दर ही रोना होता है।

अभिप्राय यह है कि दक्षिणा मे सुवर्ण ही देना चाहिए!

इसी प्रकार के सैकडो वचन ब्राह्मणादि ग्रंथो मे, यज्ञों मे, पुष्कल दक्षिणा देने के समर्थन में पाये जाते है२।

इसके अतिरिक्त, आश्वलायन-श्रौत-सूत्र (१२।९) आदि३ में यज्ञ मे बलि किये हुए सवनीय पशु के अगो को ऋत्विजों आदि में किस प्रकार बाँटना चाहिए, इसका भी विस्तृत विधान दिया हुआ मिलता है। जैसे—

तस्य विभाग वक्ष्याम। हनू सजिह्वे प्रस्तोतु। श्येन वक्ष उद्गातु।.. ...तां वा एतां पशोर्विभक्ति श्रौत ऋषिर्देवभागो विदाचकार .....

अर्थात्, अब हम सवनीय पशु के अंगो के विभाग के विषय में कहेंगे। जिह्वा के सहित दोनो जबड़े प्रस्तोता के लिए। श्येन-सदृश वक्षःस्थल उद्गाता के लिए।....पशु के इस प्रकार के विभाग का परिज्ञान श्रौत ऋषि देवभाग को हुआ था..।

ऋत्विजों में पशु के अगो के बाँटने की व्यवस्था

---

१ तु० "दक्षिणा वै यज्ञाना पुरोगवी। यथा ह वा इदमनोऽपुरोगवं रिष्यति, एव हैव यज्ञोऽदक्षिणो रिष्यति" (ऐतरेय ब्रा० ६।३५)। अर्थात् जैसे बिना बैल के गाड़ी नही चलती, ऐसे ही बिना दक्षिणा के यज्ञ भी आगे नही बढ़ता, नष्ट हो जाता है। २ देखिए -"अभिषेचनीये तु द्वात्रिंशतं द्वात्रिंशतं सहस्राणि... ..", "साहस्रो वाजपेय", "सौवर्णो स्रगुद्गातु" (आश्वलायन श्रौत सूत्र ९।४।३,७,९)। "चतस्रो वै दक्षिणा.। हिरण्य गौर्वासोऽश्व" (शतपथ ब्रा० ४।३।४।७) ३ देखिए—गोपथ-ब्राह्मण (१।३।१८)।

का प्रश्न इसीलिए उठा होगा, जिससे उनमें बटवारे को लेकर कोई झगड़ा न हो।

इस प्रसग में 'दक्षिणा' के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। यज्ञों में ऋत्विजों को जो दक्षिणा दी जाती थी, वह वास्तव में उनकी 'फीस' या 'मजदूरी' ही होती थी। 'पूर्वमीमांसा' में ऋत्विजों को स्पष्टतया 'दक्षिणा-क्रीत'[1] (अर्थात्, दक्षिणा से खरीदा गया) कहा गया है।

धर्म शास्त्रों में भी ब्राह्मणादि वर्गों के याजन (=यज्ञ कराना), प्रतिग्रह (=दान लेना) आदि जो विशिष्ट कर्म कहे गये हैं, उनको स्पष्टतया 'आजीविका' या 'वृत्ति' के रूप में ही माना गया है[2]।

ऐसी स्थिति में पौरोहित्य का काम, कोई पारमार्थिक कर्म न हो कर, अन्य पेशों के समान, एक पेशा या व्यवसाय ही था। यह ठीक ही था, क्योंकि पुरोहित कोई 'मिशनरी' या 'श्रमण' (=बौद्ध-भिक्षु) तो थे नहीं। उनको भी अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करना पड़ता था। इसलिए उनका दक्षिणा लेना बिलकुल न्याय्य और समुचित था; विशेषत, जब कि वे आर्य जाति की प्राचीन धार्मिक और सांस्कृतिक परपरा के निर्वाहक और सरक्षक थे।

दक्षिणा या पौरोहित्य-सस्था पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उस समय की वह एक आवश्यकता थी। पौरोहित्य सस्था ने, जैसा हम पहले दिखला चुके है, यजमान पुरोहित के घनिष्ठ मधुर स्नेह-सबध के उदाहरण प्रायः उपस्थित किये है।

हमारा केवल यही कहना है कि भारतीय सस्कृति के इतिहास में जब से पौरोहित्य के पेशे का सबध एक रूढ़ जन्म-मूलक वर्ग-विशेष से हो गया[3], तब से उसमें रूढ़ि-मूलक वर्गों की अच्छी-बुरी सारी प्रवृत्तियो का आ जाना स्वाभाविक था, जैसा कि आगे चल कर हम स्पष्ट करेंगे। यहाँ तो हमारा इतना ही अभिप्राय है कि वैदिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष को समझने के लिए उस समय के पौरोहित्य के उक्त स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। (क्रमश)

❂❂❂

---

१. देखिए—मीमांसा सूत्र (३।७।२९–२१) तथा उन्हीं सूत्रों पर जैमिनीय न्यायमाला विस्तर—"ये यजमानेन क्रीता कर्तार ऋत्विज'......।" २. देखिए—".. षट् कर्माण्यग्रजन्मन ॥ षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रह ॥...(मनुस्मृति १०।७५–८०)। ३. प्रारभ में पौरोहित्य ब्राह्मण ही करे, यह आवश्यक नहीं था। राजवश के देवापि ने अपने भाई शतनु का पुरोहित बन कर यज्ञ कराया था, यह कथा वैदिक वाङ्मय में सुप्रसिद्ध है, देखिए—निरुक्त (२।१०)। ऐतरेय-ब्राह्मण (१।१६) में तो स्पष्टतः कहा है—"सैषा स्वर्ग्याहुतिर्यदग्न्याहुतिः। यदि हवाअप्यब्राह्मणोक्तो...यजतेऽथ हैषाहुतिर्गच्छत्येव देवान्।"

श्याममोहन | दो कविताएँ

व्यक्तित्व दर्शन

हो गयी है रुत सुहानी
खुशनुमा हैं सब फिजाएं
झूमते बादल, बरसते;
दौड़ती पागल हवाएं !
है थिरकता हाय ! भू का
आज तृण-तृण और कण-कण;
हरित पत्रों-सा लहकना
चाहता हम सबों का मन !
"उड़ेंगे !"—
हम फड़फड़ाते।

टूटता पर एक सपना—
हम महज़ काग़ज़ :
नहीं रखते अलग व्यक्तित्व अपना !
बोझ मानो हम सभी पर
किसी पेपरवेट का है।
स्वप्न गढ़ते।
बस।

सिवा इसके
हमारे पास क्या है ?

सृजन के क्षण

जीवन में
कितने ही ऐसे क्षण आते हैं—
मासूम गुनाहों के बादल
सिर के ऊपर
मँड़राते हैं;
नभ की
नीली चट्टानों पर
सिर धुन कर वे
चिंघाड मार
अन्तर की तकलीफ़ों से
रह-रह कर मूर्छित हो जाते हैं।
ऐसे क्षण
मंगलमय, पावन;
ये मेघ चिरन्तन, वन्दनीय,
जो
आँसू दे-दे कर सूखी धरती की प्यास बुझाते हैं !

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' | है कुछ ऐसी बात, जो चुप हूँ*

बात कर नहीं आती? बात तो ऐसी करनी आती है कि एक बार शुरू कर दूं, तो दफ्तर के दफ्तर खोल के रख दूं, पर आप इसे दिन-भर स्टूडियो में बैठे मक्खियाँ मारने और बेकार वक्त में कड़वी मिचल चाय के कप गले में उँडेलने वाले एक एक्स्ट्रा की महज़ बड़ समझेंगे।

आज से वर्षों पार, जब कालेज के पहले साल की याद करता हूँ, तो हँसी भी आती है, और दुःख भी होता है। इस दुनिया के बारे में, जिसकी हर परत अब मैं देख चुका हूँ, कैसे रंगीन सपने मन में झिलमिलाया करते थे; कैसे अरमान, कैसी आकांक्षाएँ; फ़िल्म के रजत परदे पर नायक के रूप में प्रकट हो कर, अपने चाहने वाले युवकों की ईर्ष्या का कारण बनने, और हज़ारों युवतियों के मानस-पट पर अपनी तसवीर अंकित करने की कैसी आरज़ुएँ, कैसी हसरतें मन में उन दिनों तड़पा करती थीं! कालेज के उस पहले वर्ष में, जब कि फर्स्ट इयर का छात्र 'फूल' (मूर्ख) कहलाता है, मैं सचमुच मूर्ख बन गया।

मैट्रिक ही में था, जब पिता जी का देहान्त हो गया। दस हज़ार का बीमा उन्होंने करा रक्खा था, लेकिन मरने के पहले वे काफ़ी बीमार रहे थे। दो-तीन हज़ार का क़र्ज़ सिर पर था। जब बीमे की रक़म मिली, तो माँ ने बाक़ी रुपये बैंक में जमा कर दिये; कर्ज़ चुकाने के लिए तीन हज़ार रुपये घर में रख लिये, दो एक पड़ोसियों के रुपये चुक भी गये, लेकिन तो भी हज़ार-डेढ़ हज़ार रुपये अंदर की कोठरी में छोटी-सी आलमारी में रखे थे। मैंने रुपये निकाले और बंबई का टिकट ले कर अपने

* है कुछ ऐसी बात, जो चुप हूँ, वरना क्या बात कर नहीं आती ग़ालिब!

फिर दिन के थोड़े भाग ने सब कुछ दिखाने के लिए चल पड़ा। फर्स्ट टाइप का मुन्ना युवक जेब में हज़ार रुपये और बम्बई शहर, जहाँ के लोग कुछ काम नहीं करते केवल बुद्धि के बल पर जीते हैं।

बम्बई के पहले कुछ दिन सदा याद के पर्दे पर अंकित रहेंगे। उन चंद दिनों में क्या नहीं देखा, ट्राम, बस, टैक्सियाँ सिनेमा और थिएटर और सर्कस, और सबसे बड़ा तमाशा, रेस। दो सौ रुपये तो एक ही दिन रेस में फुँक गये। अगर बम्बई में आने के अपने उद्देश्य की याद वहीं मानस के उन धुंधलकों में टिमटिमाती न रहती, जो बम्बई के जोरदार घमासान ने दिमाग में छा दिये थे, तो शायद सारे रुपये रेस ही में उड़ जाते, क्योंकि रेस तो ऐसा कुआँ है कि दो सौ क्या, दो लाख एक दिन में समा जाएँ और बुलबुला तक न उठे। मैं आया था फिल्म में हीरो बनने के लिए और किसी ऐसे मित्र की तलाश में था, जो मुझे उस दुनिया का परिचय करा दे। सौभाग्य से होटल ही में एक ऐसे युवक से मुलाकात भी हो गयी। उसके एक मित्र के मामा पूना में डायरेक्टर थे, उसे मेरी इच्छा का पता चला, तो उसने कहा, यह काम कुछ मुश्किल नहीं। तुम्हें पूना ले जा कर मामा से मिला देंगे। बस एक बार मुलाकात हो जाए और वे एक-आध रोल में तुम्हारा कैमरा और साउंड टेस्ट ले लें तो फिर कौन तुम्हें हीरो बनने से रोक सकता है। ऐसी 'बॉडी' और ऐसा 'फिल्म-फेस' है तुम्हारा!

"स्कूल में कई बार मैंने नाटकों में पार्ट किया है।" मैंने कहा, "वे एक बार टेस्ट लें, तो एक्शन ना में वह दूँगा कि वे अश-अश कर उठें।"

"वही तो!" मेरा मित्र बोला, "पहले भानजे को राम करना है, फिर मामा को, एक बार वह पूना चल के तुम्हें अपने मामा से मिलाने को तैयार हो जाए, तो बस बाज़ी वह जीती पड़ी है।"

'टेस्ट' और 'कैमरा टेस्ट' की बात मैं समझ गया था। बाजू कैमरे में कैसी आती है और माइक में आवाज़ कैसी आती है, डायरेक्टर के लिए यह जानना बड़ा ज़रूरी है। शक्ल अच्छी हुई, लेकिन आवाज़ 'साउंड ट्रैक' से निकल कर भद्दी और भोंडी आयी, तो रखिए खूबसूरत शक्ल और अच्छी 'बॉडी' को अपने घर। खामोश फिल्मों के ज़माने की सुलोचना जैसी हीरोइन और जमशेद जी जैसे तनावर हीरो बोल-पट के आते ही मात खा गये। तब सोचा, कि अपने उस होटल वाले मित्र के उस दोस्त को खुश किया जाए। मित्र की सलाह पर उसे दो-तीन बार चाय पिलायी, लेकिन पता चला कि चाय को वह पेय ही नहीं समझता; कुछ ज़्यादा गर्म चीज़ हो, तो बात बने। तब उन दोनों को खुश करके अपना अभीष्ट पाने के प्रयास में मैंने वह तरल चीज़ भी चखी, जिसके बारे में सुन रखा था कि "छुटती नहीं है मुँह से यह काफ़िर लगी हुई।" और सच मानिए, शायर ने गलत नहीं कहा है, क्योंकि अच्छी भली लग गयी। रोज़ रात को जलसा रहने लगा। काफ़ी रुपये खत्म हो गये, लेकिन अभी तक भानजे साहब ने मामा से परिचय कराना तो दूर रहा, उनकी शक्ल तक नहीं दिखायी। तब अपने मित्र के कहने पर एक दिन मैंने भानजे साहब से, जब कि वे मुझसे काफ़ी खुल गये थे, अपनी इच्छा प्रकट की। मित्र ने रद्दा जमाया। मेरी एक्टिंग, मेरे गले और मेरी 'बॉडी' की प्रशंसा की और कहा, कि एक बार यदि मेरा 'कैमरा टेस्ट' हो जाए, तो मेरे हीरो बनने के रास्ते में कोई बाधा नहीं हो सकती।

मेरा ख्याल था कि मेरी इच्छा सुनते ही मामा का वह भानजा झट मेरे साथ पूना की गाड़ी पर जा बैठेगा। इतने दिन मेरे पैसे पर उसने गुलछर्रे उड़ाये थे। लेकिन नहीं, ऐसी कोई बात नहीं हुई। बड़े इतमीनान से उसने कहा कि यदि उसे पचास रुपये दिये जाएँ, तो वह मामा से मिलाएगा और पचास और दिये जाएँ तो 'कैमरा टेस्ट' का प्रबंध करेगा। मेरे लगभग सात-आठ सौ रुपये उन पन्द्रह-बीस दिनों में खर्च हो चुके थे, पाँच-छह सौ रुपये

बचे थे। सौ-डेढ़ सौ का नुस्खा उसने बना दिया, लेकिन मैं चुप रहा। बोला कुछ नहीं। हाँ, मेरे होटल वाले मित्र को बड़ा क्रोध आया। उसने उसे डाँटा। बड़ी खिट-खिट हुई। आखिर वह पच्चीस रुपये उस समय, पच्चीस मामा से मिलाने पर और पचास टेस्ट करा देने और काम बनवा देने के बाद लेने को तैयार हो गया। मुझे बड़ा बुरा लगा, क्योंकि मैं उसे अपना मित्र समझने लगा था। खैर साहब, हम तीनों पूना के लिए 'दक्खन-क्वीन' में सवार हुए। होटल वाले मित्र को साथ लेना पड़ा, क्योंकि बिना उसके तो कुछ हो ही न सकता था। ट्रेन फर्राटे भरती पूना की ओर चली और साथ ही मेरी कल्पना 'दक्खन-क्वीन' से भी तेज फर्राटे भरती उड़ चली। मुझे लगा कि मंजिल अब बहुत दूर नहीं। साइन और साउंड-टेस्ट हुआ कि मैं हीरो बना। पूना पहुँच कर, स्टेशन के पास ही एक होटल में टिका। नाश्ता-वाश्ता करके हम स्टूडियो को चले। गेट पर चौकीदार ने रोक दिया। तब मामा के भानजे ने एक चिट लिखी। कुछ देर बाद उत्तर आ गया। हमें बाहर रोक कर वह अन्दर गया। कोई पन्द्रह मिनट बाद वापस आया, तो बोला, " मामा जी स्टूडियो में व्यस्त हैं फिल्म की शूटिंग हो रही है। कल सुबह मिलने का टाइम उन्होंने दिया।"

मैंने कहा, "हमें शूटिंग ही दिखा दो।"

"तुमने पहले कहा होता, तो मैं तय कर आता, लेकिन अब कल ही दिखा दूंगा।" बात पक्की हुई समझो।

खुश-खुश हम लौटे। रात को मित्र ने सुझाया कि भानजे को खुश रखना चाहिए, ताकि वह टेस्ट ही न कराये बल्कि तुम्हें "हीरो" का कान्ट्रेक्ट ले दे। बात उसकी ठीक थी। पूरी बोतल मेज पर आ गयी। वह खत्म हुई, तो दूसरी आयी। बस इतना ही याद है, और कुछ शायद नहीं। सुबह उठा, तो देखा कि कमरा खाली है। बस जो कपड़े तन पर हैं, वही हैं, बाकी सब कुछ गायब है।

इसके बाद क्या गुजरी, क्या बताएँ, बड़ी लंबी दास्तान है। होटल वाले का जितना बिल था, दो महीने उनके यहाँ बेरे की नौकरी करके चुकाया, फिर उन मामा जी से जा कर उनके घर मिला। उनको अपनी दुःख-गाथा सुनायी, तो मालूम हुआ कि इस नाम का तो उनका कोई भानजा ही नहीं। लेकिन मेरी दास्तान सुन कर वे प्रभावित जरूर हुए। खास तौर पर जब उन्होंने सुना कि इस मुसीबत में, जब मेरा सब कुछ लुट गया था, मेरे स्वाभिमान को यह गवारा नहीं हुआ कि मैं घर चिट्ठी लिखूं और रुपये मँगाऊँ, कि मैं घर वापस नहीं गया और मैंने काम करके होटल का बिल चुका दिया है। वे पसीज गये और उन्होंने मुझे वचन दिया कि निश्चय ही मेरी सहायता करेंगे। मैं उनके इस वायदे से कुछ ऐसा अभिभूत हुआ कि चाहा, उनके चरणों में लेट जाऊँ। लेकिन वैसा कुछ उन्होंने मुझे नहीं करने दिया। हाँ, उनका नौकर उन दिनों भाग गया था और उन्हें बड़ा कष्ट था। जब मैंने उनसे कहा कि मुझे वे जरूर ही अपने चरणों में जगह दे कर सेवा का अवसर दें, तो उन्होंने इतनी कृपा की, कि अपने उस नौकर की जगह मुझे दे दी। नौकर वाली कोठरी मुझे रहने को मिल गयी और खाने की कमी न रही। डायरेक्टर साहब का खाना तो एक आया पकाती थी, मैं ऊपर का काम देखता था। रहते मलाड में थे, स्टूडियो गोरे गाँव में था। दोपहर को उनका खाना ले जाता। कई बार शूटिंग चल रही होती। मैं भी अन्दर चला जाता। तब मन की धड़कन कैसे तेज हो जाती और कैसे सपने आँखों में लहरा जाते, यह क्या बतलाऊँ? वह हीरोइन, जिसे रजत-पट पर देखता था, अब आँखों के सामने स-शरीर स्टूडियो में काम करती था। देखते-देखते मैं दिवा-स्वप्नों में खो जाता, स्वयं हीरो की जगह ले लेता, हीरोइन की बाँह में बाँह डाले डांस करता। इसके

बाद प्रायः मैं डायरेक्टर साहब के काम में अपनी निष्ठा को बढ़ा देता। लेकिन इस निष्ठा का फल किसी रोल या फिल्मी भूमिका की सूरत में मुझे नहीं मिला। हाँ, मैं बैरा से उल्टी तरक्की कर उनका खानसामा बन गया। हुआ यह, कि जाने किस बात पर नाराज हो कर उनकी आया भाग गयी। डायरेक्टर साहब और उनकी बीवी बड़े परेशान हुए। तब सरसरी तौर पर उन्होंने कहा कि जब तक नयी आया या खानसामा नहीं आता, मैं खाना पकाने में जरा उनकी बीवी की मदद कर दूं। जब मैंने खाना कभी नहीं पकाया, तो उन्होंने कहा कि सीख लो। फिल्म में काम करने को हर तरह का तजुर्बा होना जरूरी है। मन तो बहुत खिन्न था, पर मैं किचन में चला गया। दूसरे दिन उन्होंने कहा कि भीड़ का एक दृश्य है, यों तो बाहर से एक्स्ट्रा आएँगे, लेकिन उनकी संख्या कम है। मैं भी पहुँच जाऊँ, तो वे मुझे भी शामिल कर लेंगे। मेरी खुशी का वार-पार न रहा। मैंने उस दिन जी-जान से रसोई का काम किया और समय पर स्टूडियो जा पहुँचा। रात की शूटिंग थी। दस बजे के लगभग शुरू हुई, डायरेक्टर साहब ने मुझे भीड़ के आगे खड़ा किया और दूसरे दिन प्रोजेक्शन रूम में बढ़ाने से मुझे रान के शाट दिखा भी दिये। मेरे चेहरे पर मुझे वह सब जोश खरोश बिलकुल दिखाई न दिया, जो डायरेक्टर साहब ने कहा था कि अगली पंक्ति के आदमियों में होना चाहिए। बात असल में यह थी कि मैं निरन्तर यह सोचता रहा था कि डायरेक्टर साहब बोलने वाला पार्ट मुझे देते, तो कैसा रहता और इसी सोच में वह जोश के भाव मेरे चेहरे से गायब हो जाते। लेकिन उस घबराहट और परेशानी के बावजूद भीड़ की अगली पंक्ति में अपने आपको देख कर मुझे जितनी खुशी हुई, वह फिर कभी नसीब नहीं हुई। मैं इतना प्रसन्न हुआ कि मैंने डायरेक्टर साहब को खुश करने के लिए जी-जान से मेहनत करके रसोई का काम सीख लिया।

लेकिन नतीजा यह निकला कि वह दिन सो आज का दिन, डायरेक्टर साहब ने फिर कभी वह मूक रोल भी मुझे नहीं दिया। आया फिर आयी नहीं और मैं बाकायदा उनका खानसामा बन गया।

जब छह महीने इसी तरह बीत गये, मैं खानसामा बना रहा और स्टूडियो खाना आदि ले जाने के लिए डायरेक्टर साहब ने एक और छोकरा फँसा लिया, तो मैंने फैसला कर लिया कि उनके चंगुल से निकल जाऊँगा। खानसामागिरी तो आ ही गयी थी और बंबई में अच्छा खानसामा दुर्लभ है और मैं अपनी कद्र जान गया था और यह भी जान गया था कि डायरेक्टर साहब स्टूडियो की कैंटीन में बैठ कर खाना खाते समय मेरे खाने की बड़ी प्रशंसा कर चुके हैं, हीरोइन को खिला चुके हैं और वह भी तारीफ कर चुकी है। इसलिए जब हीरोइन का खानसामा भागा, तो मैंने उसके यहाँ नौकरी कर ली। स्टूडियो में जब मैं हीरोइन का खाना ले कर गया, तो डायरेक्टर साहब बड़े गुस्से में आये। मुझे बुला कर उन्होंने पहले डाँटा, फिर प्यार किया, फिर बड़े-बड़े सब्जबाग दिखाये, फिर धमकी दी कि वे हीरोइन को मजबूर कर देंगे कि वह मुझे घर से निकाल दे। लेकिन हीरोइन प्रोड्यूसर की चहेती थी और डायरेक्टर साहब उसके सामने भीगी बिल्ली बन जाते थे और मैं उससे सारी बात कह चुका था, इसलिए जब मैंने उससे डायरेक्टर की धमकी का जिक्र किया, तो उसने कहा, "तुम परवा न करो। वह तुम्हें निकालने की कहता है, मैं चाहूँगी, तो तुम्हें इसी स्टूडियो में डायरेक्टर बना दूँगी।"

डायरेक्टर......मैं क्षण-भर तक मुँह बाये स्तंभित-सा खड़ा रह गया, क्योंकि बड़े-से-बड़ा हीरो भी डायरेक्टर बनने के सपने लेता है और मैं तो हीरो और एक्टर दूर रहा, अभी एक्स्ट्रा भी न था। लेकिन वह सच कहती थी। प्रोड्यूसर उसकी मुट्ठी में था, वह चाहती, तो क्या न कर सकती। मैंने

उसकी बड़ी सेवा की। कुछ लालच से नहीं, सच कहता हूँ, मैं तो उसको एक झलक देखने के लिए ज़िन्दगी दे देता, और यहाँ हर वक़्त वह मेरी आँखों के सामने थी। मैं उसे चाय पिलाता था, पानी पिलाता था, खाना खिलाता था। एक दिन जब उसका सिर दर्द कर रहा था, तो मैंने उसका सिर तक दबाया। अब क्या बताऊँ वह रहती, तो मैं हीरो छोड़, डायरेक्टर छोड़, प्रोड्यूसर हो जाता। वादे की अपने वह पक्की थी। खुश हो जाती, तो क्या न दे देती। उसने मुझे अपनी कम्पनी में अढ़ाई सौ रुपये पर एक्टर 'हीरो' - भर्ती करा दिया था। "तुम सब्र करो" उसने कहा, "अगली फ़िल्म में तुम मेरे हीरो होगे, लेकिन तभी कम्पनी का यूनिट एक निकट की रियासत में गया। असल में उन दिनों जो फ़िल्म बन रहा था, उसमें हाथियों की ज़रूरत थी। प्रोड्यूसर साहब हीरोइन को साथ ले कर राजा से मिले थे। उन्होंने अपने हाथीखाने को काम में लाने की आज्ञा दे दी थी। कम्पनी का एक यूनिट उनकी रियासत में गया। अस्थायी स्टूडियो बनाया गया। आज़ादी के पहले का ज़माना। राजा सचमुच के राजा थे। जवान थे, नये-नये गद्दी पर बैठे थे। एक दिन सोने-रुपे से लदे हाथी पर चढ़ कर शूटिंग देखने आये। तब जाने हीरोइन को क्या हुआ, महाराज साहब का वैभव अथवा हाथी पर बैठे उनकी छवि उसे कैसी भा गयी कि वह अपनी ख्याति, धन-दौलत, कैरीयर पर लात मार कर अपने लाखों चाहने वालों को तड़पता छोड़, उन महाराजा के साथ ही चली गयी। कम्पनी की फ़िल्म धरी-की-धरी रह गयी। मैंने कम्पनी का सारा खसारा भर दिया.... और इसे कहते हैं.

क़िस्मत की ख़ूबी देखिए टूटी कहाँ कमन्द।

इसके बाद क्या गुज़री, यह बताऊँ, तो न जाने आपको कितने घंटे वह सब सुनना पड़े। इतना समझ लीजिए कि हीरो बनने की तमन्ना अब भी है। वेतन हीरो का पाता हूँ, लेकिन एक्स्ट्रा कहाता हूँ। इसी उम्मीद पर जीता हूँ कि जैसे एक रेला पहले आया था, शायद फिर आ जाए और उसके बल पर मैं किनारे जा लगूँ। इसी उम्मीद पर चुप हूँ। दिल-की-दिल में रखता हूँ, वरना क्या-क्या नहीं जानता और क्या नहीं कह सकता।

ooo

दुष्यन्त कुमार | नयी कहानी : परंपरा और प्रयोग

'क़िस्सा तोता मैना', 'नासिकेतोपाख्यान', 'रानी केतकी की कहानी' और 'सिंहासन बत्तीसी' आदि ग्रंथों से अनुप्रेरित हो कर कहानी लिखने वाले प्रारंभिक लेखकों के प्रति समुचित सम्मान-भावना रखते हुए भी हमें 'नयी कहानी परम्परा और प्रयोग' की चर्चा करते हुए उनका उल्लेख अप्रासंगिक-सा लगता है। उनकी कहानियों में ऐतिहासिक पुरुषों की प्रेम-क्रीड़ा, घटना-वैचित्र्य, ऐय्यारी, निरर्थक-कल्पना-सृष्टि, भावुक-उपदेशात्मकता, और सतही रोमांस-चित्रण आदि अनेक प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके कारण एक ओर यदि कथानक की स्वाभाविकता पर आघात पहुँचता है, तो दूसरी ओर पात्रों के व्यक्तित्वों का भी पूर्ण विकास नहीं हो पाता। अनर्गल-वर्णन के कारण इन कहानियों में सजीवता और मर्मस्पर्शिता का भी अभाव है, और उनका कहानीपन बहुत कुछ दबा-दबा-सा लगता है। कारण स्पष्ट है। एक तो उस समय तक भाषा ही इतनी समृद्ध नहीं हो पायी थी कि मानव-मन की अन्तर्निहित भाव-संपदा का उद्घाटन कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक प्रभावोत्पादक ढंग से हो सके; दूसरे, वह हिंदी-कहानी का शैशव-काल था।

किन्तु प्रेमचन्द से हिंदी कहानी को एक नया मोड़ मिलता है। यद्यपि प्रारंभ में वे भी प्रारंभिक लेखकों के प्रभाव से अछूते नहीं रहे, किन्तु उनमें वह प्रतिभा थी कि वे धीरे-धीरे उन्हें एक साँचे में ढाल कर सुसंयत साहित्यिक मर्यादाओं के समीप खींच लाये। हिंदी में, क्योंकि वे उर्दू से आये थे, अपने साथ उर्दू ज़बान की वह सादगी और प्रवाह भी लेते आये, जिससे भाषा में बल और ओज पैदा होता है।

हिंदी में उस समय तक अनुवादों के माध्यम से

बगला और अंग्रेजी साहित्य भी आना शुरू हो गया था। उर्दू से तो प्रेमचन्द वाकिफ थे ही। अपनी पिछडी हुई अवस्था को उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से देखा और अन्य भाषाओ के कहानी-साहित्य की पृष्ठभूमि मे अपनी कमियो को समझा। फलस्वरूप पहले-पहल वे हिंदी कहानियो में सूक्ष्म मनोभावो का चित्रण और सामयिक जीवन की समस्याओं का सुलझा हुआ स्वरूप ले कर सामने आये। उन्होंने मानवीय सवेदनशील प्रवृत्तियो को कलात्मक अभि-व्यक्ति दी। विन्यस्त-भावनाओ के संयोजन द्वारा वर्ण्य विषय को अधिक-से-अधिक पैना और मर्मस्पर्शी बनाया। सामाजिक सुधार और परिवर्तन की भावना को उन्होने मनोविज्ञान के माध्यम से इतना उभारा कि वह युग की आवश्यक मांग-सी महसूस की जाने लगी।

समाज के दलित-शोषित वर्ग के प्रति उनके हृदय में एक कोमल स्थान था। उसका उन्होंने प्रतिनिधित्व किया। यह वर्ग अधिकतर गाँवो से सबद्ध है, अत उनके अधिकाश कथानक भी गाँव की भूमि पर आधारित है, जिनमें भारतीय सस्कृति के प्रतिनिधि हमारे गाँव अपनी सारी परम्पराओ, रूढ़ियों और अंधविश्वासो के साथ मुखर हो उठे हैं। इसी तरह शहरी कथानको मे भी निम्न मध्यवर्ग या मध्यवर्ग का जीवन ही उनकी कला का केन्द्र बना।

ऐसा नही, कि प्रेमचन्द अपनी पीढी के अकेले ही लेखक थे, बल्कि इनके साथ-साथ और कुछ आगे-पीछे अनेक प्रतिभा-सपन्न कहानीकारो का एक काफिला चल रहा था, जिसमें प्रसाद, कौशिक, व्यास, गुलेरी, ज्वालादत्त शर्मा, सुदर्शन, राजा राधिका-रमण सिंह, चतुरसेन शास्त्री और जे० पी० श्रीवास्तव के नाम विशेष उल्लेखनीय है। टेकनीक की दृष्टि से गुलेरी और प्रसाद के नाम अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते है। कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा, सुदर्शन और शास्त्री जी ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सामाजिक कहानियो की सृष्टि की। कौशिक और शर्मा जी ने साधारण दैनिक जीवन से अपनी कहानियो के विषय ले कर उनमें असाधारण कौशल का परिचय दिया। किन्तु दोनो में सबसे बडा अन्तर यह है कि शर्मा जी की कहानियो में जहाँ विद्रोह और व्यग्य की तीव्रता प्रकट होती है, वहीं कौशिक जी की कहानियाँ अत्यन्त वस्तुपरक प्रवाह के साथ गन्तव्य की ओर स्वाभाविकता से बढती है। साथ ही उनमें घरेलूपन और आत्मीयता भी अधिक है। सुदर्शन में भी कौशिक की-सी ही कला के दर्शन होते हैं पर वह अधिक आदर्शोन्मुख और चित्रात्मक है। सुदर्शन का रुझान मनोभावो के चित्रण की ओर भी बहुत है। इसी तरह शास्त्री जी में भी कलात्मक-सृजनशील प्रतिभा की कमी नही, किन्तु उनका रुझान जीवन के यथार्थ चित्रण की ओर इतना ज्यादा है कि उनकी कहानियो पर सहज ही अश्लीलता का दोष लगा दिया जाता है। राजा राधिकारमण जी भाषा की लचक और भावनाओं की लहरो में इस कदर खो जाते हैं कि उनकी विषय-वस्तु की गुरुता ही कम हो जाती है और उद्देश्य वाक्योचित उक्तियो के प्रकाश में गौणा-सा लगने लगता है। फिर भी उनकी विशेषता केवल उनकी सोद्देश्यता की आड मे ही देखी जा सकती है। सामूहिक रूप से इन सभी कहानीकारो का दृष्टिकोण नैतिक और सुधार का रहा है। हाँ, जे० पी० श्रीवास्तव अवश्य इसके अपवाद है। वे इनसे अलग एक ऐसी भावभूमि पर खडे है, जो हास्य और व्यग्य के मिश्रण से निर्मित हैं। यह बात दूसरी है कि उनकी कम कहानियाँ सफल बन पायी है और अधिकाश में वे केवल हास्य के साधारण उपकरण ही एकत्रित करते दिखाई पड़ते है।

प्रसाद जी का रास्ता इन सबसे कुछ अलग और अनोखा था। वे मूलत कवि और आदर्शोन्मुख भावुक कलाकार थे। अत उनकी भावुकता ने जहाँ सगीतमय रोमास के सपनों को उनकी कहानियों में मूर्त्त किया, वहाँ भाव-प्रधान करुण-कथानको को इतिहास से खोज कर उन्हे नयी भाषा का लिबास

पहनाया। सुन्दर वातावरण की पृष्ठभूमि में रोमांटिक प्रेमार्थ का चित्रण करने की कला में प्रसाद अद्वितीय थे। उन्होंने वातावरण-प्रधान कहानियों को प्रचलित किया और अपनी कहानियों में मांसलता एवं स्वस्थ रोमांस को प्रश्रय दिया। गुलेरी जी ने केवल तीन कहानियाँ लिखी, जिनमें 'उसने कहा था' आज भी अपनी टेक्नीक-सबधी विशेषता तथा अन्य गुणों के कारण प्रसिद्ध है। शायद पुनर्स्मरण शैली का सबसे पहला प्रयोग इसी कहानी में हुआ है, जिसे आगे चलकर और मांजा-सँवारा गया, तथा इस शैली में भी नये-नये प्रयोग किये गये।

दूसरी पीढ़ी, जिसमे जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, वृन्दावनलाल वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उग्र, सियारामशरण गुप्त, और 'अश्क' आदि आते हैं, प्रेमचन्द के सामने ही मैदान में आ गयी थी, और इसे उनका आशीर्वाद भी मिल चुका था। इन्होंने यथार्थ सामाजिक भूमि पर अपनी कला के चित्र बनाने शुरू किये। युग व्याप्त वैषम्य के कारण इनकी रुचियों में भी विभिन्नता थी, फलतः कहानी को जीवन की अँधेरी-उजेरी, सभी गलियों मे जाना पड़ा। उनमें सद्-असद् सभी प्रकार की भावनाएँ प्रतिबिम्बित हुईं, और समाज के साथ-साथ व्यक्ति के अस्तित्व को भी कला में मान्यता मिली। इन कहानीकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से सामाजिक जीवन और युग की परिस्थितियों का अध्ययन कर कहानी की विषय-वस्तु को वास्तविकता के एकदम निकट ला खड़ा किया। सुन्दर-असुन्दर का प्रश्न नही रहा। सब-कुछ कला की परिधि में सँजो लेने के प्रयत्न होने लगे। इस तरह इन कलाकारों ने अपनी कला के क्षेत्र को अधिक व्यापक और विस्तीर्ण बनाने की चेष्टा की, जिसका एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द के सरल मानववादी, सहज-सवेदनशील दर्शन पर बौद्धिकता का रंग चढ़ने लगा; और दूसरा यह कि व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व और सघर्षों के प्रस्फुटन में मनोविज्ञान धीरे-धीरे प्रधानता प्राप्त करता गया। यौन-समस्याओं के साथ ही नारी का चित्रण भी एक बँधी-बँधायी परम्परा तक ही सीमित न रह कर विविध यथार्थवादी रूपों में किया जाने लगा। पुरुष के अनेक 'टाइपों' का निर्माण हुआ। लेखक निजी कुंठाओं को भी व्यक्त करने में नही हिचके। इस तरह कहानी का प्रवाह विविध धाराओं में बह निकला।

जोशी जी जैसे कलाकार मानव के अवचेतन मन और अन्तर्प्रदेश में विचरने वाली छायामयी प्रवृत्तियों के अनेक अस्पष्ट रूपों को आकार देने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक शैली को जीवन प्रदान किया और उसके द्वारा कुटिल, रहस्य-मय, सघर्षयुक्त आदि, हर प्रकार की मन.स्थिति का नये मौलिक ढग से विश्लेषण कर सकने में समर्थ हो सके। जैनेन्द्र ने कहानी-कला में शिल्प-कला की प्रतिष्ठापना की। अनर्गलता के बहिष्कार, काट-छाँट और तराश द्वारा शैली को सरस और सरल कर उन्होंने दर्शन को सवेदनशील बनाने की दिशा में भी कुछ प्रयोग किये, जिनकी समुचित प्रशसा हुई। ऐसे कुछ प्रयोग असफल भी हुए— जैसा कि जाहिर है, तर्क उस मात्रा में भावना का स्थान नही ले सकता, और अगर ले भी, तो उसमें उस सहजानुभूति और पकड़ का अभाव होगा जो कहानी की पहली शर्त है। परन्तु जैनेन्द्र की शिल्प-कला हिंदी मे अत्यन्त सम्मानित और प्रशसित हुई। उनकी कहानियों का घुलता हुआ सामाजिक चिन्तन मस्तिष्क पर गभीर प्रभाव छोड़ता है। उनकी शैली और शिल्प इस प्रभाव और गभीरता को तीव्रतम बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। अज्ञेय के अतिरिक्त, इस विषय में और किसी का नाम उनके साथ नही रखा जाता।

यशपाल अपनी तरह के सबसे सशक्त लेखक हैं। उनकी कहानियों का सामाजिक यथार्थ कभी-कभी बहुत कटु और तिलमिला देने वाला होता है। किन्तु उस यथार्थ के पीछे निहित भावना अक्सर कल्याण-

कर जीवन-निर्माण की ओर संकेत करती हैं। यशपाल की सैद्धान्तिक कहानियों में भी मानव-मन की सूक्ष्म भावनाओं का निषेधात्मक रूप मिलता है, जिसे उनकी सबसे बड़ी विशेषता भी मानी जा सकती है। 'अश्क' में भी अशतः यह गुण पाया जाता है, परन्तु उनकी रूमानी कहानियों का सबंध धरती से कम होता है। यों प्राय उनकी सभी कहानियों में गहराई और डूब का अभाव है, और पढने पर वे श्रम साध्य जान पड़ती हैं। 'अश्क' और यशपाल, दोनों अपने को प्रगतिशील कहते और समझते हैं परन्तु अपने को प्रगतिशील न कहने वाले लेखकों में से भी अनेक ने अत्यन्त प्रगतिशील और स्वस्थ कहानियों की रचना की है। ऐसे लेखकों में भगवती प्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय और भगवतीचरण वर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भगवतीचरण वर्मा तो छींटे फेंकते चलते हैं, पर अज्ञेय की कहानियाँ एक स्तर का चित्र प्रस्तुत करती हैं। 'रोज' उनकी इसी तरह की कहानी है। इसके अलावा अज्ञेय की लेखनी ने भाषा-शिल्प-विधान और भावाभिव्यंजना के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग भी किये हैं। ऐसी कहानियों में चित्रांकन-क्षमता बहुत है। किसी दर्शन विशेष से संबंधित न होते हुए भी अपने लेखक की अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों के कारण उनकी कहानियाँ एक नये दर्शन की ही जन्मदात्री बन गयी हैं, जिसमें व्यक्ति और उसकी एकान्तिक भावनाओं को प्राधान्य प्राप्त है। इनके शिल्प की जागरूकता जैनेन्द्र के ही समान हिंदी-जगत् में बहुत प्रशंसित हुई, जब कि इनकी आत्म-परक शैली पर चारों ओर से अनेक आवाज उठायी गयीं।

विषय की दृष्टि से देखा जाए तो यौन-समस्या इन कहानियों का मुख्य विषय बनी, जिसे सदैव *मनोविज्ञान का सहारा प्राप्त रहा। नारी के नाना* 'प्रकार' उपस्थित किये गये और पुरुष के 'असंदिग्ध *वास्तविकता' वाले चरित्रों का निर्माण हुआ।* पर इस सत्य के बावजूद, इस पीढ़ी की कहानियों में अधिक एकरूपता नहीं आ पायी, क्योंकि इन सब लेखकों के दृष्टिकोण में विभिन्नता रही।

कुछ लेखकों ने महात्मा गांधी के आन्दोलन और जीवन-दर्शन से प्रभाव ग्रहण कर कहानियों में पुराने सुधारवादी तरीकों को नये ढंग से अभिव्यक्त किया, और वर्णनात्मक शैली में प्रेमचद जैसी सरल संवेदनशीलता और प्रभावोत्पादकता लाने की कोशिश की। सियारामशरण गुप्त और भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियों पर यह प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। वैसे और लेखकों पर भी थोड़ी-बहुत मात्रा में यह प्रभाव पड़ा होगा, परन्तु 'उग्र' इससे अछूते रहे। उन्हें गांधी-नीति का दब्बूपन पसंद न आया। वे नवीन प्रतिभा ले कर उठे और अपनी कहानियों से जर्जर रीति रिवाज और समाज-व्याप्त छल-कपट, झूठ, लोभ आदि व्यापक मानवीय-दुर्बलताओं पर दुर्दम प्रहार किये, किन्तु संयम और आदर्श के अभाव के कारण कहीं-कहीं उनकी कला का संतुलन बिगड़ गया है। रूढ़ियों पर प्रहार के सबसे अच्छे प्रयोग वर्मा जी की कहानियों में मिलते हैं, जिनके हल्के-हल्के व्यंग्य भारी हो कर हृदय पर प्रभाव डालते हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे व्यक्ति-विशेष की आड़ में उसके समूचे वर्ग को अपना लक्ष्य बनाते हैं। किन्तु एकमात्र यही व्यंग्य उनकी कहानियाँ नहीं हैं। और तरह की कहानियाँ भी उन्होंने लिखी हैं, पर वहाँ उनकी भावात्मकता बुद्धि द्वारा संतुलित नहीं है। अकर्मण्यता, भाग्यवाद, और निराशा की छाया जैसे उनमें घुल-सी गयी है। उनके बाद के उपन्यासों पर इनका प्रभाव और भी गहरा दिखाई पड़ता है।

प्रेमचद ने अपनी सामाजिक कहानियों के कारण *प्रसिद्धि प्राप्त की है, पर ऐतिहासिक व्यक्तित्वों को* भी कल्पना की निगाहों में साध कर उन्होंने कुछ *कहानियाँ लिखी थी। 'प्रसाद' ने भी ऐतिहासिक* वातावरण की पीठिका दे कर कुछ चरित्रों को

उठाया। पर ये सभी चरित्र कल्पित हैं, क्योंकि ऐसा करने में कलाकार को अपनी कला की सुरक्षा का यथेष्ट अवसर मिल जाता है। लेकिन इस पीढ़ी ने प्रेमचंद की पीढ़ी से आगे बढ़ कर ऐतिहासिक सचाई को कागज पर उतारा, और विशेष घटनाओं के संयोजन द्वारा उनमें कहानी का रस पैदा किया। लेकिन यह कार्य इतने बिखराव और फुट करपन के साथ हुआ कि प्रमाण पुरानी पत्र पत्रिकाओं की प्रतियों में भले ही मिल जाएँ संग्रह-रूप में राहुल सांकृत्यायन वृन्दावनलाल वर्मा, और भगवतशरण उपाध्याय के अतिरिक्त कोई और इसका साक्ष्य नहीं है। यों राधाकृष्ण और चन्द्रकिशोर जैन के प्रयास भी इस दिशा में काफी महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

कहानियों की इस परंपरा के साथ-साथ लघु-कथा, संस्मरण और स्केच भी इसी पीढ़ी के हाथों सामने आये। ऐसे महत्त्वपूर्ण लेखकों में महादेवी वर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी, बनारसीदास चतुर्वेदी, 'अश्क', 'निराला', अज्ञेय और शमशेरबहादुर सिंह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महादेवी के स्केच करुण वास्तविकता के कारण मर्म-स्पर्शी हुए, तो प्रकाशचन्द्र गुप्त के स्केच अपनी चित्रात्मकता के कारण। 'प्रभाकर' और चतुर्वेदी जी के स्केच चरित्रात्मक दृष्टि से प्रशस्य कहलाये। कुछ ऐसी ही रचनाएँ देवेन्द्र सत्यार्थी की भी प्रकाश में आयीं, परन्तु उनमें पत्रकारिता और रंग बाज़ी अधिक थी, बात कम।

स्पष्ट है कि इस पीढ़ी ने कहानी-क्षेत्र में नये-नये प्रयोग कर उसकी सीमाओं को बढ़ाया। प्रेमचन्द का पुरानी पीढ़ी से विद्रोह, उस परंपरा में सुधार और परिष्कार की ओर उन्मुख था, जब कि इस पीढ़ी का प्रेमचन्द की पीढ़ी से विद्रोह विस्तार और व्यापकता की ओर उन्मुख हुआ। यह बात दूसरी है, कि व्यापकता की सीमाएँ कहीं-कहीं अतिक्रमण-रेखा को भी छू जाती हैं; किन्तु फिर भी इस पीढ़ी के हाथों इसके साधारणीकरण की समस्या नयी-नयी टेक्नीकों के आविष्कार द्वारा सरल हुई; कहानियों में गति बढ़ी, मनोविज्ञान ने प्रधानता प्राप्त की, और पात्रों के चरित्रों में अधिक सुस्पष्टता आयी। विदेशी साहित्य के निकट संपर्क से नयी शैलियों को जन्म मिला, और भाषा की आधुनिकता बढ़ी। किन्तु साथ ही इस पीढ़ी के लेखकों की कुछ दुर्बलताएँ भी उभर कर सामने आयीं। वे हैं—लेखकों में आत्मविश्वास का अभाव, जनसत्य को महसूस न कर सकने की क्षमता, और युग-व्याप्त असंतोष से अ-परिचय। यह तो नहीं कहा जा सकता कि ये खामियाँ समान रूप से सभी लेखकों में हैं, पर यह सत्य है कि अधिकांश इन दुर्बलताओं को संजोये हैं, अपने व्यक्तित्व के कठघरे में बंद हो कर कल्पना-प्रसूत अनुभूतियों के आधार पर कला की सृष्टि करते रहे हैं। इन्हें स्वयं संघर्ष के रास्तों से गुज़रने का अवसर ही नहीं मिला। और यदि मिला हो, तो भी इनकी कृतियों में उस वेदना का अभाव है, जिसे रवीन्द्र ठाकुर ने महानता की कसौटी कहा है।

इन्होंने विषय-वस्तु के क्षेत्र को व्यापक कर, नयी-नयी दिशाओं में प्रयोग किये, जिससे आने वाले कहानीकारों की समस्याएँ सरल हुईं, भाषा की शक्ति को नये शब्द-समूह और भाव-संकेतों द्वारा समृद्ध किया; प्रेमचंद की स्वाभाविकता को अक्षुण्ण रखते हुए, अनेक अस्वाभाविकताओं का चित्रण किया, और नारी-पुरुष की यथार्थ समस्याओं को सामने रखा, सृष्टि के समस्त कार्य-व्यापारों को एक जिज्ञासु की भाँति देखा और उनमें निहित सूक्ष्म कहानी-तत्त्वों को मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से चित्रित किया।

इस प्रकार यह पीढ़ी अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और अटूट प्रतिभा ले कर कहानी-क्षेत्र में अवतरित हुई; पर न जाने क्यों

गांव को, या गांव की समस्याओं को, इन लेखकों में से *किसी ने भी अपना विषय नहीं बनाया।* इसके दो कारण हो सकते हैं। या तो इस पीढ़ी का कोई लेखक गांव के निकट संपर्क में आ नहीं पाया, या फिर प्रेमचन्द के तुरन्त बाद किसी को ग्रामीण कथानक उठाने का साहस नहीं हुआ। अस्तु।

इन प्रतिभा-संपन्न कहानीकारों का प्रभाव अपने *समकालीन और निकट-परवर्ती कहानीकारों पर* ऐसा पड़ा कि वे इनकी छाया से मुक्त न हो सके। इस पीढ़ी में नलिनविलोचन शर्मा, रांगेय राघव, पहाड़ी, ब्रजमोहन गुप्त, वीरेश्वर, नरोत्तम प्रसाद, दयाशंकर शर्मा, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतलाल, रायपुरी, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, तेजबहादुर चौधरी, अमृतराय, श्रीकृष्णदास, विष्णु प्रभाकर, निर्गुण, अचल आदि के नाम प्रमुख हैं।

इनमें से अधिकांश लेखक लिखना छोड़ चुके हैं किन्तु जो लिख रहे हैं, वह अच्छा होते हुए भी, परंपरा से हटा हुआ नहीं है। अतः उसकी चर्चा अप्रासंगिक है। यहां ग़लतफ़हमी दूर करने की ग़रज़ से यह बता देना चाहता हूँ, कि जब मैं इन लेखकों के परंपरा में बंधे होने की बात करता हूँ तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ये लेखक संभावना-रहित हो गये हैं, बल्कि केवल इतना है, कि इन्होंने कहानी-कला के क्षेत्र में प्रयोग कम किये हैं, या नहीं किये हैं। मसलन हम 'निर्गुण' की कहानियों को लें। आज इस सत्य से कोई इनकार नहीं कर सकता, कि उनकी-सी संवेदनशीलता और सरल वर्णन हिंदी की बहुत कम कहानियों में है। *उनके पास कहानी कहने की बेजोड़ कला है, और* अपनी कहानियों में एक घरेलू-सा वातावरण उपस्थित करके, वे जो कुछ कहते हैं, वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक होता है। पर सवाल यह उठता है कि क्या पूर्ववर्ती या पहली पीढ़ी के लेखकों की कला में ये गुण नहीं थे?

इसी तरह *अन्य* कहानीकारों की बात है। वैसे इस पीढ़ी के कुछ लेखकों की उठान को देख कर *बड़ी आशाएँ बँधी थीं। ऐसे लेखकों में 'निर्गुण'* के साथ पहाड़ी, भैरवप्रसाद गुप्त, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, वीरेश्वर और नलिनविलोचन शर्मा के नाम लिये जा सकते हैं। इनकी कहानियों में यथार्थ के प्रति आस्था, वर्णन की सजीवता तथा साथ ही निम्नवर्ग के जीवन से ममत्व आदि मुख्य प्रवृत्तियां एकदम स्पष्ट हैं। परन्तु ये पहली पीढ़ी के पद-चिह्नों से अलग हट कर किसी नयी राह का निर्माण नहीं कर सके। इसलिए कहानी-साहित्य में यह योग उतना नवीन और मौलिक नहीं माना जा सकता। यदि कोई मौलिक योग है, तो वह पहाड़ी-जीवन का चित्रण ही है, जो स्पष्टतया उर्दू-कहानियों के प्रभावस्वरूप हिंदी में आया।

जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय आदि के बाद हिंदी कहानी की विभिन्न दिशाओं में प्रयोग बिलकुल नयी उगती प्रतिभाओं द्वारा हो रहे हैं। बीच की पीढ़ी को छोड़ कर एकदम नये लेखकों का उल्लेख कुछ पुरातन-पंथियों को अखरेगा ही, मगर यह सचाई है कि इन्होंने अपनी कहानियों में अधिक नयापन और अधिक सशक्त एवं मौलिक वस्तु-तत्त्व दिया है, और दे रहे हैं।

इस नयी टीम में मार्कण्डेय, कमलेश्वर, शिवप्रसाद सिंह, राजेन्द्र यादव, मनोहरश्याम जोशी, कृष्णा सोबती, भीष्मसाहनी, मोहनराकेश, रामकुमार, वीरेन्द्रकृष्ण माथुर, केशवप्रसाद मिश्र, कमल जोशी, श्रीराम वर्मा 'अमरकान्त', ओमप्रकाश, जितेन्द्र, वीरेन्द्रमेंहदी रत्ता, विद्यासागर नौटियाल और धर्मवीर भारती के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी कहानियों में अधिकांशतः एक ऐसी वस्तु-परकता है, जिसका सामूहिक रूप में हर उत्थान में अभाव पाया गया है। प्रेमचन्द-कालीन लेखकों में यही वस्तु-परकता कहीं-कहीं इतनी बहिर्मुखी हो उठी है, कि कहानी प्रवचन की सीमा में सिमट आयी है; जब कि इन कहानीकारों की वस्तु-परकता

से सर्वत्र एक तटस्थ निर्देशन की प्रवृत्ति है। उदाहरण के लिए मैं मार्च, सन् '५४ की 'कल्पना' में प्रकाशित कमलेश्वर की 'आत्मा की आवाज' शीर्षक कहानी का उल्लेख करना चाहूँगा, जिसमें लेखक ने एक पत्र के माध्यम से उस रहस्य बिंदु पर प्रकाश डाला है, जो न केवल टेढ़ी रोटी सेंकने वाली भाभी का ही, बल्कि हर व्यक्ति, हर घर, और हर समाज का अपना समस्या हो सकता है।

इसी प्रकार इस बढ़ती हुई पीढ़ी के अन्य अनेक कहानीकारों में रुचि वैचित्र्य होते हुए भी सामाजिक जिम्मेदारी की जितनी सजग चेतना है, वह हिंदी कहानी में एक युगान्तर की संभावनाओं की ओर संकेत करती है। इन्होंने अपनी कहानियों में नयी प्रवृत्तियाँ अनुस्यूत की हैं और कर रहे हैं। अनुभूतियों की सघनता में अनुभूत वर्ण्य के संयोजन का कार्य नये ढंग से संपन्न कर इन्होंने अद्भुत सामर्थ्य का परिचय दिया है। इनकी कहानियों के कथानक का विधान अत्यन्त सुगठित होता है। प्रेमचन्द के बाद की दोनों पीढ़ियों में गाँव के कथानकों पर कम कहानियाँ लिखी गयीं, जब कि यह पीढ़ी इस दिशा में विशेष रूप से जागरूक है। मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह और केशवप्रसाद मिश्र की कहानियाँ प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर करती हैं। इनका प्रयास अभी उतना सुघर भले ही न हो, पर भिन्न अवश्य है। भिन्न इस अर्थ में कि प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में विशेष रूप से ग्रामीण वातावरण की चित्रण-कला के साथ साथ उनके मनोभावों को भी प्रकृत भाषा दी, जब कि आज के ये कहानीकार गाँव में रमते हुए व्यापक असंतोष, भुखमरी, बेरोजगारी आदि को समस्याओं का भी सामना रख रहे हैं।

वैसे सामूहिक रूप से ये सभी कहानीकार सामाजिक यथार्थ-चेतना के प्रति बहुत सचेष्ट और जागरूक हैं, किन्तु 'अमरकान्त' और कमलेश्वर की कहानियों में यह गुण बहुत उभर कर सामने आता है। 'अमरकान्त' की कहानियाँ आधुनिक समाज के खोखलेपन पर सीधी चोट करती हैं, और साफ साफ वर्ग विघटन की समस्या को सामने रखती हैं। साथ ही सामाजिक जीवन में बढ़ते हुए स्नेह और सहानुभूति के अभाव का लक्ष्य कर बाण फेंकती हैं। कमलेश्वर की कहानियों का गुण उनकी संवेदनात्मकता है। वे समाज के निम्नमध्यवर्गीय ढाँचे पर खड़ी हैं, और उनका उद्गम भी मूक भारतीय जनता का वही करुण स्थल है, जो प्रेमचन्द का था। उनकी कहानियाँ पढ़ी जा चुकने पर पाठक के सामने एक समस्या सी छोड़ जाती है, जिसमें कुछ संदेश भी रहता है। वे अपनी कहानियों में खुद कम बोलते हैं, इसलिए वे कहानियाँ इतनी बोलती हैं कि पढ़ने के बाद भी उनके स्वर घंटों कानों में गूँजते रहते हैं। अपनी दूसरे प्रकार की कहानियों में वे प्रभावशाली भाषा के माध्यम से एक भव्य वातावरण चित्रित करते हैं—लगता है, कि अब वे कोई बड़ी गंभीर बात कहने जा रहे हैं, पर वस्तुतः ऐसे स्थलों पर वे प्रायः कोई अत्यन्त साधारण सी घटना देते हैं, जो कहानी की भाषा और वातावरण-संबंधी भव्यता के आगे और भी अधिक प्रभावहीन और दबी-दबी सी लगती है।

राजेन्द्र यादव की कहानियों में हमें सबसे अधिक प्रौढ़ चिंतन मिलता है। शिल्प और शैली की दृष्टि से भी वे नयी कहानी का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। भावानुकूल और विषयानुसार भाषा लिखने में राजेन्द्र यादव दक्ष हैं। कमल जोशी और मोहन राकेश की भाषा में भी गज़ब की व्यञ्जना-शक्ति और सौंदर्य है। यदि कमल जोशी का शब्द सचयन मन को आकर्षित करता है, तो मोहन राकेश की भाषा की नादात्मकता जल्दी से पीछा नहीं छोड़ती। अन्य लेखक भी भाषा पर अपने-अपने ढंग से अधिकार रखते हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी लेखक हैं, जो शिल्प-शैली और भाषा आदि के चक्कर में न पड़ कर सीधे-सीधे विषय-वस्तु से संबंध रखते हैं।

इनमें विद्यासागर नौटियाल और वीरेन्द्रमेंहदी रत्ता के नाम प्रमुख हैं।

विद्यासागर नौटियाल की कहानियाँ एक साथ पहाड़ी जीवन और मनुष्य की खोखली प्रवृत्तियों का चित्रण करती हैं। किन्तु कथा-तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म और कुशाग्र बुद्धि की पकड़ है, जो प्राय वास्तविकता की ही प्रतिच्छाया होती है। बिना सघर्ष की कठोर भूमि पर उतरे, ऐसे मोती हाथ नहीं लगते। जगली फूलों की-सी उनकी ताजगी अकुशल हाथों में पड़ कर एक अजीब-से अनगढ़ सौंदर्य का बोध कराती है। वे कभी कभी शब्दों के ऊबड़-खाबड़ प्रयोग भी कर बैठते है। इसी प्रकार वीरेन्द्रमेंहदी रत्ता के सामने भी अभिव्यक्ति में बडी समस्या उद्देश्य की होती है। वे अपने कथा-सूत्र पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय परिवारों से चुनते हैं, और उनमें आ समायी तथा-कथित प्रगतिशीलता (फॉरवर्डनेस) और सभ्यता पर हल्के हल्के व्यग्य करते चलते हैं। इनकी कहानियों में एक अजीब फक्कड़पन और मस्ती होती है, जिसके कारण भाषा में पजाबीपन होते हुए भी कहीं प्रवाह रुद्ध नहीं होता। ये सोद्देश्य कहानियाँ जरूर है, मगर समस्याएँ नहीं, कि आप उनमें उलझें। वे मन को छूती है, चिपकती नहीं—और यही उनकी विशेषता है।

दरअसल किसी उद्देश्य को सार्थकता, या प्रभाव को स्थायित्व देने के लिए प्रतीक बडे सफल माध्यम है। धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव, शिवप्रसाद सिंह, और कुछ कमलेश्वर में इस प्रवृत्ति की झलक हमें *मिलती है। इनमें सबसे अधिक सफलता राजेन्द्र* यादव को मिली है। प्रतीकों द्वारा वे सूक्ष्म और स्थूल, और अत्यन्त कुरूप और अदृश्य भाव को भी बड़ी प्रभावात्मकता के साथ व्यक्त कर पाते हैं। 'नरभक्षियो के बीच' शीर्षक उनकी कहानी इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। शिवप्रसाद सिंह भावनाओं का एक ताना-बाना-सा पाठक के चारों ओर बुन देते हैं और *प्रतीकों का प्रयोग या तो* वातावरण को और अधिक प्रभावोत्पादक, या अनुभूति को अधिक गभीर और मार्मिक बनाने के लिए करते है। इनकी सम्पूर्ण रूप से प्रतीक-आश्रित कहानी कोई नही दिखी।

वीरेन्द्रकृष्ण माथुर की 'खोज' टेकनीक की दृष्टि से बड़ी सादी पर सफल कहानी है। इसी तरह मार्कण्डेय की 'जूते' शीर्षक कहानी भी एक गहन प्रभाव के साथ आद्यान्त एक सीधी रेखा पर चलती है, जिसमें कोई चरम-सीमा या स्पर्श-बिंदु नहीं है। इसी प्रकार जितेन्द्र की 'जमीन-आसमान', भारती की 'चाँद और टूटे हुए लोग', और ओमप्रकाश की 'चेचक' आदि कहानियाँ टेकनीक की दृष्टि से बड़े सफल प्रयोग है।

मनोहरश्याम जोशी की कहानियाँ एक अजीब करुण भाव-धारा के साथ बहती हैं, पर मनुष्य की सद्वृत्तियों और नैतिकता को उभारने पर उतना ज़ोर नही देती। उनका मुख्य उद्देश्य जैसे मानव-मन में निहित कोमल और मासूम तत्त्वों का चित्रण ही है। शायद इसीलिए वे प्राय बच्चों की सवेदन-शील भावनाओं और प्रवृत्तियों को ले कर सामने आती है। ओमप्रकाश और जितेन्द्र की कहानियों *में जो 'आग' है, वही उनका सर्वस्व है।* उसकी कोई भी स्पष्ट रूपरेखा खीच सकना बहुत कठिन है, इसलिए भी, कि इनकी *बहुत कम कहानियाँ* प्रकाशित हुई है। फिर भी उनमें दहकती हुई एक अजीब सी 'प्यास' वर्णन की झिझक में खूबसूरती बन कर उभर उठती है। ओकारनाथ श्रीवास्तव की कहानियों का सौंदर्य उनके वातावरण चित्रण और '*लोकल-कलर*' में होता है, यह और बात है, कि कभी-कभी उनके कथानक पर किसी विदेशी लेखक का प्रभाव हो।

इस तरह जब हम इन समस्त गुण-दोषों के साथ *वर्तमान नयी कहानी की ओर देखते है, तो* प्रगति के चिह्न स्पष्ट नज़र आते है। अभी प्रयोग चल रहे *है—ऐसी दशा में प्रवृत्तियाँ निश्चित करना, या*

उनके विषय में कुछ कहना कठिन काम है, फिर भी साधारणतया हम इन लेखकों की देन को इस प्रकार रख सकते हैं :—

कि इस पीढ़ी के लेखक कहानी-कला को फिर से उसके वास्तविक और जरूरतमन्द क्षेत्रों (गाँव) में ले जाने के लिए प्रयत्नशील हैं—और वहाँ से वेदना-बिंदुओं को एकत्रित कर जन-समाज के सम्मुख एक भीषण सुषुप्ति के रहस्य का उद्घाटन कर रहे हैं।

कि ये युग-सत्य और धर्म को समझ कर सिद्धान्त और कला के समन्वय द्वारा युग सापेक्ष साहित्य एवं श्लीलता, संस्कृति आदि की कसौटियों का निर्माण कर रहे हैं।

कि नारी के प्रति इनका दृष्टिकोण बहुत स्वस्थ और आस्थावान है।

कि नये-नये प्रयोगों और प्रतीकों द्वारा ये भाषा की व्यंजना-शक्ति का विकास कर रहे हैं।

कि ये अनगढ़ शिशु-मस्तिष्कों एवं पशुओं के मानसिक द्वन्द्व को भी चित्रित कर रहे हैं—और मनोविज्ञान की शक्ति के भरोसे किसी भी भावना को अभिव्यक्त न होने योग्य नहीं मानते।

कि इनके जीवन-दर्शन की आधार-शिला स्वस्थ सामाजिक भूमि है, जहाँ भाग्यवाद, निराशावाद, और कुंठाओं को कोई स्थान नहीं।

•

ooo

भारतभूषण अग्रवाल | परछाईं

शीला—(पत्र पढ़ते हुए) पूज्य स्वामी जी, सादर चरण-स्पर्श ! बड़े कष्ट में यह पत्र आपको लिख रही हूँ। वैसे कुछ दिन हुए, शायद दरोक दिन, जब आपको एक पत्र लिखा था। पर मैं उसे डाल नहीं पायी, और...और किसी ने डाल देने की कृपा नहीं की। इसलिए वह पड़ा ही रहा। अब कल होश आने पर वह मैंने डाक में छुड़वा दिया है। केवल इसलिए कि वह जब आपके लिए ही लिखा गया था, तो आप के कर-कमलों तक पहुँचने से क्यों वंचित रहे। यों, उसका रस सूख चुका है, क्योंकि वह तब का लिखा हुआ है, जब मैं, मैं थी। आज की तरह एक परछाईं नहीं, वरन् जीवित, उद्दाम, अनिरुद्ध प्रवाहिनी के समान बाधाओं से मरण-पर्यन्त जूझने की साध रखने वाली नारी थी।

नर्स—यह लीजिए, यू० डी० कोलन की पट्टी। अरे, आप फिर यह लिखा-पढ़ी कर रही हैं ? डाक्टर ने कितनी सख्त मनाही की है, आपको मालूम है ?

शीला—डाक्टर का तो काम ही मना करना है लिली, लेकिन मना करने से ही क्या मन मान जाता है !

नर्स—मानता तो नहीं है !

शीला—फिर ! पगली......

नर्स—लेकिन मेम साहब, आप कितनी कमज़ोर हैं, अगर कहीं हालत बिगड़ गयी, तो......

शीला—देखो नर्स ! अगर यह फर्ज-अदायी न भी करोगी, तो भी तुम्हारे पेमेंट में कोई कमी न होगी, समझी ?

नर्स—जी।

शीला—कल जो पत्र दिया था, डाल दिया था ?

नर्स—जी हाँ, कल ही......

शीला—खुद डाला था, या......

नर्स—जी हाँ, मैं शाम को छुट्टी पा कर सिविल लाइन्स गयी थी, तब मैंने खुद ही डाल दिया था।

शीला—सिविल लाइन्स क्या काम था ?

नर्स—काम तो खास कुछ नहीं था, यों ही चली गयी थी, जरा घूमने।

शीला—तुम्हें घूमना अच्छा लगता है ?

नर्स—बहुत ! मैं अक्सर घूमने जाती हूँ। खुली हवा हो, लंबी दूर तक फैली सड़क, और डूबते सूरज की किरणों में परछाइयों का खेल, जो मानों धीरे-धीरे चारों ओर से घिर आती हैं, और मुझे अपने में समा लेती हैं। मेरा तो जी करता है, खो जाऊँ उनमें।

शीला—तुम अकेली ही जाती हो ?

नर्स—जी ! (धीरे-धीरे अर्थ-भरे ढंग से हँसती है)

शीला—(अर्थ समझ कर हँसी में साथ देती है) मन का मीत साथ हो, तो उन परछाइयों में कौन नहीं खो जाना चाहेगा, पगली ! लेकिन लिली, जीवन में ऐसा भी तो होता है, जब सब का साथ बिछुड़ जाता है, और सिर्फ परछाइयों का यह घेरा बच रहता है। तब जानती हो, क्या होता है ?

नर्स—जानती हूँ।

शीला—क्या जानती हो ?

नर्स—हूँ ! (टालने के उद्देश्य से) मैं आपका दूध लाना तो भूल ही गयी। अभी आती हूँ।

शीला—अच्छी लड़की है, ठीक मेरी तरह ! (रुक कर) नहीं, भगवान् न करे मेरी तरह हो। (फिर पत्र पढ़ते हुए) और अब वह पत्र आपके पास पहुँचने ही वाला है। उस पत्र पर यदि आपको क्रोध आए, तो यह समझ कर क्षमा कर दें, कि सहन-शक्ति हरेक के पास बराबर नहीं रहती, यदि घृणा होने लगे, तो यह सोच कर क्षमा कर दें, कि मेरी उमगों का गला ऐसे समय घोंटा गया था, कि मैं स्वयं इस जीवन से घृणा करने लग गयी थी, और यदि दया आए, तो यह सोच कर क्षमा कर दें, कि मेरा कष्ट बढ़ाने से किसी को कोई लाभ नहीं, क्योंकि मेरा यह दूसरा पत्र ही मेरे पहले पत्र का सबसे बड़ा उपहास है। इसको पा कर आप भी एक प्रकार से निश्चित हो जाएँगे, सोचेंगे, शायद मैंने अपना इरादा बदल दिया। लेकिन स्वामी जी, काश यही होता ! काश मुझमें साहस की कमी होती, अपने आपको कायर कह कर धिक्कार सकती ! तब कम-से-कम मैं किसी और को तो दोषी न ठहराती, कम से-कम अपने मन को यह कह कर तो समझा सकती थी, कि जो लोग कुछ कर नहीं सकते, उन्हें जिन्दगी में सुख और सफलता के दर्शन नहीं होते। पर नहीं, यह संतोष भी मेरे साथ क्यों रहता। इसीलिए मैं अपने पिछले पत्र की गर्वोक्ति-भरी घोषणा को व्यर्थ करती हुई जीवित तो हूँ, पर अपनी ओर से मैं मृत्यु की शरण ले चुकी हूँ।

नर्स—(पास आते हुए) फिर वही...मैं कहती हूँ, यह आप कर क्या रही हैं ? छोड़िए इसे, यह लीजिए दूध। और हाँ, नरेश बाबू आये हैं।

शीला—तो साथ लिवा लाती। जा, भेज दे। (दूध पीती है)

नरेश—(धीमे) हलो !

शीला—आओ, बैठो। क्या खबर है ? (रुक कर) अरे, यह देख क्या रहे हो ?

नरेश—देख रहा हूँ, तुम्हारे इस नये जीवन को।

शीला—नया तो शायद है, पर जीवन नहीं है। समझे नरेश ! मुझे मौत भी मिली, तो सबसे अलग

तरह की। कैसा विचित्र भाग्य है मेरा, जो पहुँच तो हर जगह जाता है, पर साथ कहीं नहीं देता।

नरेश–आप तो न जाने कैसी बातें करती हैं! अब तो अपने पर दया कीजिए।

शीला–क्यों करूँ दया? तुम सब लोगों ने क्या मुझ पर कुछ कम दया की है? और फिर दया भी क्या कोई करने लायक चीज़ है? उससे तो घृणा ही अच्छी है।

नरेश–वह नहीं सकता, यह किसका दोष है कि तुम मेरी बात समझ ही नहीं पाती हो। हो सकता है, समझा न पाता होऊँ। पर तुम्हीं बताओ, तुमको यों मिटते देख कर मैं और कब तक चुप रहूँ!

शीला–(मद मुसकराहट के साथ) लेकिन और करोगे भी क्या?

नरेश–(बड़े तपाक से) जो तुम कहो।

शीला–मैं? यह अच्छी रही। मैं क्यों कहने लगी?

नरेश–(भावपूर्ण स्वर में) क्योंकि यह तुम्हारा अधिकार है।

शीला–मेरा अधिकार तो खत्म हो चुका है। वह बचा होता, तो मेरी जिन्दगी भी बची रहती।

नरेश–क्या यह बहुत जरूरी है कि तुम इस तरह की बातें करो? बल्कि, क्या यह अच्छा न होगा कि तुम यह कायरता छोड़ कर थोड़ी निर्भयता और *साहस से काम लो?*

शीला–धन्य है पुरुष की आँखें। प्राण देना तुम्हें कायरता लगता है?

नरेश–प्राण देना सचमुच बड़े साहस का काम है, यह मैं मानता हूँ, पर स्लीपिंग टेब्लेट्स खा कर सो जाना वीरता नहीं है, यह अधिकार दे बैठना है।

शीला–कैसा अधिकार?

नरेश–जीने का अधिकार, जीवन से सुख पाने का अधिकार। जिस रास्ते अपने हाथ से यह अधिकार जाता हो, वह रास्ता कभी भी सही रास्ता नहीं हो सकता। यह मैं पहले भी कह चुका हूँ।

शीला–तो फिर उसको दुहराए बिना क्या काम नहीं चलेगा?

नरेश–चलता तो दुहराता ही क्यों?

शीला–और यदि बदले में मैं भी अपना उत्तर दुहरा दूँ तो?

नरेश–कौन-सा उत्तर?

शीला–यही, नरेश बाबू, कि आपके तर्क के पीछे *आपका विश्वास नहीं है।* क्योंकि आप जो-कुछ भी कहते हैं, उसके पीछे मुझे आपकी कोई ऐसी योजना छिपी लगती है, जिसकी स्वीकृति मैंने नहीं दी है।

नरेश–मेरी एक योजना है, इससे मुझे इनकार नहीं है। और उसे यदि तुम स्वीकार ही कर लेतीं, तो फिर झगड़ा ही क्या था? पर क्या मैं यह आशा *भी छोड़ दूँ, कि शायद एक दिन वह शुभ मुहूर्त* आए, जब...

शीला–जरूर छोड़ दीजिए नरेश बाबू, यदि छोड़ देने में तकलीफ होती हो, तो मेरे निवेदन पर छोड़ दीजिए।

नरेश–आखिर क्यों?

शीला–इसलिए कि जिस शुभ मुहूर्त की बात आप कर रहे हैं, वह नारी के जीवन में केवल एक बार ही आता है। मेरे जीवन में भी वह आ चुका है। यह दूसरी बात है कि उस पर किसी अशुभ अस्तित्व की परछाईं ऐसी पड़ी कि वह दब गया। पर उसकी शिकायत तो मैंने आपसे कभी नहीं की।

नरेश—लेकिन उसकी कमी का अनुभव तो आपने किया। मैं उस कमी को मिटाना चाहता था।

शीला—(हँस कर) उसके मिटने ही में तो मेरा मिटना शामिल है। नहीं नरेश बाबू, आपकी सहायता मुझे सधन्यवाद वापिस करनी पड़ेगी।

नरेश—लेकिन आप उसे सहायता समझती ही क्यों हैं?

शीला—तो क्या समझूँ?

नरेश—कुछ मत समझिए, केवल स्वीकार कीजिए। समझने का काम मुझ पर छोड़ दीजिए। और जिनको समझना होगा, उन्हें भी मैं ही समझ लूँगा।

शीला—वाह वाह, ऐसी तानाशाही! आपकी यह योजना कमाल है, जिसमें मेरी समझ की भी खैर नहीं!

नरेश—तो फिर मैं क्या करूँ, आप ही बताइए।

शीला—कुछ भी करना आपको जरूरी क्यों लगता है?

नरेश—इसलिए कि मैं अब आपको इस प्रकार धीरे-धीरे डूबते नहीं देखना चाहता। साँझ की धूप की तरह (सहसा मोहाविष्ट-सा) आप, आप, . तुम नहीं जानतीं शीला, तुम्हारी इस स्थिति पर मेरा मन कितना रोता है। नारी अपने ऊपर इतना अत्याचार कर सकती है यह मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था।

शीला—लेकिन मैंने अत्याचार किया ही कहाँ है? बल्कि मेरी तो सिर्फ यही एक कोशिश रही है कि कहीं किसी पर अत्याचार न कर बैठूं!

नरेश—जहर खा कर क्या तुमने हम सब पर अत्याचार नहीं किया? मान लो, तुम न रहती!

शीला—लेकिन मैं मरी कहाँ? फिर मानने का सवाल ही कहाँ आता है?

नरेश—पर मैं तुम्हें मरने ही क्यों देता? जान पर खेल कर भी तुम्हें बचाता।

शीला—(मुसकराते हुए) अच्छा, यह बात है?

नरेश—बिलकुल यही बात है। जानती हो, ज्यों ही मुझे खबर लगी, मैं सीधे दौड़ा आया। देखा, मोहन घुमड़-घुमड़ कर रो रहा है। आखिर पचास टेब्लेट्स के बाद उम्मीद भी क्या होती! लेकिन मेरा मन नहीं माना। मैंने मोहन के कंधे पर हाथ रख कर पूरे बल से कहा

शीला—क्या कहा?

नरेश—मैंने कहा, दुःख मत करो मोहन। शीला मरेगी नहीं। वह जीवित रहेगी—उसे जीवित रहना पड़ेगा।

शीला—सो कैसे?

नरेश—मोहन ने भी यही पूछा था। तब मैंने यही कहा था। मैं डाक्टर या ज्योतिषी तो हूँ नहीं। उन लोगों की बात वे जानें। मैं तो इतना कहता हूँ, कि शीला ने ऐसा कुछ नहीं किया, जिसके लिए उसे मृत्यु की शरण लेनी पड़े। खिलते-खिलते फूल अचानक कैसे मुरझा सकता है?

शीला—फिर?

नरेश—फिर क्या? तुम पूरे सात दिन तक बेहोश पड़ी रहीं। सब लोग कई-कई बार रो-रो कर चुप हो गये। पर मैं जानता था कि यह नहीं होगा। आखिर सातवें दिन तुमने आँखें खोल दीं। और आज तुम मेरे सामने बैठी मुसकरा रही हो। समझी, मैंने अपने प्राणों के बल से तुम्हें जीवन का दान दिया है, शीला! तुम्हें इस तरह लौटा देने में विधाता का जरूर कोई-न-कोई संकेत है। मैं नहीं देख सकता कि अपने इस कीमती जीवन को तुम घुलते-घुलते बिता दो।

शीला—(हँसते हुए) लेकिन मेरे साहसी वीर! यह सब तो तुमने अपने लिए ही किया न, अपनी कामना की पूर्ति के लिए? मैं क्या करूँ, मेरे लिए

उसका कोई मूल्य नहीं है ? मैं मर गयी होती, तो छुट्टी मिल जाती। पर तुम लोग नहीं माने, क्योंकि तुम लोग शायद छुट्टी नहीं चाहते। लेकिन मैं तो छुट्टी ले चुकी। सो मैं हूँ तो जरूर, पर मेरे हाल को ले कर आप दुखी न हों नरेश बाबू उससे कुछ हाथ नहीं आएगा।

नरेश–तो क्या मैं नाटक के दर्शक की भाँति बैठा-बैठा स्टेज पर यह ट्रेजिडी होते देखता रहूँ ?

शीला–नहीं नहीं, नाटक पसन्द न आए, तो आप थियेटर-हाल से उठ कर बाहर भी जा सकते हैं। पर शोर करके अभिनेताओं का उत्साह क्यों तोड़ते हैं ?

नर्स–(कुछ दूर से) माफ कीजिए नरेश बाबू ! बहुत देर हुई अब आप जाइए। इनका ज्यादा बोलने की मनाही है।

नरेश–(साँस ले कर) अच्छी बात है। तो चलूँ !

शीला–(प्रसन्न मुद्रा में) अच्छा। और हाँ, नर्स !

नर्स–जी, मेम साहब !

शीला–यह खिड़की तो खोल दो जरा। मैं भी तो देखूँ, तुम्हारी परछाइयों का खेल !

[नर्स खिड़की खोल कर चली गयी]

शीला–(फिर पत्र पढ़ते हुए) अब, स्वामी जी, आप ही बताएँ, मेरे लिए जीवन या मृत्यु किसी का भी कौन-सा पथ खुला है ! आपने मुझे इतनी ज्ञान की बातें बतायी हैं, अपने अनुभव और दर्शन का निचोड़ मुझे पिलाया है, पर क्या मेरी इस समस्या का कोई भी समाधान हो सकता है ? मन चाहता है, कि कहूँ कि मैं एक बार फिर मरने की चेष्टा करूँगी, पर यह भी झूठ बोलना ही होगा ! क्योंकि मृत्यु के लिए भी अब मुझे कोई प्रेरणा नहीं मिलती। मेरा निवेदन है कि एक बार अपने चिन्तन-सागर को और मथें, शायद मेरे लिए कोई मुक्ति-बिन्दु मिल जाए ..

आपकी अभागिनी,
शीला

मोहन–(पास आते हुए) अरे, मैं तो समझा, सो रही होगी ! इसीलिए ज़रा काम देखता रहा। (रुक कर) यह क्या कर रही हो !

शीला–खत लिख रही हूँ।

मोहन–किसको ?

शीला–स्वामी जी को !

मोहन–फिर वही स्वप्न! मैं कह चुका हूँ तुम्हें उनके पास कोई खत नहीं भेजने दूँगा। उन्हीं ने तो तुम्हारा दिमाग फेर दिया, जो यह उत्पात कर बैठीं। कोई ज़रूरत नहीं खत-वत लिखने की।

शीला–(चौंक कर आहत सी उसे देखती है। फिर बुझे स्वर में) सुनो !

मोहन–कहो।

शीला–एक बात सच-सच बताओगे ?

मोहन–हाँ हाँ।

शीला–छिपाओगे तो नहीं, झूठ तो न बोलोगे ?

मोहन–बिल्कुल नहीं। क्यों ?

शीला–क्या तुम्हारा यह पक्का विश्वास है कि स्वामी जी ने ही मेरा दिमाग फेर दिया है ?

मोहन–और नहीं तो क्या ! उनसे मिलने के पहिले तुम बिलकुल ठीक थीं : हँसती थीं, बोलती थीं, घूमती-फिरती थीं, मज़े में तो रहती थीं ? लेकिन जब से तुम स्वामी जी से मिलीं, तभी से गुमसुम रहने लगीं, खाना-पीना छोड़ बैठीं, और आखिर में ऐसा उत्पात कर बैठीं कि सारा घर देखता फिरता।

शीला–(झुंझलाहट और घृणा से भर कर) इसके बाद कुछ कहने को मन तो नहीं करता, पर न कहने से तुम्हारा पाप बढ़ जाएगा। (रुक कर जैसे कोई जज अपना निर्णय पढ़ रहा हो) तो सुनो, स्वामी जी ने मुझे केवल तुम्हारा आदर करना ही सिखाया है। मैं क्या करने वाली हूँ, इसकी उन्हें सूचना तक न थी।

मोहन–फिर उनसे मिलने के बाद तुम उदास क्यों रहने लगीं ?

शीला–पहले मैं हँस-बोल लेती थी, क्योंकि मन ही मन सोचती थी कि कभी न-कभी तुम्हारे इस झूठ के घेरे से निकल भागूंगी। मुझे पहले मालूम होता कि तुम्हारा विवाह हो चुका है, तो मैं तुम्हारी ओर आँख भी न उठाती। पर वह बात तो बीत गयी। तुम कायरों की तरह मुझसे यह सत्य छिपाए रहे। बाद में मैंने सोचा कि मैं अपना जीवन फिर से शुरू करूँगी। इसीलिए भीतर ही भीतर उपाय सोचती रही और ऊपर से हर्षोल्लास का परदा डाले रही। पर स्वामी जी ने बताया कि यह परदा गलत है; यही नहीं, यह कामना भी ग़लत है। नारी का जीवन एक बार ही प्रारम्भ होता है, और तभी मैं समझ गयी कि मृत्यु ही मेरा एकमात्र छुटकारा है।

मोहन–(घबरा कर) तो क्या...तो क्या...

शीला–(दृढ़ता से) घबराओ मत। दुबारा मरने की कोशिश करके मैं तुम्हारे घर-भर को बँधवाऊँगी नहीं। क्योंकि वह कोशिश भी व्यर्थ है। मेरा जीवन तो एक परछाई है, जो तभी मिट सकता है; जब उसको रूप देने वाला आलोक मिट जाए।

[स्वरान्त]

ØØØ

उदयशंकर भट्ट | युग-पुरुष से* !

हे चिर अभिनव सत्य चिरन्तन !
आकुल जन किंजल्क तुम्हारी देखो—
देहोत्सर्ग त्रिवेणी-तट की भूमि,
जहाँ पर तुमने
ज्वलन-प्रभा प्रभास तीर्थ पर,
सागर-क्षालित पुण्य तटों पर—
मुक्त गगन में
मुक्त पवन में
नील-गगन-तन त्याग किया था—
पाँच सहस्र पूर्व इस भू पर;
प्रभा पुंज ज्योतिष्क बिखर कर
आलोकित कर भूमण्डल को—
हे आखण्डल,
स्वयं ज्योति में लीन हो गया।
हे श्रीकृष्ण,
आज उस भू पर—दूर-दूर तक कहीं तुम्हारा
पार्थिव तन अवशेष नहीं है,
यह जन-रव भी शाप नहीं है,
खग-कलरव का लेश नहीं है,
परम्परा से चलने वाली मानव श्रुति भी आज नहीं है।
गगन मूक है, दिन उगता है—
और बाल-रवि-किरण करों से मौन प्रणाम किया करता है;
और चली जाती है सन्ध्या जाने क्या कुछ गुनती मन में
अस्ताचल को नित्य नियम से,
नित्य नियम से रजनी आती,
भस्म चढ़ाती मौन मूक-सी
कर्बुर केशों में ललाट पर।
पावस आता अर्घ्य चढ़ाने,
गर्मी आती स्नेह जताने,
सर्दी रोती बैठ सिरहाने,
आती सागर-लहर गरजती
रोष भरी-सी केवल पूनम की रातों में,

*ये पंक्तियाँ गुजरात (काठियावाड़) के प्रभास-क्षेत्र में स्थित त्रिवेणी-तट पर बैठ कर कवि ने लिखी है, जहाँ कृष्ण ने देहोत्सर्ग किया था।

और चले जाते हैं सब थे–
युग-युग से श्रद्धा बिखेरते,
वार चुका है एक एक कण प्रहरी पवन, गगन, जल,
थल को,
मास वर्ष को एक-एक कण,
शेष नहीं है पार्थिव तन कण।
किन्तु अपार्थिव रूप तुम्हारा,
शब्द तुम्हारे, अर्थ तुम्हारे,
कर्म तुम्हारे, ज्ञान तुम्हारा, देय तुम्हारा,
सब कुछ रोम-रोम में जग के–
मद्य शरीरी हास तुम्हारा,
लास्य तुम्हारा
गोपी जन-वल्लभ पद-पल्लव,
प्राणों में अधिवास तुम्हारा,
अब भी कण कण में व्यापक हैं,
आज त्रिवेणी तट पार्थिव कण–
जल में, थल में, पवन, गगन में,
ओज, तेज में लीन हो गये,
और कर गये भूमण्डल को–
क्रिया-रीति से पूर्ण परम ज्योतिष्क चिरन्तन !
केलि, कलित शैशव को तुमने,
छवि यौवन को, रति जीवन को,
गति प्राणों को, मति चिन्तन को,
प्रगति परम पुरुषार्थ चरम को–
दिया सभी को सब कुछ तुमने,
और आज यह जीवन की संघर्ष-ज्वाल में दग्ध,
विश्व महामानव का चिन्तन–
मनन, ज्वलन, उपहास बन रहा,
खोज नहीं पाता सुख-सौरभ–
और प्राण की शान्ति चिरन्तन–
जो कुछ गाया या गीता में
हम ही दूर हुए हैं उससे,
या कुछ तुम ही दूर हो गये ?
मानव का विश्लेषण क्षण-क्षण–
नयी दृष्टि से देख रहा है–
तन को, जीवन को औ' मन को;

आज काल के हाथ सूर्य की नयी लेखनी–
किरणों की नोकों से लिखते हैं जन की बातें, औ' घातें;
राजनीति के नये पृष्ठ
परिभाषा जिसकी नयी-नयी है,
कई कई हैं,
नयी-नयी टीका-टिप्पणियाँ,
नये अर्थ-आश्लेष,
व्यंग्य सविशेष,
आज चतुरता, मेधा जन की,
निज स्वार्थ से प्रेरित हो कर—
सजग खेलती खेल,
करती है मिथ्या को सत्य,
और सत्य को झूठ बनाती,
बहकाती है सारे जग को,
मैं, मैं हैरान देखता हूँ यह—
कैसी यह व्याख्या भावों की,
कैसा तर्क, विश्वास मानव का,
नये नये, शब्दों वाक्यों की लौह-शृंखला—
बाँध रही मानव-मस्तक को,
प्राण व्यापिनी आशंका से,
जिसमें मानव की भंगुरता—
बढ़ती जाती शंकाकुल करती चिन्तन को;
यन्त्रों की खट खट ठक-ठक से—
मोबिल आयल पेट्रोल के सतत धूम से—
जल-थल गगन-पवन लोकों को,
मानव को, उसके चिन्तन को,
शंकाकुल करती रहती है।
सब भौतिक विज्ञान प्रकृति उपहार
नाश का करते हैं शृंगार,
नाश का सृजन, नाश का मरण,
यदपि पोषण, या कि यह कहूँ—
इस अमूल्य मानव की मृत्यु :
चींटी का सा खेल हो गया,
जैसे एक मज़ाक हो गया,
चलते चलते गिरा, मर गया,
बैठे बैठे उठा, मर गया,

वायुयान में, रेल-बसों में
जल-यानों में, दुर्घटनाएँ
खेल हो गयीं !
खेल हो गयी मृत्यु यहाँ पर,
खेल हो गया जीवन-जीवन,
बदल रहा मानव, परिभाषा बदल रही है—
आज सत्य की और झूठ की,
विजय, पराजय, शत्रु, मित्र की,
जैसे यह सब हल्की हल्की कच्चे डोरे की गाँठ है।
देख रहे तुम—
कितना आगे बढ़ आये हम—

तुमने एक युद्ध देखा था,
जो कि सत्य की और धर्म की
जय के लिए लड़ा था तुमने,
मर्यादा के लिए, ध्येय के लिए लड़ा था,
जो कर सुख के लिए, मोक्ष के लिए लड़ा था,
परंपरा यह आज बन गया युद्ध हमारे मन-वाणी का,
व्यक्ति देश का
हर इच्छा के और स्वार्थ के व्याघातों पर !
और आज है युद्ध पेट के लिए, वस्त्र के लिए,
भूमि के लिए निरन्तर !
तुम चलते थे—
दौड़ रहे हम, उड़ते भी हैं पार कर रहे सागर,
सरिता, पर्वत, मरुथल—
सब कुछ है, भौतिक सुख सब कुछ—
पर वैसा संतोष नहीं है,
मन अस्थिर परितोष नहीं है,
जैसे चलना ही जीवन है,
चल कर मरना ही जीवन है,
रोटी कपड़ा ही जीवन है,
सोते हैं इसलिए कि चलना थकने पर दूभर होता है,
जगते हैं इसलिए कि चलना जीने को आवश्यक होता,
खाते हैं इसलिए उपार्जन और कर सकें,
पेट भर सकें, भोग सकें भोगों को जी भर,
चिल्लाता है पेट जगत् का,
महा राक्षसी भूख ज्वलित है,
हँसती है बेशर्मी, क्षमा का और सत्य का मुंड पलित है,
जीना चाह रहे हैं फिर भी, "केवल वर्तमान जीवन है,
पीछे को किसने देखा है, आगे को किसने जाना है",
जीते रहना है, जीते हैं,
जीते हैं ज्वालाएँ पी कर हम अभाव की
किन्तु मोह है दृढ़, जीवन से—
नहीं जानते और मोक्ष क्या,
और धर्म क्या,
और कर्म क्या,
यही आज साहित्य हमारा—
उच्छृंखल यौवन-रस पी ले;
यही आज है ध्येय हमारा—
जैसे भी हो जीएँ, जी लें,
यही आज है धर्म हमारा—
छीनें, जितना छीन सकें हम—
बढ़ना चाह रहे हैं फिर भी—
जीना चाह रहे हैं फिर भी—
है उद्देश्य हमारा उन्नत,
टूट गयी भौगोलिक सीमा,
टुकड़े टुकड़े काल हो गया,
शत्रु मित्र केवल विचार हैं,
ईश्वर-परमेश्वर विचार हैं,
देख रहे तुम—
कितना आगे बढ़ आये हम !
मानवता की चीख गगन तक जितनी जाती
उतनी ही हत्या होती है उतना ही जीवन बढ़ता है,
जितना ही रोगी रोता है उतना वैद्य महाशावादी,
सब-कुछ बदल गया है अब तो,
निकल गया है काल सरित जल,
अगणित नदियों की धाराएँ चिन्तन,
वेश, वसन, भोजन की—
गंगा सागर में आ डूबीं,
अब न जान पाओगे हमको—देखो आ कर एक बार फिर
कितना आगे बढ़ आये हम !
कितने पीछे चले गये तुम !

हरिमोहन | सिगरेट की मिठाई

"अच्छा जी ! यह हरकत है आपकी !!" खिड़की से झाँक कर रानी ने आँखें नचाते हुए कहा, "मैं अभी जा कर चाचा जी (पिता जी) से कहती हूँ, कि भइया सिगरेट..."

"चुप-चुप !" राधेश्याम ने मुँह पर अँगुली रखते हुए कहा, और सिगरेट नीचे गिरा कर पैर से मसल दिया।

"यह छिपाने से कुछ नहीं होना ! मैं जा कर कहती हूँ। चाचा जी ! चाचा जी !!" वह चिल्लाने लगी।

राधेश्याम ने पुकारा "अरी, सुन रन्नो ! सुन भी तो। देख, अपना वो लेती जा, देख, कैसी बढ़िया चीज है, देख भी तो !"

"नहीं-नहीं, पढ़ाओ मत। मैं कहूँगी जरूर, चाचा जी ! चाचा जी !!"

"अरे, देख भी तो !" कह कर राधे झपट कर कमरे के बाहर आ गया। रानी का हाथ पकड़, घसीट कर कमरे में ले गया। बोला, "देख, तेरे लिए कैसी बढ़िया चीज लाया हूँ।' और उसने एक कान पकड़ कर दबाते हुए कहा, "बोल, क्या कहेगी ? सूअर कहीं की। चाचा जी-चाचा जी चिल्लाती है !"

"ऊँ-ऊँ, ऊँ-ऊँ, कान छोड़ दो, ऊँ; मैं चिल्लाऊँगी, अब तो जरूर चिल्लाऊँगी "चाचा जी।" जोर से बोली, "देखिए, भइया—"

"क्या है ?" नीचे के बैठकखाने से मुंशी नवल-किशोर जी बोले, "क्या है, राधे ? क्यों परेशान कर रहे हो उसे ?"

"नहीं चाचा जी, भइया सि..." रन्नो पूरा बोलने भी न पायी थी कि राधे ने उसका मुँह दबा

कर कहा—"मैं नहीं चाचा जी, यही लिखने नहीं दे रही है।"

रन्नो छटपटा रही थी। रह-रह कर हाथ हटाती, पर कहाँ रन्नो, कहाँ राधे! बिचारी का सारा प्रयत्न विफल होता जा रहा था। आखिर लाचार हो कर, वह रोने का स्वांग भरने लगी—"ईं ऊँ, ईं ऊँ, ईं ऊँ।"

राधेश्याम ने धीरे से कहा, 'रन्नो, देख, तेरे लिए चाकलेट ला दूंगा। टॉफी तुझे बहुत अच्छी लगती है न? वही ला दूंगा। कह दे, नहीं कहेगी, तो मुंह छोड़ूंगा, नहीं तो नहीं।"

रन्नो ई-ई कर ही रही थी, तभी चाचा जी की आवाज आयी, "ईं-ईं क्या कर रही है? चल, यहाँ आ, लिखने दे उसे।"

अब राधे की जान साँसत में पड़ी। छोड़ता है तो कहेगी जा कर जरूर। नहीं छोड़ता, तो चाचा जी डाँटना शुरू कर देंगे। वह जानता था कि चाचा जी को सिगरेट से जितनी नफरत थी, उतनी शायद किसी चीज से नहीं। इतनी उमर गुजर जाने पर भी, उन्होंने धुएँ का नशा कभी नहीं किया। यहाँ तक कि दोस्तों तक ने भी उनके सामने सिगरेट पीना छोड़ दिया था। अगर कहीं उन्हें पता लग गया कि राधे सिगरेट पी रहा था तो वे आफत मचा देंगे। पान खा लो, उन्हें मंजूर! सिनेमा देखने को कोई पैसा माँगे, दे देंगे। पर कहीं सिगरेट का नाम किसी ने ले लिया, तो आफत बुला ली। उसने सोचा, अगर कहीं रन्नो ने कह दिया तो? यह रन्नो इतनी खुराट है कि जिद पर आ गयी, तो कहेगी जरूर; चाहे जो हो जाए। खाने को तो ढेरों खा जाएगी, जब देखो मुँह चलता ही रहता है, और नहीं होती कभी बदहजमी! मगर बात रत्ती भर भी नहीं पचती। सुनी, कि उगल आयी। इसलिए रन्नो का मुँह दबाए ही दबाए बोला, "देखिए चाचा जी, नहीं मान रही है यहाँ से।"

"आती क्यूँ नहीं रे!" अबकी बार नवलकिशोर जी ने जोर से कहा।

इसी बीच राधेश्याम रन्नो की चिरौरी करने लगा, "देख रन्नो, जो कहेगी, सो ला दूंगा। तेरा नाम तो रन्नो है न? रन्नो का मतलब है रानी। रानी जानती है न? एक बहुत बड़े देश की मालकिन। जिसके पास हीरा, जवाहर, सोना, चाँदी, सब होते हैं। हाँ, और नहीं तो क्या? हजारों नौकर-चाकर, हाथी-घोड़े, मोटर, बग्घी—सब। तू तो मेरी रानी बहन है न?" कहता जा रहा था, पर मुँह नहीं छोड़ रहा था। रन्नो चुपचाप सुने जा रही थी। "देख, तेरे लिए मिठाई लेता आऊँगा। वह बंगाली टोला वाली—खीरकदम, संदेश, रसगुल्ले, चमचम, एटमबम, मोहनभोग, जो कहेगी सो।"

रन्नो ने उँगली उठा कर इशारा किया। राधे बोला, "अरे इतने को तुझसे खायी भी जाएगी! आठ आने में तो तेरा जी भर जाएगा।"

रन्नो ने सिर हिला कर "उहुँ-उहुँ" किया।

देर होती देख कर नवलकिशोर जी ने डाँट कर बुलाया, "उहुँ उहुँ क्या कर रही है, जा, अम्माँ से पान लगवा कर ले आ। लिखने दे उसे।"

राधे ने बहलाया, "देखा? चाचा जी कह रहे हैं, आठ ही आने की मिठाई ला।" पर रन्नो तैयार नहीं हुई तो राधे बोला, "अच्छा, तो कसम खाती है न, कि कभी नहीं कहेगी चाचा जी से, सिगरेट के बारे में!"

रन्नो ने सिर हिला कर हामी भर दी। राधे ने मुँह छोड़ दिया। रन्नो नाचती हुई, दौड़ कर रसोई में चली गयी। देखा, अम्माँ दाल छौंकने की तैयारी कर रही है, बोली, "छोड़ उसे, चाचा जी पान माँग रहे हैं, लगा दे जल्दी से।"

"आ गयी चाचा जी की बिटिया। कहाँ मर रही थी रे? न कपड़े बदले, न बाल बाँधे, शाम होने को आयी और चुड़ैल की तरह घूम रही है। जा, पहले हाथ-पाँव धो ले, तब चौके में घुसना।" माँ बोली।

"नहीं, पान लगा दे पहले।" उसने रोब और ठुनक के साथ कहा, "चाचा जी जल्दी माँग रहे हैं।"

"माँगने दे!" माँ बोली, "उन्हें और कोई काम थोड़े ही है। बस हुकुम चलाना आता है; जा, जो कह रही हूँ, सो कर।"

"लगाओ, नहीं तो कह दूंगी, कि माँ पान नहीं लगा रही है।" रन्नो बोली।

"अंधी है? देख तो रही है, कलछुल में घी पड़ा है, दाल छौंकने जा रही हूँ। छौंक लेती हूँ, तो लगा दूंगी।" फिर बोली, "तू ही क्यों नहीं लगा लेती? क्या चरखा कातना है? बस, दिन-भर भूत की तरह इधर से उधर घूमना आता है। जा, लगा ले।"

"हमें नहीं आता पान लगाने। चूना ज्यादा हो जाएगा, तो हम नहीं जानते।" फिर दौड़ कर कमरे में गयी और पानदान खोल कर बैठ गयी। एक बड़ा-सा पत्ता निकाला, चूना लगाया, ढेर-सा कत्था पोत दिया, सुपारी की डिबिया खोल कर देखी, तो कटी हुई सुपारी थी ही नहीं। एक बड़ी-सी सुपारी बच रही थी। झल्ला कर बोली, 'अब इसे कौन काटे? काट कर रखनी नहीं!" उसने मुँह बना कर कहा, "बस हुकुम चलाना आता है?"

"बात हुइयाँ हैं, पाजी कहीं की! बड़ी पुर-खिन हो गयी है। ले जा वैसे ही पान दे दे। सुपारी-सरौता लेती जा, काट कर खा लेंगे।"

"और तू क्या कर रही है। घंटा-भर हो गया, दाल ही नहीं छौंकी गयी!" गाल फुला कर बोली, "ले, लिये जाती हूँ।" बीड़ा लगाना तो आता नहीं था। जैसे-तैसे पान लपेट कर उँगली के बीच दबा ली। दूसरे हाथ में सुपारी-सरौता ले कर बैठक-खाने में चली गयी। मुंशी नवलकिशोरलाल लेट कर 'कल्याण' पढ़ रहे थे। रन्नो को देखा, तो 'कल्याण' एक ओर रखते हुए बोले, "बड़ी जल्दी आयीं भवानी!"

"तो मैं क्या करूँ, अम्माँ ने पान लगाया ही नहीं।" उसने लपेटा हुआ पान दे कर सुपारी और सरौता तख्त पर धर दिया। बोली, "काट कर खा लीजिए, मुझसे नहीं कटी।"

"अच्छा! तो बिटिया पान लगा कर लायी है, शाबाश!" पान मुंह में रखते हुए बोले, "बड़ा अच्छा पान लगाती है। वाह, तेरी अम्माँ क्या ऐसा लगाएँगी! जरा इधर तो आ, रन्नो!"

वह तख्ते पर चढ़ गयी, तो नवल बाबू उसे खींच कर, बगल में तकिए की तरह दबा कर, उसके मुँह पर झुक कर मूँछ गड़ाने लगे। रन्नो खिलखिला-खिलखिला कर इधर से उधर छिटकने लगी, तो बोले, "अच्छा, बता, क्या खाएगी? झापड़ या मुक्का?"

"हूँ!" उसने आँखें चढ़ा कर कहा, "जाइए मैं तो मिठाई खाऊँगी।"

"अच्छा, तो मिठाई खाएगी, रानी बिटिया?" 'कल्याण' उठा कर छाती पर खोलते हुए बोले, "तो कौन-सी मिठाई खाएगी? गुड़ की, या चीनी की?"

जहाँ से उन्होंने 'कल्याण' बन्द किया था, वहाँ एक कागज़ रख दिया था, वह कहीं पन्नों में खो गया था, उसे ही खोजने लगे। रानी ने समझा कि उसे चिढ़ा रहे हैं। मिठाई का नाम तो यूँ ही ले लिया था। इसलिए थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करने के बाद बोली, "बहलाइए मत।"

"हाँ-हाँ, ला दूँगा।" चाचा जी का ध्यान कागज वाला निशान खोजने में लगा था, इसलिए बात कुछ की कुछ कहे जा रहे थे, "घबराओ मत, ला देंगे ला देंगे बेटो, फिक्र मत करो।" तब तक निशान मिल गया, तो खुश हो कर बोले, "हाँ, क्या कह रही थी रे ?" और 'कल्याण' पढ़ने लगे।

रानी कुछ देर तक उनकी बगल में लोटती-पोटती रही। कभी सिर पर से झुक कर 'कल्याण' में देखने लगती, कभी उनका यज्ञोपवीत पकड़ कर उँगलियों में लपेटती। तब भी जब चाचा जी का ध्यान नहीं बँटा, तो बड़े प्यार से बोली, "चाचा जी ! भइया ने सिग..." एकाएक उसे ध्यान आ गया। जीभ काट कर चुप हो गयी। मुंशी जी ने एकदम से 'कल्याण' बंद कर दिया, बोले, "क्या ? क्या कह रही थी रे, अएं ?"

रन्नो चुप रही तो बोले, "हाँ-हाँ, बोल, क्या कह रही थी ?" उसे कोई बहाना सूझ नहीं रहा था। अबकी चाचा जी ने डपट कर पूछा, "क्या कह रही थी ? बोलती क्यों नहीं ?"

रन्नो रोने-रोने हो गयी। बोली, "कुछ तो नहीं ! भइया कह रहे थे, कि सिनेमा देखने के लिए चाचा जी से पूछ ले।"

मुंशी जी ठठा कर हँस पड़े, "सिनेमा, वाह रे सिनेमा !" फिर चुप हो कर बोले, "किसी दूसरे दिन चली जाना। आज तो काम है। कल पूजा की तैयारी करनी है न ? हाँ, देख, माँ से कह देना, कि राधे को शहर भेज कर सामान मँगवा लेगी। आज मेरी एक आदमी के यहाँ दावत है। मैं न जा सकूँगा।"

किसी तरह जान छूटी। रन्नो भागी वहाँ से, और चाचा जी 'कल्याण' पढ़ने में लग गये।

शाम को जब राधे साइकिल में झोला लटका कर सामान लाने रवाना हुआ, तो रन्नो ने उसे दूर से ही इशारे से बताया, कि वह एक रुपये से कम की मिठाई नहीं लेगी। राधे मुँह चिढ़ा कर ठेंगा दिखाते हुए चला गया। तभी माँ ने पुकार कर कहा—"रन्नो, साँझ हो गयी, दीया-बाती की सुध नहीं है। जा, देवता वाले घर में दीया जला कर आ, तब तक मैं सब बत्ती ठीक किए देती हूँ, सब कमरों में रख आना।"

हाथ में सलाई और घी का चिराग ले कर वह देवता वाले घर में गयी। मूर्ति के सामने दीया रख कर जलाया, प्रणाम किया और लौट आयी। नीचे के सब कमरों में लालटेन रखने के बाद वह एक कपड़ा ले कर ऊपर राधे के कमरे में गयी। लैम्प की चिमनी निकाल कर फूँक फूँक कर कपड़े से खूब साफ किया, कलम-पेंसिल-दावात सबको ठिकाने से सजाया, इधर-उधर पड़ी किताबों को पोंछ कर करीने से रखा। साफ चादर बिछा कर, तकिया ठीक से ठीक कर रखा, और बत्ती धीमी कर नीचे माँ के पास रसोई घर में बैठ कर, काम में हाथ बँटाने लगी।

करीब दस बजे ज्यों ही गलियारे में साइकिल की खटपट सुनाई पड़ी, रन्नो दौड़ती हुई राधे के पास गयी, बोली, "लाए ?"

"उहुँ" राधे ने किया।

"जाओ, हाँ नहीं तो।" वह उसकी साइकिल पकड़ कर मचलने लगी—"आने दो चाचा जी को, न कहा, तो कहना।"

"तब तू ही बता इतना ढेर सा सामान माँ ने खरीदने के लिए कह दिया, समय ही नहीं मिला, तो क्या करता !" राधे बोला, "कल जरूर लेता आऊँगा।"

उसे विश्वास हो गया कि वह चिढ़ा नहीं रहा था, मुँह फुला कर रुआँसी-सी हो कर चली गयी। बोली नहीं, जा कर चारपाई पर औंधे मुँह पड़ रही।

राधे सब समान ले कर माँ के पास गया, पुर्जे से मिला मिला कर रखने के बाद बोला, "माँ, आज खाना खाने को जी नहीं कर रहा है।"

"भला क्यों।"

"यों ही, भूख नहीं है।" कह कर ऊपर जाने लगा।

"अरे, सुन भी तो।" माँ बोली, "चल, थोडा सा खा ले। खाली पेट नहीं सोया जाता। कल पूजा का दिन है, दुपहर तक यों ही रहना पड़ेगा।"

"नहीं माँ, शहर में काफी नाश्ता कर लिया है, भूख ज़रा भी नहीं है। जा, तू खा ले।"

बात सच भी थी। चौक में उसकी भेंट गिरजा-शंकर से हो गयी थी। दोनों ने खालसा होटल में डट कर कीमा, कोफ्ता और रोगनजोश पर हाथ फेरे थे। भूख लगती, तो वहाँ से। परिवार वैष्णव होने के नाते उसने डर के मारे यह भेद खोला नहीं था। खाना-पीना होता, तो शहर में ही किसी होटल में, किसी दोस्त के साथ खा लेता था।

माँ ज़िद करने लगी, तो बोला, "सच कहता हूँ, जा, तू खा ले। मैंने सिन्धी चाट वाले के यहाँ खूब पकौड़े उड़ाये हैं, अब तो पेट में जगह ही नहीं बची।"

"तो रोज़-रोज़ बाहर खाया कर। चाट-वाट से तन्दुरुस्ती बनती है न! पहलवान बन जाएगा। भला, घर का खाना क्या अच्छा लगेगा!" माँ बोली, "बाप दावत खाने गये हैं, बेटा चाट खा आया, तो क्या हमारा ही पेट इतना बड़ा था कि चूल्हा फूंकने गयी? कह दिया करो तुम लोग। क्या ज़रूरत है खाना बनाने की। पैसा ही बचेगा। शरम नहीं आती, रात भर कोई अंगारे और आये, तो कह दिये—भूख नहीं है। कहने में जैसे कुछ लगता ही नहीं।"

"तू तो बेकार नाराज़ हो रही है। भूख होती, तो खा न लेता?" राधे बोला।

"जो जी में आए, करो तुम लोग।" फिर मुलायमियत से बोली, "बेटा, बाज़ार की चाटखोरी आदमी को तबाह कर देती है। फिर पता नहीं, होटल में कैसे सब बनाते हैं। उसी जूठ-काठ हाथ से गदे-मदे कपड़े से पोंछे हुए बर्तन में खिलाते हैं। भला, कैसे तो तेरा जी भरता है।"

"अच्छा, अब नहीं खाऊँगा।" वह हँसता हुआ ऊपर चला गया। माँ चिल्ला कर बोली, "दूध पी कर सोना।"

"अच्छा।"

कमरे में देखा, तो सब कुछ बड़े करीने से सजा हुआ था। बत्ती बढ़ा दी, साफ चिमनी के ऊपर रखी हरी शेड की लाइट से कमरा हल्के रंग में नहा उठा। उसे खयाल आया कि ज़रूर रन्नो ने आज कृपा की है। बिचारी मिठाई की आशा में इतनी मेहनत किये बैठी रही, वह लाया नहीं। उसे उसका रुआँसा चेहरा और बिना कुछ कहे लौट जाना याद आ गया। जी पछताने लगा।

रन्नो चारपाई पर लेटी-लेटी सब बातें सुन रही थी। उसने भी भइया की इन्तज़ारी में खाना नहीं खाया था। सोचा था, खाना खाने के बाद मिठाई खाएगी, तो मुँह का स्वाद बढ़िया हो जाएगा। दूसरे, वह बगैर भइया के खाना पानी भी नहीं थी। इस-लिए प्रतीक्षा कर रही थी। पर जब राधे मिठाई नहीं लाया, तो उसकी आशा टूट गयी और इसीलिए रूठ कर पड़ रही। पर जब राधे ने न खाने के लिए कहा, तो उसे पछतावा होने लगा। उसने अनुभव किया कि राधे उसी की वजह से नहीं खा रहा है। जी में आया कि जा कर मनाये, पर उसके मान ने उठने नहीं दिया। पर तभी उसे चाट वाली बात याद आयी—"हुँह, इसके लिए समय मिल गया! अगर बहाना किया हो तो! पर दूध तो पिएँगे ही, पर शायद माँ को फुसला दिया हो। सोचा, उठूँ, पर उठी नहीं। तभी माँ ने पुकारा, "रन्नो, चल, तू ही खा ले।" वह चुपचाप पड़ी रही।

माँ फिर बोली, "सो गयी क्या ?"

"मुझे नहीं खाना है।" वैसे ही पड़े-पड़े उत्तर दिया।

"क्यूँ, तुझे क्या हो गया ? तू कहाँ से भकोस कर आयी है ? नहीं खाएगी, मत खा ! जा, सब खाना गाय को डाल आ।" वह चिढ़ गयी थी, बोली, "पता नहीं, इन सबों को आज क्या हो गया ?" पास आ कर बोली, "अच्छा, यह देखो, क्या हो गया तुझे रे, बोल, बोलती क्यों नहीं ।"

रन्नो चुपचाप पड़ी रही। माँ ने एक झटके से हाथ खींच कर बैठा दिया। देखा, तो वह रुआँसी हुई जा रही थी। उसे हँसी आ गयी, बोली, "अरे, क्या हो गया रे ? क्यों गाल फूला है। चल चल, खा ले बेटी ।"

रन्नो बोली, "भइया क्यों नहीं खाते ?"

"अरे वह तो शैतान हो गया है न आजकल ।" वह मनावन करने के ढंग पर बोली, "चल, तू खा ले। तू क्यों नाराज हो गयी, चल ।"

रन्नो माँ के साथ खाने चली गयी। खा-पी चुकी तो माँ बोली—"बिटिया, जा, उसे दूध दे आ ।"

गिलास ले कर रन्नो ऊपर जाने लगी, तो जी खुश था; पर उसने गाल फूला लिये कि कहीं राधे उसे प्रसन्न न समझ ले। गिलास टेबिल पर रख कर लौटने लगी, तो राधे मुँह पर से किताब हटा कर मुसकराया, बोला, "कैसा भकोस लिया अपने ! एक बार पूछा तक नहीं ।" वह चाहता था कि उसे चिढ़ा कर खुश कर दे।

रन्नो चुप रही, बोली नहीं। गिलास रख कर लौटने लगी।

वह फिर बोला, "यह देखिए, उल्टे चोर कोतवाल को डाँटे। एक तो अकेले गटक भी लिया, दूसरे मुँह भी गोलगप्पा बना लिया। तू तो बड़े चठ निकली।" कहा तो, पर रन्नो के मौन से मन-ही-मन झेंप भी रहा था। वह चाहता था कि रन्नो झिड़क कर, चिढ़ कर, किसी भी तरह बोल देती, तो ठीक रहता। पर उसको चुप्पी जैसे राधे को मन-ही-मन तोड़ती जा रही थी। तभी रन्नो चिढ़ कर बोल पड़ी, "चोर-चठ तुम, कि मैं ?"

राधे खुश हो गया, बोला, "अच्छा जी ।"

"जी ।" रन्नो ने उसी लहजे में कहा, "चाट को समय था..." थोड़ी चुप्पी के बाद धमकाती हुई बोली, "फिर जो कभी पीया सिगरेट, तो देखना..."

राधे अपने को सफल होते देख, उसी लहजे में बोला, "जा भी, अभी पीऊँगा ।"

'पीओ तो ज़रा ।" रोब से रन्नो बोली।

"देख", उसने सिगरेट पाकेट से निकाल कर कहा, "अभी पीता हूँ।" सलाई किताबों के पीछे से निकाली। मुँह में सिगरेट लगा कर सलाई हाथ में ले ली।

रन्नो बोली, "तुरन्त माँ से कह दूँगी ।"

"क्या कह देगी ?"

"जो जी में आएगा ।"

"कहेगी, तो देख !" वह काँटी दिखाते हुए बोला, "जला दूँगा इससे ।"

"अच्छा !" बोली रन्नो, "जलाओ तो ज़रा ।"

रन्नो चिल्लायी, "माँ, भइया सिगरेट पी रहे हैं।"

राधे ने जलती सलाई उसके ऊपर फेंक दी, जो बालों में उलझी, सुलगी, और एक चिरायँध महक के साथ बाल जल उठे।

रन्नो चिल्ला उठी, "अरी माँ, री मरी—" और दोनों हाथों से सिर मलने लगी।

राधे को काटो तो खून नहीं। मज़ाक इतना बढ़ जाएगा, उसने कल्पना तक न की थी। कहाँ तो वह खुश करना चाहता था, कहाँ क्या हो गया। उल्टे लेने के देने पड़ गये। वह झट से उठा, सिगरेट फेंक दी। लपक कर रम्मो के बालों को हाथ से मल कर बुझाने लगा। उसके और रम्मो के हाथों में झुलस लग गयी। जितने बाल बँधे थे बच गये। इधर-उधर के सब बाल जल गये। कनपटी काली पड़ गयी थी, माथे पर लाल-लाल लकीरें और सारा सिर उखड़े ऊन के कंबल की गठरी-सा लगने लगा। तभी "क्या हुआ, क्या हुआ री?" कहती रम्मो की चीख सुन कर माँ दौड़ती हुई ऊपर आ गयी थी। देखा, तो कमरे में चिरायँध महक फैल रही थी। रम्मो ज़ोर-ज़ोर से रो रही थी और राधे चोर की तरह डरा-डरा-सा उसे चुप कर रहा था। रम्मो के सिर की ओर देखते ही उसका कलेजा धक् से रह गया, दौड़ कर गोद में ले कर सिर पर हाथ फेरती हुई बोली "यह क्या हो गया, हाय भगवान्! मेरी बिटिया को क्या हो गया। चुप हो जा, बेटी चुप हो जा!" फिर पूछा, यह कैसे जल गयी, बोल बिटिया, बोल भी तो!" उसका गला भरता आ रहा था। रम्मो फूट फूट कर रोये जा रही थी। उसकी वेदना स्नेह के स्पर्श से घुल घुल कर आँखों की राह निकली जा रही थी। माँ की सहानुभूति और ममता ने जैसे उसके पिछले दर्द को भी आँखों की राह दिखा दी हो।

तब अपराधी की तरह खड़े राधे से माँ ने पूछा, "यह क्या हुआ, कैसे जली?" वह चुप ही रहा। माँ रम्मो के सिर पर, गालों पर हाथ फेरती जाती, उसके आँसुओं को आँचल से पोंछती जाती और बोलती 'कुछ नहीं हुआ बिटिया, भगवान ने तुझे बचा लिया।" और उसने उसे छाती से चिपटा लिया। बालों पर हाथ रखते हुए बोली—"चुप हो जा रानी, बता तो, तू कैसे जली।"

रम्मो रोती ही जा रही थी। बड़ी कठिनाई से हिचक हिचक कर बोली 'कु कु छ न नहीं माँ...ऐ. ऐ...से...ही...ज...ल.. ग...या। ल.. ल...लैं...म्प ..बुझाने ..ल.. ल.. गी फूंक कर... ए ..एक लट...में...ल...लपट लग गयी..." और वह फिर फूट-फूट कर रोने लगी।

"रो मत बेटी, रो मत!" माँ ने घूर कर राधे की ओर देखा; उसके कानों में सिगरेट की बात पहले ही पहुँच चुकी थी। रम्मो को गोद में उठा कर वह नीचे चली गयी।

राधे का मन अपराधी की तरह धड़क रहा था, ग्लानि और पछतावा से वह भी रोने-रोने हो आया था। तब तक नीचे नवलकिशोर जी की आवाज़ सुनाई पड़ी। "अरे, यह क्या? इसके बाल कैसे जल गये?"

माँ बोली—"मेरे ही मुँह में आग लग गयी थी। चूल्हा सुलग नहीं रहा था। मैंने कहा, बिटिया, ज़रा फूंक मार दे, जिससे कल की प्रसादी तैयार कर रख दिया जाए। बिचारी झुक कर फूंकने लगी कि भक्क से आग की लपट इसकी लट में लग गयी। अरी, मरी बिटिया री, मौत आवे मुझको।" और वह रोने लगी रम्मो को पकड़ कर।

"जान ले लो और दुलार दिखाओ।" उन्होंने झपट कर रम्मो को अपनी गोद में खींच लिया, चुप कराते हुए बोले, "चुप हो जा बेटी। चुप हो जा। देखो तो जान ले ली इसकी। ज़रा होने तो दे सुबह, इन्हें मैं इनकी खबर न लूँ तो कहना! तू चुप हो जा। कल तेरे बाल ठीक करा दूंगा, खूब ढेर-सा कपड़ा ला दूंगा, चप्पल, सैंडिल और तुझे इयरिंग ला दूंगा। है न! और तेरे बाल मेम की तरह बनवा दूंगा, है न!" वह उसे गुदगुदाने लगे। रम्मो के मुख पर भी एक मुसकराहट दौड़ी, फिर वह हँसने लगी।

दूसरे दिन सचमुच चाचा जी ने सब सामान ला दिया और बाल भी 'बाब' करवा दिये। रम्मो बार-बार नयी चीज़ें पहन कर आइने के सामने खड़ी होती,

हँसती और मन-ही-मन खुश होती। कई बार वह राघे के कमरे की ओर गयी, पर उसका कहीं पता नहीं था। उसके इस तरह अचानक चले जाने से रन्नो का मन बहुत पछता रहा था। वह चाहती थी, कि अपनी सब चीजें दिखा कर उसे लज्जित करे, फिर मना कर खुश कर दे। उसने कई बार माँ से पूछा, चाचा जी से पूछा, पर सब हैरान थे कि आखिर सुबह से ही वह कहाँ गायब हो गया। पूजा हुई, प्रसादी के बाद भोजन पर भी नहीं आया, तो रन्नो बहुत दुखी हो गयी। चाचा जी नाराज हो गये और माँ का मन आशंका से घबड़ाने लगा। गो कि वह कुछ कह नहीं रही थी, फिर भी न जाने वह कैसी तो हुई जा रही थी। चाचा जी ने तो भोजन कर लिया, पर रन्नो लाख बार कहने पर भी खाने नहीं गयी। माँ बेटी दोनों निराहार ही रहीं।

शाम हो गयी, तो रन्नो उसके कमरे में गयी। अब भी वह नहीं आया था। रन्नो का मन बिलकुल उदास और दुखी हो गया था। वह सोच रही थी, वह क्यों इतना रोयी-चिल्लायी, न रोती, तो क्या हो जाता। लैंप साफ़ करके उसने जलाया, किताबें सजायीं। पर उसका जी न जाने कैसा हुआ जा रहा था। चादर झाड कर तकिया उठायी, तो उसके नीचे सिगरेट का कुचला हुआ पैकेट मिला। मलाई की टूटा काडियाँ भी। उसका मन व्यथा से भर गया। अपने भइया को देखने के लिए वह पागल हो उठी थी। एकदम रोने-रोने हो गयी थी। पर कहती भी क्या ? ज्यों ही लैम्प बुझा कर लौटने लगी, देखा, दरवाजे पर राघे खड़ा था, एक पिटारी लिये। रन्नो की आँखों में प्रसन्नता तो छलकी, पर वह गाल फुला कर और मुँह फेर कर जाने लगी।

राघे बोला, "ले रन्नो, अपनी मिठाई..." पूरा कहे बिना ही एकदम से लगा फूट कर रोने। रोने-रोने तो वह भी हुई, पर वैसे ही बोली, *"जाओ, नहीं लेती।"*

और पिटारी ले कर नीचे भाग गयी।

०००

केशवचंद्र शर्मा | चिट्ठी-साहित्य

यह अच्छी तरह जानते हुए भी, कि 'पाती आयी मिलन हूं' और 'वियोगिन' के लिए 'पतियाँ' लिखना अत्यंत आवश्यक है इस ख्याल से ही एक अजीब उलझन पैदा हो जाती है, कि 'उनको चिट्ठी लिखना है!' वैसे अपनी लियाकत पैदा करने के सिलसिले में 'श्री लिखितं पत्र गुप्त का ' के नियमावली दोहे से लेकर 'माई डियर दादा' तक और 'ओ३म् राजी खुशी परमात्मा से आपकी खैरियत नेक चाहता हूं' से लेकर एक लाइन वाली 'किताब भेज दो' की स्टाइली चिट्ठियों से वाकिफ हो चुका हूं—बल्कि ऐसा समझिए कि इनमें से बहुतों का मेरा निजी अनुभव है। मैं नहीं जानता कि पोस्टकार्ड या चिट्ठी के कान पर तारीख और पता लिखने से चालू हो कर 'प्रिय' वगैरह फांदते हुए 'भवदीय' या आपका लिखने-लिखाने तक दोनों पसीना क्यों छूटने लगता है। इसके विपरीत चिट्ठियाँ पढ़ने में मुझे बड़ा मज़ा आता है (अपनी और दूसरों की भी!)।

'ज़माना बुरा आ गया है। चिट्ठियों से 'कांटेक्ट' (संबंध) बनता है! वही सब लाइफ में काम आता है।' दोस्तों ने दोस्त होने के नाते सब कुछ समझाया, लेकिन...। वैसे यह तो मैं भी जानता हूं, कि चिट्ठियाँ अगर फायदेमंद न हो पायीं, तो नुकसान-देह तो हरगिज़ नहीं होतीं। यह भी समझता हूं, कि बहुत-से लोगों ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर से गांधी जी तक भरमार चिट्ठियाँ लिखी थीं और अगर एक लाइन का भी जवाब कभी मिल गया था, तो उसे छपवा कर, मढ़वा कर, जड़वा कर उसी मोहर के बल पर वह कल्चरल अटैची से मिनिस्ट्री तक की लाइन में कहीं न कहीं फिट हैं। अब तो सुनते हैं, कि लेटेस्ट यह है, कि अगर गांधी जी या टैगोर जीवित होते, तो मुझे ऐसी चिट्ठी लिखते—या

अदाज़ रखते हुए, उन महात्माओ की ओर से अपने-आप चिट्ठी लिख कर लगा ली जाए। कुछ भी हो, चिट्ठियों में न सिर्फ बडी ताकत होती है, बल्कि बडी जान भी होती है। हाँ, पकडी जाने वाली चिट्ठियो में किरकिरी होने के लक्षण अलबत्ता निहित रहते है। इसलिए ऐसी चिट्ठियों के लेखक न सिर्फ़ सम्हल कर लिखते है, बल्कि दोहरे-तिहरे और चौहरे माने पहिनने वाले शब्दो का इस्तेमाल करते है।

बात यह है कि अब तक लोगो को यह नही सूझा कि चिट्ठी लिख और लिखा कर पैसा और यश दोनो हाथो लूटा जा सकता है, नही तो अब तक डाक-विभाग को साल में छह बार डाक के टिकटों के रग और तस्वीरें बदल-बदल कर जनता का मन मोहने की जरूरत न पडती। सो मैं जरूरी समझता हूँ, कि जनता के हित के लिए इस रहस्य का उद्घाटन करूँ कि चिट्ठी लिखने से पैसा प्राप्त होने की काफी गुजाइश है, बशर्ते थोडी अक्ल भी इस्तेमाल की जाए।

मेरे एक मित्र साहित्यकार थे। 'साहित्यकार' शब्द से उनको खास मुहब्बत थी, इसलिए मैं उनकी साहित्यकार आत्मा की शाति के लिए यही शब्द इस्तेमाल करना चाहता हूँ। 'थे' जब मैंने लिखा, तो इसका यह तात्पर्य कतई नही निकलना चाहिए, कि वह अब इस असार ससार में नही रह, बल्कि यह कि उन्हे अपनी गलतफहमी महसूस होने लगी है और शायद है कि आगे सुधर जाएँ। सो उन्होंने जो अपनी कलम पर महारानी सरस्वती का आसन लगा कर दौडाना शुरू कर दिया, तो क्या ब्रजमाधुरी-सार-स्टाइल क्या अज्ञेय-मार्का करमकल्लो-र कविता का सम्पूर्ण तीन खडोवाला टीका-सहित नाट्यमजरी का लेटेस्ट सिर्फ तीन बयानो वाले एकाकी नाटक, क्या प्रेमचन्दी दो बहने स्टाइल की, क्या बनफूली शार्ट कहानी, क्या महावीरप्रसाद द्विवेदी-मार्का, क्या लोकाक डिजाइन के सक्षिप्त निबध, क्या 'आगे भूतनाथ ने कैसे रानी चदा को पकडवाया, तीसरे भाग में पढिए' के ढग पर, क्या सक्षिप्त अपूर्ण के नमूने पर पूर्ण लघु उपन्यास सभी मैदान झँकाने से वह बाज न आये। लेकिन, हाय रे जमाने की बेदर्दी, कि उसने इतने वल्ल एक-साथ देख कर भी अपने मुँह से उफ़ न की।।

सब्र की भी हद होती है। लोग उन्हे साहित्यकार जब माने, तब माने की बाट जोहते-जोहते जब वह थक गये, और जब सबूत में कई बार अपनी रचनाओ की कटिंग और नम्बर लगा कर उन्होंने स्व-कृतियों की पूरी सूची सामने रखी और लोगो ने उस सूची की ओर झॉकने से भी इन्कार कर दिया, तो वह जरा परेशान-से हुए। फिर भी मित्र में एक खूबी है कि वह लगन के आदमी है, और कहा गया है, कि लगन वाले के लिए कुछ भी मुश्किल नही है। 'गांधी जी के पत्र' की मोटी-मोटी किताबें देख कर, और नेहरू जी की 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' पढ कर, इधर-उधर से देख-सुन कर, उन्हे सहसा एक दिन यह भान हुआ कि बिना चिट्ठी-साहित्य का सृजन किये हुए कोई भी आदमी उम्दा लेखक, साहित्यकार या विचारक नही हो सकता। कुछ खुद समझे, कुछ दोस्तो ने समझाया और उनके मन का भ्रम पक्का हो गया, कि हो-न-हो महान् लेखको और विचारको की चिट्ठियाँ ही उनके जीवन पर प्रकाश डालती है और इन्ही चिट्ठियो के द्वारा ही उनका व्यक्तिगत जीवन का भी पता चलता है, जिसमें उनकी महानता की झलक मिलती है।

कह चुका हूँ, कि ये काफी लगन वाले आदमी थे। सो इन्होंने भी यह सोचा कि चिट्ठी-साहित्य का ही निर्माण श्रेयस्कर है। चिट्ठियाँ लिखने से पहले ही प्रकाशक तय कर लिया कि वह मित्र के पत्रों का सग्रह छापेगा। कह नहीं सकता सो सकता है, कुछ एडवास रुपये भी मिले हो। अस्तु।

पत्र-लेखन प्रारभ हुआ। एक चमडे का बैग लिया गया, जिसमें पडोस के डाकखाने से हर प्रकार

के प्राप्य टिकटों, लिफाफों, अंतर्देशीय पत्र, हवाई खतों के लेबिल, पोस्टकार्ड, जवाबी पोस्टकार्ड और लोकल पोस्टकार्ड तक का संकलन जुटाया गया। कहा गया है, कि लगन का आदमी एक क्षण भी बेकार नहीं जाने देता। सो मित्र महोदय ने रास्ता चलते, गाड़ी में सफर करते, रिक्शे पर घूमते, बस पकड़ने के लिए 'क्यू' में खड़े रहते-रहते, अपने वक्त का इस्तेमाल पत्र लेखन में करना शुरू कर दिया।

कहते हैं कि उन्होंने इन पत्रों में बहुत-कुछ लिखा-पढ़ा। बड़ी-बड़ी शैलियों, डिजाइनों, नक्काशियों और कारीगरी के साथ लिखा। नाटक में लिखा, कविता में लिखा, कहानी में लिखा। उनका कोई दोस्त ऐसा नहीं बचा, जिसके पास उनकी चिट्ठी नहीं पहुँची। कुछ को थर्ड-फोर्थ क्लास के ढंग पर, [अर्थात्...

मेरे भाई मोहन,

तुमने जो गाय के बारे में पूछा है, सो मैं तुम्हें गाय के बारे में बताता हूँ।

सुनो, गाय एक .. (इसके बाद गाय पर निबंध)]

इन्होंने पत्र लिखा। यानी प्रिय मोहन, रोहन, सोहन, जो कुछ भी हो, लिख कर तत्पश्चात् 'साहित्य और मानव-मूल्य' पर एक निबंध लिख मारा। किसी अभागे ने जवाब भी कहीं दे दिया, तो उस पर चार-पाँच और दाग दिया, चलिए टॉपिक पूरा हो गया। इसी तरह किसी को 'नाटक क्या है' पर छह पेज का एक पत्र, तो दूसरे को 'नयी कविता में छंद' पर शार्ट नोट्स, तीसरे को 'समकालीन साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि' आदि-आदि क्रमश चलते रहे।

कइयों ने, जिनको इस तरह खत लिखने का मर्ज था, उसी सिक्के में अदा करना चाहा। लेकिन एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरे के क्रम से वे घबरा कर भागे। पता नहीं, आगे उनके साथ मित्र महोदय की कैसी बीती! सुनते हैं कि इनके कई जवाबी पोस्टकार्ड जब हजम हो गए, तब जा कर यह माने!

मुझे भी इन मित्र महाशय की अक्सर चिट्ठियाँ मिलती रहती थी। जब तक इन चिट्ठियों में बाल-बच्चों की खैरियत के बारे में, अपने आने-जाने के कार्य-क्रमों के बारे में वह शराफत के साथ लिखते रहे और पूछते रहे, मैं अपनी तमाम काहिली के बावजूद, कूँथ-काँथ कर दो-चार लाइनें जवाब में भेज दिया करता था। एक दिन उनका पत्र पा कर मैं सन्न रह गया। अबकी खत 'प्रिय महोदय' से शुरू हुआ था! आगे उसी तरह से कि 'आपने जो ज्याँ पॉल सार्त्र के अस्तित्ववाद का हिंदी-साहित्य पर प्रभाव के बारे में पूछा था, उसके बारे में मेरे विचार यों हैं . (और आगे मेरे बूते के बाहर छह पेज!) मैं घबराया कि कहीं दूसरे का खत तो मेरे नाम नहीं आ गया! पलट कर देखा, तो पता एकदम साफ था, यानी मेरा ही था! बड़ा ताव आया। एक चिट्ठी तत्काल लिखी, जिसमें मैंने इस 'प्रिय महोदय' और आगे वाले सिर दर्द का जवाब तलब किया! नियत समय पर चिट्ठी का जवाब मिला—

भाई,

सब चिट्ठियों की प्रतिलिपि रखता जा रहा हूँ, छपवाना है। प्रकाशक को कुछ दिखाया था। नामों पर उसे आपत्ति थी, इसलिए अब सबको 'प्रिय महोदय' करके पत्र भेज रहा हूँ। अपने सभी मूड में पत्र लिख कर व्यक्तित्व को कृतित्व के द्वारा उभारने का प्रयास कर रहा हूँ—अगर कभी नाराज हो कर भी लिखूँ, तो 'सीरियसली' मत लेना! और मित्रों ने तो पत्र का जवाब देना बंद कर दिया है। तुम जवाब चाहे न देना, लेकिन चिट्ठियाँ मिली हैं, इस तथ्य से इन्कार न कर बैठना। कई ने ऐसा भी किया है!"

तब मेरी आँख खुली कि 'ओह, यह बात थी!'

तब से यह मुझको तो हर सप्ताह एक चिट्ठी भेजते जाते थे ! मैं चुपचाप गर्दन झुकाए सह लेता था, क्योंकि मेरा मन उनको पढ कर हँस-खेल लेता था !

सुना, उनकी यही चिट्ठियों वाली किताब पूरी नहीं हो पायी। मित्रों ने कुछ हंगामा मचाया। प्रकाशक ने एक-तरफा लिखी हुई चिट्ठियाँ छापने से इनकार कर दिया, क्योंकि उन्हें वह 'हवाई खत' की संज्ञा देता था ! उसने अपने पैसे वसूल करने के लिए नालिश तक करने की धमकी दी थी, लेकिन प्रभु की लीला, कि कुछ समझौता शायद हो गया !

महान् बनने के अरमान मुझमें भी हैं, ऐसा नहीं है कि न हों, लेकिन सिर्फ लेटे-लेटे ! यह झंझट मेरे बस की नहीं है। मैं इस तकल्लुफ में पड़ा कि लोग मेरे पत्रों से मेरे व्यक्तित्व को जानें पहिचानें, तो हविस न जाने कहाँ ले जा कर पटकेगी ! मेरे मित्र में तो यह गुण अब भी विद्यमान है, और मैं डरता हूँ कि कहीं फिर न उनका एक पोस्टकार्ड मेरे लेटर बक्स में आ गिरे ! वैसे मैं अपने मित्र के इस गुण की कद्र करता हूँ, और लोगों को धीरे-धीरे समझाता भी हूँ कि इससे पैसा और यश दोनों ही मिल सकता है ! 'धीरे-धीरे' इसलिए, कि कहीं लोग 'पर उपदेश कुशल बहु तेरे' वाली चौपाई को बीस बार राम-नाम लिख कर भेजने की डिज़ाइन पर मेरे पास चिट्ठियों में लिख-लिख कर न भेजने लग जाएँ !

सुरेन्द्रकुमार दीक्षित | सात कविताएँ

एक

जाने भी दो अब वह सब है बात पुरानी;
बीत गये वह क्षण, हम-तुम भी, गयी रवानी!
अब न बहाओ दीप मँजो अंजलि सपुट में—
इन लहरों से तड़प उठेगा ठहरा पानी!

दो

चाहिए हमको परस्पर
दूसरे को यों दुराएँ—
भूल से भी सामने हम आ न जाएँ!
कौन जाने
अभी के ठंडे हुए स्नेह-पूरित दीपकों की बातियों को
वह तरल दहकी हुई
आग फिर छू जाए
और लौ जग जाए
ऐसी
जो न शायद फिर बुझे
अपने बुझाए!

तीन

वर्षण-क्लान्त मेघ-खंडों-सी
याद तुम्हारी,
बिखर गयी है काल वायु में
धीरे-धीरे!
अब न झरेंगी बूँदें रस की,
अब न मिलेगी छाँव घनेरी।
बस
धूमिल विस्तार व्योम का,
तपनी धरती,
जलता सूरज,
लू की लपटें,
इस जीवन के सगी होंगे!

चार

जब-जब प्राणों में भाव विलय का घिर आया
मेरा परवाना छूट-छूट करके आया
पर सदा यही इसने पाया
ओ दीपशिखे !
तुम घिरी हुई हर तरफ कांच से
जला नहीं सकती हो इसको कभी आंच से
या कि प्यार ही यह झूठा
जो तेरे इसके बीच खड़ा
अनुल्लंघ्य व्यवधान बड़ा !
या,
चिमनी पर टकराहट की
ये मद्धिम-सी आवाजें हों
आज के प्यार की परख बनीं !

पाँच

ज़िन्दगी में उदासी हर ओर सिमट आयी है
मन के आकाश में दुखों की घटा छायी है
ऐसे में तेरी याद है कि बिजली की तड़प—
या कि सो के जगते हुए दर्द की अँगड़ाई है ?

छह

सभी के दर्द को अपना मैं किए लेता हूँ;
प्यार के नाम पर यह ज़हर पिए लेता हूँ;
जलाये देता हूँ बाती भी रोशनी के लिए—
बहार आए तो काँटों में जिए लेता हूँ !

सात

रात सोती है चुप, जगते हैं सितारे लेकिन;
कोई जाने न, तड़पते हैं दर्द के मारे लेकिन;
अरमान सुला चुके, बाकी उमगें भी नहीं—
तूफान उठा करते हैं, गिरते हैं कगारे लेकिन !

उषारानी | यूरोप की मूर्ति-कला

यूरोप की मूर्ति-कला

मूर्ति-कला से मेरा पहला परिचय 'एपस्टाइन' की मूर्तियों की एक सचित्र पुस्तक द्वारा हुआ। उसके पहले मैंने कभी सोच-समझ कर कलाओं में आनन्द पाने की कोशिश नहीं की थी, न मैं यह समझ सकी थी, कि जब शैशव-काल में अपने घर के आँगन में बैठ कर मैं मिट्टी से खेलती थी, और कभी-कभी गाँव के नमूने भी बना डालती थी, तो उस समय मैं इस कला में अपनी अभिरुचि का परिचय दे रही थी। रात में वर्षा के कारण मेरे हाथों के बने हुए खिलौने बर्बाद हो जाते, और शायद कला के प्रति मेरी इस रुचि पर भी पानी फिर जाता था। पर 'एपस्टाइन' की मूर्तियों के चित्रों ने मेरी आँखें खोल दीं। मूर्ति-कला का जादू मुझे इंग्लैंड तथा अन्य यूरोपीय देशों की ओर खींच ले गया।

प्राय कहा जाता है कि यूरोप में ४थी या ५वीं शताब्दी के बाद मूर्ति-कला एक सुप्त अवस्था में रही और फिर गत शताब्दी में इसका आन्दोलन आरंभ हुआ। पर वास्तव में, यूरोप में लगभग सदा ही महान् कलाकारों का आदर होता रहा है, जिससे सिद्ध होता है कि वहाँ कला की प्रतिष्ठा बनी रही है, और सजावट से बढ़ कर कला की शक्ति की ओर ध्यान दिया गया है। यूरोपीय देशों में, जब मध्य-युगों के गिरजाघरों में मूर्तिकला और लकड़ी की खुदाई के सुन्दर नमूनों पर दृष्टि पड़ती है, तो कला की इस शक्ति का बोध होता है। संस्कृति और विज्ञान के विकास के उस युग में, जिसे पुनरुत्थान-काल कहा जाता है, दोनातैलो सरीखे मूर्तिकार और लेनार्दो-दा-विंची तथा माइकेल-ऐंजलो सरीखे महान् कलाकार यूरोप में पैदा हुए।

एक युग था, जब मूर्ति-कला और चित्र-कला के द्वारा विजयी सेनाओं और लोक-कथाओं के वीरों के कारनामों का चित्रण किया जाता था। फिर

यूरोप की धार्मिक भावनाओ की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भी इनका उपयोग हुआ। इन दोनो कलाओं को अलग-अलग करना कठिन था। यह सच है कि चित्र कला का प्रचलन अधिक था, परन्तु मूर्ति-कला को स्फूर्ति मिली उन महान् कलाकारो की कृतियों से, जिनका सिक्का यूरोप आज तक मानता है, और जिनकी कृतियाँ आज भी यूरोप के कला-सग्रहालयो की बहुमूल्य सपत्ति है। उस युग के मूर्तिकारो को वास्तु-कला में भी सक्रिय योग देना पडता था। वे बडे-बडे भवनो की सजावट के काम में भाग लेते थे। मूर्तिकारो के घरानो की परपरा चल पडी, जैसी कि भारत में सगीत के घरानो की परपरा चली आती है। उस युग में इन कलाकारो का सम्मान करने वाले सामन्त, राजा-महाराजा या नगर-मडल विद्यमान थे।

फिर दरबारी युग आया, जिसमें चित्रकार की कूँची अपने सरक्षक की चापलूसी और प्रशसा करने में लग गयी। पर मूर्तिकार की छेनी और हथौडी में झूठे गुण गाने की शक्ति नही थी। इसी कारण, इस युग में मूर्ति-कला को कद्र कुछ कम हो गयी।

दरबारियो के बाद रगमच पर बुद्धिवादी आये। उन्होंने अनेक वादो का झगडा खडा कर दिया। शिल्प और कुशलता को ले कर कई सिद्धान्त बने और फल यह हुआ कि हर एक शिल्पी को कलाकार की उपाधि दी जाने लगी।

पिछली कुछ शताब्दियो में मनुष्य के पास अवकाश का समय बढ गया है, और इस अवकाश से लाभ उठा कर उसने बहुत-सी सैद्धान्तिक समस्याएँ पैदा की है, अथवा इन समस्याओ को सुलझाने की कोशिश की है। बुद्धिवादियों ने बहुत-से विश्वासो और सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जैसे, "कला के लिए कला" का सिद्धान्त। इस सिद्धान्त के कारण साधारण लोगों के मन में यह गलत धारणा बैठ गयी, कि चित्रकार या मूर्तिकार ऐसी रचनाएँ बनाता है, जिनका मुख्य उद्देश्य कला-सग्रहो की शोभा बढाना है। और इस तरह कला जीवन की चेरी न रह कर, जीवन की धारा से अलग हो गयी है। बौद्धिक सराहना के प्रयत्न में कला की, मानवीय भावनाओ को प्रभावित करने की शक्ति को भुला दिया जाता है।

इसके विपरीत, मूर्ति-कला में फिर से जान आयी है। पश्चिम में साधारण लोग भी स्टूडियो में काम करने वाले के सपर्क में आते है। वे न केवल बड़े चाव के साथ कला-प्रदर्शनियो में जाते है, बल्कि आधुनिक वास्तु-कला में मूर्ति-कला के उपयोग को स्वीकार करते है। और शायद इसीलिए पश्चिम के देशो में रूढिवादी और क्रातिकारी, अमूर्त-रूप और प्रतिनिधि-स्वरूप कलाओ को पनपने का अवसर मिलना है। और तो और, अब तो धातु और कागज़ के टुकडो की मूर्तियाँ भी बनने लगी है।

जैसा कि मैं पहले सकेत कर चुकी हूँ अठारहवी शताब्दी के बाद जीने की कला से बढ कर सोचने-विचारने की कला की प्रगति हुई है। बाह्य जगत् का जो प्रभाव मानव की भावनाओं और प्रवृत्तियो पर होता है, और जिसके कारण सभी ललित-कलाओं को प्रेरणा मिलती है, उसके बदले कलाकार इस धुन में खो-से गये, कि किस प्रकार उत्तर परिणाम निकाले जा सकते है। प्रभाव को भुला कर वे माध्यम और कौशल के पीछे पड गये। जैसे इम्प्रेशनिस्ट अथवा प्रभाव-वादी कलाकारो की शक्तियाँ प्रकाश और वायु के घनत्व के अनुसंधान में लगी रही। मूर्ति-कला के क्षेत्र में सबसे प्रसिद्ध व्यक्ति आगस्टस रोदाँ थे, और वे मूर्तियो की सतह पर प्रकाश और छाया का क्या प्रभाव पड़ता है, इसके अध्ययन में लगे रहे। यह सच है कि भावनाएँ ही रोदाँ को प्रेरित करती थी, पर उनका ध्यान ऐसी आकृतियाँ प्रस्तुत करने में रहता था, जो प्रकाश के स्पर्श से निखर सके। बूरदेल, रोदाँ के प्रसिद्ध शिष्य थे। वे अपने गुरु के समान ख्याति नही प्राप्त कर सके। उनकी कला में मौलिकता

का अश कम था, वे बौद्धिक उलझनों में उलझे रहे; पर उनकी मूर्तियाँ प्रभावोत्पादक थीं। रोदाँ के असली शिष्य तो सर जैकब एपस्टाइन हैं। उन्होंने मूर्ति-निबन्धों में भावना की गहराइयों को उतारने की योग्यता पायी है, और जहाँ तक मनह को मॉडल करने का प्रश्न है, उनसे बढ़िया जानकार कोई और नहीं है। वास्तव में उनके व्यक्तित्व के साथ मूर्तिकला का एक पूरा युग अपने चरम विकास को पहुँच जाता है। एक महान् कलाकार के रूप में वे वर्षों से वाद-विवादों और झगड़ों के केन्द्र बने रहे हैं।

आधुनिक मूर्ति-कला के इतिहास में फ्रांसीसी मायोल का स्थान भी कम नहीं। रोदाँ के अनुयायी रेखा और रंग में इस तरह उलझ रहे थे, कि रूप के प्रति वे बिलकुल उदासीन हो रहे थे। मायोल ने रूप (Form) के महत्त्व पर ज़ोर दिया। उन्हीं के प्रभाव से मूर्ति-कला में फिर ठोस और सीधे-सादे रूप दिखाई देने लगे। नहीं तो भय था, कि मूर्ति-कला भी चित्र-कला की एक शाखा-सी बन कर रह जाएगी।

आजकल हैनरी मूर को ब्रिटेन में सर्वोत्तम कलाकार समझा जाता है। अमूर्त शैली के वे सबसे बड़े प्रवर्तक हैं। पर उनकी कला का सबसे सुन्दर निबन्ध "मैडोना एण्ड चाइल्ड" वास्तव में एक स्वरूपात्मक निबन्ध है। अमूर्त-कला की एक व्याख्या तो यह हो सकती है, कि इस शैली को अपनाने वाले कलाकार बहुत कुछ रूप के पीछे पड़ जाते हैं, और यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझते कि यह रूप वास्तव में किस पदार्थ का प्रतिनिधित्व करता है। जब मैं पेरिस में महान् कलाकार ब्राकूज़ी के स्टुडियो में गया, तो पहली बार मैंने अनुभव किया कि अमूर्त रूपों में भी एक अद्भुत सौंदर्य आ जाता है। उनके स्टुडियो में बड़ी कुशलता से गढ़ी और तराशी हुई, ऐसी आकृतियाँ देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जो किसी भी प्रत्यक्ष पदार्थ या जीव से मेल नहीं खाती थीं, तो भी इन्हें देख कर यह समझने में कठिनाई नहीं होती थी, कि ये किन पदार्थों या जीवों की प्रतीक हैं। उदाहरण के लिए, ब्राकूज़ी का बनाया हुआ 'स्वान' अथवा राजहंस। यह साधारण राजहंस से किसी भी प्रकार मेल नहीं खाता, क्योंकि कलाकार ने इस मूर्ति की आकृति को बड़ी चतुराई और सुन्दरता के साथ सरल से सरलतम बना दिया है। पर जब उनके हाथ के चमत्कार से बना हुआ, यह 'राजहंस' अपने स्टैन्ड पर घूमता दिखाई देता है, तो यह किसी भी जीवित राजहंस से अधिक सुन्दर प्रतीत होता है और देख कर आश्चर्य होता है, कि किस प्रकार इसके रचयिता ने सजीव-से-सजीव राजहंस की गति को इसमें भर दिया है।

ब्राकूज़ी की कला को देख कर यह आभास होता है, कि अमूर्त आकृति वे किसी सिद्धान्त-वश नहीं बनाते, वरन् यह उनकी सत्य, शिव और सुन्दरम् की खोज में लगी हुई, सृजनात्मक शक्तियों का फल है। इस घराने के अन्य सभी कलाकारों की कृतियों को देख कर ऐसा प्रतीत नहीं होता। हैनरी मूर ने मूर्ति-कला को जो देन दी है, संक्षेप में, उसे "ठोस आकृति में बद्ध या घिरे हुए आकाश अथवा स्पेस" की विचार-धारा कहा जा सकता है। सबसे पहले कलाकार आरची पैंको और उनके बाद गारगैलो ने ठोस आकृतियों से घिरे स्पेस के आधार पर नयी आकृतियाँ अथवा मूर्ति-निबन्ध बनाने का प्रयास किया था। आजकल मूर्तिकार स्पेस को घेर लेते हैं, या साधारण शब्दों में, अपनी रचनाओं में शून्य या खाली स्थान छोड़ देते हैं, सो इसलिए नहीं, कि उन्हें ऐसा करने की आवश्यकता होती है, बल्कि इसलिए कि वे नये-नये प्रयोग कर दिखाना चाहते हैं। पर यह मानना ही पड़ेगा कि जहाँ तक हैनरी मूर की कला-कृतियों का सबंध है, उन्हें देखने से यही प्रतीत होता है कि शून्य स्थान भी किसी मूर्ति-निबन्ध के आन्तरिक अंग या

मेडिटरैनियन —मैलोल
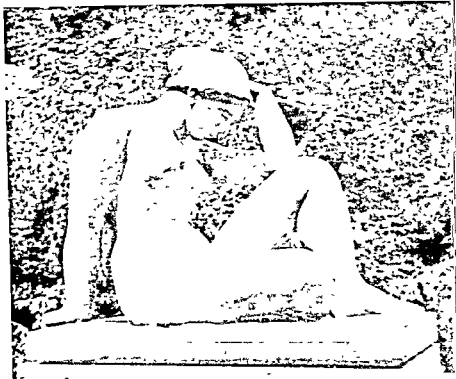
भाग बन सकते हैं। दूसरे शब्दों में उनकी बनायी आकृतियाँ शून्य को भरती हैं, घेरे रहती हैं और शून्य उनकी आकृतियों को सजीव करते हैं।

"मोबाइल" नाम से मूर्ति-कला का एक नया घराना चल पड़ा है। इस शैली का सिद्धान्त यह है, कि जब कोई हल्का-सा ढाँचा हवा में हिलता या डोलता है, तो इससे शून्य या आकाश में महत्त्व-पूर्ण आकार बनते-बिगड़ते हैं। इसके लिए धातु के छोटे-छोटे टुकड़ों या चपटे भागों को सीखों-सलाखों के साथ पिरो कर टाँक दिया जाता है। ये *'मोबाइल' मूर्तियाँ आज के युग में फव्वारों आदि* के साथ बड़ी चतुराई के साथ जोड़ी जा सकती हैं। पर यह कहना कठिन है कि इस शैली में कला की अनमोल कृतियाँ भी तैयार की जा सकती हैं।

यूरोप के भ्रमण और इंग्लैण्ड में पाँच वर्ष के निवास के बाद मैंने ये अनुभव प्राप्त किये हैं। इसमें संदेह नहीं कि पिछली दो शताब्दियों में यूरोप की मूर्ति-कला का बहुत विकास हुआ है। रोदाँ, बूरदैल, मायोल, एपस्टाइन, मूर और ब्राकूजी सरीखे महान् कलाकारों ने इस कला की सेवा की है और इसकी प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि की है। पर ऐसा लगता है, कि बुद्धिवाद और टेकनीक के सिद्धान्तों के चक्र में पड़ कर यूरोप के कलाकार *उन विधानों को भुला बैठे हैं, जिनके मूर्त और* साकार रूप शताब्दियों से मानव की भावनाओं को झकझोरते रहे हैं।

❦❦❦

यशपाल जैन | **रंजन जी !**

कांग्रेस-अधिवेशन के लिए मद्रास जाते हुए, जब गाड़ी वर्धा-स्टेशन पर रुकी, तो खुली हवा में थोड़ी देर सांस लेने और मिलने आयी एक बहन से बात करने के लिए मैं प्लेटफार्म पर उतरा। देखता क्या हूँ, कि एक सज्जन कुछ झिझकते-से सामने आये। उनका चेहरा सूखा हुआ था। पास आ कर उन्होंने पूछा, "आप कहाँ से आ रहे हैं ?" मेरे बताने पर उन्होंने बड़ी वेदना भरे स्वर में सूचना दी, कि आज सुबह (१८ जनवरी) रंजन जी का देहान्त हो गया। सुन कर सन्न रह गया। विश्वास नहीं हुआ, और सच यह कि आज पंद्रह दिन बाद ये पंक्तियाँ लिखते समय भी मन स्वीकार नहीं कर पा रहा है, कि रंजन जी अब नहीं रहे। १५ जनवरी को उनका कार्ड मिला था, जिसमें उन्होंने लिखा था, कि वह पटना एक कानफ्रेंस में गये थे। वहाँ से नागपुर-वर्धा होते हुए लौट आये हैं, और कि शाता जी (उनकी पत्नी) नागपुर में हैं। लिखावट उन्हीं की थी। तब कैसे विश्वास होता—इस अनहोनी दुर्घटना पर ! दिल्ली से चलते समय सोचा था कि दक्षिण-प्रवास में हैदराबाद जाने पर कुछ दिन उनके साथ बीतेंगे; पर भगवान् को कुछ और ही मंजूर था।

उनसे मेरा प्रथम परिचय आज से लगभग १२ वर्ष पूर्व हुआ था। सन् १९४३ या '४४ की बात है। मैं ओरछा-राज्य की राजधानी टीकमगढ़ के निकट कुण्डेश्वर नामक स्थान पर रहता था, जहाँ से 'मधुकर' पत्र निकलता था। एक दिन काम करके उठा और कमरे से बाहर आया, तो देखता क्या हूँ कि एक सज्जन पेड़ के नीचे खड़े हैं। शरीर हृष्ट-पुष्ट, बाल हिटलरी ढंग पर एक ओर माथे को ढके, चेहरा भारी, छोटी-छोटी तितलीनुमा मूँछें, आँखें छोटी, पर चमकीली, कद औसत, देह पर खादी

शेरवानी और पायजामा। मैंने नमस्कार किया। उन्होंने भी हाथ जोड दिये। पूछा, "बनारसीदास जी है?" मैंने कहा कि वह तो फीरोजाबाद गये हैं।

"कब लौटेंगे?"

"कह नही सकता। शायद कुछ दिन लग जाएँ।"

"यशपाल जी है?"

"जी हाँ, कहिए, मेरा ही नाम है।"

वह कुछ मुसकराये। बोले, "अच्छा हुआ, आप मिल गये। चलो, उधर चले, कुछ बाते करनी है।"

वहाँ एकान्त था, पर उन्होने और निर्जनता चाही। हम लोग एक ओर को चले गये। चलते-चलते उन्होंने जो बताया, उसे सुन कर रोगटे खडे हो गये। उन्होंने कहा, "मुझे लोग प्रो० रजन के नाम से जानते हैं, पर मेरा असली नाम रघुराज सिंह है। मैं पिछले दिनो अपने एक साथी के साथ अजमेर जेल से भाग निकला और अब पुलिस की आँखो में धूल झोंकता इस तरह फिर रहा हूँ। इलाहाबाद गया, वहाँ कुछ दिन रहा। बाद में प० सुन्दरलाल जी ने यहाँ आने की सलाह दी। यह हालत है। क्या मेरा यहाँ रहना हो सकेगा?"

वे बडे तूफानी दिन थे। सन् १९४२ के आदोलन ने सारे देश को पागल-सा बना दिया था। सरकार का दमन-चक्र भी पूरी गति से चल रहा था। चोटी के सभी नेता जेल जा चुके थे और राष्ट्र की तरुणाई आकुल हो, प्राणो को हथेली पर रख कर, विदेशी शासन की जड खोद डालने पर तुली थी। बहुत-से युवक छिप कर अपना काम कर रहे थे। हम लोग एक रियासत में रह रहे थे और रियासतो मे उन दिनों लोगो पर दोधारी तलवार लटक रही थी। एक क्षण में वह सब मेरी आँखो के आगे घूम गया, लेकिन उन सज्जन ने अपनी बात कुछ इस ढग से कही थी कि इन्कार का मौका न था।

मैंने कहा, "आप रहिए, और शौक से रहिए। यहाँ कोई भय और खतरा नही है।"

यह सब होने में मुश्किल से १०-१५ मिनट लगे होगे। उसके बाद देखता क्या हूँ कि घटे भर के भीतर वह मेरे छोटे-से परिवार के साथ इतने घुल-मिल गये हैं, मानो वर्षो के परिचित हों। रजन जी की जगह वह 'भाई जी' बन गये और आपका स्थान सहज ही 'तुम' ने ले लिया।

इस पहली भेंट के समय से लेकर आत्मीयता का सूत्र उत्तरोत्तर दृढ होता गया और ऐसा लगने लगा, मानो हम लोग जन्म जन्म के साथी हो।

कुण्डेश्वर मे वह हम लोगो के साथ काफी दिन तक रहे। हम लोगो का जीवन बडा ही अव्यवस्थित-सा था। दर्जनो पत्र आते थे, लेकिन कागजो के ढेर में खो जाते थे। भाई जी ने सारे कार्यालय को एकदम व्यवस्थित कर दिया। सब पत्रो की फाइले रखी जाने लगी और वाचन की सुविधा के लिए लकडी की कई लबी-लबी डलवाँ बेचे बनवायी। बैठने के लिए उन्ही के हिसाब से खजूर की चटाइयाँ खरीदी। अच्छा-खासा वाचनालय बन गया। जहाँ जहाँ अनियमितता दिखाई दी, उन्होने दूर कर डाली। उनकी इस प्रबध-पटुता को देख, हम लोगो को बहुत प्रसन्नता हुई।

कुछ महीने इसी प्रकार निकल गये और वहाँ रहने वाले तीन-चार परिवारो के भाई जी अभिन्न अग बन गये। लेकिन उनकी कार्य-क्षमता व्यापक क्षेत्र चाहती थी। अचानक एक दिन उन्होंने निश्चय किया कि शिवपुर चले जाएँगे और वहाँ एकात में रह कर नागपुर विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा की तैयारी करेगे। इतिहास में वह बहुत पहले एम० ए० कर चुके थे, लेकिन अब हिन्दी में करने की धुन सवार हुई। हम लोगो ने बहुत मना करने पर भी वह नही माने और सारी मोह-ममता को छोड कर शिवपुर चले गये।

मुझे बड़ा डर था कि असली नाम से परीक्षा में बैठने पर वह कहीं पकड़े न जाएँ, पर वह जैसे उस ओर से बिलकुल निश्चिन्त-से थे।

शिवपुर वह अधिक दिन नहीं रहे और परीक्षा से कुछ समय पूर्व वह पुन: कुण्डेश्वर आ गये। वहाँ से नागपुर गये, परीक्षा में बैठे और जब सकुशल लौट आये, तो हम लोगों की प्रसन्नता की सीमा न रही। बाद में परीक्षा-फल आया तो पता चला कि वह प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए, और शायद विश्वविद्यालय में तीसरा स्थान प्राप्त किया।

कुण्डेश्वर से कुछ महीनों के लिए मैं दिल्ली आया, तो वह भी साथ आये। उनको कर्मठता कार्य के लिए स्वतन्त्र क्षेत्र चाहता था। सिर पर विदेशी शासन की तलवार लटकी होने पर भी, वह निर्भीकता-पूर्वक नये क्षेत्र में विचरण करना चाहते थे।

निमित्त जुटा और वह राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति में कार्य करने के लिए वर्धा जा पहुँचे। वहाँ जरा-सी असावधानी के कारण वह गिरफ्तार हो गये और कुछ समय नागपुर और बाद में अजमेर जेल में रक्खे गये। उनके समाचार पत्रों द्वारा बराबर मिलते रहते थे। वह कई बार जेल हो आये थे, पर इस बार उन्हें अधिक समय तक सरकार का मेहमान नहीं रहना पड़ा और प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रि मण्डल स्थापित हो जाने पर वह जेल-मुक्त हो गये। दिल्ली आये और हम लोगों के साथ ही रहे। कुछ दिन बाद फिर वर्धा चले गये।

अब उनके सामने कोई भी विवशता न थी। देश स्वतन्त्रता की देहलीज पर खड़ा था। उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा कर राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति की जड़ को मजबूत कर दिया। समिति के कार्य को व्यापक बनाने के लिए उन्होंने देश के अहिन्दी-भाषी प्रान्तों का भ्रमण किया और जहाँ-जहाँ समिति की शाखाएँ नहीं थी, खोलीं। इतना ही नहीं, समिति के लिए अनेक भवनों का निर्माण कराया। मुझे स्मरण है कि उन दिनों, जब मैं वर्धा गया था, तो उन्होंने बड़े उल्लास से भवनों का निर्माण-कार्य दिखाया था और बताया था कि उसके पीछे क्या दृष्टि है।

राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा कर, उनका मन फिर नया क्षेत्र खोजने लगा। वस्तुत: वह किसी एक स्थान पर अपना जीवन बिता देने के पक्षपाती नहीं थे। मुझसे प्राय: कहा करते थे कि तीन वर्ष से अधिक किसी भी व्यक्ति को एक स्थान पर नहीं रहना चाहिए। प्रवाहित जल की भाँति ताजगी बनाये रखने के लिए व्यक्ति को परिव्राजक बनना चाहिए। वह यह भी कहा करते थे, कि किसी भी स्थान या संस्था से मोह रखने से व्यक्ति के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए 'चरैवेति-चरैवेति' के सिद्धान्त के अनुसार हमें निरन्तर अपने यात्रा-पथ पर अग्रसर होते रहना चाहिए।

मन उचटा, तो वह वर्धा अधिक दिन नहीं रहे और एक दिन बिस्तर-बोरिया बाँध कर हैदराबाद चले गये। वर्धा वह अकेले गये थे, लेकिन हैदराबाद को रवाना हुए, तो तीन प्राणी थे—उनकी पत्नी शान्ता जी, एक वर्ष की सुपुत्री चि० नीरजा और वह स्वयं।

प्रतिभाशाली और परिश्रमशील व्यक्ति के लिए हर जगह कार्य-क्षेत्र खुला है। हैदराबाद आ कर उन्होंने कुछ ही समय में अपनी साहित्यिक प्रतिभा से लोगों को चकित कर दिया। यद्यपि वह वर्षों से प्रो० रंजन के नाम से विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में लेखादि लिखते रहते थे; लेकिन साहित्य के क्षेत्र में विधिवत रूप से कार्य करने का अवसर उन्हें हैदराबाद में मिला। इसके पूर्व वर्धा से साप्ताहिक 'जनमत' के संपादक के रूप में उन्होंने हैदराबाद के मुक्ति-आन्दोलन को काफी बल दिया। हैदराबाद आ कर उन्होंने 'उदय' पत्र द्वारा राष्ट्र के नवोदय में योग दिया। 'कल्पना' के द्वारा नये समाज और नये लोक जीवन की कल्पना को मूर्त

रूप दिया और 'चेतना प्रकाशन' की पुस्तकों द्वारा देश की नव चेतना को जगाया।

लेकिन इस सब से भी भाई जी की आत्मा को तृप्ति नहीं हुई। वह जानते थे कि यह देश कृषकों का देश है और किसी भी व्यक्ति का जीवन तब तक परिपूर्ण नहीं बन सकता, जब तक कि वह देश के उत्पादन में योग न दे। इसलिए उनकी इच्छा थी कि वह कहीं जमीन ले और सामुदायिक आधार पर खेती-बारी का बड़े पैमाने पर प्रयोग करे। यह सन् १९५२ के आस-पास की बात है। उपर्युक्त भूमि की खोज में उन्होंने हैदराबाद छोड़ दिया और उत्तर प्रदेश में कई स्थानों पर घूमे। उनका परिवार था, पर उससे उनका रक्त का नाता बचपन में ही टूट चुका था। लगभग एक वर्ष घूमने के पश्चात् ग्वालियर से ६० मील पर शिवपुर नामक स्थान पर उन्होंने ज़मीन ली और कुछ परिवारों के साथ वहाँ जा कर जम गये। पृथ्वी-पुत्र बन कर खूब परिश्रम किया। खेती लहलहाने लगी। मुझे बार-बार लिखते थे कि आओ और देखो, कि मेहनत से धरती कैसे सोना उगलती है। नये प्रयोग की सफलता पर मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती थी, और यह संतोष भी कि अब भाई जी एक जगह जम गये, लेकिन नियति से वह सब न देखा गया। भाई जी ने इतना परिश्रम किया कि कोई किसान भी क्या करेगा! रात-रात भर जग कर खेतों की रखवाली करते थे। परिणाम यह हुआ कि उन्हें हृदय-रोग हो गया और डाक्टरों ने सलाह दी कि उन्हें शारीरिक श्रम से बचना चाहिए। मन मसोस कर उन्होंने हरी-भरी खेती से विदा ली और फिर हैदराबाद चले गये। वहाँ जा कर स्वतन्त्र लेखन के साथ-साथ वहाँ के एक विद्यालय में अध्यापन का कार्य करने लगे।

वह जानते थे कि एक बड़ा ही भयंकर रोग उनके जीवन के साथ लग गया है, लेकिन इससे उनके उत्साह में किसी प्रकार की कमी नहीं आयी। उनके मस्तिष्क में नयी-नयी कल्पनाएँ बराबर उठती रहीं और उन्हें मूर्त रूप देने के लिए वह निरंतर यत्न करते रहे। जीवन को उन्होंने कभी भी 'फूलों की सेज' नहीं माना। वह उनके लिए सतत साधना थी।

सन् १९५३ में वह हैदराबाद के अग्रवाल विद्यालय के प्रधान अध्यापक बन गये और रात-दिन परिश्रम करके उसे एक सामान्य विद्यालय के स्तर से ऊपर उठा कर एक उच्च कोटि की शिक्षा-संस्था का रूप दे दिया। इतना ही नहीं उसके साथ नानकराम भगवानदास नामक साइंस कॉलेज भी स्थापित कर दिया, जिसका कि हैदराबाद में बड़ा अभाव था।

यह नवीन संस्था उनके जीवन का अंतिम महान् कार्य था। साइंस कालेज के प्रिंसीपल के रूप में उन्होंने आखिरी साँस ली।

भाई जी ने लंबी आयु नहीं पायी। लगभग ४३-४४ वर्ष की अवस्था में उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी, लेकिन इन थोड़े-से वर्षों में उन्होंने राजनैतिक, शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में, जो कार्य कर दिखाया, वह अद्वितीय था। विस्मय होता है कि एक सामान्य से दीखने वाले व्यक्ति से यह सब कैसे संभव हो सका। शायद इसका मुख्य कारण यह था कि वह प्राणवान व्यक्ति थे, उनके पैरों में दृढ़ता थी और हृदय संकल्प-शक्ति से भरा था।

घुमक्कड़ वह हद दर्जे के थे। जब तक हृदय-रोग से आक्रांत नहीं हुए, तब तक बराबर घूमते रहे। उन्होंने सारा देश छान डाला। हिमालय की चोटियाँ पार की और जहाँ तक कम ही लोग पहुँच पाते हैं, वहाँ वह पहुँचे। उनकी घुमक्कड़-वृत्ति उन्हें भारत के पड़ोसी देशों में भी ले गयी। बर्मा, स्याम, हिन्दचीन और जाने कहाँ-कहाँ की सैर कर आये। हृदय-रोग के होते हुए भी वह पिछले वर्ष श्रीलंका जाने से नहीं चूके। मुझसे कहा करते थे कि बिना दुनिया को देखे आदमी विशाल नहीं बन सकता।

• यो उनका निज का भरा-पूरा घर था। चार भाई, माँ और जमींदारी। पर जिसका घर सारा देश हो, वह किसी एक घर से कैसे बँध कर रह सकता था! वह जब कभी घर की चर्चा करते थे, तो ऐसे मानो उससे कभी उनका कोई संबंध ही न रहा हो। हाँ, माँ के लिए उनके हृदय में असीम आत्मीयता थी। शायद इसलिए कि पिता जी के सुख से वह छोटी उम्र में ही वंचित हो गये थे। कुछ समय पूर्व उन्हें माँ की बीमारी का समाचार मिला तो वह वहाँ गये, लेकिन माँ के अंतिम दर्शन उनके भाग्य में नहीं बदे थे।

भाई जी से अंतिम भेंट इसी अगस्त में हुई। मैं बंगलोर जा रहा था। सूचना मिलने पर वह हवाई अड्डे पर आये शरीर कुछ थका-सा था, लेकिन उत्साह पूर्ववत् थे। बोले, "कॉलेज को प्रथम श्रेणी का मानस कॉलेज बना देना है।" कोई पौन घंटे तक इधर-उधर की बातें करते रहे। समय हुआ और मैं जहाज की ओर जाने लगा, तो उन्होंने एक छोटा-सा डिब्बा मेरी ओर बढ़ा कर कहा, "इसमें कलाकंद है। यहाँ कलाकंद बहुत अच्छा बनता है। रास्ते में तुम्हारे काम आएगा।" मैंने डिब्बा हाथ में ले लिया। मुझ अभागे को उस समय यह भी न सूझा कि डिब्बे को खोल कर थोड़ा-सा कलाकंद उन्हें भी खिला देता! वह देर तक खड़े रहे और जब जहाज चला, तो मैंने देखा कि वह हाथ उठा कर मुझे विदा दे रहे थे।

जीवन में भाई जी ने बहुत चोटें खायीं, पर वह उस महान सैनिक की भाँति थे, जिसे चोटों को ले कर सिसकने का स्वप्न में भी अवकाश नहीं होता। उन्होंने पीछे मुड़ कर कभी नहीं देखा। वह किसी पर भार भी नहीं होना चाहते थे। मित्रों से कहा करते थे कि उन्होंने ऐसा रोग पाल रक्खा है कि वह दूसरों को अधिक कष्ट नहीं देंगे। उनकी बात सच निकली।

पटना से लौटते हुए वह नागपुर में पत्नी और बच्चों से मिलने गये थे। चलते समय छोटे बालक चि० शेखर को प्यार करते हुए उन्होंने कहा था कि जब तक यह पढ़-लिख कर बड़ा न हो जाए, तब तक उन्हें जीना चाहिए। सुपुत्री नीरजा को देख कर कहते थे कि इसे विजयलक्ष्मी आदि की भाँति उच्चकोटि की देश-सेविका बनना है। पर उनकी आकांक्षा उनके जीवनकाल में पूरी न हो सकी! ५२ घंटे के भीतर वह चले गये। १५ जनवरी को विद्यालय में काम किया, प्रदर्शिनी गये और रात को अच्छी तरह से बिस्तर पर लेटे। अचानक आधी रात के समय उन्हें उल्टियाँ हुईं और वह संज्ञाशून्य हो गये। डाक्टर आये। उन्होंने बताया कि उनका दायाँ अंग पक्षाघात से आक्रांत है। अगले दिन उन्हें उस्मानिया अस्पताल में भरती कराया गया। दिन भर वही अवस्था रही। पुकारने पर वह आँखें खोलते थे, पर बोल नहीं पाते थे। १७ की रात को हालत बिगड़ी। गले में कफ इकट्ठा हो गया, साँस लेने में कठिनाई होने लगी। अचानक जाड़ा लग कर ज्वर हुआ, जो १०७ डिगरी तक पहुँचा। १८ जनवरी को सवेरे ६-३५ पर उनका शरीरान्त हो गया।

उनकी बड़ी इच्छा थी कि हमारे देश में से आर्थिक विषमता दूर हो और छोटे बड़े सबको विकास की सुविधाएँ प्राप्त हों। कांग्रेस से उन्हें आशा थी; लेकिन स्वतंत्रता के बाद के कांग्रेस के रवैये को देख कर उन्हें बड़ी निराशा हो गयी। उनके विचार समाजवाद की ओर झुक गये और जिस समाजवादी व्यवस्था की आज पं० नेहरू ऊँचे स्वर से घोषणा कर रहे हैं, वह बहुत पहले से उनके सम्मुख स्पष्ट थी और वह उसके पोषक बन गये थे।

अध्यापन के क्षेत्र में भी उनकी देन अपना विशेष महत्त्व रखती है। वनस्थली विद्यापीठ में उन्होंने अनेक मौलिक प्रयोग किये और उसे शिक्षा के क्षेत्र

में ऊँचा दर्जा दिलाया। और अब जब हैदराबाद के अग्रवाल विद्यालय में महीने में एक दिन विद्यार्थियों द्वारा सारी प्रवृत्तियों का स्वयं सचालन करने का प्रयोग देखा, अध्यापन से ले कर व्यवस्था तक का, तो मैं आश्चर्य-चकित रह गया। यह भाई जी के ही मस्तिष्क की सूझ थी और विद्यार्थियों में जिम्मेदारी और अनुशासन की भावना उत्पन्न करने का नितात अभिनव प्रयोग था।

अपने पीछे उन्होंने अपनी पत्नी और दो बच्चो को छोडा है, लेकिन अपने मिलनसार स्वभाव और हँसमुख व्यवहार के कारण उनके आत्मीय जनों का परिवार इतना विशाल है कि सबको यह महान् क्षति अपनी ही प्रतीत होती है। बहुत कम लोगो के विछोह पर मैंने इतनी आँखें गीली देखी है।

भाई जी का बहुत-सा साहित्य अप्रकाशित पडा है। उनके लेखो के कई सग्रह बन सकते हैं। हाल्केन के एक उपन्यास का उनका किया हुआ सुन्दर अनुवाद रखा है। और भी कई चीजें हैं। कृतज्ञता का तकाजा है कि उन सबके प्रकाशन की व्यवस्था हो। भाई जी के प्रति यह सर्वोत्तम श्रद्धांजलि होगी। उनके छोटे-से परिवार के भरण-पोषण का दायित्व भी समाज को अपने ऊपर ले लेना चाहिए। भाई जी ने अपना कुछ भी नही माना। इसलिए उनके दायित्वों की पूरा करने की नैतिक जिम्मेदारी समाज पर और राष्ट्र पर है। उनके सस्मरणो का एक छोटा-सा ग्रथ भी निकाला जा सकता है।

चौरसागर | तूफ़ान का अंत !

लाला छोंगरमल पलंग पर पड़े-पड़े अपने अंतिम दिन गिन रहे थे।

आज ही सवेरे डाक्टर आया था। वही डाक्टर, जो पिछले बीस वर्षों से उनके यहाँ के सब लोगों का इलाज करता था। उसके हाथ से अब तक उनके घर कभी कोई दुर्घटना न हुई थी। छोटे-मोटे रोग तो सड़क पर घूमने वाले वैदुओं की पुड़िया और जंतर-मंतर से भी आराम हो जाते हैं। उनमें डाक्टर को यश मिला, तो उसमें विशेषता ही क्या! वैसे रोग तो सभी डाक्टर एक-आध खुराक में साफ़ कर देते हैं। असल में इस डाक्टर पर लाला जी का विश्वास जमने का कारण था, उसके द्वारा उनके बड़े लड़के का मृत्यु-मुख से बच आना।

यह लगभग अट्ठारह वर्ष पहले की बात है। उनका बड़ा लड़का केसरमल मामूली चोट के कारण बीमार पड़ा। बड़े घर के लड़के की छींक में भी न्यूमोनिया के जन्तु रहते हैं। केसरमल की वह साधारण खरोंच काफ़ी बड़ी मानी गयी। सुबह-शाम कम्पाउंडर आ कर पट्टी बाँध जाया करता। होते-होते घाव भर आया और अंत में डाक्टर ने सिर हिला कर जताया कि अब कोई डर नहीं। लेकिन दूसरे ही दिन केसरमल बीमार पड़ा—भस्मीभूत बुखार! और वह भी कैसा कि रीढ़ की हड्डी टेढ़ी हो जाए। चेहरा विकृत हो गया। और पहला हमला होते ही लड़के ने बाप से कह दिया कि यह बच नहीं सकता।

फ़ौरन डाक्टर को बुलाया गया। उसने लक्षण सुन कर घर पर ही कह दिया कि यह 'टिटनस' है। जान खतरे में है। कभी भी हमला हो सकता है, और इतना भयानक हो सकता है कि...... ।

हिलाते हुए उन्होंने कहा, "सब भाई वेलविशर और सबसे बड़ा भाई सबसे बड़ा वेलविशर! क्यों मिस्टर जीवनमल्ल?" चश्मे से फूले हुए ताल के ठीक मध्य से लाला जी के पुत्र नम्बर पांच पर अपनी आंखें गड़ा कर उन्होंने देखा। उसने उन्नीस वर्ष की अवस्था में इसी वर्ष लाजिक, एकनॉमिक्स आदि ले कर इंटर पास किया था। 'ठीक है न लॉजिक!"

पुत्र नम्बर पांच शरमा गया।

"इस साल तो भी पास होना है, या.." उन्होंने फिर पूछा।

"इस साल तो मैं पास हो गया हूं.. डाक्टर..." उसने लजाते हुए कहा।

"ओह!" डाक्टर पुनः ठठा कर हंस पड़ा। "मैं तो भूल ही गया था!"

"डाक्टर!" बड़े लड़के ने हल्के स्वर में पुनः याद दिलायी। "दवा!" वैसे उसकी उम्र चालीस के आसपास थी। परन्तु शरीर से और स्वास्थ्य से वह काफी कम उम्र का मालूम पड़ता था।

"दूकान जाते समय मैं दवाखाने में आ जाऊंगा, डाक्टर! वहीं से मैं दवा ले लूंगा और चपरासी के हाथ घर भेज दूंगा। लेकिन आप अगर जल्दी डोज़ देना चाहते हों, तो..." पुत्र नम्बर तीन ने अपना वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया। उसने अपनी एक अलग दूकान कर ली थी। शहर की बिजली के सामानों की दूकानों में सबसे अच्छी दूकान उसी की समझी जाती थी। निआन ट्यूबों से बना हुआ उसकी दूकान का साइन बोर्ड ऐसा चमकता था कि बस! सड़क के उस दूसरे घुमाव से भी (जो उसकी दूकान से कम-से-कम आधा मील होगा) आप उसे आसानी से पढ़ सकते थे—"नाथाभाई छोगरमल्ल।" उसका नाम "नाथाभाई" नहीं, "नाथमल्ल" था। परन्तु दूकान का नामकरण करते समय उसने अपने नाम का यह गुजराती परिष्कार कर लिया था। यह परिष्कार उसे फला भी खूब! यह उसकी मोटी तोंद तथा उसके अधिकार में रहने वाली ओल्डसमोबिल गाड़ी से कोई भी समझ सकता है।

डाक्टर ने मुसकरा कर उसकी ओर देखा और तब लाला जी के पुत्र नम्बर चार की ओर दृष्टि घुमायी। "और आप लोगों का क्या कहना है, मगनमल, जेठामल?" उन्होंने पूछा।

दोनों भाई बड़े शांत स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी बोली सुन पड़ना बड़े भाग्य की बात थी। मगनमल्ल केसरमल्ल के साथ बड़ी गद्दी में काम करता था और पुत्र क्रमांक चार श्रीमान् जेठामल्ल जी दिन रात पूजा-पाठ में ही निमग्न रहा करते थे।

मगनमल ने नीचे देखते हुए कहा, "पिता जी को आराम होना चाहिए, डाक्टर! यही कहना है, और क्या?" और आंखों में भर आने वाले आंसुओं को छिपाने के लिए उसने मुंह फेर लिया। उसकी बहू ने घूंघट और खींच कर उसके ऊपर से ही अपनी आंखें पोंछ लीं। वह बड़ी साध्वी और पुराने ख्याल की औरत थी। पति का कम्पित स्वर और भरी आंखें देख कर उसकी आंखों में आंसू भर आये।

यह दृश्य देख कर डाक्टर का गला रुंध गया। उसने कुछ हल्के स्वर से कहा, "लेकिन एक बात बताओ। क्या लाला जी को जिंदगी भर दवा खिलाओगे तुम लोग? कभी आराम न करने दोगे?"

"सचमुच, डाक्टर!" लाला जी ने कमज़ोर स्वर में कहा, "दवा खाते-खाते मैं थक गया हूं!"

"आप ही बताइए!" डाक्टर जैसे बड़ी भारी जिम्मेदारी से बरी हो गया। उसने पुनः प्रसन्न स्वर में हंसते हुए कहा, "लेकिन आपके ये पच पाण्डव

वे ससुराल इतने वर्ष निकाल गये। फिर आज, जब उन्हें कोई तकलीफ नहीं, महज थोडी सी कमजोरी है, यह डाक्टर कहता है .. हूँ! उन्होंने गर्दन को हलका-सा झटका दिया। और तभी उन्हें याद आया कि इन बीमारियों में यही डाक्टर था, जो हमेशा कहा करता था, "लाला जी! आप घबराइए नहीं! शीघ्र ही चंगे हो जाएँगे आप।" और आज वही डाक्टर कहता है कुछ समझ कर ही कहता होगा? उन्होंने करवट बदल ली और खिडकी के बाहर के वृक्ष की ओर देखने लगे।

वह वृक्ष नीम का था। उसकी एक डाल खिडकी के सामने, ठीक बीचों-बीच लटकी हुई थी। पलँग पर से लाला जी को लगता था कि यदि वे खिडकी में खडे हो जाएँ, तो हाथ बढा कर वे सहज ही उस डाल की पत्तियाँ तोड सकते हैं। उनके मन में बडी इच्छा हुई कि वे उठ कर खडे हो जाएँ, खिडकी में जाएँ और पत्तियाँ तोड लें। फिर कल सबेरे डाक्टर को वह पत्तियाँ दिखा कर कह सकेंगे, "देखो मुझ में कितना जोर है!" कल्पना से उनके मुख पर प्रसन्नता की रेखाएँ खिंच गयीं। लेकिन तुरत ही वे मुरझा गयीं। लाला जी अच्छी तरह जानते थे कि वह डाल काफी दूर है और पत्तियाँ नहीं तोडी जा सकतीं। केवल उनकी आँखों को ही ऐसा भास हो रहा था। यह आँखों की कमजोरी है! तो क्या सचमुच उनके अवयव जवाब दे रहे थे? उनकी आँखें भर आने लगीं। सामने की खिडकी, डाल और पत्तियाँ धुँधली होने लगीं। उन्होंने घबडा कर मुँह फेर लिया।

चार आँसू टपक पडे और दृष्टि साफ हो गयी।

सामने दीवार पर नाथमल की दूकान का भव्य कैलेंडर लगा था। वे उस साफ साफ देख सकते थे। उसमें एक स्त्री खडी थी, सफेद हाफपेंट पहने। उसके वक्षस्थल पर एक सफेद तंग बनियाइन थी, जो उसके उन्नत उरोजों को स्पष्ट रूप से दर्शा रही थी। उसके ऊपर से उसने एक नीला-हरा ओवरकोट पहन रखा था जिसके बटन खुले थे और जिसके किनारे उसके स्तनों के बगल के हिस्सों पर ऐसे टिके थे, मानो जान-बूझ कर टिकाये गये हों। उसके दाहिने हाथ में एक लोहे की सिक्कडी थी, जिसके दूसरे छोर से बँधा हुआ एक टेरियर उसे आगे खींच रहा था, और बायाँ हाथ हाफपेंट की जेब में डाले, दोनों पैर जमीन पर अडाए वह मानो उस टेरियर को पीछे खींचने की कोशिश कर रही थी। हवा में पीछे लहराने वाली उसकी सुनहरी लटें तथा प्रसन्नता से खिले हुए पतले-पतले होंठों के कोने तो हृदय को बरबस खींच लेते थे।

लाला जी के मुख-मंडल पर एक अवर्णनीय दीप्ति छा गयी। उन्हें लगा, जैसे वह स्त्री वे स्वयं है। जीवन से पूर्ण, उमंगों से भरे। समय का टेरियर उन्हें मृत्यु की ओर खींच रहा है और एक हाथ से उसकी गति को सिक्कडी पकडे हुए और दूसरा हाथ निश्चितता से जेब में डाले, वे अपने स्थान पर अडे हुए हैं। उनके चेहरे पर प्रसन्नता है और सारी दुनिया मृत्यु-शय्या पर पडी-पडी निहार रही है— उन्हें, मृत्यु को; और खुश हो रही है कि वे मृत्युजय हैं, सारे सुखों के स्वामी!

उनके चेहरे पर समाधान छा गया। सचमुच वे सारे सुखों के स्वामी हैं। शरीर की कभी-कभी हो जाने वाली अस्वस्थता को छोड दिया जाए, तो बचपन से ले कर अब तक उन्होंने कभी दुःख भोगा ही नहीं। कभी किसी चीज की जरूरत पडी, और वह उन्हें नहीं मिली, ऐसा नहीं हुआ। लखपति के घर उनका जन्म हुआ और करोडपति हो कर वे जा रहे हैं।

जा रहे हैं! उन्हें फिर धक्का लगा। उनका मन भी कह रहा है—जा रहे हैं! मन-ही-मन उन्होंने अपनी भर्त्सना कर ली। बेवकूफ डाक्टर ने कुछ कह दिया और उन्होंने मान लिया! छिः!

यह उनके मन की कमजोरी है। कमजोरी ? तो क्या सचमुच...आँखें कमजोर, मन कमजोर, शरीर... उनका जी घबराने लगा, छटपटाने लगा...।

"पिता जी !"

वे चौंक गये।

"महामृत्युंजय का तीर्थ...'

यह था उनका चौथा लड़का जेठामल। ऐन जेठ की कड़ी दुपहरिया में पैदा हुआ था, इसलिए जेठामल नामकरण हुआ था उसका। उनका प्यार सबसे अधिक इसी लड़के पर था। वह जेठ में भले ही पैदा हुआ हो, मगर उसे कभी परिस्थिति की धूप सहन न करनी पड़े, इसका उन्होंने सदा ध्यान रखा था। और लड़कों का उन्होंने काम काज कराया, मिहनत करायी, परदेश भेजा। लेकिन इसे हमेशा अपने पास रखा, अपने प्यार की ठंडी छाया में। उनका गला भर आया। उन्होंने अपना क्षीण हाथ ऊपर उठाया। पंजा काँप रहा था। उँगलियाँ थरथरा रही थीं।

तीर्थ की कटोरी पास के स्टूल पर रख कर जेठामल उनके चेहरे पर झुका और तब सहसा उनकी बगल में पलंग पर सिर टेक कर रो पड़ा, सिसकने लगा। तूफान में पड़े हुए पेड़ के समान उसका शरीर हिलने लगा।

लाला जी ने अपना कमजोर हाथ उसके सिर पर रखा और फिर धीरे-धीरे वे उसका मस्तक थपथपाने लगे।

एकाएक जेठामल उठ बैठा और फूटते हुए कंठ से उसने कहा, "मैं अनाथ हो जाऊँगा, पिता जी !"

लाला जी की आँखें भर आयीं। उन्होंने अपना हाथ बेटे की गोद में रखा और वे निर्निमेष उसको ओर देखने लगे। आँसुओं के पर्दे के पीछे से शाम की घिर आने वाली छाया में उन्हें उसका चेहरा विकृत दिखाई देने लगा।

सहसा स्विच दबाने की आवाज हुई और कमरा तीव्र प्रकाश से जगमगा उठा। वह प्रकाश उनकी आँखों में चुभने लगा। उन्होंने कमजोर आवाज में कहा, "उधर...बाकी...बत्ती...।"

बत्ती बुझ गयी और दूर की कम रोशनी वाली जल उठी। तब तक लाला जी ने आँसू पोंछ लिये।

आने वाला धीरे धीरे उनके पास आया और तीर्थ की कटोरी हाथ में उठा कर स्टूल पर बैठ गया। "यह कैसा पानी है ?" उसने जेठामल से पूछा। यह केसरमल था।

"तीर्थ है, भैया !" जेठामल ने कहा।

"महामृत्युंजय का ?" उसने घबरायी हुई आवाज में पूछा। उसके स्वर का कंप काफी स्पष्ट था। उसने कटोरी मस्तक से लगा ली और तब उसे पिता के मुख के पास ले जा कर कहा, "मैं केसर हूँ, पिता जी ! तीर्थ ले लीजिए।"

लाला जी ने मुँह जरा-सा खोल दिया। केसरमल ने काँपते हाथों से तीर्थ उनके मुख में उँडेल दिया। कुछ मुँह में पड़ा, कुछ होठों के कोनों से दोनों ओर बह गया।

जेठामल ने हथेली से उनका मुँह और गला पोंछ दिया। और एक बार पिता के मुख की ओर देख कर कटोरी उठा कर वहाँ से चल पड़ा—जल्दी-जल्दी, जैसे उसके कदम अपने आप दौड़ रहे हों।

"केसरमल !" लाला जी ने काँपती आवाज से कहा। "इसका ख्याल रखना बेटा। मुझे बड़ी चिंता लगी रहती है। मैंने इसे पढ़ाया नहीं, लिखाया नहीं, काम-काज भी नहीं कराया..."

"आप चिंता न करें, पिता जी !" केसरमल ने भरे कंठ से कहा, "जेठा मुझे मेरे लड़के के समान है।"

"हाँ, बेटा!" लाला जी ने कहा।

केसरमल को लड़का-बाला न होने के कारण उसका अपने भाइयों पर तथा भाइयों के लड़के लड़कियों पर बड़ा प्रेम था, यह वे जानते थे।

'और जीवनमल?"

"वह भी पिता जी।" केसरमल ने कहा, "आप सब चिंता मन से निकाल दीजिए।"

"हाँ, बेटा! अब मेरे स्थान पर तुम्हीं हो।"

आँखों में भर आये आँसू पोंछ कर केसरमल ने रुंधते हुए स्वर से कहा, "आप यह सब क्यों कह रहे हैं, पिता जी? अभी आप.. काफी दिनों तक...।"

"हाँ, हाँ! बेटा!" उन्होंने क्षीण आवाज़ से कहा, "लेकिन मैं जो कह रहा हूँ, उसे भी सुन लो।" केसरमल ने एक बार और आँखें पोंछ ली।

"दो बरस के पहले ही मैंने वसीयतनामा लिख दिया है। वह मेरी अल्मारी में सबके नीचे वाले खंड में लोहे के बक्से में रखा हुआ है। उसकी एक प्रति अपने वकील साहब के पास है। मेरे बाद उनसे राय लेना और...।"

"अच्छा, पिता जी! आप जैसा कहते हैं, वैसा ही होगा..."

'और देखो बेटा, आपस में कभी झगड़ना नहीं। वैसे तो मैंने सबका हिस्सा अलग कर दिया है, फिर भी बने, तब तक एक में रहने की कोशिश करना। अच्छा अब जाओ। बाकी कल बोल लेंगे। और देखो, रात में मैं कुछ भी न खाऊँगा। दूध भी नहीं। समझे?" लाला जी ने हाँफते हुए कहा। इतना बोलने के कारण वे थक गये थे।

केसरमल धीरे-धीरे उठा। एक बार करुण दृष्टि से उसने अपने पिता की ओर देखा और तब आँखों में भर आये आँसू छिपाता, वहाँ से चला गया।

उसके जाने के बाद भी लाला जी काफी देर तक दरवाज़े की ओर देखते रहे। और तब उन्होंने एक निश्वास छोड़ा। उनका हृदय इस समय बिलकुल शांत था। ऐसा लग रहा था, मानों मस्तक पर से अचानक ही काफी बोझ उतर गया हो।

सहसा उन्हें आश्चर्य हुआ। थोड़ी देर पहले मृत्यु की कल्पना से कितना झगड़ रहे थे वे? वे यह मानने के लिए तैयार ही नहीं थे कि उनकी मौत आ रही है। फिर भी उन्हें डर लग रहा था। क्षण-क्षण, पल-पल मृत्यु के पैरों की ध्वनि अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही थी, निकट आती जा रही थी। लेकिन इस समय वह सब लुप्त हो चुका था। चारों ओर शांति विराज रही थी। धीरे-धीरे उनके मन पर एक अनिर्वचनीय प्रसन्नता छाने लगी। पलकें धीरे-धीरे मुँदीं और बंद हुईं। पिता ने मृत्यु के समय जो भार उन्हें सौंपा था, उसे अपने जीवन में उन्होंने बढ़ाया ही। यही भार था, जो कुछ क्षणों के पहले उन्हें खींच रहा था, बाँध रहा था, छुड़ाये छूट नहीं रहा था। अचानक जेठामल के आँसुओं ने इस बंधन को द्रवित कर दिया और वह भार अनायास ही उन्होंने अपने बड़े लड़के के कंधे पर डाल दिया। अब उस भार से उन्हें कोई काम नहीं, लगाव नहीं। वे स्वतंत्र हैं, मुक्त हैं।

आँखें बंद रखे-रखे ही उन्होंने एक गहरी साँस ली। फेफड़े का कोना-कोना मुक्त वायु से भर गया और बंद आँखों के कोनों से झर-झर आँसू बहने लगे

सवेरे उनके लड़कों ने, बहुओं ने तथा डाक्टर ने उनके कमरे में प्रवेश किया। उस समय वे सो रहे थे—शांत, स्वस्थ! उनका चेहरा निखरा हुआ था—सौम्य, स्निग्ध, प्रसन्न! कहीं कोई झगड़ा नहीं था, द्वंद्व नहीं था।

डाक्टर ने उनके पैरों पर पड़ी चादर खींच कर उनका मुख ढँक दिया और टोपी उतार कर मस्तक झुका लिया।
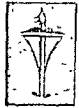
समालोचना तथा पुस्तक-परिचय

प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास लेखक, रांगेय राघव, प्रकाशक, आत्माराम एण्ड सन्स, १९५३, पृष्ठ-संख्या ५१८, मूल्य १२)

पुस्तक की भूमिका में लेखक ने कहा है, "इसी समय ब्राह्मण ने युगभेद का प्रचलन किया।" (पृष्ठ घ) पता नहीं, यह जानते हुए भी लेखक ने एक ऐतिहासिक पुस्तक में सत्य-त्रेता-द्वापर-कलियुग जैसा काल्पनिक युग-विभाजन क्यों मंजूर किया और उसी के आधार पर अपनी आधी पुस्तक लिख डाली?

लेखक ने १२१ ग्रंथों की सूची आधार-ग्रंथों में दी है, जिनमें पत्र-पत्रिकाएँ भी है; संस्कृत पालि तथा अंग्रेजी की अनेकों पुस्तकें है, अपनी स्वयं की पुस्तकें भी दी है, जिनमें एक अप्रकाशित भी है। इन ग्रंथों में हिंदी-ग्रंथों की खोज करने पर केवल 'कल्याण' के कुछ विशेषांक, डा० संपूर्णानंद की गणेश', आनंद कौसल्यायन के जातक के अनुवाद, कैलाशचंद्र शास्त्री का जैनधर्म, राहुल जी के दीघनिकाय (अनुवाद), बुद्धचर्या, पुरातत्व निबंधावली, हिंदी काव्यधारा, हजारीप्रसाद जी का नाथसंप्रदाय, और बलदेव उपाध्याय का भारतीय दर्शन—केवल ये किताबें मिलीं। सचमुच हम भारतीय संस्कृति और आर्यभारत की इतनी चिल्ल-पों करते है पर हमारी राष्ट्रभाषा में इस संबंध में कितनी कम ठोस और मौलिक सामग्री है? इसकी तुलना में विदेशियों का हमारा सांस्कृतिक ऐतिहासिक अध्ययन देख कर हमें आश्चर्य और आदर होता है। लेखक ने बहुत वर्षों तक गहरा अध्ययन किया है, यह निस्संदेह है। सामग्री उनके पास विपुल है। परंतु हमें केवल शिकायत उसके प्रस्तुतीकरण के विषय में है।

इसी विषय पर, विशेषतः वैदिक और वेद-पूर्व

संस्कृतियों पर हमने मराठी में स्वर्गीय डा० केतकर के ज्ञानकोश के आरंभिक दो खंड और हाल में प्रकाशित तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी की 'वैदिक संस्कृतिचा विकास' (जिसका हिंदी अनुवाद भी शीघ्र ही प्रकाशित होगा) पढ़े हैं। हिंदी सुमेरी संस्कृति (दाजी भगेश आपटे) के आधार पर हमारे 'जनवाणी' में लिखे हुए लेख को परिशिष्ट में रांगेय राघव जी ने ७ पृष्ठों तक उद्धृत भी किया है। और भी बहुत सी सामग्री इधर के नये उत्खननों से और खोजों से सामने आयी है। कई नृ-वंश शास्त्रियों की बहुत-सी ऐसी खोजें हैं, जिनका उपयोग करके इस पुस्तक को और प्रामाणिक बनाया जा सकता था। यह तो हुआ सामग्री के प्रतिमिति-करण और प्रमाणीकरण के विषय में।

परन्तु रांगेय राघव जी ने यहाँ इतिहास को भाषा-विज्ञान, पुरातत्त्व, पुराणेतिहास, समाजशास्त्र, संस्कृति विकास शास्त्र, नृ-वंश विज्ञान आदि के आधार पर परखने और देखने का यत्न किया है। और उसमें उनका एक विशिष्ट दृष्टिकोण सा है। पृष्ठ १२२-२३ पर वे कहते हैं—"युग-विभाजन का आधार यदि श्री डांगे के मार्क्सवादी ढंग से करें, तो वह हास्यास्पद होगा, क्योंकि वह मार्क्सवाद को ठूँसना है। तथ्यों को देखना चाहिए। यही हमारा लक्ष्य है। डांगे जी कल्पना से बहुत काम लेते हैं।" प्रायः इसी प्रकार की बात रांगेय राघव के बारे में भी कुछ बातों में कही जा सकती है। वे स्वयं भूमिका में एक ओर कहते हैं—"भारत का प्राचीन इतिहास अत्यंत जटिल है। उसे किसी वाद के आधार पर सिद्ध नहीं करना चाहिए, पहले तथ्यों को एकत्र करके फिर उन पर दृष्टिपात करना चाहिए। वही नये-नये तथ्यों पर प्रकाश डाल सकता है, वही आगे बढ़ा सकता है।" वही दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं—"मैंने यज्ञ के आदिरूप को आदिम साम्यवाद का प्रतीक माना है। यह इसलिए कि यज्ञ का बाह्य रूप यही इंगित करता है। यह घटना है अत्यंत प्राचीन, वेद से बहुत पुरानी। यज्ञ बदलता गया। यज्ञ अंत में धनिकों के हाथ में चला गया। अब प्रश्न है कि यज्ञ में अग्नि की उपासना होती थी। क्या इस प्रकार बलि देने की प्रथा में मनुष्य के भय का निवास नहीं मिलता, जो आदिम मनुष्य का इतिहास प्रकट करता है। इस विषय पर विद्वानों ने प्रकाश डाला है। परंतु मैं यहाँ स्पष्ट कर दूँ कि आदिम मनुष्य का भय ही उसे एक जगह लाया था। उस सामाजिक प्राणी बनाया था। आग की प्राप्ति भी सामूहिक मनुष्य का यत्न था।" डा० रांगेय राघव जी भी काफी 'स्वीपिंग जनरलाइजेशन्स' से काम लेते हैं, जिनका इतिहास और ऐतिहासिक गवेषणा से तीन और छह का रिश्ता है। वे कवि हैं और जानते हैं कि अग्नि चुराने वाले प्रामाथ्यू (प्रोमेथियस), ग्रीक हीरो, और सूर्य की कांति चुराने वाले त्वष्टा की वैदिक कथाएँ आखिर क्यों बनीं? क्या भय ही संस्कृति की एकमात्र मूल प्रेरणा है?

ग्रंथ का एक उपयोग है कि उसमें द्रविड संस्कृति के विषय में बहुत-सी जानकारी मिलेगी। गण-नास्तिक युग कुछ जल्दी में लिखा गया है, परंतु उसमें भी बहुत-सी उपादेय सामग्री है, विशेषतः तंत्रवाद के विषय में। कुल मिला कर सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से बहुत-सी सामग्री—बहुत नये युक्त और व्यवस्थित रूप में संयोजित नहीं—इस ग्रंथ में एकत्रित है। हिंदी में इतना भी नहीं था—इस दृष्टि से ग्रंथ का मूल्य है। परंतु मेरा मत है कि ग्रंथ का कलेवर नामावलियों और सूचियों-चार्ट आदि से न बढ़ा कर, यदि कुशलता से ग्रंथ-सामग्री का संपादन किया जाता—तो इसकी उपादेयता और भी बढ़ जाती। उदाहरणार्थ त्रेता में समूचा पुरुषसूक्त और द्वापर में समूचे महाभारत का एक संकलन अनावश्यक रूप से जोड़ा गया है। क्योंकि उनसे जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं, वे काफी विवाद्य हैं, और उनके लिए पूर्व-पक्ष की

प्रमेय-प्रस्थापना की इतनी प्रलंबित प्रस्तावना आवश्यक नहीं। हमारी भाषा में कहावत है, 'नमन में ही नौ मन तेल जलाना'—वैसा कुछ ग्रंथ के लवर-घोधों विस्तार से लगता है। इसमें संदेह नहीं कि रांगेय राघव जी ने बहुत पढ़ा है, बहुत से ग्रंथ उलटे पलटे है, परन्तु अभी उनके विषय के अनुरूप उस सामग्री को वे प्रस्तुत नहीं कर पाये। लेखक सु-पठित है, पर उतना लेखन सु-पाचित नहीं। अंत के कुछ पृष्ठ तो बहुत ही जल्दी में लिखे गये है। वे अनावश्यक भी थे।

हमे एक और लाभ इस पुस्तक का ज्ञात पड़ता है। जो साम्प्रदायिक विचार-धारा वाले लोग हमारे अतीत का केवल स्वर्णिम-उज्ज्वल पक्ष प्रस्तुत करते है और इतिहास को केवल एक आँख से देखते है, उन्हे इस ग्रंथ को पढ़ कर कुछ राहत मिलेगी। उनके लिए यह प्रज्ञावादी (रैशनॅलिस्ट) विश्लेषण एक उत्तम औषधि (करेक्टिव) का काम करेगा।

या तो प्रूफ की गलतियाँ है, या मूल में ही कोई भूल—कम-से कम भारतीय नाम तो हम सही रूप से लिखे पढ़ना चाहते है, जैसे विष्णु करण्डीकर नहीं है, करदीकर है। और कुछ गलतियाँ अंग्रेजी से या रोमन से देवनागरी करण मे हुई है। *अगले संस्करण में ये दोष सुधार लिये जाएँगे, ऐसी आशा है।*

प्रभाकर माचवे

कबीर की विचार-धारा लेखक, डा० गोविंद त्रिगुणायत, प्रकाशक, साहित्य निकेतन, कानपुर, पृष्ठ-संख्या ४६६, मूल्य ७)

पुस्तक के परिच्छेद-पट पर लिखा गया है—"प्रस्तुत ग्रंथ आगरा विश्वविद्यालय की पी० एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत थीसिस का यत्किंचित परिवर्तित प्रतिरूप है। ग्रंथ में कबीर के विचारक स्वरूप का अध्ययन विशेष रूप से किया गया है।" हिंदी भाषा में 'विचार' शब्द का जितना अधिक दुरुपयोग हुआ है, उतना शायद और किसी शब्द का नहीं हुआ होगा। सन् '३७ में मैंने 'जैनेन्द्र के विचार' प्रकाशित किये, उसके बाद 'विनोबा के विचार' तक तो गनीमत थी, सस्ता साहित्य मंडल ने 'बिड़ला जी के विचार' भी छाप दिये। 'बिंदु बिंदु विचार' तक इस शब्द की पिटाई हुई। पर 'विचार' शब्द की दार्शनिक पीठिका क्या होती है इसे जैसे सभी प्रयोजकों ने भुला दिया। उदाहरणार्थ, इस ग्रंथ में तीन प्रकरण है—कबीर के आध्यात्मिक विचार, कबीर के आध्यात्मिक सिद्धांत और कबीर के धार्मिक और सामाजिक विचार। जहाँ तक कबीर का संबंध है, ऐसा काट-काट कर, लेबल लगा कर, कबीर के विचार का विचार प्रायः असंभव है। *शायद प्रबंध की सुविधा के लिए यह किया गया हो,* परंतु आध्यात्मिक विचार में ब्रह्म और आत्म-विचार, और आध्यात्मिक सिद्धांत में कबीर का माया-वर्णन और दर्शन-पद्धति कैसे आते है, यह मेरी समझ से परे का विषय है। आध्यात्मिक विचार में 'कबीर की रहस्य-साधना' और आध्यात्मिक सिद्धांत में 'कबीर की योग साधना' है। स्पष्ट है कि ऐसे परस्परावर्तक (ओवरलैपिंग) विषयों के कारण ग्रंथ में विपुल पुनरावृत्ति हुई है, यहाँ तक कि उद्धरणों की भी।

फिर एक और चीज, जो हिंदी के कई प्रकाशित-अप्रकाशित प्रबंध-ग्रंथों को पढ़ने पर मन में उठती है, वह है उनके प्रतिपादन का मूलारंभ से प्रत्येक वस्तु के परिभाषित करने और समझाने का प्राथमिक (एलिमेंटरी) ढंग। भक्ति की विवेचना शुरू हुई कि भक्ति शब्द की उत्पत्ति के बाद भारतवर्ष में जितने भी भक्ति-पंथ रहे हो उनका, नवधा भक्ति का, भागवत और हरिवंश आदि सब का विस्तृत विवेचन, जैसे जरूरी हो जाता है। वे पाठक के लिए कुछ भी नहीं छोड़ना चाहते। जहाँ आत्मा या ब्रह्म शब्द आया कि चलो वेद और उपनिषद तक। यह स्कूल मास्टरी ढंग कम-से-कम पी० एच० डी० के उपाधि-निबंधों म अपेक्षित नहीं होना चाहिए। पर

दुर्भाग्यवश ज्ञान के क्षेत्र में मौलिकता की अपेक्षा पिष्टपेषण और ऊबा देने वाली पुनरावृत्ति की यह परंपरा-पद्धति व्यवस्थित रूप से हमारे विश्वविद्यालयों में अभिसिंचित की जा रही है। इसमें बिलकुल विपरीत विदेशी भाषाओं और अन्य भारतीय भाषाओं में पी० एच० डी० प्रबंधों की स्थिति है। परन्तु हिंदी के अधिकांश आचार्य लोग केवल हिंदी पढ़ते हैं, बहुत आवश्यक हुआ, तो आवश्यक संस्कृत और पुराने अंग्रेज़ी ग्रंथों का सहारा ले लेते हैं। वे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नित-प्रति होने वाले अन्वेषणों से सुपरिचित रहना आवश्यक नहीं समझते। उसके लिए प्रस्तुत ग्रंथ का लेखक दोषी नहीं है। उसका उद्देश्य पी० एच० डी० उपाधि की प्राप्ति था। कबीर तो बेचारा निमित्त है। और उसने उस उपाधि की प्राप्ति के लिए आवश्यक चौखट के नियमों का पूर्ण प्रतिपालन किया है।

हिंदी शोध-कर्त्ताओं की एक दूसरी विचित्र प्रवृत्ति यह है कि वे हिंदी की चर्चा संस्कृत से शुरू करते हैं, मानो संस्कृत का जो कुछ है, वह हिंदी का ही है। हम एक प्रतिष्ठित पत्रिका में हिंदी के यात्रा-वर्णन-परक ग्रंथों पर लेख बड़ी उत्सुकता से पढ़ने बैठे, तो कई पृष्ठ बाणभट्ट और संस्कृत यात्रा-वर्णनों पर थे। उसी प्रकार से हिंदी काव्य में प्रकृतिवर्णन की चर्चा हो, चाहे हिंदी में नाटक का विचार-विमर्श हो या भक्ति-धारा का विवेचन हो, सब चर्चा वेद से शुरू होती है। परंपरा का ज्ञान होना आवश्यक है, परन्तु कई बार 'मियाँ मुट्ठी भर, दाढ़ी हाथ भर' वाली बात होती है। यह ग्रंथ भी उस रूढ़ि से मुक्त नहीं है।

ग्रंथ की उपादेयता विद्यार्थियों के लिए है। डा० हजारीप्रसाद जी के 'कबीर' और डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की 'निर्गुण स्कूल आफ़ हिन्दी पोएट्री' तथा चंद्रबली पांडेय की 'तसव्वुफ़ और सूफ़ी-मत' के बाद त्रिगुणायत जी का यह पुस्तक बहुत सा सामग्री संक्षेप में एक स्थान पर एकत्र कर देती है। सबसे कमज़ोर अंश है, कबीर की साहित्यिक विशेषताएँ तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और उन पर हुए विभिन्न प्रभावों से संबंधित अंश। भक्ति द्राविड़ ऊपजी' वाली बात प्रायः सभी 'कबीर के रहस्यवाद' के लेखक भूल जाते हैं। रामानंद के अध्ययन में हमें दक्षिण में जाना होगा और तमिल के शैव संतों तक पहुँचना होगा—यह बात अधिकतर अध्येता छोड़ देते हैं। उसी प्रकार से बौद्ध-दर्शन, सिद्धों और नाथों के संबंध में भी काफ़ी भ्रान्तियाँ चली आ रही हैं। सूफ़ी-मत और योग की ऊपरी-ऊपरी समानताएँ बता देने से भी काम नहीं चलता। हमारी रहस्यवाद की परंपरा के पीछे कई सदियों का देवनेतिहास भी है, साथ ही आर्य-पूर्व कई संस्कार हैं जिन्हें हम सहज भूल जाते हैं। वेद-पूर्व-कालीन आदि भारतीयों के कई 'टोटेम' और 'टैबू' हमारी चिंता-धारा में अप्रच्छन्न रूप से चले आये हैं। जिन्हें बाद में हमने अध्यात्म का कवच पहनाया और 'रैशनलाइज़' किया। इस दृष्टि से कोई नवीन उद्भावना इस ग्रंथ को पढ़ने पर हाथ नहीं आयी। पी० एच० डी० के प्रबंध में शायद नयी बात उतनी चाही भी नहीं जाती। सूची प्रथन, बहुत-सी पाद-टिप्पणियाँ और बृहदाकार काफ़ी होता है। कबीर पर यह ग्रंथ भी ऐसा ही परिश्रम-जनित कार्य है।

कुछ उदाहरण देकर मैं अपनी बात को और स्पष्ट करूँ। कबीर की जाति की चर्चा में दस पृष्ठ नष्ट करके लेखक इस नतीजे पर पहुँचा है. "वास्तव में यह निश्चित करना कि कबीर किस जाति के रत्न थे, बड़ा कठिन है। फिर भी मेरी धारणा यही है कि कबीर जुलाहा जाति के ही रत्न थे।" (पृ० ४२) उसी प्रकार से पृष्ठ ३०९ से ३१९ तक कबीर के 'सुरति' शब्द के प्रयोग पर विचार हुआ है। सब विद्वानों के मत देकर अंत में राधास्वामी के मत को लेखक ने सही माना है। कबीर वेद-उपनिषदों के अच्छे ज्ञाता थे, ऐसी भी ध्वनि इस विवेचन से निकलती है। उसी तरह से लेखक बड़े सहज भाव

से रहस्यवाद के चार रूप और भक्ति के सात प्रकार और योग की नौ दशाएं और जैसे चाहे, वैसे गणित-पोषित विभाजन करते जाना है। विचार का अध्ययन अंकगणित के सहारे नहीं हो सकता। कबीर में अलंकार भी खोजे गये हैं।

फिर भी मेरा समाधान कोई अंतिम कसौटी नहीं है। पुस्तक हिन्दी के हजारों विद्यार्थियों और अध्यापकों का अवश्य समाधान करेगी, ऐसी आशा है। पुस्तक के अंत में तीन पृष्ठ का शुद्धि-पत्र भी है।

प्रभाकर माचवे

() संत कवि दरिया (एक अनुशीलन) : लेखक, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, प्रकाशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, रायल आकार, पृ०-सं० ५५०; मूल्य १४)

प्रस्तुत ग्रंथ में लेखक ने १७वीं शताब्दी के संत-कवि दरिया के जीवन, दर्शन और साहित्य का प्रस्तावन-विवेचन उपस्थित किया है। लेखक का विश्वास है कि यह अनुशीलन हमारे ज्ञान-क्षितिज को निम्न प्रकार से विस्तृत करता है।

१–दरिया साहब के अनेक ग्रंथों की खोज और उनका अध्ययन हिंदी साहित्य के एक विशिष्ट भाग (संत-साहित्य) को नयी सामग्री देता है।

२–भाषा की दृष्टि से यह अध्ययन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हम कवि की रचनाओं में भोजपुरी भाषा *की एकमात्र प्राचीनतर साहित्यिक सम्पत्ति पाते हैं।*

३–इस अध्ययन से हिंदी-भाषा और साहित्य के विकास में बिहार की जो महत्त्वपूर्ण देन रही है, उसकी 'इयत्ता' तथा 'ईदृक्ता' का परिचय मिलता है, क्योंकि दरिया साहब बिहार में आविर्भूत हिंदी के मध्य-युगीन कवियों में सर्वश्रेष्ठ गिने जाएंगे।

४–इससे भारतीय विचार-धारा, विशेषत संत-मत, दर्शन तथा अध्यात्म के संबंध में पर्याप्त प्रकाश मिलता है।

५–यह बिहार के सामाजिक और धार्मिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए एक बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत करता है, क्योंकि अब तक हमें दरिया-पंथ के विषय में बहुत कम ज्ञान प्राप्त है, जिसमें १५० मठ, २०० साधु और ५००० भक्त विद्यमान हैं।

ऊपर के दावे कितने सत्य और साधार है, यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु हस्त-लिखित रचनाओं को एकत्र करके उनके आधार पर जो विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उसका महत्त्व स्वीकार करना ही होगा। हिंदी के इतिहासकारों में कइयों ने दरिया का नाम भी नहीं लिया है, कुछेक ने नाम तो लिया है, किन्तु उस समय तक प्रकाशित सामग्री को इस योग्य नहीं समझा कि उस पर कुछ विस्तृत विचार किया जा सके। ऐसी अवस्था में शास्त्री जी ने न केवल दरिया की रचनाओं पर एक महत्त्वपूर्ण विवेचन उपस्थित किया, अपितु विभिन्न मठों और संस्थाओं में विकीर्ण पाण्डु-लिपियों को संकलित कर दरिया की रचनाओं का एक संग्रह भी तैयार किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में कुल पाँच खंड हैं। प्रथम खंड में कवि दरिया के जीवन, पंथ और उनकी रचनाओं का परिचय है; दूसरे में दर्शन और अध्यात्म का विवेचन, *तीसरे खंड में कबीर और तुलसी की* रचनाओं के साथ दरिया की रचनाओं का तुलनात्मक विश्लेषण है, चौथे में दरिया की भाषा पर विचार, पाँचवें खंड में दरिया की चुनी हुई रचनाओं का संकलन है, साथ ही परिशिष्ट में दरिया पंथ के मठों की तालिका, मानस और ज्ञान-रत्न के पदों के साम्य का निदर्शन, रचनाओं में व्यवहृत छन्द, अलंकारादि तथा पंथ के विशिष्ट व्यक्तियों का परिचय दिया हुआ है। इस पुस्तक-परिक्रमा से ज्ञात होगा कि इस लंबे-चौड़े ग्रंथ में कवि दरिया के काव्य पर कुल आठ पृष्ठ व्यय किये

गये है, जब कि दर्शन और अध्यात्म पर १६६ पृष्ठ। *दरिया की भाषा का शास्त्रीय विवेचन ४४ पृष्ठों* में प्रस्तुत किया गया है।

अन्य संत कवियों की ही तरह दरिया साहब की जीवन तिथि के विषय में भी मत-भेद की गुंजायश है। शास्त्री जी ने अन्त और वहि साक्ष्यों के आधार पर दरिया की जीवन-तिथि के निर्धारण का प्रयत्न किया है। इस संबंध में उन्होंने बुकानन की शाहाबाद-रिपोर्ट तत्कालीन मुहरों और रचनाओं में प्राप्त *अन्य संकेतों के आधार पर दरिया की जन्म तिथि* सं० १७३१ और मृत्यु-तिथि सं० १८३७ निर्धारित किया है। पुस्तक के आरंभ में लिखा है *कि 'संवत् १७२७ में दलदास ने मूलग्रंथ 'ज्ञानदीपक'* की एक लिपि तैयार की थी, उसी के आधार पर मुद्रित 'ज्ञानदीपक' के आरंभ में साधु चतुरीदास ने दरिया की जो वंशावली दी है, उसके पृष्ठ पर हम ग्यारह पद पाते हैं, जिनसे पता चलता है कि दरिया का जन्म कार्तिक पूर्णिमा सं० १६९१ में हुआ। शास्त्री जी ने इन ग्यारह पदों को प्रक्षिप्त बताया है और कहा है कि ये पद हस्तलिपि में सं० १८३६ के बाद ही जोड़े गये होंगे (पृ० १ पाद टिप्पणी)। इसके बाद वे चतुरीदास से प्राप्त मुहरों का प्रमाण देते हैं, जिनसे दरिया की जन्म-तिथि पर कोई खास प्रकाश नहीं पड़ता। फिर भी शास्त्री जी ने पंथ में प्रचलित और वेलवेडियर प्रेस द्वारा मुद्रित 'दरिया साहब' में दी हुई तिथियों (संवत् १७३१-१८३७) को ठीक *माना है* (पृ० ५)। *किन्तु शास्त्री जी को* शायद ध्यान नहीं रहा कि उन्होंने 'ज्ञानदीपक' के ग्यारह पदों को तो, जिनमें दरिया की जीवन तिथि *आदि का उल्लेख था, प्रक्षिप्त कह दिया,* किन्तु 'ज्ञानदीपक' के विषय में कुछ विचार नहीं कर सके, जिसकी पाण्डुलिपि संवत् १७२७ की यानी दरिया के जन्म के चार वर्ष पहले की बतायी गयी है। प्रस्तुत पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है, अध्यात्म और दर्शन का खंड। लेखक ने इस विषय का अद्यावधि प्राप्त सामग्री और विचारों के गहन अध्ययन के आधार पर बड़ा ही पाण्डित्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। योग और आसनों की प्रक्रिया को चित्रों के आधार पर भली भाँति स्पष्ट किया गया है। उन्होंने दरिया की रचनाओं का गंभीर अध्ययन करके *स्थापित विचारों से अच्छा मेल भी दिखाया है।*

पुस्तक के चौथे खंड में दरिया की भाषा पर विचार किया गया है। प्रस्तुत खंड को जितने समय और श्रम की आवश्यकता थी, संभवतः उतना नहीं दिया गया है। भाषा-शास्त्र के शब्द वैसे ही हिन्दी *में नये-नये बनाये गये है, और शास्त्री जी ने तो* बहु प्रचलित शब्दों के स्थान पर भी नये शब्द रखे हैं जिससे साधारण पाठक के लिए कठिनाई हो सकती है। विकारी रूप (Oblique) के लिए अनृजु, निजवाचक सर्वनाम (Reflex) के लिए प्रतिवर्तक, आदरार्थक (Opative) के लिए इच्छार्थक, संयुक्त काल (Periphrastic) के लिए अर्थप्रकाशक आदि। इस संबंध में शीघ्रता के कारण कुछ स्थापनाएँ ठीक नहीं हुई है, जैसे, पृ० २४७ पर आपु और आपुहि को विभक्ति-हीन कहा गया है और 'आपु में' को विभक्ति संयुक्त। आपुहि की 'हि' विभक्ति नहीं, तो और क्या है ? परसर्ग और विभक्ति में कुछ गड़बड़ी हो गयी है शायद। निबंध का उद्देश्य भी पूरा नहीं हुआ है, क्योंकि लेखक ने दरिया की भाषा को भोजपुरी का प्राचीनतर रूप सिद्ध करने का कोई प्रयास नहीं किया है। आश्चर्य तो यह है कि दरिया का जो साहित्य-संकलन किया गया है, उसे देखने से *लगता है कि यह भाषा मूलतः अवधी है कहीं-कहीं* खड़ी बोली। भोजपुरी के प्रयोग विरल है।

अन्त में, मैं शास्त्री जी को उनके इस कार्य के लिए हार्दिक बधाई देता हूँ, जो उन्हीं जैसे कर्मठ विद्वान् से संभव था। उन्होंने अपने इस शोध-कार्य से निःसंदेह हिन्दी-साहित्य की गौरव वृद्धि की है। इस सिलसिले में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् भी साधुवाद की अधिकारिणी है, जिसने ऐसे गौरव-ग्रंथों का प्रकाशन किया है।

शिवप्रसाद सिंह

() काव्य मीमांसा : लेखक, राजशेखर; अनुवादक, पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत; प्रकाशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्; डिमाई आकार; पृष्ठ-संख्या ३६५; मूल्य ९॥)

यायावरीय कवि राजशेखर मध्यकालीन साहित्यिक व्यक्तित्वों में बेजोड़ है। कादम्बरीकार बाणभट्ट को छोड़ कर इतना रागेटिक और रचनात्मक व्यक्तित्व शायद ही किसी साहित्यकार का दिखाई पड़े। जिस प्रकार कवि-आचार्यों की महती परंपरा में राजशेखर का सर्वथा मौलिक व्यक्तित्व है, उसी प्रकार साहित्य-शास्त्र में उनकी काव्य मीमांसा का। राजशेखर ने स्वयं विश्वास के साथ अपने विषय में एक दैवज्ञ की उक्ति उद्धृत की है, जिसमें कहा गया है, वाल्मीकि जन्मान्तर में भर्तृमेण्ठ हुए, तीसरे जन्म में भवभूति और चौथे में राजशेखर के नाम से अवतरित हुए। यही नहीं, जो लेखक अपनी स्थापनाओं के पक्ष में अपनी पत्नी के शब्दों को प्रमाण रूप में उपस्थित करने का साहस कर सके, उसके व्यक्तित्व की निर्द्वन्द्वता स्वतः प्रमाणित है।

राजशेखर की काव्य मीमांसा का पहला संस्करण ईस्वी सन् १९१६ में 'गायकवाड ओरियंटल सीरीज' में माला के प्रथम पुष्प की तरह श्री चम्मन डी० दलाल और श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ। उस संस्करण के लिए जो दो-तीन पाण्डु-लिपियाँ उपलब्ध थीं, उनका उपयोग किया गया और यही संस्करण अब तक एकमात्र प्रामाणिक संस्करण कहा जाता है।

इस संस्करण के प्रकाशित हो जाने पर, इस पर कई वृत्तियाँ और टीकाएँ भी प्रस्तुत होने लगीं। संस्कृत में 'चौखंभा सीरीज' से मधुसूदन मिश्र की मधुसूदनी टीका प्रकाशित हुई (सन् १९३८)। उसके पहले सन् १९३१ में 'काशी संस्कृत सीरीज' में श्री नारायण शास्त्री खिस्ते ने काव्य-मीमांसा की एक टीका लिखी, जो प्रथम अधिकरण के पाँच अध्यायों तक ही सीमित है। हिन्दी में भी कुछेक टीकाएँ निकलीं। हाल ही में आगरा विश्वविद्यालय के डा० उदयभान सिंह ने काव्य-मीमांसा की एक टीका हिन्दी में प्रकाशित करायी।

प्रस्तुत अनुवाद अपने ढंग का अकेला है। लेखक संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उन्होंने मनोयोग से इस वाङ्मय का अनुशीलन किया है। हिंदी में उनकी अद्भुत गति है। इसलिए अनुवाद के अंदर सर्वत्र मनोरम स्वाभाविकता दिखाई पड़ती है। प्रायः पुराने शास्त्र-ग्रंथों का अनुवाद-कार्य बड़ा कठिन होता है, और अनुवादक की शक्तिहीनता दुरूह प्रसंगों को और भी उलझा देने का कार्य करती है, किंतु प्रस्तुत अनुवाद इन त्रुटियों से सर्वथा रहित है।

ग्रंथ के प्रारंभ में लेखक ने राजशेखर का जीवन-वृत्त, समय, वंश देश और आदर्श आदि विषयों पर अच्छा विचार प्रस्तुत किया है। पश्चात् काव्य-मीमांसा के विषय-क्रम का निर्देश करते हुए, उन्होंने विस्तार से ग्रंथ की मुख्य वस्तु का निदर्शन किया है।

परिशिष्ट में *काव्य-मीमांसा में उद्धृत आचार्यों, कवियों एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों का अकारादि-क्रम से परिचय और समय दिया गया है।* काव्य-मीमांसा के इस अधिकरण के सत्रहवें अध्याय में बहुत-से प्राचीन जनपदों, पर्वतों, नदियों आदि का उल्लेख है। गायकवाड संस्करण में संपादकों ने 'राजशेखर के आधार पर प्राचीन भारत का भूगोल' शीर्षक अंश में तत्कालीन स्थान, नदियों आदि का परिचय दिया है। प्रस्तुत अनुवाद में भी परिशिष्ट २ में इस प्रकार का प्रयत्न हुआ है। विशेषता यह है कि यहाँ वर्तमान स्थिति के साथ प्राचीन स्थानों आदि का सामञ्जस्य भी दिखाया गया है।

संस्कृत के अन्य टीकाकारों की तरह यहाँ भी अनुवादक ने मूल ग्रंथ के पाठ को सुधारने का प्रयत्न किया है। श्री नारायण शास्त्री खिस्ते ने

अपनी टीका की भूमिका में लिखा है, "अर्थानुरोध से मैंने पाठ को कहीं-कहीं परिवर्तित कर दिया है।" उन्होंने उसी प्रसंग में पंडित गुरुप्रसाद व्याकरणाचार्य का नाम लिया है, जो इस तरह के परिवर्तनों के पक्ष में थे। अविवरणों के प्रसंग में "आनुप्रामिक प्राचेतायन" को प्रायः हर टीका में बदल कर "आनुप्रामिकः प्रचेताः" किया गया है। व्याकरण की दृष्टि से यह ठीक भी हो, तो भी बिना किसी आधार के मूल प्रति में इस तरह के संशोधन अनुचित कहे जाएँगे। इन्हें पाद टिप्पणी में ही देना ठीक है। संभव है, ये प्रयोग स्वयं लेखक ने किये हों, फिर ऋषि का नाम लौकिक संस्कृत के व्याकरण से ही क्यों परखा जाए। इस तरह के और भी परिवर्तन हुए हैं, जो अवांछित हैं।

पृष्ठ २४ पर अनुवादक ने लिखा है कि हम काव्यमीमांसा के अठारहवें भाग 'कविरहस्य' का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक समझते हैं। यह भूल से लिखा गया लगता है। 'कविरहस्य' अठारहवाँ भाग नहीं, प्रथम भाग है।

अन्त में शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रस्तुत अनुवाद इतना सुन्दर और विद्वत्तापूर्ण है, कि इसकी एक प्रति हर सुधी पाठक के लिए संग्रहणीय है।

शिवप्रसाद सिंह

हिन्दी-पद्य रचना लेखक, रामनरेश त्रिपाठी, प्रकाशक, हिन्दी मंदिर, प्रयाग, क्राउन आकार, पृष्ठ-संख्या ८०, नया संस्करण, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने हिन्दी छन्दों पर विचार किया है, जो 'नौसिख पद्य-रचयिताओं' के काम की है। अब तो नौसिख पद्य रचयिता इस तरह के पिंगल ज्ञान को कविता का दाप मानने लगा है। निःसंदेह नये कवियों का यह निराधार अभिमान या प्रमाद है, किन्तु यह भी सही है कि नये लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार पद्य-रचना का शास्त्र प्रस्तुत करना चाहिए। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक स्वयं हिंदी के सिद्ध प्रसिद्ध कवि हैं। उन्होंने पद्य-रचना के क्षेत्र में अपने अनुभवों के आधार पर, प्रारंभिक लेखक की कठिनाइयाँ समझते हुए यह पुस्तक तैयार की है। यह पुस्तिका का नवाँ संस्करण है।

शिवप्रसाद सिंह

साहित्य-विवेचन लेखक, प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र, प्रकाशक, अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४; क्राउन आकार, पृष्ठ-संख्या १३३, मूल्य ३॥)

'साहित्य-विवेचन' लेखक के साहित्यिक निबंधों का एक संग्रह है। ये निबंध भिन्न-भिन्न विषयों पर यथावसर लिखे गये हैं और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। इन निबंधों के विषय कई तरह के हैं। आधे से अधिक निबंध शाश्वत समस्याओं पर हैं, जैसे, सुंदर और असुन्दर, साहित्य में सामयिकता, साहित्य का प्रयोजन, लोक-साहित्य आदि। कुछ निबंधों के लिए काफी मौलिक विषय चुने गये हैं, यथा, 'कला के प्रति गांधी जी का दृष्टिकोण', 'गण-साहित्य'। 'आधुनिक कविता और पाठक' तथा 'काव्य का भविष्य' आदि सामयिक समस्याओं पर लिखे निबंध हैं। लगता है कि निबंधों के भिन्न-भिन्न समयों की दृष्टि में रख कर इस पुस्तक में प्रकाशन तिथि का रखना आवश्यक नहीं समझा गया। पाठक यह नहीं जान सकता कि पुस्तक कब छपी, 'दो शब्द' तक में लेखक ने तारीख डालने का कष्ट नहीं किया।

पुस्तक साहित्य के अनुरागी पाठकों के लिए बड़े काम की है।

शिवप्रसाद सिंह

यशोधरा (एक अध्ययन) लेखक, लक्ष्मीनारायण टंडन तथा रामखेलावन चौधरी, प्रकाशक, विद्यामंदिर, रानीकटरा लखनऊ, पृष्ठ संख्या १९४; मूल्य ३॥)

गुप्त जी की काव्य-पुस्तक 'यशोधरा' पर प्रस्तुत पुस्तक साधारण टीका है—टीका की सारी खूबियों-खामियों से पूर्ण। बहुत-कुछ को एक ही जगह समेट लेने और सब कुछ जल्दी ही कह देने की त्वरा, निर्जीव सपाट शैली, उद्धरणों की बहुलता, और असंयत भाषा, ये हो टीका की कुछ खास विशेषताएँ होती है, जो आलोच्य पुस्तक में भी है। 'भाषा-शैली' नामक अध्याय मे ही 'रस' का विवेचन हो गया है। 'यशोधरा' को न तो महाकाव्य माना गया है, न खड-काव्य और न प्रबंध-काव्य ही (पृष्ठ ५,१६,३३,३७ पर, पुनरुक्तियाँ इस विषय पर द्रष्टव्य हैं), 'वह मिश्रित शैली के आधार पर लिखा गया है...उसे हम नाट्य-गीत या मिश्रित काव्य भी कह सकते है।' ठीक है, पर इतनी झिझक और संशय क्यों ? तर्क से स्पष्ट करना उचित था।

भाषागत दुर्बलताएँ अनेक है, जैसे, 'यशोधरा जैसी सुन्दरी के साथ गौतम का विवाह कर दिया था, जिसके रूप, यौवन और सुख के समुद्र में डूब कर राजकुमारी की उदासीनता धुल जाए' (पृष्ठ ६; धुलने के लिए समुद्र ?), 'नारी की महानता और महत्ता के गुप्त जी अनन्य भक्त हैं' (पृष्ठ ३१), 'युग-युग से मिलती हुई नारी', 'अत कर्तव्य-परायणता और धार्मिकता से ओतप्रोत गुप्त जी की नारी होती हैं' (पृष्ठ ३१), 'प्रेमचन्द जी के समस्त उपन्यास और नाटक इस दिशा' (पृष्ठ ६५)। 'ऋग, यजु और साम—गौतम के समय में केवल यही तीन वेद थे, अथर्ववेद बाद मे लिखा गया।' जैसी बाते भी है।

प्रश्न यह होता है कि ऐसी टीकाओं पर आलोचना, समालोचना, समीक्षा, सम्मति आदि लिखना-लिखाना क्या समीचीन है ?

शिवनन्दन

() तुलसी रसायन : लेखक, डा० भगीरथ मिश्र, प्रकाशक, साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद पृष्ठ-संख्या १९८+७, मूल्य २॥)

जीवनी-खड (पृष्ठ १ से ४०), रचना-खंड (पृष्ठ ४३ से ६१), आलोचना-खड (पृष्ठ ६५ से १२६) और संग्रह-खड (पृ० १२९ से १९८) नाम से चार खडों में विभक्त 'तुलसी-रसायन' में विद्वान् लेखक ने तुलसीदास के जीवन और उनकी रचनाओं पर 'कुछ निश्चित बाते कहने का प्रयत्न किया है तथा सबसे बड़ी बात यह कि 'समकालीन परिस्थिति के प्रकाश में गोस्वामी जी के महत्त्व को देखने का प्रयास किया है।'

जीवनी-खड मे लेखक ने 'तुलसीदास युग' शीर्षक प्रथम अध्याय में उन सारी राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक समकालीन परिस्थितियों का प्रामाणिक विवेचन संक्षेप में उपस्थित किया है, जिन्होंने गोस्वामी जी की प्रतिभा को प्रखर बनाया और एक जागरूकता दी। इस अध्याय मे लेखक ने जो 'निश्चित बाते' कही हैं, वे हैं—'अपने युग की इस प्रकार की (वर्णाश्रम-धर्म की हीनता वाली) सामाजिक स्थिति से क्षुब्ध हो कर तुलसी ने राम के परिवार के आदर्श तथा राम-राज्य की सामाजिक स्थिति को सामने रखना चाहा था...' तथा 'तुलसीदास ने अपने युग के प्रमुख प्रश्न का, कि क्या दशरथ के पुत्र राम ही परब्रह्म है ? जिसका उत्तर कबीर आदि ने निषेधात्मक दिया था, विश्लेषण करके, युग युग-व्यापी सामाजिक मर्यादा और आस्था को ध्यान में रखते हुए, उसके वास्तविक हित के अनुकूल उत्तर दिया है।' 'जीवनी और व्यक्तित्व' अध्याय में सारी सामग्रियों का परिचय दे कर (न कि खडन कर) लेखक ने जो 'निश्चित बाते' कही हैं, वे है—'अत निष्कर्ष यही निकलता है कि जन्म-भूमि न तो राजापुर ही है और न सोरो ही, वरन् सोरो या सूकर-क्षेत्र के पास कोई स्थान (?) गोस्वामी जी की जन्म भूमि हो सकती है, जहाँ वे (?) उत्पन्न हुए।' ('जहाँ वे उत्पन्न हुए' का अभिप्राय, 'जन्मभूमि' के बाद, ढूंढिए।) तथा वैसे ही कुछ निष्कर्ष जन्म-तिथि और मृत्यु-तिथि के है, जो १५५४ सावन शुक्ला ७ और १६८० सावन कृष्ण ३, क्रमश मान्य बतलायी गयी हैं।

है, तो दूसरी ओर लहराती, बलखाती जन-चेतना। चौधरी रणधीर सिंह अपने पुत्र के देश-प्रेम और मंत्रीत्व के कारण बदल गये हैं और घोषणा कर दी है, "पुरखाओं का खुमार आँखों से निकल गया। दुनिया की करवटें बदलते हमने अपनी आँखों से देखा है, और वह न रुक सकी। हमें भी अपनी राहें बदलनी होंगी। यदि हम न बदलेंगे तो समय स्वयं उन्हें बदल देगा।" शील-कुमारी एम०ए० हो गयी है और मजदूर-संघ स्थापित करती, पंचायत-राज्य की कल्पना सार्थक बनाती है। विजय कुमार से उसे प्रेम है।

उधर लाला छगनमगन का पुत्र शहर आ कर सेठ मुन्नूलाला नाम से विख्यात व्यवसायी हो जाता है। गाँव की बदलती सामाजिक चेतना और आर्थिक व्यवस्था से चिढ़ कर पटवारी सेठ मुन्नूलाला, दारोगा आदि से मिल कर कुचक्र रचता है और शीलकुमारी से संघर्ष करता है। संघर्ष में जीत शीलकुमारी की होती है, क्योंकि कर्तव्य-परायण विजय उसके पक्ष में है और गाँव का स्वामी चौधरी भी उसके साथ है।

यहाँ तक तो राह स्वाभाविक विकास के रूप में बदली। चौधरी ने भी साथ दिया। पर जब विजय और शीलकुमारी के विवाह का प्रश्न आया तो चौधरी का दिल जैसे टूट गया। राह बदल न सकीं, अलग हो गयीं। चौधरी आशीर्वाद दे कर गाँव से लुप्त हो गये। जमाने का तकाजा भी निभाया और अपनी आन और धर्म भी। 'बदलती राहें' की मूल समस्या सम्भवतः यही वैवाहिक सम्बन्ध की समस्या है और तब इसका जैसा चित्रण हुआ है, वह अन्य समस्याओं के समकक्ष कुछ हल्की और गौण-सी हो उठी है।

चौधरी रणधीर सिंह की रेखाएँ सबल और पुष्ट हैं; निखरा व्यक्तित्व है, अच्छा उभर भी सका है। बेटे के मंत्री बन जाने पर उसके यहाँ लपक चलने की त्वरा और कृत्रिम चित्रण के अलावा कहीं दुर्बलता नहीं। शीलकुमारी की सम्भवतः कुण्ठाग्रस्त झुंझलाहट, रोष और मुसरना को कुछ समय दिया जाता, तो वह और भी संवेदना पा सकती। पटवारी, मुन्नूलाला, दारोगा जो तो हमलोगों के जाने-पहचाने पात्र हैं—गोदान के खल-पात्रों से एक कदम नीचे ही हैं, यद्यपि उचित तो यह था कि इस दृष्टि से भी गोदान की परम्परा आगे बढ़ती। चरित्र की पकड़ लेखक की अच्छी है, समस्या के निदान का सुझाव भी सुलझा हुआ है, पर न तो व्यक्ति ही आज का इतना सुलझा हुआ है, न राहें ही ऐसी पृथक्-पृथक् है, जैसी इस उपन्यास में।

भाषा में सरलता है, पर कुछ प्रांतीय त्रुटियों के साथ जैसे 'उन्होंने अपने कंधों पर सभाली हुई थी' (पृष्ठ ४०), 'चौधरी साहब उठ कर बैठे हो गये' (पृष्ठ २६), 'उन्होंने बंद किए हुए हैं', आदि।

शिवनन्दन प्रसाद

आग और पानी : लेखक, श्री रघुवीरशरण 'मित्र'; प्रकाशक, भारतीय साहित्य प्रकाशन मेरठ, पृष्ठ-संख्या २०८, मूल्य ७)

'आग और पानी' का चरित-नायक इतिहास-प्रसिद्ध युग निर्माता चाणक्य है। इसके चरित्र को आधार बना कर तथा इतिहास के सत्य और कल्पना के माध्यम से यह उपन्यास प्रस्तुत हुआ है। चाणक्य के समय का भारतवर्ष, उसकी राजनीति, चाणक्य के व्यक्तिगत उद्देश्यों और मान्यताओं का इसमें बहुत सरल और सुबोध ढंग से वर्णन है—यह सब है और बहुत अच्छे रूप में है, पर यह उपन्यास कम बन सका है, क्योंकि इसमें ऐतिहासिक उपन्यास की आत्मा नहीं उतर सकी है। लेखक की भाषा-शैली में बल है, पर इस बल का कलात्मक उपयोग नहीं हो सका है—वह उपयोग जो इतिहास के सच्चे वातावरण को उपन्यास के अंतरंग वर्णों में खींच दे। फिर भी इस रूप में उपन्यासकार बधाई के पात्र अवश्य हैं कि चाणक्य के आधार से उसने हिंदी साहित्य को एक औपन्यासिक कृति दी है।

लक्ष्मी नारायणलाल

सांस्कृतिक टिप्पणियाँ

आरा के चित्र

किसी साधारण व्यक्ति की सूर्यमुखी फूल पर जब दृष्टि पड़ती है, तो वह उसकी सुन्दरता, रंग और प्रकृति के चमत्कार को देख कर चकित रह जाता है। किन्तु एक कलाकार सूर्यमुखी फूल में इससे कुछ अधिक देखता है। उस फूल के साथ उसे भूले क्षणों का सुख और, या, बीते क्षणों का दुःख, उसका रूप, रंग, गंध तथा वातावरण सभी दीखते हैं। अन्तर केवल देखने में है।

आरा के चित्रों को देखने जो दर्शक गया, वह रंगों और फूलों की भरमार देख कर चकित रह गया। वहाँ भिन्न-भिन्न रंगों की योजना से बने अनेक प्रकार के फूल हैं, जो अत्यन्त आकर्षक ढंग से सजाये गये हैं जिस पर एक सुगृहिणी भी गर्व कर सकती है। स्वभावतः कुछ दर्शक, बल्कि कुछ कला-समालोचक भी यह सब देख कर कविता करने लगते हैं।

क्या सुन्दरता है! क्या शोभा है! प्रकृति का वास्तविक प्रतिबिम्बन है!

वास्तव में आरा ने यह सब तो कर दिखाया है, किन्तु एक आलोचक की दृष्टि से देखने पर उनके कैनवास कुछ भिन्न कथा कहते प्रतीत होते हैं। उनके फूल केवल फूल ही हैं और फूल ही रहेंगे। अभी वह गंध की अनुभूति की सीमा तक नहीं पहुँच सके हैं, यहाँ तक कि उसकी कल्पना से भी दूर हैं। आरा के चित्रों की सुन्दरता उनकी सजावट है। यदि कला का अर्थ केवल नेत्र-सुख ही है तो यह कहा जा सकता है कि इससे पूर्व आरा की कला इतनी सुन्दर नहीं थी जितनी कि इस बार प्रदर्शित चित्रों में है।

आरा फूलों से मानव-आकृति की ओर अग्रसर हुए, किन्तु यह सब अधिकतर उस कला के विद्यार्थी द्वारा बनाये संस्मरण प्रतीत होते हैं जो कि परसियन ढंग का अनुकरण कर रहा हो। आरा समवतः

अपने पूर्व प्रयत्नो को सुधारने में सफल हुए हो, किन्तु अभी इस काया-पलट को पूर्ण नही कहा जा सकता । वे अभी दो विचारो की कशमकश में हैं—एक तो फूलो का सौन्दर्य, दूसरा मानव-आकृति का भद्दापन ।

तब भी उनके 'Still life' चित्रो में एक तीव्र आवेक्षण-शक्ति की झलक स्पष्ट दीखती है, आरा की दृष्टि फूल को देखती है या फूलदान की सजावट को, यह एक प्रश्न है। वानगाग और मैटिसी के पद-चिह्नो पर चलने वाले बहुत है, किन्तु उनके प्रकटन की शक्ति कम है। यह सत्य है कि चित्रकार के लिए कोई निश्चित नियम नही होते, फिर भी वह एक सदेश अवश्य देता है—प्रत्यक्ष से अधिक सोचने के लिए। सभवत फूल की सुन्दरता का रहस्य स्वप्न-जाल के कोमल तन्तुओ में है। वानगाग के अनुसार "जब मुझे अपने चित्रणीय विषय की अनुभूति हो जाती है और मै उसे जानना चाहता हूँ तो मै इस बात का पूर्ण प्रयास करता हूँ कि उसमें बिना कुछ बढाए ज्यो का त्यो रख सकूँ । क्योकि अन्यथा होने से स्वप्निल प्रकृति नष्ट हो जाती है ।"

आज के जगत में फूलो की सुन्दरता रगीन फिल्मो द्वारा प्राप्त की जा सकती है। भिन्न-भिन्न रगो के तथा अनेक प्रकार से विकसित पुष्पो को यंत्रो द्वारा चित्रित किया जा सकता है। कलाकार इससे आगे बढता है, उसके भाव को पाने के लिए, उसमे निकलती हुई कविता के लिए, और सर्वोपरि उसकी आत्मा तक पहुँचने के लिए । यहाँ हम आरा को एक कलाकार से अधिक चित्रकार ही पाते है ।

आरा ने जलीयरग, तैल तथा टेम्परा के लगभग १४४ चित्र प्रदर्शित किये है। उनमें से बहुत-से तो रूपान्तर मात्र ही है। कोई नया निर्माण नही है। किन्तु कुछ चित्र ऐसे है, जिनमें से आरा के व्यक्तित्व की एक झलक मिलती है, विशेषतः गहरे और गभीर रगो के बर्तनो मे जो कि चित्रकार की व्यथित भावना का द्योतन करते हैं। यह सब पहले का-सा ही है। इससे आरा मौलिक निर्माण-कर्त्ताओ में नही आते ।.

'प्राकृतिक दृश्यो' को अभी प्रयोगावस्था में ही रखा जा सकता है. जिनमें रंगो के आधिक्य पर थोडा नियन्त्रण दिखाई देता है। आरा का पीले और काले मूल रगो को मिलाने का प्रयोग प्रभावशाली है, किन्तु वस्तुत इसे एक चमत्कारिक प्रदर्शन ही कहा जा सकता है ।

आरा मानव-आकृतियो के क्षेत्र की ओर भी मुडे है, यह अच्छा ही है; किन्तु यह सिर्फ भटकना ही है, क्योकि उनकी परख परिपक्व नही हो पायी है। मानव-आकृति के मूल तक वे नही पहुँच पाये । जैसा कि फूलो के साथ था, वैसा ही आकृतियो में भी प्रतीत होता है ।

आरा एक समर्थ कार्यकर्त्ता तथा कुशल और मेहनती कलाकार है, जो पुरानी लीक से अलग जाना चाहते है । किन्तु जब तक वे अपनी सीमा के बाहर नही आते, तब तक आगे नही बढ सकते। हमें आरा के अपने 'स्वय' से ऊपर उठने की प्रतीक्षा करनी चाहिए ।

—एस्पर

प्रकाशक—मधुसूदन चतुर्वेदी एम. ए, ८३१, बेगमबाजार, हैदराबाद-दक्षिण
मुद्रक—कमर्शियल प्रिंटिंग प्रेस, हैदराबाद-दक्षिण

कल्पना

फरवरी, १९५५

निवेदन

१. प्राय 'कल्पना' के पाठको के इस आशय के पत्र आते रहते हैं कि उनके नगर के पत्र-विक्रेताओं के पास या उनके पास के रेल्वे स्टाल मे उन्हे 'कल्पना' नही मिलती। ऐसे पाठको से हमारा निवेदन है कि कई कारणों से देश के नगर-नगर में पत्र-विक्रेताओं के माध्यम से पाठकों तक 'कल्पना' पहुँचाना संभव नही है। अतः उन्हें १२) वार्षिक शुल्क भेज कर ग्राहक बन जाना चाहिए।

२. ग्राहको की ओर से प्राय हमें यह शिकायत सुननी पड़ती है कि 'कल्पना' उन्हे नही मिलती। कार्यालय से 'कल्पना' भेजते समय एक-एक ग्राहक की प्रति दो बार जाँच कर भेजी जाती है, ताकि किसी की प्रति रह न जाए। फिर भी कुछ लोगों की पत्रिका न मिलने की शिकायत बनी ही रहती है। इसलिए इस वर्ष, जनवरी १९५५ से पोस्टल सर्टीफिकेट के अन्तर्गत 'कल्पना' भेजने का प्रबंध किया गया है। इस प्रकार हम अपनी ओर से हर संभव उपाय द्वारा यह प्रबंध कर देना चाहते हैं कि यहाँ से पत्रिका रवाना करने में किसी प्रकार की चूक न हो।

३. सार्वजनिक पुस्तकालयों, शिक्षण-संस्थाओं, तथा विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों की ओर से वर्ष के अंत में प्रायः इस आशय के पत्र आते हैं कि उन्हें इस वर्ष अमुक अंक प्राप्त नही हुए। फाइलें पूरी करने के लिए ये अंक भेजिए। उपर्युक्त संस्थाओं के अधिकारियों से निवेदन है कि वे हमें ऐसे धर्म-संकट में न डालें। जब कोई अंक प्राप्त न हो, तो अपने डाकघर से पूछिए और उनके लिखित उत्तर के साथ दूसरे महीने में ही अंक प्राप्त न होने की सूचना हमें भेजिए। अन्यथा दुबारा अंक भेज सकने में हम असमर्थ होंगे।

कल्पना

वर्ष ६ फ़रवरी
अंक २ १९५५

सम्पादक-मण्डल
डॉ० आर्येन्द्र शर्मा
(प्रधान संपादक)
मधुसूदन चतुर्वेदी
बद्रीविशाल पित्ती
मुनीन्द्र

कला-सम्पादक
जगदीश मित्तल

वार्षिक मूल्य १२)
एक प्रति १)

८३१, बेगमबाज़ार
हैदराबाद-दक्षिण

इस अंक में

निबंध

भारतीय संस्कृति : वैदिक धारा का ह्रास (२) ५ डा० मंगलदेव शास्त्री
हिंदी रामायण का आदिकवि चउमुह सयम् ११ डा० हेमचन्द्र जोशी
संगीत-कला और हिंदी का गीति-काव्य ४३ अम्बा प्रसाद 'सुमन'
तमिल साहित्य : एक परिचय ५५ कुमारी आनन्दवल्ली परमेश्वरन्

कहानी

बेहया १५ डा. दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी
बालमी २८ रामकुमार
पगला पूत ४८ केशवगोपाल निगम
प्रलय से दो पल पूर्व ६५ श्रीमन्त

कविता

तीन कविताएँ १३ नरेश मेहता
दो कविताएँ २७ त्रिलोचन
तीन कविताएँ ४१ सिद्धनाथकुमार
अपने ही गीतों के प्रति ५४ रामावतार चेतन

स्तंभ

सम्पादकीय १
समालोचना तथा पुस्तक-परिचय ७१
साहित्य-धारा ७९

आगामी अंकों में

निबंध

चन्द्रबली पांडेय : अभिज्ञान शाकुन्तल में दृष्टि का महत्त्व

'कुमार' : तुम सबको प्रसन्न नहीं कर सकते

दामोदर झा : कवि पुश्किन तथा शांति-काव्य

व्रजभूषण पांडेय : हमारे जीवन में दर्शन की क्या उपयोगिता है ?

ईश्वर बराल : नेपाल की कुछ विशेषताएँ

कन्हैयालाल सहल : प्रज्ञासूत्र और कहावत

विनयमोहन शर्मा : हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथ

हजारीप्रसाद द्विवेदी : मधुराचार्य और उनका सुन्दर मणिसंदर्भ

कहानी

कमल जोशी : गुलाम, गुलाम, सब ही सब गुलाम

उषा : खंडहर

'उदय सूर्य' : अपराधी

सुधीरकुमार : इला

जगदीशचन्द्र माथुर : शारदीया (नाटक)

कविता

सुमित्रानन्दन पन्त : जन्म दिवस

केदारनाथ सिंह : शरद् प्रात

अनन्तकुमार 'पाषाण' : टुंड्रा

गिरिजाकुमार माथुर : सूरज का पहिया

शकुन्त माथुर : पूरा बरस बीत गया

भारतभूषण अग्रवाल : चलते रहो

कीर्ति चौधरी : १ सृजनशील टेक, २. परिस्थितियाँ ३ लता, ४. खाली मन

नर्मदेश्वर उपाध्याय : छू दो मन के तार

सुरेश अवस्थी : कवि धर्म

रमा सिंह : अनुरक्ता

पाठकों के पत्र

(१)

'कल्पना' में प्रकाशित रचनाओं के विषय में पाठकों की जो राय होती है, उसे प्रायः प्रकाशित किया जाता है। हम यह मानते हैं कि पाठक की राय लेखक के पास पहुँचाना आवश्यक है। उसमें जो ग्राह्य है, वह उसे स्वीकार करे। ऐसा न समझा जाए कि पाठकों की वह राय ही प्रकाशित की जाती है, जिससे सम्पादक-मंडल सहमत हो।

—संपादक

(२)

राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ . अक्तूबर महीने की 'कल्पना' का सम्पादकीय कुछ निराला लगा। सपादक ने बड़े ही जरूरी और सामयिक प्रश्न का प्रस्ताव रखा है। पंडितवर डा० हीरालाल जैन ने कुछ दिन पहले 'सारथी' में भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों की चर्चा की थी। तेलुगु और उर्दू के निवास हैदराबाद से निकलती 'कल्पना' जैसी पत्रिका की आवाज़ पर उत्तर भारत के प्रकाण्ड पंडितों को ध्यान देना चाहिए, क्योंकि भाषा-संबंधी ये बातें बड़े महत्त्व की हैं। उत्तर भारत के अधिकतर लोग ये कठिनाइयाँ भले ही अनुभव न करते होंगे क्योंकि हिंदी उनकी मातृभाषा ठहरी, कम-से-कम कहलाती वैसी ही हैं। उनमें भी बहुत-से लोग शब्दों का विचित्र प्रयोग करके पाठकों को—विशेषतः दक्षिण के विद्यार्थी बंधुओं को—गड़बड़ में डालते हैं।

दक्षिण भारत की दो मुख्य भाषाओं—मलयालम तथा तमिल—के ज्ञाता एवं उन्हीं में दैनिक व्यवहार करने वाले लोगों को हिंदी में जो विचित्रता तथा असंगति दिखाई पड़ती है, जो कठिनाइयाँ आती हैं उन्हें भी देख लेना अत्यंत आवश्यक है। सिर्फ थोड़ी-सी बातें यहाँ देने की चेष्टा कर रहा हूँ।

संपादक ने हिंदी-भाषियों को संदेह के झूले में झुलाने वाले कुछ शब्द बतलाये हैं : धर्म, धर्म्म, कर्म,

श्री मध्य-भारत हिंदी साहित्य-समिति, इन्दौर की

मासिक मुख-पत्रिका

वीणा

वार्षिक मूल्य ५) एक प्रति ॥) आने

जो पिछले २५ वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित हो कर हिंदी साहित्य की अपूर्व सेवा कर रही है। भारत के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इसका उच्च स्थान है।

साहित्य के विभिन्न अंगों पर तथ्यपूर्ण एवम् गंभीर, प्रकाश डालने वाले लेख तथा परीक्षार्थियोंगी विषयों पर आलोचनात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित करना इसकी प्रमुख विशेषता है।

हिंदी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा, मध्यमा एवम् उत्तमा (रत्न) तथा बी० ए० और एम० ए० के छात्रों के लिए इसके निबंध अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

"वीणा" का भारत में सर्वत्र प्रचार है!

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए

जीवन-संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

(९४, बेयर्ड रोड, नयी दिल्ली)

१. आगामी परीक्षाएं, २ नव-युवकों और नव-युवतियों को मिल सकनेवाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ, ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख, ४ कहानी-कविता, ५ ज्ञान-विज्ञान, ६ देश-विदेश के समाचार, ७. खेल और सिनेमा।

... हीं ग्राहक बनिए

चन्दा—वार्षिक ७) ६ माही ४) एक प्रति ।॥)

नमूने की प्रति के लिए १२ आने के ... टिकट भेजें

वर्म्म, आदि। ये शब्द दक्षिण के द्रविड-भाषा-भाषी लोगों को और भी भ्रामक मालूम पड़ते हैं। मलयालम तथा तमिल में संवृत स्वर के लिए क्रमशः "ꣻ" और '' चिह्न हैं। ये स्वर-चिह्न जहाँ नहीं हैं और जहाँ संयुक्त व्यंजन भी नहीं रहते, वहाँ स्वरों का विवृत उच्चारण जरूर होता है। तमिल में संयुक्त व्यञ्जन नहीं के बराबर है। संवृत-चिह्न या हल् चिह्न ही अधिक मिलता है। संस्कृत शब्दों के लिए "इमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्", "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" आदि सूत्रों से विहित नियम हैं, तो भी व्यावहारिक प्रगति से ये नियम बहुधा पाले नहीं जाते। मलयालम में संस्कृत के ज्ञाता 'धर्म' लिखते हैं तो न जानने वाले 'धर्म्म' लिखते हैं। दोनों स्वीकृत हो चुके हैं। पुनश्च।

हिंदी में जो संवृत अकार है वह उसके साथ जुड़े हुए व्यञ्जन को जरा जोर देता है। वर्ग प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के उच्चारण पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट होगा। 'गमछा' में 'छ' है तो 'अच्छा' में "च्छ"। उच्चारण की मात्राओं का रिकार्ड कर लें तो बड़ा फर्क नहीं होगा। यों 'अगला' और "जग्गू" में बड़ा अंतर नहीं होता क्योंकि संवृत उच्चारण का अर्थ यही सूचित करता है। अभ्यस्त सज्जन दोनों का फर्क शायद समझ सकते हैं। पर अहिंदी प्रांत का विद्यार्थी कैसे समझेगा इन दोनों को, यह प्रश्न उठता है। "अच्छा" के प्रभाव से 'कुच्छ' लिखने वाले सैकड़ों हैं।

अरबी, तुर्की और फारसी के हजारों शब्द हिंदी में हैं। इसलिए कई हिंदी शब्दों के नीचे कुछ बिंदियाँ डाला करते हैं। जिनका उच्चारण दक्षिणी भाषा में नहीं है, उनका उच्चारण सूचित करने के लिए कुछ नवीन लिपियों की रचना अत्यावश्यक है, क्योंकि हिंदी राजभाषा बन चुकी है तथा राजभाषा की लिपि में सभी बातें प्रकट करने की

योग्यता चाहिए। परन्तु साथ ही हमें याद रखना है कि जटिलताओं से यथासंभव दूर रहना हमारा कर्तव्य है। उर्दू के ज्वाद और ज़ोय—सीन और से, डे और डाल—आदि का अन्तर सूचित करने के लिए बिंदियाँ डालने का क्रम जारी रखने से परेशानी होती है। मल्यालम में 'न' का उच्चारण दो प्रकार का है। प्रसंग के अनुसार हम उच्चारण करते हैं। अंग्रेज़ी में 'BUT' का उच्चारण अलग है तो 'PUT' का अलग। वहाँ कोई बिंदी नहीं। हमें नागरी को यथासंभव सरल बना देना है। शब्दों के उच्चारण के संबंध में कोशग्रंथों में सूचना देने और पढ़ाते समय ध्यान देने से काम चलेगा। और एक बात भी है न? भाषान्तर के शब्दों का उच्चारण मूलभाषा के उच्चारण से भिन्न होता है। उदाहरणार्थ, हम अंग्रेज़ी में De Luxe का उच्चारण 'डी लक्स' करते हैं। फ्रांस में रहे हुए एक बुज़ुर्ग कहते हैं कि वह तो 'डी लू' है। पर क्या वे बुज़ुर्ग सभी हिंदुस्तानी अंग्रेज़ी-भाषियों का उच्चारण बदल सकेंगे? नागरी लिपियों की संख्या वैसे भी ५० से ज्यादा है। उसमें और भी पेचीदगी ला कर भाषा की कठिनाई बढ़ाना राजभाषा के लिए हानिकारक ही जँचता है।

तीसरा गोरखधंधा तत्सम शब्दों का है। संस्कृत के तत्सम शब्द सभी भारतीय भाषाओं में भरे पड़े हैं। भाषा के अनुसार उन शब्दों का अर्थ थोड़ा-बहुत बढ़ता-बदलता जाता है। कुछ शब्द उदाहरणार्थ लेंगे—उद्योग, प्रसंग, साहस, आशा।

उद्योग : इस शब्द का संस्कृत शब्दार्थ प्रयत्न है, जैसे—"उद्योगिन पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः", यह शब्द हिंदी में कारोबार या माल की तैयारी के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। दक्षिण की भाषाओं में 'नौकरी' के अर्थ में यह शब्द आता है। मलयालम, तमिल और तेलुगू में यही अर्थ है।

प्रसंग : संस्कृत के इस शब्द के कई अर्थों में 'बहस का विषय' अर्थ भी दिया गया है। हिंदी में प्रसंग शब्द का अर्थ प्रस्ताव है। लेकिन मलयालम, तमिल और तेलुगू में 'प्रसंग' शब्द का अर्थ व्याख्यान है। 'प्रस्ताव' के अर्थ में मलयालम 'प्रसक्ति' शब्द चलता है।

साहस : हिंदी में इसका अर्थ वीरता या सामर्थ्य लिया जाता है। पर मलयालम, तमिल और तेलुगु में "असाध्य व भीषण कर्म" के अर्थ में यह प्रयुक्त होता है।

आशा : संस्कृत में इसके कई अर्थ हैं—अभिलाषा, झूठी आशा, आदि। मलयालम और तमिल में ये सब अर्थ हैं। हिंदी में केवल 'उम्मीद' ही मतलब है।

कहीं-कहीं दक्षिणी भाषाओं के अर्थ का विपरीत अर्थ हिंदी में लिया जाता है। बंगला शब्द 'सम्भ्रांत' हिंदी में 'शिष्ट' अर्थ का होता है। यदि दक्षिणी भाषाओं में प्रचलित अर्थ भी हिंदी के इन तत्सम शब्दों के लिए स्वीकार करें तो हिंदी की भाव-व्यंजकता बहुत बढ़ेगी। हिंदी की उन्नति भी होगी।

ऊपर जो कठिनाइयाँ दिखायी गयी हैं—उन्हें दूर करने के उपाय भी हैं। हम सुनते हैं कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा एक बड़ा कोष तैयार कर रही है। भारत सरकार ने अपनी अलग शिक्षा-समिति बनायी है। ये सब आपस में सलाह कर दक्षिण के हिंदी विद्वानों से अनुशीलन कराने के बाद इस दिशा में कोई कार्य करें। विद्वानों के सम्मेलन से जो निर्णय स्वीकृत हों उनके अनुसार नये शब्द और नियम राजभाषा में चालू किये जाएँ। उन शब्दों की घोषणा हिंदी की प्रमुख संस्थाओं से हो। शायद यह प्रस्ताव जटिल-सा लगेगा। परन्तु यह आवश्यक है, संभव भी। इसके बिना हिंदी का शब्दकोष अधूरा रहेगा।

एन० ई० विश्वनाथय्यर, त्रिवेन्द्रम

सम्पादकीय

हिन्दी व्याकरण की कुछ समस्याएँ (३)

१ 'कल्पना' के पिछले अंक में हमने यह प्रतिपादित किया था कि हिन्दी में कारक का अर्थ संज्ञाओं के विभिन्न रूप, और फलत विकारी तथा अविकारी दो ही भेद मानना उचित है। इसी समस्या से सबधित एक और झमेला कर्त्ता तथा उद्देश्य का भी है। कर्त्ता का लक्षण श्री कामताप्रसाद गुरु के अनुसार इस प्रकार है—"क्रिया से जिस वस्तु के विषय में विधान किया जाता है, उसे सूचित करने वाली सज्ञा के रूप को कर्त्ता-कारक कहते है" (अक ३०५–१)। गुरु जी के अनुसार इस लक्षण मे "कर्मवाच्य में, कर्म का जो मुख्य रूप होता है, उसका भी समावेश है।" साथ ही गुरु जी ने कर्म का लक्षण यह किया है—"जिस वस्तु पर क्रिया के व्यापार का फल पडता है उसे सूचित करने वाले सज्ञा के रूप को कर्म-कारक कहते है" (अक ३०५–२)। कर्त्ता कारक का एक उदाहरण गुरु जी ने **चिट्ठी भेजी जाएगी** यह दिया है। इस वाक्य में भेजना क्रिया के व्यापार का फल चिट्ठी पर पड़ता है या नही ? और इसे कर्म कहा जाए या कर्त्ता ? और यदि केवल सज्ञा के रूप की ही बात है, तो **लडका चिट्ठी पढ़ता है** और **चिट्ठी भेजी जाएगी** दोनो वाक्यों मे चिट्ठी एक ही कारक होना चाहिए। आगे चलकर (अक ५१८) गुरु जी ने सप्रत्यय कर्मकारक और अप्रत्यय कर्म-कारक का भेद किस आधार पर किया है, यह समझ में नहीं आता, क्योंकि अप्रत्यय कर्मकारक में क्रिया के व्यापार का फल सज्ञा के रूप से किसी प्रकार सूचित नहीं होता—केवल वाक्य के अर्थ से अथवा सदर्भ मे सूचित होता है। गुरु जी ने उद्देश्य का लक्षण भी लगभग वही किया है जो कर्त्ता का। उनके अनुसार, "जिस वस्तु के विषय में कुछ कहा जाता है, उसे सूचित करने वाले शब्दो को उद्देश्य कहते है (अक ६७८–अ)। कहा जाना और विधान करना एक ही बात है। कर्त्ता और उद्देश्य को इस प्रकार एक दूसरे मे उलझा देने का ही यह परिणाम हुआ है कि गुरु जी ने अपने व्याकरण के अक ३०५ (१) में तो चिट्ठी भेजी

जाएगी, इस वाक्य के चिट्ठी शब्द को कर्ता कारक माना है और अब ६८२ (३) में चिट्ठी लिखी जाएगी, इस वाक्य के चिट्ठी शब्द को अप्रत्यय कर्मकारक माना है। इस अव्यवस्था का समाधान यह है कि जिस वस्तु के विषय में कुछ विधान किया जाता है या कहा जाता है, उसे सूचित करने वाले शब्द को उद्देश्य माना जाए और कार्य के करने वाले को कर्त्ता कहा जाए। वस्तुत, जैसा हम अभी स्पष्ट कर चुके हैं, कर्ता को एक कारक मानना न केवल अनावश्यक है अपितु भ्रामक भी है। कर्ता और उद्देश्य के पारस्परिक भेद स्पष्ट न होने का कारण संभवतः यह है कि अंग्रेज़ी में दोनों के लिए Subject शब्द का प्रयोग होता है, और हमारे अनेक वैयाकरणों ने अंग्रेज़ी के ही आधार पर इन दोनों की प्रकृति समझने का प्रयत्न किया है। किन्तु अंग्रेज़ी में Subject दो तरह का माना जाता है—Grammatical subject और Logical subject। Grammatical subject उद्देश्य है और Logical subject, जिसे अंग्रेज़ी वाले Doer भी कहते हैं कर्ता है। चिट्ठी भेजी जाएगी जैसे वाक्यों में चिट्ठी उद्देश्य है, कर्ता नहीं। उद्देश्य कर्ता भी हो सकता है और कर्म भी। कर्तृ वाच्य क्रिया में कर्ता उद्देश्य होता है और कर्म-वाच्य क्रिया में कर्म—लड़का गया, लड़का भेजा गया, लड़के ने किताब पढ़ी, लड़के को नौकर रखा गया। किन्तु कर्ता और कर्म के अतिरिक्त अन्य संबंध सूचित करने वाले शब्द उद्देश्य नहीं होते। गुरु जी का यह कहना कि लड़के से चला नहीं जाता में उद्देश्य (लड़के से) करण कारक में है और आपको ऐसा न कहना चाहिए था में उद्देश्य (आपको) संप्रदान कारक में है, (अंक ६८२–५–६) उचित नहीं है। इन दोनों वाक्यों में भी लड़का और आपको कर्ता हो हैं केवल विभक्तियों का भेद है।

२ उपलब्ध हिन्दी-व्याकरणों में एकवचन से बहुवचन बनाने के नियम अनावश्यक रूप से जटिल बना दिये गये हैं। इनके अनुसार—

(अ) पुल्लिंग आकारान्त संज्ञाओं का बहुवचन –आ के स्थान पर –ए लगाने से बनता है (लड़का-लड़के)। किन्तु तद्भव को आकारान्त संज्ञाओं (राजा, आत्मा, पिता, स्वाता आदि) में, संबंधवाचक, उपनाम-वाचक, और प्रतिष्ठावाचक आकारान्त संज्ञाओं (काका, नाना, दादा; राना, पंडा; सूरमा आदि) में तथा कुछ अन्य संज्ञाओं (मुखिया, अगुआ आदि) में यह परिवर्तन नहीं होता।

(आ) अन्य पुल्लिंग संज्ञाएँ बहुवचन में अविकृत रहती हैं (घर, मुनि, भाई, पक्षी, साधु)।

(इ) अकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन –अ के स्थान पर –एँ लगाने से बनता है (रात-रातें, आँख-आँखें)।

(ई) इकारान्त और ईकारान्त शब्दों में –या जोड़ा जाता है, साथ ही –ई को ह्रस्व कर दिया जाता है (निधि-निधियाँ, रीति-रीतियाँ, नदी-नदियाँ)।

(उ) याकारान्त शब्दों का —या अनुनासिक कर दिया जाता है (बुढ़िया-बुढ़ियाँ, चिड़िया-चिड़ियाँ)।

(ऊ) शेष स्त्रीलिंग शब्दों में –एँ लगाया जाता है (लता-लताएँ, बहू-बहुएँ, वस्तु-वस्तुएँ)।

इन छह नियमों में से पहले दो (अ और आ) ठीक हैं। किन्तु संबंधवाचक आकारान्त संज्ञाओं (काका, नाना आदि) के विषय में यह बताना आवश्यक है कि इनमें से केवल वही अपरिवर्तित रहती हैं जो द्वित्व-निर्मित हैं (ना ना, का-का, दा दा, बा बा, आदि), शेष नहीं (बेटा-बेटे, भतीजा-भतीजे, भानजा-भानजे आदि)।

अन्तिम चार नियमों (इ, ई, उ, ऊ) को दो नियमों में संक्षिप्त किया जा सकता है—

(क) इकारान्त, ईकारान्त और याकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाओं का बहुवचन –आँ लगाने से बनता है। सन्धि के फल-स्वरूप –इ और –ई के स्थान पर –इय हो जाता है, तथा –या और –आँ मिल कर –याँ बन जाता है (रीति-रीतियाँ, नदी-नदियाँ, चिड़िया-चिड़ियाँ)।

(ख) शेष स्त्रीलिंग संज्ञाओं का बहुवचन –एँ लगा कर बनाया जाता है।

रात, आँख आदि शब्द वस्तुतः व्यञ्जनान्त हैं, अकारान्त नहीं। इनमें लगने पर –एँ व्यञ्जन को सस्वर बना देता है। शेष (लता, वस्तु, बहू आदि) शब्दों में अन्तिम स्वर के बाद यथास्थित रहता है। सन्धि-नियम के अनुसार –ऊ ह्रस्व हो जाता है (बहू-बहुएँ, लू-लुएँ)।

सब मिला कर संक्षेप से कहा जा सकता है कि बहुवचन बनाने के लिए—

(अ) पुल्लिंग में आकारान्त तद्भव संज्ञाओं में –ए लगता है।

(आ) शेष पुल्लिंग संज्ञाएँ अविकृत रहती हैं।

(इ) स्त्रीलिंग में इकारान्त, ईकारान्त, याकारान्त संज्ञाओं में –आँ लगता है।

(ई) शेष स्त्रीलिंग संज्ञाओं में –एँ लगता है।

३. उपर्युक्त नियम अविकारी कारक के बहुवचन से संबंधित हैं। विकारी कारक में सभी संज्ञाओं के बहुवचन –ओं लगा कर बनाये जाते हैं—लड़कों, भाइयों, लड़कियों, बहुओं। संधि-नियम यहाँ भी लगते हैं (–इ, –ई के स्थान पर –इय, –ऊ को ह्रस्व)। तत्सम और द्वित्व-निर्मित संज्ञाओं में –ओं केवल जोड़ दिया जाता है—राजाओं, चाचाओं।

विकारी कारक में पुल्लिंग आकारान्त (तद्भव) संज्ञाओं में –आ के स्थान पर –ए हो जाता है (लड़का-लड़के ने)।

वचन और कारक के कारण होने वाले समस्त संज्ञा-विकारों को इस प्रकार संक्षिप्त किया जा सकता है—

	विकारी कारक		अविकारी कारक	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
पुल्लिंग आकारान्त	–ए	–ओं	–	–ए
पुल्लिंग शेष	–	–ओं	–	–
स्त्रीलिंग –इ, –ई, –याकारान्त	–	–ओं	–	–आँ
स्त्रीलिंग शेष	–	–ओं	–	–एँ

४. अविकारी बहुवचन का एक विशेष रूप –ओं लगा कर भी बनता है। यह –ओं केवल अवधिवाचक संज्ञाओं में लगता है और अनिश्चित संख्या सूचित करता है—महीनों, बरसों, सालों। वस्तुतः यह –ओं संख्यावाचक शब्दों में लगने वाले उस –ओं से अभिन्न है जो हमें दसियों, बीसियों, पचासों आदि रूपों में दिखाई पड़ता है। श्री कामताप्रसाद गुरु ने (अंक ३११ –ऐ तथा ५१२) इसे विभक्ति-रहित बहुवचन का विकृत रूप माना है, किन्तु उन्होंने न तो इन रूपों के विशेष अर्थ पर ध्यान दिया, और न दसियों बीसियों आदि रूपों से इनकी समानता पर।

बालकृष्ण राव | और भी हैं

एक तेरी ही नहीं,
सुनसान राहें और भी हैं।
कल सुबह की इन्तज़ारी
में निगाहें और भी हैं।

और भी हैं ओठ जिन पर वेदना मुस्कान बनती,
नींद तेरी ही न केवल स्वप्न का परिधान बनती,
पूजना पत्थर अकेले एक मुझको ही न पड़ता,
'वाह' बनने के लिए
मजबूर आहें और भी हैं।

एक नन्हा घोंसला उड़ता न आँधी में अकेला;
पड़ गया पाला अगर तो एक टहनी ने न झेला;
सोच तो क्या बाढ़ आयी है अकेले को डुबाने,
एक तिनका ढूँढ़ती
असहाय बाँहें और भी हैं।

तू अकेला ही नहीं है जो अकेला चल रहा है,
और तलवों के तले भी वह धरातल जल रहा है।
हैं बहुत साथी जिन्हें तूने न देखा है न जाना,
सामने है एक ही, लेकिन
दिशाएँ और भी हैं।

❀❀❀

मंगलदेव शास्त्री | भारतीय संस्कृति : वैदिक धारा का ह्रास (२)

प्रस्तुत लेख के पूर्वार्ध ('कल्पना' जनवरी, १९५५) में जो कुछ कहा गया है, उसके आधार पर वैदिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष के कारण ये थे—

१. वैदिक धारा के तृतीय काल के अनन्तर राजनीतिक उत्कर्ष की प्रतिक्रिया के रूप में आर्य-जाति के विभिन्न वर्गों में अकर्मण्यता, आलस्य और आदर्शहीनता की प्रवृत्तियों का प्रारंभ;

२. उक्त उत्कर्ष की अवस्था में प्राप्त महत्त्व, पद या विशेषाधिकारों को सुरक्षित और पुष्ट करने की प्रवृत्ति से रूढ़ि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का क्रमश: विकास;

३. उक्त परिस्थिति में वैदिक कर्मकाण्ड पर रूढ़ि-मूलक पुरोहित-वर्ग के अनियन्त्रित एकाधिकार की प्रवृत्ति, और

४. जनता के नियन्त्रण और जीवन से पृथक् हो जाने से तथा वास्तविकता और सार्थकता के अभाव से वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकाधिक विस्तार, कृत्रिमता और यान्त्रिकता की प्रवृत्ति का प्रवेश।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष का दुष्प्रभाव. वैदिक धारा की तीन अवस्थाओं को दिखलाते हुए (देखिए—'कल्पना', जुलाई, १९५४) हमने वैदिक धारा के तृतीय काल को उसका मध्याह्न-काल और अतएव परम उत्कर्ष का काल कहा है। उसके अनन्तर उसका क्रमश: अपकर्ष शुरू हो जाता है, ठीक उसी तरह, जैसे मध्याह्न-काल में सूर्य का प्रकाश और तेज अपने चरम उत्कर्ष में पहुँच कर तदनन्तर अपकर्ष की ओर चलने लगता है और अपराह्न के पश्चात् तो अस्तोन्मुख ही होने लगता है।

वैदिक धारा के उत्कर्ष के दिनों में याज्ञिक कर्मकाण्ड को, जिसमें उस समय का जातीय जीवन

प्रतिबिम्बित था, हमने उसका महान् प्रतीक कहा है। इसी दृष्टि से याज्ञिक कर्मकाण्ड को हम वैदिक धारा का मानदण्ड भी कह सकते हैं। इसलिए ऊपर दिखाये गये कारणों से याज्ञिक कर्मकाण्ड में अपकर्ष के आने पर समस्त वैदिक धारा में अपकर्ष का आ जाना स्वाभाविक था। इसी बात को हम नीचे स्पष्टतया दिखाना चाहते हैं।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष का दुष्प्रभाव अतिव्यापक था। उसको यहाँ हम विशेष रूप से निम्न-निर्दिष्ट विषयों को ले कर दिखाना चाहते हैं—

१ वेदों के अध्ययनाध्यापन की परंपरा,

२ देवता-विषयक भावना,

३ रूढ़ि-मूलक वर्ग-वाद की प्रवृत्ति, और

४ नैतिकता का ह्रास।

वेदों की अध्ययनाध्यापन परंपरा का अपकर्ष वैदिक संस्कृति के उप:काल में मंत्रात्मक वेद और आर्य-जाति के जीवन में एक प्रकार से एकरूपता थी, यह हम पहले कह चुके हैं। उस समय उसका जीवन वेद था और वेद ही जीवन था, क्योंकि एक से दूसरे की व्याख्या की जा सकती थी।

द्वितीय काल में, एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रारंभ हुआ। उस समय उसमें पूर्णतया स्वाभाविकता और सार्थकता वर्तमान थी। उसके साथ जिन वैदिक मंत्रों का प्रयोग किया जाता था, वह पूरी तरह उनके अर्थ को और उपयुक्तता को समझ कर ही किया जाता था। यही अवस्था उसकी वैदिक धारा के तृतीय काल में थी, जब कि याज्ञिक कर्मकाण्ड अपने चरम उत्कर्ष की अवस्था में था।

इस तृतीय काल में वैदिक मंत्रों के अर्थ-ग्रहण में कदाचित् कुछ कठिनाई का अनुभव किया जाने लगा था। इसीलिए निरुक्त में कहा है—

उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु:। वेदं च वेदाङ्गानि च।

(निरुक्त १।२०)

अर्थात्, वैदिक परंपरा की तृतीय अवस्था में मंत्रार्थ के समझने की कठिनता के कारण ही निरुक्त का तथा अन्य वेदाङ्गों का सम्पादन किया गया।

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि उस तृतीय काल में व्याकरण, निरुक्त आदि के साथ ही वेदाध्ययन किया जाता था। इसी अवस्था का वर्णन महाभाष्य में इन सुन्दर शब्दों में किया गया है—

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च (पस्पशाह्निक)

अर्थात्, ब्राह्मण को छह अंगों के सहित ही वेद को पढ़ना और समझना चाहिए। यह उसका निष्कारण धर्म है।

इसलिए वैदिक धारा के तृतीय काल तक याज्ञिक कर्मकाण्ड में वैदिक मंत्रों का प्रयोग उनके अर्थों को समझ कर और उपयुक्तता को देख कर ही किया जाता था, इसमें कोई संदेह नहीं है।

यही बात नीचे दिये हुए प्रमाणों से भी सिद्ध होती है—

एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति (निरुक्त १।१६)

अर्थात्, याज्ञिक कर्म की सफलता या पूर्णरूपता इसी में है कि उसमें जो ऋग्वेद या यजुर्वेद के मंत्र प्रयुक्त होते हैं वे वास्तव में उसके काम को बतलाते भी हैं, जो यज्ञ में किया जाता है।

यद् यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम् (ऐतरेय-ब्रा० १।१६)

अर्थात्, मंत्र और कर्म की अनुरूपता में ही यज्ञ की सफलता रहती है।

याज्ञिकों की इसी वेद-जनक प्रवृत्ति को देख कर महाभाष्य में कहा था—वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति (पस्पशाह्निक) । अर्थात्, याज्ञिक लोग व्याकरणादि की उपेक्षा करके वेद के केवल शब्दों को रट कर, अपने को कृत-कृत्य समझ लेते हैं।

वेद-मन्त्रों के अर्थ की ओर से याज्ञिकों की इस उपेक्षा को देख कर वैदिक काल में ही विद्वानों ने अर्थ ज्ञान पर बहुत-कुछ बल देना प्रारम्भ कर दिया था। उदाहरणार्थ, निरुक्त में ही उद्धृत इन प्राचीन वचनों को देखिए[१]—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभू—
दधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

अर्थात्, वेद को पढ़ कर उसके अर्थ को न जानने वाला भार से लदे हुए केवल एक स्थाणु के समान है। जिस मन्त्र आदि को बिना अर्थ समझे केवल पाठमात्र से पढ़ा जाता है, उसका कोई फल नहीं होता, उसी तरह जैसे सूखा ईंधन भी बिना आग के कभी नहीं जलता।

परन्तु उक्त प्रवृत्ति का यह सारा प्रतिवाद केवल अरण्य-रोदन के समान था। यज्ञों के और मन्त्रार्थ के संबंध में कर्मकाण्डियों की उक्त प्रवृत्ति बराबर बढ़ती ही गयी। ऐसी स्थिति में वैदिक कर्मकाण्ड खूब बढ़ा तो सही; पर वह धीरे-धीरे निष्प्राण शुष्क क्रिया-कलाप में परिवर्तित होता गया। और अन्त में, जैसा हम आगे क्रमशः स्पष्ट करेंगे, ऐसा समय आया जब कि वह एक ओर औपनिषद धारा आदि के अपने लोगों के और दूसरी ओर जैन, बौद्ध आदि दूसरे लोगों के प्रतिवाद और विरोध की आँधी में स्वयं नष्ट हो गया।

उक्त प्रवृत्ति[२] का दुष्प्रभाव यहीं समाप्त नहीं हुआ। इसके अनन्तर वेद-मन्त्रों की जो दुर्दशा हुई वह और भी हृदय-विदारक है।

वैदिक धारा की परंपरा में याज्ञिक (श्रौत) कर्मकाण्ड तो शनैः-शनैः समाप्तप्राय ही हो गया; पर शुष्क तथा अर्थहीन कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति भारतवर्ष में बराबर बढ़ती ही रही। वह प्रवृत्ति आज भी हिंदू समाज में पूरे वेग के साथ प्रचलित है, जैसा हम आगे चल कर वर्तमान हिन्दू-धर्म की धारा के प्रसंग में स्पष्ट करेंगे।

---

१. तु० "अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् (ऋग्० १०। ७१।५)। २. (१) यह विचित्र बात है कि पूर्व-मीमांसा आदि के विचारों में, जहाँ वैदिक मंत्रों का उल्लेख आवश्यक होना चाहिए, वहाँ भी उनकी उपेक्षा करके, ब्राह्मण-वाक्यों को ही उद्धृत कर उन पर विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ, वेदों में अनित्य ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम के आने से वेद अनित्य हो जाएँगे, इस आपत्ति के प्रसंग में, वैदिक मंत्रों के प्रसिद्ध अगस्त्य, लोपामुद्रा, सुदास् आदि नामों का उल्लेख न करके केवल ब्राह्मण-वाक्यान्तर्गत 'बबर' जैसे नामों पर विचार किया गया है। (देखिए,—सायणाचार्य की ऋग्वेद भाष्योपक्रमणिका में मीमांसा-सूत्र १।१।२८—३०, तथा १।२।६ की व्याख्या)। इस उपेक्षा का कारण हमें वेदों के अध्ययनाध्यापन की घोर शिथिलता ही प्रतीत होती है। (२) एक दूसरी बात का निर्देश करना भी यहाँ आवश्यक है। वह यह है—वेदों पर और वैदिक कर्म-काण्ड पर जो विरोधियों के आक्षेप होते रहे हैं, उनके उत्तर में पूर्व-मीमांसा आदि में 'वेद पुरुषार्थ के अलौकिक उपाय को बतलाते हैं', और 'वैदिक कर्मकाण्ड एक अपूर्व या अदृष्ट का जनक होता है', यही कहा जाता रहा है। वैदिक उदात्त भावनाओं का, राष्ट्र अथवा समाज की भलाई या उत्कर्ष का उल्लेख उनके समर्थन में प्रायः नहीं किया गया। इससे भी वेदों के वास्तविक अध्ययनाध्यापन की उपेक्षा ही प्रतीत होती है। अपूर्ववाद की युक्ति तो स्पष्टतः अत्यन्त दुर्बल है। मनुष्य का बुद्धि-पूर्वक किया हुआ ऐसा कौन-सा कार्य है, जिससे अपूर्व उत्पन्न नहीं होता?

वर्तमान हिन्दू धर्म में नये देवताओं के साथ साथ नये कर्मकाण्ड का भी विकास हुआ। नवग्रह-पूजा आदि बिलकुल नयी पूजाएँ चलीं। परन्तु इस नवीन कर्मकाण्ड में बहुत करके उन्हीं प्राचीन वैदिक मंत्रों से काम लिया गया, इसकी पर्वा ही नहीं की गयी कि उनके प्रयोग में कोई सार्थकता या सम्बन्ध-विशेषता भी है या नहीं। अधिक-से-अधिक केवल *देवता के नाम में और मंत्र में शब्द-मात्र या अक्षर-मात्र का साम्य ही पर्याप्त मान लिया गया।*

उदाहरणार्थ, नवग्रहों में से शनि की पूजा में **शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु०** (ऋग्० १०।९।४) इस मंत्र का (जो कि वास्तव में 'आप' या 'जलों' के सबंध का मंत्र है) प्रयोग किया जाने लगा, केवल इस आधार पर कि 'शनि' में और मंत्र के 'शन्नो' शब्दों में 'शन्' की ध्वनि समान है!

इसी तरह के सैकडों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

वेदों की अध्ययनाध्यापन परंपरा में इस प्रकार की घोर और असह्य अनास्था के आ जाने पर, वेदों के विषय में **त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्त निशाचराः** (अर्थात्, वेदों को भांड, धूर्त और राक्षसों ने बनाया है), "वेद पढत ब्रह्मा मरे चारों वेद कहानि" इस प्रकार के निराधार और अज्ञान-मूलक विचारों का फैलना स्वाभाविक था।

देवता विषयक भावना का अपकर्ष : पहले हम कह चुके हैं कि यद्यपि, आपाततः वैदिक देवता अपनी-अपनी स्वतन्त्र पृथक् सत्ता रखते प्रतीत होते हैं, तो भी वेदों के मंत्रों में यत्र-तत्र स्पष्ट रूप में उनकी मौलिक आध्यात्मिक एकता का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्रार्थ-ज्ञान-पूर्वक वैदिक यज्ञों के करने के समय तक, निश्चय ही विद्वान् याज्ञिकों को उस मौलिक आध्यात्मिक एकता का भान रहता होगा। तभी तो कहा जाता था—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋग्० १।१६४।४६)।
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति
(ऋग्० १०।११४।५)।

अर्थात्, विद्वान् लोग एक ही मौलिक सत्ता या अध्यात्म-तत्त्व को, भिन्न-भिन्न, इन्द्र, मित्र, अग्नि आदि नामों से कहते हैं।

मंत्रों में प्रायः आता है कि *वैदिक देवता अपना-अपना कार्य परस्पराश्रयत्व या सामजस्य के भाव से ही करते हैं, विरोध-भाव से कभी नहीं*[1]। *इससे भी उनकी मौलिक आध्यात्मिक एकता ही प्रकट होती है।* ऐसा न होने पर, भिन्न-भिन्न वैदिक देवताओं में और उनको मानने वालों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष और तन्मूलक विरोध भावना का पाया जाना स्वाभाविक होता।

उसी मौलिक तत्त्व के विषय में मंत्रों में कहा गया है—

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु (यजु० ३२।८)।
वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः इमाः प्रजाः
(अथर्व० १०।८।३८)

अर्थात्, मौलिक आध्यात्मिक तत्त्व सर्वत्र फैला हुआ है, और ये सारी प्रजाएँ या सृष्टि उसी में ओत-प्रोत है।

बढती हुई कृत्रिमता के दिनों में वैदिक कर्मकाण्ड में मंत्रों के अर्थ ज्ञान की उपेक्षा का एक बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि देवताओं की मौलिक एकता की भावना क्रमशः अधिकाधिक ओझल होती गयी, और अन्त में प्रायः बिलकुल ही लुप्त हो गयी।

यही नहीं, आगे चल कर तो एक प्रकार से देवताओं के अपने अस्तित्व को भी मीमांसकों ने नहीं माना। पूर्वमीमांसा का सिद्धान्त है कि देवता मन्त्रमय होते हैं। अर्थात्, तत्तद्देवता के जो मंत्र हैं,

१. तु० देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते (ऋग्० १०।१९१।२)।

वही देवता हैं, उनसे पृथक् देवता अपनी सत्ता नहीं रखते। कई प्रकार की युक्तियाँ इस सिद्धान्त के पक्ष में दी जाती हैं। परन्तु वास्तव में इस सिद्धान्त का मूल इसी विश्वास में है, कि किसी यन्त्र या मशीन की तरह, याज्ञिक क्रिया-कलाप में ही स्वयं फल देने की शक्ति है। फिर चेतन देवता की आवश्यकता ही क्या है? प्रत्युत, चेतन देवता अपनी स्वतन्त्रता के कारण उस क्रिया-कलाप की यान्त्रिक शक्ति में बाधा ही डाल सकता है। इसी कारण से मीमांसक लोग, देवता क्या, ईश्वर को भी नहीं मानते। मानते हैं केवल याज्ञिक क्रिया-कलाप की अक्षुण्णता को।

इस प्रकार याज्ञिक कर्मकाण्ड की अत्यधिक यान्त्रिकता क्रमशः न केवल वैदिक देवतावाद के लिए ही, किन्तु उसके आध्यात्मिक एकतावाद के लिए भी सर्वनाशकर सिद्ध हुई। इस स्थिति का नैतिक भावनाओं पर जो दुष्प्रभाव पड़ा, उसको हम आगे स्पष्ट करेंगे।

रूढ़ि-मूलक वर्ण-वाद की प्रवृत्ति का दुष्प्रभाव: वैदिक धारा के तृतीय काल में वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ और उसके अनन्तर धीरे-धीरे उसमें रूढ़ि-मूलकता की वृद्धि होने लगी, यह हमने पहले कहा है। उस परिस्थिति में उस व्यवस्था के गुण-दोष की कुछ चर्चा भी हम कर चुके हैं।

उक्त रूढ़ि-मूलकता लाने में और उसको दृढ़ करने में याज्ञिक कर्मकाण्ड की अत्यधिक जटिलता का विशेष हाथ था, यह हम पहले दिखला चुके हैं।

भारतवर्ष के इतिहास में इस काल को हम याज्ञिक कर्मकाण्ड का काल कह सकते हैं। इस काल में देश के सामने कोई महान् राजनीतिक कार्य-क्रम नहीं दीखता। प्रायः छोटे-छोटे राज्यों पर पुरोहितों की सहायता से राज्य करने वाले राजा लोग, अपने भाग्य से पूर्णतया सन्तुष्ट हो कर, एक प्रकार से आदर्श-हीन, पर चैन का जीवन व्यतीत करने लगे थे। उन दिनों देश में कोई बड़ी चर्चा थी, तो वैदिक यज्ञों की, उनमें दी जाने वाली बड़ी-बड़ी दक्षिणाओं की और पुरोहितों की[1]।

ऐसे वातावरण में पनपता हुआ रूढ़ि-मूलक वर्णवाद अन्ततोगत्वा न तो तत्तद्वर्गों के लिए, न देश के लिए ही, हितकर सिद्ध होना है। यह सार्वत्रिक नियम है कि स्वच्छन्द-प्रवाह नदी-जल की अपेक्षा सर्वत्र घिरा हुआ तालाब का जल गन्दा हो ही जाता है। उसमें वह जीवनी-शक्ति ही नहीं रहती, जो नदी-जल में होती है। दूसरे, जीवन में खुली प्रतियोगिता की भावना के न रहने पर मनुष्य *को आगे बढ़ने की प्रेरणा ही नहीं मिलती।*

इसलिए रूढ़ि-मूलक वर्ण-व्यवस्था वास्तव में याज्ञिकों के लिए भी हितकर सिद्ध नहीं हो सकती थी। इसके कारण उनमें भी आलस्य, बुद्धि-मान्द्य आदि दोषों का आ जाना स्वाभाविक था, जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं। ऋग्वेद-संहिता में ही एक *जगह कहा है—*

मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवः (ऋग्० ८।९२।३०)।

यह मन्त्र अथर्ववेद (२०।६०।३) में आया है। इसका अर्थ है कि 'हे इन्द्र! तुम एक याज्ञिक ब्राह्मण की तरह आलसी न हो जाओ।'

एक दूसरे मन्त्र में बिना अर्थ-ज्ञान के वेद के मन्त्रों का पाठ मात्र करने वालों के विषय में कहा है—

अधेन्वा चरति माययैष
वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् (ऋग्० १०।७१।५)

अर्थात्, पुष्प-फल-रूपी अर्थ के बिना जो केवल शब्द मात्र से (वेद मन्त्र-रूपी) वाणी को पढ़ता है, वह मानो दूध न देने वाली कृत्रिम गौ के साथ घूमता फिरता है।

[1] देखिए—ऐतरेय-ब्राह्मण (८।२०–२)।

आगे चल कर वेदाभ्यास जड़ता या मन्दता का चिह्न ही माना जाने लगा था। तभी तो कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय नाटक (१।१०) में प्रजापति को भी वेदाभ्यासजड कहने का साहस किया है।

महाभारत-जैसे प्राचीन ग्रंथ में अनेक वेद के पढ़ने वालों को मन्द-बुद्धि, अविपश्चित् और हत बुद्धि तक कहावत के रूप में कहा गया है। उदाहरणार्थ, निम्न-लिखित प्रसिद्ध पद्य को ही देखिए—

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्वार्थदर्शिनी[१] ।

(महाभारत, शान्ति पर्व १०।१)

भीम युधिष्ठिर से कह रहे हैं कि 'हे राजन् ! जैसे मन्द-बुद्धि, अविपश्चित् वेदपाठी की बुद्धि (अर्थज्ञान से रहित) वेद को पढ़ते-पढ़ते नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि भी वास्तविक अर्थ को नहीं देख सकता है।"

रूढ़ि-मूलक वर्ण-वाद से जो सबसे बड़ी हानि देश को हुई, वह विभिन्न वर्णों में पृथक्त्व भावना के बढ़ाने की थी।

वैदिक धारा के इतिहास में एक समय था, जब कि समस्त आर्य-जाति एकता की भावना से अनुप्राणित थी। उसके विस्तार और राजनीतिक उत्कर्ष का मुख्य आधार उसी एकता पर था। उसके पश्चात् जब वर्ण-भेद की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ, उस समय भी, परम्परागत एक-जातित्व की भावना के कारण परस्पर घनिष्ठ अङ्गाङ्गि-भाव के आदर्श को ही वर्ण-व्यवस्था का आधार समझा जाता था। इसी कारण से वैदिक मंत्रों में समस्त समाज और शूद्रों सहित सब वर्णों के प्रति ममत्व-बुद्धि और हित-भावना का वर्णन मिलता है, जैसा कि हम पहले ('कल्पना', अक्तूबर, १९५४, पृ० १०-११) दिखला चुके हैं।

परन्तु यह स्थिति चिरकाल तक नहीं रही। वर्ण-भेद की प्रवृत्ति में रूढ़ि-मूलकता के बढ़ने के साथ-साथ विभिन्न वर्णों में पृथक्त्व-भावना के बढ़ाने का प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है।

उदाहरणार्थ, गृह्य-सूत्रों के उपनयन प्रकरण के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ प्राचीन गृह्य-सूत्रों में विभिन्न वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए मेखला, दण्ड, वस्त्र आदि का कोई भेद प्रायः नहीं रखा गया है वहाँ नवीन गृह्य-सूत्रों में वर्ण-भेद से विभिन्न मेखला आदि का विधान पाया जाता है।

अन्य क्षेत्रों में भी यही प्रवृत्ति बराबर बढ़ती हुई दिखाई देती है।

इस प्रवृत्ति का सबसे अधिक खेद-जनक प्रभाव शूद्र और आर्य के परस्पर संबंध पर पड़ा। पहले ('कल्पना', अक्तूबर, १९५४, पृ० ११) हम दिखला चुके हैं कि चारों वेदों में शूद्र के प्रति अन्याय अथवा कठोर दृष्टि कहीं नहीं पायी जाती। यही नहीं, वेद-मंत्रों में तो अन्य वर्णों के समान शूद्र के प्रति भी सद्भावना और ममत्व का वातावरण स्पष्ट दिखाई देता है।

परन्तु वर्ण-भेद में रूढ़ि मूलकता के बढ़ जाने पर उक्त स्थिति में मौलिक परिवर्तन दिखाई देने लगता है। उदाहरणार्थ, गौतम-धर्म-सूत्र के निम्न लिखित वचनों को देखिए—

अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र-
प्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः ।

(गौ० ध० सू० २।३।४)

१. यही पद्य कुछ पाठ भेद से महाभारत उद्योग पर्व (१३२।६) में भी आया है। इसी प्रसंग में भागवत (६।३।२५) का यह वचन भी देखने योग्य है—प्रायो जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः। यहाँ भी वेदाभ्यासी याज्ञिक को स्पष्टतः 'जडीकृतमति' कहा गया है।

अर्थात्, वेद के सुनने पर शूद्र के कानों में रांगा या लाख भरवा देनी चाहिए, वेद के उच्चारण करने पर जिह्वा कटवा देनी चाहिए, और धारण करने पर शरीर (=हाथ) को कटवा देना चाहिए।

पिछले वैदिक काल में शूद्र के प्रति कठोर दृष्टि का यह केवल एक उदाहरण है। मनुस्मृति आदि में इसी प्रकार की अशोभन दृष्टि के अनेकानेक उदाहरण मिल सकते हैं।

हमारी समझ में शूद्रों के प्रति दृष्टि के इस महान् परिवर्तन का आधार वर्ण-भेद की बढ़ती हुई रूढ़ि-मूलकता की प्रवृत्ति पर ही हो सकता है। वर्णों में बढ़ती हुई पृथक्त्व-भावना का चरमोत्कर्ष इसी में हो सकता था।

आर्य-जाति की मौलिक एकजातीयता की स्पृहणीय भावना के मुकाबले में पिछली खेद-जनक पृथक्त्व-भावना के लिए शतपथ-ब्राह्मण के निम्नलिखित उद्धरण को देखिए—

अथैतरा: पृथङ् नानायजुर्भिरुपदधाति
विशं तत्क्षत्रादवीर्यतरां करोति पृथग्वा—
दिनीं नानाचेतसम् (श० ब्रा० ८।७।२।३)

अर्थात्, चयन में वह दूसरी इष्टकाओं को पृथक्-पृथक् यजुर्वेद के मन्त्रों से रखता है, जिससे क्षत्र की अपेक्षा पृथक्-पृथक् (*अर्थात् अनैक्य में*) बोलने वाली और विभिन्न चित्त वाली प्रजा में दुर्बलता रहे।

यहां प्रजा के विषय में यह भावना कि उसमें किसी प्रकार एकता और एकचित्तता न आ सके और वह राज-शक्ति के सामने दुर्बल ही रहे, कितनी हीन और खेद-जनक है!

जनता के प्रति उपेक्षा और तिरस्कार की भावना के ऐसे ही अनेकानेक उदाहरण[१] ब्राह्मण-ग्रंथों में पाये जाते हैं। (क्रमश:)

ØØØ

१. तु० अत्ता वै क्षत्रियः। अन्नं विट्। (शतपथ-ब्रा० ६।१।२।२५); क्षत्रं विशो वीर्यवत्तरं करोति, विश क्षत्रादवीर्यवत्तराम्। (शतपथ-ब्रा० २।८।३।४)।

नरेश मेहता | तीन कविताएँ

ज्वार गया, जलयान गये

हमारे तट पर के जलयान
सदा को किसी दिशा के हो कर
चले गये अब ।
जल है,
तट है,
शंख सीपियों बीच समुद्री झरबेरी से
हम अब भी भीगी पलकें
अधूरे वाक्य कंठ में लिये खड़े हैं ।
ज्वार गया, जलयान गये
इस बालु-घिरे जल को हम कितने दिन तक
सिन्धु कहेंगे ?
क्षितिज पार जब डूब रहे थे हंस-पाल वे
हम पैरों लिपटे पृथ्वी के भुजंग से रहे जूझते ।
चले गये उन धावमान के संग में लंगर विश्वासों के ।
ओ खाड़ी के ज्वार !
उन जलयानों को तट पहुँचाना
जो कि हमारे जल में छाँहें छोड़ गये हैं—
गोरज रँगे अकास बीच वे चले गये
कूल गाछ-सा हमें समझ
उस सूर्य छाँह में
ज्वार गया, जलयान गये
मंझवायी लहरों पर गतिशील सदा को चले गये ।

तिरते फेनफूल का जल है,
मुंह 'धेरे का निर्जन तट है
पोतहीन पर—
हम विकल्प के वल्कल में संशय-विष पीड़ित
किसी भग्न मस्तूल सरीखे खड़े हुए हैं
वृक्ष-भाव से
संकल्पहीन पर—
अब भी हममें प्रश्न शेष है—

कहो क्या करें मुट्ठी में इस बसी रेत का ?
किसे चढ़ाएँ ?
कहो क्या करें खुले हुए इस अग्निनेत्र का ?
हमारे सकल्पित इस तीर्थकुण्ड से लपट उठ रही
सनी उठाये हम पूरी प्रदक्षिणा करके लौटे,
किन्तु हमारे मन का
संशय, दर्प और विद्रोह वही है
कैसे हम तब झुकते
ओ मेरी गति !
कैसे अब झुक पाएँ ??

फिर से लौट-लौट आने को
ज्वार गये वे,
उर का घाव गहन करने को
जलयान गये वे ।

स्वीकारो यह शलजल देय हमारा—
हम ज्वारों से वंचित,
अकिंचन जलयानों से
खण्डित पाथर तट का प्रेम हमारा ।

दर्द

दर्द की अभिव्यक्ति ?
हो नहीं सकती—
घाव है
वह पीर है;
जो कदाचित् दिखाया तो जा सके
किन्तु उसका गान ?
वंचना है !!

तृषा

ओ उषा विश्वास !
अकलंक है आकाश,
धूप जल सींचो
तृषित मन, गेहूँ और कपास ।

०००

दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी | वेश्या

सेठ दुलीचन्द के 'नवीन संसार' का मैं नियमित पाठक हूं। एक तो सेठ मुझे अपने इस अखबार की फ्री कापी भेज दिया करते हैं, दूसरे, राजनीति, कला, विज्ञान आदि के अन्य पत्रों में गरिष्ठ भोजन के बाद मेरे लिए 'नवीन संसार' की सामग्री जायकेदार चटनी का काम करती है। सेठ जी से मेरे परिचय की भी एक कहानी है, लेकिन सच पूछिए, तो इस वक़्त मैं ठीक-ठीक सोच नहीं पा रहा हूं कि वास्तव में उस कथा को दुहराना कहां तक उचित होगा। सेठ जी को न जाने क्यों, मेरी सूझ-बूझ पर थोड़ा-बहुत भरोसा है और उनके आदेशानुसार 'नवीन संसार' के तरुण सम्पादक जब-तब मुझसे मिल भी जाया करते हैं।

छुट्टी का दिन है। जेठ का महीना ठहरा लेकिन कल शाम को अचानक बादल घिर आये और सारी रात मूसलधार वर्षा होती रही है। मिट्टी की यह सोंधी गंध मुझे बहुत अच्छी लग रही है। नाश्ते के बाद आज का 'नवीन संसार' देख रहा हूं। देखता हूं, रात शहर में तीन चोरियां हुईं, चार मकानों के छप्पर रात के पानी से गिर पड़े, शहर का एक नामी गुंडा शहर की एक नामी वेश्या के घर में सीढ़ियों पर छुरा लिये चढ़ते समय पुलिस द्वारा गिरफ्तार किया गया, और स्टेशन के पास वाले पार्क में चुपके से ताड़ी बेचने के अपराध में पार्क के चौकीदार को बर्खास्त कर दिया गया है। पुरवा के इन हिमशीतल झकोरों, आसमान में कुलांचें मारने वाले बादल-मृगछौनों की भाग-दौड़ और सामने गंगा में तैरती हुई नावों की चुप्पी में, नया चोरी, गुंडागिरी और झूठ-सच की इस दुनिया में मैं कोई मेल नहीं देख पाता। पर और कुछ नहीं, तो कम-से-कम इतना तो संसार से मैंने सीखा ही है कि जिन्दगी रोकड़बही के आंकड़े नहीं हैं, जिनका मुंह-से-मुंह मिले बिना

काम नहीं चलने का; वह किसी अप्रत्याशित बवण्डर के केंद्र का मुट्ठी-भर धूल और तिनका है। इसलिए अपने अखबार के कालमों पर आँखें दौड़ाता हुआ आगे पढ़ता हूँ कि शहर में इन दिनों भिखमंगों का उत्पात बढ़ता जा रहा है। भिखारी-भिखारिनों के हो-हल्ले से अदालत के काम में, वैसों के कार-बार में बड़ी अड़चन पड़ रही है और कल निगहर का पुलीस रेलवे स्टेशन से दो दर्जन से ऊपर भिखमंगों को पकड़ कर, शहर से दूर—कहीं बाहर छोड़ आयी है।

पत्र ने इस विषय पर एक सम्पादकीय टिप्पणी भी लिखी है। 'नवीन संसार' का कहना है कि शहर में चोरियों की संख्या में बढ़ती और भिखमंगों को यहाँ मनमाने ढंग पर आ धमकने की छूट में बिलकुल सीधा सबंध है। किसी सभ्य सरकार की पहली जवाबदेही यह है कि वह भलेमानसों के लिए अमन-चैन के साथ, शिष्ट ढंग से जीवन व्यतीत करने की समुचित व्यवस्था करे, और जो सरकार अपना यह उत्तरदायित्व नहीं निभा पाती, उसे अपने से ज्यादा जिम्मेदार सल्तनत के लिए फौरन जगह खाली कर देनी चाहिए।

मेरे पास इस समय विपुल अवकाश है। पत्नी ने परिश्रम से नाश्ते के लिए उड़द के बड़े बनाये थे और कार्नफ्लेक के दूध की मिठास आज कुछ और थी। फिर इस मनभावन मौसम में, सुबह का अखबार हाथ में लिए, मेरी आँखें यदि जब-तब झपकने लगी हैं, कुछ बीती बातों के साफ-धुंधले चित्र यदि मेरे सामने फिर से बनने-बिगड़ने लगे हैं, तो क्या आप इसके लिए मुझे माफ न कर देंगे?

मीटर गेज की वह छोटी रेलगाड़ी हाँफती-डोलती चली जा रही है। अपने गाँव के जमींदार की बुढ़िया हथिनी एक बारात में गयी हुई थी। संयोग-वश वह मेरी सवारी के लिए वहाँ हाजिर की गयी। हड्डी-हड्डी जिसकी दीख रही थी, उस हथिनी की रीढ़ पर आध घंटे उकडूँ बैठने का अनुभव इस रेलगाड़ी में सफर करते हुए फिर से ताजा हो आया है। सेकेंड क्लास के इस डब्बे में हम पाँच मुसाफिर हैं, जिनमें दो किसी निकट के स्कूल के छात्र मालूम होते हैं। छाता और किताबें सँभाले अगले स्टेशन पर उतरने के लिए वे अधीर दीखते हैं। मुझे छोड़, बाकी दो मुसाफिरों में से एक तो कोई खुशहाल व्यापारी जान पड़ते हैं, दूसरे कोई सरकारी मुलाजिम। पहले के माथे पर वैष्णव तिलक है और साथ में बोरियों, बाल्टियों और कम्बलों में बसा ढेर-का-ढेर सामान। वे जलपान से निवृत्त हो हाथ के अखबार में सट्टा बाजार का हाल देख रहे हैं। दूसरे सज्जन का वर्दीधारी अर्दली बीच-बीच में, प्राय प्रत्येक स्टेशन पर, आ कर उनका कुशल-समाचार ले जाता है और वे उससे जब-तब पान-सिगरेट मँगवा कर अपना खाली वक्त गुजार रहे हैं।

मैं अंग्रेजी का एक उपन्यास पढ़ रहा हूँ। इस किताब की कथा जितनी रोचक है, उसका संदेश उतना ही संजीदा। आपने पानी का भँवर—चकोह देखा है? नाचती हुई, चक्कर काटती हुई इस जल-राशि का केंद्र एकदम स्थिर होता है, बिलकुल शांत। मेरे उपन्यास-लेखक का कहना है कि आदमी को जिंदगी की हलचल में अपने को चकोह का शांत केंद्र-बिंदु बना लेना चाहिए—नाचते हुए चाक की अविचल धुरी। बात तो अक्ल की है, लेकिन...

किसी ने गंजड़ी पर कस कर एक थाप दी और झाँझों को अनावश्यक आवेग से झनझनाया। साथ ही डब्बे के फर्श पर किसी स्वस्थ, सशक्त पाँव का धमाका हुआ और पायल की एक तीव्र झनकार वातावरण में भर आयी। जिंदगी मेरे उपन्यास-लेखक के उपदेश को चुनौती दे रही थी। एक तीखा, रूखा स्वर अटपटे ढंग से किसी भद्दे फिल्मी गीत की दो एक कड़ियाँ दुहरा रहा था और टेक के तौर पर कहता जा रहा था, "दाता का भला हो, अल्ला के नाम पर खैरात करो बाबू!" फिर फिल्मी

गीत के शब्द कुछ अधिक मनोयोग से दुहराये जाते, और टेक पर आ कर वह गाना बंद हो जाता।

मेरी आँखें किताब पर टिक न सकीं। देखा, एक स्त्री डिब्बे में घुस आयी है। उम्र उसकी मुश्किल से अठारह बीस होगी, लेकिन लंबे भरे चेहरे पर भरपूर अनुभव की अनचलता है। आँखें छोटी, पर अजाब कुछ तेज लिए, जैसे 'एमिटिलीन' लैंप की लौ हो जिसमें लोहा काटते हैं। गेहुआँ रंग, भूरे बाल, कानों में बालियाँ। ऊपर बिना अचक ओढ़नी की तरह ऊँची चोली, नीचे गोटेदार घाँघरा, नंगे पाँव, हाथ में झाँझ-गुथी खँजड़ी, लंबा कद, इकहरी देह, कठोर, रूखे हाथ, बात-बात पर बल खाने वाली भौंहें और मुड़ जाने वाली लचीली गर्दन। "सलीमा की दुआ लो बाबू!" इस क्षण स्कूली लड़कों में से एक की किताबों की झोली में हाथ डालते हुए वह लड़की कह रही थी, "निकालो एक अठन्नी!" लड़का सिटपिटाया और पीछे हटा। सलीमा ने कुछ घुड़की की मुद्रा में, कुछ फिर चुहल की मस्ती लिए, अपनी खँजड़ी पर फिर एक धौल जमायी और उसका अटपटा स्वर एक बार फिर लहरा उठा।

उस लड़के से एक दुअन्नी वसूल कर सलीमा तिलकधारी सज्जन की ओर मुखातिब हुई। ये महोदय इस वक्त अखबार को एक ओर रख, गले की रेशमी चादर बर्थ पर फैलाए अपनी जेबों नीचे की बाल्टियों और सामने की पेटी में से छोटी-बड़ी पुड़ियाँ का निकाल-निकाल कर उन्हें एक साथ बाँध रहे थे। पता नहीं इन पुड़ियों में क्या था, उनके आकार प्रकार से जान पड़ता था कि वे किराने के किस्म-किस्म के नमूने थे, जो खरीद-फरोख्त के लिए पास की किसी मंडी में जा रहे थे। जाने क्या सोच कर सलीमा ने इस काम में दखल न डालने का निश्चय किया। उसने एक नजर उधर देखा, देख कर कुछ ठिठकी और फिर वह उधर की सीट वाले अफसर की ओर बढ़ी। मेरा खयाल है कि इस सज्जन ने झट कुछ निकाल कर चुपके से उसके हाथों में थमा दिया, नहीं तो इतनी जल्दी वह उनका पिंड न छोड़ने वाली थी। यदि मैं भूलता नहीं तो इस बीच व्यापारी महोदय एक लहमे के लिए उस लड़की की ओर मुखातिब हुए थे। उनका वह भारी-भरकम चेहरा उस क्षण तरल हो आया था, जैसे मक्खन के गोले के नीचे किसी ने जलती अँगीठी ला रक्खी हो। लेकिन दूसरे ही क्षण वह चेहरा फिर निर्विकार था, निर्लिप्त।

अब मेरी बारी आयी। मैं अपनी किताब में फिर जा रमा था। उस बदतमीज लड़की से जान बचाने की मैंने शायद यही सबसे बेहतर तरकीब समझी हो। पाँव का वह धमाका अब की ठीक मेरे पंजों के पास हुआ, झाँझ और खँजड़ी की वह मिली-जुली, बेतरतीब आवाज मेरी नाक की सीध में गूँजने लगी। कुछ झिझक, कुछ हठ से, कुछ झिझक से और कुछ निरी उपेक्षा से मैं अपनी किताब से लगा रहा। खँजड़ी पर ताल देने वाली उँगलियाँ मेरे गालों के बहुत पास आ गयी थीं, सलीमा के थिरकते हुए तलवे की सिहरन मेरे तलवों को छूने लगी थी। इस धमाचौकड़ी में पड़ना गैरमुमकिन था। मैंने किताब पर से आँखें हटायीं। मेरी आँखों में क्रोध था, स्वर में तिरस्कार। मैंने कहा, 'हटो यहाँ से, बाहर जाओ, नहीं तो अगले स्टेशन पर मैं तुम्हें स्टेशन मास्टर के सिपुर्द करता हूँ। क्या मुसीबत है। भीख, माँग कर लेते हैं, गला दबोच कर नहीं।" अपनी इस डाँट से मुझे संतोष हुआ। डिब्बे के सभी मुसाफिरों की ओर से, *भलमनसाहत और आत्मप्रतिष्ठा के नाम पर*, मैंने आवाज उठायी थी।

दूसरे क्षण जो कुछ हुआ, उसके लिए मैं बिलकुल तैयार न था। बरें के छत्ते में जैसे किसी ने उँगली डाल दी हो। "ऐऽऽऽहैऽऽऽउइऽऽऽउइऽऽऽ" सलीमा गरदन नचाती, अपनी दसों उँगलियाँ चटकाती बोली, "सुनना तो बड़े सरकार की बातें!" सलीमा की उन छोटी, तेज-भरी आँखों में आग बरस रही थी।

वह तन कर सीधी मेरे सामने खडी थी। "आये बड़े कायदे कानून वाले जनरल कलक्टर।" वह कह रही थी, "कभी फाका किया है सरकार? पाँच जून घी की खाते हो और आने-दो आने दो दिन की भूखी भली भिखारिन को देने के बदले उसे गाली देते शर्म नहीं आती तुम्हें, बाबू?" मैंने देखा, सलीमा के नाखून बेहद गंदे हैं, उसके हाथ खुरदुरे हैं, उसकी उँगली की पीतल और जस्ते की अँगूठियों पर गर्द की मोटी पर्त पडी है।

भूखी बाघिन की उस झपट से क्या मेरी आँखें चुरा कर बचा जा सकता था? जीवन-सरिता के तट पर हिलकोरों से खेलता हुआ मैं इतना बडा न हुआ था गहरे उतर कर मैंने उसकी थाह ली थी, या कहूँ, लेनी चाही थी। औरत मेरे लिए न तो निरी सेज का सिंगार थी, न कोई जादू की पुड़िया। मैंने उसमें जी बहलाया था, उसके आँसुओं से सींचे जा कर मेरे कितने अरमानों में फल-फूल लगे थे, उसकी दुतकारों और झिडकियों के झिलमिल आलोक में कितनी पगडंडियाँ पकड, मैं आगे बढता आया था। साथ ही मैं कभी यह न भूला कि तौलने की मशीन औरत की देह का उसी तरह वज़न कूतती है, जिस तरह किसी मर्द की देह का; मुझे कभी यह भ्रांति नहीं रही कि स्वस्थ युवती की साँस में अधखिले फूलों की सच ही सुवास बसती है।

लेकिन सलीमा के गुस्से से फड़कते नथने, जलती आँखें और काँपती उँगलियाँ मेरे लिए निश्चय ही एक नया तजरबा थी, क्योंकि इस क्रोध में न तो मान था, न कातरता थी। इस क्रोध में कहीं कुछ ऐसा न था, जो नारीत्व से उत्प्राणित हो। इस क्रोध में करुणा की तिलमिलाहट न थी, सत्य का तेज था।

मेरी डाँट का सलीमा पर कुछ असर न हुआ। उसकी तेज़ ज़बान कतरनी-सी चलती रही और अपनी झेंप मिटाने की अपने उपन्यास में फिर से खो जाने का असफल प्रयास मैं करता रहा। अन्त में सलीमा उस डिब्बे से उतर कर चली गयी, पर उसके जाते समय के भ्रूनिक्षेप में आत्मगौरव और अंतिम विजय की संतुष्टि थी, पराजय की शिथिलता नहीं।

छात्रों में से एक कह रहा था, "ईरानी छोकडी है, ईरानी। इनका एक बहुत बडा गिरोह पास के गाँव में कुछ ही रोज पहले पहुँचा है।"

तिलकधारी व्यापारी महोदय मुझसे कह रहे थे, "ये बेहया लौंडियाँ! भले आदमियों का सफ़र करना मुश्किल है, इन कमबख्तों के मारे।" बातों-ही-बात में मैंने जाना कि इन सज्जन का नाम दुलीचंद है और किराने और सवाई घास की इनकी आढतें हैं।

अगले कुछ स्टेशनों के दरम्यान मे वह कम्पार्टमेंट करीब खाली हो चुका था। सेठ जी के सिवा वहाँ मैं ही बच रहा था। कुछ ही मिनटों में मेरा स्टेशन भी आ गया। मैंने दुलीचंद से विदा ली और स्टेशन की ओर चला।

देहात का छोटा स्टेशन, पर क़ायदे-क़ानून की पाबंदियाँ तो एक ही हैं। जब तक मेरा ताँगा स्टेशन से आगे वाली गुमटी पर पहुँचा, तब तक गुमटी का फाटक लग चुका था, क्योंकि मैं जिस ट्रेन से उतरा था, वह स्टेशन से खुल चुकी थी।

गाडी जब गुमटी पर आयी, तो देखा कि सेकेंड क्लास के उस डिब्बे में सेठ जी के सामने सलीमा फिर खडी थी। उसका एक हाथ, खँजडी लिए, ऊपर वाले बर्थ पर कुहनी के बल टिका था, दूसरे की उँगलियाँ नचा कर जाने वह क्या कह रही थी। दूसरे क्षण वह सेठ जी के सामने तन कर खडी थी। परिस्थिति पर इस क्षण भी उसका पूरा अधिकार था। उसकी देह-यष्टि संतुलित, बिलकुल सीधी थी। अपनी प्रजा की सलामी कबूल करती हुई रानियों की तस्वीरें मैंने देखी थीं। गुमटी से दीख पडने वाली सलीमा की भाव-भंगिमा और खडे होने के ढंग में इन तस्वीरों से बहुत कुछ समता थी। और सेठ अपनी सीट से उठ कर डिब्बे की खिडकियाँ एक-एक करके चुपचाप बन्द कर रहे थे।

हेमचन्द्र जोशी | हिंदी रामायण का आदिकवि चउमुह सयंभु

हिंदी में प्रथम रामायण चउमुह सयभु की मिलती है। हिंदी से मेरा प्रयोजन अपभ्रंश की उस परपरा से है जिससे वर्तमान खडी या खरी बोली का आविर्भाव हुआ है। अपभ्रंश की मुख्य विशेषता शब्दो के अत में 'उ' का जोडा जाना है। तुलसीदास की एक चौपाई लीजिए :

उयउ भानु बिनु श्रमु तम नासा।
दुरे नखतु जगु तेजु प्रकासा॥

इसमें 'अ' के स्थान पर 'उ' की भरमार है। यह प्रमुख लक्षण बताता है कि तुलसी अपभ्रंश का कवि है। उसे अवधी भाषा का कवि इसलिए बताया जाता है कि उसकी 'भाखा' में भविष्यकाल का चिह्न गौडी भाषा का 'ब' है। यह 'ब' अवध से चटगाँव तक चलता है। भोजपुरी, बिहारी और बगाली में इसका प्रयोग होता है। अन्यथा राम के लिए रामू बताता है कि तुलसी अपभ्रंश का कवि है। अपभ्रंश समय के साथ-साथ अपना रूप बदलती गयी। इस भाषा का पहला रामायण सयभु ने लिखा। दूसरा पुपफदत ने। ये रामायण तुलसी ने पढे थे, और उसने इनसे भी सामग्री ली है। इस तथ्य का उल्लेख स्वय तुलसी ने रामचरित मानस में यो किया है

कलि के कबिन्ह करहुँ परनामा।
जिन्ह बरने रघुपति गुनग्रामा॥
जे प्राकृत कवि परम सयाने।
भाखा जिन्ह हरिचरित बखाने॥

यद्यपि उक्त चौपाइयों में इसका उल्लेख नहीं है कि तुलसीदास ने इन कवियो से कुछ सामग्री ली है, किंतु लेने की बात तुलसी ने प्रारभ में ही लिखी है:

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यत्।
रामायणेनिगदितं क्वचिदन्यतोपि॥

इतना मैंने यह दिखाने के लिए लिखा है कि 'रामचरित मानस' अपभ्रंश भाषा की परपरा में है, जिस भाषा का आदिकवि (रामायण का) सयभु था। अर्थात् सयभु का ही रामायण हमें प्राप्त हुआ है। उससे पहले भी रामायणकार हुए होंगे पर उनके ग्रंथ अभी तक मिले नहीं हैं। सयभु ने कहा है

उ सयले वि तिहुणे वित्थरिऊ।
आरंभिउ पुणु राहव चरिऊ॥

इसमें पुणु शब्द से पता चलता है कि पहले भी प्राकृत और अपभ्रंश में 'राघवचरित' रहे होंगे। संभव है शोध से कोई रामायण हमें भविष्य में प्राप्त हो।

सयभु का काल आठवीं शती का अंत या नवीं का आरंभ माना जाता है। उसने दंडि और भामह का उल्लेख किया है। वह रयडा धनजय के आश्रित था। रयडा का अर्थ जमींदार अर्थात् छोटा राजा होता है। सयभु ने लिखा है

णउ बुज्झिउ पिंगल पत्थारु।
णउ भम्मह-दंडि-यलंकारु॥
ववसाउ तो वि णउ परिहरमि।
वरि रयडा वुनु कब्बु करमि॥

इससे ज्ञात होता है कि सम्भवतः स्वयं सयंभु और उनके पूर्वज चारण थे। क्योंकि उक्त चौपाई में बताया गया है कि मैं (कुछ न जानते हुए भी) अपना व्यवसाय नहीं छोड़ता, वरन् रयडा ने जिस काव्य के लिखने की आज्ञा दी है, उसे लिखता हूँ। यह व्यवसाय कवि का तो होता नहीं, चारण का ही रहा होगा। इस कारण से इनके पिता माउर देव भी कवि या चारण थे। माता का नाम पद्मिनी था। इस कवि के पुत्र तिहुयण सयभु भी अच्छे कवि थे। इनके मरने पर रामायण और हरिवंशपुराण को पूरा किया। तिहुयण ने सीता के अग्निप्रवेश की कहानी (सीयदिव्व सण्णाउ) लिखी, जो वास्तव में उत्तम है।

हरिवंश पुराण में वलपणहु (वलप्रथ) नामक सधि में बड़े गर्व से लिखा है:

तिहुयणो जइ वि ण होंतु णंदणो सिरि सयभुएवस्स।
कव्व कुल कवित्त तो पच्छा को समुद्धरइ॥

अर्थात् श्री सयभु देव का पुत्र तिहुयण (त्रिभुवन) न होता तो पीछे काव्य और (हमारे) कुल की कविता का उद्धार कौन करता? तिहुयण भी अच्छा कवि था। किंतु चउमुह के सामने बड़े-बड़े कवि और रामायणी फीके पड़ जाते हैं। सयभु ने रामायण के आरंभ में अपनी अयोग्यता का बहुत रोना रोया है। कहा है:

बुहयण सयभु पईं विण्णवइ।
मइ सरिसउ अण्णु णाहि कुकइ॥
वायरणु कयाइ ण जाणियउ।
णउ वित्ति सुत्त वक्खाणियउ॥

अर्थात्, "हे विद्वानो, सयभु आपसे विनती करता है कि मेरे समान कुकवि (तुलसी ने भी यह शब्द अपनाया है और अपने को कुकवि बताया है) दूसरा नहीं है। मुझे नाममात्र का व्याकरण नहीं आता, न ही मैंने वृत्ति और सूत्र का बखान पढ़ा है।" और कहा है:

जऍ लोयहु सुयणहु पंडियाहु।
सद्दत्थ सत्थ परिचंडियाहु॥
किं चित्तइ गोणिटृवि सक्कियाइं।
वासेण वि जाइं न रंजियाइं॥
तो कयणु गहणु अम्हारिसेहिं।
वायरण विहूणहिं आरिसेहिं॥
कइ अत्थि अणेअ भेअ भरिया।
जे सुयण सहासहिं वायरिया॥
हउं किं वि न जाणमि मुक्खु मणे।
णिय बुद्धि पयासिय तो वि जणे॥

अर्थात्, जो लोग सुजन हैं, पंडित हैं, जो शब्दार्थ और शास्त्र के प्रकांड विद्वान् हैं क्या यह (मेरा रामायण) उनके चित्त में घर कर सकेगा? वे

इतने उद्भट ज्ञानी हैं कि व्यास (महाभारत जैसा बड़ा और सुन्दर ग्रंथ लिख कर भी) इनका मनोरंजन नहीं कर सके, तो मेरी क्या गिनती है ? मैं ऐसा हूँ कि मुझे व्याकरण तक नहीं आता। (ऐसे-ऐसे) कवि हैं, जो नाना भेदों (गुणों) से भरे हैं और जिनका आदर हजारों सुजन करते हैं अथवा जो सुजन हैं और स्वभाषा के आचार्य हैं। मेरा मन मूरख है, मैं कुछ भी नहीं जानता, तो भी मैंने जनता के आगे (मति अनुसार) अपनी बुद्धि प्रकट की है।

रामायण में एक स्थान पर तुलसी के 'भाखा भनिति मोर मति थोरी' की भांति भाषा का नाम बड़े संकोच से लिया है--

सामाण भास छुड मा विहडउ।
छुड़ आगम-जुत्ति कि पि घडउ॥
छुड़ होंति सुहासिय वयणाइं।
गामेल्ल-भास परिहरणाइं॥

अर्थात यदि मैं सामान्य भाषा में गढ़ रहा हूँ, यदि मैं आगम का अनुसरण करके कुछ रच रहा हूँ, यदि ये गँवारी भाषा में गँवारे गये हैं, अर्थात् यदि इनका बाहरी पहरावा गँवारी भाषा है, पर ये सुभाषित वचन हैं। यह बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि सयंभु ने सामान्य जनता की बोली को उतना हेय नहीं समझा कि अपना सिर नीचा करे। इन्होंने जनता की बोली का गर्व किया है। सयंभु ने कहा है—

सक्कय पायय पुलिणालंकिय।.. ....
देसी भासा उभय तडुज्जल।........ . ..... "

अर्थात "देसी भाषा के दोनों तट चमचमा रहे हैं। क्योंकि ये (किनारे) सस्कृत और प्राकृत भाषा रूपी बालू से अलंकृत हैं।'

यह गर्व उचित था। हिंदी की इस परंपरा में कुछ संस्कृत और कुछ प्राकृत का मेल है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपभ्रंश में बहुत अधिक संस्कृत शब्द भरने की चेष्टा की। इससे हिंदी का बना-बिगड़ा कुछ नहीं, किन्तु इस जनित संस्कृताऊपन से सन्स्कृत अपभ्रष्ट हो गयी। मैं यहाँ केवल एक शब्द की ओर हिंदी के विद्वानों का ध्यान दिलाना हूँ। तुलसी ने प्राकृत और अपभ्रंश से 'विनय', 'विनती' आदि शब्द लिये हैं। तुलसी के ग्रंथों में इसका बहुत व्यवहार है। नागरी-प्रचारिणी-सभा तथा रामचन्द्र वर्मा के प्रामाणिक कोश में 'विनती' का अर्थ इस प्रकार है (ना० प्र० स० का कोश) **विनती**—[संज्ञा, स्त्री० दे०] विनति—विनति संज्ञा स्त्री० (स०) १ झुकाव, २ नम्रता, विनय, शिष्टता, सुशीलता, ३ प्रार्थना, विनती। विनय का इस प्रकार हैं: संज्ञा स्त्री० (स०) १ नम्रता, आजिज़ी; २ विद्या, ३ प्रार्थना, विनती......। प्राय ऐसे ही अर्थ रामचन्द्र वर्मा ने भी दिये हैं। अब देखिए, *विनय का अर्थ हेमचन्द्र के अनेकार्थ कोश में शिक्षा* भी दिया है। 'विनय शिक्षा प्रणत्योः' दिया गया है। पर इसका अर्थ प्रार्थना कैसे हो गया ? यह विद्वान् *कोशकार ही जाने। 'विनति' या 'विनती' का अर्थ* भी इसी प्रकार 'प्रार्थना' कैसे किया गया ? तुलसी ने संस्कृत-प्रेम के कारण इन शब्दों का अशुद्ध प्रयोग किया है। तुलसी में ऐसे अशुद्ध प्रयोग संस्कृत के नाम पर चल गये हैं। वास्तव में, ये शब्द तुलसी ने प्राकृत और अपभ्रंश से लिये हैं। सयंभु ने इसका ठीक प्रयोग किया है—

बुहयण सयंभु पइं विण्णवइ
एँहु सज्जण लोयहु किउ विणउ

सयंभु के प्रयोग शुद्ध हैं। इस विषय पर अधिक बातें और प्रमाण मेरे अप्रकाशित कोश में हैं। दुःख का विषय यह है कि हम सन्स्कृत-प्रेम की इस प्रबल झोंक में आजकल भी 'शिष्ट', 'मंत्र' 'आयोग', 'प्रभारी', 'याचिक' आदि शब्दों का अशुद्ध प्रयोग कर रहे हैं। यहाँ समझने की बात यह है कि तत्सम संस्कृत है तथा तत्सम और तद्भव की खिचड़ी प्राकृत है। हिंदी प्राकृत की उपज है।

संस्कृत को अति महानता दे कर हमने हिंदी को सँवारा नहीं, बल्कि संस्कृत को बिगाड़ दिया है। यह अज्ञान संस्कृत शब्दों की शुद्ध उत्पत्ति हमारे ध्यान में न आने के कारण है। शब्द का ठीक अर्थ शुद्ध निरुक्ति से खुलता है।

पुष्पदंत हिंदी का दूसरा कवि है, जिसने अपना 'महापुराण' में रामायण भी लिखा है। उसने सयंभु की प्रशंसा यों की है—

कइराउ सयंभु महायरिउ।
सो सयण सहासहिं परियरिउ॥

अर्थात् कवियों के राजा सयंभु महान् आचार्य हैं, और वे स्वजनों से घिरे हैं। (यह तिहुवण सयंभु का उल्लेख है जिसने चउमुह सयंभु के हरिवंशपुराण और रामायण (पउमचरिउ) उनके मरने के बाद पूरे किये) तथा वे स्वभाषा के परम आचार्य हैं। (परियरउ के दो अर्थ हैं) वास्तव में सयंभु के काव्य पढ़ कर स्पष्ट दिखाई देता है कि सयंभु की शब्द-संपत्ति अगाध थी और उसने उसका बहुत उत्तम प्रयोग किया है। एक उदाहरण लीजिए। उसने एक स्थान पर लिखा है—

तडि तड तडइ पडइ घण गज्जइ।
जाणइ रामहों सरण पवज्जइ॥

बरसात के दिन हैं। सिया, राम और लखन वन में हैं। एकाएक बादल उमड़-घुमड़ कर आकाश में छा गये। तब तड़ित् (बिजली) तड़तड़ायी और कड़कड़ा कर भूमि पर गिरी तथा लगे बादल गर-जने। बरसात के काले-काले घोर भयावने बादल जोर से तड़तड़ाने लगे और लगी बिजली पड़ने तथा बादलों की घोर गरज गरज सुन कर सीता डरावने जंगल के भीतर भय से भीत और त्रस्त हो गयी। नारी और अबला त्राहि त्राहि पुकार उठी। पर मन मसोस कर बैठी न रही। वह उस महारण्य में अकेली न थी। अशरणशरण उसके स्वामी पास में ही थे। उसको उपाय सूझा। जानकी तुरन्त राम की शरण में भाग खड़ी हुई। थोड़ा ध्यान से देखने पर सयंभु की कला की कुशलता फौरन सामने आ जाती है। 'तडि तड तडइ' में बिजली की कड़कड़ा-हट और गड़गड़ाहट सुनिए, और फिर दूसरे पद 'जाणइ रामहों सरण पवज्जइ' में भयभीत नारी के हृदय की दशा देखिए कि झटपट पति के पास भाग जाती है और उससे चिपट जाती है। 'तडि तड तडइ पडइ' में 'तड़फड़ाने' या तड़पने का भाव है। साथ ही 'तड़ातड़ और पटापट (पड़ापड़)' शब्द छिपे हैं। पवज्जइ का अर्थ है प्रव्रजति अर्थात् सब छोड़ कर भागना। पज्जइ से भाजना बन कर भागना रूप हुआ है। भाजना हिन्दी की कई बोलियों में वर्तमान है। कोशों में भी भाजना=भागना दिया गया है। इस चौपाई का चढ़ाव-उतार देखने योग्य है। और 'अखर तथा अरथ' का साम्य इतने संतु-लन के साथ किया गया है कि कवि की कलम चूमने को जी चाहता है। देखिए 'पडइ' का एक अर्थ फड़फड़ाना भी है। ऋग्वेद में पत् धातु का एक प्रमुख अर्थ उड़ना भी है। इससे सीता की बेचैनी, फड़कना, तड़पना सब एक साथ हमारी आँखों के सामने जीवित हो जाते हैं। सयंभु ने सीता को क्या ही मानव रूप दिया है, कि सीता की दुर्दशा मर्म में पैठ जाती है। किसी भी जीव को, जिसका मानवीय रूप हो, देवता बना देने में भले ही हममें भक्ति और श्रद्धा का अतिरेक हो जाए, किन्तु ऐसी कविता पूरा सुख नहीं देती और अतिमानव या लोको-त्तर हो जाती है। गुरुदेव ने सच कहा है: 'सब चेये मानुष बड़, तार चेये आर नाई।' अर्थात् मनुष्य सबसे बड़ा है, उससे बड़ा दूसरा कोई नहीं है। भयभीत हो कर हड़बड़ाहट में भागने वाली सीता हमारे समान ही आचरण करती है। किन्तु जब जानकी को हम 'जगत जननि' बना देते हैं तो उसकी 'अतुलित छबि भारी' का भार बहुत हल्का हो जाता है। लोग अपनी अपनी भक्ति या अभक्ति की भावना के अनुसार उस चौपाई का अर्थ करते

है। अब सयंभु की 'पाबस' पर कविता पढिए। इसमें 'आखर अरथ' का समन्वय देखिए, उपमाओं की लड़ी को सिर पर चढ़ाइए, नीति की माला को हृदय का हार बनाइए :

सीय सलक्खण दासरहि,
तरुवरमूले परिट्ठिय जावेंहि।
पसरइ सुकइहिं कव्यु जिह,
मेह-जालु गयणंगणे तावेंहि।

पसरइ जेम बुद्धि बहु-जाणहो।
पसरइ जेम पाउ पाविट्ठ हो॥
पसरइ जेम धम्मु धम्मिट्ठहो।
पसरइ जेम जोण्ह मयवाहहो॥
पसरइ जेम कित्ति सुकुलीणहो।
परसइ जेम किलेसु णिहीणहो॥
पसरइ जेम सद्दु सुर तूरहो।
पसरइ जेम रासि णहें सूरहो॥
पसरइ जेम दवग्गि वणंतरे।
पसरइ मेह-जालु तह अंबरे॥

अर्थात्, लक्ष्मण-सहित राम के साथ सीता पेड़ की जड़ में जब बैठ रहीं थीं, उस समय आकाश-रूपी आँगन में बादलों का जाल सुकवि के काव्य की भाँति विस्तार लेने लगा। वह इस प्रकार फैलने लगा, मानो बहुज्ञानी की बुद्धि हो। या इस प्रकार पसर रहा हो, (घोर और विशाल रूप धारण कर रहा हो), जैसे पापिष्ठ का पाप अथवा धर्मात्मा के धर्म की भाँति पसार ले रहा हो (प्रसिद्धि पा रहा हो)। मानो यह इस प्रकार छा जा रहा हो, जैसे चद्रमा की चाँदनी (सारे विश्व में व्याप्त हो जाती है), (काले बादल ऐसे छा जा रहे हैं) मानो सुकुलीन का (धवल) यश (संसार भर में) गाया जा रहा हो। (इसकी उपमा) निर्धन से दी जा सकती है, जिसके ऊपर क्लेश पर क्लेश पड़ रहे हो। (मेघ इस प्रकार उमड़-घुमड़ रहे हैं) मानो वज्र-ध्वनि सर्वत्र फैल रही हो अथवा जिस प्रकार राशि (तारों की) आकाश में सूर्य के नीचे फैलती हो। मेघ-जाल अंबर में उसी प्रकार घनत्व ले रहा है, जैसे वन में वन-आग फैल जाती है। पाठक उपमा की इस शृंखला की रमणीयता देखें और सयंभु की कवित्व शक्ति का अनुमान करें। इतनी उपमाओं से कवि ने यह तथ्य बड़ी सरसता के साथ बताना चाहा है कि बरसाती बादल बड़ी तेज़ी से नभ में भरे जा रहे थे। संस्कृत में प्रसिद्ध श्लोक है :

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यम् माघे सति त्रयो गुणाः॥

यही बात ऊपर की चौपाइयाँ देखने और उनका अर्थ समझने पर सयंभु के विषय में बहुत उपयुक्त जँचती है। सच है, यही कोमल-कांत पदावलि अपने लालित्य और सरसता के कारण हृदय में गुदगुदी पैदा करती है।

अब कुछ वसंत-वर्णन पढिए तथा कवि का प्रसाद गुण, शब्द-चयन, पद-लालित्य और अर्थ-गौरव हृदयंगम करके उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा कीजिए। कवि ने प्रातःकाल का वर्णन किया

विमलें विहाणएं कियएं पयाणएं,
उदयइरि सिहरे रवि दीसइ।
मइ मेल्लेप्पिणु निसियरु लेप्पणु,
कहिं गय णिसि णाइ गवेसइ॥

अर्थात् जब विमल विहान प्रयाण कर गया, तो उदयाचल की चोटी में सूर्य दिखाई दिया, मानो वह यह कहता हुआ कि रात मुझे छोड़ चन्द्रमा को अपने साथ ले कर कहाँ भाग गयी, उसकी खोज (अपनी अग्निमयी जाज्वल्यमान आँख से) कर रहा हो। कवि के उदात्त और अवदान भाव देखिए कि उसने बड़े सूरज को ज़मीन में ला पटका है। मामूली कामी पुरुष से उसकी उपमा दी है और एकदम नया रूप पाठक के सामने रख दिया है कि कभी स्वप्न में भी किसी कवि को ऐसी उक्ति न सूझी थी। एक-एक शब्द, एक-एक यति, एक-एक पद में

अमृत बरस रहा है, जिसे पी कर पाठक अघाते ही नहीं बल्कि उनकी प्यास और बढ़ती है।

सयंभु ने ऊपर के छंद में यह सिद्ध कर दिया कि सूर्य उसके लिए कोई हस्ती नहीं रखता और साथ ही उसने उस सत्भाव भी कर दिया। इसके आगे की चौपाई है

सुप्पहाय दहि-असं रवण्णउँ।
कामल-कमल किरणदल छण्णउँ॥
जय-हरे पइसारिउ पइसंते,
णावइ मगल-कलसु वसंते॥

अर्थात्, (वमन का) सुप्रभात है, (धूप) ऐसी रमणीय लगती है, माना उसमें दही मिलाया गया हो। (यहाँ रवण्ण में दूध, रबड़ी का अर्थ भी है — ले०) और प्रातःकाल का कोमल किरणों ने कोमल कमल के दल छा रखे है। ये ऐसे लग रहे हैं, मानो जगरूपी घर में पैठते हुए सूरज न (घर-घर) वसन्तोत्सव पर मगल-कलश स्थापित कर दिये हों। मगल-कलश के जल में दही, दूध आदि पंचगव्य पड़ते हैं। 'दहि-असं रवण्णउँ' इसका द्योतक है। यहाँ भी कवि की उदात्त भावना प्रभात के सूरज को, जो वास्तव में महान् है, वसंतोत्सव का मगल-कलश बना देती है। अब देखिए, सवेरे का सूर्य पीला होता है, मगल-कलश में बाहर शगुन के लिए हल्दी और पीला तथा लाल कपड़ा लपेटा जाता है। उसके भीतर जल रहता है, जिसमें दूध, दही आदि मिलाये जाते है। इनसे साम्य करके कवि का यह चित्रण है। एक उदाहरण और दे कर लेख समाप्त करता हूँ। सयंभु के रामायण में कवि की विशाल आत्मा ने बहुत ऊँची उडानें भरी है। काव्य-जगत् में बहुत कुछ नयापन दिया है। इसमें :

आखर अरथ अलंकृति नाना।
छंद प्रबंध अनेक विधाना॥
भावभेद रसभेद अपारा...।............... ...॥

सब भरे है। इस पर तुर्रा यह है कि सयंभु की भाषा जनता की 'भाखा' थी। वही तोड़-मरोड़ या खींचा-तानी नहीं है। इस कवि के यमक भी प्रसाद गुण से ओत-प्रोत है। यह सरसता स्वयं संस्कृत में नहीं है। उदाहरण-स्वरूप, वाग्भटालंकार मे दिया है :

दया चक्रे दयाचक्रे ॥२३॥अध्याय ४॥
सतां तस्माद्भवान्वितम् ॥२३॥अध्याय ४॥

इसकी टीका यों है : 'हे राजन, यस्माद्धेतोर्भवान् दया चक्रे करुणा चकार तस्मात्कारणाद्भवान् सतां साधूना वित्त दयाचक्रे दत्तवान्।' यहाँ दूसरे 'दयाचक्रे' का अर्थ खींचा-तानी का है, सहज नहीं। एक उदाहरण और देखिए :

द्विपामुद्धताना निहंसि त्वमिन्द्रः।
मुंद भो धराणांमुदम्भोधराणाम् ॥२५॥अध्याय ४॥

बिना टीका देखे इस श्लोक का अर्थ करना प्रायः असंभव है। किन्तु सयंभु ने चलतू और मुहावरेदार भाषा में अपना रामायण लिखा है। अतः उसे समझना कठिन नहीं है। संभवतः ये नाना गुण देख कर ही तुलसी ने अपने रामायण में उसका उल्लेख दो बार किया है। एक स्थान का उल्लेख ऊपर हो चुका है। दूसरा स्थान है :

कवि न होहुँ नहि चतुर कहावउँ।

इसमें चतुर शब्द 'चउमुह' 'चतुर्-मुख' का चतुर है, अन्यथा चतुर का अर्थ बैठता नहीं। चतुर का अर्थ धूर्त है। सो तुलसी कदापि चतुरता के भूखे न रहे होंगे। इस कारण मुझे लगता है कि यह चौपाई की मात्राएँ ठीक करने के लिए 'चतुर्मुख' का छोटा रूप चतुर है। संस्कृत में 'चउमुह' का नाम 'चतुर्मुख' प्रसिद्ध था। अब यमक के उदाहरण की परख कीजिए।

ण दीसर पइ सारएँ सारएँ।
माहव-मासु णाइ हक्कारएँ॥
सासय-सिव स-पावणें-पावणें।

दरिसावियउ फागुणे-फागुणें ॥
णव-फल-परिपक्काणणें काणणे ।
कुसुमिय साहारएँ साहारएँ ॥
रिद्धि गयक्कोक्कणयहि कणयहे ।
हसब्भरियें कु-वलएँ कुवलएँ ॥
महुयर गहु मज्जतएँ जतएँ ।
कोइल वासतएँ वासतएँ ॥
कीर-वदि उट्ठतएँ ठतएँ ।
मलयाणिले आवतएँ वतएँ ॥
मधुवरि पाडसलावएँ लावएँ ।
जहि णवि तितिरयहो तित्तिरएँ ॥

....

तहि तणु तप्पइ सीयहें सीयहें ॥

इसका अर्थ है (यह भी वसत-वर्णन है) मानो दिवसपति (भानु) धीमे धीमे अथवा ऋतुओ के सारभूत माधव-मास को सर मे ढो कर लाया है। (मानो) शाश्वत शिव ने (इस स्वच्छ ऋतु में) सब पाप (भस्म करके) एक साथ सारा जग पावन कर दिया है। (इसलिए) उसने फागुन महीने का गुण फक से दिखा दिया है, अर्थात उसका फीकापन या बुराइयाँ सामने ला दी है। फागुन को प्राकृत भाषाओ के कवि अच्छा नही समझते थे। रामायण में अन्यत्र सयभु ने कहा है

फग्गुण खलहो दूउ णीसारिउ ।
जेण विरहि जण कहवि ण मारिउ ॥
गिरिवर गाम जेण धूमाविय ।
वण-पट्टण णिहाय सताविय ॥

अर्थात्, कानन में (कहीं-कहीं) परिपक्व आनन का (लाल) नया फल देखा जाता है तथा सहकार की सब शाखाओ में बौर आया है और सब डालियो में पक्षी कलरव कर रहे हैं। कोकनद नामक लाल कमल की श्री उड गयी है, क्योंकि उनकी चमक या कमनीयता चली गयी है और हस (इतने उन्मत्त) हो गये है कि उनकी जो सदा की रीति एक पाँत में चलना है, वह बिगड गयी है, भले ही वे अभी कुवलय (नीलकमल) सर में क्रीडा कर रहे है। मधुकर या मौन (की मद-मत्तता) देखो कि वे मधु में डूबते जाते है (किन्तु कोई चिन्ता नही), कोयल की दशा यह है कि वसत के इस वातावरण में मानो जा रही है। तोता वदी बना हुआ है और उसकी ध्वनि उठ रही है तथा मलयानिल वृतो मे आता हुआ दिखाई दे रहा है। मधुवरि अर्थात् बरें इतने मस्त है कि उनकी गुजार लावा पक्षी की उच्च ध्वनि की बराबरी कर रही है। तीतरों को देखिए ,वे (वसत में) मैथुन मे इतने रत है कि उनकी तृप्ति ही नही हो रही है इस (परम आनन्द की) ऋतु में सीता शीत का अनुभव कर रही है और विरह से तप्त है। इन चौपाइयो में सभी यमक शब्दों के तोड-मरोड या खीचा-तानी की अपेक्षा नहीं करते। इनका अनुवाद महापडित राहुल साकृत्यायन जी ने अपनी पुस्तक 'हिंदी काव्यधारा' में दिया है, किन्तु अपभ्रंश-भाषा का पूरा ज्ञान न होने कारण इसमें अशुद्धियो की भरमार है। पाठक देखे, काव्याधारा का हिंदी अनुवाद यो है—

जनु दिवस पति धीरेहिं धीरे ।
माधव मास ल्याइ हंकारे ॥
शाश्वत शिव इव पावन-पावन ।
दरसायउ फागुन का-गुन ॥
नव फल परिपक्वानन कानन ।
कुसुमेउ सहकारे सहकारे ॥
ऋद्धि गयेउ कोकनद कारकई ।
हसा हसे कुवलय कुवलय ॥
मधुकर मधु मज्जते याँते ।
कोकिल वासते वासते ॥
कीर-वदि उट्ठते ठते ।
मलयानिल आवते-वते ॥
मधुकरि प्रतिसंलापै लापैं ।
जहँ नव तीतरयें तीतरये ॥
तह तनु तप्पै सीतहँ शीते ।

पाठक इन चौपाइयो का अर्थ समझें और स्वय इन

पर अपना निर्णय दें। वास्तविकता यह है कि प्राकृत भाषाओं का अर्थ बिना गुजराती, मराठी, राजस्थानी, नेपाली, मैथिली, कुमाउनी आदि भाषाओं और बोलियों का अध्ययन किये नहीं खुल सकता। प्राकृत भाषाओं के अनेक शब्द आज भी उक्त भाषाओं में प्रचलित हैं, जिनका अर्थ इन भाषाओं के सहारे ही समझ में आ सकता है। ऊपर के अपभ्रंश में के कई शब्द कुमाउनी बोली में जीवित हैं, अन्यत्र मर गये है। कुछ शब्द गुजराती में प्रचलित है। 'मारएँ मारएँ' कुमाउनी और गुजराती में है। 'सार' संस्कृत में निचोड़ और फलत उत्तम वस्तु को कहते हैं। 'मारो' कुमाउनी और गुजराती में सुंदर और मजबूत को कहते है। पहले 'मारएँ' का यही अर्थ है, दूसरा 'मारएँ' कुमाउनी बोली में विद्यमान है। यह 'मृ' धातु का रूप है और इसका अर्थ है, ले जाना। हिंदी कोशों में सारना पाया जाता है, और इसका अर्थ पूर्ण करना, साधना, बनाना, सुशोभित करना, सुंदर बनाना, सँभालना आदि है। भभिए का अर्थ भ्रष्ट होना है। यह बहुधा काम में आने वाला प्राकृत शब्द है, जिसका अर्थ निश्चित है। वासनए भी प्राकृत शब्द है, जिसका अर्थ पक्षियों का बोलना या कलकूजन है। यह शब्द कुमाउनी बोली में प्रचलित है। मधुवरि का अर्थ घर या भिड़ है। कुमाउनी बोली में इस मधुवरि का झिमौड़ रूप हो गया है। इन शब्दों का ज्ञान होने से उक्त चौपाइयों का अर्थ खुलता है। आवश्यकता है कि स्वयंभू के ग्रंथों का अच्छा संपादन हो और वे प्रकाशित किये जाएँ। इससे हमारा हिंदी-ज्ञान गहरा होगा।

त्रिलोचन | दो कविताएँ

एक

पागल है तू, उन देवों के गुण गाता है
जिनको अपनी आँखों तूने कभी न देखा।
खींच नहीं सकता है जब तू कोई रेखा
चित्र बनाएगा क्या ? जो पथ पर आता है,
फैला हो लेकिन उससे तेरा नाता है,
आत्मा को आँखों में आने दे फिर लेखा
तू उसके जीवन का ले सकता है। पेखा
पेखन जीवन की साँसों में बस जाता है।

नहीं स्वार्थ की लहरों में कम गीत भरे हैं।
कम कुछ प्यार नहीं है माता का बच्चे से।
भाई, बहन, भतीजे, अपने और पराये
सम्मुख-विमुख प्राण धारा से सिक्त हरे हैं।
कहाँ रंग पक्का है जिस पर तू कच्चे से
भाग रहा है। उन्हें भेंट जो आगे आये।

दो

सुषमा कालकलावलीढ़ है पर सुषमा ही
वन्द्य और ध्यातव्य रही है। कालकला की
अखंड उसी से उद्भासित है। तुम माया की
छलना उसे कहो, अन्तर की रति मन चाही
बात अवश्य करा लेगी। वह ऐसी डाही
है, अवकाश न देगी; अपनी भी छाया की
कब प्रतीति उसको है ? सच्चाई काया की
कहाँ उपेक्षा करती है ? हो आवाजाही।

आह अनित्यों ने ही नित्य नाम गाया है।
गया अनित्य नित्य का कोई पता नहीं है।
वस्तु हाथ की ऐसी खोयी पता नहीं है।
क्षणिक प्रसूनों ने ही देव-मान पाया है।
सौरभ की भाषा में दिव्य ध्यान गाया है।
वाणी किन तारों में खोयी पता नहीं है।

रामकुमार | वापसी

हावड़ा स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी, तो सुबह हो चुकी थी। इन्टर क्लास के डिब्बे में से निनिन बाहर प्लेटफार्म पर कूद पड़ा। डिब्बे के अन्दर पड़े अपने सूटकेस और बिस्तर की मानो उसे कोई फिक्र नहीं थी। वह कुछ देर तक आँखें फाड़-फाड़ कर लम्बे-चौड़े प्लेटफार्म को देखता रहा। खंभों और दीवारों पर फ्रेमों में जड़े 'विज़िट कुनारक' 'विज़िट दारजिलिंग' पोस्टरों पर वह दूर से ही दृष्टि डालता रहा। पाँच वर्ष पुरानी स्मृतियों को वह अपने दिमाग में ताजा कर रहा था, परन्तु वे स्मृतियाँ एक दूसरे में उलझ कर इस प्रकार जकड़ गयी थीं कि कोशिश करने पर भी वह उन्हें एक नियमित सूत्र में नहीं बाँध सका। क्या कुछ बदला है, या शायद कुछ भी नहीं बदला है—इसका निश्चय वह प्लेटफार्म पर खड़े हो कर नहीं कर सका। दिसम्बर का आकाश नीला और साफ़ था। कहीं बादल का कोई टुकड़ा ढूँढने पर पाना संभव नहीं था। हावड़ा का पुल, उस पार निनिन की परिचित सड़कें, बाज़ार, गलियाँ और रेस्तराँ..। वह टैक्सी में पीछे की सीट पर बैठा, खिड़की में से कभी दायीं ओर कभी बायीं ओर झाँक रहा था, मानो किसी बड़े शहर में पहले-पहल आया हो। दूकानें खुल गयी थीं और फुटपाथों पर लम्बी-लम्बी पतली दुबली टाँगों वाले लड़के चिल्ला-चिल्ला कर अख़बार बेच रहे थे।

निनिन ने अपने कलकत्ता आने की सूचना किसी को नहीं दी थी। कुछ के पते याद थे, परन्तु वे परिचित उन्हीं मकानों में होंगे, इसका संदेह उसके मन में बना हुआ था। कलकत्ता आने से पूर्व उस पुरानी ज़िंदगी की एक झाँकी फिर देखने की उसके मन में तीव्र इच्छा बनी हुई थी; यूनिवर्सिटी, काफ़ी हाउस, लाइट हाउस के 'धार', झील के किनारे, चौरंगी पर बिना किसी काम के घूमने को उसका मन

बार-बार करता था, परन्तु अब प्लेटफार्म पर अकेले खड़े-खड़े वह उद्विग्न-सा हो उठा। सोचा कि शायद उसे यहाँ नहीं आना चाहिए था।

शाम को नितिन चौरंगी पर आ गया। हवा में धीरे-धीरे सर्दी की मात्रा बढ़ती जा रही थी। उसने एक हाथ पैंट की जेब में डाल रक्खा था और दूसरे की उँगलियों में सिगरेट दबी हुई थी। इस प्रकार सड़कों पर एक अजनबी की भाँति शहर में अकेला घूमना उसे अच्छा लगा। पेरिस में पहले पहल वह इसी प्रकार अकेला सड़कों पर घूमा करता था, तब कलकत्ता की याद आती थी और अब पेरिस उसकी आँखों के सामने घूम रहा था। उसने महसूस किया, मानो राह चलते सब लोग उसी की ओर घूर-घूर कर देख रहे हों।

किसी रेस्तराँ में बैठ कर उसने चाय पीने का निश्चय किया। हिन्दुस्तान रेस्तराँ की सीढ़ियाँ चढ़ कर, वह ऊपर आ गया। बाहर बरामदे में एक कुर्सी पर बैठ कर, उसने बेटर से चाय लाने के लिए कहा। जब वह एम० ए० में था, तो प्राय हर शाम को वह अपनी टोली के साथ यहाँ आ कर बैठा करता था। अकेले बैठना उसे बड़ा अजीब-सा लगा। वह ऊपर से सड़क पर गुज़रते अपरिचित चेहरों को देखता रहा।

कुछ ही देर में वह रेस्तराँ में अकेले बैठे-बैठे ऊब गया। पाँच वर्ष पुरानी स्मृतियाँ उलझे तारों की भाँति उसके मस्तिष्क में घुड़-दौड़ लगाने लगीं। इसी रेस्तराँ में कितनी ही शामें उसने अपने दोस्तों के साथ काटी थीं और आज वह अकेला एक कुर्सी पर बैठा सिगरेट पर सिगरेट फूँके जा रहा है। पाँच वर्षों में इतना परिवर्तन कैसे हो गया ?

थोड़ी देर पश्चात् वह फिर चौरंगी पर आ गया। क्रिसमस की छुट्टियों में चौरंगी पर सैर करने वाले लोगों में जो लापरवाही और निश्चिन्तता आ जाती है, उससे नितिन अपरिचित नहीं था। क्रिसमस में वह भी हर शाम को बिना किसी मतलब के चौरंगी पर घूमा करता था, उसकी चाल धीमी होती थी और हँसी के ठहाके तेज होते थे। इसी प्रकार पेरिस के बुलीवारों में भी अपने मित्रों के साथ आधी-आधी रात तक घूमा करता था। बिजलियों में चमचमाते अनगिनत कैफे और बुलीवार-सां-मिशेल की पटरी पर बिना किसी उद्देश्य को धीमी चाल से सैर करना!

बाहर अँधेरा हो गया था और सड़क पर लगे बिजली के खम्भे अपने प्रकाश से काली कोलतार की सड़क को चमका रहे थे।

नितिन पहले ही दिन कलकत्ता से ऊबने लगा। जिस शहर से इतनी स्मृतियाँ गहरा नाता जोड़ चुकी हुई हों, वहाँ अकेले अपने विचारों में डूबे रहने से उसे भय लगने लगा।

तभी सामने से एक परिचित चेहरा उसे दिखाई दिया। इतनी भीड़ में एक जाना-पहचाना चेहरा देख कर नितिन को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह दीपा थी। कालेज में उससे एक साल जूनियर थी।

"हलो!" दीपा के तनिक पास आने पर उसने धीमे स्वर में कहा।

दीपा ने चौंक कर नितिन की ओर देखा। क्षण-भर तक वह उसके चेहरे की ओर देखती रही—"अरे बाबा! तुम यहाँ कहाँ? कहीं तुम्हारा भूत तो नहीं देख रही हूँ?"

"शायद भूत ही देख रही हो!" नितिन ने हँसते हुए कहा।

"अपने आने की खबर तो कर देते! पेरिस से कब लौटे?"

"पेरिस से आये तो चार महीने बीत चुके।"

"यहाँ तो बात करना मुश्किल है। चलो, कहीं चल कर बैठा जाए।"

नितिन ने देखा कि दीपा अकेली नहीं है. उसके साथ एक अन्य युवक भी है धोती-कुर्ता पहने, आँखों पर चश्मा लगाए, पैरों में एक साधारण-सी चप्पल।

'कहाँ चलें ?' दीपा ने पूछा।

"कहीं भी। जहाँ तुम्हारी मर्जी हो।"

"यहाँ तो भीड़ ही होगी, आदम-घाट की ओर चलते हैं।"

सड़क पार करके वे तीनों ट्राम की लाइनों पर चलने लगे, परन्तु निश्चिन्तता से बातें करना अभी तक संभव नहीं हो सका था। दीपा से इस प्रकार मिलने से नितिन को आश्चर्य नहीं हो रहा था, जितना कि यह सोच कर कि सबसे पहले उसकी मुलाकात दीपा से ही हुई। उसने कनखियों से अपने साथ चलती हुई दीपा को देखने की कोशिश की। वही पतला-दुबला शरीर—नितिन को ऐसा लगा, मानो वह पहले से अधिक दुबली हो गयी है। जब घूम कर बात करती, तो उसके गले की हड्डी पेड़ के सूखे तने की भाँति अकड़ी-सी जान पड़ती थी। गालों की हड्डियाँ अधिक उभर कर चमक रही थीं। उसके कंधे से एक बैग लटक रहा था।

"कहाँ हो आजकल ?" ट्राम गुजर जाने पर दीपा ने पूछा।

"पटना में लेक्चररशिप मिल गयी है।"

"मैं भी यहाँ एक प्राइवेट कालेज में पढ़ाती हूँ।"

"और लोग कहाँ हैं ?"

"और लोगों से तुम्हारा क्या मतलब है, नितिन ?"

नितिन क्षण-भर के लिए चुप रहा। उसने सोचा कि शायद दीपा उसका मजाक उड़ा रही है। क्या वह उन 'और' लोगों की बात नहीं जानती, जिनके साथ घंटों कालेज स्ट्रीट के काफी हाउस में बैठ कर दुनिया-भर की बातें की जाती थीं। क्या फिर वह भी दीपा के सम्मुख उतना ही अपरिचित है, जितना कि सड़क पर घूमता हुआ कोई अन्य व्यक्ति!

"महिम, गोपाल, सुव्रत, वगैरह..."

दीपा तनिक जोर से हँसी। अँधेरे में एकबारगी उसकी हँसी चारों ओर गूँज गयी।

"गोपाल शांतिनिकेतन में पढ़ाने लगा। महिम शायद कुछ नहीं करता, कलकत्ता में ही है, और सुव्रत, वह भी शायद यहीं है। मैं ज्यादा नहीं जानती। मुलाकात ही नहीं होती।"

नितिन चुप रहा। उसने अपनी जेब में से सिगरेट का पैकेट निकाला।

"तुम अब भी पीती हो, या छोड़ दिया ?"

"पीती तो हूँ, लेकिन बाहर नहीं पिऊँगी।"

"और तुम्हारे मित्र..."

"अरे, क्या तुम नृपेन को नहीं जानते ? ओह ! माफ करना। मैं अब तक समझ रही थी कि तुम दोनों एक दूसरे से परिचित हो।" दीपा ने कुछ शब्दों में नृपेन का परिचय दे दिया।

दोनों ने हाथ-जोड़ कर एक दूसरे को नमस्ते की।

"नृपेन कविता लिखता है, हम लोगों जैसा कवि नहीं, जो लेक्चर के समय अपनी कापियों पर कविताएँ लिखा करते थे, बल्कि एक 'प्रोफेशनल' कवि, जिसके दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।" दीपा ने बताया।

तीनों आदम-घाट पर जा कर खड़े हो गये। सामने, दूर-दूर तक फैली जल-राशि रात्रि के अंधकार में अपना अस्तित्व खो चुकी थी। थोड़े

फासले पर खड़े जहाजों की रोशनियाँ पानी में अपनी परछाइयाँ बनाने का विफल प्रयास कर रही थीं। कुछ देर वहाँ खड़े रहने के बाद, तीनों घाट पर बने रेस्तराँ में ऊपर चले गये। दीपा बीच में बैठी और उसके दाँयें-बाँयें नितिन और नृपेन बैठे।

"क्या पिओगे नितिन ?"

"जो मर्जी हो, मँगा लो।" नितिन ने उदासीन स्वर में कहा।

दीपा ने वेटर से चाय लाने के लिए कहा। वह मेज पर कोहनियाँ को टिकाए हथेलियों से ठुड्डी को पकड़े, मेज़ पर झुकी हुई थी। नितिन कभी कनखियों से उसकी ओर देखता और कभी नृपेन की ओर।

"और कुछ पेरिस के हाल-चाल बताओ, तुमसे तो बड़ी मुद्दत के बाद मुलाकात हुई है।"

नितिन को ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो शिष्टाचार निभाने के लिए ही दीपा उससे ये सब बातें कर रही है, तभी बातें कुछ उखड़ी-उखड़ी-सी लग रही हैं। पहले, रोज़ घंटों दीपा उन लोगों के साथ रहती थी, परन्तु कोई ऊबता नहीं था। आज इतनी बातें कहने को हैं, पाँच वर्षों का घटनाओं से भरा एक अरसा है, परन्तु बात-चीत का तारतम्य नहीं बन पा रहा है।

नृपेन ने कोई बात नहीं की। वह गम्भीर मुद्रा में बैठा रहा। थोड़ी-थोड़ी देर बाद दीपा उसकी ओर मुड़ कर देख लेती, मुसकरा देती थी और एक-आधा वाक्य बंगाली में कह देती थी।

"आजकल तो तुम्हारी भी छुट्टियाँ होंगी ?" नितिन ने पूछा।

"कालेज तो बंद है, लेकिन परचे देखने हैं।"

"तुम्हारा रवीन्द्र-संगीत कब सुनने को मिलेगा ?"

दीपा हँसने लगी और हँसते-हँसते नृपेन पर भी उसने एक दृष्टि डाली। नितिन बहुत गंभीरता के साथ दीपा को हँसते हुए देखता रहा। उसके चमकते हुए सफेद दाँत उसके हृदय में दबी हुई न जाने कौन सी स्मृतियों को जगा रहे थे। नितिन की तबीयत हुई कि वह दीपा के सफेद दाँतों पर अपना हाथ रख दे।

रेस्तराँ में कुछ लोग खाना खा रहे थे और कुछ बीयर, ह्विस्की आदि पी रहे थे। एक हल्का-हल्का-सा शोर सारे रेस्तराँ में छाया हुआ था।

"एक दिन दक्षिणेश्वर से बेलूर तक का बोटिंग का प्रोग्राम बनाया जाए।"

"हाँ-हाँ, किसी दिन चलेंगे। मुझे भी बोटिंग किए एक जमाना बीत गया।"

"पहले हम लोग कितनी बोटिंग करते थे !"

"पहले की बात और थी नितिन। तब कालेज में पढ़ते थे, अब पढ़ाते हैं। देखा, कितना अन्तर आ गया है, हम लोगों में !"

थोड़ी देर बाद दीपा बोली—"अब चलना चाहिए नितिन, काफी देर हो गयी है। घर पर कुछ लोग आने वाले हैं।"

नितिन की बाहर जाने की अभी तबीयत नहीं थी, फिर जा कर अकेले चौरंघी पर टहलना या होटल के अपने कमरे में जा कर चारपाई पर लेटना उसे सम्भव नहीं जान पड़ रहा था।

"तुम जाओ, मैं तो अभी कुछ देर बैठूँगा।"

दीपा कुर्सी खिसका कर खड़ी हो गयी—"अच्छा, फिर कब मिलोगे ?"

"कल यूनिवर्सिटी काफी हाउस में मिलो।"

"अच्छी बात है। हो सका, तो महिम को भी लेती आऊँगी। आजकल वह हमारे घर के पास ही रहता है।"

"तो कल तीन बजे मिलना !"

दीपा ने मुसकरा कर अपनी गर्दन हिला दी। नृपेन ने हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। नितिन ने देखा कि नृपेन के चेहरे पर अब भी मुसकान की एक छाया तक नही है। उन दोनो के चले जाने पर नितिन आश्चर्य से सोचने लगा कि दीपा भला इस प्रकार के व्यक्ति को कैसे अपना मित्र बना सकी है।

रात को अपनी चारपाई पर लेटे लेटे नितिन दीपा के विषय में ही सोचता रहा। इतने अरसे में उसने कितनी बार दीपा को याद किया था! शुरू-शुरू में तीन-चार महीनों तक उसने पत्र अवश्य लिखे थे, परन्तु फिर वह तांता भी टूट गया था, और समय के बीतने के साथ उसकी याद कितनी धुंधली बन चुकी थी। हिन्दुस्तान पहुँच कर, उसने अपने वापिस लौट आने तक की सूचना दीपा को नही भेजी थी। तब आज दीपा से मुलाक़ात करके उसके हृदय में एक प्रकार की रिक्तता क्यों उभरने लगी है?

अगले दिन उसने 'अमजदिया' के रेस्तरां में खाना खाया। वह उन सब स्थानों में जाना चाहता था, जिनके साथ उसकी स्मृतियों का अटूट संबंध था। वहाँ जाने से उसे शान्ति मिलती, ऐसी बात नही थी, उल्टे अकेले बैठे, उसका मन अतीत में घुड़-दौड़ लगाने लगता था। वह पैदल ही धर्मतल्ला स्ट्रीट पार करके कालेज स्ट्रीट की ओर बढ़ गया। हाथ की घड़ी देखी, तो डेढ़ बजा था, दो बजे तक काफी हाउस में पहुँच जाएगा। छुट्टियाँ होने के कारण कालेज स्ट्रीट में विशेष भीड़ नही थी। एक ओर पटरी पर पुरानी किताबों की दूकानें थी। उन्हे देख कर नितिन को सेन नदी के ऊपर पुरानी किताबों के स्टाल याद आये, जहाँ हर रविवार को नियमित रूप से उसके जाने का प्रोग्राम बना हुआ था। काफी हाउस खचाखच भरा था। कालेज बंद होने के कारण छात्रों को अपना समय काटने का सबसे उपयुक्त स्थान काफी हाउस ही जान पड़ता था, जहाँ मित्रो से मुलाकात होने की सम्भावना बनी रहती थी।

नितिन ने एक दृष्टि काफी हाउस में बैठे लोगो पर डाली। सब चेहरे उसे अपरिचित जान पड़े। वह सोच रहा था कि पहले की भाँति कम-से-कम एक चौथाई लोग उसके परिचित होंगे। उसे अपनी भूल का आभास हुआ। यूनिवर्सिटी से निकलने के बाद फिर कोई कालेज स्ट्रीट के काफी हाउस में नही आता। तब वह क्यो आया?

तभी उसे एक कोने में महिम कुछ लोगो के साथ बैठा दिखाई दिया। वह महिम की ओर बढ़ गया। महिम नितिन को देखते ही खड़ा हो गया और मुसकराते हुए उसने ज़ोर से नितिन का हाथ दबाया।

"आज दीपा ने मुझे तुम्हारे आने की खबर दी, तो सहसा मुझे विश्वास नही हो सका।"

फिर उसने अपने साथ बैठे लोगों का नितिन से परिचय करा दिया। नितिन ने उसके साथियों में कोई दिलचस्पी नही दिखायी। वह ध्यान से महिम की ओर देखता रहा।

"अब तो तुम डाक्टर हो नितिन। रीयली यू हेव बीन वेरी लकी। पेरिस में पाँच साल रह आये!"

"और अपने हाल-चाल बताओ।"

"यहाँ बतलाने के लिए क्या है? बेकारी का अरसा खत्म होने पर ही नही आता।"

"आजकल यहाँ ज्यादा नही आते?"

"हाँ, बहुत कम आता हूँ। यहाँ आने को तबीयत ही नही करती। अब, जब कालेज की बात सोचता हूँ, जब कि सारा-सारा दिन यहाँ बैठे रहते थे, तो अपने ही आप पर तरस आने लगता है।"

फिर इधर-उधर की बातें होने लगी। कोशिश करने पर भी नितिन बात-चीत में उतना रस नहीं

ले सका, जितना कि वह लेना चाहता था। उसने अनुभव किया कि महिम की बातों में पहले की अपेक्षा बहुत अन्तर आ गया है। कालेज की ज़िंदगी में उसके चेहरे पर जो लापरवाही और निश्चिन्तता और स्फूर्ति की छाया थी, उसको ढूंढने पर भी उसे कोई आभास नहीं मिला। वह सब कहाँ गया? उसका एक चिह्न तक नहीं बच पाया।

"कुछ पेरिस की बातें बतलाओ नितिन!"

नितिन ने मुसकराने की चेष्टा की। इस समय पेरिस की याद तक करना, उसे असम्भव प्रतीत हो रहा था। उसकी आँखों के सामने काफ़ी हाउस के वे दृश्य घूम रहे थे, जब यहीं बैठ कर क्लास में लिखी गयी, कविता की चार पंक्तियां सुनायी जाती थीं, सुव्रत किसी संग्रह या किसी पत्रिका में से किसी नये कवि की कविताएँ सुनाता था और नितिन के लिए उसका अंग्रेज़ी में अनुवाद किया करता था, जब यूनिवर्सिटी में स्टूडेन्ट फेडरेशन को अधिक शक्तिशाली बनाने की योजनाएँ पेश की जाती थीं।

थोड़ी देर बाद दीपा आयी। वह गहरे नीले रंग की सूती धोती पहने थी। उसके एक हाथ में दो-तीन किताबें और एक कापी दबी हुई थी। जब तक वह उनके समीप नहीं पहुँच गयी, तब तक नितिन अपलक दृष्टि से उसकी ओर घूरता रहा।

वेटर काफ़ी ले आया। दीपा महिम के साथ वाली कुर्सी पर बैठी।

"आज ऐसा लग रहा है, जैसे हम भी यूनिवर्सिटी में हों। बस, गोपाल और चीन्हू की कमी है।" नितिन ने काफ़ी के गरम प्याले को हाथ में लेते हुए कहा।

"तुम इतने सेंटीमेंटल कब से बन गये नितिन? क्या पेरिस में यही सीख कर आये हो?" महिम ने हँसते हुए नितिन के कंधे को पकड़ कर कहा।

दीपा कुछ नहीं बोली, कुछ क्षणों तक वह नितिन के चेहरे की ओर देखती रही और नितिन चुपचाप दीपा के मन में उठने भावों का अनुमान लगाने की कोशिश करने लगा। महिम ने भी दीपा की इस मुद्रा को देखा, परन्तु ऊपर से वह मुसकराता रहा।

नितिन को याद आया कि सिगरेट पीते समय दीपा की बड़ी-बड़ी आँखें अधमुँदी-सी हो जाती हैं, जिससे उसका रूखा चेहरा और भी रूखा लगने लगता है। उसने जेब से सिगरेट का पैकेट निकाला और पहले दीपा की ओर फिर महिम की ओर बढ़ाया।

काफ़ी हाउस में कोलाहल जारी था।

दीपा अपने पास बैठे एक युवक से कुछ बातें करने लगी। नितिन ने महिम की ओर देखते हुए कहा, "और कुछ सुनाओ महिम।"

महिम क्षण-भर के लिए चुपचाप बैठा दीपा की ओर गम्भीर दृष्टि से देखता रहा, फिर नितिन की *आगे झुक कर धीमे स्वर में कहा—"दीपा तुम्हारी उपस्थिति में कुछ बदल-सी...यानी वैसी नहीं है, जैसी पहले होती थी....."*

नितिन चौंक पड़ा। वह उँगलियों में दबी हुई सिगरेट की राख एशट्रे में झाड़ने लगा।

"मैं ठीक कहता हूँ नितिन, ज़रा दीपा की तरफ़ देखो।"

नितिन उसी प्रकार झुका बैठा रहा। दीपा की ओर ताकने का मानो उसमें साहस नहीं था।

नितिन को कुछ पुरानी बातें याद आने लगीं। कोई महिम को गम्भीरता से नहीं लेता था, उसके चेहरे पर भी बचपन के कुछ ऐसे भाव थे और उसकी बातें भी इस प्रकार की होती थीं कि सब मित्र उसको ले कर मज़ाक उड़ाया करते थे। उसे छेड़ने के लिए सब यह कहते थे कि वह दीपा से प्रेम करता है, परन्तु इस बात को प्रकट करने का

उसमें साहस नहीं है। दीपा स्वयं भी कभी कभी मुसकरा कर उसकी पीठ थपथपा देती थी।

उसने दीपा की ओर देखा, तो वह अपने पास बैठे दो लड़कों से धीरे-धीरे बंगला में बातें कर रही थी। पहले निनिन कुछ-कुछ बंगला समझ लेता था, परन्तु बोलना सम्भव नहीं होता था। परन्तु अब समझना भी उसके लिए असम्भव था। वह भीड़ से भरे काफी हाउस में अपने आपको बहुत अकेला-अकेला-सा पा रहा था मानो वही एक अनावश्यक व्यक्ति वहाँ बैठा हुआ हो। दीपा को अपनी उँगलियों में दबी सिगरेट की बात शायद भूल गयी थी, क्योंकि सिगरेट की एक चौथाई लंबाई राख की बन गयी थी, जिसे झाड़ना उसे याद नहीं रहा था।

फिर काफी हाउस से उठ कर ट्राम से वे चौरंघी आ गये। नितिन, दीपा और महिम के अतिरिक्त एक और मित्र भी रह गया था, जिसका नाम नितिन को पता नहीं था। नितिन की तबीयत होने लगी कि वह भी उन तीनों को अकेला छोड़ कर चला जाए।

"चलो, लाइट हाउस के 'बार' में चला जाए। नितिन इतनी मुद्दत के बाद आया है। लेट अस सेलीब्रेट हिज अराइवल.." महिम ने दीपा की ओर देख कर कहा।

"हाँ—हाँ, आई विल स्टैंड यू ड्रिंक्स.." नितिन न जाने कहाँ से अपने में असीम उत्साह अनुभव कर रहा था। उसे महिम की बात याद आयी कि दीपा उसके जाने से कुछ बदल-सी गयी है।

दीपा ने 'हाँ', 'न' कुछ भी नहीं की। जब वे लाइट हाउस की ओर बढ़े, तो उसने कोई आनाकानी नहीं की। नितिन ने चैन की साँस ली। परन्तु उसे चौथे आदमी की उपस्थिति अखर रही थी।

लाइट हाउस की सीढ़ियाँ चढ़ कर, वे दूसरी मंजिल पर 'बार' में आ गये। वे एक खिड़की के पास कोने में मेज के चारों ओर बैठ गये। बड़े दिनों के उपलक्ष्य में 'बार' की छत पतले रंगीन कागज़ों के फूल-बेलों से सजी हुई थी।

बेटर आया, तो नितिन ने दीपा की ओर देखते हुए कहा—"तुम भी बीयर पिओगी न, दीपा?"

महिम ने हँसते हुए कहा— 'तुम इन पाँच सालों में सब कुछ भूल गये नितिन! जानते नहीं कि जब हम बीयर पीते थे, तो दीपा हमेशा 'ब्रैंडी' पिया करती थी।"

"आज मैं भी बीयर ही पिऊँगी।" दीपा ने महिम की ओर देखते हुए कहा।

नितिन ने बेटर से दो बोतलें लाने के लिए कहा। उसने अपनी जेब में से सिगरेट का पैकेट निकाल कर, मेज पर रख दिया।

निनिन के साथ वाली कुर्सी पर दीपा बैठी थी, फिर महिम था और फिर वह नवागन्तुक। नितिन खुली खिड़की से बाहर की ओर झाँक रहा था। सामने के मकान से एक चीनी युवती मुँडेर पर अपनी कोहनियाँ टिकाए नीचे झुकी हुई भीड़ को देख रही थी। दीपा को अपने साथ वाली कुर्सी पर बैठे देख कर नितिन को थोड़ी घबड़ाहट-सी हो रही थी। अगर वह और दीपा वहाँ अकेले रह जाते, तो नितिन के लिए बात तक करना दूभर हो जाता।

"तुम बहुत चुप रहने लगे हो नितिन!" दीपा ने धीमे स्वर में कहा, जिससे नितिन के अतिरिक्त और कोई उसकी बात नहीं सुने।

"तुम भी तो बहुत बदल गयी हो।"

दीपा ने मुसकराने की चेष्टा की—"कहाँ बदली हूँ, नितिन! आज यहाँ बैठ कर ऐसा लग रहा है, जैसे अब भी यूनिवर्सिटी में हों। तुम पाँच साल के बाद यहाँ आये हो, इसी से तुम्हें सब कुछ बदला

हुआ जान पड़ रहा है, लेकिन हम वही के वही खड़े हैं। एक इंच भी आगे-पीछे नहीं खिसके।"...

दीपा की बात सुन कर, नितिन के मन में उत्साह की एक लहर दौड़ी। कुछ क्षण पूर्व जो दीवार उसे दिखाई दे रही थी, वह ढह गयी प्रतीत हुई। उसने दीपा के चेहरे की ओर ध्यान से देखा।

वही आँखें थीं जिनमें दीपा अपना सब कुछ छिपाए रहती थी, किसी को भी उस दुनिया के पास तक फटकने नहीं दिया गया था।

"जानती हो दीपा, जब हावड़ा के स्टेशन पर पाँव धरा था, तो क्या विचार मेरे मन में आ रहे थे ?"

महिम ने तनिक मेज़ पर झुक कर कहा—"यह क्या खुसफुस कर रहे हो नितिन ? तुम्हारी पुरानी आदत छूटी नहीं है।" और वह दीपा की ओर देख कर मुसकराने लगा।

पास की खिड़की में से हवा बड़ी तेज़ी के साथ भीतर आ रही थी। नितिन को ऐसा जान पड़ा, जैसे वह जहाज़ के डक में बैठा हुआ हो, वहाँ भी इसी प्रकार की तेज़ हवा चौबीसों घंटे चला करती थी।

बीयर के गिलास लगभग समाप्त हो चुके थे। नितिन ने बिना किसी से पूछे बेटर से दो बातलें और लाने के लिए कहा।

"तुम्हें मालूम है नितिन, तुम्हारे पेरिस जाने के बाद दीपा ने कविता लिखना शुरू कर दिया है। एक सुनाओ न दीपा !" महिम बोला।

"एक गिलास पी कर ही बहकने लगे महिम ! अब और न पीना।" दीपा ने मुसकराते हुए कहा। जब वह मुसकराती थी, तो उसकी आँखों की गहराई कुछ क्षणों के लिए न जाने कहाँ गायब हो जाती थी।

"तुमने आज बीयर क्यों पी, दीपा ? आज क्या खास बात है ! क्या नितिन के वापिस लौटने की खुशी में"—फिर उसने ज़ोर का एक ठहाका लगाया।

"धीरे महिम ! दूसरे लोग हमारी तरफ देख रहे हैं।" नितिन ने कहा।

महिम की बात सुन कर नितिन का चेहरा शर्म के मारे कनपटियों तक लाल हो गया था। चार साल तक दीपा के साथ इकट्ठा रहने पर भी, वह उसे कभी समझने का दावा नहीं कर सका। उन दोनों के संबंध साधारण नहीं थे, इस बात को वे दोनों ही जानते थे। दीपा के साथ गोपाल, महिम आदि जिस प्रकार का मज़ाक करते थे, वह कोशिश करने पर भी ऐसा नहीं कर सका। उसके प्रति कभी अपने विचारों को दीपा ने खुल कर प्रकट नहीं किया। एक आत्मीयता, एक समीपता, ज़रूर थी, शायद कुछ ऐसे तार भी थे, जिन्होंने उन दोनों को एक साथ बाँध रखा था। लेकिन कल में न जाने उसके मन में छिपा कौन-सा बाँध एकाएक टूट गया है जिसके प्रवाह में न बहना उसे अपने वश की बात नहीं जान पड़ती।

"तुम कलकत्ते में ही किसी कालेज में क्यों नहीं आ जाते। तुम्हारे यहाँ आ जाने से फिर पहले जैसा 'एटमासफीयर' बन जाएगा।" महिम बोला।

"तुम अपनी बात करो महिम ! तुम कब तक *आवारागर्दी करते रहोगे ?" दीपा ने महिम की* ओर देखते हुए कहा।

"मुझे कहाँ नौकरी मिलती है ! नितिन डाक्टर बन गया। तुम्हारा एम० ए० में रेकार्ड है। मेरे थर्ड डिवीज़न को कौन पूछता है ?"

अगले दिन शाम को नितिन, महिम, दीपा और दीपा का छोटा भाई चीनू चौरंगी से बस में बैठ

कर दक्षिणेश्वर की ओर चले गये। केवल दीपा को बैठने भर की जगह मिली। तीनों खड़े रहे।

नितिन ने चोन्टू को जब देखा, तो पहचानना कठिन हो गया। जब वह पेरिस गया था, तो चोन्टू फर्स्ट ईयर में पढ़ता था और अब फिलासफी में एम० ए० फाइनल में था। उसका चेहरा दीपा से काफी मिलता-जुलता था।

बस में ठसाठस भीड़ थी। नितिन दीपा की सीट के सामने ही खड़ा था। खिड़की में से बड़े जोर की ठंडी हवा अन्दर आ रही थी, जिससे दीपा के बाल उड़ रहे थे। वह सफेद सूती धोती पहने थी और गहरे पीले रंग के चुस्त ब्लाउज में उसके शरीर का ऊपर का भाग कसा हुआ था। माथे पर चौड़ी-सी सिंदूर की बिंदी लगी हुई थी। नितिन ने अनुभव किया कि कल की अपेक्षा आज दीपा अधिक गंभीर है। लारी तेज रफ्तार के साथ दौड़ी जा रही थी।

"दक्षिणेश्वर से बेलूर तक की कितनी बोटिंग-पिकनिकें उस जमाने में हमने की थीं, याद है न महिम !" नितिन ने पास खड़े महिम से कहा।

"आज दीपा बहुत भली लग रही है।" महिम ने दीपा की ओर देखते हुए कहा।

नितिन ने फिर एक दृष्टि दीपा पर डाली। बाहर छिपते हुए सूर्य की धुंधली किरणें मकानों की छतों और पेड़ों की चोटियों पर पड़ रही थीं।

'आई लव दिस सिटी।" नितिन ने मानो अपने-*आप से ही कहा।*

"तुमने यहाँ आ कर ठीक नहीं किया नितिन !"

नितिन ने आश्चर्य से महिम की ओर देखा।

"मुझे महसूस हो रहा है कि तुम्हारे अकस्मात यहाँ आने से दीपा के मन में एक भयानक संघर्ष होने लगा है।"

नितिन का चेहरा फक पड़ गया। वह गुमसुम-सा महिम के चेहरे की ओर ताकता रहा।

"तुम नृपेन से मिले हो ?"

"हाँ, पहले ही दिन मुलाकात हुई थी।"

'दीपा लव्ज हिम..."

लारी एक स्थान पर खड़ी हो गयी और कई *यात्री वहाँ उतर पड़े। दीपा के पास बैठी स्त्री भी* उतर गयी। तब दीपा ने नितिन और महिम की ओर देखा। महिम ने नितिन को खाली सीट की *ओर धक्का देते हुए कहा—"जाओ, बैठ जाओ,* नितिन।"

नितिन दीपा से सट कर बैठ गया। दीपा अब खिड़की से बाहर नहीं झाँक रही थी। सड़क पर गड्ढे होने के कारण लारी बार-बार उछलती थी, जिससे वे दोनों एक दूसरे से टकरा जाते थे।

कुछ देर तक दोनों में से किसी ने भी एक दूसरे से कोई बात नहीं की। महिम थोड़ी दूर पर खड़ा-खड़ा उन दोनों को देखता रहा, फिर चोन्टू से बातें करने लगा।

"दीपा !"

दीपा ने नजर उठा कर नितिन की ओर देखा, परन्तु वह सामने की सीट पर बैठे यात्रियों पर दृष्टि गड़ाए था।

"यहाँ आने से पहले मैंने यह नहीं सोचा था कि *तुम..."आगे उससे नहीं कहा गया। उसे अपना* गला रुँधता सा जान पड़ता था।

"मैं...मैं...मुझे क्या हुआ है नितिन ?"

"शायद कुछ नहीं...मुझे ही कुछ हो गया है।"

थोड़ी देर तक फिर चुप्पी रही। सड़क साफ़

होने के कारण लारी अपनी रफ्तार से साथ भागी जा रही थी।

"नितिन, तुम वही बच्चे-के-बच्चे रहे। कुछ भी नहीं सीखे।"

"बहुत कुछ सीखा है इसी से दुख होता है।"

दीपा ने हँसने की चेष्टा की।

"तुम दीपा...तुम नुपेन से .."

बस-बस, चुप हो जाओ, नितिन! उठो, देखो, वह स्त्री खड़ी है, मेरे पास बैठेगी।"

दक्षिणेश्वर से बेलूर तक वे नाव में गये। हवा तेज चलने के कारण पानी में ऊँची-ऊँची लहरें उठने लगी थीं, जिससे नाव लहर के साथ-साथ बहुत उठ जाती थी और फिर नीचे आ जाती थी।

दीपा ने गाने सुनाये।

नितिन अधिकतर चुप रहा। अपनी दूरी दूसरों पर प्रकट न करने के विचार से वह बातचीत में सहयोग देता रहा, किसी हँसी की बात पर हँस देता था। दीपा ने उससे अकेले में कोई बात नहीं की। महिम कुछ देर तक सब को हँसाने की चेष्टा करता रहा।

फिर एकाएक चुप्पी छा गयी। चारों में से कोई किसी से बात नहीं कर रहा था। सर्दी अधिक बढ़ गयी थी, जिससे सोम्नू और महिम ने अपने कोट के कालरों को ऊपर खींच लिया। दीपा ने अपनी धोती से अपनी नंगी बाँहें ढँक लीं। नितिन माँझी के ठीक सामने दूसरे कोने पर अकेला बैठा था, वह दीपा की पीठ की ओर देखता रहा। उसका चेहरा उसके घुटनों पर टिका हुआ था। माँझी पूर्वी बंगाल का एक गीत गुनगुना रहा था।

एक गहरी उदासीनता निितन के मन में घर करती जा रही थी। कभी-कभी मन्दिरों के घंटों का स्वर उन लोगों तक पहुँच जाता था।

"तुम्हें सर्दी लग रही है दीपा।" महिम के स्वर ने नाव में फैली निस्तब्धता को भंग किया।

"मैं ठीक हूँ।"

"नितिन, सिगरेट है ?"

नितिन ने जेब से सिगरेट का पैकेट और दियासलाई निकाल कर महिम की ओर बढ़ा दिये। चारों ने एक-एक सिगरेट जला ली, एक माँझी को भी दी। अन्धकार में उनकी जलती सिगरेटें आकाश के तारों की भाँति जान पड़ रही थीं।

अपने-अपने घरों की ओर जाने से पूर्व दीपा ने निितन के पास आ कर धीमे स्वर में कहा—"अच्छा नितिन, कल तो मैं नहीं मिल सकूँगी। परसों शाम को तुम क्या कर रहे हो ?"

"तुम्हें मालूम तो है कि यहाँ मेरा कोई खास प्रोग्राम नहीं है।"

"तो परसों शाम को हिन्दुस्तान रेस्तराँ चले आओ।"

"अच्छा।"

अगले दिन निितन अपने कमरे से बाहर नहीं निकला। चारपाई में दुबके-दुबके उसने चाय पी और सिगरेट जला कर फिर लेट रहा। खुली खिड़की में से बाहर की जिंदगी का बढ़ता हुआ कोलाहल उसके कानों तक पहुँचता रहा, परन्तु इस ओर उसका ध्यान नहीं था। पेरिस में भी छुट्टी के दिन वह अपने होस्टल के कमरे में इसी प्रकार काफ़ी देर तक चारपाई में लेटा रहता था और खिड़की में से बूटीदार बूंदों में दबे विशाल वृक्षों की टहनियों और पत्तों को देखता रहता था, परन्तु पेरिस और कलकत्ता में तो अन्तर है न! वह

सिगरेट पर सिगरेट फूंकता रहा। ज़िंदगी के २८ वर्ष बीत चुके, और इस अरसे में वह क्या-क्या कर सका था, इसके उत्तर में उसने अपनी आंखों के सामने एक बड़ा-सा प्रश्न-चिह्न देखा।

अगले दिन नितिन शाम को ठीक छह बजे हिन्दुस्तान रेस्तरां जा पहुँचा। पेरिस से लाया हुआ कार्डराय का कोट और फ्लेनेल की पेंट उसने पहिन रखी थी। अन्दर पहुँच कर उसने दीपा को एक कोने में बैठे देखा, उसके साथ एक अन्य व्यक्ति भी बैठा था। पास आने पर नृपेन को उसने पहिचान लिया। नितिन की तबीयत हुई कि वह उल्टे पाँव वापिस लौट जाए। दीपा ने मुसकरा कर उसका अभिवादन किया।

मेज़ पर दो प्यालों मे पहले ही चाय उँडेली हुई थी। बेटर के पास आने पर दीपा ने उसे एक और प्याला लाने के लिए कहा।

"आज तो अपनी फ्रेंच लिबास में आये हो, नितिन!......"

नितिन ने उसके मज़ाक का कोई उत्तर नहीं दिया।

"कल क्या करते रहे थे?"

"खास कुछ नहीं किया......"

"कुछ खाओगे, नितिन?"

"नहीं।"

रेस्तरां में अधिक भीड़ नहीं थी। जहाँ तक नितिन को याद था, उस रेस्तरां में कभी अधिक भीड़ नहीं होती थी। एक अजीब-सा सांय-सांय करता सन्नाटा और उदासी सदा छायी रहती थी।

दीपा ने नृपेन की ओर देखा और कुछ देर तक उससे बातें करती रही।

"तुमने नृपेन की कविताएँ पढ़ी है, नितिन?"

"नहीं।"

तुम्हें कविता में दिलचस्पी भी तो ज़्यादा नहीं है! सिगरेट है?"

नितिन ने जेब में से पैकेट निकाल कर दीपा के सामने रख दिया। पैकेट खोल कर सिगरेट बढ़ाने को उसकी तबियत नहीं हुई।

"क्या बात है नितिन?"

"कुछ नहीं।"

"तो चुप क्यों हो?"

"चुप कहाँ हूँ।"

नितिन ने नृपेन पर एक सरसरी-सी दृष्टि डाली। उसका शरीर एक पीली-सी शाल में लिपटा हुआ था, बाल रूखे थे और पीछे थोड़े-थोड़े घुंघराले भी। वह मेज़ पर झुका हुआ धीरे-धीरे चाय पी रहा था। नितिन को ऐसा जान पड़ा, मानो नृपेन एक बहुत कमज़ोर व्यक्ति हो, जिसको जीने के लिए किसी के सहारे की सख्त ज़रूरत हो, जो अपने पैरों से चल नहीं सकता।

थोड़ी देर में नृपेन उन दोनों को अकेला छोड़ कर चला गया।

दीपा चुपचाप सिगरेट के कश खींच रही थी और सामने दीवार पर लगे एक कैलेंडर की ओर ताक रही थी।

"दीपा!"

दीपा ने धीरे से अपनी दृष्टि दीवार से हटा कर नितिन पर गाड़ दी।

"तुम नृपेन को अपने साथ क्यों लायी थी?"

"मैं जानती हूँ, तुम नृपेन को पसन्द नहीं करते।"

"और तुम इस नृपेन से प्रेम करती हो..." और वह हँसने लगा।

दीपा ने चौंक कर नितिन की ओर देखा—"हाँ, मैं नृपेन से प्रेम करती हूँ।"

नितिन ने मेज पर रखे सिगरेट के पैकेट में से एक सिगरेट निकाल कर अपने होंठो में लगा ली। दीपा उसके काँपते हाथों की ओर देखती रही।

"नितिन...तुम मुझसे क्या चाहते हो ?"

नितिन कुछ नहीं बोला।

"तुम यहाँ क्यों आये ? पेरिस से लौट कर, तुम वही जिंदगी देखना चाहते थे, जैसी कि तुम पाँच साल पहले यहाँ छोड गये थे। ऐसा कैसे सम्भव हो सकता था !"

परन्तु नितिन ने दीपा की बात नहीं सुनी। वह जल्दी-जल्दी कश खींचता रहा और फिर आधी सिगरेट को ऐश-ट्रे में फेंक दिया।

"तुमने ठीक ही किया दीपा ! नृपेन के साथ तुम खुशी से जिंदगी बिता सकोगी।"

"नितिन !" दीपा ने तनिक तेज स्वर में कहा। नितिन को ऐसा जान पड़ा, मानो उसका गला रुँधा जा रहा हो।

"क्या है ?"

"मेरी तरफ देखो।"

नितिन की आँखें मेज पर झुकी हुई थी। उसने ऊपर उठाने की कोशिश की, तो वे दीपा की बाहों तक जा कर रुक गयीं, उससे ऊपर नहीं उठ सकी।

नितिन का हाथ मेज पर सीधा निष्प्राण-सा पड़ा हुआ था और दूसरे से वह अपनी कुर्सी थामे था। एशट्रे में पडी उसकी अधजली सिगरेट का धुआँ सीधा ऊपर की ओर उड़ा जा रहा था। दीपा ने अपना हाथ धीरे से नितिन के हाथ पर रख दिया।

"तुम्हे क्या हो रहा है, नितिन !"

तभी दीपा ने अनुभव किया कि उसके हाथ पर *न जाने कहाँ से गरम-गरम आँसुओं की दो बूँदें आ* टपकी है। उसका हाथ सहसा काँप उठा और उसने बडी तेजी से उसे अपनी ओर समेट लिया। उसके मुख से कोई आवाज नहीं निकली। कुछ देर तक दोनों उसी प्रकार मूर्तिवत् बैठे रहे, मानो अभी तक उनका परिचय ही न हुआ हो।

थोड़ी देर बाद नितिन ने अपनी दृष्टि उठा कर दीपा की ओर देखा।

"मुझे माफ करना दीपा, अगर मेरे कारण तुम्हे कुछ दुःख पहुँचा हो।"

दीपा कुछ नहीं बोली।

"मैं कल यहाँ से चला जाऊंगा। शायद मुझे यहाँ आना ही नहीं चाहिए था।"

"तुम नृपेन को नहीं जानते नितिन, इसी से तुम उससे घृणा करते हो।"

"मैं नृपेन के बारे में कुछ भी नहीं सोचना चाहता, दीपा ! वह मेरे लिए उतना ही अपरिचित है, जितना कि सड़क पर चलने वाला कोई दूसरा व्यक्ति।"

"कभी-कभी मैं सोचती हूँ नितिन, कि तुम पटना छोड कर यहाँ क्यों पढने आये थे।" और फिर तनिक धीमे स्वर में कहने लगी—"चार सालों तक तुमने मुझे कुछ नहीं करने दिया। मैं बिना रुके उस प्रवाह में बहती गयी। यूनिवर्सिटी, फिर काफी हाउस और शाम को यहाँ—ये चार साल मानो जिंदगी के चार बडे-बडे शून्य बन कर, उसके बाद सदा मेरी आँखों के सामने घूमते रहे। और अब मैं सँभल कर, जब किनारे पर आ लगी हूँ, तो फिर तुम आ कर, मुझे किनारे से मँझधार में ले आना चाहते हो। तुम्हारे सामने मैं अपने बस में नहीं रहती नितिन..."

नितिन की तबीयत होने लगी कि वह ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगे। परन्तु बिना हँसे ही वह दीपा के चेहरे की ओर ताकता रहा। उसकी आँखों में इस प्रकार की निर्जीवता थी, मानो वे पथरा गयी हों।

"नहीं-नहीं, नितिन!" दीपा ने तनिक आवेश में आ कर कहा, परन्तु वह अपना वाक्य खत्म नहीं कर पायी। फिर क्षण-भर बाद शांत हो कर कहने लगी—"जानते हो नितिन, कि तुम्हारे पास रहने पर जीवन के बड़े से बड़ा पाप करने में भी मैं नहीं हिचकूँगी। फिर रोकना चाहोगे, तो भी रुकना सम्भव नहीं होगा। और...और नृपेन तुमसे ठीक उल्टा है, उससे मुझे डर नहीं लगता।"

दीपा से पहली मुलाकात करने के बाद से नितिन ने उसकी ओर से जिस उदासीनता का अनुभव किया था, उसे अब न पा कर उसके हृदय की रिक्तता धीरे-धीरे भरती जान पड़ी, जिससे उसकी अकुलाहट भले ही बढ़ गयी हो, परन्तु जो लम्बी-चौड़ी अन्तहीन खाई उसे पहले दिन दिखाई दी थी, वह अब खत्म हो गयी थी।

"मैं अब चलती हूँ, नितिन, अब मुझसे फिर मिलने की बात मत करना। नहीं तो मैं 'न' नहीं कर सकूँगी.." यह कह कर दीपा उठ खड़ी हुई। उसने साड़ी को अपने वक्ष पर ठीक किया और कुर्सी पर रखे थैले को फिर कंधे पर लटका लिया। नितिन अपलक दृष्टि से उसकी ओर देखता रहा।

"तुम यहीं बैठोगे?"

नितिन चुप रहा।

"अच्छा!" और फिर बिना एक शब्द कहे दीपा पीठ मोड़ कर धीमी चाल से जाने की ओर बढ़ गयी। उसके बालों का जूड़ा हल्का पड़ जाने से उसकी पीठ पर लटक रहा था। उसने फिर पीछे मुड़ कर नितिन की ओर नहीं देखा।

नितिन जाने की ओर आँखें गड़ाए चुपचाप, बिना हिले-डुले बैठा रहा। कुछ देर बाद बेटर जब बिल लाया, तो उसका ध्यान टूटा।

वह बिल चुका कर, बाहर आ गया। शाम के सात बजे थे। बाहर दिसम्बर के अन्तिम दिन वर्ष की अन्तिम साँसें बन कर, शाम के झुटपुटे में खोते जा रहे थे। सड़कों पर लोगों की अथाह भीड़ थी, इतने लोगों के बीच कंधे से कंधा मिला कर कलकत्ता की सड़कों पर चलना नितिन को अच्छा लगा। दीपा कहती थी कि उसे कविता में दिलचस्पी नहीं है और नृपेन कवि है और दीपा ने भी कविता लिखना आरम्भ कर दिया है।

उसे एक पंक्ति याद आयी, जो उसे अपने कालेज के दिनों में बहुत पसंद थी—"की सुर बाजे आमार प्राणे.."

वह सड़कों पर निरुद्देश्य घूमता रहा, समय की गति मानो उसके लिए रुक गयी थी। चौरंघी छोड़ कर कब वह संकीर्ण गलियों में आ गया, इसका पता उसे नहीं चला। दोमंजिले और तीनमंज़िले मकानों में धुँधली रोशनियाँ जल रही थीं, किसी-किसी मकान पर सामने के छज्जे पर अभी तक गहरे रंग की लाल और नीली धोतियाँ सूख रही थीं। नितिन को ऐसा अनुभव हुआ, जैसा कि कलकत्ते में पहली बार आने पर हुआ था। चारों ओर की फैली ज़िंदगी में एक प्रकार की दिलचस्पी थी, उत्साह या नवीनता थी।

रात के नौ बजे के लगभग वह अपने होटल लौटा। काउंटर पर पूछने से पता चला कि पटना के लिए गाड़ी ग्यारह बजे जाती है। कमरे में आ कर, वह धीरे-धीरे अपना सामान बाँधने लगा। जिस प्रकार बिना किसी को सूचना दिए कलकत्ता आया था, उसी प्रकार चुपचाप वह लौट जाना चाहता था।

मैं कभी चुकूँगा नहीं

मिट्टी का दीप मैं नहीं हूं अब,
हवा का हल्का सा झोंका भी
कर दे प्रकंपित जिसे,
सहमी, सशंकित-सी लौ जिसकी
कहे ज़रा धीमे से—
'बंद करो द्वार,
बंद कर दो वातायन सब,
आता है झोंका,
दो आंचल की ओट मुझे !'
मैं हूं वह दीप नहीं।
शांत, स्निग्ध शयन-कक्ष छोड़ मैं
खड़ा हूं यहां, संघर्षों की सड़क पर अर्द्ध,
मुक्त सब दिशाओं से।
मुझको आघातों का
कोई भय रहा !
चलती है हवा, चले,
बहें आंधियां खुल कर,
मेरी लौ तनिक भी न कांपेगी !
प्रतिक्षण निर्भीक बना जलता हूं,
जलता ही जाऊंगा,
मैं कभी रुकूंगा नहीं।

मिट्टी का दीप मैं नहीं हूं अब,
अग्नि शिखा जिसका कर देती है रिक्त कोष,
वर्तिका जिसकी
बन जाती है राख एक चुटकी भर।
मैं हूं वह दीप नहीं,
क्षण क्षण पर चुक चुक जो जाता है।
मेरे उर में अक्षय विद्युत् प्रवाह है !
मेरी शिखा जलती है, जले सदा,
राख नहीं होगी कभी,
होगा यह प्रवाह नहीं शेष कभी,
लौ' कभी चुकेगा नहीं !
मैं कभी चुकूंगा नहीं !

ꩠꩠꩠ

सीमित मानता है। आधुनिक दृष्टिकोण से संगीत का अर्थ है—'स्वर और ताल का सामंजस्य' और नृत्य का अर्थ है—'अंग और ताल का सामंजस्य'। संगीत की प्रधानता स्वर में और नृत्य की प्रधानता अंग में है। जब स्वर गतिमान् होता है, तब गीत और जब अंग गतिमान् होते हैं, तब नृत्य की उत्पत्ति होती है।

संगीत के दो प्रधान भेद माने गये हैं—(१) गान्धर्व अर्थात् शास्त्रोक्त-नियम सम्पन्न संगीत, (२) गान अर्थात् जनरंजक मानव रचित संगीत। इन दोनों को क्रमशः मार्गी और देशी संगीत भी कहते हैं।

हमारे धर्मशास्त्रों में मार्गी संगीत (शास्त्रीय संगीत) के गाने का विधान द्विजों के लिए और देशी संगीत (लोक-संगीत) के गाने का विधान शूद्रों के लिए है। आजकल विभिन्न प्रान्तों में जो स्थानीय गीत प्रान्तीय भाषाओं में गाये जाते हैं, वे देशी हैं।

सिनेमा के गाने भी लोक-संगीत के अन्तर्गत आते हैं। ब्रजभाषा में पर्याप्तरूपेण मार्गी संगीत का सर्जन हुआ है। शास्त्रीय संगीत एक राष्ट्रीय सम्पत्ति है। उसकी शैली और प्राण-शक्ति भूत, वर्तमान और भविष्य में एक ही रहती है। लोक-संगीत हर प्रान्त में पृथक्-पृथक् प्रत्येक प्रान्त की रीति-रिवाज, रहन-सहन, प्राचीन इतिहास आदि अपनी प्रान्तीय भाषा में ही होते हैं। इसलिए लोक-संगीत का आनन्द लेना सरल है। परन्तु शास्त्रीय-संगीत से रस प्राप्त करना स्वर, ताल, लय और शब्द आदि के ज्ञान पर ही निर्भर है।

संगीत-कला पर पूर्ण प्रकाश डालने के लिए इसके प्रधान अंग नृत्य पर विचार कर लेना उचित ही होगा। नृत्य का आधार अंग है। नृत्य में सचेष्ट शरीर को 'अंग' कहा जाता है। अंग के दो रूप होते हैं—(१) आरोही, (२) अवरोही। आरोही-क्रिया में शरीर के अवयव नीचे से ऊपर को जाते हैं और अवरोही में ऊपर से नीचे को आते हैं। इसके अतिरिक्त नृत्य के समय अंग से मुद्राओं का जन्म होता है। अंग की विशेष स्थिति या चेष्टा 'मुद्रा' कहलाती है। नर्तक में दो प्रकार की मुद्राएँ पायी जाती हैं—एक भाव-मुद्रा, जो मनोविकारों के कारण आँख, नाक, मुख और भौंह के द्वारा व्यक्त होती है, दूसरी अनुकरण-मुद्रा, जो कि हाथ और उँगलियों की सहायता से व्यक्त की जाती है। कमल का भाव व्यक्त करने के लिए नृत्यकार अनुकरण मुद्रा से काम लेगा और हाथ की उँगलियों को इस ढंग से संयोजित करेगा कि वे कमल की पंखुड़ियों की प्रतीक बन जाएँगी।

जिस प्रकार काव्य-कला मानव-जीवन के लिए है, ठीक उसी प्रकार संगीत-कला भी। कवि अपने ललित और सरस पदों से उल्लास एवं आनन्द का स्रोत उमड़ाता है। ठीक यही कार्य गायक (संगीतज्ञ) भी करता है। राग-प्रेमी गायक भी अपने रागों से लोक-रंजन करता है। क्योंकि राग का प्रधान गुण ही चित्त-रंजक है। कहा भी है—**रंजको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः**। अर्थात्, जो मनुष्यों के चित्तों का रंजन करता है, वह राग है। इस तरह मानव-जीवन के लिए कवि और गायक दोनों ही कल्याणकारी हैं। संगीत के साथ चलने वाला काव्य लोक-रंजन एवं लोक-कल्याण में प्रमुख स्थान रखता है। इसलिए हिंदी-साहित्य के भक्ति-कालीन-कवि कबीर, नानक, दादू, पल्टू, सुन्दर, मलूक, दयाबाई, सहजोबाई, सूर, तुलसी तथा मीरा आदि लोक-रंजन तथा लोक-कल्याण की दृष्टि से अन्य कालों के कवियों में अग्रगण्य हैं। अष्टछाप के कवियों ने सुमधुर ब्रजभाषा में गीति-काव्य का ही सर्जन किया है, जो कि संगीतात्मकता के कारण अपनी सरसता में आगे बढ़ गया है। यह संगीतात्मकता ही उनके पदों के भावों को मूर्तिमान् बना देती है। संगीतमय काव्य हृदय पर स्थायी प्रभाव डालता है।

काव्य तत्व के अन्त.प्रवेश से ही सगीत में स्थायित्व उत्पन्न होता है। सगीत और काव्य वस्तुतः एक दूसरे के अत्यत निकट और पोषक है। मिल्टन ने कहा भी है—"काव्य-कला और सगीत कला एक दूसरे की भगिनी है।" सगीत कला सौन्दर्यमय है और काव्य-कला रमणीयता-मूलक। सगीतकाव्य को सुन्दरता प्रदान करता है और काव्यसगीत को रमणीयता।

सगीत ने प्रारम्भ से ही साहित्य और धर्म का सहयोग प्राप्त किया है। वेदो की ऋचाएँ आर्यो के द्वारा सस्वर पाठ की जाती थी और उन्ही के द्वारा वे सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु और वरुण आदि देवताओ की प्रार्थना भी किया करते थे। 'सामवेद' तो गान-विद्या का प्रथम ग्रथ है, जो कि स्वर के आरोहावरोह के साथ पढा जाता है। भारत के धार्मिक एव सामाजिक कृत्यो में इसका अस्तित्व तथा प्रदर्शन प्राय सभी कालो में पाया जाता है। हिंदी-साहित्य के वीर-गाथा काल में भी गीति-काव्य के अन्तर्गत सगीत की प्रधानता पायी जाती है। इसके उपरान्त भक्ति-काल तो काव्य और सगीत की समन्वयात्मकता के लिए प्रसिद्ध ही है। क्या निर्गुण और क्या सगुण, सभी सत कवियो ने अपने स्वामी (ब्रह्म) के प्रति गीतात्मक शैली में प्रणय-निवेदन किया है। सत कवि कबीर, नानक, दादू, पलटू, सुन्दर, सहजोबाई और दयाबाई आदि कवि अपने पदो को स्वय गा कर सुनाते थे और गाते-गाते आनन्द विभोर हो जाते थे। उनके पद विभिन्न राग-रागिनियो के भाण्डार है।

सगीत का मूलाधार है 'नाद', और काव्य का 'भावमय सार्थक शब्द'। जब काव्य की भाषा अत्यन्त क्लिष्ट और रहस्यमयी हो जाती है, तब साधारणतया बोधगम्य नही होती। ऐसी दशा में पाठक उस काव्य का आनन्द लेने से वचित रह जाता है। सत कवियो की कुछ कविताएँ क्लिष्ट एव रहस्यात्मक है; परन्तु गीतात्मक होने के कारण नाद-सौन्दर्य से जनता के हृदयो को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

समाज कल्याण की भावना से ही इन सत कवियों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करते हुए उपासना-क्षेत्र में पदार्पण किया। विवश हो कर उन्हे निर्गुण में सगुण का आरोप करना पड़ा है। कबीरदास जी ने अपने को पत्नी और ईश्वर को पति मान कर प्रणय-निवेदन के रूप में अनेक पदो में अपने भावो की अभिव्यजना की है। गीतात्मक शैली में यह प्रणय-निवेदन और भी आकर्षक हो गया है।

सत-साहित्य का मूल स्रोत बौद्ध-धर्म की वज्रयान शाखा के चौरासी सिद्धो ने आरभ होता है। यह विक्रम की सातवी शताब्दी का अन्तिम चरण था। फिर यह परपरा लगभग ५०० वर्ष तक चलती रही। सत-साहित्य की यह परपरा ही हिंदी-साहित्य के गीति-काव्य की परपरा है। वीर-गाथा-काल भी इसी परपरा के अन्तर्गत है। बारहवी शताब्दी के कवि जयदेव की रचना 'गीत गोविन्द' भी गीति-काव्य की परपरा में है। यह सस्कृत की पुस्तक होते हुए भी, सगीत के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए बहुत महत्त्व रखती है।

सत काव्य के उपरान्त आने वाले सगुण भक्ति-काव्य की रचनाएँ तो हमारे साहित्य और सगीत की सर्वस्व है। यह सगुण भक्ति काव्य की परपरा मैथिल कोकिल विद्यापति से ले कर आधुनिक काल के कवि भारतेन्दु और सत्यनारायण कवि-रत्न तक चली आयी है।

गीति-काव्य कवि के आत्मगत भावोद्रेक से आप्लावित होता है। वह अन्तर्जगत् का उद्रेक है। इसलिए सूर, तुलसी और मीरा के पद भावात्मक, आत्माभिव्यजक और भक्ति-प्रधान है। मुक्तक काव्य होने के कारण वे पद सुसज्जित गुलदस्तों के समान है, जो एक साथ सबके मानसो

और नेत्रों को शीतलता, सरसता और मधुरता प्रदान करते हुए आकृष्ट कर लेते हैं।

'सूर' पहले भक्त थे, फिर कवि। कवि होने के साथ-साथ वे अच्छे गायक भी थे। कृष्ण-भक्ति-संबंधी पदों का इकतारे पर गाते-गाते महात्मा सूर आत्मविभोर हो जाते थे। 'सूर सागर' शास्त्रीय संगीत की अनेक राग-रागिनियों से परिपूर्ण है। जब कबीर की निर्गुण-भक्ति संगीत के सहयोग से मूर्तिमती हो गयी, तब सूर की सगुण भक्ति से उत्पन्न हुई संगीतात्मक रमणीयता का कहना ही क्या? उनके पदों में तो नाटक के मुग्धकर दृश्य हैं और है गायन, वादन और नर्तन का समुचित समन्वय।

तुलसीदास जी की कविता-पुस्तकों में 'गीतावली' और 'विनयपत्रिका' गीति-काव्य की परंपरा में हैं। उनके पदों में कवित्व के साथ-साथ संगीत भी है। कवि-शिरोमणि तुलसीदास को संगीत का अच्छा ज्ञान था। इसलिए उपर्युक्त कृतियां अनेक राग-रागिनियों से भरी पड़ी हैं। 'रामचरित मानस' में भी कई स्थल ऐसे हैं, जिनकी शब्द-संयोजना में संगीत की अभिव्यंजना है। उदाहरण-स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि।
कहत लषन सन राम हृदय गुनि॥

उक्त उद्धरण से प्रकट होता है कि तुलसीदास जी के पदों में साहित्यिकता अधिक है। वे गाये जाने पर भी साधारण जनता को बोधगम्य नहीं होते। अतः आजकल के गायक तुलसी की अपेक्षा सूर और मीरा के पद अधिक गाते हैं।

मीरा कृष्ण की भक्त थी। मीरा अपने पदों को नाच-नाच कर गाती और गाते-गाते मूर्च्छित हो जाती थी। मीरा के गीतों में उसके जीवन की घटनाओं की भी संकेतात्मक अभिव्यंजना है। इसलिए गायक जब मीरा के पद गाते हैं, तब श्रोताओं को उन गीतों के स्वरों में भक्ति-भाव की भूखी मीरा नाचती हुई दृष्टिगोचर होती है।

भक्ति-भावना को ले कर गीति काव्य की परंपरा में भारतेन्दु जी का नाम हिन्दी के आधुनिक काल में प्रसिद्धि पा चुका है। साहित्य की धारा और भाषा में सुधार करने के साथ ही कवि ने संगीत को भी सुधारवादी रूप प्रदान किया। उनके संगीत में राजनीतिक एवं सामाजिक सुधारों के व्यापक तत्त्व मिलते हैं जो कि तत्कालीन भारत के लिए कल्याणकारी थे। उस समय उत्तान शृंगार की बहुलता ने 'कजली' को अत्यन्त अश्लील और विकृत बना दिया था। भारतेन्दु ने संगीत-समाज तथा काव्य-जगत् में उसको नये सिरे से प्रतिष्ठा की। देश-भक्त हरिश्चन्द्र जी की निम्नांकित कजली पूर्णरूपेण शुद्ध सामयिक तथा सुरुचिपूर्ण है और राजनीतिक परिस्थिति को सुधारने की ओर एक संकेत भी करती है—

काहे तू चौका लगाये जयचँदवा।
अपने स्वारथ भूलि लुभाये,
काहे चोटी कटवा बुलाये जयचँदवा॥
फूट के फल सब भारत बोये,
बैरी को राह खुलाये जयचँदवा।
और नासि तैं आइ बिलाने,
निज मुँह कजली पुताई जयचँदवा॥"

यदि हम द्विवेदी-काल से आगे भी दृष्टि डालें, तो पता चलता है कि हिंदी-साहित्य के गीति-काव्य में कविवर सत्यनारायण जी के उपरान्त प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा तथा बच्चन आदि के गीत बहुत ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

गीति-काव्य में पन्त जी ने यदि शब्दों की कोमलता और मधुरता की ओर विशेष ध्यान दिया है, तो निराला जी ने अनेक रागमय प्रयोग किये हैं। निराला जी के निम्नांकित गीत में काव्य, संगीत तथा ध्वनि का समन्वय देखिए। कवि की

आत्मा अभिसारिका के समान अलंकारों से सज कर प्रियतम (ब्रह्म) से मिलने जा रही है—

मौन रहो हार।
प्रिय-पथ पर चलती सब कहते श्रृंगार॥
कण-कण कर कंकण, किण-किण रव किंकिणी।
रणन-रणन नूपुर, उर लाज लौट रंकिणी॥
शब्द सुना हो तो अब लौट कहाँ जाऊँ।
उन चरणों को छोड़ और शरण कहाँ पाऊँ॥
बजे सजे उर के इस सुर के सब तार।
मौन रहो हार॥

नरेन्द्र शर्मा, नेपाली और रंग के गीतों ने भी इधर पर्याप्त लोक-प्रियता प्राप्त की है। पंत जी अपने यौवन-काल में जब 'पल्लव' और 'गुंजन' के गीतों को गा कर सुनाते थे, तब श्रोता वास्तव में मंत्र-मुग्ध हो जाते थे। संगीत के ऐसे प्रभाव के कारण ही काव्य-मर्मज्ञ भर्तृहरि की लेखनी लिखने को विवश हो गयी थी कि—

साहित्य संगीत कला-विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छ विषाण हीनः।

केशवगोपाल निगम

पराया पूत

बुढ़ापे में यदि किसी की पत्नी मर जाए, तो आदमी यह सोच कर सन्तोष कर लेता है कि न दो साथ आये हैं, न दो साथ जाएँगे। मैं मर जाता तो उसकी और भी मिट्टी खराब होती। ठेठ जवानी में किसी की पत्नी मर जाए, तो चार दिन रोने के बाद पाँचवें दिन से जगह भरने की बात चल निकलती है। एक तो आदमी स्वयं इसी नतीजे पर पहुँच चुका होता है, और जो थोड़ी-बहुत कसर रह भी जाती है, उसे ऊपर वाले पूरी कर देते हैं। मिट्टी खराब तो अधेड़ उम्र वाले की होती है। घर बसाए तो लोग उँगली उठाएँ, न बसाए तो सँभाले कौन? कहने वाले दस, करने वाला कोई नहीं। और इसी विषम अवस्था में चौधरी हरफूल सिंह अपने को पा रहे थे।

डेढ़ वर्ष के मनफूल को नानी के पास छोड़ कर जैसे ही चौधरी हरफूल सिंह ने आँगन से ड्योढ़ी में कदम रखा कि सास तमक कर बोली, "यह बहानेबाजियाँ मैं खूब समझूँ हूँ। इतनी उम्र पानी में नहीं गँवायी है। धूप में बैठ कर बाल सफेद नहीं किये हैं। मनफूल के न रहने का तो एक बहाना है, साफ क्यों नहीं कहते कि तीसरी लाने के लिए मैदान साफ किया जा रहा है।"

"हाँ बहन, यह तो दीख ही रहा है। जो पहली को मरे पूरा साल भी न हुआ था और दूसरी ले आया, वह दूसरी के मरने पर तीसरी लाने में क्यों हिचकिचाएगा।" सास की बहन मनभरी ने समर्थन किया।

सास मनफूल को कलेजे से लगाते हुए ऊँचे कंठ से बोली, "मरना तो मेरा ही गया। बुढ़ापे में यह दाग भी लगा, और पालने की मुसीबत भी मेरी जान को ही रही।"

ने चौधरी के सामने प्रस्ताव रखा, 'मनफूल को घर ले आओ। अपना लड़का मैं अपने पास रखूँगी।"

ऐसी जल्दी क्या है ले आएँगे। शायद अभी नाना हो न भेजे।"

'न भेजने वाली वह होगी कौन है? लड़का तुरन्त घर आना चाहिए।" चौधराइन ने अल्टीमेटम दिया।

"तुम अभी सब बातें नहीं जानती। कुछ दिन ठहरो!" चौधरी ने समझाने की कोशिश की, परन्तु चौधराइन के आगे वे अधिक देर टिक न सके। चौधरी ने अपनी विवशता प्रकट की तो चौधराइन ने यह काम स्वयं करने का बीड़ा उठाया।

इस बात को दो-तीन दिन ही हुए होंगे कि एक दिन दोपहर को लोगों ने देखा कि चौधराइन स्वयं मनफूल को लिए चली आ रही है। लोग हैरान थे कि चौधराइन ने नानी को कैसे पट्टी पढ़ा दी। उसी शाम नानी अपने रिश्तेदारों को ले कर हरफूल सिंह के घर आ धमकी। मनभरी का घर पड़ोस में था ही। हुआ ऐसा कि मनफूल को घर की नौकरानी गली में खेला रही थी। चौधराइन ने नौकरानी को पाँच रुपये दिये कि एक रुपया तो तू ले लीजो, और चार रुपये की मिठाई ला दे। नये पीहर पहली बार आयी हूँ, मिठाई लाना भूल गयी। साथ ही चौधराइन ने खिलौने से भरी झोली मनफूल की तरफ बढ़ायी। वह लपक कर चौधराइन के पास आ गया। नौकरानी उधर मिठाई लेने गयी और चौधराइन मनफूल को फुसलाती हुई इधर ले आयी।

काफी ऊधम मचा। हरफूल सिंह एक दुविधा में फँस गये। लोग भी यह जानते थे कि बिना चौधराइन का राजी किये, कुछ बनेगा नहीं। मुहल्ले के चौधरी रामेश्वर पंडित ने किवाड़ की ओट खड़ी चौधराइन को समझाया, "बहू! हाथी फिरे गाँव-गाँव, जिसका हाथी उसका नाँव। मनफूल को नानी को ही रख लेने दो। वैसे भी तुम जान छिड़कती रहोगी, लेकिन जरा भी उँगली दुखी कि बदनामी मिली। पराये पूत को रखना सहज नहीं।"

पराये पूत का शब्द सुनते ही चौधराइन भभक उठी, "कहे देती हूँ, अगर आज से पीछे किसी ने पराया पूत कहा तो अच्छा न होगा। पंडित जी, तुम्हारा लिहाज है, अभी और किसी ने कहा होता तो मूँछ उखाड़ लेती। देखूँ तो, किसने माँ ने दूध पिलाया है, जो मनफूल को यहाँ से ले जाए! मनफूल को नहीं भेजूँगी, जिससे जो किया जाए कर ले।"

अब किसकी हिम्मत थी जो कुछ कह सके। वैसे भी किसी को क्या पड़ी जो दूसरे के फटे में पैर अड़ाए। एक-एक करके रिश्तेदार और मुहल्ले वाले खिसक गये। नानी रोती-पीटती चली गयी।

इस घटना के बाद चौधराइन बहुत सतर्क हो गयी। मनफूल को एक क्षण के लिए भी अपनी आँखों से ओझल न करती। और चौधराइन ने मनफूल की रखवाली भी वह हाथोंहाथ, कि देखने वाले दंग रह गये। परन्तु अनुभवी लोगों का कहना था कि बिल्ली खिला रही है। एकदम तोते की तरह गर्दन मरोड़ देगी।

उधर चौधराइन के बच्चा होने वाला था और वह घंटों घोड़ा बनी-बनी मनफूल को पीठ पर लादे-लादे सारे आँगन में घूमती। चौधरी ने कई बार रोका तो चौधराइन ने साफ कह दिया, "तुम्हें हम माँ-बेटे के बीच में बोलने की जरूरत नहीं।"

चौधराइन के लड़का हुआ। चौधराइन के मायके वालों ने मनफूल के वैसे अच्छे कपड़े नहीं दिये, जैसे छोटे के दिये। बड़ी-बूढ़ियों ने भी यही कहा कि ऐसा ही होता है।

परन्तु चौधराइन कब मानने वाली थी। सारे कपड़े वापस कर दिये। कह दिया कि मनफूल और

लने लगा। चौधराइन ऊपर छत पर थी। चौधरी ने रसोई में जो देखा, तो हँडिया में थोड़ा-सा ही दूध था। चौधरी ने मनफूल को समझाया, 'वह दूध छोटे के लिए रहने दे। तू तो कुछ और भी खा लेगा वह तो और कुछ नहीं खाता। सो कर उठेगा, तो भूखा रहेगा। फजरी के जंगल से लौटते ही तुझे दूध दूंगा।" परन्तु मनफूल कब सुनता था। मचलने लगा। शोर सुन कर चौधराइन छत पर से दौड़ी। जितने में चौधराइन नीचे आये-आये चौधरी ने मनफूल के एक चपत जड़ दिया। चौधरी न दूसरा चपत जो जड़ा, वह *मनफूल की बजाय* चौधराइन के मुँह पर पड़ा। नकसीर फूट गयी। परन्तु चौधराइन को अपनी फिक्र कहाँ थी? चौधरी पर *बिगड़ती रही, "मैंने कह दिया है तुम हर वक्त* लौंडे के पीछे न पड़ा करो। दूध ही तो माँग रहा था, दे देते। छोटे तो मेरा दूध भी पिये है। वह *बेचारा तो बस यही दूध पिये है।"*

चौधरी के लाख कहने पर भी चौधराइन ने पहले मनफूल को दूध पिला लिया, तब अपना खून धोया।

एक दिन मनफूल ड्योढ़ी में खड़ा था। चौधराइन रसोई में मसाला पीस रही थी। गली में से मनभरी गुज़र रही थी। टोह लेने के अभिप्राय से मनभरी मनफूल से बातें करने लगी। चौधराइन को जो भनक लगी तो मसाला पीसना छोड़, दौड़ कर ड्योढ़ी में आ गयी। चौधराइन को देखते ही मनभरी घबरा गयी। चौधराइन ने डपट कर पूछा, "उससे क्या पूछ रही हो? जो कुछ पूछना है मुझसे पूछो।"

मनभरी सिटपिटा गयी। उत्तर न सूझने पर खिजला कर बोली, "तुझसे क्या पूछूं? तू अपने को समझे क्या है?"

चौधराइन भला कब दबने वाली थी। तुरन्त तमक कर बोली, "मैं कुछ नहीं होती हूँ तो मेरे लड़के के पास मरने क्यों आयी!"

"ओह! बड़ी लड़केवाली आयी। क्या ढोंग रच रखा है। दिखाने को ऐसा कलेजा फाड़ रही है, जैसे इसी का पैदा किया हो।" मनभरी भी कम न थी।

इस पर तो चौधराइन ने मनभरी की वह टाँग ली कि उसे पीछा छुड़ाना मुश्किल हो गया। पड़ोसिनें *अपने-अपने घरों से झाँक रही थीं।* परन्तु किसकी मजाल थी जो बीच में बोले।

मनभरी के जाने पर चौधराइन ने पलट कर मनफूल के एक हाथ मारा, "मरे को हजार बार कहा कि बाहर न आया कर, पर में टिकते तो इसे मौत आये है।"

किवाड़ बन्द कर चौधराइन फिर रसोई में जा मसाला पीसने लगी। मनफूल अभी ड्योढ़ी में खड़ा रो ही रहा था। चौधराइन रसोई में से ही चिल्लायी, "ज्यादा फैलबाज़ी करेगा, तो खाल उधेड़ कर रख दूंगी। जरा हाथ क्या छुआ दिया, कि उसके घाव हो पड़ गये।"

थोड़ी देर में रसोई के काम से निपट कर चौधराइन *भीतर कोठरी में जो गयी, तो देखा कि मनफूल* रोते-रोते सो गया है। हाथ लगने से उसका एक गाल और एक तरफ का ओंठ सूज गया था। चौधराइन एकदम पिघल गयी, *"आग लगे मेरे हाथों में, लौंडे* के कैसी जोर की लगी। न यह रांड मनभरी गुस्सा दिलाती और न मैं लौंडे को मारती।" फिर दौड़ कर रसोई में गयी। जल्दी से दूध गरम किया, जरा-सी फिटकरी ली और ला कर मनफूल को बड़े *प्यार से पिला दिया। चौधराइन घंटों पछताती रही।*

मनफूल सो कर उठा तो उसे बुखार चढ़ आया था।

चौधराइन ने मनफूल की तीमारदारी में कोई कसर न उठा रखी, परन्तु मनफूल का रोग बढ़ता ही गया। इधर चौधराइन पश्चाताप की अग्नि में

जल रही थी। उसे रह-रह कर यही खयाल आता कि न मैं मारती, न लौडा रो कर सोता और न उसे बुखार चढ़ता। जिसने जो बताया चौधराइन ने वही किया। दवाई के साथ साथ सियान-दीवाना का भी इलाज चल रहा था। रात के बारह बारह बजे चौधराइन ने अकेला श्मशान में जा कर अनुष्ठान किया, पानी की तरह रुपया बहा दिया, परन्तु कोई लाभ न हुआ।

उधर मनभरी ने उस घटना को खूब नमक मिर्च लगा कर प्रसारित किया। उसने तथा नानी ने मैदान पहले ही से तैयार कर रखा था। सब लोग चौधराइन पर ही दाप धर रहे थे।

मनफूल का रोग जब अधिक बढ़ गया तो फिर नानी से नहीं रुका गया। एक दिन वह तथा मनभरी मनफूल को देखने आयी। पश्चाताप के मारे चौधराइन उनसे निगाह न मिला सकी। उन्हे देखते ही चौधराइन उठ कर भीतर कोठरी में चली गयी। चौधरी उठ कर आँगन में टहलने लगे। नानी और मनभरी मनफूल के पास बैठ गयी।

मनफूल बिलकुल गुमसुम पड़ा था।

नानी की आँखो में आसू भर आये। रुँधे कंठ से मनभरी से धीरे से बोली, "आज उसकी निशानी भी चली।"

"हाँ बहन यह तो उसी दिन दिख गया था जिस दिन सौतेली माँ आ गयी थी।" मनभरी ने भी हाँ में हाँ मिलायी।

"*जैसी मेरी आत्मा दुखायी है, भगवान् ऐसी ही उसकी भी आत्मा दुखाए मेरे तो तब ठंडक पड़े।*"

"मनफूल की नानी, सब्र करो। आज के थपे आज ही नही जला करते। न जाने चुड़ैल ने लौडे को क्या दे दिया कि बोल भी तो बन्द हो गया।"

"हमे देखते ही क्या मटक कर चली गयी! जरा निगाह नीची नही है।"

"अब तो घी के दीये जला रही होगी।"

"कहे देती हूँ, मेरी हाय खाली न जाएगी।"

"अब चुप रहने से काम नहीं चलेगा। कम-से कम पिन्ना मार कर दो घड़ी तो यहाँ बैठे।"

दोनों उठ कर कोठरी में गयी, चौधराइन को जली भुनी सुना कर अपना कलेजा ठंडा करने। परन्तु कोठरी के बाहर ही उनके पैर रुक गये। चौधराइन हिचकियाँ ले ले कर कह रही थी, "हे भगवान्, अगर तुम्हे मेरे एक लड़के की ही भेंट लेनी है तो छोटे को ले लो। मेरे तो और भी हो जाएँगे, लेकिन यह सौत की निशानी मैं कहाँ से लाऊँगी ?"

❦❦❦

सघ काल के साहित्य के लिए आदर्श बना।

तृतीय सघ काल लगभग दूसरी शताब्दी ई० का माना जाता है। इस युग का समूचा साहित्य सग्रहो मे ही उपलब्ध होता है। कविताएँ अधिकाश मुक्तक है और तत्कालीन चेर, चोल, पाड्य राजा महाराजाओ के क्षत्रियोचित विशिष्ट गुण और कीर्ति के बखान के रूप मे है। प्रेम और विरह का भी वर्णन है, पर यह व्यावहारिक जीवन मे ऊपर उठता नही। इहलोक के सुख का छोड कर, किसी कालानिक सुख के लिए आहे भरना और इसलिए ससार से उदास रहना, इत्यादि कल्पनाएँ इस युग की कविताओ से बहुत दूर थी। फलत इन कविताओ म प्रकृति तथा मानव का सौंदर्य-दर्शन स्वस्थ और स्थूल है। भाषा की दृष्टि से इस युग की कविताएँ छद, शैली, भाषा इत्यादि में सस्कृत से बहुत कम प्रभावित है। सीधी और सशक्त भाषा में थोडे शब्द और छोटे वाक्यो म अधिक भाव भरे सजीव चित्रण इनमे दृष्टव्य है।

इन कविता सग्रहो के नाम ही अपनी कविता-सख्या प्रकट करते है, जैसे 'अहनानूरु' (अहम् से सबधित चार सौ) 'पुरनानूरु' (पुरम् से सबधित चार सौ), पत्तुप्पाट्टु (सत्रह सौ), पतुपाट्टु (दशक), पदिट्रुप्पत्तु (दस दशक), एट्टुतोगै (लघु पाँच सौ) आदि। बट्रिणै (सुधर्म), कुरुन्तोहै (लघु सग्रह), कलित्तोहै (कलि-छन्द सग्रह), आदि भी इस काल की ही रचनाएँ है। ये सब कई कवियो की विभिन्न कविताओ का विषय-क्रम के अनुसार किया गया सग्रह है। इसलिए किसी विशेष कवि की प्रतिभा का स्वतत्र सत्ता का दर्शन नही होता।

सघ काल का परवर्ती साहित्य तमिल मे क्रान्ति उपस्थित करता है। आर्य और द्रविड़ो के सास्कृतिक महामिलन का प्रभाव सर्वप्रथम यहीं से आरभ होता है, जो आगे चल कर कितने ही सास्कृतिक सबधो के कारण और गहरा होता गया है, और फलस्वरूप आज भारतीय सस्कृति का विकास हुआ।

बौद्ध और जैन धर्मों का प्रचार और प्रभाव उनकी प्रतिक्रिया के रूप मे आल्वार (वैष्णव) और नायनमार (शैव) का भक्ति-आन्दोलन—इन धार्मिक आन्दोलनो ने तमिल-भाषा तथा साहित्य को सम्पन्न और समृद्ध करने मे योग दिया। इस प्रकार का धार्मिक सघर्ष-जनित साहित्य नवीं शती तक पाया जाता है।

विभिन्न धर्मों की उथल-पुथल के इस युग के प्रारभकाल का एक संग्रह मिलता है। विश्व विख्यात, तमिल-वेद के नाम से प्रसिद्ध 'तिरुक्कुरळ' इस सग्रह में प्रमुख है। इसके रचयिता तिरुवल्लुवर, मनु के धर्म शास्त्र, वात्स्यायन के काम-सूत्र तथा कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र के अध्येता, बड़े ही प्रतिभाशाली, मानव-जीवन के पारखी तत्त्व माने जाते हैं।

मानव-जीवन मे सबधित तथ्यो और तत्त्वो को धर्म, अर्थ और काम तीन अध्यायो में बाँट कर कुरळ छद में तिरुवल्लुवर जीवन की अनूठी व्याख्या कर गये है। ऐसी कोई बात नही, जो जीवन के अन्तर्गत नही है। उसकी कोई उक्ति नही, जो जीवन की नही है। विस्तृत अनुभव, गभीर चिन्तन, सुखमय जीवन में पूर्ण आस्था, जीवन से प्रेम—कुरळ कार का यही व्यक्तित्व तिरुक्कुरळ के पद पद में झाँक रहा है। जीवन से मुक्ति पाना उसे सारहीन समझना तिरुवल्लुवर को अभीष्ट नही है। इसलिए धर्म, अर्थ, काम का विवेचन करने वाले ने मोक्ष को जान-बूझ कर छोड दिया है।

मघकालीन साहित्य का यहाँ लगभग अन्त होता है। और तमिल साहित्य में जैनो और बौद्धो के सपर्क के कारण प्रबध-काव्यो की सृष्टि होने लगती है। जैन और बौद्ध भिक्षुओ का साहित्य-प्रेम और साहित्य-सेवा तो प्रसिद्ध है ही। वे जहाँ भी गये, वहाँ धर्म के प्रचार के साथ, स्थानीय भाषा-साहित्य का प्रसार भी खूब किया। जैन-मतावलम्बियो को तमिल में समण (श्रमण!) कहते है। तमिल-साहित्य के पच महाकाव्य 'सिलप्पदिकारम्', 'मणिमेकलै', 'वळयापति',

जल रही थी। उसे रह-रह कर यही ख्याल आता कि न मैं मारती, न लौंडा रो कर सोता और न उसे बुखार चढ़ता। जिसने जो बताया चौधराइन ने वही किया। दवाई के साथ-साथ सियान-दवाना का भी इलाज चल रहा था। रात को बारह बारह बजे चौधराइन ने अकेला श्मशान में जा कर अनुष्ठान किया, पानी की तरह रुपया बहा दिया, परन्तु कोई लाभ न हुआ।

उधर मनभरी ने उस घटना का खूब नमक-मिर्च लगा कर प्रसारण किया। उसने तथा नानी ने मैदान पहले ही से तैयार कर रखा था। सब लोग चौधराइन पर ही दोष धर रहे थे।

मनफूल का रोग जब अधिक बढ़ गया तो फिर नानी से नहीं रहा गया। एक दिन वह तथा मनभरी मनफूल को देखने आयी। पश्चात्ताप के मारे चौधराइन उनसे निगाह न मिला सका। उन्हे देखते ही चौधराइन उठ कर भीतर कोठरी में चली गयी। चौधरी उठ कर आँगन में टहलने लगे। नानी और मनभरी मनफूल के पास बैठ गयीं।

मनफूल बिलकुल गुमसुम पड़ा था।

नानी की आँखों में आँसू भर आये। रुँधे कंठ से मनभरी से धीरे से बोली, "आज उसकी निशानी भी चली।"

"हाँ बहन यह तो उसी दिन दिख गया था जिस दिन सौतेली माँ आ गयी थी।" मनभरी ने भी हाँ में हाँ मिलायी।

"जैसी मेरी आत्मा दुखायी है, भगवान् ऐसी ही उसकी भी आत्मा दुखाए, मेरे तो तब ठंडक पड़े।"

"मनफूल की नानी, सब्र करो। आज के बये आज ही नहीं जला करते। न जाने चुड़ैल ने लौंडे को क्या दे दिया कि बोल भी तो बन्द हो गया।"

"हमें देखते ही कैसा मटक कर चली गयी! जरा निगाह नीची नहीं हुई।"

"अब तो घी के दीये जला रही होगी।"

"कहे देती हूँ, मेरी हाय खाली न जाएगी।"

"अब चुप रहने से काम नहीं चलेगा। कम-से-कम पिता मार कर दो घड़ी तो यहाँ बैठे।"

दोनों उठ कर कोठरी में गयीं, चौधराइन को जली भुनी सुना कर अपना कलेजा ठंडा करने। परन्तु कोठरी के बाहर ही उनके पैर रुक गये। चौधराइन हिचकियाँ ले ले कर कह रही थी, "हे भगवान्, अगर तुम्हें मेरे एक लड़के की ही भेंट लेनी है तो छोटे को ले लो। मेरे तो और भी हो जाएँगे, लेकिन यह सौत की निशानी मैं कहाँ से लाऊँगी?"

❀❀❀

संघ-काल के साहित्य के लिए आदर्श बना।

तृतीय संघ-काल लगभग दूसरी शताब्दी ई० का माना जाता है। इस युग का समूचा साहित्य संग्रहों में ही उपलब्ध होता है। कविताएँ अधिकांश मुक्तक हैं और तत्कालीन चेर, चोल, पाड्य राजा-महाराजाओं के क्षत्रियोचित विशिष्ट गुण और कीर्ति के बखान के रूप में हैं। प्रेम और विरह का भी वर्णन है, पर वह व्यावहारिक जीवन से ऊपर उठता नहीं। इहलोक के सुख को छोड कर, किसी काल्पनिक सुख के लिए आहें भरना और इसलिए संसार से उदास रहना, इत्यादि कल्पनाएँ इस युग की कविताओं से बहुत दूर थीं। फलत इन कविताओं में प्रकृति तथा मानव का सौंदर्य-दर्शन स्वस्थ और स्थूल है। भाषा की दृष्टि से इस युग की कविताएँ छंद, शैली, भाषा इत्यादि में संस्कृत से बहुत कम प्रभावित हैं। सीधी और सशक्त भाषा में थोड़े शब्द और छोटे वाक्यों में अधिक भाव भरे सजीव चित्रण इनमें दृष्टव्य हैं।

इन कविता-संग्रहों के नाम ही अपनी कविता-संख्या प्रकट करते हैं, जैसे 'अह नानूरु' (अहम् से संबंधित चार सौ) 'पुर नानूरु' (पुरम् से संबंधित चार सौ), मुत्तोळ्ळाइरम (सत्रह सौ), पत्तुपाट्टु (दशक), पदिट्रुप्पत्तु (दस दशक), ऐंकुरुनूरु (लघु पाँच सौ) आदि। परिपाडल (सुधर्म), कुरुन्तोहै (लघु संग्रह), कलित्तोहै (कलि-छन्द संग्रह), आदि भी इस काल की ही रचनाएँ हैं। ये सब कई कवियों की विभिन्न कविताओं का विषय-क्रम के अनुसार किया गया संग्रह है। इसलिए किसी विशेष कवि की प्रतिभा की स्वतन्त्र सत्ता का दर्शन नहीं होता।

संघ काल का परवर्ती साहित्य तमिल में क्रान्ति उपस्थित करता है। आर्य और द्रविडों के सांस्कृतिक महामिलन का प्रभाव सर्वप्रथम यहीं से आरंभ होता है, जो आगे चल कर निरन्तर सांस्कृतिक संबंधों के कारण और गहरा होता गया है, और फलस्वरूप आज भारतीय संस्कृति का विकास हुआ।

बौद्ध और जैन धर्मों का प्रचार और प्रभाव उनकी प्रतिक्रिया के रूप में आलवार (वैष्णव) और नायनमार (शैव) का भक्ति-आन्दोलन—इन धार्मिक घात प्रतिघातों ने तमिल-भाषा तथा साहित्य को समुन्नत और समृद्ध करने में योग दिया। इस प्रकार का धार्मिक संघर्ष-जनित साहित्य नवीं सदी तक पाया जाता है।

विभिन्न धर्मों की उथल-पुथल के इस युग के प्रारम्भकाल का एक संग्रह मिलता है। विश्व विख्यात, तमिल-वेद के नाम से प्रसिद्ध 'तिरुक्कुरळ' इस संग्रह में प्रमुख है। इसके रचयिता तिरुवल्लुवर, मनु के धर्म शास्त्र, वात्स्यायन के काम-सूत्र तथा कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र के अध्येता, बड़े ही प्रतिभाशाली, मानव-जीवन के पारखी तक माने जाते हैं।

मानव-जीवन से संबंधित तथ्यों और तत्वों को धर्म, अर्थ और काम तीन अध्यायों में बाँट कर कुरळ छंद में तिरुवल्लुवर जीवन की अनूठी व्याख्या कर गये हैं। ऐसी कोई बात नहीं, जो जीवन के अन्तर्गत नहीं है। उसकी कोई उक्ति नहीं, जो जीवन की नहीं है। विस्तृत अनुभव, गंभीर चिंतन, मुख्यत जीवन में पूर्ण आस्था, जीवन से प्रेम—कुरळ कार का यही व्यक्तित्व तिरुक्कुरळ के पद पद में झाँक रहा है। जीवन से मुक्ति पाना, उसे सार-हीन समझना तिरुवल्लुवर को अभीष्ट नहीं है। इसलिए धर्म, अर्थ, काम का विवेचन करने वाले ने मोक्ष को जान-बूझ कर छोड दिया है।

संघकालीन साहित्य का यहाँ लगभग अन्त होता है। और तमिल साहित्य में जैनों और बौद्धों के संपर्क के कारण प्रबंध-काव्यों की सृष्टि होने लगती है। जैन और बौद्ध भिक्षुओं का साहित्य-प्रेम और साहित्य-सेवा तो प्रसिद्ध है ही। वे जहाँ भी गये, वहाँ धर्म के प्रचार के साथ, स्थानीय भाषा-साहित्य का प्रसार भी खूब किया। जैन-मतावलंबियों को तमिल में शमण (श्रमण १) कहते हैं। तमिल-साहित्य के पंच महा-काव्य 'शिलप्पदिकारम्', 'मणिमेकलै', 'वळयापति',

चोल-राज्यकालीन प्रतिभाओं के परिचय के बाद हम तमिल-गद्य के विकास पर दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि यहाँ काव्यों की टीका-टिप्पणियों में ही गद्य अपना स्वरूप निश्चित कर रहा था। 'सिलप्प-दिकारम्' में कुछ कुछ गद्य का रूप मिलता है, पर साहित्य-रचना में गद्य का उपयोग, टीकाओं को छोड़ कर अन्यत्र नहीं के बराबर हो है। इन टीकाओं में गद्य का ऐसा परिमार्जित रूप मिलता है कि आज भी यही व्याख्याएँ प्रामाणिक मानी जाती हैं। 'तोलकाप्पियम्' की सेनावरैयर की टीका, मध्यकालीन साहित्य परनच्चिनार्क्किनियार की टीका, परिमेलषकर की कुरळ पर व्याख्या, अडियार्कुनल्लार-कृत 'सिल-प्पदिकार'की टीका आज भी अपने रूप में अत्यन्त उपयोगी और स्पष्ट है।

वैष्णवों का भक्ति-साहित्य-ग्रंथ 'नाल्लाइर-दिव्य-प्रबन्धम्' पर भी टीकाएँ लिखी गयीं। संस्कृत से अछूती शुद्ध तमिल के पक्षपातियों की शिकायत है कि आज की तमिल में संस्कृत शब्दों की बहुलता और प्रचुरता, इन्हीं वैष्णव टीकाकारों की देन है। तमिल और संस्कृत के शब्दों का बराबर मिला कर इन टीकाकारों ने विशिष्ट *मणिप्रवाल शैली में* अपनी व्याख्याएँ लिखीं। वेदान्त देशिकर, पिल्लै लोकाचार्य, मणवाळ महामुनि आदि के नाम इस संबंध में उल्लेखनीय हैं।

इसके विपरीत शैव-सिद्धान्त-ग्रंथ भाषा पर जोर न दे कर लिखे जाने लगे। शैव-धर्म १२ वीं शती में आ कर जगह जगह स्थापित मठों के आश्रय में पलने लगा था। साकारोपासक होने पर भी शैव मतों ने भक्ति की अपेक्षा, ज्ञान द्वारा अपने आराध्य के रहस्य से परिचित होने का प्रयास किया। मेय्कण्डार विरचित 'शिवज्ञानबोधम्' अरुणन्दि शिवाचार्य कृत 'शिवज्ञान सिद्धियार' इसी प्रकार के ग्रंथ हैं।

एक तरफ धर्म के सिद्धान्त और दर्शन पर ग्रंथ लिखने का सिलसिला चल रहा था, और दूसरी तरफ सत्रहवीं शती में फिर एक बार काव्य वसन्त आया और कवि-कोकिल गा उठे। आशुकवि काळ-मेघम, इरट्टैयर, जोड़े के नाम से प्रसिद्ध कवि युगल इळंसूरियर और मुदुसूरियर, तिरुप्पुकल के रचयिता अरुणगिरिनाथर, तमिल महाभारत के व्यास विल्लि-पुत्तूरर इसी काल के हैं। संस्कृत के महाकाव्य नैषध का तमिल रूपान्तर भी इसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। रूपान्तरकार थे, तेनकाशि के शासक आदि वीर-राम-पाण्ड्य।

इस युग में भाषा और काव्यांगों पर भी विवेचन हुआ, *जिसका उल्लेखनीय प्रयास वैद्यनाथ देशिकर*-कृत 'इलक्कण विळक्कम्' (व्याकरण व्याख्या) में देखने को मिलता है। सरल बोधगम्य और उत्तम प्रतिपादन-शैली के कारण देशिकर का यह ग्रंथ 'कुट्टि तोलकाप्पियम्' (लघु तोलकाप्पियम) के नाम से प्रशंसित है।

विजयनगर के सम्राट् कृष्णदेवराय के समय का एक तमिल कोश 'निघंटु चूडामणि' प्राप्त है, जिसकी परवर्ती रचना चिदम्बर रेवण सिद्धर कृत 'अहरादि निघंटु', है। पहली बार इसमें तमिल के शब्दों को अकारादि क्रम से रखने का प्रयत्न किया गया है। शब्दकोश निर्माण-कार्य का इसके बाद अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में, फादर बेस्की ने, जो तमिल साहित्य में वीरमा मुनिवर के नाम से प्रसिद्ध हैं, आगे बढ़ाया। इनके द्वारा रचित 'चतुरहरादि' में शब्द के अकारादि क्रम को बनाये रखने के साथ, शब्दों के चुनाव में व्यापक दृष्टिकोण भी देखने को मिलता है। पूर्वकृत अहरादियों में केवल ऐसे शब्द स्थान पाते थे, जो काव्य में प्रयुक्त हों और जिनके अर्थ बड़ी कठिनाई से निकाले जाते हों। वीरमा-मुनिवर ने बोलचाल में प्रचलित शब्दों को भी संकलित कर कोश की उपयोगिता बढ़ा दी। चतुर-हरादि के अतिरिक्त, इन्होंने एक तमिल-फ्रेंच कोश और एक तमिल-पुर्तगाली-लैटीन कोश भी तैयार

चोल-राज्यकालीन प्रतिभाओं के परिचय के बाद हम तमिल-गद्य के विकास पर दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि यहाँ काव्यों की टीका टिप्पणियों में ही गद्य अपना स्वरूप निश्चित कर रहा था। 'शिलप्पदिकारम्' में कुछ कुछ गद्य का रूप मिलता है, पर साहित्य-रचना में गद्य का उपयोग, टीकाओं को छोड़ कर अन्यत्र नहीं के बराबर ही है। इन टीकाओं में गद्य का एसा परिमार्जित रूप मिलता है कि आज भी यही व्याख्याएँ प्रामाणिक मानी जाती हैं। 'तोलकाप्पियम्' की सेनावरैयर की टीका, मध्यकालीन साहित्य परलच्चिनार्किनियार की टीका, परिमेलवकर की कुरळ पर व्याख्या, अडियार्कुनल्लार-कृत 'शिलप्पदिकार' की टीका आज भी अपने रूप में अत्यन्त उपयोगी और स्पष्ट है।

वैष्णवों का भक्ति-साहित्य-ग्रंथ 'नालाइर-दिव्य-प्रबन्धम्' पर भी टीकाएँ लिखी गयीं। संस्कृत से अछूती शुद्ध तमिल के पक्षपातियों की शिकायत है कि आज की तमिल में संस्कृत शब्दों की बहुलता और प्रचुरता, इन्हीं वैष्णव टीकाकारों की देन है। तमिल और संस्कृत के शब्दों को बराबर मिला कर इन टीकाकारों ने विशिष्ट मणि प्रवाल शैली में अपनी व्याख्याएँ लिखीं। वेदान्त देशिकर, पिळ्ळै लोकाचार्य, मणवाळ महामुनि आदि के नाम इस संबंध में उल्लेखनीय हैं।

इसके विपरीत शैव सिद्धान्त-ग्रंथ भाषा पर जोर न दे कर लिखे जाने लगे। शैव-धर्म १२ वीं शती में आ कर जगह जगह स्थापित मठों के आश्रय में पलने लगा था। साकारोपासक होने पर भी शैव मत ने भक्ति की अपेक्षा, ज्ञान द्वारा अपने आराध्य के रहस्य से परिचित होने का प्रयास किया। मेय्कण्डार विरचित 'शिवज्ञानबोधम्' अरुनन्दि शिवाचार्य कृत 'शिवज्ञान सिद्धियार' इसी प्रकार के ग्रंथ हैं।

एक तरफ धर्म के सिद्धान्त और दर्शन पर ग्रंथ लिखने का सिलसिला चल रहा था, और दूसरी तरफ पन्द्रहवीं शती में फिर एक बार काव्य वसन्त आया और रवि-कोकिल गा उठे। आनुवीच काळमेघम, इरट्टैयर, जोड़े के नाम से प्रसिद्ध कवि युगल इळन्दूरियर और मुदुसूरियर, तिरुप्पुकल के रचयिता अरुणगिरिनाथर, तमिल महाभारत के व्यास विल्लिप्पुत्तूरर इसी काल के हैं। संस्कृत के महाकाव्य नैषध का तमिल रूपान्तर भी इसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। रूपान्तरकार थे, तेनकाशि के शासक अदि वीर-राम-पाण्ड्य।

इस युग में भाषा और व्याख्यानों पर भी विवेचन हुआ, जिसका उल्लेखनीय प्रमाण वैद्यनाथ देशिकर-कृत 'इलक्कण विळक्कम (व्याकरण-व्याख्या) में देखने को मिलता है। सरल बोधगम्य और उत्तम प्रतिपादन शैली के कारण देशिकर का यह ग्रंथ 'कुट्टि तोलकाप्पियम्' (लघु तोलकाप्पियम) के नाम से प्रसिद्ध है।

विजयनगर के सम्राट् कृष्णदेवराय के समय का एक तमिल कोश 'निघण्टु चूडामणि प्राप्त है जिसकी परवर्ती रचना चिदम्बर रेवण सिद्धर कृत 'अहरादि निघण्टु' है। पहली बार इसमें तमिल के शब्दों को अकारादि क्रम से रखने का प्रयत्न किया गया है। शब्दकोश निर्माण-कार्य को इसके बाद अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में, फादर बेसकी ने, जो तमिल साहित्य में वीरमा मुनिवर के नाम से प्रसिद्ध है, आगे बढ़ाया। इनके द्वारा रचित 'चतुरहरादि' में शब्द के अकारादि क्रम का बनाये रखने के साथ, शब्दों के चुनाव में व्यापक दृष्टिकोण भी देखने को मिलता है। पूर्वकृत अहरादियों में केवल ऐसे शब्द स्थान पाते थे, जो काव्य में प्रयुक्त हों और जिनके अर्थ बड़ी कठिनाई से निकाले जाते हों। वीरमा-मुनिवर ने बोलचाल में प्रचलित शब्दों को भी संकलित कर कोश की उपयोगिता बढ़ा दी। चतुरहरादि के अतिरिक्त, इन्होंने एक तमिल फ्रेंच कोश और एक तमिल-पुर्तगाली-लैटीन कोश भी तैयार

किया। तमिल बोलियों के शब्दों का एक कोश भी इन्होंने तैयार किया बताया जाता है। उन्नीसवीं सदी में राटलर और विन्सलो ने भी भाषा-कोश पर पर्याप्त कार्य किया। आज बीसवीं सदी में वैयापुरी पिल्लै के सपादकत्व में मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित Tamil Lexicon में पूर्व के समस्त प्रयासो को समाहित कर लिया गया है, यह इस क्षेत्र की एक मात्र प्रतिनिधि कृति है।

विजयनगर के पतन के बाद तमिलनाड मुसलमानो और मराठो के आक्रमण तथा यूरोप की व्यापारी कपनियो के पारस्परिक मुठभेड से आक्रान्त हुआ, और तमिल को राज्याश्रय से वचित होना पडा। साहित्य-सर्जन का कार्य दरबारो से हट कर धार्मिक संस्थाओं में होने लगा। इस कारण धार्मिक और दार्शनिक साहित्य का अधिक निर्माण हुआ, तो आश्चर्य नही। तत्त्व प्रकाशर का लिखा हुआ 'तत्त्व-प्रकाशम्', हरिदासर-कृत 'इरु समय विळक्कम' (दो धर्मों की व्याख्या) कुमर गुरु पर स्वामिहल-रचित 'पडार कुम्मणि विळक्कम' इस युग के कुछ धर्म-सिद्धान्त-ग्रथ हैं।

इन धर्मतत्त्व वेत्ताओं के मध्य इस काल में एक सत का उदय हुआ, जिनकी आत्माभिव्यक्ति जन-साधारण पर वह स्थायी प्रभाव डालने मे समर्थ हुई, जो इतने सिद्धान्त-ग्रथ मिल कर भी न डाल सके। तायुमान स्वामी के गीत आज भी भक्तजनो का कठहार है। आगे चल कर उन्नीसवी सदी ने भी ऐसे एक सत रामलिंग स्वामी के दर्शन किये। शैव तिरुमर (शैव वेद) के नाम से प्रख्यात तेवारम्, तिरुवाचकम् के पदों में निहित तत्त्व को सीधी और सरल भाषा में सर्वसाधारण की बोधगम्य शैली में व्यक्त करते हुए रामलिंग स्वामी ने जो गीत गाये है, वे अपनी मधुरता सुगेयता और अर्थगहनता के कारण 'तिरु अरुटपा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। साधारणतया यह उपाधि मुन्दर प्रार्थना-गान (तेवारम्-तिरुवाचकम्) से ही जुडी रहती थी। पर रामलिंग स्वामी के पदो ने सहज ही यह पद प्राप्त कर लिया।

अठारहवी शती की रचनाओं के साथ, शीकाली के अरुणाचल कविरायर-कृत 'रामनाटकम्' का भी उल्लेख होता है। यह पद्य-रूपक अपनी चलती भाषा और सुगेयता के कारण शीघ्र ही लोकप्रिय हुआ। यद्यपि आज यह स्वतत्र रूप से खेला नही जाता फिर भी सगीत सभाओ में इसके गीत अनिवार्य रूप से स्थान पाते हैं। इस सिलसिले में कविकुञ्जर भारती के शृगारिक पद भी उल्लेखनीय हैं, जो सगीतात्मक होने के साथ-साथ साहित्यिक भी है।

तमिल साहित्य का आधुनिक काल या नवीन युग, अग्रेजी राज के स्थापित होने तथा मुद्रण-यंत्र के प्रचार से आरभ होता है। बिलकुल नयी परिस्थितियो में, नये-नये विचारो के सपर्क में आ कर, साहित्य का नवोन्मेष अब होने लगा और साहित्य की प्रवृत्तियो में अन्तर दिखाई पडने लगा। देश-भक्ति ने राज-भक्ति का स्थान ग्रहण किया और इस भाव-परिवर्तन मे देश-व्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन ने योग दिया।

तमिल साहित्य में युग की इस क्रान्ति को प्रतिबिंबित करने का एकमात्र श्रेय कविवर सुब्रह्मण्य भारती को है, जिनकी कविताओ ने जनता में ही नही, साहित्य में भी एक नयी चेतना और जागृति उत्पन्न की। भारती ने अभूतपूर्व उत्साह और स्फूर्ति से युग की माँग के अनुकूल भाषा और भाव को इस तेजी से आगे बढाया, कि वर्तमान युग के कवि और लेखक, उन्ही के व्यक्तित्व से आच्छादित हो गये। भारती आधुनिक तमिल साहित्य के युगप्रवर्तक, क्रान्ति-दर्शी, और पथ-प्रदर्शक है।

सरल भाषा, सहज शैली, लोकप्रिय छन्द, सुगेयता भारती की कविता की विशेषता हैं। उन्ही के पथ पर वर्तमान तमिल कविता की प्रगति हो रही है। आज के कवियों में, सुन्दर कल्पना, सुघटित भाषा, उच्च काव्यत्व, सयत भाव इत्यादि के कारण कवि-

मणि दसिक विनायकम् पिल्लै की कविताएँ प्रसिद्ध हो चली हैं। पर जनकवि नामक्कल रामलिंगम पिल्लै की गद्य-कविताएँ जल्दी असर करने वाली होती हैं। भारती के शिष्य, क्रांतिकारी कवि भारतिदासन की कविताओं का रंग-ढंग कुछ बदल गया है। यथार्थवाद की ओर उनका आजकल झुकाव अधिक है।

अंग्रेज़ी गीतों के ढंग पर गीत-रचना भी तमिल में होने लगी है। गीतकारों में कंबदासन, शुद्धानंद भारती, पेरियसामि तूरन उल्लेखनीय हैं। कविता और संगीत दोनों इनकी रचनाओं में अन्योन्याश्रित रहते हैं। कवि सुब्रह्मण्य योगी रहस्यपूर्ण क्लिष्ट कल्पना करते हैं पर उनकी काव्य-साधना अद्भुत है। ग्रामीण भाषा में आधुनिक राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नों को ले कर कविता लिखने वालों में 'सुरभि' और कोत्तमंगलम् सुब्बु ने अच्छी सफलता प्राप्त की है।

कविता की ही भाँति गद्य के विकास को भी नयी दिशा प्रदान करने वाले सुब्रह्मण्य भारती ही हैं। चुभने छोटे वाक्यों में आग्रहपूर्ण कथन, पाठक के हृदय को सीधे जा कर स्पर्श करने वाली शैली-युक्त भारती का गद्य आज भी पत्र-पत्रिकाओं के लिए आदर्श बना हुआ है।

तमिल में नया साहित्य, नया भाव, नये विषय, इस प्रकार सब कुछ नवीन को ले कर भारती एक ओर जनता के निकट जा रहे थे, तो दूसरी ओर प्राचीन साहित्य, उसका उद्धार, प्रचार और परिचय के लिए एक और व्यक्ति निकल पड़े। ये थे विलक्षण प्रतिभाशाली डा० ऊ० वे० स्वामिनाथ ऐय्यर। उनकी असाधारण क्षमता और अथक परिश्रम का फल है कि आज तमिल के 'सिलप्पधिकारम्', 'मणिमेकलै' जैसे प्राचीन गौरव-ग्रंथ, दीमक के दुष्पाप्य होने से बचाये गये हैं। जिस अपूर्व लगन के साथ इन्होंने प्राचीन ताल-पत्रों को खोज-खोज कर (उनकी लिपियों के द्वारा) मूलग्रंथ के निश्चित स्वरूप को साहित्य-संसार के सम्मुख उपस्थित करने का कार्य किया, अपनी तीव्र बुद्धि के बल से जाली प्रतिलिपियों से साहित्यिक निधियों को अलग कर जिस सूझी से उन्हें संजोया, अपने तन, मन, धन की तनिक परवाह न कर जिस मस्ती और आवेग के साथ घर घर घूम कर पाण्डुलिपियाँ इन्होंने एकत्रित कीं वह अनदेखी चीज़ें थीं। प्राचीन तमिल साहित्य के पुनरुद्धार और प्रतिष्ठा के लिए जीवन न्योछावर कर देने वाले इस तपस्वी का तमिल साहित्य और जनता चिरऋणी रहेगी।

अनुसंधान-कार्य में ही नहीं, लेखक की हैसियत से भी स्वामिनाथ ऐय्यर बेजोड़ रहे। इनकी लिखी आत्मकथा 'एन चरित्तिरम्' गद्य साहित्य की अमूल्य निधि है। इन्होंने अपने साहित्य-गुरु महाविद्वान् मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्लै की जीवनी भी लिखी है। विद्वान् मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्लै भी अच्छे लेखक थे। इनके लिखे स्थल-पुराण प्रसिद्ध हैं।

तमिल गद्य पर विचार करते हुए उनके विविध अंगों पर अलग-अलग विचार करना अधिक समीचीन होगा। गद्य के अनेक रूप—उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, आलोचना इत्यादि की आधुनिक प्रगति बहुत कुछ पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा, आचार-विचार पर निर्भर रही।

कथा-साहित्य के आरंभ-काल में, एक कन्दस्वामी पुलवर का लिखा, स्मृति-चन्द्रिका का लघु रूप 'धर्मनूल' मिलता है और उसके बाद ही संभवतः ताण्डवमुदलियार ने मराठी पंचतंत्र का अनुवाद कर आधुनिक कहानियों के लिए पथ खोल दिया। आधुनिक तमिल कहानी इस पंचतंत्र के अनुवाद की भित्ति पर खड़ी हो, सो बात नहीं। इतना अवश्य है कि प्रचुर मात्रा में अनुवादों ने मौलिक कहानियों को जन्म दिया। पत्र-पत्रिकाओं के बढ़ते प्रकाशन से साहित्य के इस अंग को प्रोत्साहन मिला और आज

है। इस दिशा में एक-दो प्रयास अवश्य हुए हैं। व० वे० सु० अय्यर की 'कम्ब-रामायण आरायच्चो' (कम्ब रामायण की विवेचना) उच्चकोटि की पुस्तक है। टी० के० चि० ने भी प्राचीन कविताओं पर विशेष कर 'कम्ब रामायण' की कविताओं पर व्याख्यात्मक लेख लिखे हैं। पी० श्री० आचार्य का वैष्णव कवि और कम्बन का तुलनात्मक अध्ययन भी उल्लेखनीय है। अ० च० ज्ञानसंबंदम् के काव्यांगों पर लिखे लेख बड़े ही विचारपूर्ण और गंभीर होते हैं। आर० के० विश्वनाथन्, पी० एन० शिवरामन्, ए० एन० अप्पुस्वामी आदि विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि विषयों को ले कर तमिल के साहित्यांग को पुष्ट करने के प्रयत्न में हैं।

तमिल साहित्य, संघकाल और चेर-चोल-पांड्य राज्याश्रय काल को बहुत पीछे छोड़ चुका है और उसका पदार्पण एक सर्वथा भिन्न संसार में हुआ है।

ooo

श्रीसत्य | प्रलय से दो पल पूर्व

"हल्लो ! .....बोल रहा हूँ......! "

सतीश चुपचाप सुनता रहा। फ़ोन पर उसने जो कुछ भी सुना, उसका प्रत्युत्तर वह बड़ी तेज़ी के साथ देना चाहता था। लेकिन जया की ओर देख कर वह अपने-आप को सँभालते हुए एक-एक शब्द तौल-तौल कर बोलने की चेष्टा कर रहा था। उसके इस प्रयत्न में यह अस्पष्ट नहीं रह गया था कि वह अपनी ओर से कही जाने वाली बात का स्पष्टीकरण जया को नहीं देना चाहता।

उसने कहा, "धन्यवाद। मैं बहुत अधिक विचलित हुआ हूँ, सो बात नहीं। मैं पूरी तरह से शान्त हूँ। पूरी तरह से होश में भी। मुझे किसी से किसी तरह की शिकायत भी नहीं। आप अपना काम करें। आप क्या ठीक कर रहे हैं, और उसमें कितनी ग़लतियाँ हैं, इसकी चिन्ता मुझसे नहीं हो सकती। दया की प्रार्थना न कर सकूँ, तो भी आपकी प्रवृत्ति पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा, यह मैं जानता हूँ। जो हो, आन्तरिक मन से आपको नमस्कार करने को जी चाहता है।"

सतीश ने फ़ोन रख दिया। वह बहुत अधिक अस्थिर हो उठा था। लेकिन अपनी चंचलता जया के सामने न प्रकट करने के लिए कृतसंकल्प था। फ़ोन के पास ही बिछे हुए पलंग पर, अपने दोनों हाथ पीछे की ओर टेक कर, उन पर अपने शरीर का वज़न डालते हुए, वह बैठ गया।

जया फ़ोन पर हुई बातचीत का पूरा सिलसिला नहीं समझ पायी, लेकिन कोई असाधारण बात हुई है, यह ज़रूर समझ गयी। पूछा, "कौन था ?"

"मैं सिगरेट पीना चाहता हूँ, जया ! आग की चिमनी के ऊपर ही टिन पड़ा है। इधर ला दो।"

जया उठ कर टिन ले आयी। उसके हाथ में थमा दिया।

"माचिस ?"

"कहाँ है ?"

सतीश ने फिर जवाब नहीं दिया। अपनी जेब में हाथ डाला। माचिस जेब में नहीं थी। रुमाल के साथ-साथ एक दस का नोट हाथ में आ गया। वह उठा। जलती हुई चिमनी से उसने नोट सुलगाया और अपनी सिगरेट जला ली। जया इस अद्‌भुत कृत्य को देखती रही। सतीश ने हँसने की कोशिश करते हुए कहा, "जया, तुम्हें यह बिलकुल पागलपन लगता होगा ? लगता है न ? ऐसी अय्याशी की बातें पोथियों में पढ़ी थीं। ऐसे नवाबों के प्रति कभी किसी की श्रद्धा हुई हो, ऐसा ज़िक्र मुझे याद नहीं पड़ रहा। लेकिन आज मैं सोच रहा हूँ कि ऐसा करना स्वाभाविक ही था।"

जया सतीश की ओर चुपचाप देखती रही। सतीश बिना रुके कहता ही चला जा रहा था। वह जया को मौका नहीं देना चाहता था कि वह एक क्षण भी कोई प्रश्न पूछने के लिए पा सके। "वे नवाब, जिन्होंने पैसे को इतना अकिंचन माना, और बिना किसी तरह की परवाह किये फूंक दिया, बिलकुल गलत रहे हों, सो बात नहीं, जया ! यह सब कितना अस्थिर और क्षणभंगुर है। फिर उसका पूरा आनन्द लेने की लालसा यदि इस जीवन में किसी के सामने उत्पन्न हुई हो, तो उसे जीवन के प्रति गहरे अनुराग का हिमायती ही कहा जाएगा। होगा न ऐसा ?"

जया ने कोई जवाब नहीं दिया। वह चिन्तित दृष्टि से सतीश की ओर देखती रही, सतीश कहता गया, "जया, यदि तुम्हें मालूम हो जाए कि कल प्रलय होने वाला है—कल, बिलकुल कल। आज से २४ घंटे बाद। ठीक इसी समय, इसी क्षण। तो ? तो ? सच बताना तुम क्या करो ?

वह उठ खड़ा हुआ। खिड़की के पास जा कर खड़ा हो गया। काँच की खिड़कियाँ बंद थीं और उन पर मोटा पर्दा लगा हुआ था। बाहर ओस और सर्दी से चाँदनी रात भीगी हुई थी। सिगरेट उसके हाथ में जल रही थी। उसने एक ओर का कश लिया। मुड़ कर जया की ओर देखा। बुझे हुए स्वर में बोला, "जया, यहाँ आओ। मेरे करीब, और करीब। डरो नहीं। मुझमें अभी तक कोई बहुत बड़ा असाधारण परिवर्तन नहीं हुआ है।"

जया सतीश की ओर बढ़ी। सतीश जया की ओर। उसके कंधे पर हाथ रख कर सतीश ने पूछा, "यदि कल प्रलय हो जाए जया, तो एक प्रश्न पूछने का मेरा ऐसा अधिकार तुम अवश्य मान लोगी, जिसका जवाब तुम निष्कपट रूप से दो। दोगी न ?"

जया सतीश की उत्तेजना तो समझ रही थी। लेकिन उसकी बातों का अर्थ उसको समझ में नहीं आ रहा था। सतीश निरंतर उसके कंधों पर अपना बोझ लादता चला जा रहा था। क्रमशः उसका स्वर तेज़ हो रहा था। आँखों से जैसे चिनगारियाँ निकल रही हों। बोला "जया, यदि कल प्रलय हो जाए, तो तुम क्या करोगी ? इन चौबीस घंटों के अन्दर क्या करोगी ? मैं झूठ नहीं बोलता जया, यह सच है। हो कर रहेगा। जिस सतीश के सामने आज, और इस समय तुम खड़ी हो कल वह नहीं रहेगा। जिस मकान में तुम छत के नीचे निश्चिन्त भाव से बैठी हो, वह निश्चिन्तता नहीं रहेगी। जो सुखद मौसम, जो शांत और नीरव वातावरण अपने चारों ओर तुम्हें दिखाई दे रहा है, वह नहीं रहेगा। प्रलय के बाद कौन सी सृष्टि रचायी जाएगी, यह मैं नहीं जानता। जानता इतना ही हूँ कि कल उसका अस्तित्व नहीं रहेगा, जिसका आज, और अभी है। तब बताओ भला इन चौबीस घंटों में तुम क्या करोगी ?

"यह गर्मी मुझे बड़ी कृत्रिम-सी लग रही है। खिड़कियाँ खोल दो और आने दो शुद्ध और शीतल

वह अभी तक प्रारंभिक अवस्था में ही है। हिन्दुस्तान क्या है? यह किसी से छिपा नहीं है। लेकिन वह कैसा होना चाहिए, इसके लिए हमने कम चिन्ता नहीं की। लेकिन समय.. ...ओह समय......यह कितना कम है! ये चालीस साल भी कम है। बहुत कम है। इसलिए आज हम अपनी मुखद तृष्णा भी अतृप्त ही छोड कर जा रहे हैं, और जिनके लिए जीवन का लंबा इतिहास हमने अपनी मुट्ठी में से पतली रेत की तरह छोड दिया, वे भी आज तक एक क्षण के लिए भी सतुष्ट नहीं हो सके!

"मैं बार-बार चिल्ला-चिल्ला कर पूछना चाहता हूँ जया, कि अगले चौबीस घंटों में तुम क्या करोगी? सिर्फ चौबीस घंटे! उसमें से भी एक घंटा समाप्त हो चुका है। सिर्फ तेईस घंटे। घडी की सूई अपनी तेज रफ्तार के साथ आगे बढ़ती चली जा रही है और निरन्तर इस अवधि को सक्षिप्त बनाने में प्रयत्नशील है। बोलो जया, तुम क्या करोगी?

जया कुछ कुछ समझ रही थी। लेकिन जवाब उसे ढूँढे नहीं मिल रहा था। एक अप्रिय सत्य कल्पना का सपूर्ण रंग लिए भयानक रूप में उसके सामने भी खडा हो गया। लेकिन इसके अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं कर सकी कि अपनी वेदना को, अपने दुःख और अपने असहायपन को वह आँखों से ढलने से रोके रही।

सतीश खामोश नहीं था। खामोश था सारा वातावरण। खामोश थी जया। खामोश था रात्रि का वह मध्यभाग, जिसमें सतीश को अपना भविष्य स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा था।

"जया, आज मेरे सामने अपने जीवन का सपूर्ण इतिहास बिखरा हुआ है। और दूसरी ओर उसका सपूर्ण अंत है। उसकी सपूर्णता है! एक ओर जीवन के पैंसठ वर्ष दूसरी ओर आने वाले सिर्फ तेईस घंटे!..और लो, उसमें भी आधा घंटा कम हो रहा है। [illegible]

"जया, तुम मेरे करीब आओ। डरो नहीं। निश्चित समय से पूर्व कुछ भी नहीं होगा। आओ... आओ...आओ...आओ जया!

जया चकित, भ्रमित और डरी हुई-सी अपने पति के पास आ कर खडी हो गयी। सतीश की आँखों में पानी भर आया। बोला, "जया, एक इंच की दूरी भी मुझे नहीं सहन हो रही है। चाहता हूँ कि तुम्हें आलिंगन-पाश में बाँध कर आने वाले साढ़े बाईस घंटे गुजार दूँ। ऐसा इतिहास में हुआ है। बहुतों ने अपने प्रेयसियों, पत्नियों के मधुर स्नेह की छाया में मौत को अंगीकार कर लिया है। ऐसा मैं कर सकता तो कारणों की कमी नहीं थी, जया! मुझे अब यह कहना नहीं होगा कि मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ। लेकिन तुम्हें अपने समीप लाते समय भी मेरा मस्तिष्क शून्य नहीं है। मैं उस दिन को देख रहा हूँ, जो बीत चुका है, और जिसका मुझे आने वाले 'कल' को हिसाब देना है।

जया ने भर्राई हुई आवाज में कहा, "तुम्हारे चरणों में रह कर शान्त हो जाऊँ। जीवन की अतृप्ति मुझे याद नहीं रहेगी, मेरे देवता!"

"जया! जया! जया! तुम एक क्षण के लिए भी, इस अंतिम समय में भी नहीं भूल सकती कि तुम एक स्त्री हो! मेरी पत्नी हो! अपने समस्त अनुराग के साथ अभी भी मेरे पल्ले को थामे रहने में अपना कल्याण समझ रही हो। कैसी है यह श्रद्धा? कैसा है यह विश्वास?.. लेकिन, नहीं जया! तुम आदमी हो, इन्सान हो, इस नाते अपनी अभिलाषा कहो न? मैं मुक्ति नहीं पा रहा हूँ। इतना सोच कर कि तुम्हें गोद में लिए महामृत्यु को खुशी से न्योता दे कर सतुष्ट हो जाऊँ। तो फिर मैं क्या करूँ, जया? मेरे लिए कोई मार्ग नहीं बताओगी?

जया सतीश के कदमों के पास बैठी थी। एकाएक टेलीफोन की घंटी बजी। जया आगे बढ़ी। सतीश ने रोकने की हल्की-सी चेष्टा की। लेकिन जया ने

टेलीफोन को छोड़ कर सतीश को लिटा दिया। उस पर चद्दर ओढ़ा दी। बोली, 'कुछ आराम कर लो। कुछ देर शांत रहने पर शायद आपको सही उत्तर मिल जाए।" और उसने आगे बढ़ कर टेलीफोन हाथ में ले लिया।

आवाज आयी—"हलो ?"

"यस"

"हू इज देयर ?"

"मिसेज एस० जोशी स्पीकिंग।"

"मैं कर्नल बोल रहा हूँ।"

"कहिए।"

"मैं आपके मकान के पास से ही बोल रहा हूँ। तुरन्त आपसे मिलना चाहता हूँ। सतीश बाबू को वहीं छोड़ कर आप तुरन्त नीचे आइए। मैं नीचे आपसे मिलूँगा। जरूरी बात करनी है। एक क्षण भी विलंब मत कीजिए।"

"बट यू सी ही इज नॉट वेल मि "

"देट आई नो मेडम। लेकिन आप किसी तरह से तुरन्त नीचे आइए और मि० जोशी को मालूम न होने दीजिए कि मैं आपको बुला रहा हूँ।"

"अच्छा।"

एकाएक रात में यह जो उपद्रव खड़ा हो गया था। इसे मिसेज जया सतीश जोशी समझ नहीं पा रही थी। कर्नल को वह जानती थी। वह भी क्रांतिकारी पार्टी का ही एक सदस्य था। लेकिन मिसेज जया को डर था कि यदि वह भी इसी तरह से विकृत और पीड़ित हो गया तो वह उसे कैसे सँभाल सकेगी, यह वह नहीं जान सकी। फिर भी उसने सतीश से शान्त रहने की प्रार्थना की, और स्वयं दरवाजा बंद करके नीचे उतर आयी। रात्रि भयानक हो उठी थी। और कर्नल ठीक नीचे उसी का इन्तजार कर रहा था। देखते ही फोन पर नमस्कार न करने का उसने प्रायश्चित किया।

जया ने देखा, उसके ललाट पर भी पसीना चू रहा था। कर्नल ने कहा, "मिसेज जया, आप फिक्र न करें। सतीश बच जाएँगे।"

सुन कर जया को त्राण मिला हो, सो बात नहीं।

"पार्टी ने कल निर्णय किया था कि अहिंसावादियों के लगातार प्रयत्न करने के बावजूद, जनता की दशा में कोई सुधार नहीं आ सका है। इसलिए इस अहिंसावाद के इतिहास का अन्तिम अध्याय यहीं समाप्त कर देना चाहिए। और इसलिए ऐसी योजना बनायी गयी थी कि अहिंसा-चक्र चलाने वाले को समाप्त कर दिया जाए, और इसके लिए सतीश को नियुक्त कर दिया गया था। लेकिन सतीश ने पार्टी की आज्ञा का उल्लंघन किया, और पहली बार विरोध करते हुए उसने कहा कि हमारी पार्टी तीस वर्ष के निरन्तर प्रयत्नों के बावजूद भी कुछ नहीं कर सकी है, इसलिए यदि समय की अवधि स्वीकार की जाए तो पार्टी के समस्त अग्रणी सदस्यों की हत्या पहले कर दी जानी चाहिए। इस पर पार्टी के 'ब्रूट'-बॉस ने अवज्ञा का लांछन लगा कर युगलचरण वंद्योपाध्याय को सतीश की हत्या का काम सुपुर्द किया था। लेकिन वह गलत था। उसका स्वीकार करना, सतीश के अस्वीकार करने से कहीं अधिक अविवेकपूर्ण था। इसलिए अब वह जिन्दा नहीं है। कल तक सतीश बाबू सुरक्षित हैं। परसों तक, आप जो व्यवस्था ठीक समझें, करें। मेरा इस पार्टी से कब तक संबंध रहेगा, यह मैं स्वयं इस समय नहीं जानता। लेकिन मैं नहीं चाहता कि सतीश की जान का इतना हलका मोल हो। एक दिन जरूर आएगा, जब उसे मरना होगा। लेकिन मृत्यु की कीमत देना वह जानता है, और मैं चाहता हूँ, बिना कीमत के उसने जब आज तक कुछ नहीं लिया तो मौत को भी न ले !" अच्छा, मैं चलता हूँ। अभिवादन।"

उसके भारी पग एकाएक मुड़े, और वह अँधेरे में गायब हो गया। मिसेज जोशी ऊपर आयी। मनीश पलँग पर सीधा लेटा हुआ छत की ओर देख रहा था। वह उसके पास आ कर तन कर खड़ी हो गयी। वह जानती है कि वह स्त्री और पत्नी होने के बावजूद मनीश की सम्पूर्ण मर्यादाओं के अनुकूल एक मजबूत साथी भी है। उसने अपना मस्तक ऊपर उठाया। बोली, "उठिए! प्रलय कल नहीं तो परसों अवश्य होगा। कल भी हो सकता था। लेकिन होगा नहीं। शायद परसों भी न हो। लेकिन इस सृष्टि में प्रलय हुआ तो सारा ब्रह्माण्ड समाप्त हो जाएगा। ऐसी कल्पना मत कीजिए। समय की मर्यादा एक चीज है। उसमें हर चीज को समाप्त होना ही होता है। उसके अतिरिक्त कोई जी नहीं सकता। तुमने समय से पहले पहचान लिया है कि सत्य क्या है। प्रकृति के अटल नियम को तुमने देख लिया है। जिनको जितना समय मिला है, उस अर्से में यदि वे काम नहीं कर सके हैं, तो उन्हें अधिक समय नहीं दिया जा सकेगा। न क्रान्तिकारी पार्टी को, न अहिंसावादी कार्यकर्ताओं को। परम्परा का विश्वास ढोने के लिए जिन-दलों का निर्माण किया जाता है, वे सही मानवता का निर्माण कर पाते हों, यह नहीं कहा जा सकता। दोनों पक्षों के सत्य को ग्रहण करके, व्यक्ति ही परसों का सूरज देखेगा। इस सृष्टि में यदि यह नहीं हो सका, तो मंगल ग्रह में होगा। ब्रह्माण्ड के किसी न किसी कोने में उसे ऊपर दिखाई देगा। भेड़ों को हाँकने में सात्विकता का दावा करना एक अहंकार ही है—अत्यन्त तुच्छ दर्प! स्वयं मानव बने रहना मानवता की शर्तों पर खरे उतरना ही अपने आप में सत्य है। इसमें इस देश का, उस देश का, इस समाज का, उस समाज का सवाल ही नहीं उठता।

"चलो, उठो मेरे देवता! व्यक्ति सत्य है। उसकी स्वतंत्रता और उसका निजी विकास सत्य है। प्रलय के पूर्व और प्रलय के पश्चात का यही निष्कर्ष है। परसों का विश्वास मैं दिलाती हूँ। यहीं हूँ *हाथ बढ़ाओ। आओ मेरे साथ!"*

मनीश हक्काबक्का जया की बात सुनता रहा। उसने जया के उठे हुए भुजदंड की ओर अपना हाथ फैला दिया।

ooo
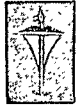
समालोचना तथा पुस्तक-परिचय

(१) हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य (१५००-१७५० ई०)' लेखक, डा० कमल कुलश्रेष्ठ, प्रकाशक, चौधरी मानसिंह प्रकाशन, कचहरी रोड, अजमेर, १९५३, पृ०-सं० ४२७ मूल्य ७॥)

पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर समर्पण है मोटे टाइपो में : 'लंदन में मुझसे अत्यंत स्नेहभाव से मिलने वाले भारत के शिक्षा-सचिव मौलाना अबुल कलाम आजाद को सादर समर्पित।' 'दो शब्द' से पता चलता है कि प्रकाशन के आठ वर्ष पूर्व लेखक ने जिस पर प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की, वह प्रबंध यही है।

एक बहुत अच्छी बात है। पुस्तक के मुखपृष्ठ से भी पहले एक पृष्ठ पर छपी यह पंक्ति—'सांची राह सुधारिए इतिहासन के मीत'। लेखक की दृष्टि ऐतिहासिक है, और उसने बहुत परिश्रमपूर्वक अध्ययन भी किया है—यह विषय सूची और सात पृष्ठों की पाठ्य-ग्रंथावली में भी स्पष्ट है। हमें इस अध्ययन में भाग दो बहुत महत्त्वपूर्ण जान पड़ा—सूफी धर्म की उत्पत्ति और विकास और उसका हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य पर प्रभाव, फारसी मसनवी का विकास और उसका प्रभाव तथा भारतीय आख्यानकों का विकास और उसका प्रभाव। इसमें लेखक ने मूल फारसी स्रोतों से भी सहारा लिया है। विषय-प्रवेश और इस खंड से प्रबंध लेखक की चतुरता और पैनी दृष्टि का पता चलता है।

आगे हिंदी प्रबंध वाली पद्धति है : साहित्यपक्ष : कहानी कला, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, और काव्य-कला में रस-अलंकार आदि का विस्तार से वर्णन है। उसका मूल्य इसलिए है कि हिंदी साहित्य के इस कालखंड पर सिवा रामचंद्र शुक्ल के (जायसी ग्रंथावली की भूमिका) बहुत कम सामग्री मिलती है।

हमारे विचार से 'प्रेमपथ' वाला अध्याय और विस्तार से होता तो अच्छा होता। उपसंहार के निष्कर्षों से हम सहमत हैं—"भारतीय विचारधारा में मानवीय प्रेम को इतना ऊँचा स्थान प्राप्त नहीं था। वह स्थान इन कवियों ने ही दिया है। नारी के प्रेम को भारत सदा अविद्या कह कर ठुकराता रहा परन्तु इन कवियों ने उसकी उच्चता का पाठ हमें पढ़ाया।" हमारे साहित्य के इतिहास-लेखन में अध्यात्म, भक्ति की चर्चा इतनी अधिक हुई है कि उस काल के ऐहिक (सेक्यूलर) काव्य की ओर से मानो उपेक्षा की गयी हो। कुलश्रेष्ठ जी का यह ग्रंथ इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। हिंदी के प्रबंधों में इसका अपना विशेष स्थान है, क्योंकि यहाँ विद्वत्ता और रसज्ञता का सम्मिलन हमें मिलता है।

प्रभाकर माचवे

() कबीर-साहित्य और सिद्धांत : लेखक, यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली, १९५३, पृष्ठ-संख्या १७१, मूल्य २॥)

यह कहना कठिन है कि 'कल्पना' के जनवरी-अंक में समालोचित पुस्तक 'कबीर की विचार-धारा' (लेखक डा० त्रिगुणायत) प्रस्तुत पुस्तक का विस्तृत बृहद् रूप है या यह पुस्तक उसकी 'समरी'। दोनों में सामग्री एक-सी है उद्धरण तक एक-से हैं, अध्यायों के नाम और विवेचन भी एक-सा है। जिसे त्रिगुणायत जी की बड़ी किताब का लब्बोलुबाब पढ़ना हो, वह यज्ञदत्त जी का 'गुटका' पढ़ ले। मुझे यह ज़रा भी नहीं सुझाना है कि एक ने दूसरे के ग्रंथ का किसी प्रकार अपहरण किया है। दोनों के मूल प्रेरणा-उत्स एक-से हैं। दोनों का ध्येय परीक्षा में सहायक होना है। त्रिगुणायत जी की विशाल अध्ययनपूर्ण पाद टिप्पणियों का आलजाल इसमें नहीं है। यह सीधा-सादा नुस्खा है। पर आश्चर्य तब होता है जब त्रिगुणायत जी की पुस्तक के तीन प्रकार के विचारक—रूढ़िवादी, सामंजस्य-पूर्ण, स्वतंत्र, यहाँ भी ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं! बहरहाल जो भी 'कामेडी आफ़ एरर्स' हो—दोनों ग्रंथों में विलक्षण साम्य है केवल आकार को छोड़ कर। यह पुस्तक 'कबीर की विचार-धारा' ही नहीं, उस विचार का विचार भी है। बाबा कबीरदास के विचारों के इतने अभिभावक इस युग में देख कर आनंद होता है—काश, उनके जाति-पाँति विरोध का अंश मात्र भी इन सब मुरीदों में उतरता! —मुरीदों से मेरा मतलब किताब पढ़ने वाले विद्यार्थियों से है। लेखकों से तो लेखन-विषय का अनुकरण करने की अपेक्षा करना अनावश्यक ही है। लेखक तो अपने विषय से तदाकार होता है ही!

प्रभाकर माचवे

() रीतिकालीन हिंदी कविता और सेनापति : लेखक, रामचंद्र तिवारी, प्रकाशक, पुरुषोत्तमदास मोदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर, १९५३ पृष्ठ-संख्या ११०, मूल्य १॥)

आरंभ में एक वक्तव्य है, जिसमें डा० भगीरथ मिश्र कहते हैं—"मुझे इस बात का बड़ा हर्ष है कि मेरे परमप्रिय शिष्य श्री रामचंद्र तिवारी ने रीति-काव्य की परंपरा तथा तत्कालीन प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में सेनापति के काव्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है।" यह पुस्तक भी विद्यार्थियों के काम की है। आजकल हिंदी में आलोचना के नाम पर छपने वाला नब्बे फीसदी साहित्य परीक्षार्थियों को लक्ष्य करके लिखा जाता है। उदाहरणार्थ इस पुस्तक में सेनापति के जीवनवृत्त के बारे में लिखा हुआ सुनिए—"पहले इसके कि हम कवि के काव्य की अन्तर्धारा का विश्लेषण करें, उसके *जीवनवृत्त का* संक्षिप्त परिचय अप्रासंगिक न होगा।

'**नाम**—सेनापति की वास्तविक संज्ञा क्या थी? यह आजकल अज्ञात है। 'सेनापति' उनका कविता का नाम है। उपनाम से ही प्रख्यात होने का गौरव 'भूषण' की भाँति सेनापति को भी प्राप्त है।

"वंश-परिचय—सेनापति ने 'कवित्त रत्नाकर' की पहली तरंग, छंद ५ में अपना वंश परिचय स्वयं दिया है। उसके अनुसार आप दीक्षित कुल में उत्पन्न हुए थे।"

"गुरु—उसी छंद के साक्ष्य के अनुसार आपके गुरु का नाम हीरामणि दीक्षित था।'

"जन्मस्थान—कहा जाता है, आपका जन्मस्थान बुलंदशहर जिले का एक प्रसिद्ध कस्बा अनूपशहर था। प्रमाण में उपर्युक्त छंद की ही यह पंक्ति उपस्थित की जाती है। यह कोई ठोस और उचित साक्ष्य नहीं ज्ञात होता .. .।

"सेनापति के उल्लेखनीय संबंध—सेनापति का किसी राजदरबार से संबंध था, इसके लिए भी कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।.. .." (पृष्ठ २६-२७)

इतने झीने आधार पर पाँच पृष्ठ जीवन-वृत्त चला ही जाता है। और बाकी पुस्तक में वही रस-वृत्ति-अलंकार आदि का सूक्ष्म व्यवच्छेदन है जो प्रायः सभी रीतिकालीन पुस्तकों के अध्ययन में मिल जाता है, चाहे वह प्रभुदयाल मीतल की हो या डा० नगेन्द्र की, पद्मसिंह शर्मा की हो या पद्मनारायण त्रिपाठी की।

पुस्तक की अच्छाई इतनी ही है कि दाम कम है और छपाई की गलतियाँ भी कम हैं।

प्रभाकर माचवे

() साहित्य-परिचय लेखक, मदनमोहन शर्मा, प्रकाशक, राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति, वर्धा, पृष्ठ-संख्या १०४, मूल्य १)

'राष्ट्रभाषा कोविद-परीक्षा' के परीक्षार्थियों के लिए प्रस्तुत पुस्तक साहित्य और उसके अंगों प्रकारों आदि का संक्षिप्त परिचय देती है। साहित्य, कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, गद्य गीत, निबंध, समालोचना, सूचनिका (रिपोर्ताज), जीवनी और रेखाचित्र शीर्षक दस अध्यायों में लेखक ने जो साहित्य-परिचय प्रस्तुत किया है वह वास्तव में गागर में सागर है।

और सागर में कुछ खारापन भी है। शब्दों का शास्त्र-विरुद्ध प्रयोग, तथा कुछ भ्रामक तथ्य थोड़ी-सी सावधानी से काम लेने पर हट जाते। साहित्य और कविता के पहले एक अध्याय 'काव्य पर आवश्यक था। तभी पृष्ठ ११ पर जो 'कोष्ठक' (सरणी) है वह स्पष्ट होता। श्रव्य काव्य और दृश्य-काव्य जो भेद हैं, वे काव्य के हैं, न कि साहित्य के। इन दोनों भेदों का परिचय भी पूर्ण नहीं। ऐसी धारणा हो जाती है कि साहित्य=काव्य=कविता=पद्य। स्पष्ट ही यह भ्रांत धारणा है। फिर प्रबंध काव्य को तीन भेदों में बाँटा गया है, महाकाव्य, काव्य, खंडकाव्य। यहाँ यह 'काव्य' (एकार्थक काव्य, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) बड़ा गड़बड़ करता है। अतएव 'काव्य' शब्द का अशास्त्रीय प्रयोग साहित्य के अर्थ में, कविता के अर्थ में, पद्य के अर्थ में और फिर प्रबंधकाव्य के एक भेद के रूप में किया गया है। इसे सुधारना आवश्यक है।

इस छोटी सी पुस्तक में भी लेखक ने 'रिपोर्ताज' और रेखाचित्र पर किंचित विवेचन जो उपस्थित किया, उसमें यह तो स्पष्ट है कि वे साहित्य की अधुनातन गतिविधियों से परिचित हैं और उसकी प्रगति का ज्ञान दूसरों को भी देना चाहते हैं। पुस्तक अपने उद्देश्य में सफल कही जा सकती है, किन्तु प्रस्तावना-लेखक के भ्रामक शब्दों में नहीं, कि *'साहित्य के मर्म तक पहुँचाने और उसमें* निहित कला-सौन्दर्य से साक्षात्कार कराने में' यह सहायक हो।

शिवनन्दन प्रसाद

() निबंध-रत्न : सम्पादक, मदनमोहन शर्मा, प्रकाशक, राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; पृष्ठ-संख्या १६६+१४, मूल्य १॥)

'गद्य-साहित्य के निबंध नामक महत्वपूर्ण अंग

की समग्र जानकारी देने की दृष्टि से' प्रकाशित इस निबंध-संग्रह में भारतेन्दु हरिश्चन्द्रोत्तर-युग से ले कर अधुनातन युग तक के अठारह निबंधकारों के अठारह निबंध संकलित हैं। 'संकलित रचनाएँ उत्कृष्ट है, उनके 'लेखक भी उच्चकोटि के साहित्यकार हैं' और 'यथासंभव हिंदी साहित्य की विभिन्न गद्य-शैलियों का प्रतिनिधित्व' करने वाली भी है। किंतु भारतेन्दु, पं० माधवप्रसाद मिश्र, गुलेरी जी, आदि प्राचीन समर्थ निबंधकारों और चतुरसेन शास्त्री, उग्र, रघुवीर सिंह, बनीपुरी आदि आधुनिक विशिष्ट शैलीकारों को छोड़ देना, तथा इनके स्थान पर कुछ भरती के निबंधकारों को रखना इस बात का प्रमाण है कि प्रस्तुत पुस्तक निबंध-साहित्य का गतिविधि का सम्यक्, संपूर्ण प्रतिनिधित्व करने के हेतु प्रकाशित नहीं हुई, विद्यार्थियों की दृष्टि से संकलित-प्रकाशित हुई है। किंतु इस दृष्टि से भी भारतेन्दु को तो नहीं ही छोड़ना था।

फिर भी जो निबंध संकलित हुए हैं, वे अपनी विविधता— विषय, वस्तु, शैली और युग सभी प्रकार की विभिन्नता—की दृष्टि से, तथा हिंदी निबंध-साहित्य के विकास-क्रम को उपस्थित करने की दृष्टि से उत्तम हैं और संपूर्ण पुस्तक की समग्रता में जो समन्विति है, उसमें भारतीयता की पुष्ट छाप है।

पुस्तक की उपादेयता श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' की प्रस्तावना से बढ़ गयी है, जिसमें लेखक ने निबंध और उसकी कला के विवेचन और इतिहास के साथ-साथ आलोच्य पुस्तक में संकलित निबंधों और उनके लेखकों का संक्षिप्त आकलन प्रस्तुत कर उन पाठकों का पथ सुगम कर दिया है जिनके लिए प्रस्तुत पुस्तक प्रणीत हुई है।

शिवनन्दन प्रसाद

() सिद्धार्थ : लेखक, हरमन हेस, अनुवादक, महावीर अधिकारी; प्रकाशक, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृ०-सं० १८६, मूल्य ३)

प्रस्तुत उपन्यास की महानता केवल इस सत्य में नहीं कि इस लेखक को १९४६ में नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ है, वरन् इसकी श्रेष्ठता का सम्पूर्ण सत्य इसके कृतित्व में है, जिसके फलस्वरूप पिछले बीस वर्षों में आधुनिक यूरोपीय साहित्य में 'सिद्धार्थ' की धूम मची है। वास्तविक और श्रेष्ठतम उपन्यास में जिस मानवीय संघर्ष, ज्ञान और अज्ञान का द्वन्द्व, बाह्य और अन्तर का विरोध और उससे भी अधिक अन्तस् की करुणा, प्रेम और उत्सर्ग की चाह होती है, ये सब तत्त्व 'सिद्धार्थ' में इस तरह कलात्मक ढंग से प्रतिष्ठित है कि हरमन हेस की प्रतिभा के प्रति सहज श्रद्धा होती है। यह उपन्यास बुद्धकालीन देश-काल-स्थिति को ले कर प्रस्तुत किया गया है, पर इसका नायक सिद्धार्थ, अर्थात् महात्मा बुद्ध नहीं, बल्कि इस पुस्तक का सिद्धार्थ एक ब्राह्मण युवक है, जो बुद्ध का समकालीन है। यह सिद्धार्थ आस्था-अनास्था, आसक्ति-अनासक्ति तथा तपस्या और भोग, विरक्ति और अनुरक्ति के पारस्परिक संघर्ष का प्रतीक है। इस अद्भुत चरितनायक के माध्यम से हरमन हेस ने मानो वर्तमान पीढ़ी के संघर्ष को प्रतिमूर्त किया है। एक सुन्दर-विलक्षण बात यह भी है कि हरमन हेस ने भारतीय इतिहास के जिन स्वर्णिम पृष्ठों के भीतर से जिस संवेदना को उठाया है, उसकी सम्पूर्ण सफलता इस उपन्यास के कला-पक्ष का अन्यतम गौरव है।

पुस्तक के अनुवादक भी बधाई के पात्र हैं। भाषा, शैली और मूल भाव का हिंदी में उसी रूप में उतार लेना, अनुवादक की अपूर्व सफलता है। प्रकाशक ने अवश्य ही पुस्तक के प्रति उतना न्याय नहीं किया है।

लक्ष्मीनारायण लाल

() इसाफ : लेखक, यज्ञदत्त शर्मा; प्रकाशक, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-संख्या १४३; मूल्य ३)

यह एक सामाजिक उपन्यास है। इसकी कहानी संक्षेप में इस प्रकार है :

उपन्यास का नायक श्यामू किसान है, कम पढ़ा-लिखा है, किंतु राजनीति में भाग लेता है और जेल भी जाता है। उसकी अनुपस्थिति में घर की सार-सँभाल इसकी पत्नी जगवती करती है। भारत स्वतंत्र होता है, कांग्रेसी सरकार बनती है, तथा जमींदारी-उन्मूलन कानून बनता है। श्यामू के पास भी गाँव के जमींदार, राघवनारायण के तीन खेत थे, जो इसके बाप दादों के समय से चले आ रहे थे। दसगुना जमा करा कर श्यामू भूमिधर बनना चाहता है, किन्तु गाँव के पटवारी, जमींदार और जमींदार के कारकून आदि की चापलूसी व धन के आगे उसकी चाह मन की मन में ही रह जाती है। उसे कोर्ट का दरवाजा खटखटाना पड़ता है, किन्तु वहाँ भी न्याय का गला घोटा जाता है। अन्त में आदर्श उपस्थित करने के लिए लेखक ने पटवारी के लड़के से उसके (पिता के) विरुद्ध गवाही दिलायी है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने जमींदारी-उन्मूलन कानून का असली स्वरूप प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में किसान की मानवीयता, उसका देश-प्रेम, कांग्रेस आंदोलन में उसका योग-दान तथा उच्च वर्गों की स्वार्थपरता आदि का सफल चित्रण हुआ है।

ग्रामीण पात्र अपनी स्वाभाविक पृष्ठ-भूमि में बड़े स्वाभाविक उतरे हैं और जीवंत लगते हैं। कथानक का विकास बड़े सरल ढंग से होता गया है, जिसमें आडंबरहीन भाषा और जहाँ तहाँ व्यंग्य के पुट से रोचकता का समावेश हुआ है। ग्रामीण समाज के अध्ययन की अंतर्दृष्टि लेखक में है और उस अध्ययन में वह सफल भी हुआ है। भाषा, शैली, चित्रण सब में एक सादगी है और कथा में एकसूत्रता है। इस उपन्यास के सभी पात्र हर परिस्थिति में हँसते हुए आगे बढ़ते हैं।

लेखक से यह आशा करना स्वाभाविक है कि वह भविष्य में और भी नवीन और सुष्ठु प्रयोग करेगा।

यादव

(रेत के महल : लेखक, प्यारेलाल 'आवारा'; प्रकाशक, रूपसी प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ-संख्या २००, मूल्य ३।)

आलोचनार्थ 'काव्य मीमांसा,' 'सत कवि दरिया,' आदि के साथ 'कल्पना'-संपादक ने जब मेरे पास 'रेत के महल' पुस्तक भेजी तो मुझे आलोचक के रूप में आश्चर्य नहीं हुआ, किन्तु सामाजिक प्राणी के रूप में चिन्ता अवश्य हुई कि इस पुस्तक को मेज पर रहने दूँ या पुस्तकों की कतार के पीछे डाल कर छिपा दूँ, कारण मुख पृष्ठ-पर चित्रित 'नारी' की एक तसवीर है जो गाढ़े रंग में बनी है और हाथ उठा कर सिर पर रखे है, जिसमें उसके भारी उरोज भयंकर रूप से बाहर निकले दिखाई पड़ते पड़ते हैं। चित्र का उपन्यास में कोई संबंध नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक प्यारेलाल 'आवारा' का उपन्यास है, जिसमें लेखक के पूर्व-प्रकाशित छत्तीस उपन्यासों की सूची छपी है। कहानी यों है कि पुरोहित की बेटी जमुना यादी के पहले चैंतू नामक अहीर में प्रेम करती है और गर्भवती हो जाती है। चैंतू जमुना को ले कर बम्बई भाग जाता है और पुरोहित को एक चिट्ठी लिखता है कि उसने उसकी बहिन को बर्बाद किया था आज वह उसकी पुत्री से वही बदला ले रहा है। बम्बई में चैंतू पाँच साल से रह रहा था और वह अहीर का लड़का चेतन सिनेमा में सहायक निर्देशक बन गया था। धूमकेतु और उसकी पत्नी कुमकुम चेतन को पुत्र की तरह मानते थे सो उन्होंने जमुना को पुत्रवधू की तरह स्वीकार किया। एक दुर्घटना में जमुना घायल हो गयी और भावी पुत्र से हाथ धो बैठी। डाक्टर ने बताया कि उसे जल्दी संतान होने की आशा नहीं। एक दिन शूटिंग को जाते वक्त चेतन को एक अनाथ बच्चा हाथ लगा, जिसे उसने ला कर जमुना को दे दिया। कई वर्षों के बाद जमुना को बच्चा पैदा हुआ। उसने अनाथ बच्चे को, जिसे वह निजी पुत्र की तरह पालती थी, सताना शुरू किया। इसी बात पर एक

दिन कुमकुम और जमुना में झगड़ा हो गया, और कुमकुम उनका साथ छोड़ कर चली गयी। उसी अनाथ बच्चे को ले कर जो काण्ड हुआ उसमें पति-पत्नी में भी मनमुटाव हो गया और सारी गृहस्थी ढह गयी। इस कहानी में समय-समय पर अभिनेता, अभिनेत्रियाँ भी आती जाती रहती हैं और सस्ते क़िस्म का प्रेमाभिनय होता है। अब पूछा जा सकता है, कि जमुना पुरोहित की लड़की न होती, शादी के बाद ही गर्भवती होती, चेतन, जहीर का लड़का, पांच वर्ष में डायरेक्टर न हो कर कोई बना-बनाया डायरेक्टर होता तो क्या बिगड़ जाता? उत्तर है, तब नास्तिक, सुहागन, औलाद आदि फिल्मों के थिगड़े जोड़ कर दिलचस्प कहानी कैसे बनती! पुरोहित की बेटी को कुमारी अवस्था में गर्भवती बनाने की सनसनी कैसे फैलती! और इस प्रकार की कहानियाँ दे कर पाठक जोड़ने और छत्तीस उपन्यासों का लेखक बनने का आनंद कैसे आता! सब मिला कर कहानी नीरस, दो कौड़ी की और वाहियात है। लेखक के पास भाषा अच्छी है, वह भी लेना है, थोड़ा रास्ता बदले तो कुछ अच्छी चीज़ की भी संभावना हो सकती है।

शिवप्रसाद सिंह

0 सूरतें और सीरतें लेखक, प्रो० कपिल, प्रकाशक, श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना–४, पृष्ठ-संख्या ६६, मूल्य १)

'सूरतें और सीरतें' बारह कहानियों का संग्रह है, जिसकी 'हर सूरत और सीरत जानी-पहचानी है।... जीवन के दुख-दैन्य, राग-विराग आदि का जब सच्चा निदर्शन होता है, तभी साहित्य जीवन होता है।' किन्तु 'सच की अभिव्यक्ति कलात्मक होनी चाहिए', यह तो लेखक भी स्वीकार करता है! अपनी कहानियों के विषय में वह कहता है: "इनमें सौन्दर्य भी है और आकर्षण भी। इनमें स्मरण, कहानी और शब्दचित्र तीनों के कुछ-कुछ तत्त्व आ गये हैं। सुतरां यह मधुर मिश्रण क्या कहा जाएगा—मैं स्वयं नहीं कहना चाहूँगा। हाँ, इतना ज़रूर कहना चाहूँगा कि इन्हें पढ़ने में रस मिलेगा और आनन्द आएगा।' हम नहीं कह सकते, कि लेखक का आत्मानुमान कहाँ तक ठीक है, किन्तु निश्चय ही उसके प्रशंसकों को वह उचित प्रतीत होगी। जहाँ तक हमारा प्रश्न है, हमें इस संग्रह की रचनाओं में न तो कोई विशेष सौन्दर्य ही दीख पड़ा और न कोई आकर्षण ही। लेखक चाहता, तो अपनी कहानियों के इन अतिसाधारण और वास्तविक पात्रों को जीते-जागते तथा और अधिक सजीव रूप में चित्रित कर सकता था, किन्तु ऐसा वह कहीं भी नहीं कर पाया। उसकी समस्त कहानियों में एक पात्र भी उभर नहीं सका। वस्तुतः इन शब्द-चित्रों या चरित्र-कथाओं में व्याख्या की कम और संवेदना की अधिक अपेक्षा थी। ये रचनाएँ विशुद्ध रूप में न कहानी हैं न संस्मरण, न चरित्र-कथा और न शब्द-चित्र ही, वरन् इनमें कहीं सम्मरण कहीं चरित्र कथा और कहीं शब्द-चित्र के लक्षण दीख जाते हैं। इनमें से किसी में भी न तो किसी घटना की आत्मा की झलक है और न एक-राष्यता है। यदि किसी कहानी में चरित्र-विश्लेषण ही होता—अंतर्द्वन्द्व अथवा बाह्य-द्वन्द्व द्वारा किसी चरित्र की परीक्षा की गयी होती अथवा उसमें परिवर्तन दिखाया गया होता, तो भी वह प्रभावपूर्ण बन सकती थी! किन्तु इनमें लेखक ने कहीं भी अपनी कला के स्पर्श द्वारा सौन्दर्य या आकर्षण की उद्भावना नहीं की है। भाषा, शैली, टक्नीक—सभी दृष्टियों से 'सूरतें और सीरतें' आज से बीस वर्ष पीछे है।

प्रूफ की अशुद्धियों के साथ-साथ भाषा की त्रुटियाँ भी कम नहीं हैं।

श्याममोहन

0 प्रेत की छाया: लेखक, उपेन्द्रनाथ, प्रकाशक, अरुण-पुस्तकमाला, लहेरियासराय, पृष्ठ-संख्या १४३, मूल्य १॥)

इस पुस्तक में लेखक की नौ कहानियाँ संगृहीत हैं। इनमें से एक कहानी 'प्रेत की छाया' के नाम पर संग्रह का नामकरण किया गया है। संग्रह में कुछ लम्बी कहानियों के अतिरिक्त कुछ अत्यन्त छोटी कहानियाँ भी सम्मिलित हैं, जैसे, 'संघर्ष' और 'न्याय का एक दिन'। लेखक का यह पहला संग्रह है।

ज्योतीन्द्रनाथ के कथानकों का आधार कहीं मनो-वैज्ञानिक-विश्लेषण से निर्मित है, तो कहीं कच्चे, कमज़ोर, रूमान से। किसी कहानी में मनोरंजक घरेलू चुटकुले मिलेंगे, और कहीं पति-पत्नी के जीवन का अन्तर्द्वन्द्व। भाषा सुथरी और साफ़ है। इन कहानियों में कोई निश्चित विचार-धारा नहीं मिलती। कला और वस्तु दोनों दृष्टियों से आज ये कहानियाँ काफ़ी पीछे जान पड़ती हैं।

जितेन्द्र

(आधुनिक यूरोप का राजनैतिक दर्शन : लेखक, श्यामसुन्दर गुप्त, प्रकाशक, चेतना प्रकाशन, बंबई; पृष्ठ संख्या १६०, मूल्य २)

प्रस्तुत पुस्तक में मैकियावली से हक्सले तक के अर्थात् मार्क्स से पूर्ववर्ती यूरोपीय राजनीतिज्ञों की विचार-धाराओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। पुस्तक पाँच भागों में विभक्त है, और प्रत्येक भाग में तीन-तीन राजनैतिक दार्शनिकों के परिचय और उनके सिद्धान्तों का विवेचन दिया गया है। इन पाँच भागों के नाम १. ऐतिहासिक धारा, २. समझौतावादी धारा, ३. उपयोगितावादी धारा, ४. आदर्शवादी धारा और ५. विज्ञानवादी धारा है। लेखक ने प्रत्येक धारा के संबंध में अपने विचार भी दिये हैं। यूरोपीय राजनीतिज्ञों का परिचय पाने के लिए पुस्तक उपयोगी है। भाषा और छपाई की अशुद्धियाँ प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर हैं। पुस्तक के नाम में राजनैतिक विचार-धारा के लिए "दर्शन" शब्द का प्रयोग कुछ उचित नहीं प्रतीत होता।

आर्येन्द्र शर्मा

(यूरोपीय दर्शन : लेखक, स्व० महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा, प्रकाशक, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, पृष्ठ संख्या ९४, मूल्य २॥)

यह ग्रंथ पंडित रामावतार शर्मा के जीवन-काल में ही, १९०५ में, नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित किया गया था। बाद में सभा ने ही इसका एक नवीन परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित किया, जिसका संपादन श्री गुलाबराय ने किया था। प्रस्तुत पुस्तक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने पुनः संपादित करा कर और कुछ सामग्री बढ़ा कर प्रकाशित की है।

पं० रामावतार शर्मा अपने समय के अलौकिक प्रतिभाशाली विद्वान् थे। उन्होंने हिंदी, संस्कृत, पाली और अंग्रेज़ी भाषाओं में बीस के लगभग मौलिक और संपादित ग्रंथ लिखे थे। जिनमें से अनेक अभी तक अप्रकाशित हैं। हिंदी में पहली बार उन्होंने ही यूरोपीय दर्शन की विवेचना की थी। पंडित जी स्वयं दार्शनिक थे और भारतीय तथा यूरोपीय दोनों दर्शनों पर उनका अधिकार था, इसलिए प्रस्तुत पुस्तक की प्रामाणिकता के विषय में किसी को संदेह का अवसर नहीं हो सकता। उन्होंने इसमें यूरोप के लगभग ६० दार्शनिकों के विचारों का संक्षेप बड़ी विद्वत्ता के साथ प्रस्तुत किया है। पुस्तक तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग में ईसवी पूर्व ५वीं शताब्दी से ईसवी की ५वीं शताब्दी तक के दार्शनिकों का विवरण है। दूसरे भाग में ५वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक के, और तीसरे भाग में १७वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी के अन्त तक के दार्शनिकों का। पिछले ५० वर्षों में यूरोप में जो नयी विचार-धाराएँ विकसित हुई हैं, उनका विवरण मूल पुस्तक में स्वभावतः ही नहीं है। इस न्यूनता की आंशिक पूर्ति श्री हरिमोहन झा ने पुस्तक की भूमिका में कर दी है। पुस्तक सभी विचारों से उपयोगी और संग्रहणीय है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् बधाई की पात्र है कि उसने पं० रामावतार

शर्मा की इस मूल्यवान् रचना को हिंदी-संसार के समक्ष रखा है। आशा है, शर्मा जी के अन्य ग्रंथों के भी प्रकाशन का काम परिषद् अपने हाथ में लेगी और विहार के इस अभूतपूर्व विद्वान् की स्मृति को पुनरुज्जीवित करेगी।

आर्येन्द्र शर्मा

रश्मिमाला : लेखक, डा० मंगलदेव शास्त्री; हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग; पृष्ठ-संख्या १६०, मूल्य ३॥)

यह सुन्दर ग्रंथ भारतीय संस्कृति के मूल सूत्रों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसके लेखक डा० मंगलदेव शास्त्री संस्कृत के तथा भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। शास्त्री जी स्वभाव से ही अध्ययन-शील और विचार-शील व्यक्ति हैं। भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिकता से संबंधित जो विचार *समय-समय पर उनके मन में उठते रहे, उनको वे* प्रायः संस्कृत में पद्यबद्ध करके रखते रहे। प्रस्तुत ग्रंथ इन्हीं पद्यबद्ध विचारों का संकलन है। यह नौ विभागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग में भारतीय जीवन-दर्शन के किसी-न-किसी पहलू को लेकर प्रकीर्ण विवेचन किया गया है। प्रत्येक संस्कृत-पद्य की हिंदी व्याख्या भी साथ में दी गयी है। यह ठीक है कि जो विचार इन पद्यों में व्यक्त किये गये हैं, वे प्राचीन ग्रंथों के आधार पर ही हैं, किन्तु *उनको प्रस्तुत करने का ढंग आकर्षक और नवीन* है। भारतीय संस्कृति में श्रद्धा रखने वाले सभी हिंदी-भाषी और संस्कृतज्ञ इस पुस्तक को उपयोगी और सुपाठ्य पाएँगे। शास्त्री जी के इन संस्कृत पद्यों की एक और विशेषता की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। उनकी संस्कृत बहुत ही स्वाभाविक और सुन्दर है, जो किसी ऐसे ही व्यक्ति की रचना हो सकती है, जिसने संस्कृत के प्राचीन साहित्य का गंभीर अध्ययन और मनन किया हो।

आर्येन्द्र शर्मा

साहित्य-धारा

'इतिहास-अंक' और 'आलोचना-अंक' की भाँति त्रैमासिक 'आलोचना' का एक भारी-भरकम 'उपन्यास-अंक' छपा है। संपूर्ण-अंक का नियोजन उपन्यास के अंग-उपांगों के आधार पर किया गया है। मोटे तौर पर विद्यार्थियों के उपयोग में आने वाली बातें, जैसे, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, पात्र, उपलब्धियाँ, अभाव, उपकरण, यथार्थ चित्रण, उपन्यास का भविष्य, विभिन्न विचार-पद्धतियों का उपन्यास पर प्रभाव, आदि कतिपय उपन्यास के अन्य हिस्सों पर लेखकों से विचार करवाया गया है। डाक्टर देवराज, देवराज उपाध्याय, नन्ददुलारे वाजपेयी, राहुल सांकृत्यायन, आदि बुजुर्ग विचारकों के अतिरिक्त कालेजों और यूनिवर्सिटियों के कुछ अध्यापकों के भी लेख हैं, जो 'आलोचना' पत्रिका ही नहीं, आलोचना क्षेत्र के लिए भी नये हैं।

'प्रेमचन्द युग आदर्शोन्मुख यथार्थ' शीर्षक लेख में प्रेमचन्द-कालीन प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाल कर, 'प्रेमचन्दोत्तर काल नये धरातल' में उसके विकास की जो सूचनाएँ दी गयी हैं, सब के लिए ग्राह्य नहीं है। लेखकों की विचार-प्रणाली में कोई नवीनता नहीं दिखाई देती।

प्रेमचन्द के बाद के उपन्यासों पर विचार करते हुए 'शेखर : एक जीवनी', 'सुनीता' और 'सन्यासी' के साथ हिन्दी के कतिपय महत्त्वपूर्ण उपन्यास, जैसे, 'गिरती दीवारें', 'दिव्या', 'गढकुडार', 'झाँसी की रानी', 'चित्रलेखा', 'बलचनमा', आदि पर विचार होना चाहिए था।

पात्रों पर विचार करते समय होरी, बलचनमा और भुवन का जो जायज़ा उपस्थित किया गया है, वह एकांगी है। 'मध्यम-वर्गीय वस्तु तत्त्व का विकास' शीर्षक लंबा लेख कतिपय उपन्यासों का संयुक्त छोटा परिचयमात्र है।

कई ऐसे लेख भी इस अंक में छपे हैं, जो सूझ-बूझ, विवेचन और अध्ययन की दृष्टि से बहुत मामूली हैं।

अंतिम दो लेखों 'स्तर और आयाम', 'उपन्यास का भविष्य' को छोड कर अधिकांश अन्य लेखों में उल्लेखित विदेशी उपन्यासों का ज़िक्र उन उपन्यासों के अध्ययन पर आधारित न हो कर उनकी यत्र-तत्र छपी आलोचनाओं से प्रभावित है, जिससे कहीं-कहीं तो मौलिकता का दर्शन भी नहीं होता।

आई० ए० ऐक्स्ट्रास और ज्योतिस्वरूप सक्सेना के लेख गहन अध्ययन-चिंतन के परिणाम हैं, पर इनमें अनुवादक के 'आयाम' ने तारपीडो लगा दिया है। इसके अतिरिक्त डा० देवराज का लेख 'हिन्दी उपन्यास का धरातल' पठनीय है।

पिछले महीने, अन्यत्र प्रकाशित निबंधों में डा० रांगेय राघव का 'गौतम बुद्ध से पहले : सांस्कृतिक

अन्तर्भुक्ति' और अमृता प्रीतम का 'पंजाबी साहित्य का विकास' (सम्मेलन-पत्रिका), देवराज का 'हिन्दी उपन्यास' (आजकल), डा० महादेव साहा का 'सोवियत का महान् गायक सुलेमान स्तालस्की' और प्रबोधकुमार मजुमदार का 'बंगला साहित्य में राम-कथा' (अजन्ता), डा० देवसहाय त्रिवेद का 'महाभारत युद्धकाल' (अवन्तिका) और डा० मंगलदेव शास्त्री का 'भारतीय संस्कृति वैदिक धारा की देन' तथा दिनकर कौशिक का 'भारतीय चित्रकला' (कल्पना) उल्लेखनीय हैं।

'कल्पना' के व्याकरण-संबंधी संपादकीय बहुत ही उपयोगी हैं। पिछले महीने 'हिन्दी व्याकरण की कुछ समस्याएँ' शीर्षक संपादकीय द्वारा व्याकरण की कतिपय समस्याओं पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला गया है।

गत मास 'कहानी' में कुछ-एक उत्कृष्ट रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। मोहन राकेश की 'सौदा' में चेखोव की कहानियों की-सी ताजगी है, जो सामान्य जीवन से उठाये गये एक पात्र का बड़ी सहजता से चरित्रांकन करती है। इसी अंक में प्रभाकर माचवे की 'नये तोता मैना' और शमशेर बहादुर सिंह की 'शोभा और मणि' नाम की दो अच्छी कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं। अहमद नदीम कासिमी की 'चोर' और मुहम्मदास की 'उस्ताद' दो श्रेष्ठ कहानियों के अनुवाद भी इसी अंक में छपे हैं।

अन्यत्र प्रकाशित कहानियों में चंद्रकिशोर की 'सफेद कालर वाला' (आजकल), श्रीराम शर्मा की 'प्रतीक' (अजन्ता) आदि इस माह की उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल का एक ध्वनि-एकांकी 'मीनार की बाँहें' गत मास 'कल्पना में प्रकाशित हुआ है। आकाशवाणी के लिए लिखे गये इस एकांकी में आकाश की ही बातें ज्यादा है। इसे पूरा पढ़ जाने के लिए पर्याप्त धैर्य की जरूरत पड़ती है। रेडियो-साहित्य की गाथा ही कुछ अजीब है। एकांकी का नाम माँग कर 'लिगतर' में घोषित कर दिया और नाटक का पता नहीं। इसी तरह कल्पना-यथार्थ का कुछ नमक-मिर्च लगा कर लेखक ने उल्टा-सीधा गढ़ा तो जा कर एकांकी बना—बस ख्याल रहे कि कोई महिला स्वर हो, घुटन हो, उदासी हो, जिससे कराह कराह कर माइक पर बोल कर प्रभाव उत्पन्न किया जा सके।

इस तरह के साहित्य को पत्रिकाओं में प्रकाशित करना किसी भी तरह श्रेयस्कर इसलिए नहीं है कि इधर रेडियो के पैसों ने स्टेज के लिए लिखे जाने वाले एकांकियों का गला दबा सा दिया है। दो एकांकी छपे नहीं कि आकाश के देवताओं ने शीर्षक माँगा। दूसरी बात यह होती है कि 'भाई' वह रेडियो से स्क्रिप्ट आयी पड़ा है, कहीं छप जाए तो क्या हर्ज है।' वर्ना कई ध्वनि-रूपक तो ऐसे होते हैं, जिन्हें यदि मंच-संकेतों से भर दिया जाए तो वे उपयोगी और अच्छे बन सकते हैं, पर कौन परेशानी में पड़े! 'कल्पना' जैसी पत्रिका में इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए—लेखकगण ध्वनि-रूपक भेजते समय उसकी उपयोगिता का ध्यान रख कर यदि मंच-संकेत लिख कर भेजें तो उनमें कुछ अच्छी चीजें जरूर निकल आएँगी।

गत मास 'कल्पना' में कुमारेन्द्र की एक कविता 'निर्मल के नाम' प्रकाशित हुई है। बहुत दिनों पर एक अच्छी कविता पढ़ने को मिली, बस इतना ही कहा जा सकता है। कवि को हम बधाई भेजते हैं। इसी अंक में प्रकाशित बालकृष्ण राव की कविता 'शाम तक' और निराला का गीत भी उल्लेखनीय है। अन्यत्र कहीं भी उल्लेखनीय कविता नहीं प्रकाशित हुई पर 'निर्मल के नाम' से यह सारी कमी पूरी हो जाती है।

—'चक्रधर'

प्रकाशक—मधुसूदन चतुर्वेदी एम. ए., ८३१, बेगमबाजार, हैदराबाद-दक्षिण
मुद्रक—कमर्शियल प्रिंटिंग प्रेस, हैदराबाद-दक्षिण

कल्पना

मार्च, १९५५

निवेदन

१. प्रायः 'कल्पना' के पाठकों के इस आशय के पत्र आते रहते हैं कि उनके नगर के पत्र-विक्रेताओं के पास या उनके पास के रेल्वे स्टाल में उन्हें 'कल्पना' नहीं मिलती। ऐसे पाठकों से हमारा निवेदन है कि कई कारणों से देश के नगर-नगर में पत्र विक्रेताओं के माध्यम से पाठकों तक 'कल्पना' पहुँचाना सम्भव नहीं है। अतः उन्हें १२) वार्षिक शुल्क भेज कर ग्राहक बन जाना चाहिए।

२. ग्राहकों की ओर से प्रायः हमें यह शिकायत सुननी पड़ती है कि 'कल्पना' उन्हें नहीं मिलती। कार्यालय से 'कल्पना' भेजते समय एक-एक ग्राहक की प्रति दो बार जाँच कर भेजी जाती है ताकि किसी को प्रति रह न जाए। फिर भी कुछ लोगों को पत्रिका न मिलने की शिकायत बनी ही रहती है। इसलिए इस वर्ष, जनवरी १९५५ से पोस्टल सर्टीफ़िकेट के अन्तर्गत 'कल्पना' भेजने का प्रबन्ध किया गया है। इस प्रकार हम अपनी ओर से हर सम्भव उपाय द्वारा यह प्रयत्न कर देना चाहते हैं कि यहाँ से पत्रिका रवाना करने में किसी प्रकार की चूक न हो।

३. सार्वजनिक पुस्तकालयों, शिक्षण-संस्थाओं, तथा विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों की ओर से वर्ष के अन्त में प्रायः इस आशय के पत्र आते हैं कि उन्हें इस वर्ष अमुक अंक प्राप्त नहीं हुए। फ़ाइलें पूरी करने के लिए ये अंक भेजिए। उपर्युक्त संस्थाओं के अधिकारियों से निवेदन है कि वे हमें ऐसे धर्म-संकट में न डालें। जब कोई अंक प्राप्त न हो, तो अपने डाकघर से पूछिए और उनके लिखित उत्तर के साथ दूसरे महीने में ही अंक प्राप्त न होने की सूचना हमें भेजिए। अन्यथा दुबारा अंक भेज सकने में हम असमर्थ होंगे।

कल्पना

वर्ष ६ मार्च
अंक ३ १९५५

वार्षिक मूल्य १२)
एक प्रति १)

८३१, बेगमबाज़ार
हैदराबाद-दक्षिण

इस अंक में

निबंध

भारतीय संस्कृति : वैदिक धारा का ह्रास (३)	५	डा० मंगलदेव शास्त्री
हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथ	११	विनयमोहन शर्मा
कबीर के निर्गुण राम और उनकी भक्ति	२९	देवीशंकर अवस्थी
लोक साहित्य का अध्ययन	५४	सिद्धेश्वर प्रसाद

कहानी

कुछ नहीं, कोई नहीं	२०	कृष्णा सोबती
मेहनत की महक (एकांकी)	३७	कमलेश्वर
अवरोध	४६	परदेशी
कहानी का नायक	५९	श्याममोहन
कमसिन	६४	मोपासाँ

कविता

सूरज का पहिया	१९	गिरिजाकुमार माथुर
कविताएँ	३५	ओंकारनाथ श्रीवास्तव
चार कविताएँ	५२	मार्कण्डेय

स्तंभ

संपादकीय	१
समालोचना तथा पुस्तक-परिचय	७८
साहित्य-धारा	८२

समीक्षार्थ प्राप्त साहित्य

किताब महल, इलाहाबाद–३

नदी प्यासी थी धर्मवीर भारती

इलाहाबाद ला जर्नल प्रेस लि०, इलाहाबाद

'अकबर' इलाहाबादी सैयद एजाज हुसेन
मीर गजलों का बादशाह सैयद एजाज हुसेन

प्राची प्रकाशन, १२ चौरंगी स्क्वायर, कलकत्ता–१

क्या रूस समाजवादी देश है? अर्ल ब्राउडर—
मैक्स स्काटमैन

रश्मि प्रकाशन, ११८।१३ चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता–७

पत्थर की आंख कमल जोशी

रामपुरिया प्रकाशन, . उडबर्न रोड, कलकत्ता–२०

दीया जला दीया बुझा यादवेन्द्रनाथ शर्मा 'चन्द्र'
एंटन चेखव एक इंटरव्यू गजेन्द्र यादव
आँखिया निहार के पग धूरि झार के : बरुआ

शिक्षक पब्लिशर्स विजयवाड़ा-तेनाली

फिरदौसी जि० जाषुवा

भारती प्रकाशन, ११६ सागर भवन, भूलेश्वर, बंबई–२

अमंगला . अव्यलीक

पाठकों के पत्र

'कल्पना' में प्रकाशित रचनाओ के विषय में पाठकों की जो राय होती है, उसे प्राय. प्रकाशित किया जाता है। हम यह मानते हैं कि पाठक की राय लेखक के पास पहुँचाना आवश्यक है। उसमें जो ग्राह्य है, वह उसे स्वीकार करे। ऐसा न समझा जाए कि पाठको की वह राय ही प्रकाशित की जाती है, जिससे सम्पादक-मडल सहमत हो।

—सपादक

फरवरी-अंक का सपादकीय : कल्पना (फरवरी ५५ ई०) का सम्पादकीय—हिन्दी व्याकरण की कुछ समस्याएँ—पढा; सुन्दर ! वास्तव में हिन्दी-व्याकरणो में उद्देश्य, कर्ता, कारक, विभक्ति और बहुवचनो के सम्बन्ध मे अनेक भ्रान्तियाँ है। इधर विद्यालयो में भी पढाये जाने वाले व्याकरणो में कारक और विभक्ति को एक ही मान लिया गया है। इस सबध में मैंने एक बार साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' मे एक लेख प्रकाशित कराया भी था। समय मिला तो 'कल्पना' की कभी सेवा करूँगा।

आपके विवेचन में बहुवचन की विवेचना प्रथमा विभक्ति के रूप में ही अधिक है। अन्य विभक्तियो के योग में भी विवेचन करने की कृपा कीजिए। इससे वास्तव में हिन्दी-जगत् का परम कल्याण होगा।

आपके द्वारा निर्मित नियमो के लिए निम्नाकित उदाहरण अपवाद ही ठहरते है।

१ तिरस्कारसूचक व्यक्तिवाचक आकारान्त सज्ञा—जैसे 'मोहना'—को आप जब विकारी कारक के रूप में प्रयुक्त करेंगे, तो 'लडका-लडके ने' की भाँति प्रयोग में 'मोहने ने' नही होगा।

आपका कथन है कि द्वित्व निर्मित सज्ञाओ में 'ओ' केवल जोड दिया जाता है लेकिन विकारी कारक में सभी सज्ञाओ के बहुवचन सन्धि-नियम से 'ओ' के साथ बनते है। इस नियम के प्रकाश में कृपया निम्नाकित सज्ञा पर भी विचार कीजिए—

स० 'महिष' का हिन्दी में 'भैंसा' बनता है। इसका बहुवचन क्या बनेगा ? यदि 'भैंसो' होगा, तो 'भैंस' (स० महिषी) का बहुवचन क्या होगा ? क्या 'भैंसा' का बहुवचन आपकी राय में 'भैंसाओं' ठीक नही ?

अम्बाप्रसाद 'सुमन' अलीगढ

साहित्य और समाज

सम्पादकीय

साहित्य का सामाजिक पक्ष आज के युग में बहुत महत्वपूर्ण बन गया है। साहित्यकार की अपनी अनुभूति और उसकी कला, दोनों को गौण माना जाने लगा है। जिस प्रकार आज के राजनैतिक नेता अथवा निर्वाचित अधिकारी से हम यह आशा रखते हैं कि वह जो कुछ करेगा, बहुजनहिताय करेगा, उसी प्रकार आज के साहित्यकार से भी यह आशा की जाती है कि वह जो कुछ लिखेगा बहुजनहिताय लिखेगा। इतना ही नहीं, साहित्यकार के लिए यह भी आवश्यक हो गया है कि वह जो कुछ लिखे, वह बहुजनहिताय होने के अतिरिक्त बहुजन विषयक और बहुजन संवेद्य भी हो। आज न तो ऐसा साहित्य उत्कृष्ट माना जाता है, जिसमें किसी महापुरुष, राजा, आदि के चरित्र का अथवा प्रकृति का वर्णन हो, न ऐसा जो केवल सहृदयों के लिए आस्वाद्य हो, और न ऐसा जो केवल चमत्कार और आनन्द की सृष्टि करता हो। अपेक्षा यह की जाती है कि वर्णनीय नायक का पद उपेक्षित वर्ग के व्यक्तियों को दिया जाए, प्रत्येक साहित्यिक कृति शोषितों और पीड़ितों की दुरवस्था का चित्रण करे, कि समस्त साहित्य लोक-कथाओं की तरह सरल, सुबोध और सर्व-ग्राह्य हो, और यह कि साहित्य का एकमात्र उद्देश्य ही समाज को क्रांति-जागृति के लिए उकसा कर कल्याण मार्ग पर अग्रसर करना हो।

इन प्रश्नों पर बहुत बहसें हो चुकी हैं—बात पुरानी हो चुकी है। पर अभी विवेचन की गुंजायश है। थोड़ा और विचार कर लेने में कोई हानि नहीं है।

इस संबंध में विचारणीय तत्त्वों को हम संक्षेप में यों रख सकते हैं—(१) साहित्य का वर्ण्य विषय अथवा अनुभूति, (२) साहित्य का कला पक्ष अथवा अभिव्यक्ति, और (३) साहित्य का उद्देश्य।

साहित्य में अनुभूति का विषय ही वर्णन का विषय हो सकता है, यह स्वतःसिद्ध है। पेशेवर वक्ताओं की तरह अवसर और आवश्यकता के अनुरूप कुछ कह देना साहित्यकार के लिए न संभव है, न वाञ्छनीय। प्राचीन और मध्य युग के दरबारी कवि आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए जो रचनाएँ प्रस्तुत करते थे, अथवा आज के दलबंदी में नियन्त्रित लेखक पार्टी-प्रभुओं को प्रसन्न करने के लिए जो कृतियाँ प्रस्तुत करते हैं, उस 'साहित्य' की बात अलग है। वहाँ केवल वर्ण्य-विषय का प्रश्न है, अनुभूति-विषय का नहीं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि साहित्यिक रचना में परिणत होने वाली अनुभूति सामान्य अनुभूति से बहुत भिन्न होती है। प्रत्यक्ष जगत् की अनुभूति हम सब को प्रतिक्षण ही होती रहती है, कल्पना और विचारों की अनुभूति हममें से कुछ को कभी-कभी हो जाती है। पर ये अनुभूतियाँ हमें जैसे अर्ध-जागृत

दशा में होती है। हम इनसे गहराई से अभिभूत नहीं होते। लहलहाते खेतों को, मन्थरवाहिनी नदी को, उषा और गोधूलि के रंगों को, नीले-काले बादलों और रुपहली चांदनी को देख कर हम एक दो बार कह लेते है, वाह ! कितना सुन्दर है !' और फिर अपने काम में लग जाते हैं। हम किसी दीन को दशा पर कुछ क्षणों के लिए दयार्द्र हो लेते है, किसी शिशु के भोलेपन पर मुग्ध हो लेते हे, किसी नवयुवती विधवा के दुर्भाग्य पर दो आंसू गिरा लेते है—और फिर घटे-दो घंटे में सब कुछ भूल जाते है। ये सब पदार्थ और घटनाएँ हमारे लिए साधारण बन चुकी हैं 'रोटीन' मे आ चुकी है। हमारी अवस्था और हमारा 'जीवन का अनुभव' जैसे-जैसे बढते जाते है, वैसे-वैसे हम हर्ष, विस्मय, करुणा और सहानुभूति आदि की भावनाओ के प्रति अधिकाधिक असवेदनशील होते जाते है। तब तक इन भावनाओ को उभारने वाली वस्तुएँ और घटनाएं हमारे लिए इतनी सुपरिचित, इतनी पुरानी हो चुकती हैं कि हम पर उनका कोई असर नहीं होता—यद्यपि इनकी ऐन्द्रिय अनुभूति अन्त तक होती रहती है। साहित्यकार इन्ही साधारण, सुपरिचित पदार्थों और घटनाओ को असामान्य, नवीनतम रूप मे देखता है—जैसे ये चीजें उसके सामने पहली बार आयी हों। एक बालक रंगीन कागज के टुकडों, मिट्टी के खिलौनों और अलार्म-घड़ी की टन्-टन् से जैसा उच्छ्वसित, उल्लसित और मुग्ध हो उठता है वैसे ही साहित्यकार जीवन की सामान्यतम वस्तुओं के, अतिपरिचय के कारण उपेक्षित, सौन्दर्य और आकर्षण का अनुभव करता है। उसे "दूर, उन खेतों के उस पार" छायावन में छिपा हुआ "स्वप्न की परियों का ससार" दीखता है। खेत और छायावन हम सबको भी दीखते है, पर "परियों का ससार" नहीं। हाँ, जब कवि कहता है, 'आओ, तुम भी देखो', तब हमें भी लगता है कि *'स्वप्न की परियो का ससार' छायावन में कहीं छिपा होगा।*

अलौकिक और असामान्य से हम सभी विस्मित तथा अभिभूत होते है। पहली बार गगनचुम्बी पर्वत-राशि को अथवा अनन्त समुद्र को देख कर 'अनुभवी' भी चकित और आकर्षित होगा। किन्तु परिचित जगत् और जीवन के अनन्त आकर्षण को फिर से खोज लेना, करोड़ों प्राणियों को नित्यप्रति होने वाले कष्ट और दुःख भी 'रोटीन' नही है, यह समझना साहित्यकार के लिए ही संभव है। फलतः असामान्य की अनुभूति को हम असामान्य अनुभूति नही कह सकते। सामान्य की असामान्य के रूप में अनुभूति वस्तुतः असामान्य अनुभूति है, और यही साहित्यिक कृति के रूप मे परिणत हो सकती है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण को मान लिया जाए तो साहित्य को अलौकिक, उदात्त और महान् तक सीमित रखना न केवल अनावश्यक, अपितु असगत और अवान्छनीय भी हो जाता है। बल्कि कहा जा सकता है कि जो साहित्यकार इस प्रकार सीमित रहे है, उनकी सवेदनशीलता में भारी कमी है। असामान्य की तीव्र अनुभूति सभी कर सकते है, उसके वर्णन में कोई निपुण हो भी तो उसे शिल्पी कहा जा सकता है, कलाकार नहीं। उत्कृष्ट कलाकार वह है, जो आपाततः क्षुद्र और सामान्य की विशेषताओं को परख सकता है, जो एक तिनके की सुन्दरता का, एक रिक्शे वाले की परेशानियों का, एक गरीब विद्यार्थी के कष्टों को, एक निर्बल कुली की मुसीबतों का दर्द और समझ सकता है, जो 'उँह, इसमें क्या रखा है—रोज की बात है' कहना नहीं जानता। राजाओं और महलों के वर्णनों की अपेक्षा किसान-मजदूरों और झोंपड़ियो के वर्णन अधिक *साहित्यिक हो सकते हैं। कल्पना-प्रसूत असाधारण अथवा असाधारण* (Abnormal) चरित्र के चित्रण में नवीनता भले ही हो, कला तो उस चित्रण में होगी जो एक सामान्य व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व का विश्लेषण करता हो। महान् और उदात्त नायकों का वर्णन करने वाली प्राचीन कृतियां में भी कला की दृष्टि से वही स्थल सफल हुए है जहाँ इन नायकों का मानव के रूप में चित्रण है।

फलतः आधुनिकों का यह कहना कि साहित्य बहुजन-विषयक होना चाहिए, अधिकांश में उचित ही है। इतना अवश्य है कि 'बहुजन' का अर्थ 'शोषित और पीड़ित' तक सीमित नहीं रखा जा सकता, और

न साहित्यकार को इस प्रकार नियंत्रित किया जा सकता है कि उसे शोषितों और पीड़ितों के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति अथवा प्राकृतिक सौन्दर्य आदि की अनुभूति न होने पाए। उसकी अनुभूति का क्षेत्र समस्त विश्व, समस्त जीवन है, जिससे हम सब परिचित हैं, पर जिसे अतिपरिचय और अपनी असंवेदनशीलता के कारण हम उपेक्षणीय समझते हैं। कहना नहीं होगा कि यह क्षेत्र अनन्त, अक्षय है। जिसमें प्रतिभा होगी उसके लिए वर्ण्य विषयों का कभी अभाव नहीं हो सकता।

किन्तु क्या साहित्य को बहुजन-विषयक (अथवा सामान्य-विषयक) होने के साथ साथ बहुजन-वेद्य भी होना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर उतना सरल नहीं है। आपातत: यह उचित ही प्रतीत होता है कि साहित्य अथवा कोई भी कला सर्वजन-सुलभ हो सभी उसे समझ सकें, उसका आस्वादन कर सकें। पर क्या यह संभव भी है? ऊपर हमने साहित्यकार की जिस अनुभूति की बात कही है, वह साहित्यिक कृति में परिणत कैसे होती है, इसका विवेचन कर ले तो उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा। हममें से जो संवेदनशील है उन्हें भी कभी कभी सामान्य वस्तुओं के विषय में असामान्य अनुभूति हो सकती है, पर हम उसे साहित्यिक कृति में परिणत नहीं कर सकते। प्रत्येक बच्चा संवेदनशील होता है पर वह साहित्यकार नहीं हो सकता। अनुभूति को कलाकृति में बदलने के लिए उत्कृष्ट अभिव्यक्ति-कौशल अपेक्षित है। अपनी अनुभूति में दूसरों को साझीदार बनाना सरल नहीं विशेष कर जब अनुभूति असामान्य और बहुमुखी हो, जैसा कि उत्कृष्ट साहित्यकारों की होती है। इस प्रकार की अनुभूति स्थूल, बाजारू भाषा में अभिव्यक्त नहीं की जा सकती। उसके लिए तरह-तरह के प्रतीकों की, अभिनव रूपणों की सूक्ष्म और अर्थ-गर्भित व्यञ्जनाओं की आवश्यकता होती है। साहित्यकार जिन शब्दों को आत्माभिव्यक्ति के लिए चुनता है, उनमें स्वयं न जाने कितनी भावनाएँ, कितनी अनुभूतियाँ, कितनी परंपराएँ निहित रहती हैं, उन शब्दों के स्वर और व्यञ्जन तक सूक्ष्म अर्थ ध्वनित करते हैं। अभिव्यक्ति की इन बारीकियों को समझे बिना साहित्यिक कृति का रसास्वादन नहीं किया जा सकता। और यह भी स्पष्ट है कि इन बारीकियों के समझने के लिए कुछ-न-कुछ शिक्षा, साहित्य-परिचय और भावुकता आवश्यक है। आज यह शिक्षा, परिचय और भावुकता सर्वजन सुलभ नहीं है, इसलिए साहित्य भी बहुजन-वेद्य नहीं हो सकता। पर उसे होना तो चाहिए? तब क्या अनुभूति की गहराई तथा अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता को तिलाञ्जलि दे कर ऐसे साहित्य का निर्माण किया जाए जो सुपरिचित भावनाओं को सुपरिचित भाषा में व्यक्त करे? ऐसा किया जा सकता है, किन्तु इस दशा में साहित्य का स्तर वही रहेगा, जो आज के सर्वजन-वेद्य फिल्मी गानों का है, या साधु संतों के भजनों का है। बहुजन-वेद्यता फिल्मी धुनों में है, क्लासिकल संगीत में नहीं, गुड़ियों में और बाजारू खिलौनों में है, उत्कृष्ट मूर्ति-शिल्पियों में नहीं। इसलिए क्या हम संगीत का आदर्श फिल्मी धुनों को, और मूर्तिकला का आदर्श प्लास्टिक की गुड़ियों को मान लें? समस्या का दूसरा समाधान स्पष्ट ही यह है कि जन-साधारण का मानसिक और शैक्षणिक स्तर ऊपर उठाया जाए जिससे वे साहित्यिक कृतियों का रसास्वादन कर सकें। आश्चर्य है कि यह सीधी-सादी बात न कर आज इसी पर जोर दिया जाता है कि कला सर्वजन-सुलभ होनी चाहिए। साहित्य को हद तक इस आग्रह का यही अर्थ होगा कि साहित्यिक कृतियों से 'रस' नाम की वस्तु निकाल फेंकी जाए, जिससे उसके आस्वादन के लिए अपेक्षित सहृदयता और काव्याभ्यास का प्रश्न ही न उठे। न रहेगा बांस, न बजेगी बाँसुरी।

अब बहुजनहिताय की बात लीजिए। यह कह देना बहुत आसान है कि साहित्य का उद्देश्य समाज का कल्याण करना है—कोई कहता है क्रान्ति के द्वारा, कोई कहता है जागृति के द्वारा, कोई कहता है नैतिकता की प्रतिष्ठा के द्वारा। पर क्रान्ति का ध्येय पूरा हो जाने के बाद? जागृति का प्रकाश सर्वत्र फैल जाने के बाद? और नैतिक मूल्यों में परिवर्तन हो जाने के बाद? फिर साहित्य का उद्देश्य क्या रहेगा? क्रान्ति

और जागृति के आदर्शों तक ससार कभी नहीं पहुँच सकता, इसलिए इनकी अपेक्षा सदा रहेगी, यह कहना अपने ही प्रयत्नों की निष्फलता सिद्ध करना है। और नैतिक मूल्य शाश्वत है, यह कहना सत्य का अपलाप करना है । किन्तु शान्ति अथवा नैतिकता के द्वारा सामाजिक कल्याण को साहित्य का आदर्श मानने में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि स्वयं साहित्य का मूलोच्छेद हो जाता है। समस्त साहित्य का आधार साहित्यकार की अपनी अनुभूति है, किसी प्रकार की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा नैतिक आवश्यकता नहीं। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के एकमात्र उद्देश्य से जो साहित्य लिखा जाएगा, वह किसी दल, व्यक्ति या गवर्नमेंट का प्रापेगेंडा बन कर रह जाएगा। समाज या देश किसी विशेष परिस्थिति में साहित्यकार से इन दिशाओं में सहायता की अपेक्षा करे, तो वह लेख लिख सकता है, प्रचार-पुस्तिकाएँ प्रकाशित कर सकता है, जोशीले भाषण दे सकता है, चाहे तो अभियान-गीतों की भी रचना कर सकता है। पर ये सब साहित्य के क्षेत्र से बाहर की चीजें होंगी—एकदेशी और क्षणस्थायी। वास्तविक, उत्कृष्ट साहित्य किसी प्रयोजन से नहीं लिखा जाता; केवल इसलिए लिखा जाता है कि साहित्यकार जीवन के जिस पहलू को, जिस क्षण को देख लेता है, उसे दूसरों को भी दिखाना चाहता है, इसलिए कि वह अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किये बिना रह नहीं सकता। वस्तुत. उसकी अपनी अनुभूति भी तभी चरम दशा को पहुँचती है जब वह उसे शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करने में सफल हो जाता है। और यह साहित्य समाज के लिए कल्याणकर होता है—शान्ति अथवा नैतिकता के उपदेश के द्वारा नहीं, बल्कि इसलिए कि इसमें हमें जीवन की, विश्व चेतना की, शाश्वत सत्य की झाँकी देखने को मिल जाती है। जीवन और सत्य की जिस रमणीयता का साहित्यकार अपावृत कर लेता है वह सभी के लिए कल्याणकारिणी है। साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब नहीं है, जीवन का प्रत्यक्षीकरण है। जीवन का बाह्य रूप हमारे लिए सुपरिचित है, इसलिए उसकी रमणीयता हमारे लिए उपेक्षणीय रहती है। साहित्यकार उपेक्षा के आवरण को हटा कर इस रमणीयता को देख लेता है, और उसकी कृपा से यदा-कदा हम भी देख लेते हैं। यही साहित्यकार की उपयोगिता है। हम चाहे तो इस उपयोगिता को नगण्य मान सकते है और साहित्यकार को समाज का बोझ कह कर खतम कर दे सकते हैं। किन्तु फिर संसार में ऐसी कोई चीज नहीं रह जाएगी जो हमें पशु अथवा ऑटोमाटन होने से बचाए !

मंगलदेव शास्त्री | भारतीय संस्कृति : वैदिक धारा का ह्रास (३)

नैतिकता का ह्रास : कोई भी धार्मिक कर्मकाण्ड मनुष्य की तद्विषयक स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रारम्भ हो कर प्रायः धीरे-धीरे बढ़ता हुआ पुरोहित-वर्ग के एकाधिकार की वस्तु बन जाता है। यह अवस्था अन्त में पुरोहित-वर्ग और जनता दोनों के लिए हानिकर सिद्ध होती है। इससे जहाँ एक ओर अकर्मण्यता, मूढ-ग्रह और अंध विश्वास की वृद्धि होती है, वहाँ दूसरी ओर व्यावसायिक और दूकानदारी की अनियन्त्रित प्रवृत्ति के बढ़ने से नैतिकता के प्रायः सर्वनाश की स्थिति उपस्थित हो जाती है।

अत्यधिक बढ़ा हुआ याज्ञिक कर्मकाण्ड भी इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता था। इसके लिए अनेक प्रमाण हमको प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं। उन्हीं में से कुछ प्रमाणों को यहाँ देना हम उचित समझते हैं।

ऋत्विजों की व्यावसायिक प्रवृत्ति का उल्लेख ऋग्वेद में ही इस प्रकार मिलता है—

तक्षा रिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति।
(ऋग्० ९।११२।१)

अर्थात्, जैसे कारीगर (या मिस्तरी) टूटी हुई वस्तु के लिए, अथवा वैद्य बीमारी के लिए, इसी प्रकार ब्राह्मण ऋत्विज् सोम-याग करने वाले के लिए इच्छुक रहता है।

ऋत्विज् जिस प्रकार अपने ही यजमान का नाश कर सकता है या उसको हानि पहुँचा सकता है, इस विषय में ऐतरेय-ब्राह्मण से लिया गया नीचे का उद्धरण देखने योग्य है—

"यं कामयेत प्राणेनैनं व्यर्धयानीति वायव्यमस्य लुब्धं शंसेत्, ऋचं वा पदं वातीयात्। तेनैव

तल्लुब्धम्। प्राणेनैवैन तद् व्यर्धयति।...यं कामयेत चक्षुषैनं व्यर्धयानीति मैत्रावरुणमस्य लुब्धं शंसेत्, ऋचं वा पदं वातीयात्। तेनैव तल्लुब्धम्। चक्षुषैवैन तद् व्यर्धयति।"

(ऐत० ब्रा०, ३।३)

इस लंबे प्रकरण में विस्तार से बतलाया है कि होता यदि चाहे, तो अपने मंत्रों (यहाँ 'प्रउग-शस्त्र') के पाठ में किसी प्रकार के व्यतिक्रम से यजमान को अनेक प्रकार की हानि पहुँचा सकता है, यहाँ तक कि उसको अंधा कर सकता है या उसको मार भी सकता है।

कर्मकाण्ड के नैतिक पतन की यह पराकाष्ठा है कि ऋत्विज् अपने ही यजमान को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाने की कामना करे!

ऋत्विजों द्वारा यजमानों को ठगने या लूटने की प्रवृत्ति का भी वर्णन ऐतरेय-ब्राह्मण में ही इस प्रकार मिलता है—

"यथा ह वा इदं निषादा वा सेलगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव त ऋत्विजो यजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमनेवंविदो याजयन्ति। एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह जनमेजयः पारीक्षितः — "एवंविदं हि वै मामेवंविदो याजयन्ति तस्मादहं जयामि।" (ऐत० ब्रा०, ८।११)।

अर्थात्, जैसे दुष्ट, चोर या लुटेरे जंगल में किसी धनवान् पुरुष को पकड़ कर, उसे गड्ढे में फेंक कर, उसका धन ले कर, चम्पत हो जाते हैं, ऐसे ही मूर्ख ऋत्विज् उस यजमान को, जिसका वे यजन कराते हैं, गड्ढे में ढकेल कर उसके धन को ले कर चम्पत हो जाते हैं। (इसीलिए) परीक्षित् के पुत्र जनमेजय ने कहा था कि मैं स्वयं याज्ञिक कर्मकाण्ड को जानता हूँ। विद्वान् ऋत्विज् ही मेरा यजन कराते हैं। इसी कारण से मेरी जय होती है।

अभिप्राय यह है कि यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को न जान कर जो ऋत्विज् कर्म कराते हैं, वे वास्तव में यजमान को लूटने वाले लुटेरे होते हैं, या लुटेरों की प्रवृत्ति उनमें आ जाती है।

इसी प्रकार ऐतरेय-ब्राह्मण (३।४६) में ही ऐसे ऋत्विजों की निन्दा की है, जो लोभादि निम्न प्रवृत्तियों के वशीभूत हो कर यज्ञ कराते हैं।

ऐतरेय-ब्राह्मण उस समय का ग्रंथ है, जब कि याज्ञिक कर्मकाण्ड अपने पूरे उत्कर्ष में होगा। उस समय भी उसमें काफी अनैतिकता की संभावना आ गयी थी, ऐसा ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसी दशा में उसके अपकर्ष के दिनों में अनैतिकता किस सीमा तक पहुँची होगी, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है[१]।

वैदिक धारा का ह्रास और प्राचीन दृष्टि : इसके पूर्व कि हम अपने लेख का उपसंहार करें यह उचित प्रतीत होता है कि वैदिक धारा के ह्रास की परिस्थिति को थोड़ा-बहुत प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथों के शब्दों में ही दिखला दिया जाए।

उपनिषदों के निम्न-लिखित प्रमाण निष्प्राण याज्ञिक क्रिया-कलाप से उद्विग्नता को स्पष्टतया प्रकट करते हैं—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥

(मुण्डकोपनिषद्, १।२।७)

१ पिछले काल में याज्ञिकों के नैतिक पतन के संबंध में संस्कृतज्ञ विद्वानों में प्रसिद्ध निम्न-लिखित वचन को भी देखिए—**महादक्षयं महादक्षयं यज्ञे कण्ठबन्धनम्!! महामूर्खस्य यागोऽयं महिषीशतदक्षिणः। तवार्धं च ममार्धं मा' वध्नं कुरु पण्डित!॥**

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः[1] ॥

(कठोपनिषद् १।२।५)

अर्थात्, ये आदर्श-हीन जटिल यज्ञ-रूपी कर्म अदृढ नौका के समान है। अविवेकी लोग इनको ही जीवन का लक्ष्य बना कर अपनी अन्ध-वासनाओं के भँवर में ही पड़े रहते हैं—और वास्तविक कल्याण को नहीं प्राप्त कर सकते। मूढ लोग, अपने को पंडित और बुद्धिमान् समझते हुए, पर वास्तव में अज्ञानवश आदर्शहीन याज्ञिक क्रिया-कलाप में फँसे हुए, आत्मिक उन्नति के सरल-सीधे मार्ग में अग्रसर नहीं हो पाते। वे मान, दम्भ, मोह के टेढ़े मार्ग में ही फँस कर अपने जीवन को नष्ट करते हैं। उनकी दशा वास्तव में अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे के समान होती है।

शुष्क आदर्श-हीन याज्ञिक कर्मकाण्ड को ही लक्ष्य में रख कर, वेदों के और वैदिक यज्ञों को करने-कराने वालों के विषय में कहे गये, भगवद्गीता के कुछ वचन नीचे दिये जाते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वत, सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत ।

(गीता, २।४२, ४३, ४६)

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

(गीता, १६।१७)

अर्थात्, वैदिक वादों में विश्वास करने वाले अविद्वान् लोग ही विभिन्न कामनाओं से प्रेरित हो कर, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए जटिल याज्ञिक क्रिया-कलाप में मात्र, बिना समझे हुए, केवल सुनने में रमणीय वैदिक मन्त्रों का पाठ करते हैं। सर्वतः जल के उपलब्ध होने पर छोटे-से जलाशय आदि की जैसी उपयोगिता होती है, वैसी ही उपयोगिता तात्त्विक दृष्टि रखने वाले विद्वान् के लिए सब वेदों की है। अपने को बड़ा मानने वाले, विनय से रहित, और धन मान के मद से युक्त अज्ञानी लोग दम्भ के साथ, अविधि-पूर्वक नाममात्र के वैदिक यज्ञों को किया करते हैं।

अन्त में, श्रीमद्भागवत से वैदिक याज्ञिकों की तात्कालिक दुरवस्था और अनैतिकता का वर्णन करने वाले कुछ अंशों को दे कर हम इस विषय को समाप्त करते हैं—

............मूढाल्याम्नाय वादिन ॥
कर्मण्यकोविदा। स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिन ।
रजसा घोर संकल्पा कामुका अहिमन्यव ।
दाम्भिका मानिन· पापाः............॥
वदन्तिलेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिण
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विद ॥

(भाग० ११।५।५—८)

अर्थात्, याज्ञिक कर्मकाण्ड को करने वाले वैदिक लोग मूढावस्था में पड़े हुए होते हैं। अभिमानी, मूर्ख, अपने को पण्डित समझने वाले वे कर्मकाण्ड के तत्त्व को नहीं जानते। वे कामी, सर्प के समान क्रोधी, दम्भी, मानी और पापी होते हैं। रजोगुणी होने के कारण उनके संकल्प क्रूर होते हैं। वे स्वयं एक दूसरे की स्त्रियों का सेवन करते हुए, उन्हीं घरों में आशीर्वादात्मक मन्त्रों का पाठ करते हैं, जो विषयोपभोग-परायण होते हैं। शास्त्र की दृष्टि से उचित-

[1] थोड़े ही पाठ-भेद से यह पद्य मुण्डकोपनिषद् (१।२।८) में भी आया है।

अनुचित का विचार छोड कर, वे केवल आजीविका की दृष्टि से यज्ञ कराते है, और हिंसा की परवा न करके यज्ञों में पशुओं की बलि देते है।

श्रीमद्भागवत के ही एक दूसरे प्रकरण में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, भक्ति, ज्ञान आदि के स्वाभीष्ट मार्गों की व्याख्या के प्रसग में, याज्ञिक कर्मकाण्ड की दुरवस्था को दिखाते हुए कहते है—

हिंसाविहारा ह्यालब्धै: पशुभि: स्वसुखेच्छया।
यजन्ते देवता यज्ञै: पितृ भूतपतीन् खला:॥
रज: सत्त्वतमोनिष्ठा रज:सत्त्वतमोजुष:।
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न तथैव माम्॥
इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुला:॥
एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम्।
मानिनां चातिस्तब्धानां मद्वार्तापि न रोचते॥

(भाग०, ११।२१।३०, ३२–३४)

अर्थात्, खललोग अपने सुख की इच्छा से प्रेरित हो कर यज्ञों में बलि दिये हुए पशुओ की हिंसा मे विहार करते है[१]। वे उक्त प्रकार के हिंसामय यज्ञों से देवताओं का तथा पित्रादि का यजन करते है। रजस्‌सत्त्व और तमस् में आस्था रखने वाले वे इन्द्र आदि देवों की उपासना करते हैं, भगवान् की नही। 'इस जन्म में यज्ञों द्वारा देवताओं का यजन करके हम स्वर्ग में जा कर रमण करेंगे, और तदनन्तर पुन: इस लोक में बडे कुलों में जन्म ले कर ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे'—इस प्रकार की आपाततः रमणीय बातों से जिनके चित्त चचल है, ऐसे अभिमानी तथा अतिस्तब्ध लोगों को भगवान् के सबध की बात भी अच्छी नहीं लगती।

ऊपर के प्रामाणिक वचनों पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नही है। आदर्श-हीन शुष्क याज्ञिक कर्मकाण्ड के कारण लोगों की वेदों में अनास्था का और सामान्य रूप से याज्ञिकों की खेद-जनक अनैतिकता के साथ-साथ निन्दनीय व्यावसायिक वृद्धि का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है।

वैदिक धारा के ही क्यों, किसी भी सांस्कृतिक धारा के ह्रास के लिए ऐसे कारण पर्याप्त है।

उपसंहार . जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि वैदिक धारा के ह्रास का मुख्य कारण उसका अत्यधिक जटिलता और विस्तार को पहुँचा हुआ, आदर्श-हीन शुष्क कर्मकाण्ड ही था। आर्य-जाति में रूढि-मूलक वर्णवाद की प्रवृत्ति के लाने में और उसको दृढ करने में भी उक्त कर्मकाण्ड का विशेष हाथ था। इसी के कारण, यहाँ एक ओर विभिन्न वर्णों में पृथक्त्व-भावना की वृद्धि हुई, वहाँ दूसरी ओर शूद्रों के प्रति कठोर और अशोभन दृष्टि का सूत्रपात हुआ। इसी ने विशेष रूप से रूढि-मूलक पुरोहित-वर्ग को जन्म दिया, जिसकी क्रमश. बढ़ती हुई व्यावसायिक वृद्धि और अनैतिकता ने वैदिक

१. तु० इज्यायज्ञश्रुति कृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधम। हन्याज्जन्तून् मासगृध्नु: स वै नरकभाङ् नर:॥
(महाभारत, अनुशासन-पर्व, ११५।४७)।

याज्ञिक कर्मकाण्ड में पशुओं की बलि के प्रसग ब्राह्मण-ग्रथों और श्रौत-सूत्रों में भरे पडे हैं। सवनीय पशु के अवयवों को ऋत्विजों में बाँटने के विधान का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। महाभारत में वर्णित राजा रन्तिदेव के सत्र में प्रति-दिन सहस्रों पशुओं की बलि दी जाने की कथा प्रसिद्ध है।

यहाँ जो प्रमाण हमने दिये हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि याज्ञिक लोग प्राय मांसाहार के प्रलोभन से यज्ञों में प्रवृत्त होते थे।

इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि वैदिक यज्ञों की बढ़ती हुई पशु-हिंसा की प्रवृत्ति भी वैदिक धारा के ह्रास में एक मुख्य कारण थी।

धारा की ह्रासोन्मुखता को और भी बढ़ा दिया। आदर्श-हीन याज्ञिक कर्मकाण्ड और नैतिकता की भावना से शून्य-प्राय ऋत्विजों के कारण वेदों के अर्थ-ज्ञान-पुरस्सर अध्ययनाध्यापन की परम्परा और उनकी उदात्त भावनाओं का वातावरण दोनों नष्ट-प्राय हो गये।

यह समय ऐसा था जब कि जनता को कोई धार्मिक प्रेरणा और जीवन-प्रद सदेश कहीं से भी मिलना प्राय बद हो गया था, और वैदिक धारा का प्रवाह अत्यन्त मद पड गया था।

धार्मिक और नैतिक वातावरण की यही महान् शून्यता अथवा रिक्तता वास्तव मे औपनिषद तथा जैन-बौद्धादि धाराओं के अगले आन्दोलनों की जनना हुई।

प्रकृति का नियम है कि वातावरण के निस्तब्ध हो जाने पर ही आँधी आती है।

वैदिक धारा के ह्रास की कहानी हम यहीं समाप्त करते हैं। यह अत्यन्त हृदय विदारक है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है। पर यह सत्य है, इसमें भी सदेह नहीं है। इसको मानना ही पड़ेगा, इसके बिना न तो हम भारतीय सस्कृति की अगली प्रगति को समझ सकते हैं, न अगली धाराओं के उदय को।

हमारा कर्तव्य : वैदिक धारा का ह्रास एक ऐतिहासिक तथ्य है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वेद और वैदिक वाङ्मय का महत्त्व अभिनव भारत के लिए नहीं है।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि वे अब भी सुरक्षित हैं। उनकी हमने अक्षम्य महान् उपेक्षा की है, सहस्रों वर्षों से। पर अब समय आ गया है, जब कि आवश्यकता है, उनके वास्तविक अनुशीलन और स्वाध्याय की, किसी सकीर्ण साप्रदायिक दृष्टि से नहीं, किन्तु अत्यन्त उदार मानवीय भावना से।

वेद हमारे राष्ट्र की अमूल्य शाश्वत निधि तो हैं ही, पर अपनी अद्वितीय उदात्त भावनाओं और अमूल्य जीवन-सदेश के कारण उनका सार्वकालिक और सार्वभौम महत्त्व भी है। इसका गर्व और गौरव प्रत्येक भारतीय को होना चाहिए।

यह सदा स्मरण रखने की बात है कि वेदों के विषय में सकीर्ण साप्रदायिक दृष्टि न केवल उनके महत्त्व को घटाती है, अपितु उनको दूसरी सास्कृतिक धाराओं के साथ प्रतिस्पर्धा के बहुत निम्न धरातल पर भी ले आती है।

सकीर्ण साप्रदायिक दृष्टि के दोषों की विशेष व्याख्या हम पहले ही कर चुके हैं। उनको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

अन्त मे हम यही कहना चाहते हैं—

मेधामह प्रथमा ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥

(अथर्व०, ६।१०८।२)

अर्थात्, ऋषियों द्वारा सस्तुत, ब्रह्मचारियों से सेवित, वैदिक मत्रों को प्रकाश में लाने वाली, वेद-मय प्रथम मेधा का हम आवाहन करते हैं जिससे समस्त दैवी शक्तियों का सान्निध्य और सरक्षण हमको मिल सके।

इसका अर्थ यही है कि वह दिव्य मेधा, जिसने ऋषियों द्वारा वैदिक धारा को प्रवाहित किया था, जिसने भारतीय सस्कृति के उषःकाल में विश्व में व्याप्त उस मौलिक तत्त्व का साक्षात्कार किया था, जिसकी दिव्य विभूतियों का वैदिक देवताओं के रूप में मत्रों में गान किया गया है, और जिसने मानो प्रकाशमय आनन्दमय लोकों से ला कर मानव-जीवन के लिए दिव्य सदेशों को श्रुति-मधुर पवित्र शब्दों में सुनाया था, भारतीय संस्कृति के अमृत-स्रोत के रूप में अब भी वैदिक मत्रों में सुरक्षित है।

शुष्क आदर्श-हीन याज्ञिक कर्मकाण्ड के रूप में वैदिक धारा के ह्रास हो जाने पर भी, वह स्वयं अजर और अमर है। हमारा पवित्र कर्तव्य है कि हम परम-तीर्थ-रूप उस अमृत-स्रोत तक पहुँच कर, उसमें अवगाहन कर, उसकी दिव्य पवित्रता और सजीवनी शक्ति का स्वयं अनुभव करें, और भारतीय संस्कृति के लिए उसकी व्यापक देन की बेल का, जो उस अमृत-प्रवाह से विच्छिन्न हो कर सूख रही है, उस अमृत-स्रोत से पुनः संबंध स्थापित कर, उसको फिर से उज्जीवित और हरा-भरा करें, जिससे अभिनव भारत के लिए वह पुनः फूले और फले और साथ ही अपने सौरभ और प्रसाद से विश्व को प्रसन्नता, सन्तोष और शान्ति प्रदान कर सके। वेद ने स्वयं कहा है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय—
च स्वाय चारणाय च।
प्रियोदेवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्।
अयं मे कामः समृध्यताम्।
उप मादो नमतु। (यजु०, २६।२)

❧❧❧

विनयमोहन शर्मा | हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथ

हिंदी भाषा का क्षेत्र अन्य भारतीय भाषाओ की अपेक्षा बहुत व्यापक है। उसमें लगभग एक हजार वर्ष से निरंतर साहित्य-निर्मिति होती आ रही है। यों हिंदी-साहित्य के आदिकाल को राहुल सांकृत्यायन विक्रम संवत् ६९० तक पीछे ले गये है और सिद्ध सरहपाद[१] को हिंदी के प्रथम कवि के रूप मे प्रस्तुत कर चुके हैं। उनके मत से सिद्धो की काव्यधारा बारहवी शताब्दी तक प्रबल रूप मे प्रवाहित होती रही है, पर उसमे स्वमत-प्रचार अधिक है। उससे हिंदी भाषा के रूप-विकास को समझने में सहायता मिल सकती है। इसके अतिरिक्त सिद्ध-साहित्य 'मगही' में है जो 'बिहारी' की एक उपभाषा है। मगही, भोजपुरी, मैथिली, इन बिहारी-भाषाओ को हिंदी के अन्तर्गत माना जाए या नही, इस पर भाषाविज्ञानी एकमत नही है। पर मैथिल कवि विद्यापति को हिंदी कवि मान लिया गया है और हिंदी-साहित्य के इतिहास मे उन्हे गौरवपूर्ण स्थान भी दिया गया है। बिहारी के समान राजस्थानी में भी साहित्य-रचना-परपरा बहुत प्राचीन है। हिंदी की जिन प्रादेशिक भाषाओं में साहित्य मिलता है, वे हैं--राजस्थानी, ब्रज, अवधी, मैथिली, मगही और खडी बोली (यहाँ हम राजस्थानी और बिहारी को हिंदी के अन्तर्गत मान कर ही चलते हैं)। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी-साहित्य कितने विविध रूपो और क्षेत्रों में विद्यमान है। इसीलिए उसके आरभिक इतिहास-लेखको को कितनी कठिनाइयो का सामना करना पडा होगा, इसकी सहज कल्पना हो सकती है। यह

१ सरहपाद की रचना मे हिंदी के लक्षण स्पष्ट है—
जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेस। तहि वह चित्त विसाय करु सरहे कहिय उवेस,॥

सचमुच आश्चर्य की बात है कि हिंदी का सर्वप्रथम इतिहास फरासीसी भाषा में एक फ्रेंच विद्वान् गार्सां द तासी द्वारा लिखा गया। इसका नाम है "इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई एँ ऐंदुस्तानी।" इसमें सभी कवियों का वर्णानुक्रम से परिचय दिया गया है। यह ग्रंथ दो भागों में विभाजित है। एक का प्रकाशन वि० संवत् १८९६ में, और दूसरे का संवत् १९०३ में हुआ था। इसमें कवि-नामावलि से अधिक सामग्री नहीं है। कवियों की कृतियों के सम्यक् मूल्यांकन का अभाव है। इस फ्रेंच इतिहास के दूसरे संस्करण के समय यह तीन विभागों में विभाजित कर दिया गया (हाल में ही श्री वार्ष्णेय ने इसका हिंदी में रूपांतर किया है)। इसमें कवि का जीवनवृत्त, रचनाओं का विवरण और उदाहरण, बस, यही क्रम रखा गया है।

लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से सन् १८७३ में "भाषा काव्य-संग्रह" नामक एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इसके संपादक श्री महेशदत्त शुक्ल थे। इसमें कतिपय प्राचीन कवियों की जीवनी-सहित रचनाएँ दी गयी हैं। यह 'तासी' के पश्चात् हिंदी-कवि-कीर्तन का दूसरा प्रयास है। सन् १८८३ में ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने लगभग एक हज़ार कवियों की कृतियों का परिचयात्मक संग्रह प्रस्तुत किया। इसमें सन्देह नहीं, सेंगर ने इसे एकत्र करने में काफी श्रम किया है।

सन् १८८९ में सर ग्रियर्सन ने "Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan" नामक कविवृत्त-संग्रह प्रकाशित किया। इसमें ग्रियर्सन ने अपने पूर्ववर्ती कविता-संग्राहकों के श्रम से लाभ तो उठाया ही, साथ ही कवियों पर थोड़ी-बहुत आलोचना भी लिखी।

अभी तक हिंदी की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का कार्य प्रारंभ नहीं हुआ था। नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने जब यह कार्य हाथ लिया, तब उसने आठ जिल्दों में अपनी खोज-विवरण-प्रतिवेदन-पुस्तिकाएँ प्रकाशित करायीं, जिससे हिंदी के कई प्राचीन कवि प्रकाश में आये। सन् १९१३ में मिश्रबन्धुओं (गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र तथा शुकदेव बिहारी मिश्र) ने तीन भागों में[1] "मिश्रबन्धु विनोद" का प्रकाशन किया, जिसमें ३७६७ कवि और लेखकों का विवरण दिया गया था। इसे हिंदी-साहित्य का इतिहास कहें या न कहें, इस संबंध में मिश्रबन्धुओं को भी संकोच हुआ था। उन्होंने उसकी प्रथमावृत्ति की भूमिका में लिखा है—"पहले हम इस ग्रंथ का नाम हिंदी-साहित्य का इतिहास रखने वाले थे परंतु इतिहास की गंभीरता पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि हममें साहित्य-इतिहास लिखने की पात्रता नहीं है। फिर इतिहास-ग्रंथ में छोटे-बड़े सभी कवियों एवं लेखकों को स्थान नहीं मिल सकता। उसमें भाषा-संबंधी गुणों एवं परिवर्तनों पर तो मुख्य रूप से ध्यान देना पड़ेगा, कवियों पर गौण रूप से, परंतु हमने कवियों पर भी पूरा ध्यान रखा है। इस कारण यह ग्रंथ इतिहास से इतर बातों का भी कथन करता है।" मिश्रबन्धुओं ने अपने पूर्व कवि-कीर्तनकारों तथा नागरी प्रचारिणी सभा के खोज-प्रतिवेदनों का पूर्ण उपयोग किया है। उन्होंने साहित्य-रचना का काल-विभाजन भी किया है जो इस प्रकार है—

१ पूर्वारम्भिक काल—वि० संवत् ७००-१३४३ तक (बहुत कम रचना मिलती है)।

२ उत्तरारम्भिक काल—वि० सं० १३४४-१४४४ (थोड़ी रचना मिलती है)।

३. पूर्वमाध्यमिक काल—१४४५-१५६० (कुछ अधिक रचनाएँ मिलती हैं)।

[1] दूसरा संस्करण चार भागों में प्रकाशित हुआ, जिसमें कई नये प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध कवियों की सोदाहरण सूची जोड़ी गयी।

४. प्रौढ़ माध्यमिक काल–१५६१-१६८० (अच्छी मात्रा में रचनाएँ मिलती हैं)।

५. पूर्वालंकृत काल–१६८१-१७९० (बहुत अच्छी मात्रा में रचनाएँ मिलती हैं)।

६. उत्तरालंकृत काल–१७९१-१८८९ (वर्तमान मात्रा में रचनाएँ मिलती हैं)।

७. अज्ञात काल

८. परिवर्तन काल–१८९०-१९२५ (प्रचुरता से रचनाएँ मिलती हैं)।

९. वर्तमान काल–१९२६ से अब तक (बहुत अधिक रचनाएँ मिलती हैं)।

संभवतः मिश्रबंधुओं ने सर्वप्रथम स्थूल रूप में साहित्य का काल-विभाजन किया। आदि प्रकरण में वे चंद, जल्हण तथा चार जैन कवियों की कृतियों का उल्लेख कर सके हैं। उस समय तक आदिकाल पर शोध नहीं हो पाया था। अपभ्रंश-मिश्रित कृतियों को आदिकाल के अन्तर्गत रखने की सूझ उन्हें हो गयी थी। हिंदी-भाषा का अपभ्रंश से किस प्रकार विकास हो रहा था, यह जानने के लिए जैन कवियों की रचनाओं के उदाहरण महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मिश्रबन्धुओं के 'कवि-कीर्तन' का स्थल स्थल पर मजाक उड़ाया है। उनके इतिहास को कवियों का सूची-पत्र कहा है। इसमें काल-विभाजन जनता की चित्त-वृत्ति के अनुरूप नहीं है और अनेक कवियों की सूची संकलित करने की प्रवृत्ति अधिक है फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि यह हिंदी कवियों का सबसे प्रथम विराट और थोड़ा-बहुत विस्तृत इतिवृत्तात्मक ग्रंथ है। मिश्रबन्धुओं के इस इतिहास की कठोर आलोचना करने पर भी, शुक्ल जी ने इसकी बहुत-सी सामग्री का उपयोग किया है। 'विनोद' के पश्चात् मिश्रबन्धुओं ने तुलसी, सूर, देव, बिहारी, भूषण, मतिराम, केशव, कबीर, चन्द्र और हरिश्चन्द्र पर आलोचनात्मक निबंध लिखे और उन्हें सन् १९१० में 'नवरत्न' नामक ग्रंथ के रूप में प्रकाशित किया।

सन् १९१७ में पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' के दो भाग प्रकाश में आये, जिनमें प्राचीन-अर्वाचीन कवियों का संक्षिप्त परिचय और उनकी रचनाओं के उदाहरण दिये गये। ये इतिहास के तत्त्वों से हीन होने पर भी, इतिहासकारों को कुछ सामग्री प्रदान करते हैं। सन् १९१८ में एडविन ग्रीव्ज ने अंग्रेजी में "A Sketch of Hindi Literature" नामक पुस्तक लिखी और उसके दो वर्ष बाद एफ० आई० के० की "History of Hindi Literature" प्रकाश में आयी। ये दोनों पुस्तकें अंग्रेजी में हिंदी-साहित्य का परिचयमात्र कराती हैं। इतिहास-लेखक का कोई विशिष्ट दृष्टिकोण इनमें नहीं है। सन् १९२९ में पं० रामचन्द्र शुक्ल का हिंदी साहित्य का इतिहास 'हिंदी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुआ। यह कई दृष्टियों से हिंदी-साहित्य के इतिहास लेखन का व्यवस्थित प्रयत्न है, जिसमें देश की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि पर साहित्य की गतिविधि को परखने का प्रयत्न किया गया है। लेखक ने हिंदी-साहित्य के लगभग कुछ हज़ार वर्षों के काल को युग-प्रवृत्ति के आधार पर इस प्रकार विभाजित किया है —

१. आदिकाल—वीरगाथा काल—संवत् १०५० से १३७५ तक।

२. पूर्वमध्य काल—भक्ति काल—संवत् १३७५ से १७०० तक।

३. उत्तरमध्य काल—रीतिकाल—संवत १७०० से १९०० तक।

४. आधुनिक काल—गद्य काल—संवत् १९०० से अब तक।

शुक्ल जी ने, विक्रम संवत् १०५० से पूर्व अपभ्रंश से जो हिन्दी की परंपरा चली आ रही थी, उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। यह कार्य

राहुल जी तथा हजारीप्रसाद जी ने किया है। साहित्य मानव-विचारों की अविच्छिन्न परंपरा है, इस दृष्टि से केवल हिन्दी साहित्य का ही नहीं, उसके पूर्व के साहित्य की भी, जिसमें उसका जन्म हुआ है, छानबीन आवश्यक है। यह बात नहीं कि शुक्ल जी का ध्यान अपभ्रंश-कालीन रचनाओं की ओर नहीं गया, पर उन्होंने उनमें साम्प्रदायिकता देखी, साहित्यिकता नहीं। इसी से उन्होंने संवत् १०५० से पूर्व की रचनाओं को महत्त्व नहीं दिया। गुलेरी जी ने अपभ्रंश मिश्रित रचनाओं को 'पुरानी हिन्दी' ही माना है।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं किसी भाषा का साहित्य अपनी मातृभाषा के साहित्य की अटूट धारा होती है, अतः उसे काल खंडों में विभाजित करना, सचमुच दुष्कर कार्य है। मानव-प्रवृत्तियों में परिवर्तन सहसा नहीं होता, अतएव उनमें समय की ठीक ठीक विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। शुक्ल जी के इतिहास में काल-विभाजन का, अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ही, महत्त्व है। इस विभाजन की व्यावहारिकता के कारण उन्हें आधुनिक काल का गद्य पद्य के उपविभागों में बाँट कर पच्चीस-पच्चीस वर्ष के साहित्य का सिंहावलोकन करना पड़ा। उन्होंने व्यक्तियों के नाम पर युगों का विभाजन नहीं किया। व्यक्ति अपने युग का निर्माता होता है, अपने काल का अधिष्ठाता होता है अपने व्यक्तित्व की प्रखरता से साहित्य में धारा-विशेष का प्रचारक भी बन जाता है, इस तथ्य को कदाचित् उन्होंने मान्यता नहीं दी। उनके इतिहास में जहाँ जनता की चित्त वृत्ति की परखने का प्रयत्न है, वहाँ उसमें उस चित्तवृत्ति को प्रतिबिम्बित करने वाले जनपदीय साहित्य की ओर तनिक भी दृष्टिपात नहीं किया गया। यह 'अलिखित साहित्य' ही कई बार लिखित साहित्य का स्रोत बनता है। पर उन्होंने अपने इतिहास में जिन मतों, वादों, तथ्यों और प्रवृत्तियों का विवेचन तथा संकेत किया, उनका आज तक अलग छाया हुआ है। इनके इतिहास-लेखन का दृष्टिकोण प्राचीन भारतीय संस्कृति-मूलक राष्ट्रीयता थी। उन्होंने व्यापक 'लोक-मंगल' को साहित्य की कसौटी मान कर, हिन्दी कवियों का मूल्यांकन किया। इसी से परंपरा-पोषक तुलसी को वे सबसे अधिक महत्त्व दे सके। कदाचित् छायावादी काव्य में व्यक्ति के उच्छ्वास की प्रधानता देख कर, उनको उसके प्रति सहानुभूति नहीं जगी। सच बात तो यह है कि वे अपने 'आग्रहों' को पुरस्सर करने में कभी नहीं झिझके। उनका इतिहास, हिन्दी के परवर्ती इतिहासकारों के लिए आदर्श बन गया। उसके अभी तक कई संस्करण निकल चुके हैं। नवीन संस्करणों में आधुनिक काल के लेखकों की नामावली अधिक बढ़ा दी गयी है, जो शुक्ल जी की गंभीर विवेचन चित्त-वृत्ति के अनुकूल नहीं है।

शुक्ल जी के इतिहास के बाद ही डा० श्यामसुन्दरदास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' प्रकाशित हुआ। इसमें हिन्दी-भाषा के विकास के साथ-साथ साहित्य की विभिन्न धाराओं को क्रमबद्ध प्रस्तुत किया गया। शुक्ल जी के समान ही युग की सामाजिक, धार्मिक आदि पृष्ठभूमि के आधार पर साहित्य की प्रवृत्तियों को तोला गया है। व्यक्तियों के नाम और उदाहरण इसमें बहुत कम हैं। विवेचन में भी अधूरापन है। पटना विश्वविद्यालय में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने हिन्दी-भाषा और उसके विकास पर विस्तृत भाषण दिया, जिसमें डा० श्यामसुन्दरदास के समान ही हिन्दी-भाषा और साहित्य का सिंहावलोकन है।

सन् १९३० में डा० सूर्यकान्त ने 'हिंदी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' लिखा, जिसमें नूतन शोध का अंश बहुत ही कम है। हाँ, विवेचन की भाषा शास्त्रीय न होकर, काव्यात्मक अधिक हो गयी है। इसके एक वर्ष बाद डा० 'रसाल' ने भी एक बड़ा इतिहास लिखा, जो लाला रामनारायण लाल द्वारा प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इसमें आधुनिक काल के कतिपय नये लेखकों का समावेश अवश्य हुआ।

सन् १९३४ मे 'आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास' प० कृष्णशकर शुक्ल ने लिखा है। आज तक उसके आठ सस्करण निकल चुके है। यह उसकी लोकप्रियता का प्रमाण है। पर उसमें आधुनिकतम प्रवृत्तियो का सिहावलोकन समाविष्ट नही हो सका। प्राचीन जीवित कवियो ने भी युगानुरूप अपनी 'शैली' और 'वस्तु'-चयन में नूतन दृष्टिकोण को अपनाने का प्रयत्न किया है। अत इस इतिहास मे पूर्ण सशोधन और परिवर्धन की आवश्यकता है। हिंदी-साहित्य के इतिहासो मे साहित्य-कृतियो के अतिरिक्त वैद्यक, रसायन, भूगोल आदि शास्त्रीय रचनाओ का भी उल्लेख हो जाता है। प्रश्न यह है कि क्या हिंदी-भाषा में लिखित सभी कृतियो का हिंदी-साहित्य के इतिहास में उल्लेख और मूल्याकन होना चाहिए ? मेरे विचार से तो साहित्येतर शास्त्र-कृतियो की तालिका को साहित्य के इतिहासो मे स्थान नही मिलना चाहिए। विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र ही भिन्न है।

सन् १९३२ मे डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखा, जिसमें चारण और भक्ति-काल की सामग्री सकलित है। इस इतिहास के सबध मे मिश्रबन्धुओ का मत है—"डा० रामकुमार वर्मा ने खोज-सबधी विषयो का अधिकाश उपयोग किया है। उनकी काव्य-समीक्षा भी प्राचीन काल के आदर्शों के आधार पर नही है। उन्होंने लेखक की अन्तर्दृष्टि और भावो की अनुभूति पर प्रकाश डाला है। परन्तु उनका न अपना कोई नया ऐतिहासिक दृष्टिकोण है, न उनके पास व्यापक, सुदृढ़ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ही है। इससे उनका काल-विभाग अर्थहीन-सा रह गया है। परम्परा से प्रचलित विचार-प्रवाहो के विपरीत विद्रोह करने का दृष्टिकोण स्थापित करना उनसे नहीं बन पडा। इन कारणो से उनका ग्रथ हिंदी-साहित्य का इतिहास नही; हिंदी साहित्य का एक 'रिसर्च वर्क', 'डाक्टरेट' के लिए लिखा गया एक 'थीसीस'-सा प्रतीत होता है।" (इसी पर लेखक को नागपुर विश्वविद्यालय से पी० एच० डी की उपाधि मिली है)।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' मे हिंदी के आदिकाल से ले कर रीति काल तक की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक पृष्ठ-भूमि का अच्छा विवेचन मिलता है। सन १९४१ में श्री ब्रजरत्नदास ने "खडी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास" प्रकाशित किया, जिसमें हिंदी-भाषा की खडी बोली के साहित्य का प्रथम बार सिहाव-लोकन करने का प्रयत्न किया गया है।

सन् १९४६ मे श्री चतुरसेन शास्त्री ने 'हिंदी-भाषा और साहित्य' का इतिहास प्रकाशित किया। 'दो शब्द' मे वे लिखते है—"मैंने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन प्राय. सब हिंदी इतिहास-लेखको की प्रचलित परम्परा का उल्लघन करके अपने कुछ नये ऐतिहासिक दृष्टिकोण निर्धारित किये है। ....मैंने साहित्य को इस ग्रथ में अधिकाधिक व्यापक रूप दिया है। मै ललित साहित्य के फेर में नही पडा। भाषा और लिपि को मै साहित्य का वाहन मानता हूँ। अत मैंने ग्रथ मे उनका भी यत्किचित् परिचय दे दिया है।" पर विवादास्पद विषयो की उलझन में लेखक नही पडा—बहुमत के अनुसरण में उसने कल्याण देखा है। उसने प्रथम खड में भाषा और लिपि-विज्ञान पर प्रकाश डाला है। यह अध्याय भाषा विज्ञान की पुस्तको से सकलित है। डा० श्यामसुन्दर दास ने भी अपने इतिहास में हिंदी-भाषा के विकास पर प्रकाश डाला है। इस खड मे लेखक ने एक जगह लिखा है कि "भाषा विज्ञान का यह दृष्टिकोण बडा ही चमत्कारिक है कि ..फारसी जो भारतीय आर्य भाषा-वर्ग की भाषा है, आज विजातीय बन गयी है और अवधी जो पृथक् भाषा थी, हिंदी का एक अग है।" (पृष्ठ १९) पता नही, लेखक ने अवधी को आर्य-भाषा-वर्ग या हिंदी से पृथक् भाषा किस आधार पर समझ रखा है ! अवधी तो अर्धमागधी से उद्भूत भाषा मानी

जाता रही है। आज बिहारी भाषाओं को हिंदी के अन्तर्गत लेने-न लेने का प्रश्न अवश्य भाषा-विज्ञानियों के सामने उपस्थित है। परन्तु अवधी के संबंध में ऐसा कोई विवाद नहीं है। यह निश्चय ही हिंदी की विभाषा है। मिश्रबन्धुओं की तरह इस लेखक ने भी दूसरे खंड में साहित्य की परिभाषा, रस आदि की विवेचना की है। आधुनिक काल में तथ्य और विभिन्न प्रवृत्तियों का संकलन अपर्याप्त और कहीं कहीं भ्रमपूर्ण है। इसमें साहित्य-महारथियों के नाम पर काल विशेष का नामकरण किया गया है। आचार्य शुक्ल ने युग व्यक्ति की अपेक्षा युग-प्रवृत्ति को अधिक महत्त्व दिया है।

सन १९५३ में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मानवतावादी दृष्टिकोण से अपभ्रंश युग की प्राकृताभास हिन्दी-रचनाओं में हिन्दी के आदिकाल के दर्शन किये हैं और वहीं से ले कर आधुनिक युग की प्रवृत्तियों तक का विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है। पर यह छात्रोपयोगी अधिक होने से संक्षिप्त रह गया है। इसका आदिकाल और भक्तिकाल अन्य कालों की अपेक्षा अधिक पुष्ट है।

उपर्युक्त इतिहासों के अतिरिक्त छोटे-मोटे बीसियों इतिहास स्कूल-कालेजों के छात्रों के लिए लिखे गये हैं। इनमें लेखकों का कोई स्वतंत्र शोध और दृष्टिकोण नहीं दिखाई देता। इसलिए इनका साहित्यिक-ऐतिहासिक मूल्य शून्य के बराबर है।

संपूर्ण इतिहासों के अतिरिक्त युग और साहित्य की धारा विशेष को ले कर भी हिन्दी में आलोचनात्मक इतिहास लिखे गये हैं। डा० हजारीप्रसाद ने 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' में हिन्दी के *प्राकृताभास साहित्य की अनुसंधानपूर्ण विवेचना* की है। आधुनिक काल के ५० वर्षों (सन् १८५० से १९००) तक का सिंहावलोकन डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' शीर्षक निबंध (थीसिस) में और सन् १९०१ से १९२५ तक का सिंहावलोकन श्रीकृष्णलाल ने 'हिन्दी साहित्य का विकास' शीर्षक निबंध में किया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में जहाँ तथ्यों को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया था, वहाँ इन इतिहासकारों ने उनकी विस्तृत गवेषणा की है। श्री भोलानाथ ने सन् १९२६ से १९४७ तक की हिन्दी-साहित्य-प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन प्रस्तुत किया है। इस सिंहावलोकन में यत्र तत्र शीघ्रतावश कुछ महत्त्व के तथ्य अवश्य छूट गये हैं। पर पं० रामचन्द्र शुक्ल जहाँ आधुनिक साहित्य पर विशेष नहीं लिख सके, वहाँ इन इतिहासकारों ने उसे तनिक विस्तृत रूप देने का प्रयास किया है। डा० केसरीनारायण शुक्ल ने 'आधुनिक काव्यधारा', डा० टीकमसिंह तोमर ने हिंदी वीर-साहित्य, श्री ब्रजरत्नदास ने 'हिंदी नाट्य साहित्य', डा० सोमनाथ गुप्त ने 'हिंदी नाट्य साहित्य का इतिहास', डा० दशरथ ओझा ने 'हिंदी नाटक : उद्भव और विकास', डा० भगवत् स्वरूप मिश्र ने 'हिंदी आलोचना : उद्भव और विकास', डा० भगीरथ मिश्र ने 'हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास', श्री राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ने 'रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन', श्री जू० सी० त्रिपाठी का 'हिंदी निबंध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन', डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन' का 'गीति-काव्य का उद्गम और विकास', श्री लक्ष्मी-*नारायण लाल का 'हिंदी कहानियों का जन्म और* विकास' आदि आलोचनात्मक खंड-इतिहासों का प्रकाशन हुआ है। अधिकांश में इनमें शोध-दृष्टि अधिक है, क्योंकि ये विश्वविद्यालयों में 'थीसिस' के रूप में प्रस्तुत किये गये थे।

हिंदी-जगत् में साहित्य के इतिहास-लेखन के दृष्टिकोण की एक समस्या है। राष्ट्रीय अथवा भारतीय दृष्टिकोण से लिखे गये इतिहासों में भय है कि कहीं इतिहास अपनी व्यापकता न खो बैठे, समाजवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दृष्टिकोण भी निरापद नहीं। उससे साहित्य एक वाद के चौखटे में जड़ कर रुद्ध हो जाता है। क्योंकि कल्पना-

मूलक रसार्द्र रचना वर्ग-संघर्ष की माँग में कहाँ ठहर सकेगी ? अतः इस तथा कथित नूतन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी हमारा काम नहीं चल सकेगा। हमें तो, युग-विशेष में मानव-मन ने चिंतन और भावना की दिशा में अपने को किस रूप में अभिव्यक्त किया है और उससे हमें क्या उपलब्धि हुई है, इसे ही सम्मुख रख कर साहित्यिक प्रगति की परीक्षा करनी होगी। किसी वाद (चाहे वह राष्ट्रवाद ही क्यों न हो) के चश्मे से देखने पर साहित्य की स्वच्छन्द गति दृष्टि से ओझल हो सकती है। यद्यपि साहित्य एक अखंड परम्परा है और उसको काल-विभाजन से खंडित करना उसकी अखंडता का निषेध है, तो भी यह मानना पड़ेगा कि मानव-मन की धारा एक समय में किसी एक भाव को ही मुख्य रूप से बार-बार मुखरित करती है। अत प्रवृत्ति-विशेष के आधार पर काल-विभाजन का विचार वैज्ञानिक ही कहा जा सकता है। प० रामचद्र शुक्ल ने इतिहास में प्रवृत्ति-विशेष के अनुसार काल-विभाजन की जो परिपाटी प्रारम्भ की, उसका इसीलिए परित्याग नहीं होना चाहिए कि वह पुरानी हो गयी है—बहुत पिट चुकी है। इतिहासकार बिखरे हुए तथ्यों को बटोरते समय अपने दृष्टिकोण को पृथक् नहीं रख पाता। समाज, राजनीति संस्कृति सभी के प्रति उसका अपना दृष्टिकोण होता है, जो इतिहास में सहज ही प्रतिबिंबित हो जाता। हम उससे तटस्थता की अपेक्षा भी नहीं रख सकते।

हिंदी में अनेक पिष्टपेषित इतिहासों से हिंदी-साहित्य के आदिकाल से ले कर आज तक की प्रगति का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिए काशी की प्रमुख शोध-संस्था—नागरी प्रचारिणी सभा ने हिंदी-साहित्य के बृहत् इतिहास की एक योजना तैयार की है। यह इतिहास सत्रह भागों में विभाजित किया जाएगा। प्रत्येक भाग का सम्पादन हिंदी का प्रसिद्ध व्यक्ति करेगा। 'इतिहास' का विभाजन इस प्रकार है—

प्रथम भाग—हिंदी-साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका।

द्वितीय भाग—हिंदी-भाषा का विकास।

तृतीय भाग—हिंदी-साहित्य का उदय और विकास विक्रम संवत् १४०० तक।

चतुर्थ भाग—भक्ति काल निर्गुण-भक्ति संवत् १४०० से १७०० वि० तक।

पंचम भाग—भक्ति काल, सगुण भक्ति स० १४०० से १७०० तक।

षष्ठ भाग—शृंगार काल-रीतिबद्ध स० १७०० से १९०० तक।

सप्तम भाग—शृंगार काल-रीति मुक्त स० १७०० से १९०० तक।

अष्टम भाग—हिंदी-साहित्य का अभ्युत्थान—भारतेन्दु काल १९०० से १९५० वि० तक।

नवम भाग—हिंदी-साहित्य का परिष्कार—द्विवेदी-काल १९५० से १९७५ तक।

दशम भाग—हिंदी-साहित्य का उत्कर्ष काल—काव्य स० १९७५ से १९९५ तक।

एकादश भाग—हिंदी-साहित्य का उत्कर्ष काल—नाटक १९७५ से १९९५ तक।

द्वादश भाग—हिंदी-साहित्य का उत्कर्ष काल—उपन्यास, कथा, आख्यायिका स० १९७५ से १९९५ तक।

त्रयोदश भाग—हिंदी-साहित्य का उत्कर्ष काल—समालोचना, निबंध स० १९७५ से १९९५ तक।

चतुर्दश भाग—हिंदी-साहित्य का अद्यतन काल संवत् १९९५ से २०१० तक।

पंचदश भाग—हिंदी-शास्त्र तथा विज्ञान।

षोडश भाग—हिंदी का लोक-साहित्य।

सप्तदश भाग—हिंदी का उन्नयन।

सम्पूर्ण इतिहास रायल साइज़ के ६८०० पृष्ठो में समाप्त होगा और उस पर २,४८,५९० रुपये व्यय होने का अनुमान है। केन्द्रीय शासन ने ५० हज़ार रुपये का अनुदान इसी कार्य के लिए प्रदान किया है। सभा के कार्यकर्त्ताओ का विश्वास है कि पाँच वर्षों में यह कार्य सम्पन्न हो सकेगा। हिंदी-साहित्य की व्यापकता को देखते हुए बृहत् इतिहास की नितान्त आवश्यकता थी। इसकी बहुत-सी रूप-रेखा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास से मिलती-जुलती है। विभिन्न कालो का विभाजन सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियो के आधार पर किया गया है। इतिहास-निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्य-शास्त्रीय होगा।

इसमें लोक-साहित्य पर भी एक खंड रखा गया है। तथा शास्त्र एवं विज्ञान की कृतियो पर भी विचार करने की योजना है। इस तरह, साहित्य को ललित वाङ्मय की परिधि से मुक्त कर दिया गया है। हिंदी-साहित्य के इस बृहत् इतिहास में हिंदी को प्रभावित करने वाली देश-भाषाओ की प्रवृत्तियो का भी सिंहावलोकन होता, तो हिंदी-साहित्य की प्रगति को समझने में अधिक सुविधा होती। सभव है, आनुषगिक रूप से यह कार्य सम्पन्न हो जाए। इसमें सदेह नही, नागरी प्रचारिणी सभा का यह प्रयत्न अभिनदनीय और अनुकरणीय है। यह ग्रथ 'इन्साइक्लोपीडिया' का काम देगा और एक बड़े अभाव की पूर्ति करेगा।

गिरिजाकुमार माथुर | सूरज का पहिया

मन के विश्वास का यह सोन-चक्र रुके नहीं
जीवन की पियरी केसर कभी चुके नहीं

उम्र रहे झलमल
ज्यों सूरज की तश्तरी
ढल पर विगत के
उगे भविष्य सदली
आंखों में धूप लाल
छाप उन ओठों की
जिसके तन रोओं में
चंदरिमा की कली

छांह में बरौनियों के चांद कभी थके नहीं
जीवन की पियरी केसर कभी चुके नहीं

मन में विश्वास
भूमि में ज्यों अगार रहे
अगरई नज़रों में
ज्यों अलोप प्यार रहे

पानी में धरा गया
जल में बयार रहे
इस विचार बीज की
फसल बार बार रहे

मन में संघर्ष फांस गड़ कर भी दुखे नहीं
जीवन की पियरी केसर कभी चुके नहीं

आगम के पंथ मिले
रांगोली रंग भरे
सतिए-सी मंज़िल पर
जन-भविष्य दीप धरे
आस्था चमेली पर
न धूरी सांझ घिरे
उम्र महागीत बने
सदियों में गूंज भरे

पांव में अनीति के मनुष्य कभी झुके नहीं
जीवन की पियरी केसर कभी चुके नहीं।

कृष्णा सोबती | कुछ नहीं, कोई नहीं

रूप,

मर कर मर जाने से बड़ा कोई दूसरा मरना नहीं होता। बार-बार सोचती हूँ, दिन में सौ बार सोचती हूँ, और यही सोच-सोच कर तुम्हें लिखने बैठ गयी हूँ।

क्या लिखूंगी, नहीं जानती। बस एक ही बात मन में उठ आती है, कि मरना सचमुच में मर जाना होता है। न तन रहता है, न राग, न अनुराग......अपने आपको देखती हूँ और रो देती हूँ। रुलाई के ऐसे ही क्षणों में ये गीली आँखें तुम्हें याद कर लायी हैं।

रूप, अब आनन्द नहीं, मैं ही रह गयी हूँ। महीने भर की छोटी-सी बीमारी में आनन्द में जो आनन्द का था, मेरा था, वह सब चुक गया, सब मर गया।

अब न कभी वे दो आँखें यह आँखें देखेंगी, अब न कभी वे बाहें इन बाँहों को छूएंगी, न कभी वह मीठी देह मुझ पर प्यार बरसाएगी, जिसके लिए तन-मन की पानी उतार मैं एक दिन तुम्हारी गृहस्थी लाँघ आयी थी।

रूप, मन नहीं होता, कि तुम्हें यह सब लिखूं। उस अभागी साँझ को, साँझ की कृतघ्नता को याद कर तुमसे कुछ कहूँ।

उस दिन जो इस झोली में डाल कर तुम्हारे घर से निकली थी, आज वह सब आनन्द के साथ ही धूल हो गया है, फूल हो गया है। ओट उह जाने से उन दस वर्षों का इतिहास प्यासे बादल के बदरंग टुकड़ों की तरह जैसे मिट-मिटा कर शून्य में बिखर गया है। पीछे लौटती हूँ, आगे टटोलती हूँ, कुछ देख नहीं पाती हूँ, कुछ छू नहीं पाती हूँ, केवल आँखें पोंछती हूँ।

तुम्हारे साथ घर बसा ही लिया था, तो इस तिपर में मैं क्या लेने आ गयी थी। लिखते-लिखते झिझक कर रुक आयी हूँ रूप, यह सोच कर नहीं, कि तुम्हें क्या लिख रही हूँ, यह सोच कर कि तुम इसे पढ़ कर मुझे कितना कृतघ्न, कितना हीन समझोगे। मैं ही कब जानती थी कि एक दिन तुम्हीं से यह कहूँगी—तुम्हीं को यह लिखूँगी।

पिछले पहर कुर्सी पर बैठे ऊँघ रही थी कि घरघराता-सा गले में उठता आनन्द का स्वर सुन कर उठ बैठी। "मीनू विनी...मी..नू..."

पुकार की-सी आवाज लगती थी। उठ कर पास आयी। बेसुधी की नींद थी। छूने के लिए हाथ बढ़ाते-बढ़ाते रुक गयी। उस क्षण बस यही लगा कि आनन्द आनन्द नहीं...मैं...मैं नहीं, और यह कमरा, रूप, तुम्हारे कमरे से जरा दूर हट कर है, जहाँ मैं घर की स्वामिनी की तरह नहीं से पहले बीमार पड़े मेहमान को देखने चली आयी हूँ। पर नहीं रूप, बीत गये दस वर्षों को किसी भी तरह एक क्षण बना कर अपने को झुठलाया नहीं जा सकता।

घड़ी का घंटा बजा, तो यही सोच कर रह गयी कि इस रात के अँधियारे में मुझे तुम्हारे और अपने पुराने घर की पहचान करने में बहुत देर हो गया। बहुत—दस वर्षों के सीली लम्बे क्षणों में से याद आता एक वही क्षण, वहीं पर वहीं से लौट आएगा!

रूप, सुबह डाक्टर मेहता लम्बी जाँच के बाद कमरे से बाहर आये, तो अनुभवी डाक्टरी चेहरे पर न जाने कैसी ढीली निराशा थी।

"आनन्द कैसे हैं डाक्टर!"

"जी बड़ा करो, सिवा बहिन।"

मैं अनभीगी आवाज में पूछती हूँ—"डाक्टर, आनन्द कब तक रह सकेंगे?"

डाक्टर आश्चर्य और सहानुभूति से क्षण भर देखते रहे, फिर कुछ पढ़ कर सुनाने वाली आवाज में बोले, "दस बारह घंटे और।"

मैं जैसे अपने-आप से कहती हूँ, "तब तक क्या बच्चे पहुँच सकेंगे?"

इसका जवाब फिर डाक्टर नहीं दे सके। उनसे आनन्द के पास जाने की प्रार्थना कर मैं रसोई घर की ओर चली गयी। रसोइये को नाश्ते का सामान दिया, वह सब बनाने को कहा, जो आनन्द को भाता रहा था और घर-भर के कमरे, बरामदे, दालानों को देखती हुई अपने कमरे में पहुँच गयी। किसी अपरिचित की तरह एक नजर देखा, कीमती परदे, भारी फर्नीचर, बढ़िया कार्पेट .. इन सब के बीच खड़ी केवल मैं ही हल्की लगती थी।

बच्चे आ गए। उन्हें लेने बरामदे में पहुँची, तो अपरिचित के संकोच ने जैसे क्षण भर को पैर बाँध दिये। एकाएक कहने को कुछ भी ढूँढ नहीं पायी। आनन्द का बेटा और बेटी। "आओ, मीनू!" आनन्द की सी ही आवाज थी यह! सुन कर, मानो व्यवहार ने मुझे उबार लिया।

बेटी का घेर कर कहा, "आओ मीनू, विनय..." "पापा कहाँ हैं?" विनय ने कहा।

आनन्द के बेटे का वह पहला ठंडा स्वर सुन कर कुछ ठिठकी, फिर सम्भल कर कहा, "नींद में थे, अभी देख कर आती हूँ। डाक्टर पास ही हैं, तब तक मुँह हाथ धो [illegible] कर लो।" कमरे में सामान डलवाने की आज्ञा दे कर मैं रसोई घर की ओर चली।

खाने के कमरे में दोनों बहन-भाई को एक साथ बैठे देख, मन में आया कि बच्चे होने के नाते जिनके पिता का यह घर है, उन्हें मैं किस अधिकार से अब तक वंचित किए बैठी थी! आनन्द कितनी बार आग्रह से बच्चों के लिए कुछ कहते-कहते रुक

छूती, तो कुछ ऐसा लगता कि कहीं कोई दुराव नहीं, सभी कुछ सगा है अपना है। रूप लिखते-लिखते हाथ रुक आया था। उन दिनों वाले अपनेपन को खो कर किसी और का अपना कहने की साध भरे भाग में फिर कभी नहीं आयी। नीले पर्दा वाली खिड़कियों से हाथ टेके तुम्हारे उस गंभीर मुख को आज वर्षों बाद भी मैं बिलकुल उसी तरह देख पा रही हूँ। तुम्हारे उतरे हुए विवश से चेहरे पर कुछ ऐसी छटपटाहट लगती थी, जैसे मेरे धूल में मिल जाने से पहले तुम स्वयं ही मेरी लज्जा से जल जाना चाहते हो। रूप, उलाहना नहीं दे रही हूँ, उस तुम्हारे गहरे दर्द का एक क्षण भी अगर उस शाम कुछ और हो कर मुझ तक पहुँचता, तो अपनी सारी निर्लज्जता समेट मैं तुम्हारे पाँवों पर लोट जाती। एक बार तुम अपना अधिकार तो परखते! भले ही अपने हाथों मेरी मिट्टी कर डालते! पर नहीं रूप जो दुर्गति मेरे भाग्य में लिखी थी, उससे तुम ही मुझे क्यों कर उबार लेते!

उस रात सोने के कमरे में बैठे-बैठे आशंका से, भय से, तुम्हारी राह ताकती रही। नित्य की तरह नौकर पानी रखने आया तो जाने क्यों घर की स्वामिनी की तरह उसकी ओर देख नहीं पायी। सन्देह का एक पल आता था और हिला-हिला कर लौट जाता था। द्वार पर पड़े पर्दे की ओर देखती रही, अभी तुम्हारा हाथ इधर बढ़ेगा और फिर मेरी उस कृतघ्नता की ओर, और फिर...फिर!

दो का घंटा बजा, उठी, और कई पल साथ बिछी शय्या पर पड़े तुम्हारे सिरहानों की ओर देखती चली गयी। न कहीं तुम्हारे घुंघराले बाल दीखे, न तुम रूप और न प्यार सहेजती तुम्हारी बाँहें!

मुझे उस रात कुछ नहीं सूझता था। बस एक आनन्द दीखते थे। पास, बिलकुल पास, उन नर्म सिर ... रों पर भी। रूप आज तक भी नहीं जानती हूँ, उस रात तुम क्या करते रहे थे, पर आनन्द के लिए रो रो कर अधकच्ची नींद में कुछ ऐसा ही दीखा था कि तुम खोए-से, टूटे से मेरे कमरे की दहलीज पर पत्थर बने खड़े हो, और मैं उस दिन जैसे तुम्हारे कड़ेपन की चट्टान पर से हो-हो कर बहती थी—आनन्द की ओर। सुबह आँखें खोलने से पहले एक छोटे-से क्षण को लगा कि आनन्द मुझ पर झुके हैं, पर मुझे घेरती हुई बाँहें आनन्द की नहीं, तुम्हारी हैं! आज तक भी भूली नहीं हूँ कि उस रात आनन्द के लिए रोती थी, पर तुम्हें पुकारती थी, रूप! जब तुम्हारे साथ बीत गये अपने प्यार को रोती थी, तो भर-भर आते कंठ से बस यही कहती थी—आनन्द, नन्दी!

सुबह उठी। सिरहाने पर तुम्हारा पत्र था। पढ़ते पढ़ते कई बार आँखों से लगाया। जान गयी कि इसी में मेरी और आनन्द की मुक्ति है। पर वह मुक्ति मुझ तक कैसे पहुँची थी रूप, यह सोचने की सुधि उस दिन मुझे नहीं थी। तुम्हारा वह संक्षिप्त-सा पत्र, "आनन्द को बुला दिया है, आते ही होंगे। शिमला जा रहा हूँ, जाने से पहले घर की संभाल ठाकुर को दे जाना! और बस!"

रूप, तुमने आनन्द को बुला दिया था। उनके आने में देर नहीं हुई। अन्तिम बार उस घर से निकली, तो तालियों का गुच्छा बूढ़े ठाकुर की ओर बढ़ाते-बढ़ाते कण्ठ रुँध गया। यह मैं क्या कर रही हूँ? इस घर की संभाल ठाकुर को सौंपती हूँ, पर अपनी सँभाल?

रूप, इतने वर्षों बाद आज तुमसे झूठ नहीं कहूँगी। पल-भर को ठाकुर की विस्मय भरी आँखें किसी काली लीक की तरह दीख पड़ीं। लगा, कि मुझे इन्हें सौंपना नहीं है नहीं सौंपना है! खड़े-खड़े अवश हाथों से गुच्छा फर्श पर जा गिरा! ठाकुर ने झुक कर उठाया और सगेपन से कहा, "बहू रानी एक भण्डार की ताली दिए जातीं,

अगले दिन कपड़ो में लगी रही। विनय को साथ लिये ढेर-सा सामान खरीदा। सिलवाने के लिए दरजी बुलवाया और स्वयं भी उनमें जुटी रही। कोई भारी आयोजन दीखता था। बिछौने गद्दे, कम्बल, दिल चाहता था, सब कुछ दे दूं। घर का घर दान कर दूं।

अगले दिन कपड़ो की बड़ी आलमारी खाली, और एक एक करके साड़ियाँ फर्श पर डालने लगी। विस्मित सी मीनू पास आयी और बोली, "इनका क्या होगा ? यह भी दे दी जाएँगी ?"

"इतनी कीमती साड़ियाँ !"

मीनू की ओर बिना देखे सूखे गले से कहा, "अब इनका और क्या होगा ! समय ही चूक गया।"

दुपहर ढलते-ढलते अगणित बच्चों में कपड़े बँट गये। अनाथ बच्चों के अनाथ चेहरे कपड़ो पर झुकते थे और टुकर-टुकर मेरी ओर देखते थे। पास खड़े विनय को आशा के-से स्वर में बोली—

"विनय छोटी वाली आलमारी से दो-चार सौ छुटे रुपये निकाल लाओ और मीनू, भाई से ले कर सबको पाँच-पाँच, दस दस, देती जाओ।

रुपये बाँटते बहन भाई को देखती रही। पराये होने की निर्दयता से मन में सोचा कि ये दोनो भी अनाथो की पंक्ति से अलग नही। जब मैं ही इनकी कुछ नही होती हूँ।

रूप, आगे कुछ सोचा नही गया। कंठ भर आया। कठिनता से अपने को सँभाल बच्चो को भोजन परोसने लगी।

रूप, जैसे चलते-चलते अनायास दुर्भाग्य हाथ लग जाता है, वैसे ही अगर कभी सौभाग्य की छाँह भी पकड़ में आ पाती ! पर अब मुझे ही किसके लिये आस बाँधनी है। कोई आगे नही, पीछे नही। तुम्हारी और अपने बच्चो के लिए चाहती हूँ, न रोऊँ पर मीनू को देखते ही जी का दिलासा बह जाता है। वह होती, अगर होती तो मैं...। नही रूप, उसके न होने से ही तो आज इतनी-सी लज्जा बची रह सकी है कि तुम्हारा नाम ले ले कर तुम्हें सब लिखती चली गयी हूँ। उसी की बिछुड़ी ममता जैसे उमड़-उमड़ कर बहती है, "रूप ! रूप !"

पर रूप, आज तो मैं तुम्हारी कुछ नहीं हूँ।

आनन्द के बच्चो को आनन्द का सब कुछ सौंप कर तीन-चार दिन में यहाँ से चली जाऊँगी। फिर न कभी यह घर देखूँगी, न घर का सामान, न सामान से लिपटी अतीत की स्मृतियाँ। कहाँ रहूँगी, कहाँ जाऊँगी, कुछ पता नही। रूप, अब किसे आज जानना है, मैं कहाँ हूँ—मैं क्या हूँ ! मैं किसी की कुछ नही हूँ—कोई नही हूँ।

ǫǫǫ

यान है, आकार के क्षेत्र एवं प्रक्रिया के स्वरूप में वे सर्वथा वर्जनशील हैं। यह आन्तरिक विरोध ही कबीर के सबंध में होने वाले विवाद का मूलकारण है। उनके साहित्य की सबसे बड़ी असगति यही है। परन्तु इसके साथ ही एक बड़ा प्रमुख तथ्य और है, कि निरक्षर होने के कारण उन्हें विविध शास्त्रों के जटिल विधाना और नाना मतमतान्तरों की दार्शनिक भूल भुलैया में न उलझना पड़ा था। वे सच्चे अर्थ में साधक, जिज्ञासु और भक्त थे। उस युग के दो कोटि के संतों—लोकवेद-पंथी एवं अनभी साँच पंथी—में वे दूसरी कोटि के थे। इसी कारण नाना विरोधी स्वरों के भीतर से निकल कर भी प्रत्यक्ष अनुभव, आत्मविचार और गहन चिन्तन के फलस्वरूप उनकी साधना-पद्धति का एक स्पष्ट और सुव्यवस्थित स्वरूप हमें उपलब्ध होता है।

इस निबंध में हमें कबीर के राम को भारतीय उपासना की पृष्ठभूमि में रख कर देखना है। भारतीय विचारधारा के पंडितों का मत है कि कर्मफलवाद अनार्य चिन्तन की देन है। कर्मफलवाद के स्वीकार कर लिये जाने पर चिन्तन-प्रवण मनीषा ने दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए जगत का अध्ययन न करके आत्मा का ध्यान प्रारंभ किया। आत्मा के स्वरूप, उसकी अवस्था एवं लक्ष्य पर विचार होने लगा। हम यह जाँचने लगे कि यह वचन है अथवा साँचमात्र ही। बौद्धों के अनात्मवाद ने आगे चल कर इस प्रकार की परीक्षा एवं तर्कों को बड़ा बल दिया। अस्तु हमने यह स्वीकार किया कि यह वास्तव में बचन ही है साँच नहीं, अज्ञान अथवा अविद्या के कारण यह साँच प्रतीत होता है। इस अज्ञानता का भी कारण गुण माना गया। अतः गुणातीत अवस्था लाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए विद्वानों ने अपरोक्ष ज्ञान की आवश्यकता बतलायी। ज्ञानी न कहा कि प्रत्यय की आवृत्ति होनी चाहिए। विद्यारण्य स्वामी ने माण्डूक्य, केन, प्रश्न आदि उपनिषदों के आधार पर यह हठपूर्वक सिद्ध करने की चेष्टा की कि अद्वैत अथवा निर्गुण उपासना का विषय हो सकता है—

निर्गुण ब्रह्म तत्वस्य न ह्युपास्तेर संभवः।
सगुण ब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्ति सभवात्॥
अवाङमनसगम्य तन्नोपास्योमितिचेत्तदा।
अवाङमनसगम्यस्य वेदन न च सभवेत॥
(पचदशी, ९–५५, ५६)

परन्तु मध्ययुग के एक अन्य उत्कृष्ट विद्वान् प० मधुसूदन सरस्वती ने पचदशी की इस अद्वैत साधना का खडन किया। उन्होंने भगवान् के अनुग्रहकारी रूप की उपासना को स्वीकार किया। मधुसूदन सरस्वती ने कहा है—

एवं च एतस्य चतुर्मुख
चतुर्भुजस्य भक्तानां अनुग्रहार्थं।

विद्वानों ने कबीर को निर्गुणोपासक बनाते हुए उसका औचित्य पंचदशीकार विद्यारण्यस्वामी के कथन द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की है। परन्तु जैसा कि पूर्व ही श्री मधुसूदन सरस्वती इसका खडन कर चुके हैं, निर्गुण की उपासना और भक्ति संभव नहीं है। कबीर भी निर्गुण की उपासना केवल कहते भर हैं, पर करते उपासना सगुण की ही हैं। सिद्धान्त में कबीर निर्गुणोपासक हैं, व्यवहार में नहीं। कहते हैं, ऐसा ही आन्तरिक विरोध टाल्स्टाय में भी पाया जाता है। उनके उपदेश, नीति आदि आदर्शों और कलात्मक कृतियों के मध्य सामंजस्य की रेखा बैठाना किंचित् कठिन है।

बहुधा लोग अवतारवाद को सगुण का पर्याय मान लेते हैं पर वास्तव में अवतार को न मान कर भी त्रिगुणों से युक्त कर देने पर ब्रह्म सगुण हो जाता है। कबीर ने क्षमा, दया, भक्तवत्सलता आदि अनेक गुणों का उस पर आरोप कर दिया है। उनका राम भक्त के दुःखों को भली-भाँति जानता है—

भगति का दुख राम जानें कहै दास कबीर ।

कबीर अवतारवाद को नहीं मानते, मूर्तिपूजा उसके प्रत्यक्ष स्वरूप में नहीं करते, परन्तु मूर्ति के स्थान पर गुरु को उन्होंने अवश्य लिया है ।

मनोविज्ञान भी कहता है कि जब तक हमारे निकट कोई स्पष्ट स्वरूप न हो रति पुष्ट नहीं हो सकती । अथा स्वरूप की स्पष्ट कल्पना नहीं कर पाता इसी कारण उसकी रति पुष्ट नहीं होती । अत निर्गुण साधक जिस किसी भी समय राम के शुष्क क्षेत्र से भक्ति की रागात्मिका भूमि पर आते हैं, उसी समय वे सगुणवादियों की सारी विधियों को ले लेते हैं एवं ब्रह्म को गुणयुक्त बना डालते हैं । प्रत्येक ज्ञानी अथवा योगी ने भक्ति की उल्लास और आवेशमयी स्थिति में ऐसा ही किया है । पचेन्द्रियों के लिए रूप-कल्पना आवश्यक है । कबीर ने कहा है —

जिहि घट प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहिं राम ।
ते नर इस संसार में, उपजि बए बेकाम ।।

इस प्रीति प्रेमरस के स्थायित्व के लिए राम में रूप और गुण की प्रतिष्ठा अनिवार्य होती है । इसके अतिरिक्त भक्ति के आश्रय और आलबन की आव श्यकता होती है, ब्रह्म भी 'एकाकी न रमते' । कबीर ने भी उसकी गुरु पिता माता, पति आदि रूपों में कल्पना की है ।

यही पर एक बात मैं और कह देना चाहता हूँ कि पति-रूप में उपासना कबीर पर सूफी प्रभाव नहीं है, बल्कि वह विशुद्ध रूप से भारतीय है । जो बात सात्वतागमों एव शैवागमो में प्रतीक रूप में थी, वही सहजिया सम्प्रदाय में वस्तु रूप से आ गयी । वैष्णव काव्य पर शृंगाररस का प्रभाव सहजिया सम्प्रदाय की देन है, जिसे बाद में चैतन्य महाप्रभु ने शास्त्रीय स्वरूप दे दिया । कबीर पर उसी पर-म्परा का प्रभाव है, उसका रहस्यवाद भारतीय नारी का आदर्श है, ईरान का इश्क नहीं ।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं श्री पुरुषोत्तम श्रीवास्तव, प्रभृति विद्वानों ने निर्गुण उपासना का समर्थन करते हुए पचदशी का भी तर्क दिया है कि यदि निर्गुण भक्ति और उपासना का विषय नहीं तो फिर वह ज्ञान का भी विषय नहीं हो सकता । पर हमें यहाँ पर एक सूक्ष्म अन्तर को दृष्टि में रखना है, अद्वैत साधना मे मन को मारना होता है परन्तु भक्ति मे एक केन्द्र पर लगाना होता है । ज्ञान बुद्धि का विषय है, मस्तिष्क से सबधित है तभी तो महावाक्य चिन्तन के साथ विचार का महत्व आचार्य द्विवेदी ने भी स्वीकार किया है, और यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि विचार और चिंतन का सम्बन्ध मस्तिष्क और बुद्धि से ही है । पर भक्ति का सम्बन्ध अनुरक्ति से है, 'भक्ति परानुरक्ति-रीश्वरे' अनुरक्ति का सबध राग से है एव रागात्मिका वृत्ति हृदय की अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति है । बुद्धि विश्लेषण-प्रवण होती है और राग सश्लेषण-प्रवण एव समन्वयवादी । बुद्धि के द्वारा किन्हीं तत्त्वों की छानबीन करते हुए ज्ञान की कोटि तक पहुँचा जा सकता है परन्तु भक्ति में मन को एक केन्द्र पर स्थिर करना होता है । गीता म भगवान् कृष्ण ने कहा है —

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काक्षति
सम. सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिम् लभते पराम् ।

इसका भी यही तात्पर्य है कि जब व्यक्ति चारो ओर से मन हटा कर समस्त आकाक्षाओं को त्याग कर सब भूतों को समान भाव से देखता है तभी वह पराभक्ति को प्राप्त करता है । अत एक केन्द्र की ओर सकेत इस ब्रह्म भूत के लक्षण में भी है । नारद-भक्ति-सूत्र में भी कहा है, "यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ।"

कबीर ने स्थल-स्थल पर रामनाम की महिमा बड़े जोर से गायी है । 'सुमिरण को अग तो पूरा इसी महिमा के गान के लिए है । कबीर कहते है कि ब्रह्मा और महेश्वर कह गये, और मै भी कहे जाता

है, कि एक रामनाम ही सार-वस्तु है। 'सुमिरन ही सार है बाकी सब तो जंजाल है।' और कहाँ तक कहा जाए रामनाम से विमुख व्यक्ति तो वेश्या के पुत्र की भाँति है। अतः कबीर साहब का स्पष्ट मत है कि राम (निर्गुण ?) के अमृत गुण गा कर उसे रिझा ले।

कबीर राम रिझाइ ले मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूं जोडि मन सधे सधि मिलाइ॥

कबीर द्वारा बहुसमर्थित यह नामजप भी सर्वथा सगुणोपासना का ही द्योतक है। ऊपर वाली साखी में तो स्पष्ट रूप से राम के अमृत गुण गाने की सिफारिश है। नामजप में भी स्वरूप की प्रतिष्ठा मनोविज्ञान के भी अनुसार अनिवार्य है। मन को राम की ओर उन्मुख करने में किसी-न-किसी प्रकार की आकृति और गुण की कल्पना करनी ही होगी, अन्यथा कौन किसके सम्मुख जप करेगा ! कबीर ने एक स्थल पर बड़े ही मार्मिक ढंग से कहा है—

पच सगी पिव पिव करे, घटाजु सुमिरे मन्न।
आयी सुति कबीर की, पाया राम रतन्न॥

'राम रतन' को एक निश्चित आकार अथवा गुण देने पर ही पंचेन्द्रियाँ पिव-पिव की रट लगाएँगी।

निर्गुणपंथी और भक्त में एक भेद और भी है—निर्गुनिया कहता है, कि विराट् तू इसी शरीर में समा जा, परन्तु भक्त कहेगा—प्रभु, मैं भी तेरे विराट् राज्य में हूँ। कबीर तो उसके विराट् राज्य की सबसे हीन प्रजा बन जाते है—

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जयडो, जित खेंचे तित जाउँ॥

एक उसे स्पष्ट रूप से विराट् में परिव्याप्त बनाते हैं—

प्यंड ब्रह्मड कथं सब कोई,
वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मड छोड़ि जे कहिए,
कहै कबीर हरि सोई॥

निर्गुण राम के समर्थन के सिलसिले में आचार्य द्विवेदी ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन उद्धृत किया है; पर उसी कथन के द्वारा हमारे विचार से निर्गुण का प्रत्याख्यान हो जाता है। कथन यों है—"कुछ लोग कहते है कि उपासना में प्रार्थना का कोई स्थान नहीं, उपासना मात्र ध्यान है—ईश्वर के स्वरूप को मन-ही-मन उपलब्ध करना है। यह बात मैं स्वीकार कर लेता, यदि जगत् में मैं अपनी इच्छा का कोई प्रकाश न देख पाता। हम लोहे से प्रार्थना नहीं करते, पत्थर से प्रार्थना नहीं करते—उसी के निकट अपनी प्रार्थना प्रकट करते हैं, जिसमें इच्छा-वृत्ति हो।" निर्विकार ईश्वर पर इच्छा-गुण का आरोप स्पष्ट रूप से इस कथन से हो जाता है। मैं नहीं समझता, सगुणवाद का इससे अधिक समर्थन क्या हो सकता है ! यह तो हुई व्यवहार-पक्ष की बात अब उनके सिद्धान्त-पक्ष के निर्गुण के बारे में विचार कर लेना चाहिए। कबीर का निर्गुण वास्तव में नकारात्मक नहीं है, वह नागार्जुन के शून्य की भाँति किन्हीं अंशों तक नकारात्मक है। 'भाव-अभाव विहूना' भावाभावविनिर्मुक्त। वह परात्पर और सर्वव्यापी भी है। 'खालिक खलक और खलक खालिक' है। यह सर्वव्यापकता यह भी पता नहीं लगने देती 'सुनु सखि पिउ महि जिउ बसै, जिउ महि बसै कि पीउ'। एक जगह उन्होंने कहा है—

बाहर कहौं तो सतगुरु लाजै,
भीतर कहौं तो झूठा लो।
बाहर भीतर सकल निरन्तर
गुरु परतापे दीठा लो॥

यदि यहीं पर हम कबीर के इस निर्गुण (?) की भक्ति के संबंध में भी विचार कर ले तो सम्भवतः अधिक अप्रासंगिक न होगा। यह तो निर्विवाद ही है कि वे भक्त थे। प्राचीन समय में नाभादास ने

उन्हें भक्त मान कर ही भक्तमाल में पिरोया था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "कबीर दास का यह भक्त-रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं।"

ज्ञानी की ही भाँति एकाग्रता के मार्ग के सबसे बड़े बाधक अहंकार से वे सावधान थे। तभी तो उन्होंने कहा था—

माया तजी तो का भया, मानि तजी नहिं जाइ।
मानि बड़े मुनियर गिले, मानि सबनि कौं खाइ॥

तथा इसी कारण—'मूआ मन हम जीवत देख्या'। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि व्यक्ति सारे ऐश्वर्यों, सुखोपभोग की सम्पूर्ण सज्जाओं एवं विलास के समस्त उपकरणों का त्याग कर सकता है, प्रिय एवं परिजनों को छोड़ सकता है, परन्तु अहं का परित्याग उसके लिए नितान्त दुष्कर है। मान, प्रशंसा और अहंकार उसे सदा अभिभूत कर लेते हैं।

भक्ति की व्याख्या करते हुए 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में कहा गया है—

अन्याभिलषिता शून्यं ज्ञान कर्माद्यनावृतम।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्ति सत्तमा॥

"अनुकूल भाव से भगवान् के विषय में अनुशीलन करना ही भक्ति है। यह अनुशीलन ज्ञान और कर्म से ढका हुआ नहीं होना चाहिए और न अनुशीलन करने वाले के हृदय में भगवान् की भक्ति के सिवा और कोई अभिलाषा होनी चाहिए।" नारद भक्ति-सूत्र में 'फल रूपत्वात्' होने के कारण भक्ति को कर्म ज्ञानयोगेभ्योऽप्य धिकतरा कहा गया है, क्योंकि भक्ति तो स्वयं फल है, जब कि ज्ञान, योग आदि का फल ब्रह्म है। कबीर ने भी इस निष्कामता की ओर संकेत करते हुए कहा है—

जब लगि भगति सकामता तब लगि निर्फल सेव
कहै कबीर वे क्यूं मिलें, निहकामी निज देव।

तथा अनाश्रयामाविषाणोऽनन्यता के अनुसार वे कहते हैं—

मैं गुलाम मोहिं बेंचि गुसाईं,
तनमनधन मेरा रामजी के ताईं।

अनन्यता और समर्पण की इस पराकाष्ठा में एक दशा ऐसी आती है, जब भक्त भगवान् पर अपना पूर्ण अधिकार समझने लगता है, कबीर भी इस स्थिति में आ कर कहते हैं—

नैना अंतर आवते ज्यूं ही नैन झँपेउँ।
नाँ हौं देखौं और कूं, ना तोहि देखन देउँ॥

चरम स्थिति है, जब वे कहते हैं—

कबीर रेख सिंदूर की काजर दिया न जाइ।
नैनू रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ॥

कबीर ने उस 'सात्वस्मिन् परम प्रेम रूपा' भक्ति का गुण-गान भाँति-भाँति से किया है—

भाग बिना नहिं पाइये प्रेम प्रीति की भक्ति।
बिना प्रेम नहिं भक्ति कछु, भक्ति परयो सब जक्त॥

तथा

राता माता नाम का पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का मांगे मुक्ति बलाय॥

निष्काम भक्त के लिए आत्म-विचार अत्यधिक बहुमूल्य वस्तु है। मध्य-युग के उन अप्रतिम दार्शनिक शंकराचार्य का कहना है—

यथापकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्॥

जिस प्रकार शैवाल को जल पर से एक बार हटा देने पर वह क्षण भर भी अलग नहीं रहता (तुरन्त ही फिर उसको ढँक लेता है), उसी प्रकार आत्म-

विचार-विहीन विद्वान् को भी माया फिर घेर लेती है। कबीरदास का भी मत है—

कहे कबीर जे आप बिचारे
मिटि गया आवन जाना।

अथवा

जब थै आतम तत बिचारा
तब निरबैर भया सबहिन थैं,
काम क्रोध गहि डारा।

आत्मविचार-विहीन व्यक्ति तो सूखे काठ के समान जड और अज्ञानी होता है, वह भगवान् के प्रेम-रस का अनुभव ही नहीं कर सकता।

हरिया जाणै रूखड़ा, उस पाणीं का नेह।
सूका काठन जांणई, अम्बर बरस्या मेह॥

स्पष्ट है कि कबीर निष्काम भक्त थे। उनकी साधना-प्रक्रिया सगुण मार्ग का अवलंबन करती है, परन्तु दूरदर्शी ज्ञानी होने के कारण मार्ग की बाधाओं को वे भली भांति जानते हैं और उनसे सावधान रहने के लिए आगाह भी कर देते हैं।

ooo

ओंकारनाथ श्रीवास्तव | कविताएँ

चार रुबाइयाँ

१

मत डरो
कुछ करो
और ज़िन्दा रहो
ज़िन्दगी बाँटते भी चलो;
पहनने,
ओढ़ने,
बात करने,
सभी को इसी रंग में ढाल दो।
बस यही
ज़िन्दगी
का सहज पथ है,
मित्र, इससे भटकना नहीं!

जो डरे
वे मरे
जो जिये
वे जिला कर जिये हैं सदा, जान लो।

२

नया आया तो पुराना जाएगा यह तय हुआ
जाएगा यह आप आखिरकार यह निश्चय हुआ
जान कर इसको न मारो, यह नहीं कहना पड़े
'हुआ, जो होना सभी या हो, मगर असमय हुआ।'

३

आगे वाले पीछे वालों को न बिसराएँ कहीं
पीछे वालों से यह कह दो कि रह न जाएँ कहीं
जुलूस है—यहाँ सबको ही बढ़े चलना है
अटक न जाएँ कहीं, और बह न जाएँ कहीं।

४

चार थे : कुछ मारपीट हो गयी
तीन थे : कुछ बातचीत हो गयी
दो थे : कुछ गोलमाल हो गया
एक की हमें मालूम ही नहीं।

दूर...बहुत दूर

सब कितना पीछे छूट गया
....
छोटी-छोटी बातों में दिल बहला रहना
सब कुछ रख लेना याद,
भूल सब कुछ जाना;
बे-साहस, बे-संकोच
दूर...भीड़ों में जा कर मिल जाना
अनजान कुतूहल से सबको देखना
बात करना,
खुश होना,
घबराना,
आकाश ताकना,

पलक मारते सो जाना
अब कितना पीछे छूट गया ।

शाम को
लम्बी काली सड़कों पर चलते-चलते
जब दूर कहीं बत्तियाँ दिखाई देती हैं
तब मन में ऐसी कोई बात नहीं उठती
लाओ जल्दी चल कर देखें
कोई उत्सव है ?
कोई मेला है ?
क्या है ?

उबली जानें,
उतरे मुँह,
बेईमान नज़र
को रोज़-रोज़ कोई आखिर क्यों कर देखे ?

सामने यहां जो दीख रहा
यह तो जैसे मैं देख चुका
कुछ नया नहीं
एक भी कुतूहल शेष नहीं;
वह, अभी-अभी जो बीत गया
वह तो जैसे फिर आएगा
कुछ गया नहीं,
कोई सुख या संताप नहीं ।

पीछे हटने, आगे बढ़ने
में जैसे कोई फ़र्क़ नहीं ।

अब कितना आगे दीख रहा...
छोटी छोटी बातों में दिल बहला रहना
सब कुछ रख लेना याद,
भूल सब कुछ जाना
बे-साहस, बे-संकोच
दूर...भीड़ों में जा कर मिल जाना
अनजान कुतूहल......
कितना आगे दीख रहा ।

पर मेरे बावजूद (दुहरा अस्तित्व)

यह मैं हूँ
यह सब मैं हूँ
जो कुछ तुम देख रहे हो
यह मैं हूँ ।

पश्चिम की ठंडी शहज़ोर हवाएँ;
भय खा कर सहमी कमज़ोर दिशाएँ ।

खुली हवा : पीपल पर बोल रहे काग;
साढ़े नौ : सड़कों पर व्यस्त लोग-बाग ।

दो पहियों के ऊपर रेशम झीना;
पैंडिल पर, हैंडिल पर खून पसीना ।

उच्चाकांक्षाओं की दौड़धूप तेज़;
और कहीं स्वीकृतियाँ हैरतअंगेज़ ।

शाहराह पर उठते झूठे नारे;
पेवमेंट पर रिरियाते बेचारे ।

नये शब्द, नये रूप, नये चमत्कार;
दिल के अंदर कोई बूढ़ा, बीमार ।

चाँदी के वर्कों में मीठी तदबीर
भूख प्यास चाह दाह दिन दिन गंभीर

ऊसर पर धाराधर जल मूसलधार;
उर्वर पर तम, आकाशी अत्याचार ।

यह मैं हूँ;
यह सब मैं हूँ ।
पर मेरे बावजूद
ये सब कठिनाएँ हैं
ये ऊँचे उठ जाने—
उठते ही जाने की
अथक प्रेरणाएँ हैं
ऊर्ध्वग सरिताएँ हैं
इतनी आशाएँ हैं......
ये मेरे बावजूद ।

कमलेश्वर | मेहनत की महक

एक निम्नतम वर्ग के मजदूर की कोठरी। एक ही कमरे में गृहस्थी का सभी सामान जमा है। दीवारें कच्ची हैं। कोठरी के सामने फूस का एक आधा टूटा छप्पर है, जिसको सहारा दिए दो टेढ़े-मेढ़े लट्ठ खड़े हैं। छप्पर के नीचे एक चबूतरा-सा है जो पहले गोबर से लिपता रहा है, अब बहुत दिनों से नहीं लिपा है। उसी चबूतरे के एक कोने में गोबर पड़ा है जिसके ऊपर एक पल्ला ढका है। छप्पर में ही कोठरी का दरवाजा खुलता है। जिसकी देहरी पर ५५-६० वर्षीया वृद्धा बैठी है और दरवाजे के पास ही भीतर कोठरी में २७-२८ वर्षीया युवती। वृद्धा के चेहरे पर कुछ ऐसा भाव है जैसे उसका सब कुछ लुट गया है, युवती सतुष्ट-सी है।

दूर से शहनाई की आवाज आती है। शहनाई का स्वर सुन कर वृद्धा के मुख पर पश्चात्ताप के गहरे चिह्न उभर आते हैं। युवती शहनाई सुन कर हिकारत से नजर घुमा लेती है। वृद्धा उठ कर खड़ी हो जाती है, ऊपर छप्पर की ओर हसरत से देखती है।

मां (वृद्धा)–[हताश-से स्वर में] इसी दिन के लिए नौकर-परजा आस लगाए रहते हैं, और क्या......(फिर युवती (बहू) की ओर कड़ी दृष्टि डाल कर) हवेली में पूरे चार बरस बाद तो शहनाई बजी है, शादी की दावत है, बड़े-बड़े लोग आएँगे। आज तो मुँह-माँगा मिल जाता। मालिक घर भर देते, लेकिन......

बहू–(हाथ झटकती हुई) तुम्हें तो बस पर भरने की पड़ी रहती है, चाहे इज्जत जाए या रहे। कोई चार गाली दे कर चुटकी भर चीज दे दे तो तुम्हारे लिए बहुत ...

मां–[तैश में] अरे चुटकी-चुटकी चीज से ही वंसी को इस लायक बनाया था। तेरे घर वालों से तो माँगने नहीं गयी थी। अरे, तूने तो उसकी मत हर ली है।

कान काट-काट के सिर फिरा दिया उसका। दो दिन रुक के नौकरी छोडता ? किसे आराम की नौकरी थी हवेली में। एक दिन में ऐसी कौन-सी इज्जत चली जाती थी। राजा की ताबेदारी में ही परजा की इज्जत है, उसी के पाले परजा का पेट पलता है।

बहू–ऐसे पेट पलने से तो भूखों मर जाना अच्छा है ! (कहती हुई युवती भीतर कोठरी में चली जाती है)

माँ–हाँ-हाँ, बहुत देखे हैं ऐसे, तेरे ऐसे तो . (कहती, हाथ फटकारती भीतर जैसे युवती का सामना करने घुस जाती है)

बहू–(भीतर से ही आवाज) अच्छा, मेरे पीछे मत पड़ो, जो कहना हो उन्हीं से कहना।

माँ–मैं तो तुझे ही सुनाऊँगी, जब तूने सारा स्वांग रचाया है तो और कौन सुनेगा.. हूँ ..(बडबडाती हुई तेजी से शक्ति बटोरने के लिए साँस लेती है)

कोठरी के बाहर छप्पर के पास से गुजरती हुई गली में छदामी और रामलाल आते हैं। कोठरी के भीतर दोनों स्त्रियों का बड़बड़ाना जारी है। छप्पर के सामने पहुँचते ही वृद्धा कोठरी की देहरी पर दिखाई पड़ती है।

छदामी–बसी कहीं गया है क्या, काकी ?

रामलाल–(जब तक बसी की माँ उत्तर दे, बीच ही में) काकी परनाम...

माँ–(छदामी की बात का उत्तर देते हुए अजीब तरह से भावभंगिमा बना कर कहती है) अपने-आप जाएगा, नौकरी छोडी है तो मेहनत मजूरी करेगा ही। बैठे से किसी का पेट भरा है आज तक !

छदामी–(चबूतरे पर बैठते हुए) हाँ-हाँ, सो तो हई। पर अच्छा हुआ जो ब सी ने हवेली की नौकरी छोड़ दी।

रामलाल–पर भाई, हमारे खयाल से तो...

छदामी–(बात काटते हुए) अरे, अब बड़े घरों का नाम-भर रह गया है, न पैसा रहा और न हौसला। दो दो पैसे के लिए ससुरे जान देने लगे हैं।

माँ–(व्यंग्य से) और तुम लोग तो जैसे पैसा लुटाने लगे हो न !

रामलाल–(व्यंग्य से ऊँची हँसी में हँस उठता है) हाँ, और नहीं तो क्या ?

छदामी–मुझसे पूछो, (कठोर स्वर में) मेरी महतारी जिन्दगी-भर काम करती रही हवेली में। जरूरत पड़ने पर दस पाँच रुपये ले आयी थी, उसकी वसूली आज सात बरस बाद मेरी गइया कुर्क कराके हुई है। पर है कोई अन्याय को रोकने वाला ? आदमी की हाथ पाँव की मेहनत की कीमत दस रुपल्ली से भी कम पड़ गयी ?

रामलाल बसी का रुख देख कर अपने को बदलने की चेष्टा करता हुआ एक बीड़ी सुलगाता है, एक कश खींच कर धुआँ छोड़ता हुआ बोलता है।

रामलाल–दो तो ये कहो कि बसी हवेली में था सो छदामी की गइया की जान बच गयी। जब कुरक करके हवेली में बाँधी गयी थी तो तीन दिन तक उसने नाद में मुँह नहीं डाला था। हुड़क गयी थी, आँखें निकल आयी थीं। (वह बार ऐसा मुँह बनाता है, जैसे गाय पर हुए अत्याचार की सारी पीड़ा उसके हृदय में भरी हो।)

छदामी–(रामलाल से) सुना था, कि मुंशी जी ने उसके दाम भी लगवा दिये थे, किसी चमार के हाथ बेच देने की बात थी शायद।

रामलाल–(उठते हुए) अच्छा भाई, हम तो चले।

माँ–(छदामी की बात का उत्तर देते हुए) खबरें उड़ाने वालों की भली चलायी।

रामलाल–(कुछ रुक कर) सो नहीं काकी, उन्हें तो अपने पैसे सीधे करने थे, कि गइया बाँधनी थी हवेली में ? और सबसे बड़ी बात थी छदामी पर रौब जमाने की।

माँ–(एकदम फुफकार कर) रौब जमाने को उन्हें क्या जरूरत पड़ी थी, और मा सो छदामी पर ! हूँ ..राजा-परजा की भला बराबरी होना है हूँ ..।

रामलाल–(बहुत गंभीरता पर व्यंग्य से) राजा करैं सो न्याय.. हैं . हैं . (एक क्षण रुक कर) वो तो ये कहो कि एक रात अंधेरे में वर्मा भइया जबरदस्ती छदामी को पकड़ के हवेली में सानी लगवाने ले गये, नहीं तो बिचारी भूखा मर जाती।

छदामी–बसी की जगह कोई और होता, तो चाहे माथा पटक के मर जाता, पर हवेली में पैर नहीं रखता।

रामलाल–सो तो हुई। वो तो ये कहो कि बसी ने गइया की जान रख ली, चोरी चोरी छदामी का ले जा के सानी लगवायी। अरे, गोरू-जनावर तो अपनी सेवा टहल करने वालों की महक तक पहचानते हैं ! छदामी ने सानी लगायी, तब तो उसने नाद में मुँह डाला, नहीं तो पिरान दे देती, तिनका न उठाती।

छदामी–बसी के दिल के दया-धरम ने मुझे मजबूर कर दिया, मैंने तो अपना जी कड़ा कर लिया था कि चाहे गइया जिए, चाहे मरे, पर हवेली में पैर . ।

माँ–(तिरस्कार से) दया-धरम तो आदमी, आदमी के साथ निभाता है कि जनावर-गोरू के संग। आदमी के संग अधरम करके जनावर-गोरू पै दया दिखाना सब बनावटी बातें हैं। हाँ, भला बताओ ऐन वक्त पर मालिक की नौकरी छोड़ कर बसी ने बड़ा पुन्न कमाया है न ? इस बखत हवेली में ब्याह का काम था ..तो धोखा दे आया अधरमी। मेरा बेटा है, तो क्या ? एक वो भी तो समय था, ...चार बरस पहले, जब मालिक की दूसरी शादी हुई थी, तो चढ़े बुखार में मैंने काम किया था। ये सब झोल की बातें होती हैं।

रामलाल–(आश्चर्य से) तो यह मालिक की तीसरी शादी है, ऐं ?

छदामी–और नहीं, तो क्या !

माँ–तो ऐसी कौन-सी अचरज की बात है...मालिक के दादा जी की तो सात शादियाँ हुई थीं।

छदामी–(व्यंग्य मिश्रित हास्य से) इस बुढ़ाई में भी सूझी, तो शादी की।

माँ–(जैसे कोई अधर्म की बात कानों में पड़ गयी हो) च् . च ..मरद तो मरद है, अभी कौन-सी ऐसी उमर निकल गयी, जो इस तरह की बात मुँह पर लाता है। अभी कौन-से उनके दिन ढले गये। चालीस पैंतालीस की उमर होगी। भगवान ने चाहा, तो इस बार बच्चे का अरमान......

छदामी–जब अभी तक भगवान् ने नहीं चाहा, तब .

माँ–न.. न.. उस देने वाले की बड़ी बड़ी बाहें हैं। किसे क्या मालूम, कब राई से पहाड़ हो जाए। भला बताओ, ऐसे वखत बसी की मत मारी गयी। मुझे तो बताया तक नहीं और सबेरे सीधा उठके कोयला गोदाम में मजूरी करने चला गया। पता भर लग पाता, तो खींच के ले जा के मालिक के चरनों में डाल देती। सब माफ करा लेती। हवेली की ड्योढ़ी पर बैठने में ज्यादा इज्जत थी, कि वहाँ कोयला गोदाम में मुँह काला करने में। तुम्हीं बताओ रामलाल, अपने दिल पर हाथ रख के !

छदामी–लेकिन काकी वहाँ ड्योढ़ी पर बैठा कर जिस तरह इज्जत उतारी जाती है .

रामलाल–सुबह मुंशी जी बसी से नाराज हो गये थे, वो भी तो बसी की ज्यादती।

माँ–क्या बात हुई थी....ऐं ?

रामलाल–केला काटने से इनकार किया था बसी ने, मुंशी जी ने कहा था, चार केले काट ला, पर...

छदामी–ये तो उसके विश्वास की बात थी ! दिल नहीं भरा हरा पेड काटने को, तो मना कर दिया।

माँ–हाँ, हरा पेड काटना तो निषिद्ध है भाई ! गिरधारी बनिए ने सामने वाला नीम कटवाया था, सो महीने भर बाद बड़ा लडका खून की कै करके मर गया।

रामलाल–लेकिन भगवान् की कथा के लिए काटना तो कोई पाप नहीं है, सो भी केले का पेड। हो भला !

माँ–(आँखें चीरते हुए) अच्छा केला काटने की बात थी ! हूँ, तो उसमें कौन-सा दोष था। ईसुर के पूजा-पाठ के लिए किसी करम में दोष नहीं।

छदामी–(भीतर ही भीतर सुलग कर) नौकरी और मजूरी में यही तो फरक है। मजूरी में काम ठीक देखा, तो किया, नहीं, तो नहीं। लचना तो नहीं पड़ता है, पर नौकरी में तो अच्छा-बुरा सभी काम उठाना पड़ता है, इनकार किया कि बस !

माँ–अरे, तो झुकने में कौन-सी ऐसी मरजाद चली जाती है। कोई कहीं लचता है, कोई कहीं ! मालिक ईसुर के सामने, और नौकर मालिक के सामने झुकता है। जब ईसुर के यहाँ से लचने का नियम चला आ रहा है, तब हमारी कितनी बिसात है, जो तोड लेंगे उसे, हाँ !

छदामी–(अकुला कर) नहीं तोड लेंगे, तो इसका मतलब है कि कि लाशें उठवाएँगे।

रामलाल–(एकदम चौंक कर) लाशें ...एँ ...लाश !

छदामी–(कुछ परेशान-सा इधर-उधर ताकता है, जैसे जो बात नहीं कहनी चाहिए थी, वह निकल गयी हो) मेरा मतलब है कि ...कि...मैं...

तभी पृष्ठभूमि में शहनाई का स्वर एकदम तीव्र हो उठता है। छदामी अपने को संयत करता हुआ, उठ कर खड़ा हो जाता है। धोती का फेंटा कसता है। माँ अभी तक आँख निकाले छदामी को ताक रही है, रामलाल प्रश्न का उत्तर पाने की प्रतीक्षा में है। शहनाई का स्वर पृष्ठभूमि में और तेज होता जाता है।

माँ–तू अभी जो कह रहा था छदामी, सो...

तभी चबूतरे के पास से जाती हुई गली से हवेली का नौकर चेतराम गुजरता है, जिसे देख कर रामलाल आवाज लगाता है।

रामलाल–अरवाह...चेतराम है...अरे चेता तो पहचान में नहीं आता। राम-राम चेतराम ! बडी जल्दी में हो।

चेतराम–(चलते-चलते) हाँ भई, देर हो गयी है, हवेली से पोशाकें बँटी थीं, सो बदलने घर गया था।

रामलाल–(आँखों में प्रशंसा भर कर) बडी निराली पगडी मिली है !

चेतराम–(वैसे ही आगे बढते हुए) मिलते सबको दिखाई देती है, पर दिन में कितनी बार उतारी जाती है, यह कोई नहीं देखता ! (चला जाता है)

माँ–(मुँह चिढा कर) चुनफक्कों की पगडी उतरने की बात आज ही सुनाई पडी.. हूँ।

छदामी चबूतरे से उतर कर गली में आ जाता है। शहनाई की आवाज और तेज हो जाती है।

माँ–हवेली में उत्सव शुरू हो गया, तू तो चल रहा है न रामलाल !

रामलाल–देखने तो जरूर जाऊँगा।

माँ–तो फिर चल न ! (फिर कोठरी में मुँह करके कहती हुई, जले स्वर में) सुनती हो घर की लच्छमी !

तबियत में आए, तो चबूतरा लीप डालना, तीन दिन से पड़ा गोबर सड़ रहा है।

छदामी चल देता है। माँ भरी-सी उठती है। पीछे पीछे रामलाल चबूतरे से नीचे आता है और दोनों शहनाई की आवाज सुनते हुए हवेली की ओर गली में चले जाते हैं। बंसी की पत्नी कोठरी के दरवाज़े की ओर से सबको जाते देखती है। उनके ओझल होते ही वह एक बाल्टी में पानी ले कर चबूतरे पर आती है। गोबर पर पड़े पल्ले को उठाती है और गोबर सानने लगती है, तभी गली में तीन-चार कठों का सम्मत सा शोर सुनाई पड़ता है। आने वाले सभी पुरुष कोयला गोदाम के मजदूर हैं, जिनके कपड़े आदि सभी कोयले में सने हैं।

एक—(चबूतरे के पास आते हुए) यही कोठरी है शायद !

बंसी की पत्नी अजनबी पुरुषों को देख कर घूँघट निकाल कर उधर पीठ करके अपने कार्य में लगी रहती है।

दूसरा—पूछो न इसी से, जो चबूतरा लीप रही है।

तभी दो पुरुष एक पुरुष के शरीर को अपने हाथों में उठाए हाँफते-से गली में दिखाई पड़ते हैं। एक बेहोश आदमी को वे लोग उठाए हैं। चबूतरे के निकट आते हैं, बेहोश पुरुष की बहुत थकी आवाज। वह एक बार आँखें खोल कर चबूतरे की ओर कातर दृष्टि डालता है और कराहती आवाज में कहता है।

बंसी—यही है घर मेरा.. अरे राम .

पत्नी—(लीपते से चौक कर एक दम स्वर पहचानते हुए देखती है, फिर तत्काल ही चीख पड़ती है) क्या हो गया है इन्हें...राम, मेरे .कुछ तो बताओ। (शीघ्रता से पास रखी बाल्टी में हाथ एक दम डुबो कर धोती है, फिर बंसी को लिटाने वालों का साथ देते हुए कहती जाती है) यहाँ, इधर सूखे में। मगर हुआ क्या है इन्हें !

एक—(आसानी से) कोई खास बात नहीं है, घबराओ मत। बिलकुल घबराने की बात नहीं है। (आये हुए आदमी उसी को लिटा देते हैं) ज़रा पखा करो मुँह पर, अभी होश आया जाता है।

दो एक मिनट तक बंसी को होश में लाने का उपचार होता है। बंसी आँखें खोलता है। एक बार इधर-उधर देखता है। तभी पत्नी पूछ बैठती है।

पत्नी—कहीं चोट आयी है, क्या? कुरता तो कोयले में सना है।

बंसी—हे राम ! (आँख पूरी तरह खोल कर इधर-उधर देखता है)

एक—अच्छा भाई, अब हम लोग चल रहे हैं। अब तो ठीक है बंसी ! (वह व चारों मजदूर उठने लगते हैं और एक क्षण रुक कर फिर उसे देखते हैं और चल देते हैं)

बंसी—हाँ, अब तो सफेदी दिखाई पड़ती है। (कुछ रुक कर) बोरा उठाया था, लेकर चला, तो ठोकर लगी। बस आँखों के सामने घुप अँधेरा...आह !

पत्नी इधर-उधर शरीर पर हाथ फेरने लगती है।

बंसी—अम्मा कहाँ गयी है ?

पत्नी—हवेली में..

बंसी—कोई किसी काम के लिए बुलाने आया था ?

पत्नी—हूँ...

बंसी—न जाने कैसी आदत है, हर जगह इसे कुछ मिलने का लोभ खींच ले जाता है। (कुछ क्रुद्ध स्वर में) वहाँ से नाखून का मैल तक नहीं मिलेगा। मैं सब जान चुका हूँ, कितने कमीने हैं वे लोग !

परदेशी | अवरोध

माँ ने जाने क्या सोच कर उसका नाम समरथ रख दिया था। देही में एकदम दुबला, और काया से कमजोर! स्वभाव में सीधा और भोला। चरित्र में साधारण।

सारा गाँव कहता—इस विधवा भटियारी का तो देखो, जैसे इसी के लड़का हो और सब औरतें निपूती हों! रहने को सर पर छप्पर नहीं, पेट का ठिकाना नहीं, फिर भी बेटे का नाम 'समरथ'! रखने को यही नाम मिला इसे? और भी तो बहुतेरे नाम थे? इकलौता है, तो 'अमरत' नाम रख देती, समर से अमर हो जाता! पर समरथ? गाँव के लोगों की घिसी-पुरानी बुद्धि में यह नये आचार-प्रकार का नाम कैसे समाता? सो, उन्होंने समस्या का हल निकाल लिया, और समरथ—'समा' रूप में असमर्थ बन गया।

जब बाप मरा तो समा नौ महीने का था। दो-तीन साल तो वह बीमार-बीमूर रहा, फिर चंगा हो गया और दस तक कभी सिर न दुखा उसका। बुढ़िया माँ ने किसी का पिसना पीसा, किसी के बर्तन माँजे, किसी का चौका और किसी का पानी पूरा। और यों पति की निशानी को समरथ बनाया। चौधरियों के घर से कमीज और धोती माँग लाती। छोटा-सा समरथ लम्बे आस्तीन वाला, घुटनों से नीचा कमीज पहने स्कूल जाता और हरेक साल, किसी न किसी प्रकार अगली कक्षा में बैठ जाता। अध्यापक जानते थे कि यदि समरथ फेल हो गया, तो बुढ़िया आ कर तब तक रोती रहेगी, जब तक उनका लल्ला पास न हो जाए! इस तरह समरथ उत्तीर्ण हो कर बढ़ता गया और एक दिन जब समाचार पत्र में उसकी तसवीर आ गयी तो जैसे बूढ़ा की मनोकामनाएँ मूर्त हो गयीं। बात यह

जिसका फोटो अखबार में छप चुका है, कमाई के लिए दूर परदेस—बम्बई जा रहा है! यह तो एक ऐतिहासिक घटना थी। बेचारे गँवई लोगो को तो इस अड़ाकार नाम का सही उच्चारण भी नहीं आता! न उन्होंने रेडियो सुना, जिस पर मेम हर शाम गला गुदगुदाती है—'दिस इज़ बॉम्बे कालिंग...' समरथ की इस यात्रा से गाँव के प्याले में तूफान आ गया। उत्साह की लहर व्याप्त हो गयी। और यह सारा उत्साह सारा माँ के अन्तर में समा गया और वहाँ बे-तार से उसका तत्त्वांश समरथ के मर्म पर छा गया। बम्बई का सपना सजग खड़ा हो गया—पैंतालीस लाख की आबादी वाला विराट् नगर! पन्द्रह लाख सड़क पर सोने वाले! माना फुटपाथ के इन वासियों से भी बम्बई की शान और शोभा—उसका दबदबा बढ़ता है!

चौधरी ने कहा—"भटियारी माँ, सहर क्या है, समुन्दर है। पूरा सूबा ही समझ। इन्दरपुरी है। मिट्टी भी मोल बिके है, एक आने में पाव भर!"

भटियारी माँ—समरथ की असमर्थ माँ, कुछ न समझ सकी। वह क्या जाने कि जमाना बदलने से पहले, लोगों की नीयत बदल कर मिट्टी में मिल गयी है।

फिर वे लोग आये, जो हरिद्वार या रामेश्वर की यात्रा में जब कटया कर घर लौटे थे, उन्होंने जब-कतरों से लड़के को सावधान किया। और पेन्शनर करीम खाँ ने खुदा से उसके भविष्य की दुआएँ *माँगने के साथ ही उसे उन 'फैसनवालियों से* खबरदार रहने' को कहा, 'जो बेसरम हो कर दीदे फड़कावे हैं।' वास्तव में, करीम खाँ बरसों से रँडुआ था और उसकी अतृप्त वासना आए दिन पाँच भले आदमियों के बीच उपदेश का अमृत बन कर झरती थी।

सो, उस दिन समरथ चला।

प्रान इसके पहले मिली थी। पिछवाड़े की कड़ी खोल, ठाकुरों की बाड़ी लाँघ कर, नीम-नीचे चोरी-चोरी वह आ गयी थी। समरथ के सीने से लग कर वह खूब रोयी। समरथ को भी असह्य वेदना लगी। न शब्द सूझते थे, न बोल निकलते थे। घर से जब चला था, राह भर अपनी कमजोरी को दबाता जा रहा था। पर वह टूटी हुई स्प्रिंग की तरह, ऐन वक्त पर ऊपर कर ऊपर उठ आयी! इस पर भी वह प्रान से दूरी बनाए रहा, क्योंकि पिछली बार मेहताओं के बगीचे में जब वह मिली थी, तब समरथ ने, जाने भूल से, जाने-अनजाने, देखे-अनदेखे उसके अधरों का अमृत छू लिया था। तब तो तुरन्त प्रान के प्राण जैसे उड़ गये हों—बाँह बाँहों से छुड़ा कर और पीठ उसके हाथों से हटा कर छूट गयी और फुसफुस कर अचानक सिसकने लगी। बड़ी आरजू-मिन्नत की। रूमाल से उसके आँसू पोंछे, हाथ जोड़े और मुँह पर हाथ रख कर चुप करने की कोशिश की, कि हवा भी न सुन ले।

जब काँप काँप कर समरथ रह गया और प्रेम के अँधेरे में कोई मार्ग न सूझा तो उसके मुँह से निकला—"प्रान, मुझे मरा देखे, जो कारण न बताए, क्यों रोती है?"

प्रान ने लंबी-लंबी साँस ले कर, पहले हिचकियाँ समेटीं। फिर नजरें नीची की और पलकें ढाल दीं और दोनों हाथों की अपनी उँगलियों से अपने नाखूनों को छुआते हुए लाज में बोली—"और हम पूछें, चूम कर तुमने हमें जुठला दिया और अब इससे... हम कहें, इससे हमारे...बालगोपाल हो गया, तो ..हम कहे.. नदी में हम डूब मरेंगी!"

"धत् तेरी, इसी के लिए यह बवाल मचाया था रि?" समरथ ने चौधरी की दुलारी बिटिया के मोल जमाया। बोला—"हम कहें प्रान, जो किसी नन्हे मुन्ने को चूमते हैं, तो क्या उसके बालक हो जाता है?"

लड़की लड़के के समान कुशाग्र बुद्धि नहीं थी। उसने तर्क से प्रसन्न हो गयी।

और आज पाँच वर्ष बीत गये।

भटकन, भुखमरी, बेरोजगारी! कल्पना, चिंता, भ्रम! आशा, निराशा और परेशानी! समुद्र, रेगिस्तान और दलदल!

समरथ इतना मायूस और फटेहाल दिखने लगा कि लोगों को दया आती। उसे वे सब स्थान मालूम हो गये थे, जहां मुफ्त में खाना मिल सकता है—लक्ष्मीनारायण-मंदिर-द्वार पर गुजरातिनें, पारसियों की 'अग्यारी' पर पारसिनें, और माधोबाग में मारवाड़िनें रोटी-चावल बाँटने आतीं। वह जरूरत देख कर सब जगह जाता रहता।

राहगीर एकाध इकन्नी थमा कर चले जाते। खुश हो कर वह ले लेता। सिक्के को गौर से देखता। किंग इम्परर की तसवीर से उसे भय, विस्मय और आनंद मिलता। सहेज कर वह पैसा रख लेता। जब तीन-चार-पांच रुपये हो जाते, तत्काल माँ को भेज देता।

माँ और प्रान की खुशी उस पर केंद्रित थी और उसकी खुशी सिक्के पर अंकित किंग इम्परर की छवि पर निर्भर थी। काश उसके पास इतने किंग इम्परर हो जाएँ कि वह घर—अपने घर पहुँच सके, जहाँ उसकी बुढ़िया मां है और प्रान है और है वह नीम—जिसकी छाया के नीचे हवाएँ धीरे-धीरे बहती हैं और लड़कियाँ चोरी-चोरी चलती हैं!

मनीआर्डर-फार्म पर दो पंक्तियों में कठम्य शब्द लिखना—"जल्द आऊँगा बहुत जल्द। काम ठीक चल रहा है। उन्नति की उम्मीद है। चौधरी को पौलागन।"

चर्नी रोड के प्रार्थना समाज-कॉर्नर पर अपने जिले का एक पनवाड़ी उसे मिल गया और उससे पहचान हो गयी। उसी के पते पर समरथ पत्र मँगवाता। वहीं प्रान के और माँ के लिखवाए चौधरी के पत्र पहुँचते। माँ लिखतीं—'बेटा, मुझे रुपये-पैसे नहीं चाहिए, दोनों जून भरपेट खाना और जतन से रहना। जल्द आना।"

और प्रान की तो एक ही रटन थी—"अब हम कहे, तुम आ जाओ।"......पाती हाथों में थमी है। वाइस छह आने बढ़ कर अट्ठाईस हो गये है। स्वराज्य में सब चीजें मँहगी हो गयी हैं। एक बेकारी, भुखमरी और वेश्याई ही सस्ती है। उसकी नजर पाती पर है, जिसके अक्षर वृहदाकार हो बढ़ते जा रहे हैं, बढ़ते जा रहे हैं...दिमाग कहीं और है...कोई चिबुक पर अँगुली छुआए...गैल पर आँखें लगाए बैठी है! मन और प्राण जिसके, आशा का तार बन गये हैं सपनों पर जो जी रही है...और अट्ठाईस रुपये? वह मुसकरा दिया, विक्षिप्त-सी एक हँसी उसके अधरों पर फैल गयी।

हर शनिवार वह डाकघर जा कर अपनी पत्रियाँ लाता। डाकिया उसके पते तक रेंगता हुआ आए—इतना चैन उसे नहीं था। दो-तीन मील चल कर वह अपना खत पाता। विन्डो डिलीवरी के समय से पहले ही, वह क्यू में खड़ा हो जाता। कभी उसका पत्र होता, कभी नहीं। उसके आगे-पीछे खड़े व्यक्तियों के नाम मनीआर्डर आते पर शायद पूरे पतेदारों में वही एक ऐसा था, जिसके नाम कभी मनीआर्डर नहीं आया।

प्रायः इधर-उधर बोझा ढो कर, सिनेमा की खिड़की के 'क्यू' में हो कर, कारों से उतरने वाली सुंदरियों के द्वार खोल सलाम बजा कर, फुटपाथ पर बैठ कर, फुटकल सामान बेचने वालों की सुरक्षा में गली के छोर पर दिन-भर खड़ा रह कर, इस बात का ध्यान रखता कि हलके का पुलिसमैन तो नहीं आ रहा है—उसको दूर से देखते ही वह लपक कर सौदागरों को सूचना देता, और वे अपना-अपना सामान सिर पर उठा कर आसपास के मकानों के नीचे जा खड़े होते—इन सब क्रिया-कर्म से, महीनों के अथक परिश्रम पर कुछ रुपये वह जमा कर लेता, पर जब उन्हें कल्पना के अट्ठाईस रुपयों की बराबरी में रख कर नापता, तो उसका कलेजा बैठ जाता। और इतने दिनों के उपरान्त इस समय तक, नहाने-धोने और पेट भर कर भोजन कर लेने की

लेकिन, इस बार का तूफान और उत्कापात पहले उसके सीने में उठा और पटरी से गिरी गाड़ी की तरह उसकी साँसे उलट गयी और आवेग इतने वेग से बढ़ा कि आँखें पोंछने का उसे मौका न मिला। माँ की रोती बिलखती सूरत सामने आ गयी और सामने सेन्ट्रल सिनेमा पर लगी 'श्रवण कुमार' की माँ की तसवीर में उसकी अपनी माँ का मुख उभर आता लगा—उसने स्पष्ट देखा, वह रो रही है। उसकी ओर समरथ का एक हाथ उठा, परन्तु माँ तक नहीं पहुँच पाया—वह कैसा है, जो माँ के आँसू नहीं पोंछ सकता है ? इतनी विवशता, इतनी मजबूरी ? दिन इसी तरह बीतने। शरीर की शिरा-शिरा और रोम-रोम माँ के लिए विकल हो, माँ-माँ पुकारने लगे। और वह सोचता, भोर से साँझ तक माँ का कार्य-क्रम—अब वह जगी होगी, गाय दूहती होगी। चौकरी के पानी सानी करती होगी। छिपी कहीं कोने में प्रान पूछ रही है—"माँ पत्तर आया ?"

इस प्रकार वह माँ के पीछे-पीछे फिरा करता और यों ही भूख और उदासी का अपना समय गुजार देता। परेशानियों और परिस्थितियों से लड़ते-लड़ते उसका स्वभाव लड़ाका हो गया था। हरदम वह गर्मी लिए रहता। मस्तिष्क अपनी विभिन्न अवस्थाओं से संघर्ष कर रहा था। कभी एकदम शीतल और कभी एकदम उष्ण। कभी वह एक ही जगह बैठा रहता। सपने—सपने और सपनों के सिवाय उसके पास कुछ नहीं रह गया था। लाल बाग में सुने भाषणों की कल्पना वह किया करता। संघर्ष के ये भाषण उसे बहुत पसन्द आते। वह भीतर-भीतर अविक्षिप्त था, बाहर-बाहर विक्षिप्त था।

एक दिन एक लम्बी-सी लाठी वह कहीं से उठा लाया। उसे कंधे पर रख बीच सड़क पर खड़ा हो गया। फिर स्वयं फौजी कवायद के आदेश चीख कर उनका पालन करने लगा। पहले 'अटेन्शन' फिर लाठी कंधे पर रखी, सलामी दी। उसे बन्दूक की तरह तान कर नीचे बैठ गया और लगा 'फायर' पर 'फायर' के ऑर्डर देने। दर्शक तालियाँ बजाने लगे। फिर तपाक् से वह उठ खड़ा हुआ, सलामी दी और 'कुइक्मार्च' गूँजा कर चाल चौगुनी कर दी।

मुहल्ले-मुहल्ले में वह प्रसिद्ध हो गया !

जब उसकी लाठी पर गूँजने 'फायर' बहुत बढ़ गये, तो एक दिन उस मुहल्ले के सूबेदार ने उसे पीछे से आ कर पकड़ लिया और अशरण-शरण कानून की छाया में ले गया।

'अबे, तू क्या करता है ?'

'कुछ नहीं।'

'फिर, खाता क्या है ?'

'कुछ नहीं।'

'तेरा नाम क्या है ?'

'कुछ नहीं।'

'कहाँ रहता है ?'

'सड़क पर।'

—आवारागर्दी में उसे गिरफ्तार कर लिया गया।

जेल में समरथ को बड़ा अच्छा लगा। जगह बहुत तंग और छोटी थी, पर उस छोटी जगह रहने वालों के दिल उतने तंग न थे, जितने बड़ी जगह रहने वालों के होते हैं। समरथ जल्द ही सब से हिलमिल गया। कितने भोले और सीधे लोग हैं वे ! उनमें से कुछ ने कुछ अपराध जरूर किये थे, परन्तु अधिकांश निरपराध थे—जो उसकी तरह 'कुछ न करने के लिए' पकड़ लिये गये थे। न्यायपति ने सब से एक ही प्रश्न पूछ कर स्वयं ही उत्तर दिया था—'कुछ नहीं करता, तो खाता खाता किधर से ?'

मार्कण्डेय | चार कविताएँ

मौन

आराधना का मौन
जैसे श्याम की मुरली मधुर बजती
उमड़ती यमुना सी धरती
इठलाते गो-पदों के चिह्न में—
लिख दें कहानी मोह की
हाय तेरे छोह की
ऐसी कथा है,
और मेरे मौन की
वैसी व्यथा है।

एक दिन

आँख भर आयी
अचानक राह पर देखे कमल के पात,
सूखी पंखुड़ी;
पद-चाप, उन्मन आदमी की
और पूछा भी नहीं, 'है आप !"
पथ आगे गया
पद-धूलि तो थी !
कमल के पात
सूखी पंखुड़ी तो थी !
पर निगोड़ी आँख ने धोखा दिया,
झूठ ही परछांह को देखा किया
स्वप्न का टूटा,
अभागी नींद कट जायी।
आँख भर आयी . .. ।

दिवास्वप्न

यह डगर, घर, गाँव
हँसते नयन सुख की छाँव
सब लगते मुझे सुनसान
जैसे सिन्धु हो वीरान
उतरे ज्वार का-सा,

और उसका प्यार
रह रह कर विपन फूत्कार,
मन के दुखे तल को कँपा दे दर्द से
और चढ़ने ज्वार का हर क्षण
सुखद नव रश्मियों सा
बाँध लेता है सुनहले स्वप्न में
ओस सिंचित, पारिजाती पखुरी-सा गात,
सावन की हवा सी लोच,
औंधे मुंह पड़ी थी
डाल से टूटी हुई मधुमालती ज्यों—
"क्या हुआ.. यह हो गया क्या ?'
"कुछ नहीं, इससे तुम्हे क्या ?
—जा रहे, जाओ ! '
न पाया बोल,
मन का भाव तुमसे खोल .
थी बहुत ही पास तुम,
जैसे सघन मधुमास
कोई वल्लरी द्रुम डारियों में
फँस गयी हो,
और उसके सुमन .
आँसू-से ढरक कर
चूमते हो चरण तरु का ।

सन्ताप

घट गया दरिया
कगारे कूल के
बाये खड़े हैं दांत,
प्यासे है, थके है
पास का पानी उतर कर दूर
सिकता के रुपहले हास पर
चुपचाप, सगगम बह रहा है :
मस्त, मदमाती, उमगती
शोखियो के दिन,
सनेही लोग,
टूटे-से, भ्रमे-से देखते है,
और तुम प्रशस्थ तरनी में
सुकोमल, तपस् शेफाली सरीखी
बह रही चुपचाप,
तट है दूर
पर तरनी तुम्हारे
मनस् का सताप ।

ဟဟဟ

सिद्धेश्वर प्रसाद | लोक-साहित्य का अध्ययन

पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में पंडितों का ध्यान साहित्य की परंपरा के ऐतिहासिक अध्ययन की ओर गया। इसके फलस्वरूप ऐतिहासिक आलोचना नाम की एक नयी प्रणाली तो सामने आयी ही, साथ ही, काफी छान-बीन के पश्चात् यह भी पता चला, कि सभी साहित्य-रूपों का मूल उत्स लोक-साहित्य ही है। विभिन्न साहित्य रूपों के उद्भव की सारी अपौरुषेय व्याख्याएं अमान्य हुईं। अध्ययन की इस विकासवादी ऐतिहासिक प्रणाली के कारण लोक-साहित्य का इतना महत्त्व बढ़ा कि वह अपने आप में अध्ययन का एक पूर्ण और स्वतन्त्र विषय बन गया।

आज लोक-साहित्य की बड़ी चर्चा है। इस चर्चा में रस लेना आधुनिकता और प्रगतिशीलता का प्रमाण माना जाने लगा है। लोक-साहित्य के अध्ययन-क्रम में विभिन्न लोक-भाषाओं को महत्त्व मिलना भी स्वाभाविक ही है। लोक-साहित्य और लोक-भाषा से लोक-संस्कृति का अविच्छेद्य संबंध है। अतः इस मूल की सेवा अनिवार्य है—इस तर्क-प्रणाली के आधार पर लोक साहित्य के साथ एक दूसरी चीज़ आ जुड़ी है, जिसे जनपदीय आंदोलन कहा गया है। लोक-साहित्य और जनपदीय आंदोलन आज 'वागार्थाविव' संपृक्त हैं।

लोक-साहित्य का अध्ययन आज इसी अनुबंध में हो रहा है। हिंदी में लोक साहित्य के प्रथम संग्रह-कर्त्ता श्री रामनरेश त्रिपाठी का प्रेरणा-स्रोत भले ही लोक-जीवन रहा हो, पर आज वह स्थान जनपदीय जीवन ने अधिकृत कर लिया है। लोक-साहित्य के अध्ययन की आरंभिक भावात्मक और विस्तीर्ण मनःस्थिति का स्थान आज सीमित, परन्तु स्पष्ट विचार-धारा ने ले लिया है। लोक-जीवन जनपदीय जीवन में, लोक-संस्कृति जनपदीय संस्कृति में और

आरंभिक भावात्मक मनःस्थिति आज की स्पष्ट बौद्धिक विचार-धारा के रूप में अपने को सिर्फ परिवर्तित ही नहीं, बल्कि बलवती भी पाती है। राष्ट्रीय जोश की तुक पर जनपदीय जोश जैसी एक नयी चीज उभरती जा रही है और पुराने वचन को तुलना में यह नया वचन, प्रायः निरपवाद रूप से, अधिक शक्तिशाली सिद्ध हो रहा है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि लोक-साहित्य के अध्ययन का संचालन आज जनपदीय आंदोलन के विविध केंद्रों से हो रहा है। इसका प्रमाण यह है कि जिन जनपदों में इस आंदोलन ने जोर नहीं पकड़ा है, उनका लोक-साहित्य अभी अप्रकाशित और उपेक्षित ही पड़ा है। आदर्श में ऊंचे होकर भी ये जनपद समय की दौड़ में पीछे पड़ गये हैं।

ऐसी स्थिति में लोक-साहित्य के अध्ययन का आरंभिक उद्देश्य स्वभावत गौण पड़ गया है, अर्थात् आज लोक-साहित्य का अध्ययन अभिजात साहित्य के विभिन्न रूपों की कड़ियों को मिलाने के लिए अथवा लोक-साहित्य के अध्ययन से लोक-रुचि का ज्ञान प्राप्त कर उसके आधार पर अभिजात साहित्य के संस्कारार्थ नहीं होता। यदि यह बात होती, तो अभिजात साहित्य लोक-जीवन, लोक-रुचि और लोक-पहुँच के लिए आकाश-कुसुम नहीं होता जाता। जिस गति से लोक-साहित्य की चर्चा बढ़ी है शायद उससे द्रुततर गति से अभिजात साहित्य विशेषज्ञों की चीज बनता गया है।

लोक-साहित्य और अभिजात साहित्य के विभिन्न रूपों का यद्यपि अभी तक विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन नहीं हुआ है, फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि दोनों की अपनी-अपनी परंपरा है, जो इस अर्थ में समानान्तर गतिशील रही है कि कोई भी दूसरे को कभी भी पूर्णतया आत्मसात् नहीं कर पाया है, यद्यपि इसका प्रयत्न दोनों ओर से बराबर होता रहा है। दोनों के अल्पतम अंतर के युग में भी दोनों धाराएं पृथक् ही रहीं। लोकप्रिय-साहित्य अभिजात साहित्य का वह रूप है, जिसके रचयिता में 'लोक-हृदय की पहचान' की क्षमता होती है। अत लोक-प्रिय साहित्य अभिजात साहित्य का ही एक रूप विशेष है, लोक-साहित्य नहीं। जिस प्रकार लोक-साहित्य में अभिजात रुचि का रंग मिलता है, उसी प्रकार अभिजात साहित्य में लोक-रुचि भी रस पाती रही है। अभिजात कवि ने सर्वदा लोक-रुचि को सानुरूप परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है। लोक-साहित्य का अध्ययन भी इस दृष्टि से इस सीमा में आ जाता है कि जनपदीय आंदोलन की सफलता में लोक-रुचि को सम्भृत करने का प्रयत्न निहित है। संस्कृत रुचि के मानदंड के संबंध में मत-भेद हो सकता है, फिर भी, यह तो माना ही जा सकता है कि जनपदीय आंदोलन के पुरस्कर्ता विभिन्न जनपदीय बोलियों को भाषा का पद देना चाहते हैं। बोलियों को भाषा का पद देने में सांस्कृतिक ही नहीं, गूढ़ आर्थिक-राजनैतिक मंतव्य भी है ही। इसी कारण जनपदीय आंदोलन और कुछ दूर तक लोक साहित्य का, विरोध भी होने लगा है।

ऐसी परिस्थिति में लोक-साहित्य के अध्ययन के उद्देश्य को स्पष्ट कर लेना आवश्यक हो गया है। लोक-साहित्य का अध्ययन आज साहित्य के अध्ययन का एक अंग-भर नहीं है, बल्कि इसके पीछे एक समर्थ और सुस्पष्ट विचार धारा है, जो बोलियों को भाषा के रूप में विकसित कर उन्हें सामाजिक, पुस्तकीय और राजकीय व्यवहार की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित कर ही संतुष्ट नहीं होती, बल्कि बोलियों के आधार जनपदों की स्वतंत्र प्रांतीय सत्ता के रूप में पूर्ण इकाई का दावा भी करती है। इस विचार-धारा के आलोचकों का कहना है कि जनपदीय आंदोलन लोक-साहित्य का शत्रु सिद्ध होगा। इनका तर्क है कि जनपदीय भाषा, जो आज लोक-भाषा है, आंदोलन की सफलता के पश्चात् अनिवार्यत अभिजात भाषा का रूप ले लेगी। भारत का जनपदीय बोलियों के आधार पर, पुनर्गठन होने पर आज की असभ्य, असंस्कृत, अगठित, किन्तु प्रकृत

बोली निश्चय ही तब सभ्य, संस्कृत और गठित होने के साथ ही कृत्रिम हो जाएगी—तब वहाँ भी वही कृत्रिमता होगी, जिसके अभाव में ही लोक-साहित्य के प्रति हमारा आकर्षण है।

पर इन तार्किकों की आशंका निराधार है। जनपदीय आंदोलन की सफलता के बाद भी बोली के अभिजात रूप और लोक रूप में अंतर रहेगा ही। संपूर्ण जनपद कभी पूर्ण व्याकरण-सम्मत भाषा का प्रयोग करेगा, इसमें संदेह है। अतः किसी भी स्थिति में, लोक-साहित्य का स्थान अक्षय है। जनपदीय आंदोलन की सफलता से विभिन्न बोलियों के अभिजात संस्करण को प्रश्रय तो मिलेगा, पर भाषा और बोली की मूल वस्तु-स्थिति में आमूल परिवर्तन नहीं होगा।

लोक-जीवन की अपनी व्याकरणिक गठन होती है, जिसके नियम का पूर्ण ज्ञान संभव नहीं, क्योंकि उस व्याकरणिक गठन के ज्ञान का अर्थ है, मानव-जीवन की संभावनाओं को रूढ़ि-बद्ध करना। लोक-साहित्य की मौखिक परंपरा इसी असीम संभावना की देन है। लोक-साहित्य मौखिक होता है, लिखित नहीं, उसे प्राप्त नहीं करना होता, बल्कि वह परंपरा से अनायास प्राप्त हो जाता है, उसके संपादन-संकलन के लिए पंडितों की समिति नहीं होती, लोक-सम्मति से वह परिवर्धित-संशोधित होता रहता है, उसके उद्देश्य अथवा औचित्या-नौचित्य के संबंध में लोक में विवाद खड़ा होने का भी कोई प्रमाण नहीं प्राप्त हुआ है, और न उसके प्रचार और महत्त्व स्थापन के लिए किये गये किसी प्रकार के प्रयत्न की बात ही सामने आयी है। हाँ, इतना भर अवश्य निश्चित है कि अनादि काल से लोक-साहित्य भारतीय लोक-जीवन का अपरिहार्य अंग रहा है। इस संबंध में इतनी ही निश्चित दूसरी बात यह है कि इसका रचयिता और मुख्य श्रोता अपढ़ या अधपढ़ जन-समूह रहा है।

लेकिन यही लोक-साहित्य पंडितों के हाथ में जा कर उनके बौद्धिक विलास का साधन हो जाता है, श्लीलता के नाम पर उसे पौरुष खोना पड़ता है, और शृंगारिकता के नाम पर जीवन्तता, तथा रुचि-संस्कार के नाम पर अभिजात कर्तव्य का ग्रहण। लोक साहित्य का प्रभाव सीधा होता है, अभिजात साहित्य का वक्र, लोक-रुचि स्पष्टता की माँग करती है, अभिजात रुचि झिलमिल चाहती है। लेकिन लोक-साहित्य लोक-जीवन की वंशी है। पंडित लोक-जीवन का इस वंशी के स्वर की पहचान इसीलिए चाहता है कि इसके सहारे वह लोक-जीवन का सूत्र अपने हाथ में ले सके। लोक साहित्य के अब तक के अध्ययन का निष्कर्ष यही है पर इससे भिन्न आधार पर भी लोक साहित्य का अध्ययन संभव है।

वस्तुतः अब तक लोक साहित्य का अध्ययन अभिजात साहित्य को ध्यान में रख कर ही होता रहा है जनपदीय आंदोलन भी सीधे नहीं तो घूम-फिर कर यहीं आ जाता है। पर अभिजात साहित्य को समृद्ध बनाने के लिए लोक साहित्य का उपयोग तो अध्ययन की एकांगी प्रणाली है, क्योंकि इससे लोक-जीवन के उपकरणों से अभिजात जीवन तो गति पाता है, पर लोक-जीवन के उन्नयन में इसका उपयोग नहीं होता। ऐसी स्थिति में लोक जीवन का स्तर यदि निम्न होता गया है तो क्या आश्चर्य? अतः आज लोक साहित्य के अध्ययन में लोक-जीवन के उन्नयन को प्रथम स्थान मिलना अनिवार्य है। लोक साहित्य ही लोक-जीवन, लोक रुचि, लोक-संस्कृति के ज्ञान का अधिकारी माध्यम है। लोक-हृदय की पहचान रखने वाला कवि अधिक-से अधिक लोक-शिक्षक के रूप में ही लोक प्रिय हो सकता है, यह तुलसीदास के उदाहरण से स्पष्ट है। लोक-गीत की एक कड़ी है— 'आज बरस जा मोर बनवउ में, कता एक रैन रह जाए।" तुलसीदास ही नहीं भारतीय साहित्य का संपूर्ण अभिजात परंपरा को उलट जाइए—वर्षा ऋतु इस अनुरोध में कहीं नहीं मिलेगी। तुलसीदास तो मर्यादापालक थे, अतः उन्हें इस नाम पर छूट भी मिल सकती है, यद्यपि

साहित्य के सक्रिय योग के अभाव में वह देखते-देखते शिशिर के बादलों में विलीन हो गया। अभिजात जीवन ने सदा लोक-जीवन पर ऊपर से अपना अभिमत लादने का प्रयत्न किया है, उनके जीवन से विकसित करने का नहीं। लोक-साहित्य उपेक्षा की इस प्रणाली का प्रमाण है। आन्तरिक विकास महत्त्व-पूर्ण ही नहीं, स्थायी भी होता है। लोक-साहित्य लोकोन्मुखी चिंतन को दृढ़ आधार दे आन्तरिक विकास की खाई को पाटने का सेतु है—ऐसा सेतु, जो व्यक्तियों के विस्तार के लिए कभी सीमा नहीं बनेगा।

इस संक्रान्ति काल में मानवता के लिए नयी मान्यताओं के निर्माण-कार्य में लोक-साहित्य से प्राप्त उपकरणों की उपेक्षा नहीं होगी। ऐसा यदि हुआ, तो नयी मानवता पाण्डु होगी। इस महत्कार्य में युग-प्रवर्तक प्रतिभाओं की देन के साथ अगण्य जन समूह की अपढ़ और अनाम प्रतिभाओं की देन को विस्मृत कर मानवता की इमारत पक्की नींव पर नहीं खड़ी की जा सकती। नयी संस्कृति का केन्द्र मनुष्य होगा—धर्म, कला अथवा ज्ञान विज्ञान नहीं। ये सब साधन हैं—साध्य है मनुष्य का उत्कर्ष। यही लोकोन्मुखी चिंतन है। लोक-साहित्य इस लक्ष्य तक ले जाने में सहायक होगा। इस महदनुष्ठान में अभिजात प्रयत्न की उपलब्धियों को विस्मृत नहीं किया जाएगा, पर उन्हें अब तक प्राप्त अनावश्यक महत्त्व भी नहीं मिलेगा। लोक-साहित्य मानव-जीवन का अनिवार्य पूरक पहलू हमारे सामने रखता है, जिसमें प्राप्त उपकरणों के स्थानापन्न दूसरे साधन नहीं हो सकते। मानव को केन्द्र मान कर विकसित होने वाली संस्कृति के लिए लोक-साहित्य की लोक-चेतना को जीवन के मूल्यों के मानदण्ड के रूप में स्वीकृत करना आवश्यक है।

सचमुच रेशमी लिहाफों और गद्दों पर सोनेवाले मेरे जैसे अन्य लोग राजेश-जैसे इसानों का दुख दर्द नहीं समझ सकते ! इनका दुःख कल्पना से नहीं, यथार्थ अनुभव से ही सही-सही समझा जा सकता है।

उसी दिन से मैं राजेश के लिए बेहद दिलचस्पी और सहानुभूति रखने लगा था। वह भी मुझसे काफी घुल-मिल गया था और अपनी गुप्त से गुप्त बातें भी नहीं छिपाता था।

एक और दिन की बात है। मैं अपने मकान की छत पर खड़ा हुआ अन्यमनस्क सा सड़क की ओर देख रहा था। सड़क की ओर—जो राजेश के घर से सीधी उसके दफ्तर तक जाती है, जो हर वक्त सन्नाटे की चादर ओढ़ कर विश्राम करती है और केवल कुछ क्षणों के लिए, जब दफ्तरों के क्लर्कों से ले कर हाईकोर्ट के वकील तक जाते और लौटते हैं तो करवटें ले कर जाग उठती है। इसके बाद फिर खिंच जाती है वही खामोशी और चुप्पी, जिसे तोड़ती हुई इक्का-दुक्का मोटरें, साइकिलें, ठेलेवाले और पैदल चलते मुसाफिर गुजरते हैं तथा उसे और भी गहरा बना जाते हैं। मैं सोचने लगा, यह सड़क राजेश की खूब परिचित है और यह जैसी उसके विद्यार्थी जीवन में थी, वैसी ही अब भी है, जब कि राजेश स्वयं बहुत बदल चुका है और उसकी जिन्दगी भी !

आफिस से लौटने का वक्त हो चुका था। सूनी सड़क पर रौनक आ गयी थी। मोटरों के हॉर्न, घोड़ों की टापें और साइकिलों की घंटियों की आवाजें तीव्र से तीव्रतर होती जा रही थीं और सवारियाँ किसी नदी की धारा की भाँति एक ही में बही जा रही थीं—आगे, और आगे, जो पीछे मुड़ने का नाम भी नहीं लेतीं और उन पर थके, उदास चेहरे कुम्हलाए हुए फूलों की हँसी हँस रहे थे, मुर्दा मुसकराहटें बिखेर रहे थे।

मैं मायकोवस्की की कविता की कुछ पंक्तियाँ गुनगुनाने लगा—

मैं चाहता हूँ कि कलम बन्दूक बन जाए
व्यापारों में कलम का भी शुमार लोहे में हो।
मैं नहीं चाहता कि मैं एक एकान्त का फूल बनूँ
जिसे कि शाम के बाद थकान के क्षण में कोई तोड़ ले -

उसी समय राजेश के घर के आँगन से उसकी कर्कश आवाजों ने मेरा ध्यान अपनी ओर खींच लिया। मैंने उधर देखा, तो ठिठक गया। राजेश अपनी जवान लड़की कालिन्दी को बुरी तरह से पीट रहा था और गालियाँ दे रहा था। उसकी पत्नी कभी उसे रोकने के प्रयत्न में स्वयं पिटती, और कभी उसके साथ ही मिल कर कालिन्दी को बुरा-भला कहने लगती।

इस अप्रत्याशित दृश्य को देख कर मेरा मन बहुत उदास हो गया और मैं छत से नीचे उतर आया। कपड़े पहन कर घूमने के लिए निकल पड़ा। बहुत देर तक घूमता रहा। फिर एल्फ्रेड पार्क में पहुँच कर एक बेंच पर बैठ गया। और तब मैंने अपने सामने की बेंच पर चिन्तित माथा लिए हुए राजेश को बैठे देखा।

राजेश जब भी पारिवारिक झंझटों से ऊब कर दो क्षणों के लिए पलायन करता है, तो उसके लिए दो जगहें होती हैं— लाइब्रेरी और यह पार्क। आज उसने इस पार्क की ही शरण ली थी।

उसने मुझे देखा, तो चौंक पड़ा। फिर उसने जो कुछ बताया, उससे मुझे मालूम हुआ कि उसके लिए अब सयानी कालिन्दी को सम्हाल पाना मुश्किल हो रहा था। कालिन्दी कभी किसी लड़के को देख कर मुसकराती हुई पकड़ी जाती थी, और कभी किसी को चिट्ठी लिखती हुई। कई बार तो वह अपनी माँ से अपने कुआँरेपन का ले कर तीखे व्यंग्य कर चुकी थी। और राजेश की इतनी सामर्थ्य भी नहीं थी कि वह उसके हाथ पीले कर सकता !

और यह सब मुझे बिलकुल अस्वाभाविक और अशोभनीय लग रहा था, लेकिन यह सत्य था—कटु

सत्य। राजेश बराबर कालिन्दी की बेशर्मी और बदमाशी की दुहाई दे कर उसे गालियाँ दिए जा रहा था। और तब मेरा जी और भी उदास हो उठा था, या यों कहना चाहिए कि मेरा 'मूड ऑफ' हो गया था।

आज, इस समय राजेश के सैंकडों चित्र मेरी आँखों के सामने आ रहे हैं। उसके कभी हँसते हुए और कभी उदास और गमगीन चेहरे पर उमगों, हसरतों, थकान और मुर्दनी के जैसे मीनाबाजार लगे रहते हों!

और इस समय का राजेश...ओफ! राजेश का यह चित्र मैं पहले-पहल देख रहा हूँ, जब कि इसके चेहरे पर भयानक शून्यता है, जो उमगों, हसरतों, थकान और मुर्दनी—इन सबसे परे है, जिसका सूनापन इतना डरावना है—इतना डरावना! मैं सोच रहा हूँ कि जो राजेश हमेशा अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करता रहा है, जिसने कभी अपनी गरीबी के सम्मुख घुटने नहीं टेके, उसकी यह हालत कि वह अब बेबस है, निरुपाय है—कि उसके घर में उसके इलाज के लिए एक पैसा नहीं है।

राजेश के सब सस्मरणों की श्रृंखला सजा कर एक कहानी तैयार करने का विचार कर रहा हूँ। इस कहानी में राजेश अपने वर्ग के हजारों लाखों व्यक्तियों का प्रतीक होगा। राजेश जब स्वस्थ हो जाएगा, तो उसी के ऊपर लिखी गयी यह कहानी नामों और पात्रों के परिवर्तन के साथ उसी को मैं सुनाऊँगा। मैं इसकी अभी से कल्पना कर रहा हूँ कि उसे सुन कर वह कितना खुश होगा! भगवान्! उसे जल्द अच्छा कर दे!

सिर्फ एक बात सोच कर मन को दुख होता है। यह राजेश, जो कभी इतना जिंदादिल, मस्त-मौला और यूनिवर्सिटी की शैतान-मडली का नायक था, उसने कभी क्या सपने में भी यह सोचा होगा, कि उसे एक दिन किसी कहानीकार की सहानुभूति का पात्र बन कर एक दरिद्र क्लर्क की करुण कहानी का नायक होना पडेगा?

चन्द सेकंड ठिठके और चल पड़े। धीरे धीरे अपनी हवेली की सीढ़ियों से उतरे, बाईं तरफ मुड़े, पानी के किनारे आ गये और उसके सहारे-सहारे, धीमे-धीमे, कमर पर हाथ बाँधे चलने लगे। उनका सिर झुका हुआ था। कभी-कभी वे इधर-उधर देख लेते थे कि बुलाये हुए शख्स आ रहे हैं या नहीं।

जब दरख्तों के नीचे पहुँचे, तो वे रुके, टोप उतारा माथा पोंछा, क्योंकि दहकता सूरज जमीन पर अपनी आग बरसा रहा था। नगरपिता फिर चल दिये, फिर रुके, जरा लौटे। एकाएक झुक कर नदी में अपना रुमाल भिगोया और टोप के नीचे सिर पर फैला लिया, पानी की बूँदें उनकी कनपटियों, उनके बेगनी कानों, उनकी मजबूत गरदन पर चू कर गिरने लगीं।

अभी तक कोई नजर नहीं पड़ा। वे आवाजें देने लगे। जवाब में दाहिनी ओर से एक आवाज़ आयी और दरख्तों के नीचे डाक्टर आता दिखाई दिया। बाद में मैनेजर और सेक्रेटरी भी आ गये।

रेनार्दे ने डाक्टर से पूछा—"तुम्हें मालूम है, क्या मामला है?"

"हाँ, मेदेरी को जगल में एक लड़की मरी मिली है।"

"बिलकुल ठीक है, चलो, चलें।"

खोज की दिलचस्पी के मारे डाक्टर के कदम जरा तेज़ पड़ रहे थे। जब वे लाश के नजदीक पहुँचे, तो डाक्टर उसे जाँचने के लिए झुके। चश्मा चढ़ाया, देखा, शांति से पलट कर बोले:

"बलात्कार और कत्ल! बाला लगभग तरुणी है—देखो उसका गला।"

उसके दोनों कुच, लगभग पूर्ण विकसित, मौत के कारण ढील हो कर छाती पर पड़े हुए थे। डाक्टर ने धीरे से, उसके चेहरे पर पड़ा हुआ रुमाल हटाया। वह स्याही-माइल था, देखने में भयंकर, जबान निकली हुई, आँखें लाल। डाक्टर फिर बोला "यकीनन, कुकृत्य के बाद ही उसका गला घोंटा गया है।"

उसने गरदन देखी "गला हाथों से इस तरह घोंटा गया है कि उँगलियों या नाखूनों के निशान तक नहीं आये। बिलाशक, यह लड़की लूसी है!"

उसने रुमाल से चेहरा फिर ढक दिया।

"मेरे करने का कोई काम नहीं है। इसे मरे कम-से-कम एक घंटा हो गया। हमें मामले की इत्तिला अधिकारियों को दे देनी चाहिए।"

रेनार्दे अपने हाथ पीठ-पीछे किये, लड़की को पथरीली नजरों से घूरते रहे। फिर बड़बड़ाये:

"अभागिन! हम इसके कपड़े तो ढूँढें।"

डाक्टर बोला, "वह जरूर नहा रही होगी। कपड़े किनारे पर ही होने चाहिए।"

इस पर नगरपिता ने हिदायतें दीं, "सेक्रेटरी, कपड़े ढूँढ कर लाओ। मैनेजर, रूई-ले ताउं जा कर फौरन् मजिस्ट्रेट और पुलिस के सिपाहियों को ले कर आओ। वे एक घंटे के अन्दर यहाँ आ जाने चाहिए, समझे?"

दोनों आदमी तेजी से रवाना हो गये। रेनार्दे डाक्टर से पूछने लगे, "किस बदकार ने इस जगह ऐसा काम किया है?" डाक्टर बड़बड़ाया। "कौन जाने? हर कोई कर सकता है! खास तौर से हर शख्स और आम तौर से कोई नहीं। कोई उचक्का या बेकार मजदूर होगा।"

नगरपिता बोले, "हाँ, कोई अजनबी ही होना चाहिए, कोई राहगीर, बे-घर बार, कोई हृदयहीन आवारा।"

डाक्टर अपने चेहरे पर मुसकान की आभा ला कर कहने लगा, "और जिसके न घरवाली है न जिसका खाने का ठिकाना है, न माने वा। आप यह नही मानते कि दुनिया में कितने लोग हैं जो न मालूम किस वक्त क्या जुर्म कर गुजरे। क्या आपको मालूम था कि लडकी गायब हो गयी है ?"

"हाँ, उसकी माँ रात को नौ बजे मुझे देखने आयी थी, क्योंकि लडकी खाना खाने के लिए रात बजे तक घर नहीं पहुँची थी। हम आधी रात तक उसे सडक पर पाने की कोशिश करते रहे, लेकिन हमें जंगल का ख्याल नहीं आया।"

डाक्टर ने कहा, "सिगरेट पियोगे ?"

"शुक्रिया, मुझे नहीं पीनी।"

वे दोनों उस लडकी की जर्द और निश्चल लाश को निहारते रहे।

एकाएक एक तेज आवाज से वे चौंक पडे। एक औरत दरख्तों के बीच से झपटती चली आ रही थी। वह उस लडकी की माँ थी। रेनार्दे को देखते ही वह चीख उठी, 'मेरी बेटी, कहाँ है मेरी बिटिया ?" नजरें उसकी इस कदर उडी हुई थी कि उसने जमीन पर देखा ही नहीं। एकाएक लाश दिखी वह रुकी, हाथ जकडे, और दोनों बाजू उठाते हुए दिल के टुकडे-टुकडे कर देने वाली चीखें मारने लगी—जैसे एक साथ हजार बाणों से बिधी हिरनी चीखती है। फिर वह लाश की तरफ टूटी, घुटनों के बल गिरी और चेहरे का रुमाल खींचा। जब भयानक विकृत शक्ल देखी, तो वह लरज उठी। जमीन पर सर पटक कर घुट-घुट कर लगातार बिलबिलाकर रुदन करने लगी। अनजाने वह अपनी मुट्ठी उँगलियाँ जमीन में यूँ गडाती जाती थी, मानो कब्र खोदती जाती हो, ताकि उसमें समा जाए।

डाक्टर धीमे करुण स्वर मे बोले "हाय, बेचारी बुढिया !"

रेनार्दे के पेट मे एक अजीब घुमाड उठा, उसने बुलन्द आवाज से एक छीक-सी ली, जो उसकी नाक और मुंह मे एक साथ निकला। जेब से रुमाल निकाला और जल कर रोने लगा। खांसता जाता था, जोर से सुबकता जाता था, चेहरा पोंछता जाता था। टूटी जबान मे बोला, 'जहन्नुम के कुत्ते ने क्या किया ! मेरा बस चले तो कत्ल कर दूं !"

सेक्रेटरी लौट आया। उसे कपडे वपडे कहीं कुछ नहीं मिले। उसे फिर हुक्म हुआ कि फिर ढूंढने जाए और ढूंढ कर लाए। सेक्रेटरी जानता था कि रेनार्दे के सामने बात करना क्या होता है, चुनांचे वह बिना चूं चरा किये चला गया।

दूर पर इस ओर आती हुई भीड का शोर सुनाई दिया। मेदेरो अपने गश्त मे खबर को घर घर सुनाता चला गया था। लोग सुन कर दंग रह गये, चौतरफ चर्चा करते गये इकट्ठे हुए और इस तरफ बढ पडे कि खुद चल कर देखें।

रेनार्दे को यह भीड और उसका आना सख्त नागवार खातिर हुआ। सहसा उसने डॉक्टर का डंडा ले कर भडक कर इस तरह घुमाया कि एक सेकेंड में सारी भीड करीब सवा दो सौ गज पीछे खदिड गयी।

लडकी की माँ का उठा कर बिठाया गया। वह अपने हाथों से चेहरे को दबाए रोती रही।

भीड म घटना की चर्चा चलती रही, और नौजवान छोकरे लडकी के नगे बदन को उन्मुक्त नजरों से देखते रहे। रेनार्दे ने इस बात को भाँपा। उसने एकाएक अपनी वास्केट उतारी और लडकी पर डाल दी। लाश उस विशाल आच्छादन में निगाहों से सर्वथा कट गयी।

भीड रफ्ता-रफ्ता फिर नजदीक आ गयी। सारा जंगल लोगों से भर गया, और लम्बे वृक्षों की घनी छाया-तले आवाजों की गूंज लगातार सुनाई पडने लगी।

चालाक किसान, बड़ा चालाक, पैसे के मामले में महा मूंजी, पर मेरी राय में ऐसा जुर्म कर सकने में असमर्थ ।"

"आगे चलिए ।"

हजामत करते हुए और धोते हुए रेनार्दे कार्वेलिन के तमाम निवासियों का नैतिक मुआयना करता गया । दो घटे की बहस के बाद तीन शख्सों पर उनका शक टिक गया ।

मुजरिम की तलाश गर्मियों भर चलती रही, लेकिन उसका पता न मिला । जो शक में पकड़े गये, उन्होंने आसानी से अपनी निर्दोषता का सबूत दे दिया । आखिर अधिकारियों को मजबूर हो कर मुजरिम को पकड़ने की कोशिश छोड़ देनी पड़ी ।

मगर इस कत्ल ने सारे देश को हिला दिया । अजीब बात थी कि लोगों के दिलों से जुर्म का ख्याल और जबानों पर से उसकी चर्चा जाती ही न थी ।

जगल एक भयावह स्थल बन गया । लोग उससे बचने लगे उसे भूतावास मानने लगे ।

रेनार्दे साहब सगमूमन्से हो कर अकेले उस जगल में घूमा करते, इस तरह कि गोया ख्वाब में हों ।

एक रोज़ जिले में यह ख्बर फैली कि नगरपिता अपना जगल कटवा रहे है ।

बीस काटने वाले काम पर लगवा दिये गये । घर के पास से जगल कटना शुरू हुआ । मालिक की नजरों के सामने कटाई का काम तेजी से चलने लगा ।

हर रोज जगल हल्का होता गया, उसके पेड यों गिरते गये, जैसे सेना के सिपाही गिरते जाते हैं ।

रेनार्दे स्थिर हो कर अपने जंगल की मौत देखा करते । जब कोई दरख्त गिरता, तो अपना पैर रख कर इस तरह देखते, जैसे कोई मुर्दा हो । तब अपनी नज़रें दूसरे पर डालते । उनमें एक रहस्यपूर्ण, गमगीन बेसबरी रहती; गोया वे अपने कत्ले-आम के बाद कोई आशा पूरा होते देखना चाह रहे हों ।

काटने वाले एक रोज सध्या समय उस मुकाम तक पहुंच गये जहाँ लड़की मिली थी ।

चूंकि अँधेरा था, घटा छाई हुई थी, काटने वालों ने एक बड़े दरख्त का काटना अगले दिन के लिए मुल्तवी कर देना चाहा । मगर रेनार्दे ने आपत्ति की, और जोर दिया कि इस बड़े दरख्त को तो इसी वक्त काट कर गिराया जाए, भले देर हो गयी हो । यह वह दरख्त था, जिसके साये-तले वह जुर्म हुआ था ।

जब दरख्त पर आखिरी प्रहार पड़ने को थे, रेनार्दे साहब उसके तने पर हाथ लगाये स्थिर खड़े हुए, उद्विग्नता से उसके गिरने के क्षण की प्रतीक्षा करने लगे ।

एक आदमी ने उनसे कहा, "रेनार्दे महाशय, आप अति निकट खड़े हैं आपको चोट आ सकती है ।"

वे बोले नहीं, हटे नहीं । ऐसा लगता था कि वे उस दरख्त को अपनी भुजाओं में ले कर पहलवान की तरह जमीन पर पछाड़ेंगे ।

जब वह विराट् वृक्ष गिरता हुआ आया, रेनार्दे एकाएक एक कदम आगे बढ़, फिर रुके । कधे यूं उभरे हुए थे, मानो उसके मारक प्रहार को अपने पर यों पड़ने देंगे कि वह उन्हें कुचल कर जमीन पर पटक दे ।

लेकिन दरख्त जरा हट कर इस तरह गिरा कि इनकी कमर को खुरचते हुए इन्हें मुँह के बल पाँच गज दूर फेंक दिया ।

काम वाले उन्हें उठाने दौड़े । वे उठ कर घुटनों के बल बैठ चुके थे, अवस्था विमूढ थी, आँखें

हर रात को वह नागवारगवार नज़ारा लौट लौट कर दीखता। पहले वह एक गड़गड़ाहट सुनता फिर हाँफने लगता। फिर उसे ऐसा लगता कि कोई उसका गला घोंट रहा है, जिसकी वजह से उसे अपनी कमीज़ के बटन खोलने पड़ते, कालर और बेल्ट ढीली करनी पड़ती।

आज भी वही कैफियत गुज़र रही थी। वह इधर-उधर टहलने लगा, ताकि खून का दौरा दुरुस्त हो, उसने पढ़ने की कोशिश की, उसने गाना चाहा, किन्तु सब बेकार था। उसका मन बरबस क़त्ल के रोज़ की ओर जाता था, उस दिन की सारी गुप्त तफ़सीलों में से उसे गुज़ारता, शुरू से आख़िर तक तमाम हिंसक अनुभूतियाँ कराता।

उस भयंकर दिन के सुबह उठने पर उसे ज़रा चक्कर-से आने लगे। उसने समझा, गर्मी के मारे ऐसा हो रहा है। इसलिए वह भोजन के वक़्त तक अपने कमरे में ही रहा। फिर भोजन के बाद, करीब तीसरे पहर, जंगल की ताज़ा शान्तिदायक हवा खाने चला गया था। मगर गर्मी बाहर भी शिद्दत की पड़ रही थी, जिससे बेचैनी और बढ़ गयी। एकाएक उसे ब्रिन्दे में नहाने का ख्याल आया, ताकि हरारत कम हो और ताज़गी आए।

वह झाड़ियों से घिरे एकान्त, शान्त नदी तट पर आया, जहाँ गर्मियों में कभी कभी डुबकी लगाने चला आया करता था। उसे एक हल्की आवाज़ सुनाई दी। उसने धीमे से पत्तियाँ हटा कर देखा। एक कमसिन लड़की, बिलकुल नंगी, निर्मल जल में पड़ी अपने नाज़ुक हाथों से लहरियों से खेलती हुई जलक्रीडा कर रही थी। वह बचपन और जवानी के संगम पर थी। जिस्म भरा हुआ और सुडौल। इस हुस्न के साँचे में ढली नूर की पुतली को देख कर उसका दिल तेज़ी से धड़कने लगा।

लड़की पानी में से निकल कर अनजाने उसी तरफ आयी, जिधर वह खड़ा हुआ था और अपने पहनने के कपड़े देखने लगी। जब कि वह नुकीले पत्थरों पर छोटे-छोटे डग रखती हुई इसकी तरफ धीमे धीमे आ रही थी, तो इसने महसूस किया कि वह किसी कशिश से बेक़ाबू हो कर उसकी तरफ खिंचता जा रहा है। पाशविक वासना ने इसे मदहोश कर दिया इसकी पिशाचता भड़क पड़ी, रूह विमूढ़ हो गयी, और वह सर से पैर तक लरज उठा।

वह इसकी नज़रों से बची हुई दरख्त की आड़ में चन्द सेकेंड ही खड़ी रही होगी कि इसकी विवेक-शक्ति बिलकुल लुप्त हो गयी। इसने शाखें हटायीं, उस पर झपटा और अपनी भुजाओं में उसे भर लिया। वह गिर गयी डर इस कदर गयी थी कि कोई प्रतिरोध न कर सकी खौफज़दा इतना हो गयी थी कि चिल्ला न सकी, और यह उस पर छा गया। इसे भान भी नहीं हुआ कि कर क्या रहा है।

अपने जुर्म से वह यों उठा जैसे कोई भयानक सपने से उठता है। लड़की फूट फूट कर रो उठी।

यह बोला, "चुप रह! चुप रह! मैं तुझे पैसे दूंगा।" मगर उसने सुना नहीं, और रोती रही।

यह कहता गया—'बस, अब खामोश हो! हो खामोश! चुप रह!"

वह चीखती रही इससे छूट निकलने के लिए बल लगाती रही। इसने एकाएक देखा कि सर्वनाश हो गया। इसने उसकी गरदन पकड़ ली, ताकि उसकी हृदय विदारक भयाकुल चीखों को रोक सके। वह इस तरह कोशिश करती रही, जैसे कोई मौत के शिकंजे से छूट निकलने के लिए करता है और इधर इसने उसके चीखों से सूजे हुए नन्हे गले को अपने विकराल हाथों से दबोचना शुरू कर दिया। चन्द सेकेंडों में उसका गला घोंट डाला।

जब वह उठा तो इस पर भय का आतंक छाया हुआ था।

इसने भाग जाना चाहा। फिर ख्याल आया कि लाश को तो नदी में फेंक दे, मगर नहीं फेंकी। फिर एक झोंक में आ कर इसने उसके कपड़ों की पोटली बना कर नदी के किनारे खड़े हुए एक पेड़ की जड़ में गहरे पानी में दबा दी।

फिर वह तेजी से भागा मैदान में आया मुड़ा, ताकि कुछ दूर पर बसे हुए किसानों की नज़र में आ सके। फिर भोजन के आम वक्त पर घर जा पहुँचा, और नौकरों का आज के टहलने का मन-गढ़न्त तफसीलें सुनाने लगा।

उस रात वह हैवानों की-सी गहरी नींद में आया जैसे कि कभी कभी कामों की मजा पाये हुए मुजरिम सोते हैं। सुबह होते ही उसकी आंख खुल गयी, मगर वह पड़ा रहा। इस खौफ के मारे कि कहीं बेवक्त उठने से ही उसके जुर्म का भेद न खुल जाए।

उसका दिल पसीजा था, तो सिर्फ लड़की की बूढ़ी माँ की चीखों से। उस वक्त एक क्षण के लिए उसके मन में आया कि बुढ़िया के कदमों पर गिर कर कह दे कि "खतावार मैं हूँ।"

लड़की की लाश को ले जाये जाने के वक्त बुढ़िया उसके कपड़ों, टोपी, वगैरह के लिए बड़ा बिलखती रही, ताकि अपनी प्यारी बेटी की कोई तो निशानी उसके पास रहती! बुढ़िया की इस आरजू से प्रभा-वित हो कर उस रात लड़की की चप्पलों को जंगल में से ला कर बुढ़िया के अहाते के पास डाल आया था।

जब तक तहकीकात चलती रही, जब तक इन्साफ की रहनुमाई और इमदाद जरूरी थी, वह शांत, सयत, सावधान और स्मित-वदन रहा। मजि-स्ट्रेटों के दिमागों में से जो सम्भावनाएँ गुजरती, उन पर वह शांतिपूर्वक बहस करता, उनकी रायों का विरोध करता और उनकी दलीलों का खंडन करता। वह उनकी तहकीकातों में खलल डालने का तीव्र और खेदजनक मज़ा भी लेता, उनके विचारों का विरोध करता, जिन पर ये लोग शक करते उनकी निर्दोषता दर्शाता।

लेकिन तहकीकात खत्म हो जाने के बाद से उसकी दुर्बलता और नुक्ताचीनी बढ़ती गयी हालांकि वह अपने चिड़चिड़ेपन को काबू में रखता था। एकाएक होने वाली आवाजों पर वह डर के मारे उछल पड़ता, जरा सी बात पर सिहर उठता, कभी माथे पर मक्खी बैठ जाती तो सिर से पाँव तक काँप जाता। फिर उस पर लगातार चलते ही रहने की एक हठीली इच्छा हावी रहने लगी जिसके असर में वह चलता ही रहता और अपने ही कमरे में रात रात भर इधर उधर टहलता रहता।

बात यह नहीं थी कि अब उसे पश्चाताप हो रहा था। उसके हिंस्र मन में भावुकता की छाया या नैतिकता का प्रवेश नहीं हुआ करता था। वह ताकत और हिंसा का पुजारी था, लड़ाइयाँ लड़ने के लिए, विजित देशों को तहस-नहस कर डालने और हारे हुओं का कत्लेआम करने के लिए पैदा हुआ था। इनसानी जिन्दगी तो उसके नजदीक किसी शुमार में ही नहीं थी। अगर्चे वह चर्च का मसल-हतन् आदर करता था, मगर वह न खुदा में विश्वास करता था न शैतान में, चुनांचे अपने कर्मों की किसी और जन्म में सज़ा पाने की उम्मीद नहीं रखता था। वह धर्म को कानून का एक नैतिक विभाग समझता था, उसके मत से कानून और धर्म दोनों का आविष्कार इनसान ने सामाजिक ताल्लुकात दुरुस्त रखने के लिए किया था।

किसी का कुश्ती, लड़ाई, झगड़े, संयोग, बदले या बात में मार डालना उसके लिए एक मनोरंजन और हाथियारी की बात थी और उसके मन पर इतना भी असर नहीं कर पाती थी, जितना कि एक खरगोश पर छोड़ी गयी गोली, लेकिन इस लड़की की हत्या ने उसके दिल पर गहरा असर डाला। हर क्षण उसके विचार उस भयानक दृश्य की ओर

लौट लौट कर जाते। हज़ार उपाय करने पर भी वह तसवीर रह-रह कर नज़रों के सामने आती।

और फिर रात के वक्त उसके इर्द-गिर्द गिरने वाले छाया-चित्र उसे भयातुर कर डालते। अँधेरे से वह न जाने क्या ख़ौफ़ खाने लगा। उसे अँधेरे में भयानक आवाज़ियाँ मालूम होतीं।

एक रात उसे नींद नहीं आ रही थी, इसलिए आराम-कुर्सी पर आ बैठा। उसे ऐसा लगा कि सामने वाली खिड़की का पर्दा हिल रहा है। चित्त घबरा उठा, दिल धड़कने लगा। वह आतुरता से उस तरफ़ देखता रहा, पर्दा नहीं हिला, फिर एका-एक हिलने लगा। उसमें उठने की भी हिम्मत न रही, साँस लेने का भी साहस न कर पाया।

रेनार्दें चुपचाप गरदन उठाये घूर रहा था। फिर एकदम उठ कर खड़ा हो गया, अपने डर पर शर्माया, चार कदम बढ़ा, पर्दे को दोनों हाथों से पकड़ा और खींच कर खूब खोल कर दोनों तरफ़ कर दिया। उसे खिड़की के शीशे में से पहले तो सिवाय अँधेरे के कुछ नहीं दीखा. फिर एकाएक कुछ दूर पर चलती हुई रोशनी दिखाई दी। रोशनी और फैली, और उसमें उसने उसी कमसिन लड़की को नंगी और खून से सनी हुई देखा, मारे डर के पत्थर सा हो कर कुर्सी पर आ पड़ा। चन्द मिनट इसी अवस्था में रहा, आत्मा अत्यन्त क्षुब्ध थी, फिर उठ कर सोचने लगा, शराब का एक गिलास पिया और फिर बैठ गया। विचार किया "अगर वह फिर दिखी तो क्या करूँ ?"

और वह फिर दिखी। उसने कुर्सी फेर ली कि उधर न देख पाए। एक किताब उठायी, और पढ़ने की कोशिश की, मगर उसे लगा कि पीछे कुछ आवाज़-सी हो रही है, वह घूमा—

पर्दा अब भी हिल रहा था। वह झपट कर बढ़ा और पर्दे को जकड़ में ले कर ऐसे ज़ोर से झटका कि वह मय खूंटी और रस्सी के फट कर जा पड़ा। फिर उसने उत्सुकता से शीशे में से देखा। कुछ नहीं दीखा। उसने चैन की साँस ली, मानो जान बच गयी।

वह लेट कर सोने की कोशिश करने लगा। एकाएक पलकों में उसे प्रकाश की एक तेज़ चमक का अहसास हुआ। उसने आँखें खोलीं, यह देखने के लिए कि कहीं मकान में आग तो नहीं लग गयी। सब कुछ पहले की तरह काला था। खिड़की उसका ध्यान बहुत खींचती थी। उस तरफ़ देखा तो उस लड़की का जिस्म फॉस्फोरस की तरह चमकता हुआ दिखा, जिसकी वजह से आसपास का अँधेरा रोशन हो उठा था।

रेनार्दें चीख़ पड़ा, दौड़ कर बिस्तर पर आ गिरा, और सुबह तक तकिये में मुँह छिपाए पड़ा रहा।

उस क्षण से उसे जीना असहनीय हो गया। उसके दिन आने वाली रात की दहशत में गुज़रते, और हर रात का ये ही नज़ारे दिखते। हालात बद से बदतर होते चले गये। उसे ऐसी यंत्रणा होती, जैसी पहले कभी किसी को न हुई हो।

उसने सोचा, कि अपने जीवन का अन्त किसी तरह कर डाले। वह कोई सीधा, स्वाभाविक तरीका चाहता था, ताकि आत्महत्या की बदनामी न हो; क्योंकि उसे अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल था, अपने पूर्वजों के नाम की शान कायम रखने की फ़िक्र थी। यह भी डर था कि कहीं लोग उसकी आत्म हत्या को लड़की की हत्या से जोड़ कर उसी को मुलज़िम न समझने लगें।

उसके मन में एक अजीब ख्याल आया कि वह अपने को उसी दरख्त से कुचल जाने दे, जिसके नीचे उसने लड़की का गला घोटा था। उसने जंगल कटवाने का इरादा कर लिया ताकि वह अकस्मात् घटित किया जा सके। लेकिन उस वृक्ष ने उसकी पसलियाँ कुचलने से इनकार कर दिया।

घर लौट कर, निपट निराशा की हालत में, उसने

इस मनोहर शीतल सुबह को देख कर वह अपने को पुनर्जीवित अनुभव करने लगा, शक्ति से भरा हुआ, जीवन से लबरेज़। प्रकाश ने उसे नहला दिया और उसके अन्दर नयी आशा का संचार कर दिया। गुज़री जिन्दगी की हज़ार खुशियाँ याद आने लगीं—ऐसी ही सुहानी सुबहें, वन-भ्रमण, सैर-सपाटे, मौज-शौक, आमोद प्रमोद। उसकी प्रिय वस्तुओं के अलावा, धरती की अन्य नियामतों ने उसके अन्दर नयी अभिलाषाओं की लहरें दौड़ा दीं, उसके क्रियावान बलिष्ठ शरीर की तीव्र क्षुधाओं को फिर जगा दिया। और वह चाह रहा है मरना? क्यों? मूर्खता से अपनी जान दे रहा है, महज़ इसलिए कि वह एक छाया से—न कुछ से—डर गया है। वह अभी अमीर है, जवान है! फिर यह क्या हिमाकत है! ज़रूरत उसे सिर्फ परिवर्तन, गैरहाज़िरी, सैर-सफ़र की है, ताकि इस सब को भुलाया जा सके।

वह लड़की तो इस राह का दिखा भी नहीं, क्योंकि उसका मन व्यस्त रहा था। शायद अब वह फिर कभी न दिखलाई दे। और अगर इस घर में दिखी भी तो अन्यत्र तो उसका पीछा करती फिरेगी नहीं! ज़मीन चौड़ी है, भविष्य लंबा है। मरा क्यों जाए?

उसने मैदान के पार देखा। मेदेरी आता दिखाई दिया, शहर के खत देने और गांव के खत ले जाने के लिए। रेनार्दे के दिल में एक टीस उठी। वह तेज़ी से घुमघुमारे ज़ीने से अपना खत वापस लेने के लिए उतरने लगा। डाकिया बक्स में से बस्ती के लोगों के डाले हुए खत निकाल ही रहा था कि रेनार्दे आ पहुँचा।

रेनार्दे बोला, "नमस्कार, मेदेरी।"

"नमस्कार मोस्यू रेनार्दे।"

"मेदेरी, मैंने कहा, मैंने बक्स में एक खत डाला था, उसे मैं वापस लेना चाहता हूँ। मैं तुमसे उसे लेने आया था।"

"अच्छी बात है। मिल जाएगा।"

और चिट्ठीरसाँ ने नज़र उठा कर देखा। वह रेनार्दे का चेहरा देख कर सन्न रह गया। गाल बेरंग, आँखों के गिर्द काले घेरे, बाल उलझे, दाढ़ी बे बनी, नेकटाई खुली हुई। मालूम होता था रात का सोये नहीं।

डाकिये ने पूछा, "क्या आपकी तबीयत ठीक नहीं है, साहब?"

रेनार्दे ताड़ गया कि उसकी शक्ल हस्बमामूल नहीं होगी। मरपका कर लड़खड़ाती ज़बान से बोला, "अरे नहीं—नहीं जी। तुमसे यह खत लेने के लिए मैं बिस्तर में से कूद आया हूँ। मैं तो सो रहा था। समझे तुम?"

मेदेरी बोला, "कौन-सा खत?"

"वही जो तुम मुझे वापस देने वाले हो।"

मेदेरी अब हिचकिचाने लगा। नगरपिता का रुख स्वाभाविक नहीं जान पड़ा। शायद उस खत में कोई रहस्य है कोई राजनीतिक रहस्य। उसने पूछा, "किसके नाम का पता है आपके खत पर!"

"मास्यू पुतोईं, मजिस्ट्रेट का—तुम तो मेरे मित्र मास्यू पुतोईं को अच्छी तरह जानते हो।"

डाकिये ने वह खत ढूंढ निकाला। वह उसे देखने लगा, फिर उसे अपनी उँगलियों में घुमाता रहा। सख्त उलझन में था, परेशानी में—इस ख्याल में कि अमानत में खयानत करे या नगरपिता को अपना दुश्मन बनाए।

उसकी हिचकिचाहट देख कर, रेनार्दे ने उस खत को उससे छीन लेने के लिए हाथ बढ़ाया। इस यकायक हरकत से मेदेरी को इत्मीनान हो गया कि खत में ज़रूर कोई अहम राज़ है। उसने निश्चय कर लिया कि वह अपने कर्तव्य का पालन करेगा, चाहे कुछ भी हो जाए।

बस उसने खत अपने झोले में डाला और उसे बाँध कर जड़ाव दिया, "नहीं! मैं नहीं दे सकता, महाशय!"

एक भयानक मंत्रणा ने रेनार्ड का हृदय मथ डाला, वह बोला, "क्यों, तुम अच्छी तरह जानते हो। तुम मेरी लिखावट भी पहचानते हो। मैं तुमसे कहता हूँ कि मुझे वह खत चाहिए।"

"मैं नहीं दे सकता।"

"देखो, मेदेरी, तुम जानते हो कि मैं तुम्हें कभी धोखा नहीं दे सकता—मैं कहता हूँ कि मुझे वह खत चाहिए।"

"नहीं, मैं नहीं दे सकता।"

रेनार्ड की रूह में क्रोध की एक लहर दौड़ गयी।

"यह बकवास रहने दो, होश में बात करो! तुम जानते हो कि मैं किसी को परेशानी में नहीं डालता, मैं तुम्हें नौकरी से बरखास्त करा सकता हूँ, और वह भी फिलफौर। और फिर मैं नगरपति हूँ आखिरकार, तुम्हें हुक्म देता हूँ कि वह खत वापस कर दो।"

डाकिये ने दृढ़ता से जवाब दिया, "नहीं, मैं नहीं दे सकता, महाशय!"

इस पर रेनार्ड *का सिर फिर गया, डाकिये की बाँह* पकड़ ली और उसका थैला छीन लेना चाहा, लेकिन डाकिये ने जोर लगा कर अपने को छुड़ा लिया और पीछे उछल कर निष्क्रोध दृढ़ता से कहा, *"छूना मत मुझे, वर्ना डंडा जड़ दूंगा। तुम्हें मालूम* होना चाहिए कि मैं सिर्फ अपना फर्ज बजा रहा हूँ।"

यह देख कर कि सर्वनाश हुआ जा रहा है, रेनार्ड एकदम ढीला पड़ गया, बच्चे की तरह रो कर, नम्र, मृदुल अनुरोध से बोला "देखो, देखो, मेरे मित्र! मुझे वह खत दे दो। मैं तुम्हें धन दूंगा। ठहरो! ठहरो! मैं तुम्हें सौ फ्राक दूंगा, समझे? —सौ फ्राक!"

डाकिया मुड़ा और अपने रास्ते चल दिया। रेनार्ड हाँफता लड़खड़ाता उसके पीछे चला "मेदेरी, मेदेरी सुनो! मैं तुम्हें हजार फ्राक दूंगा, समझे? —हजार फ्राक!" डाकिया बिना जवाब दिये चलता *गया। रेनार्ड कहता गया "तुम जो कहो सो दूंगा—* पचास हजार फ्राक—पचास हजार फ्राक—उस खत के लिए पचास हजार फ्राक! इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ता है? नहीं दोगे? अच्छा, एक लाख, मैं कहता हूँ—एक लाख फ्राक—एक लाख फ्राक।"

डाकिया मुड़ा सख्त चेहरे और कठोर आँखों से *बोला 'बस, बन्द करो, वर्ना मैं मजिस्ट्रेट से तुम्हारी* ये सारी बातें कह दूंगा।"

रेनार्ड एकदम रुक गया। बस खलास। वह मुड़ा और शिकार के जानवर की तरह अपने घर की ओर दौड़ा।

इधर मेदेरी रुका और विमूढ़ भाव से उसकी यह उड़ान देखने लगा। उसने देखा कि नगरपिता अपने घर में घुस गये। वह चुपचाप खड़ा देखता *रहा मानो कुछ हैरतअंगेज बात होने वाली हो।*

जरा देर में रेनार्ड मीनार की चोटी पर दिखाई *दिया। वह वहाँ पागल की तरह घूमा। फिर उसने* झंडे का डंडा पकड़ लिया और उसे वहशियाना ढंग से जोर से हिलाया, मगर तोड़ न सका, फिर एकाएक जैसे कोई तैराक गिरता है, वह अपने दोनों हाथ आगे किये हवा में कूद पड़ा।

राहत पहुँचाने के लिए मेदेरी दौड़ कर आगे *आया। पार्क पार करते हुए उसने जंगल काटने* वालों को काम पर जाते देखा। उसने उन्हें बुलाया कि एक दुर्घटना हो गयी है। दीवारों के नीचे उन्होंने खून से लथपथ एक लाश देखी, जिसका सिर एक चट्टान से टकरा कर चूर-चूर हो गया था। इस चट्टान के चारों तरफ झिन्दे बह रही थी, और उसके साफ, शान्त पानी पर, जो कि यहाँ किसी कदर उभरा हुआ था, भेजे और खून की एक लम्बी पतली लाल धारा दिखाई दे रही थी।

[अनुवादक—नारायण प्रसाद जैन]
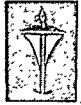
समालोचना तथा पुस्तक-परिचय

बंगला और उसका साहित्य : लेखक, हंसकुमार तिवारी, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ०-सं० १८६, मूल्य २)

प्रस्तुत पुस्तक बंगला-भाषा और साहित्य के परिचय के ध्येय से लिखी गयी है और इसकी सबसे बड़ी जिम्मेदारी है, लेखक के लिए गागर में सागर भरने की। किसी हद तक लेखक इसमें सफल भी हुआ है। किसी हद तक की बात केवल इसीलिए कही जा रही है कि इसमें बंगला भाषा और साहित्य के आदिकाल से लेकर रवीन्द्रोत्तर काल तक की सामग्री का परिचय अवश्य है, पर इसमें परिचयात्मक विश्लेषण नहीं है, क्योंकि विश्लेषण देना इस पुस्तक का ध्येय-सा लगता है और इसमें भी अधिक इस तत्त्व की अत्यधिक अपेक्षा है। पुस्तक के विकास का परिचयात्मक क्रम बहुत ही वैज्ञानिक, सुबोध और प्रशसनीय है। लगता है, विद्वान् लेखक ने पूरी सामग्री को अपनी मुट्ठी में रख कर उसे सँजोया है।

संपादक क्षेमचन्द्र 'सुमन' और इसके प्रकाशक हार्दिक बधाई के पात्र हैं। इसके प्रकाशन के पवित्र उद्देश्य और संयोजक की उदार नीति भी प्रशंसनीय है। भारतीय साहित्यिक विकास में, जिसे किसी दिन हम सच्ची राष्ट्रीय संपत्ति कहेंगे, ऐसी पुस्तकों का उसमें अवश्य हाथ होगा।

लक्ष्मीनारायण लाल

भोजपुरी भाषा और साहित्य : लेखक, डाक्टर उदयनारायण तिवारी, प्रकाशक, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् पटना, पृ०-सं० ३६० मूल्य सजिल्द १३॥)

प्रस्तुत मूल्यवान और बृहदाकार ग्रंथ भोजपुरी भाषा और साहित्य के कुशल विद्वान् और मर्मज्ञ की कृति है। उसे देखने-मात्र से यह सिद्ध हो जाता है कि तिवारी जी में अपनी भाषा और साहित्य

के प्रति कितनी अपार आस्था और तपस्या है। और तब यह भी सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी संसार मे डा० उदयनारायण भोजपुरी भाषा और साहित्य के अग्रणी विद्वान् है। पुस्तक के आरंभ मे ही भोजपुरी तथा उसकी उप-भाषाओं को चित्रित करने वाला एक अत्यन्त ही मूल्यवान मानचित्र है, जिसमें इसकी राजनीतिक सीमा निश्चित की गयी है। इसके अन्तर्गत उत्तरी आदर्श भोजपुरी, पश्चिमी आदर्श भोजपुरी दक्षिणी आदर्श भोजपुरी, नगपुरिया और नैपाली के क्षेत्र निश्चित किये गये है। वस्तुत यह अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य है। विद्वतापूर्ण उपोद्घात के उपरान्त समूचा ग्रंथ तीन खंडो मे विभक्त है—१ प्रथम खंड के दो अध्यायो मे भोजपुरी साहित्य का विश्लेषणात्मक परिचय है। २ द्वितीय खंड में दस अध्याय है और ३. तृतीय खंड में, जिसे लेखक ने रूप तत्त्व की संज्ञा दी है सात अध्याय है। ये दूसरे और तीसरे खंड प्रस्तुत ग्रंथ की मूल आत्माएँ है, जिसमें क्रमश विद्वान् लेखक ने भोजपुरी भाषा के समूचे व्याकरण का वैज्ञानिक अध्ययन दिया है और उसके उदाहरणों में अपने शोध-कार्य की सफल क्षमता का सच्चा परिचय दिया है। रूप-तत्त्व में उसकी भाषा-संबधी वैज्ञानिकता और परिश्रम अपनी चरम सीमा पर है। प्रत्यय-उपसर्ग, समास, संज्ञा के रूप, विशेषण, सर्वनाम, क्रियापद और अव्यय के उदाहरण और उनकी समीक्षाएँ प्रशंसनीय है। अन्त के तीन परिशिष्ट, जिसमें क्रमश भोजपुरी साहर पुराने कागद पत्र, आधुनिक भोजपुरी के उदाहरण और शब्दो की अनुक्रमणिका सम्मिलित है, ग्रंथ के गौरव बढ़ाने मे सहायक हो सके है। निस्सन्देह इस ग्रंथ से हिन्दी साहित्य के निर्माण, शोध-कार्य और हिन्दी भाषा साहित्य के गौरव में नया हस्ताक्षर लगा है।

लक्ष्मीनारायण लाल

() रूपजाल (अनूदित उपन्यास) : अनुवादक, छविनाथ पाण्डेय, प्रकाशक, कुसुम प्रकाशन, पटना—३ पृष्ठ-संख्या २७४, मूल्य ३॥)

प्रस्तुत पुस्तक अंग्रेजी उपन्यास 'मैडोना आफ स्लीपिंग कार' का अनुवाद है। लेखक का मूल उद्देश्य कथानक के माध्यम से रूस में बोल्शेविक शासन को भयंकरता दिखला कर रूसी साम्यवाद के प्रति पाठक के मन मे घृणा उत्पन्न करना है। उपन्यास की नायिका लेडी डायना ब्रिटेन के कुलीनवर्गीय एक उच्च पदाधिकारी की विधवा पत्नी है, जो असाधारण सुन्दरी होने के साथ साथ कामुक एवं विलासी भी है। अपनी अतृप्त कामवासना तथा विलासिता की तुष्टि के लिए वह व्याकुल रहती है। कथानक एक बँधी हुई दिशा में अग्रसर होता है। जैसे-जैसे उपन्यास आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे लेखक का दृष्टिकोण भी स्पष्ट होता जाता है। कई स्थानो पर पात्रो के वार्तालाप के माध्यम से लेखक अपने ढंग से साम्यवाद, पूंजीवाद, इंग्लैंड, अमेरिका तथा फ्रांस के स्त्री-पुरुषो के स्वभाव आदि के विषय में विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करता है, जिसके कारण कहीं-कहीं उपन्यास की गति शिथिल हो जाती है और पाठक नीरसता का अनुभव करने लगता है। लेडी डायना यद्यपि कुलीनवर्ग की है, किन्तु अपने वर्ग में वह अत्यन्त हेय एवं उपेक्षित दृष्टि से देखी जाती है। इसीलिए प्रतिशोध की भावना से वह सहस्रो दर्शको के सम्मुख नग्न नृत्य करती है और वरिचकिन जैसे तुच्छ बोल्शेविक से विवाह करने को प्रस्तुत हो जाती है। इस बीच उसकी आर्थिक स्थिति भी बिगड़ गयी रहती है, इसलिए वह जर्मनी-स्थित बोल्शेविक पदाधिकारी वरिचकिन को अपने रूपजाल में फांसती है, जिससे वह मास्को के सोवियत अधिकारियो से उसके तेलाव-स्थित भूमि का पट्टा दिलवा दे। इस प्रकार ब्रिटेन के उच्च-कुलीन-वर्ग की महिला धन के लिए अपना तन बेचने को प्रस्तुत हो जाती है। वरिचकिन का चित्रण एक विश्वासघाती अवसरवादी के रूप में किया गया है। लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि वर्तमान रूस के उच्च पदाधिकारी किस प्रकार, घोर विलासिता का जीवन बिताते है और सामान्य

जनता आतंक एवं भय के वातावरण में दरिद्रता का जीवन बिताती है। बोल्शेविकों में न्याय तथा नैतिकता नाम की कोई वस्तु ही नहीं होती। लोगों को अकारण ही, या केवल सदेह-मात्र पर जेलों में ठूँस दिया जाता है और उन्हें नाना प्रकार की अमानुषिक यन्त्रणाएँ दी जाती हैं। बिना किसी पुष्ट प्रमाण के फाँसी दे देना तो वहाँ एक साधारण सी बात है। सोवियत राज्य की सीमा में रहने वाला प्रत्येक सामान्य व्यक्ति टेक्का (बोल्शेविक गुप्तचर-दल) तथा उसकी कालकोठरियों के आतंक से अत्यन्त भयभीत रहता है और वहाँ से निकल भागने का अवसर खोजा करता है। इस प्रकार सोवियत-राज्य का चित्रण यमपुरी के रूप में किया गया है। लेखक ने ब्रिटेन, फ्रांस तथा अमेरिका के कुलीन-वर्ग की विलासिता एवं भ्रष्ट जीवन की ओर भी छींटा-कशी की है किन्तु सहानुभूतिपूर्वक। वैसे प्रचार-साहित्य की दृष्टि से इस पुस्तक का अपना एक विशेष स्थान है, किन्तु लेखक का दृष्टिकोण अत्यन्त एकांगी एवं द्वेषपूर्ण लगता है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता आरम्भ से अन्त तक कुतूहल का सफल निर्वाह है, जिसके कारण कोरे सिद्धान्त-प्रतिपादन की नीरसता बहुत-कुछ अंशों में कम हो गयी है। लेडी डायना, प्रिन्स मेलिमन, करिचकिन तथा इरिना मौराविक आदि पात्रों के चरित्र-चित्रण में लेखक ने अपने कलाकौशल का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। कुछ स्थलों को छोड़ कर, जहाँ लेखक अतिशयोक्ति की सीमा तक पहुँच गया है, चित्रण स्वाभाविक एवं सजीव है। लेखक को जो कुछ कहना था, उसे अत्यन्त कुशलता से, बिना किसी झिझक के पाठक के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है, यही इस उपन्यास की प्रमुख विशेषता है और इस दृष्टि से उपन्यास बहुत कुछ अंशों तक सफल कहा जा सकता है।

कहीं-कहीं अनुवाद की भाषा अत्यन्त शिथिल एवं लम्बी हो गयी है। भाषा पर पूर्ण संयम न होने के कारण अनेक स्थलों पर एक ही वाक्य में संस्कृत-गर्भित तथा फारसी मिली हुई भाषा (शब्दावली) का बेमेल मिश्रण मिलता है। भूल या असावधानी के कारण कुछ अंग्रेजी तथा उर्दू शब्दों को भी विकृत रूप दे दिया गया है, जैसे, थेटर, मिस्टर, तकादा, आदि। पुस्तक में कहीं भी मूल-लेखक का नाम न दिया जाना बहुत खटकता है।

कागज़, छपाई तथा जिल्द सभी साधारण कोटि के हैं। प्रूफ-संबंधी भूलें अपेक्षाकृत कम हैं। गेट्अप सस्ते किस्म का होने के कारण पुस्तक बाहर से मामूली जासूसी उपन्यास-सी लगती है।

सुरेन्द्रपाल सिंह

अमृत और विष: लेखक, अरुण, प्रकाशक, आत्माराम एंड संस, दिल्ली; पृ०-सं० १६२, मूल्य २।)

'अमृत और विष' लेखक की सत्रह कहानियों का संग्रह है। १९४६ में "नरक का कीड़ा" नाम से यह संग्रह प्रकाशित हुआ था, अब इसमें दो चार कहानियाँ और जुड़ गयी हैं, तभी 'नरक का कीड़ा' 'अमृत और विष' बन गया है। संग्रह की एक कहानी है, 'शतरंज के मोहरे'—इसमें लेखक ने गालिब का शेर लिखा है—"मज़ा कहने का तब है, एक कहे और दूसरा समझे। मगर अपना कहा यह आप समझें, या खुदा समझें।" यह तो हुई महज़ कहने की बात के लिए। लेकिन कहानी कहने के लिए कुछ और जिम्मेदारियाँ होती हैं, नहीं तो दुनिया की सारी अर्थवान और सुबोध बातें साहित्य के कहानी-क्षेत्र में आ जातीं। कहानी कहने की जिम्मेदारियाँ, कहानी की मान्यताएँ आज कोई शास्त्रीय रूप में नहीं हैं, न कोई किसी को किसी विशेष कलात्मक ढंग से लिखने या कहने को विवश कर सकता है, पर कहानी में कम से कम हम इतना तो चाहेंगे ही कि उसमें कुछ कथा हो, कुछ कौतूहल, जिज्ञासा हो जिससे हमारा मनोरंजन हो सके। उसके पात्र हमारे हों, हम हों उसमें, और

अन्त में कोई बात पैदा की गयी हो उसमें। प्रस्तुत कहानी-संग्रह ही नहीं, आज अनेक हिन्दी कहानी-संग्रहों में यह अभाव खटक रहा है। हम सब का धर्म की दृष्टि से इस अभाव का सामना करना है। 'अमृत और विष,' 'मैं और वह,' 'कुछ समझ न सका,' 'शतरंज के मोहरे,' मौन और भीड,' 'पागलपन,' 'अज्ञात कवि' और समाज के पुर्जे,' इतनी कहानियाँ पढ़ने के बाद, और मेहनत से पढ़ने के बाद, इनमें से एक भी कहानी नहीं मिली, सब लेख लगे, और न जाने क्या-क्या लगें।

लक्ष्मीनारायण लाल

प्रायश्चित्त : ले०, हरिमोहन लाल श्रीवास्तव, प्रकाशक, किताबघर, कदम कुआँ, पटना—३

प्रस्तुत पुस्तक लेखक का लघु सामाजिक उपन्यास है। पुस्तक के प्रारम्भ में लेखक ने एक छोटी-सी भूमिका भी दी है जो लघु उपन्यास के तत्त्वों के निरूपण तथा आवश्यकता की ओर संकेत करती है। यह बात ध्यान देने की है कि हिन्दी में लघु उपन्यासों की कमी है—जो हैं भी, उन्हें कई कारणों से लघु उपन्यास न कह कर लम्बी-कहानी कहा जा सकता है। इधर कई सफल लघु उपन्यास सामने आये हैं। इन उपन्यासों में 'नई पौध,' 'बाबा बटेसर नाथ', 'गंगा मैया' का नाम लिया जा सकता है।

प्रस्तुत उपन्यास, सामाजिक उपन्यास के ढाँचे में बिखरी हुई प्रेम-कहानी है, जिसका कोई भी संयुक्त प्रभाव मन पर नहीं छूटता। कथानक, शैली, भाषा, सब बहुत पुरानी और अपरिपक्व-सी जान पड़ती है। उपन्यास का प्रारम्भ बहुत ही काल्पनिक, ऐतिहासिक कथाओं-सा होता है और अन्त तक कथानक विश्वसनीय नहीं लगता। सर्वत्र लेखक की बुनावट कृत्रिम-सी लगती है।

घटनाओं का गुम्फन इतना कच्चा है, कि लेखक जब चाहता है, कहीं से उसका गला दबा कर तोड़ देता है। शुरू के कई अध्यायों में तो कहानी के सूत्र ही नहीं मिलते। एक अध्याय के बाद दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा, ऐसे लगते हैं, जैसे लेखक का कथा-सूत्र ही स्पष्ट नहीं है। नयी नयी कहानियाँ आ कर अध्याय के अन्त में टूटती जाती हैं।

उपन्यास को पूरा पढ़ जाने के बाद इस बात का पूरा आभास हो जाता है कि लेखक को उपन्यास के शिल्पविधान का ज्ञान ही नहीं है। साथ ही भाषा और कथानक की कमज़ोरी ने इसे महत्त्वहीन और फिजूल बना दिया है। बेहतर हो, यदि ऐसी कृतियाँ प्रकाश में न आयें और लेखक प्रयत्न करके कुछ प्रौढ़ चीज़ें लिखे।

पुस्तक की छपाई सफाई सब निकृष्ट है।

राजेन्द्र धनुर्वंशी

मैं कम्युनिस्ट क्यों नहीं हूँ? लेखक निरुपम भट्टाचार्य, मृणाल खास्तगीर, रेखा मजुमदार, शक्ति भट्टाचार्य, पृ० सं० ३८, मूल्य =)

इस छोटी-सी पुस्तक में "मैं कम्युनिस्ट क्यों नहीं हूँ" विषय पर चार अत्यन्त सुन्दर लेख हैं, जो 'एशिया' द्वारा आयोजित निबन्ध प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ मान कर पुरस्कृत किये गये थे। मूल निबन्ध बंगला भाषा में हैं। यह अनुवाद हिन्दी पाठकों के लिए अत्यन्त रोचक और लाभप्रद सिद्ध होगा।

आत्मदेव शर्मा

दार्शनिक : प्रबन्ध-सम्पादक, यशदेव शल्य, सं० मण्डल डा० आर० एन० कौल, प्रो० संगमलाल पाण्डेय प्रो० अर्जुन चौबे कश्यप, प्रकाशक, अ० भा० दर्शन परिषद्, फरीदकोट (पेप्सू), मूल्य १।)

'दार्शनिक' एक त्रैमासिक पत्रिका है। अ० भारतीय दर्शन परिषद प्रकाशन, फरीदकोट (पेप्सू) द्वारा प्रकाशित यह निबन्ध-प्रधान पत्रिका है। दार्शनिक क्षेत्र में यह प्रयास सराहनीय है। यह पत्रिका एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करती है। हम 'दार्शनिक' की सफलता चाहते हैं।

आत्मदेव शर्मा

साहित्य-धारा

८

युद्धोत्तर-कालीन साहित्य में, जो मानसिक घुटन, निराशा और अमानवीय प्रवृत्तियों के उद्गार का दौर आया, उसका सबसे अधिक प्रभाव कहानियों पर परिलक्षित हुआ। अवकाश की कमी, उद्वेगों का अस्थायित्व, पैसे की बढ़ती और सामाजिक नैतिक मूल्यों का विघटन, आदि कई ऐसे प्रमुख कारण थे, जिनके कारण सस्ते मनोरंजन के लिए कहानी एक माध्यम बन गयी। फलतः कहानियों की ऐसी पत्रिकाएँ, जो गद्य साहित्य को छाप सकने में समर्थ थीं, इस काल में अत्यधिक लोक-प्रिय हो उठीं। स्पष्टतः इस समय विस्तार में दो प्रकार की कहानियों का निर्माण होता रहा—एक, जिन्हें हम युद्ध-जन्य परिस्थितियों में निर्मित साहित्यिक कहानियाँ कह सकते हैं; दूसरी, जो युद्ध-जन्य आतंक, भय, रहस्य, हत्या इत्यादि के वृत्तान्तों को समेटे हुए सस्ती पत्रिकाओं में छपती रहीं। कुछ महीने पहले तक यह चिन्तनीय बात थी कि पाठकों की रुचि ऐसी कहानियों से किस प्रकार टूटे। लेकिन इधर के कतिपय प्रयत्नों से यह बात बहुत स्पष्ट हो गयी है कि पाठक जीवन की सद्वृत्तियों, संघर्षों और नैतिक मूल्यों के पास आ गया है।

•

यह बात प्रयाग से प्रकाशित होने वाले 'कहानी' मासिक ने अपने एक वर्ष की जीवन यात्रा में ही सिद्ध कर दिया है। उसका वार्षिक विशेषांक हिन्दी-कथा-साहित्य के इतिहास में एक अनुपम प्रयत्न है, जिसे अब तक हिन्दी के अधिकांश बड़े आलोचकों, पत्र-पत्रिकाओं से बधाइयाँ और प्रशंसात्मक सम्मतियाँ मिल चुकी हैं।

•

इसमें विदेशी तथा प्रान्तीय भाषाओं के अतिरिक्त हिन्दी के सभी प्रतिनिधि कथाकारों की कहानियाँ छपी हैं। इसके अतिरिक्त कथा-साहित्य पर लेख

और 'मैं कहानी कैसे लिखता हूँ' स्तंभ भी है। लेकिन इतने बड़े अनुष्ठान में कुछ बहुत बड़ी खामियाँ हैं। एक तो यह कि पूरी योजना में सुरुचि और व्यवस्था का अभाव है। उदाहरण के लिए हिन्दी-कथा-साहित्य पर कोई लेख ही नहीं। यह स्थिति 'कहानी' जैसी पत्रिका के सामने न होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में अन्य लेख भी न छाप जाते, तो शायद ज्यादा अच्छा रहता। क्योंकि केवल दो लेख देने का कोई मतलब नहीं होता। इसी तरह 'कहानी की बात' में अपना हिसाब समझाना भी उचित नहीं लगता।

अनुवाद के लिए चुनी गयी सभी विदेशी कहानियाँ प्रभावशाली हैं और प्रान्तीय कहानियों में महादेव शास्त्री जोशी की कहानी 'पर्जन्य गुरु' तो संभवतः इस अंक की सर्वोत्कृष्ट रचना है। सआदत हसन मंटो की उर्दू कहानी 'टोबाटेक सिंह', रांगेय राघव की 'गदल' और अमृतराय की 'सावनी समाँ', विष्णु प्रभाकर की 'धरती अब भी घूम रही है' उत्कृष्ट कहानियाँ हैं। 'धरती अब भी घूम रही है' की अतीव नाटकीयता उसे सहजता से दूर ले जाती है।

कृष्णा सोबती की कहानी 'बादलों के घेरे', कमलेश्वर की 'कस्बे का आदमी' और भैरवप्रसाद गुप्त की 'चाय का प्याला' इस अंक की पठनीय कहानियाँ हैं। सोबती की कहानी का प्रारंभ प्रभावशाली है। अंतिम हिस्सों में कहानी बिखर गयी है। कुल मिला कर यह अंक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। लेकिन 'कहानी'-सम्पादकों को भविष्य में विशेषांकों की योजना बनाते समय उसकी संपूर्ण व्यवस्था पर दृष्टि रखनी चाहिए। इतनी महान् योजना में छोटी कमियाँ भी खटकती हैं।

लखनऊ से सद्य प्रकाशित 'युगचेतना' में अमृतलाल नागर की एक बहुत अच्छी कहानी 'भगवान के घर की एक शाम' प्रकाशित हुई है। इसी अंक में दिवाकर की 'घरेलू नौकर' और स्वरूपकुमारी बख्शी की 'सीसे की रोम' दो और अच्छी कहानियाँ छपी हैं। स्वरूपकुमारी बख्शी की कहानी में घरेलू वातावरण का बड़ा ही मनोहारी वर्णन बन पड़ा है।

अन्यत्र प्रकाशित कहानियों में क्षीरसागर की 'तूफान का अंत' (सरस्वती), राजेन्द्र सिंह बेदी की 'दावाग्नि' (नया पथ), मार्कण्डेय की 'भाभी' (अवन्तिका) और मुल्लावल्लिपुरम् की 'अनंत यात्रा' (दक्षिण भारत) उल्लेखनीय हैं। गत मास के प्रकाशित एकांकियों में भारतभूषण अग्रवाल का ध्वनि-रूपक 'परछाइयाँ' (कल्पना), अनन्त कुमार पाषाण का एकांकी 'सूनी सड़कें' (विशाल भारत), और 'पाटल' में प्रकाशित चेखव के एकांकी का अनुवाद 'मरी हुई जिन्दगी' विशेष महत्त्व के हैं। चेखव का पत्र में केवल छापा गया है। ऐसी साधारण गलतियों पर सम्पादकों को ध्यान देना चाहिए। एकांकियों के अनुवाद का प्रचलन अभी हिंदी में नहीं हुआ है। चेखोव जैसे महान् नाटककार की अन्य कृतियों का भी अनुवाद हो सके तो अच्छा रहे। 'आजकल' में माया बरेरकर की एक बहुत अच्छी कहानी 'मन' का अनुवाद इसी महीने प्रकाशित हुआ है।

गत मास प्रकाशित निबंधों में डा० रांगेय राघव का 'गौतम बुद्ध से पहले सांस्कृतिक अन्तर्भुक्ति' और अमृता प्रीतम का 'पंजाबी साहित्य का विकास' (सम्मेलन पत्रिका), दुष्यन्त कुमार का 'नयी कहानी : परंपरा और प्रयोग' और मंगलदेव शास्त्री का 'भारतीय संस्कृति : वैदिक धारा का ह्रास' (कल्पना), वाचस्पति शास्त्री का 'संस्कृत साहित्य में नाटकों की प्रणयन-परंपरा' (अजन्ता), नामवर सिंह का 'भूमिका' (ज्ञानोदय), राधाकृष्ण सहाय का 'गेटे और एकरमान की बात-चीत' (युग चेतना) उल्लेखनीय हैं।

'नयी कहानी : परंपरा और प्रयोग' में प्रेमचंदोत्तर कहानी-साहित्य के सर्वमान्य लेखक यशपाल, जिनकी शिल्प परंपरा और प्रयोग दोनों दृष्टियों से जरूरी

था, बिलकुल छूट गया है। कहानी के सजग पाठकों से यह बात छिपी नहीं है कि यशपाल प्रेमचंद के बाद के कहानीकारों में सबसे अधिक शक्ति संपन्न एवं विषय और शैली दोनों में अतीव नवीन हैं। इस तरह का कोई लेख बिना उनकी कहानियों के जिक्र के अधूरा ही रहेगा। विश्लेषण तो है और प्रवृत्तियाँ भी उभारी गयी हैं, पर लिखने की त्वरा में लेख में कुछ कमियाँ अवश्य रह गयी हैं।

'युग चेतना' में प्रकाशित 'अज्ञेय' की कविता 'क्योंकि तुम हो' का एक अंश पढ़िए—

तुम तुम हो, मैं—क्या हूँ ?
ऊँची उड़ान, छोटे कृतित्व की लंबी परंपरा हूँ।
पर कवि हूँ—स्रष्टा, द्रष्टा, दाता :
जो पाता
हूँ, अपने को मिट्टी कर उसे गलाता चमकाता हूँ।
अपने को मिट्टी कर उसका अंकुर पनपाता हूँ।
पुष्प-सा, सलिल-सा, प्रसाद-सा,
कंचन सा, शस्य सा, पुण्य-सा,
अनिर्वच आह्लाद-सा लुटाता हूँ,
क्योंकि तुम हो।

पिछले महीने 'आजकल' में प्रकाशित बालकृष्ण राव की 'दीप जलता है कहीं' और नरेश मेहता की 'तीर्थ जल' अच्छी रचनाएँ हैं। बालकृष्ण राव की कविता में लय एवं अनुभूति का सहज प्रवाह है—

दीप जलता है कहीं, छाया बनाती,
मौन, सूने खँडहरों से उठ अचानक
याद-सी हमको दिला जाती प्रतिध्वनि
रात में भी जागता है स्वर किसी का।

अन्यत्र प्रकाशित कविताओं में श्याममोहन श्रीवास्तव की 'व्यक्तित्व-दर्शन' (कल्पना) सुरेन्द्र कुमार दीक्षित का गीत 'ज्योति भी तुमने जगायी' और श्री हरि का गीत (ज्ञानोदय) उल्लेखनीय हैं।

—'घग्घर'

March, 1955 Rgd. No. H 616

प्रकाशक : मधुसूदन चतुर्वेदी एम० ए०, ८३१, बेगमबाज़ार, हैदराबाद–दक्षिण
मुद्रक : कमर्शियल प्रिंटिंग प्रेस, हैदराबाद–दक्षिण

अप्रैल, १९५४

निवेदन

१. प्रायः 'कल्पना' के पाठकों के इस आशय के पत्र आते रहते हैं कि उनके नगर के पत्र-विक्रेताओं के पास या उनके पास के रेल्वे स्टाल में उन्हें 'कल्पना' नहीं मिलती। ऐसे पाठकों से हमारा निवेदन है कि कई कारणों से देश के नगर-नगर में पत्र विक्रेताओं के माध्यम से पाठकों तक 'कल्पना' पहुँचाना सम्भव नहीं है। अतः उन्हें १२) वार्षिक शुल्क भेज कर ग्राहक बन जाना चाहिए।

२. ग्राहकों की ओर से प्रायः हमें यह शिकायत सुननी पड़ती है कि 'कल्पना' उन्हें नहीं मिलती। कार्यालय से 'कल्पना' भेजते समय एक-एक ग्राहक की प्रति दो बार जाँच कर भेजी जाती है, ताकि किसी की प्रति रह न जाए। फिर भी कुछ लोगों की पत्रिका न मिलने की शिकायत बनी ही रहती है। इसलिए इस वर्ष, जनवरी १९५५ से पोस्टल सर्टीफ़िकेट के अन्तर्गत 'कल्पना' भेजने का प्रबन्ध किया गया है। इस प्रकार हम अपनी ओर से हर सम्भव उपाय द्वारा यह प्रबन्ध कर देना चाहते हैं कि यहाँ से पत्रिका रवाना करने में किसी प्रकार की चूक न हो।

३. सार्वजनिक पुस्तकालयों, शिक्षण-संस्थाओं, तथा विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों की ओर से वर्ष के अन्त में प्रायः इस आशय के पत्र आते हैं कि उन्हें इस वर्ष अमुक अंक प्राप्त नहीं हुआ। उसको पूरा करने के लिए भेज दीजिए। उपर्युक्त संस्थाओं के अधिकारियों से निवेदन है कि वे हमें ऐसे वर्ष-अन्त में न लिखें। जब कोई अंक प्राप्त न हो, तो अपने डाकघर से पूछिए और उनके लिखित उत्तर के साथ दूसरे महीने में ही अंक प्राप्त न होने की सूचना हमें भेजिए। अन्यथा दुबारा अंक भेज सकने में हम असमर्थ होंगे।

कल्पना

वर्ष ६ अप्रैल

अंक ४ १९५५

सम्पादक-मण्डल
डॉ० आर्येन्द्र शर्मा
(प्रधान संपादक)
मधुसूदन चतुर्वेदी
बद्रीविशाल पित्ती
मुनीन्द्र

कला-सम्पादक
जगदीश मित्तल

वार्षिक मूल्य १२)
एक प्रति १)

८३१, बेगमबाज़ार
हैदराबाद-दक्षिण

इस अंक में

निबंध

मधुराचार्य और उनका मणि संदर्भ	५	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
ब्रजभाषा-गद्य-साहित्य का संक्षिप्त परिचय	३१	हरिमोहन श्रीवास्तव
'मदनशतक' का गुप्त प्रेम-पत्र	४७	अगरचंद नाहटा, भँवरलाल नाहटा
सूत्रपात	६२	गंगाप्रसाद पांडेय

कहानी

शारदीया (एकांकी)	१५	जगदीशचन्द्र माथुर
प्लेग	४३	कर्तारसिंह दुग्गल
सीमाएँ	५५	रामदरश मिश्र

कविता

टेसू	१४	'अज्ञेय'
समर शेष है	३०	रामधारी सिंह 'दिनकर'
शरद्-प्रात	४२	केदारनाथ सिंह
टुंड्रा	६०	अनन्तकुमार 'पाषाण'

स्तंभ

संपादकीय	१
समालोचना तथा पुस्तक-परिचय	६६

समीक्षार्थ प्राप्त साहित्य

हिंदी साहित्य प्रकाशन समिति, भागलपुर

मानस मूर्च्छना रामसेवक चतुर्वेदी 'शास्त्री'

प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नयी दिल्ली

हिंदी साहित्य की नवीन धाराएं

युग मंदिर, उन्नाव

बोलो के देवता सुमित्राकुमारी सिन्हा

पाठकों के पत्र

'कल्पना' में प्रकाशित रचनाओं के विषय में पाठकों की जो राय होती है, उसे प्रायः प्रकाशित किया जाता है। हम यह मानते हैं कि पाठक की राय लेखक के पास पहुँचाना आवश्यक है। उसमें जो ग्राह्य है, वह उसे स्वीकार करे। ऐसा न समझा जाए कि पाठकों की वह राय ही प्रकाशित की जाती है, जिससे सम्पादक-मंडल सहमत हो।

—संपादक

'कल्पना' में पद्य-साहित्य 'कल्पना' के अंकों के प्रति मुझे विशेष रुचि है और गद्य-साहित्य पद्य से अधिक उपयोगी है, और विश्वास है कि ऐसा गद्य-साहित्य अन्य पत्रिकाओं में नहीं मिल सकता। निस्सन्देह आप लोगों का यह कार्य भविष्य में भी अपना स्थान रखेगा।

मुझे कुछ शिकायत के रूप में निवेदन करना है। प्रथम तो यह, कि पद्य-सम्बन्धी साहित्य नितान्त कमज़ोर दिया जा रहा है। सच तो यह है कि कविता सीखने की प्रारंभिक स्थिति जैसी आपके अनेक कवियों में है। विचार तो हैं लेकिन अभिव्यक्ति के ग्राह्य-माध्यम का अभाव है। उसका कारण है, कविगण अपने विचारों को प्रधानता दे कर 'कविता' को विवश और लाचार बना देते हैं, विचार कविता के ऊपर हावी हो उठते हैं। हाँ, लोग यह कह सकते हैं कि विज्ञान के युग में कविता कहाँ? मैंने यह लोगों के मुख से सुना है, लेकिन यह तो कहना नितान्त अन्यायपूर्ण होगा, क्योंकि कविता हृदय एवं मानवता की अभिव्यक्ति है और यह मानव-मन का साथी है। कविता में विचार घुल-मिल जाएँ तो कवि की सफलता कही जाएगी।

दूसरी शिकायत है श्री 'चक्रधर' जी से, जो 'कल्पना'-जैसी पत्रिका का महत्त्व घटा रहे हैं।

'साहित्यधारा' में अनेक छोटे-बड़े लेखकों की मासिक साहित्यिक प्रगति दी जाती है। श्री 'सत्रधर' की संकीर्णता का परिचय तब स्पष्ट झलकता है, जब अनेक उच्च कोटि की रचनाएँ उनकी दृष्टि से रह जाती हैं। यह साहित्यिक अन्याय है। क्योंकि उचित मूल्यांकन करना ही आलोचक का धर्म है। दलबन्दी तथा 'ग्रूप मेन्टेलिटी' जैसी नीच मनोवृत्ति को लेकर साहित्य-साधकों के श्रम को विफल करने का प्रयास किया जाता है, और 'तोता होता' जैसी कविताओं को प्रश्रय दिया जाता है। लेकिन इस बात पर और खेद है कि 'कल्पना' का सम्पादक-मण्डल देखता है लेकिन सुनता नहीं।

विजयकुमार शुक्ल, प्रयाग

'कल्पना'-संपादकों की जिम्मेदारी : 'कल्पना' रूप और सज्जा में तो अब काफी बन-ठन गयी है, पर सामग्री का पक्ष, लगता है, अब कुछ कमजोर पड़ने लगा है। हो सकता है, नये-नये पत्रों के कारण सामग्री का एक ही ओर खिंच जाना कम हो रहा हो, ऐसे समय में सोचता हूँ कि आप सम्पादकों की जिम्मेदारी कुछ बढ़ गयी है। मुझे आशा ही नहीं विश्वास भी है कि कल्पना का स्टैंडर्ड कायम रहेगा।

—ओंकारनाथ श्रीवास्तव, प्रयाग

सम्पादकीय

ललित-साहित्य के उपेक्षित अंग

आधुनिक हिंदी साहित्य का पल्लवन पिछले सौ वर्षों से निरन्तर होता रहा है। प्रगतिवाद से संबंधित गति-रोध की चर्चा के बावजूद कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य विकास के पथ पर बराबर अग्रसर हुआ है। यह ठीक है कि विविध क्षेत्रों का नूतनतम साहित्य भी ऐसा नहीं बन सका कि उसे निःसंकोच उत्कृष्ट या महान कहा जा सके, फिर भी हमारे साहित्यकार इस ओर उन्मुख और प्रयत्नशील तो हैं ही। देश-विदेश के अन्य सुविकसित साहित्यों से टक्कर लेने वाली कृतियां अभी हमारे पास अधिक संख्या में नहीं हैं, पर यह संख्या क्रमशः बढ़ती जाएगी, इसकी आशा हम कर सकते हैं। अब हिंदी के राष्ट्र-भाषा बन जाने से हिंदी-साहित्य की प्रगति को प्रेरणा भी मिल रही है। किन्तु हिंदी राष्ट्र-भाषा न बनी होती, तो भी उसका साहित्यिक विकास होता ही—बल्कि हो सकता है कि कुछ अधिक अच्छे ढंग से, अधिक स्वाभाविकता के साथ होता। हम बात ललित-साहित्य की कर रहे हैं। जहां तक गंभीर अथवा शास्त्रीय साहित्य (वाङ्मय) का संबंध है, हिंदी का राष्ट्र-भाषा बन जाना उसकी प्रगति के लिए निःसंदेह असामान्य प्रेरक और सहायक सिद्ध होगा।

किन्तु ललित साहित्य के भी कुछ क्षेत्र अभी तक सूखे पड़े हैं। कविता, कहानी, उपन्यास और आलोचना के क्षेत्रों में हिंदी संपन्न है—कम-से-कम विपन्न नहीं है। एकांकी का क्षेत्र भी पल्लवित हो रहा है। नाटक की दिशा में प्रगति बहुत कम हो पायी है, फिर भी कुछ है। पर हास्य और व्यंग्य, निबंध, जासूसी तथा वैज्ञानिक उपन्यास और बाल-साहित्य, इन क्षेत्रों की ओर हमारे साहित्यकारों ने बहुत कम ध्यान दिया है। ललित-साहित्य के ये सभी अंग वस्तुतः 'हलके-फुलके' साहित्य की श्रेणी में आते हैं, क्या इसी-लिए हमारे गंभीरता-प्रिय साहित्यकार इन्हें उपेक्षणीय समझते हैं? या पहले सुधारवाद, फिर छायावाद

और अंत में प्रगति-प्रयोग-वादों के भारी-भरकम प्रभाव ने साहित्यिकों को इस दिशा में नहीं बढ़ने दिया ? इन सभी वादों में मनुष्य को मुसकराने तक की गुंजाइश नहीं है, खुल कर हँसने का सवाल ही नहीं उठता। कुतूहल और रहस्य की बात यदि की जा सकती है, तो 'उस पार' के बारे में, पार्थिव प्राणियों का रहस्य क्या ? और बाल-साहित्य ? वह तो प्राइमरी स्कूलों के मुदर्रिसों की चीज है ! इन अंगों की उपेक्षा का कारण कुछ हद तक यह भी हो सकता है कि इनसे संबंधित कृतियों के निर्माण के लिए विशेष प्रकार के शिल्प, निपुणता, कल्पना और अनुभूति की अपेक्षा होती है, और इनमें उत्कृष्ट श्रेणी का निर्माण वस्तुतः अतीव श्रम-साध्य है।

हास्य और व्यंग्य भारतीय साहित्यिका के लिए नयी, सर्वथा अपरिचित चीज़ें नहीं हैं। इनकी परम्परा संस्कृत तक जाती है। यह ठीक है कि संस्कृत-साहित्य में भी इन अंगों का विकास बहुत ही कम हुआ। इने-गिने, सो भी तीसरी-चौथी श्रेणी के, कुछ प्रहसनों को छोड़ कर हास्य-व्यंग्य जो कुछ मिलता है, वह केवल संस्कृत नाटकों के विदूषकों में, और वे सब-के-सब स्थूल हास्य की सृष्टि करते हैं। एकमात्र अपवाद है, शाकुन्तल का विदूषक माढव्य जो यत्र-तत्र कुछ अच्छे व्यंग्य करता है। पर परंपरा किसी-न-किसी रूप में वर्तमान है। और परंपरा न भी होती, जैसे उपन्यास और कहानी की नहीं है, तो भी हिंदी में इस अंग का विकास हो सकता था। भारतेन्दु और उनके कतिपय समसामयिकों ने कुछ सुन्दर प्रहसन लिख कर इसका बीजारोपण भी कर दिया था, पर इस दिशा में प्रगति नहीं के बराबर हुई। द्विवेदी-युग में एक-दो लेखकों ने कुछ हास्य प्रधान कृतियाँ प्रस्तुत की पर छायावाद-युग आते-आते यह स्रोत लगभग सूख-सा गया। बदरीनाथ भट्ट, जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द, पं० हरिशंकर शर्मा, बेढब बनारसी और उपेन्द्रनाथ अश्क की कुछ कृतियों को छोड़ दें, जिनमें से शायद किसी को उत्कृष्ट साहित्य की श्रेणी में नहीं रखा गया, तो इस क्षेत्र में हमारे पास क्या बचता है ? हास्य-व्यंग्य के इस अभाव का कारण चाहे भारतीयों की गंभीर प्रकृति को मान लीजिए, चाहे हमारे जीवन-दर्शन को, और चाहे परिस्थितियों को, यह न्यूनता है, बुरी तरह खटकने वाली। साहित्य के इस सुन्दर अंग की उपेक्षा वस्तुतः हमारी अस्वस्थ मनोवृत्ति की परिचायक है। स्वच्छन्द, उन्मुक्त हास्य से हमारे साहित्यिक महारथी न जाने क्यों बचते हैं। क्या वे इसे बचकानी चीज़ समझते हैं, जिसके सम्पर्क में आने पर उनके व्यक्तित्व की गरिमा खंडित हो जाएगी ? पर हमारे प्रथम श्रेणी के अनेक साहित्यकार अनौपचारिक गोष्ठियों में विनोद, हास-परिहास, और व्यंग्य करते सुने जाते हैं। साहित्यकार के रूप में आते ही वे गंभीरता का बाना क्यों पहन लेते हैं, कि कोई उन्हें छू न सके ? उत्कृष्ट हास्य-साहित्य भारतीय जनता को अरुचिकर होगा, इसकी कोई आशंका नहीं है। और न यही कहा जा सकता है कि आज के संघर्ष-पूर्ण युग में हास्य का कोई स्थान, कोई उपयोग नहीं है। बल्कि संघर्ष में पिसते हुए मानव को आज रोमांस, भावुकता और प्रेरणा की अपेक्षा स्वस्थ हास्य तथा विनोद की अधिक अपेक्षा है, जो जीवन में उल्लास, उत्साह और स्फूर्ति का संचार करता है। आज साहित्यिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से हास्य-व्यंग्य-साहित्य का निर्माण आवश्यक है। जीवन की वास्तविकता, यथार्थ और सत्य का चित्रण हास्य-प्रधान कृतियों में भी सफलता के साथ किया जा सकता है। हाँ, सामान्य कविता, कहानी और उपन्यास की अपेक्षा यह काम अधिक श्रम-साध्य और नैपुण्यापेक्षी है। हमारे वर्तमान साहित्यिक महारथी इस क्षेत्र में स्वयं न उतरना चाहें, या न उतर सकते हों, तो नये प्रतिभाशाली लेखकों में से कुछ उपयुक्त व्यक्तियों को इसके लिए प्रेरणा तो दे सकते हैं। हिंदी का कोई नया लेखक श्रेष्ठ हास्य-लेखक नहीं बन सकता, क्योंकि हमारा जीवन-दर्शन ही हास्य के प्रतिकूल है, यह हम नहीं मानते। ऐसे लेखक अवश्य बन सकते हैं, या बनाये जा सकते हैं—प्रयत्न करके ही सही, प्रारंभ में विदेशी या बंगला-मराठी के हास्य-साहित्य के अनुकरण पर ही सही।

निबंध की कोई भारतीय परंपरा नहीं है। यह पश्चिम की देन है और, कहानी-उपन्यास की तरह, पश्चिमी साहित्य का अनुसरण करते हुए ही इसका विकास संभव है। हिन्दी के निबंध-साहित्य का भी प्रारंभ भारतेन्दु-युग में हुआ था। स्वयं भारतेन्दु ने, पं० बालकृष्ण भट्ट, और पं० प्रतापनारायण मिश्र ने उस युग में दसियों सुन्दर निबंध लिख कर हिन्दी में इस साहित्य की नींव डाली थी। ये कृतियाँ प्रारंभिक होने पर भी सरस, प्राणवान् और चमत्कार-पूर्ण हैं। आत्मीयता और रोचकता के साथ-साथ सामाजिक चेतना तथा जीवन के प्रति उदार दृष्टिकोण इन निबंधों की विशेषताएँ हैं, जो निबंध के आवश्यक गुण हैं। हिन्दी का निबंध-साहित्य इसी मार्ग पर अग्रसर होता जाता, तो आज हमें उसका सुविकसित रूप देखने को मिलता। किन्तु द्विवेदी-युग आते-आते निबंध की प्रगति मंद पड़ गयी, उसका स्थान गंभीर, शिक्षात्मक, उपदेशपरक, विवेचनात्मक लेखों ने ले लिया। इन लेखों को भी आलोचकों ने निबंध ही का नाम दिया है, किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में हम 'निबंध' शब्द का प्रयोग उन्हीं रोचक, सजीव, वैयक्तिक और 'बेतकल्लुफ' कृतियों के अर्थ में कर रहे हैं, जो दैनिक जीवन से संबंधित सामान्य-सी चीजों को लेकर पाठकों से बातचीत-सी करने लगती हैं। यह आत्मीयता, यह स्वच्छन्दता द्विवेदी-युग के केवल दो-तीन लेखकों में मिलती है—श्री बालमुकुन्द गुप्त, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह। शेष लेखकों ने, उत्कृष्ट श्रेणी के साहित्यकार होते हुए भी, ज्ञान-विज्ञान, नीति-आचार, विवेचना आलोचना से संबंधित लेख ही लिखे, और "ललित निबंध" की परंपरा, जो वस्तुतः अभी बन भी नहीं पायी थी, लगभग उच्छिन्न हो गयी। द्विवेदी-युग से अब तक के जो लेखक निबंध-लेखकों के नाम से प्रसिद्ध हैं, उनमें से अधिकांश आलोचक, विचारक, विवेचक, सुधारक आदि हैं, वस्तुतः निबंध-लेखक नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि इनमें से कुछ (जैसे श्री जैनेन्द्रकुमार, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी) कभी-कभी ललित निबंध लिख देते हैं। 'गीताञ्जलि', 'अन्तर्नाद', 'छायापथ' आदि की श्रेणी की भावात्मक गद्य-रचनाओं को हम ललित निबंध का नाम नहीं दे सकते, न पं० पद्मसिंह शर्मा और पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के संस्मरणों को, और न श्री बेनीपुरी के रेखाचित्रों को। इधर कुछ नये लेखकों के एक-आध निबंध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनकी कुछ कृतियाँ ललित निबंधों की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। सब मिला कर यह कहना ही पड़ता है कि हिन्दी में ललित निबंध का साहित्य बहुत ही कम मात्रा में निर्मित हुआ है। यों कहने के लिए निबंध-साहित्य की भरमार है। दर्जनों निबंध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और हो रहे हैं और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रतिमास सौ-दो-सौ निबंध प्रकाशित हो जाते हैं, किन्तु ललित निबंध कभी कठिनता से ही देखने को मिलते हैं। हिन्दी में इस अंग की उपेक्षा का कारण भी संभवतः वही है, जो हास्य-व्यंग्य की उपेक्षा का—अर्थात् हमारे प्रमुख साहित्यिकों की यह भावना कि ललित निबंध जैसी हलकी-फुलकी चीज लिखना उनकी गरिमा को क्षति पहुँचाने वाला है। वे यदि निबंध लिखेंगे भी, तो भाव-प्रधान या कल्पना-प्रधान, दैनिक जीवन से संबंधित, समाज और मानव की दुर्बलताओं को विनोद-पूर्ण शैली में प्रदर्शित करने वाले, आत्मीयतापूर्ण निबंध नहीं, जिन्हें कोई भी सहृदय पाठक कहानी की तरह दिलचस्पी से पढ़ जाएगा, पढ़ कर कुछ मुसकराएगा कुछ चकराएगा और कुछ सीखेगा। जीवन से साक्षात् संबंधित और साहित्य के अंगों में सबसे अधिक सजीव तथा रोचक यह अंग क्या अवहेलना के योग्य है? हमारा विश्वास है कि हिन्दी के साहित्यकार इस ओर ध्यान दें और भारी-भरकम, गवेषणात्मक लेखों के बदले उत्कृष्ट ललित-निबंध मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित कराएँ, तो ये पत्रिकाएँ भी अधिक सुपाठ्य बनेंगी और पाठकों के भी पल्ले कुछ पड़ेगा।

हास्य-व्यंग्य और ललित-निबन्ध के सम्बन्ध में हमारे उपर्युक्त विचारों से अधिकांश साहित्यिक सहमत हो जाएँगे। पर जासूसी उपन्यास[1] क्या जासूसी उपन्यासों की भी साहित्य में गणना हो सकती है? हम समझते हैं कि हो सकती है। शर्लाक होम्स के जन्मदाता सर आर्थर कॉनन डॉयल की कृतियाँ ही इसका

प्रमाण है। क्या कोई अंग्रेजी साहित्य का इतिहासकार इन कृतियों की उपेक्षा कर सकता है ? अगाथा क्रिस्टी, लेस्ली चार्टरिस, पीटर चेनी, और फ्रेंच लेखक सिमेनो भी इसी श्रेणी के नये लेखक हैं, जिनके जासूसी उपन्यास करोड़ों व्यक्तियों ने पढ़े हैं। जासूसी उपन्यास प्रधानतया मनोरंजन की सामग्री उपस्थित करते हैं। उन्हें पढ़ कर न किसी प्रकार की प्रेरणा मिलती है, न कोई उदात्त भावना जागृत होती है, न जीवन की किसी वास्तविकता का प्रत्यक्षीकरण होता है—ये आक्षेप किसी हद तक ठीक हैं। किन्तु शुद्ध मनोरंजन करने वाली कृतियों को हम एकदम त्याज्य नहीं मान सकते, उन्हें महान् साहित्य में स्थान भले ही न दें। कैरोल की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'एलीस इन वंडरलैंड' मनोरंजन के अतिरिक्त कुछ नहीं करती, पर उसकी गणना साहित्यिक कृतियों में होती है। वाल्ट डिस्ने की कार्टून-फिल्में शुद्ध मनोरंजन की सामग्री हैं, पर उन्हें कलात्मक मानना ही पड़ता है। इसी आधार पर हम जासूसी उपन्यासों को भी साहित्य का अंग मान सकते हैं, बशर्ते कि उनमें कल्पना की कुशलता, वर्णन-कौशल और सजीवता हो। हाँ, इतना अवश्य है कि जासूसी उपन्यास पाठक को अपराध करने की प्रेरणा देने वाला नहीं होना चाहिए।

हिन्दी में जासूसी उपन्यासों और कहानियों का लगभग पूरा अभाव है। हिन्दी कथा-साहित्य के प्रारम्भिक युग में बाबू देवकीनन्दन खत्री ने कुछ तिलिस्मी ऐयारी के उपन्यास लिखे थे। बाद में श्री गोपालराम गहमरी आदि ने जासूसी उपन्यास भी प्रस्तुत किये। कुछ अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद भी हुए। इसके आगे इस दिशा में कुछ नहीं किया गया। हमारे कथा-साहित्य का यह पक्ष बिलकुल ही उपेक्षित है। कल्पनाशील साहित्यकारों का इधर ध्यान देना चाहिए। अभी हाल में किताब-महल इलाहाबाद से सूर्या कमलानी द्वारा लिखित जासूसी उपन्यासों की एक सीरीज प्रकाशित हुई है। ये उपन्यास प्रथम श्रेणी के नहीं हैं, पर मौलिक एवं प्रारम्भिक प्रयास होने के नाते प्रोत्साहन के पात्र हैं।

बाल-साहित्य की ओर हिन्दी के साहित्यकारों का ध्यान अभी हाल में विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। किन्तु प्रकाशित पुस्तकों में से अधिकांश ऐसी हैं जो प्रकाशित न होतीं तभी अच्छा होता। इन पुस्तकों के लेखक यह भ्रान्त धारणा ले कर चले हैं कि बालोपयोगी पुस्तकें लिखना बहुत ही सीधा-सादा काम है, कि दो चार ऊटपटांग कविताएँ, कुछ परियों की कहानियाँ, शेर-गीदड़ के संवाद आदि का संग्रह कर देने-भर से बालोपयोगी पुस्तक तैयार हो जाती है। वास्तविकता यह है कि बच्चे किसी किताब को खेल-तमाशे के रूप में नहीं देखते, वे उसे ध्यान से, गम्भीरता से पढ़ते हैं। ऊटपटांग चीजों को भी वे या तो सार्थक रूप दे देंगे, जिससे उनकी हानि होगी, और या उनको ऊटपटांग मान लेंगे तो फिर पढ़ेंगे नहीं। बच्चों का संसार सीमित होता है, किन्तु उनके लिए वह उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी हमारे लिए अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय समस्याएँ। फलतः बाल साहित्य के लेखक को इतना कल्पना-शील होना चाहिए कि वह संसार को एक बालक की दृष्टि से देख सके, और साथ ही इतना निपुण भी होना चाहिए कि ज्ञान और चरित्र-निर्माण की बातें सुबोध रूप में प्रस्तुत कर सके। बाल-साहित्य में कोई भी चीज शुद्ध मनोरंजन के लिए नहीं लिखी जानी चाहिए। बच्चे किताब को मनोरंजन की दृष्टि से पढ़ते ही नहीं। जो पढ़ते हैं उसे हृदय पर अंकित कर लेते हैं। उचित यह होगा कि यह काम कुछ प्रथम श्रेणी के अनुभवी साहित्यकार अपने हाथ में लें।

हजारीप्रसाद द्विवेदी | # मधुराचार्य और उनका मणि संदर्भ

श्रीकृष्णोपासक भक्तो में मधुर भाव की भक्ति बहुत अधिक परिचित है, पर श्रीरामोपासक भक्तो में भी इस भाव की भक्ति कम प्रचलित नही है। कई कारणो से इस श्रेणी के भक्तों और उनकी रचनाओ की विवेचना बहुत कम हुई है। साधारणतया हिंदी के विद्वानो के मन में इस श्रेणी के साधको के प्रति बहुत आदर का भाव न होने से इनकी रचनाएँ उपेक्षित रह गयी है। इस श्रेणी के रामभक्तो में इस साधना का प्रचार कब से हुआ, यह कहना बहुत सरल नही है। जहाँ तक रामोपासक मधुर भाव के कवियों की लिखी उपलब्ध रचनाओ का सबंध है, वहाँ तक इन्हे तुलसीदास का परवर्ती ही माना जा सकता है। कम-से-कम मुझे इसके पूर्व की कोई रचना नही प्राप्त हुई। संभवतः खोज करने पर कुछ और भी पुराना साहित्य उपलब्ध हो जाए, क्योकि परंपरा-क्रम से इस भाव के उपासक यह मानते आ रहे हैं कि स्वामी रामानन्द तो इस भाव के उपासक थे ही, उनके पूर्ववर्ती गुरुओं को भी मधुर भाव की साधना प्रिय थी। इस बात के विश्वास करने का कारण है कि गलता (गालवाश्रम) की गद्दी पर रामानंदी वैष्णवो के अधिकार होने के बाद मधुर भाव की उपासना अधिक व्यापक हुई है। इस श्रेणी के भक्तो का विश्वास है कि श्री सिद्ध नाभादास और उनके गुरु अग्रदास तथा अग्रदास के गुरुभाई श्री कील (कील्ह) स्वामी जी मधुर रस के सुख-भोक्ता थे। मधुर रस का 'रसिक' (वस्तुत आगे चल कर ये भक्त अपने को 'रसिक' ही कहने लगे) भक्त अपने में श्री रामचद्र की प्रिया, सखी (श्री जानकी जी की सखी या दासी आदि) का अभिमान करता है और या तो श्री जानकी जी के सुख में सुख मानता है या श्री रामचद्र जी की प्रीति

का पात्र बन कर जीवन धन्य करता है। हनुमत्संहिता में पाँच प्रकार की भक्ति बतायी गयी है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगारक या मधुर। इनमें शृंगार, रसाश्रया या मधुरा भक्ति वह है, जिसमें भक्त 'मधुर-मनोहर' भगवान् रामचन्द्र को पति-रूप में भजता है।

पञ्चधा भक्तिरुक्तीह तच्छृणुष्व महामुने।
शान्तो दास्यस्तथा सख्यो वात्सल्यश्चशृंगारक ॥
मधुर मनोहर राम पति-सम्बन्ध-पूर्वकम्।
ज्ञात्वा सदैव भजते सा शृंगाररसाश्रया ॥

इस भाव के रसिक भक्तों का विश्वास है कि श्री अग्रदास जी इसी भाव के साधक थे। उनका साधना का नाम 'अग्र-अली' था। श्री रूपकला जी (श्री सीतारामशरण भगवान प्रसाद जी) ने भक्तमाल के 'भक्ति सुधास्वाद' नामक तिलक में बताया है कि श्री अग्रदेव जी "शृंगार रस के आचार्य 'श्री अग्र-अली' के नाम से प्रसिद्ध हैं। आपका अष्टयाम, आपकी ध्यान मंजरी, आपके कुंडलिया, पदावली इत्यादि प्रख्यात ही हैं। अस्तु। इन्हीं अग्रदास जी की परंपरा में श्री 'बालअली' नामधारी संत हुए, जिन्होंने 'नेहप्रकाश', 'ध्यान मंजरी' आदि की रचना की।" जो हो, मधुर भाव के रामोपासक 'रसिक' भक्तों का दावा है कि श्री स्वामी अग्रदास और स्वामी कील्हदास अपने गुरु कृष्णदास जी पयहारी के समान ही मधुर भाव के साधक थे। स्व० आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार अग्रदास जी सं० १६३२ के आसपास वर्तमान थे। यदि मधुर भाव के साधक भक्तों की यह बात स्वीकार कर ली जाए कि अग्रदास जी मधुर भाव के उपासक थे, तो मानना पड़ेगा कि विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में रामोपासक भक्तों में मधुर भाव की साधना प्रचलित हो चुकी थी।

इससे पूर्व ही वृन्दावन में श्रीकृष्ण-भक्तों में 'मधुर रस' की उपासना प्रचलित हो चुकी थी। श्री रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी के भक्ति-ग्रन्थ विद्वज्जन का चित्त हरण कर चुके थे। इन गोस्वामियों ने गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त को शास्त्रीय प्रतिपादन-योग्य गंभीर विषय बना दिया था। जीव गोस्वामी के छह संदर्भ भक्ति और पाण्डित्य के मणिकांचन-योग के उत्तम निदर्शन हैं। इन तीन गोस्वामियों ने भक्ति मूलक सभी पंथों को थोड़ा-बहुत प्रभावित किया। इन लोगों के पांडित्य पूर्ण ग्रंथों ने जहाँ श्री चैतन्य देव के प्रति पूरे भक्तसमाज की आस्था दृढ़ की, वहाँ मधुर भाव की उपासना की श्रेष्ठता की भी धाक जमा दी। वृन्दावन के कई अन्य भक्त-सम्प्रदायों ने भी इस भाव को ग्रहण किया। नाभादास जी के शिष्य प्रियादास जी के मन में तो निस्सन्देह श्री चैतन्य महाप्रभु की भजन-पद्धति का बड़ा मान था। अपनी टीका के प्रथम कवित्त में ही उन्होंने अपनी इस निष्ठा का परिचय दिया है—'महाप्रभु कृष्ण चैतन्य मन हरन जू के चरन कौ ध्यान मेरे नाम मुख गाइए'। कहते हैं कि जब नाभादास जी ने श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु को 'दसधा रस आकांति' कहा था, उनके मन में नवधा भक्ति से परे जाने वाली मधुर या उज्ज्वल रस की रागानुगा भक्ति की ही बात प्रधान थी। यह दसवीं भक्ति प्रेमाभक्ति ही है। जब तक रामोपासक मधुर भक्तों का और कोई पुराना साहित्य उपलब्ध नहीं होता, तब तक यही मत ठीक जान पड़ता है कि मधुर भाव की साधना श्रीकृष्णोपासक भक्तों से श्री रामोपासक भक्तों में आयी है।

श्री कील्हस्वामी (स्वामी अग्रदास जी के गुरुभाई) की परंपरा में मधुराचार्य जी हुए थे, जो किसी समय गलता की गद्दी पर विराजमान थे। परंपरया सम्प्रदाय में विश्वास किया जाता है कि कील्हस्वामी के शिष्य छोटे कृष्णदास जी, उनके विष्णुदास जी, उनके नारायण मुनि, उनके हृदयदेव और हृदय देव के शिष्य स्वामी रामप्रपन्न जी या मधुराचार्य हुए। अर्थात् कील्हस्वामी जी और मधुराचार्य जी के बीच में पाँच और गुरु हो चुके थे। इसमें लगभग सौ वर्ष का व्यवधान पड़ा होगा। ऐसा अनुमान किया जा

सकता है कि मधुराचार्य विक्रम की अट्ठारहवीं शती के मध्य भाग में वर्तमान होंगे। प्रसिद्ध है कि दिल्ली के किसी बादशाह के यहाँ किसी वाद-सभा में इन्होंने श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण को मधुर भाव का प्रतिपादक ग्रंथ सिद्ध किया था, इसी से प्रसन्न हो कर उक्त बादशाह ने इन्हें 'मधुराचार्य' की उपाधि दी थी। इस विजय के पश्चात् इन्होंने वाल्मीकि रामायण की एक टीका लिखी, जिसमें मधुर भाव का भक्ति ही उस ग्रंथ का प्रधान प्रतिपाद्य बताया गया है। जहाँ तक मुझे मालूम है, यह टीका अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

रामानंदीय मधुर-रसोपासक भक्तों में मधुराचार्य जी का वही स्थान है, जो गौडीय भक्तों में जीव गोस्वामी-पाद का है। जीव गोस्वामी ने जिस प्रकार षट्सन्दर्भात्मक विशाल भक्तिग्रंथ का निर्माण किया था उसी प्रकार मधुराचार्य ने भी छह सदर्भों का विशाल ग्रंथ लिखा था। इनमें केवल एक ही सदर्भ—'सुन्दर मणि सदर्भ'—प्रकाशित हुआ है। स० १९८४ में श्री स्वामी रामवल्लभाशरण जी की आज्ञा से पं० पुरुषोत्तमशरण जी ने इसे हिंदी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया था। अन्य सदर्भ यदि प्रकाशित हुए हों तो वे मेरे देखने में नहीं आये। भक्ति-साहित्य के विद्यार्थी श्री रामवल्लभाशरण जी तथा पं० पुरुषोत्तमशरण जी के चिरकृतज्ञ रहेंगे, कि उन्होंने इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का प्रकाशन कराया। यद्यपि यह ग्रंथ आज से पचीस छब्बीस वर्ष पहले प्रकाशित हो गया था, तथापि इसकी कोई विशेष चर्चा नहीं हुई। इस उपेक्षा के दो कारण हुए, एक तो इस सम्प्रदाय के भक्तों में ही यह पुस्तक सिमट कर रह गयी, दूसरे इस प्रदेश के विद्वज्जनों में इस प्रकार की भक्ति भावना के प्रति बहुत आदर का भाव भी नहीं है। परन्तु आदर का भाव हो या न हो, भक्तिशास्त्र के विद्यार्थी इस अभिनव प्रयास की उपेक्षा नहीं कर सकते। जीव गोस्वामी-पाद के प्रतिपादन का प्रधान आधार भागवत पुराण है, परन्तु मधुराचार्य का वाल्मीकीय रामायण। आधुनिक पद्धति से अर्थ-मीमांसा करने वाले विद्वान् यह तो नहीं मानेंगे, कि इस ग्रंथ में वाल्मीकि-रामायण की जो व्याख्या की गयी है, वह ठीक ही है। ऐसे ग्रंथों में खींचतान करने का प्रयास होता ही है। परन्तु इससे ग्रंथ का महत्त्व कम नहीं हो जाता। चिरकाल से इस देश में प्राचीन ग्रंथों से अभीष्ट मत प्रतिपादन कराने का प्रयास करने वाली टीकाएँ लिखी जाती रही हैं। प्रत्येक दार्शनिक मत प्रस्थान-त्रयी की व्याख्या अपने ढंग से करता है। इस ग्रंथ में यही कार्य वाल्मीकीय रामायण के आधार पर किया गया है। सम्भवतः वाल्मीकीय रामायण की इस प्रकार की व्याख्या बहुत कम हुई है। 'सुन्दर-मणि सदर्भ' में शायद प्रथम बार साम्प्रदायिक मत की स्थापना के लिए वाल्मीकीय रामायण का ऐसा उपयोग किया गया है। इस एक कारण से ही यह ग्रंथ साहित्य के विद्यार्थी के लिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है, परन्तु महत्त्व का यह एक ही हेतु नहीं है। मधुराचार्य बहुत बड़े वक्ता और पंडित थे। इस ग्रंथ में उनकी विद्वत्ता पूर्ण रूप से प्रमाणित हुई है। इस ग्रंथ का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि इसने परवर्ती 'रसिक' भक्तों को बहुत प्रेरणा दी है।

पं० पुरुषोत्तमशरण जी ने बताया है कि इन्हें षड्यंत्र करके गलता की गद्दी से उतार दिया गया था। ये सदा मधुर रस के आनंद में विह्वल रहा करते थे और इनके विरोधियों को षड्यंत्र करने का अवसर मिल गया था। परन्तु गद्दी से हटने से इनकी भक्तिभावना और भी अधिक उद्बुद्ध हुई। ये चित्रकूट आये और साहित्य-रचना तथा भजन-भाव में रम गये। श्री पुरुषोत्तमशरण जी ने बताया है कि इसके पूर्व ही इन्होंने बारह वर्ष तक श्रीराम-रासोत्सव का संकल्प किया था। उस रास में आपने "दिव्य अंशों के रूप में श्री लली लाल जी का लाड लड़ाया था," और छठी रास में "चिरजीवी कृष्णदास जी ने साक्षात् अपनी अद्भुत केलि-कला प्रकट कर समाज को रस में छा दिया था।" चित्रकूट के पास उन्होंने सीतापुर नाम का एक गाँव भी बसाया

था। अपने सदर्भों की रचना सभवत. उन्होंने चित्र-कूट-निवास-काल में ही की थी। इनके विषय में जो कुछ थोडा मालूम हो सका है, वह प० पुरुषोत्तम-दारण जी की भूमिका से ही।

मधुराचार्य के सदर्भों का आधुनिक पद्धति से सपादन होना चाहिए। इनके और इनके पूर्ववर्ती और परवर्ती महात्माओ के सबध में अधिक छान-बीन होनी चाहिए। अट्ठारहवी-उन्नीसवी शताब्दी मे गलता, चित्रकूट, अयोध्या और जनकपुर में राम-भक्ति ने नया रूप ग्रहण किया था। साधना के क्षेत्र में तो उसने नयी पद्धति स्वीकार की ही है साहित्य में भी उसका दान कम नही है। उस ओर अब विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए। मेरे मित्र प० भुवनेश्वर मिश्र जी 'माधव' और ठाकुर भगवती-प्रसाद सिंह जी इस क्षेत्र में प्रशसनीय कार्य कर रहे हैं। और भी विद्वानों को इस ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

श्री युगलप्रिया जी ने अपने रसिक-प्रकाश-भक्त-माल में मधुराचार्य के बारे में यह सुन्दर छप्पय लिखा है, जिससे जान पडता है कि राम-रास-पद्धति के प्रवर्तक मधुराचार्य ही थे—

मधुराचारज मधुर सरस श्रृंगार उपासी।
रग-महल रस-केलि-कुज मानसी खवासी॥
निमिकुल जन्म उदार सुखद सबध प्रतापी।
पैहारी रसिकेन्द्र कृपा माधुर्य अलापी॥
द्वादस वार्षिक रास-रस लीला करि बहु सुख दये।
विपुल ग्रन्थ रचि रसिकता राम रास पद्धति किये॥

२

जिस प्रकार जीव गोस्वामी-पाद ने 'यस्य ब्रह्मेति सज्ञा' आदि कह कर मगलाचरण में ही अपने सिद्धान्तो का सार रख दिया है, उसी प्रकार मधुरा-चार्य ने मगलाचरण के श्लोक में ही अपना मत स्पष्ट कर दिया है। इस मगलाचरण में अयोध्या के मध्य में स्थित सूर्य के समान प्रभा विस्तार करने वाले रत्न-समूहो से आलोकित शुभ्र प्रमोद-वन में मजु वनितावृन्द से सेवित रासोल्लास के आरभ में दिव्यमहामण्डप में आसीन सीता-सहित राम की वदना की है—

प्रोद्यद्भानुसपत्नरत्ननिकरैर्दीप्यमाने महा—
मोदे दिव्यतराति मजुवनितावृन्दैः सदा सेवितम्।
रासोल्लास मुखे सभावृततमं दिव्ये महामंडपेऽ—
योध्यामध्यप्रमोदशुभ्रविपिने रामं ससीत भजे॥

ग्रथ के आरभ में बताया गया है कि वाल्मीकीय रामायण में भगवान् रामचन्द्र को ही उपास्य बताया गया है। परन्तु उपास्य तभी निरतिशय आनद का हेतु हो सकता है, जब उसमें परत्व और सौलभ्य दोनों गुण हो। परत्व तो परमैश्वर्य-घटित होता है। रामायण में अनेक स्थलो पर भगवान् रामचन्द्र के परत्व का उल्लेख है। प्रमाण दे कर इस बात का सिद्ध किया गया है। किन्तु उपास्य केवल परत्व युक्त हो, तो मेरु शिखर की तरह उपासक के लिए दुर्लभ ही रह जाएगा। इसलिए उसमें सौलभ्य गुण (सुलभता) भी होना चाहिए। जब भगवान् को, माधुर्यादि विशिष्ट सीतादि-परिकर-जनों से सश्लिष्ट सभी अवस्थाओं में अक्लिष्ट, सहजलभ्य और निर्हेतुक वधु-प्रिय के रूप में उपासना की जाती है, तभी उसमें सौलभ्य गुण का सद्भाव कहा जा सकता है। केवल परत्व जिस प्रकार दुर्लभ होने से उपास्य को कष्ट-साध्य बना देता है उसी प्रकार केवल सौलभ्य भी उसे बहुत सस्ता बना देता है। यदि केवल परत्व मेरु-शृग की भाँति दुर्लभ है तो केवल सौलभ्य भी लोष्ठपिण्ड की भाँति उपेक्षणीय है। इसीलिए मधुराचार्य का मत है कि उपास्य में परत्व और सौलभ्य दोनों ही गुण होने चाहिए। श्रीमद्-वाल्मीकीय रामायण में, उनके मत से, श्रीराम में दोनों गुणो का सद्भाव बताया गया है। श्रीमद्-वाल्मीकीय रामायण 'निरतिशय निर्दोष नित्य रसमय' काव्य है। वह पूर्ण रूप से श्री सीता जी का चरित है। वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड

के सोलहवे सर्ग मे हनुमान जो ने स्पष्ट रूप से कहा है कि इसी विशालाक्षी सीता के लिए रामचन्द्र ने दुष्कर कार्य किये है। उन्होंने सक्षेप में पूरे राम-चरित को सीता के लिए बता दिया है और अन्त में कह दिया है कि

अस्या हेतोर्विशालाक्ष्या विचितेय महामही ।
अस्याः कृते जगत्सर्वं मधु मन्येत केवलम् ॥

मधुराचार्य ने वाल्मीकि रामायण मे प्रमाण उद्धृत करके बताया है कि स्वय भगवान् रामचन्द्र ने कई बार कहा है कि मैंने सब कुछ श्री सीता जी के लिए ही किया है। इस प्रकार उनके मत से पूरा ग्रथ सीता-हेतुक है और नारी-प्राधान्य के कारण शृगार-रसात्मक है।

मधुराचार्य ने ज़ोर दे कर बताया है कि जिस प्रकार श्री राम जी अपने से भिन्न अन्य सब पदार्थो के कारण है उसी प्रकार श्री रामायण भी अपने से भिन्न समस्त वाड्मय का कारण है। इसीलिए वेदादि की अपेक्षा भी यह अधिक प्रामाणिक है। इसे किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, वरन स्वत प्रमाणभूत है। इसीलिए श्रीमद्रामायण के विरुद्ध जो भी प्रमाण हो वे उपेक्षणीय है। विद्वानो को इस बात को मत्सर त्याग करके स्वीकार करना चाहिए—

यथा श्री रामचन्द्र स्वेतरसर्वकारणं तथा श्रीमद-रामायणमपि स्वान्य सर्व वाङमयकारणमिति वेदादि-भ्योऽप्यस्य प्रामाण्यमवगन्तव्यम्। तेन श्रीमद्रामायणस्य प्रमाणान्तरापेक्षा नास्त्येवेति। तदिएवादि प्रामाण्य नुपेक्षामिति निर्मत्सरतयामी कार्य विद्वाद्भिरिति। (पृ० २३)

वेदों से भी श्रीमद्रामायण की अधिक प्रामाण्य कह कर निस्सन्देह मधुराचार्य ने अनेक विरोधी बना लिये होगें। उनके अन्तिम वाक्यांश में इसकी ध्वनि मिल जाती है। इस देश में वेदो से अधिक प्रामाणिक कुछ भी नहीं है। जो व्यक्ति किसी अन्य ग्रन्थ को वेदो से भी अधिक प्रामाणिक मानेगा, उसका विरोध स्वाभाविक है। मधुराचार्य ने इन विरोधियो से निर्मत्सर होने की प्रार्थना की थी। अस्तु।

अब, शृगार रस का विश्रामस्थल केवल श्री राम-चन्द्र ही हो सकते है, ऐसा मधुराचार्य का मत है, क्योंकि क्लेश, कर्म-विपाक, आशय आदि दोषो से ग्रसित मनुष्य तो शृगारादि रसों की पूर्ति का साधन हो ही नहीं सकता और देवता भी पुण्य-बल से मिश्र-सत्वमय शरीर धारण करने के कारण इसके अयोग्य ही है। भगवान् के मत्स्य, कूर्म आदि अवतार भी इसकी योग्यता नहीं रखते। अवतारों में केवल श्रीकृष्ण शृगार-रस की पूर्ति-भूमि हो सकते हैं, पर मधुराचार्य उन्हे श्री रामचन्द्र का अशावतार मानते है और रामतापनी आदि उपनिषदो और श्रीमद्-वाल्मीकीय रामायण के वचनों से सिद्ध करना चाहते है कि अवतारी तो श्री रामचन्द्र ही है, शेष अवतार 'अवतार' मात्र है। नायक के चार भेद शास्त्र में बताये गये है और इन चारो की पूर्ण योग्यता एक मात्र श्री रामचन्द्र में ही है।

गौडीय वैष्णवो ने परकीया प्रेम को प्राधान्य दिया था। जीव गोस्वामी तो परकीया प्रेम को सर्वोत्तम सुख का हेतु मानने के पक्ष में नहीं जान पड़ते, पर गौडीय वैष्णव सप्रदाय में परकीया-प्रेम की महिमा अवश्य प्रतिष्ठित हुई थी। परकीया-प्रेम की निरतिशय आनन्दजन्यता के लिए कहा गया है कि अनेक बाधा-विघ्नो के भीतर से जो प्रच्छन्न-कामुकता अग्रसर होती है, वह निरतिशय प्रीति का कारण बनती है। मधुराचार्य ने इसका जोरदार खडन किया है। वे बडी शक्तिशाली भाषा में लिखते हैं कि यह प्रच्छन्न-कामुकत्व वाली बात प्राकृत जन के लिए है। भगवत्पक्ष में यह बिल्कुल बेमतलब की चीज है। वस्तुत. स्वकीया प्रेम ही उत्तम प्रीति-सुख का हेतु है। विघ्न-बाधाएँ इसमें

ही अधिक है। गुरुजनों की सेवा और प्रियजनों की आँख बचा कर स्वकीया पत्नी जो प्रेम दे सकती है, वह किसी अन्य विधि से नहीं प्राप्त हो सकती। मधुराचार्य ने भागवत में प्रयुक्त 'जार' 'उपपति' आदि शब्दों का अर्थ परकीया प्रेमी न करके 'जीर्ण करने वाला' और 'अन्तर्यामी रूप से प्रीतिदाता' किया है। फिर प्रेम शारीरिक नहीं, मानसिक होना चाहिए, क्योंकि गीता में भगवान् ने जब स्पष्ट कह दिया है कि 'ये हि सम्पर्शजा भावा दुःखयोनय एव ते' अर्थात् सम्पर्श से उत्पन्न भाव दुःख हेतुक हैं, तो संसारी मनुष्यों के समान कामुकत्व का पूर्ण निषेध ही हो गया, फिर यह प्रश्न ही कहाँ उठता है, कि प्राकृत जन के समान भगवान् की शृंगार-लीला होती है या नहीं। वस्तुतः परात्पर भगवान् को जब शृंगार या मधुर रस का आलम्बन कहा जाता है, तब यह रस प्राकृतजनों में परिचित शरीर-सुख-मूलक शृंगार नहीं है। मधुराचार्य ने इस प्रकार शृंगार-रस को बहुत ऊँची आध्यात्मिक भूमिका पर रखा है और मर्यादा-पालन पर बहुत अधिक जोर दिया है। शरीर-सुख को तो उन्होंने घृणित कहा है। वस्तुतः मधुराचार्य के मत से चित्त का परम-प्रीति रूप, ब्रह्मावगाहन करने वाला जो परिणाम है, जिसको श्रुतियों में 'आनंद' नाम दिया गया है, वही शृंगार-रस है।

इस प्रकार शृंगार-रस की व्याख्या करने के बाद मधुराचार्य ने वाल्मीकि-रामायण से अनेक वचनों को उद्धृत करके बताया है कि पुरुष भी किस प्रकार भगवान् के कमनीय मुख को देख कर उसी प्रकार रमणेच्छुक हो उठते हैं, जिस प्रकार सती स्त्री अपने कान्त को देख कर हो उठती है। ऐसे स्थलों पर मधुराचार्य बराबर मानसी प्रीति की चर्चा कर दिया करते हैं, ताकि 'लोक-वेद-रिकर' भक्तजन भ्रान्ति में न पड़ें। उनकी व्याख्या-पद्धति कुछ 'रहस्य' शब्दों और संकेतों पर आश्रित है।

३

मधुराचार्य की व्याख्या और स्थापना-शैली बहुत विचित्र है। उन्होंने वाल्मीकि रामायण के प्रायः सभी मुख्य पात्रों के मुँह से निकले वाक्यों से यह दिखा दिया है कि वे लोग भगवान् को कान्त रूप में पाने की अभिलाषा करते हैं। ऐसे स्थलों पर वे प्रायः किसी एक या दो शब्द को 'रहस्य' मान कर अपना मतलब सिद्ध करते हैं। संस्कृत व्याकरण सदा उनकी सहायता करने को प्रस्तुत रहता है। एक उदाहरण लिया जाए।

अयोध्याकाण्ड में ऋषियों ने राम और सीता को देख कर बड़ा हर्ष प्रकट किया और स्तुति करते हुए कहा कि—

ते वयं भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः।
नगरस्थो वनस्थो वा त्वन्नो राजा सनातनः ॥

अर्थात्, हम लोग आपके देश या राज्य (विषय) के निवासी हैं, अतएव आप चाहे नगर में रहें चाहे वन में, आप सदा हमारे राजा हैं। इस श्लोक में मधुराचार्य ने 'विषय' शब्द को रहस्य-द्योतक मान लिया है। 'विषय' शब्द का अर्थ देश या राज्य नहीं है, बल्कि 'श्री-विग्रह धर्म' है। 'श्री विग्रह धर्म' का मतलब हुआ— रूप माधुर्य, सौंदर्य, सहनन, लक्ष्मी, सौकुमार्य, सुवेषत्व आदि। इनमें बसने वाले ऋषि वस्तुतः तद्विषय भोगेच्छावान थे। वे कान्ता रूप में भगवान् के रूप-माधुर्य और सौकुमार्य आदि का उपभोग करना चाहते थे! आगे विस्तार-पूर्वक *रामायण के श्लोकों को उद्धृत करके मधुराचार्य ने* अपने मत की स्थापना की है। एक स्थल पर 'हरि' शब्द को रहस्य मान लिया है। 'हरि' अर्थात् जो ऋषियों के चित्त को हर ले। आगे इसी प्रसंग में रामायण में कहा गया है कि **वरं प्रदाय च स तापसानामिदशात्रुप्रभवो महात्मा** अर्थात् रामचन्द्र जी ने ऋषियों को वर दिया। इसका तात्पर्य मधुराचार्य यह बताते हैं, भगवान् ने उनको वर दिया कि अवश्य तुम्हारी मनोवांछा पूर्ण करूँगा। मनोवांछा ऋषियों की यह थी कि स्त्री हो कर हम तुम्हारे साथ रमण कर सकें!—**अवश्यं भवतां**

मनोरथानुगतेन मया कर्तव्य यन् तन्मनीषितं पूरयिष्यामि। स्त्रियो भूत्वा रमेमहोति। रामायण में भगवान के श्रीमुख से जो यह वचन निकला था कि हे महर्षियो, आपके ही मनोऽर्थ की सिद्धि के लिए मैं लक्ष्मण-सहित वन में आया हूँ—भवतामर्थसिद्धयर्थमागतोऽहं सलक्ष्मण—उसमें इसी मनोकामना की ओर संकेत था। (पृ० १०४)

इतना ही नहीं, मधुराचार्य ने इस प्रसंग को श्रीरामावतार के सर्वश्रेष्ठ होने का प्रमाण भी बनाया है।

श्रीकृष्णावतार में भगवान की रूप-माधुरी केवल गोपियों को अर्थात् रमणियों को ही आकृष्ट कर सकी थी। भागवत में कहा है हे श्रीकृष्ण, तुम्हारे मधुर-स्वरूप वेणु-निनाद को सुन कर और त्रैलोक्य-मोहन रूप को देख कर कौन स्त्री कुलधर्म नहीं छोड़ देगी, इसमें गाएँ, मृग, और पक्षी भी पुलक-कंटकित हो जाते हैं—

कास्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीत–
सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण केवल स्त्रियों को आकृष्ट कर सकते थे, परन्तु श्री राम के रूप और माधुर्य का ही यह गुण था कि उन्होंने पुरुषों को—तत्रापि तपोनिरत ऋषियों को—भी रमणेच्छु बना दिया। मधुराचार्य के मन में यह रामावतार की श्रेष्ठता का संकेत है। फिर श्री कृष्ण को तो वेणु बजाने की जरूरत पड़ती थी। वंशी बजा कर भी उनका मनोहर रूप केवल स्त्रियों को चंचल बना सकता था, इधर श्री रामचन्द्र केवल अपने सौन्दर्य से स्त्री-पुरुष-साधारण सर्वजन्तुओं को मोहित कर सकते थे (पृ० १०६)।

अस्तु। महर्षियों की मनोकामना पर-जन्म में पूर्ण हुई और उन्होंने गोपी-रूप में नया चोला पाया। और श्रीकृष्ण को श्री राम के समान जान कर कान्त रूप में पाया। मधुराचार्य सावधानी से समझा देते हैं कि यहाँ 'श्रीकृष्ण को राम के समान जाना' यही कहना ठीक है। यह नहीं कह सकते कि श्री राम को कृष्ण के समान जाना। क्योंकि मुख्यता और उत्कर्ष तो राम का ही है।

मधुराचार्य ने भगवान् श्रीरामचंद्र के अयोध्या में निरन्तर रास विहारों को रामायण में ढूँढ निकाला है। जो लोग भगवान् के प्रेम-रस से अपरिचित हैं, वे केवल उनके मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप की दुहाई दिया करते हैं और कहा करते हैं कि भगवान् रामचंद्र तो एक पत्नीव्रत के पालक हैं, उनके नाम के साथ इस प्रकार रास विहार की बात करना अनुचित है। मधुराचार्य इन रस-वंचित लोगों के मत का जोरदार भाषा में खंडन करते हैं, पर उन्हें बुरा-भला नहीं कहते। उनके मत में ये लोग भगवान् के केवल एक रूप को सब-कुछ मान कर उसे सीमाओं में बाँधने का प्रयत्न करते हैं। इससे भगवान् के सर्वात्मस्वरूप का तो निरसन नहीं होता, केवल इन नीरस भक्तों की सीमित बुद्धि का परिचय मिल जाता है। मधुराचार्य कहते हैं कि "जो लोग नीरस चित्त के हैं, अर्थात् जो लोग श्री रामचंद्र के निरंकुश निरवधिक नित्य विहार रस के ज्ञाता नहीं हैं केवल एक पत्नी-व्रत वचनों के छायानुसारी हैं, जितेंद्रियत्वादि बल वाले श्री रामचंद्र जी की अघटित घटना-पटीयसी शक्ति के जानकार नहीं हैं, वे अपरिमित ज्ञानानंदाश्रयभूत परब्रह्म श्री रामदेव के शृंगार-रस का परम उत्कर्ष तथा उनके नित्य मुक्तैश्वर्य की पराकाष्ठा में संकोच करते हैं कि परब्रह्म-स्वरूप एक पत्नी-व्रती रामचंद्र जी में यह विहार-लीला सम्भव नहीं हो सकती। ये लोग लोक और वेद के किंकर हैं, इस कारण से धर्म-विपाक भक्ति में अब हैं। वे इस रस का समझ नहीं सकते, अपनी सीमा में आप ही बँधे हुए हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। ये दूषणीय नहीं हैं भूषणीय ही हैं। दूषणीय इसलिए

नहीं है कि उनकी दृष्टि श्री राम जी के नित्य ऐश्वर्य, नित्य माधुर्य और नित्य-सौकुमार्य-रूपों तक जा नहीं पायी है, नहीं तो वाल्मीकि जी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह रखा है कि रामचंद्र **सुर्वदृश्य रसज्ञ सन कामिनी-काम-वर्द्धन**" है। (पृ० ३२७-३२८)।

मधुराचार्य की अनेक व्याख्याओं का तात्पर्य यह है कि श्रीरामचन्द्र को कान्त-रूप में पाने का रस *लोक-वेद-मर्यादा के अधीन है। लोक में 'रमण' का अर्थ* शारीरिक भोग है और वेद विहित आचार में विधि-निषेध के जो वचन हैं, वे इसी शरीरसुख के प्रसंग में ग्रहणीय हैं।

परन्तु वाल्मीकि रामायण को प्रमाण मान कर चलने वाले को ऐसी व्याख्या करते समय कम *कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ेगा।* ऐसे प्रमाणों से यह ग्रंथ भरा पड़ा है, जिसमें बताया गया है कि श्री रामचन्द्र दूसरी स्त्री की ओर देखते भी नहीं थे—न रामः **परदारांस्तु चक्षुर्भ्यामपि पश्यति**। ऐसे ग्रंथ की रसात्मक व्याख्या कठिन कार्य है। मधुराचार्य ऐसी कठिनाइयों से पूर्ण परिचित हैं। ग्रंथ के अन्त में उन्होंने स्वयं ऐसी शंका उठायी है और उसका समाधान भी किया है। यह प्रतिपादन शैली बड़ी रोचक है। परन्तु ऐसा लगता है कि ऐसे स्थलों पर उन्हें वाल्मीकि-रामायण की अपेक्षा अगस्त्य संहिता, हनुमत्संहिता, सुन्दरीय तंत्र आदि ग्रंथों पर अधिक भरोसा करना पड़ा है।

४

मधुराचार्य ने बताया है कि अयोध्या में कामद, केलि कल्हार, कन्या, कौशिक, कौशल, कौमुद, कौम्भ कौवेद, कालिक, तालिक, सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध, दौर्ग, शोक सौरभ शामव, श्रीमदन, बार्हस्पत्य, वशिष्ठ, शाण्डिल्य, कात्यायन, गणेश्वर आदि अनेक वन हैं जहाँ श्री सीता जी के साथ श्री रामचन्द्र विहार करते हैं। *अगस्त्य-संहिता* के वचनों के अनुसार श्री सीता जी की सहस्रों सखियाँ हैं, जिनके नाम चंद्रा, चंद्रकला, चारुी चंद्रकाता आदि हैं। इनमें जो रूप-शील-वय में श्री सीता जी के समान हैं वे सखी' कहलाती हैं, जो न्यून हैं वे 'दासी' कहलाती हैं। इनके भी मुख्य गण हैं। मुख्य सखियों के नाम से इन गणों का नाम है। कुछ गणों के नाम उन्होंने गिना भी दिये हैं—जैसे, शान्तागण कृष्णागण धृतिगण, प्रकीर्तिगण, ज्ञानागण कीर्तिदागण, विशारदागण, बुधागण, भाववेत्रीगण इत्यादि।

यहीं पर एक-पत्नीव्रत वाली शंका का उत्थापन करके सुन्दरीतन्त्र के द्वितीय पटल में कहे हुए श्री जानकी जी के वचनों को उद्धृत करके मधुराचार्य ने अपने पक्ष की स्थापना की है (पृ० ४३२–३४)। *यहाँ का प्रसंग यह है कि श्री जानकी जी ने जनक* जी को रामचंद्र का यह ध्यान बताया—

कामपूर्ण कामग कामास्पदमनोहरम्।
कन्दर्पकोटिलावण्य रमणी गण मोहनम्।

यहीं पर जनक जी को शंका हुई और उसके उत्तर में जानकी जी ने *कहा कि "हे पिता, आप* पुरुषोत्तम श्री राम जी में रस-रूप शक्ति मुझे जानें। श्री राम महादेव हैं, वे सत और असत् से परे हैं, वे भोक्ता हैं। मेरी ईक्षणकला के आक्षेप से श्री रामचन्द्र शरीर धारण करते हैं और उनकी इच्छा से मेरा शरीर है ऐसा समझिए। श्री रामचन्द्र और मेरे शरीर के ऐक्य भाव से यह रस रूप पर-*ब्रह्म है जो आत्यन्तिक सुखरूप है। इसी से विश्व* सृष्टा होता है, इसी रस से बहुत से रस—वीर, करुण, *हास्य, भयानक आदि*—उद्भिन्न हुए हैं, सभी शक्तियाँ मुझसे निकली हैं, जो शुद्ध सत्वरूपा हैं और विकार-रहिता हैं। वागीशा, माधवी, नित्या, विद्या, अविद्या, हरिप्रिया, कूटस्थ, मनोजोवा आदि भुक्ति-मुक्ति-प्रदात्री शक्तियाँ ऐसी ही हैं। ये सब *श्री रामचन्द्र की भोग्यरूपा हैं*, सदानंदा और रस-

मोद विहारिका है। ये मेरे ही समान हैं। इन सबके भोक्ता रघुनंदन ही हैं।" इत्यादि। इन वचनों से मधुराचार्य बताना चाहते हैं कि रामायण का कहा हुआ कोई भी वचन बाधित नहीं होता।

'वस्तुतः लीला-रस के लिए अद्भुत अप्राकृत मनुष्य रूपी भगवान् परब्रह्म-स्वरूप श्री रामचन्द्र में प्राकृत के समान आभास देखना उन्हें विधि-निषेध का किंकर मान लेने के समान है और उनको अनीश्वरता बताना है, इस बात को तत्वज्ञ लोग ही समझ सकते हैं। लौकिक आचार में ही लोक को प्रमाण मानना चाहिए, भगवद्रहस्यात्मक अलौकिक अर्थ में नहीं।"

इस प्रकार ग्रंथ में बड़े आकर्षक ढंग से मधुर रस का प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रंथ रामभक्ति की इस नयी प्रवृत्ति की बहुत ही मनोहर शास्त्रीय शैली में स्थापना करता है। जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, आधुनिक ढंग के विद्वान् इन व्याख्याओं को स्वीकार करने में कुण्ठा अनुभव करेंगे परन्तु मध्यकाल की धर्मसाधना की इस नयी धारा का उद्घाटन करने वाले इस ग्रंथ-रत्न का अवश्य आदर करेंगे।

'अज्ञेय' | टेसू

ग्रीष्म तो न जाने कब आएगा
लू के दुर्दम-दुर्मद घोड़े पर वह
अनलोद्भव अवतार पुरुष
कब आ कर धरती को तपाएगा
उस ताप से, जिससे वह तप पूत
तपकृशा
फिर माँग सके, सह सके वह पावस की मिलन-निशा
जिसमें नव मेघ-दूत
शावक-सा
आ कर अदम्य जीवन के
द्रावक संदेसे से उसे हुलसाएगा—
ग्रीष्म तो न जाने कब आएगा।

तब तक मैं उसका एक अकिंचन अग्रदूत
अपनी अखड आस्था के साक्ष्य-रूप
मशाल जला दूँ—
न सही क्षयग्रस्त नगर में
इस वनखंडी में आग लगा दूँ!

हरिमोहन श्रीवास्तव

ब्रजभाषा-गद्य-साहित्य का संक्षिप्त परिचय

हिंदी के प्राय सभी प्रतिष्ठित विद्वानो द्वारा गद्य के विकास का क्रम निर्धारित करते समय प्रमुखता खडी बोली को ही दी गयी और ब्रजभाषा सदैव उपेक्षा की दृष्टि से देखी गयी। इसका प्रधान कारण है ब्रजभाषा गद्य के उस साहित्य मे अपरिचित रहना, जो अनुसधान के अभाव में इधर उधर दबा और बिखरा पडा है। ब्रजभाषा-गद्य में गद्य की उन सभी परम्पराओ के सूत्र है, जिनका लोप खडी बोली मे हो गया है। प्राकृत काल की तुकान्त शैली—जिसका विकास वचनिकाओ (राजस्थानी) मे हुआ वही ब्रजभाषा-गद्य तक चली आयी, अपभ्रंश-काल की गद्य-पद्य शैली तथा राजस्थानी की बात, ख्यात, वचनिकाओ की शैली, वार्ता, इतिहास, वचनिकाओ और वचनामृतो, आदि मे सभी का रूप सुरक्षित है।

कुछ विद्वानो का ऐसा विचार है कि "ब्रजभाषा-गद्य की कुछ पुस्तके इधर-उधर पायी जाती है, जिनसे गद्य का कोई विकास प्रकट नही होता[1]।" किसी ने तो यहाँ तक कह दिया कि "वार्ताओ के अतिरिक्त और कोई स्वतत्र ग्रथ नहीं मिलता[2]।" बाते कुछ विचित्र-सी लगती है, और सम्मति भी जल्द-बाजी की, क्योकि ब्रजभाषा में न केवल स्वतत्र लेखको की ही सामग्री है, वरन् काल और देश का ध्यान रखते हुए टीकाओ और अनुवादो का भी साहित्य कम नही है। इस प्राप्त सामग्री के विषय भी विविध और विस्तीर्ण है। धार्मिक वार्ता, इतिहास, पुराण, रीति-ग्रथ तथा सस्कृत-ग्रथ की टीकाएँ, ज्योतिष, छद, समीक्षा, अलकार, वैद्यक, कथाओ तथा नाटको का भी रूप ब्रजभाषा-गद्य में

१ 'हिंदी साहित्य का इतिहास'—पडित रामचद्र शुक्ल, पृष्ठ ४०६। २ 'हिंदी की गद्य-शैली का विकास'—डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृष्ठ ११-१२।

देखा जा सकता है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा-गद्य का साहित्य समृद्ध है और गद्य की चली आती हुई परम्परा का उसमें अविच्छिन्न विकास है। खड़ी बोली के गद्य का विशाल भवन ब्रजभाषा के ध्वंसावशेषों पर ही निर्मित हुआ है।

ब्रजभाषा-गद्य की जितनी सामग्री अब तक प्राप्त है, उसके अनुसार हम उसे दो भागों में बाँट सकते हैं मौलिक और अमौलिक। पहले के अन्तर्गत उन स्वतन्त्र रचनाओं का क्रम है, जो प्रतिभा-प्रगल्भ हृदय से प्रसृत रूप में प्रवाहित हुआ है। दूसरे भाग के अन्तर्गत अनुवाद और टीका-टिप्पणियाँ रखी जा सकती हैं। इन दोनों प्रकार की रचनाओं का एक एक भेद और हो सकता है। वह यह कि इनमें से प्रत्येक कुछ तो केवल गद्य में हैं, और कुछ ऐसी हैं, जिनमें गद्य के साथ-साथ पद्य का भी रूप है। कुछ ऐसी भी हैं, जिनमें या तो गद्य की प्रधानता है या पद्य की।

ब्रजभाषा-गद्य का मौलिक या स्वतन्त्र साहित्य अत्यधिक व्यापक तथा विविध-विषय-संयुक्त है। इसमें तीन प्रकार की रचनाएँ हैं—धार्मिक, साहित्यिक तथा अन्य।

धार्मिक कोटि की रचनाओं के दो भाग सुविधा के लिए और किये जा सकते हैं साम्प्रदायिक तथा सम्प्रदायेतर। साम्प्रदायिक रचनाओं के अन्तर्गत गोरखनाथ-कृत 'गोरख-सार', नाभादास का 'अष्टयाम' और कृष्णभक्ति-सम्प्रदाय द्वारा रचित साहित्य की उपलब्धि होती है, यद्यपि गोरखनाथ की रचना में 'नाथ-सम्प्रदाय'-संबंधी कोई सूचना दृष्टिगत नहीं होती, न 'अष्टयाम' में ही सिवा रामचन्द्र जी की दिनचर्या के किसी अन्य बात का विवरण प्राप्त होता है। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह विभागीकरण सुविधा के लिए किया गया है।

सम्प्रदाय के नाम पर जो कुछ ब्रजभाषा गद्य-साहित्य में प्राप्त है, अधिकांश कृष्ण-संबंधी ही है। वास्तव में तो ब्रजभाषा-गद्य का साहित्य भी कृष्ण-संबंधी चर्चा से उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे पद्य का, क्योंकि उस समय कृष्ण-भक्ति संबंधी दो सम्प्रदायों का अत्यधिक ज़ोर था—वल्लभ-सम्प्रदाय और टट्टी-सम्प्रदाय। वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य का धार्मिक सम्प्रदायों में जितना अधिक आदर और प्रभाव था उस समय के किसी भी सम्प्रदाय के आचार्य का नहीं था। गोकुलनाथ तथा हरिराय जी जैसे प्रकाण्ड मर्मज्ञों का सहयोग पा कर उन जैसा प्रचारक पा कर वल्लभ-सम्प्रदाय जितना अधिक लाभान्वित हुआ, सो हुआ ही; प्रचारार्थ जनता की बोली (ब्रज-भाषा) का गद्य साहित्य 'वार्ताओं' द्वारा इतना अधिक समृद्ध हुआ कि ब्रज-भाषा-काव्य के समान ही वह परवर्ती लेखकों द्वारा विविध विषय संपादन के निमित्त स्वीकार कर लिया गया।

इन लोगों के अतिरिक्त सं० १८३३ के लगभग किसी ने पुष्टि दृढ़ा भाषा की रचना की, जिसमें पुष्टिमार्गी (कृष्ण भक्ति की शाखा) सिद्धान्तों का उल्लेख और विवेचन है।

दूसरा सम्प्रदाय टट्टी-सम्प्रदाय था। इस सम्बद्ध गुरु शिष्य स्वामी ललितकिशोरी और ललित-मोहिनी ने सं० १८०० के लगभग 'श्री स्वामी महाराज की वचनिका' लिखी।

सम्प्रदायेतर से मेरा तात्पर्य उन रचनाओं से है जिनकी मूल वृत्ति तो धार्मिक है किन्तु वे किसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकतीं। वे हैं धार्मिक और पौराणिक रचनाएँ। जैसे, सं० १८६० के लगभग वैकुंठमणि शुक्ल ने राजा यशवन्तसिंह की रानी चन्द्रावती की फरमाइश पर 'अगहन माहात्म्य' और 'वैशाख माहात्म्य' की रचना की। ऐसे ही विक्रम की अठारहवीं शती के मध्य में मीनराज प्रधान ने 'हरतालिका की कथा' और

आती है—गद्य की तथा पद्यमय गद्य की। जहाँ धार्मिक विषयों का प्रतिपादन, तत्संबंधी चर्चा, विवाद या वार्ता की विवेचना होती है, वहाँ केवल गद्य का ही प्रयोग पाया जाता है, किन्तु जहाँ साहित्यिक विषयों की चर्चा आती है, वहाँ पद्यमय गद्य का प्रस्तवना है।

ब्रजभाषा-गद्य का मौलिक विकास-क्रम : ब्रजभाषा-गद्य का सबसे प्राचीन उदाहरण गोरखपंथी साधुओं की रचनाओं में मिलता है। इस 'पंथ' के प्रवर्तक गोरखनाथ जी थे। लोगों का अनुमान है कि 'गोरखसार' नामक पुस्तक इन्हीं की लिखी है, यद्यपि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'पूछिबा', 'कहिबा' आदि प्रयोगों के कारण लेखक के राजस्थान निवासी होने का संदेह किया है१। किन्तु उन्होंने निश्चय रूप से उसे सं० १४०० के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना माना है२। खोज-रिपोर्ट के आधार पर 'मिश्रबन्धु-विनोद' में महात्मा गोरखनाथ का समय सं० १४०७ बताया गया है किन्तु डाक्टर रामकुमार वर्मा ने 'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र' तथा कुछ अन्य दूसरे प्रमाणों द्वारा यह निश्चित किया है कि गोरखनाथ का समय विक्रम की तेरहवीं शती का मध्यकाल अर्थात् संवत् १२५० था३। इसका अर्थ तो यह हुआ कि 'गोरख-सार' यदि गोरखनाथ-कृत है तो उसकी भाषा संवत् १२५० की होगी।

किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या 'गोरखसार' गोरखनाथ द्वारा लिखा जाना संभव है? हम ऊपर अनेक विद्वानों का मत देख चुके हैं, किन्तु सर्वाधिक प्रामाणिक और नवीनतम मत गोरखनाथ के काल के संबंध में है, डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी का। उन्होंने लिखा है, कि "वस्तुतः गोरखनाथ को दसवीं शताब्दी का परवर्ती नहीं माना जा सकता४।" यदि बात ऐसी है, तो यह निश्चित हो गया कि 'गोरखसार' गोरखनाथ कृत कदापि नहीं है, क्योंकि उसकी भाषा को उतनी दूर तक घसीट कर प्राचीन नहीं सिद्ध किया जा सकता। अतः इससे यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि या तो वह गोरखनाथ की किसी रचना का अनुवाद-मात्र हो, या उनके किसी राजस्थानी शिष्य का कृतज्ञता-प्रकाशन। अतः किसी विवाद में पड़ने की अपेक्षा आलोच्य अवतरण ही देख लिया जाए। यह प्रायः सभी विद्वानों द्वारा उद्धृत है—

सो वह पुरुष संपूर्ण तीर्थ स्नान करि चुकौ, अरु संपूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि को दै चुकौ, अरु सहस्र जज्ञ करि चुकौ अरु देवता सर्व पुजि चुकौ, अरु पितरन को संतुष्ट करि चुकौ, स्वर्ग-लोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य के मन छन मात्र ब्रह्म के विचार बैठा।... पराधीन उपराति बंधन नाँही, सुआधीन उपरांति मुकुत नाँही, चाहि उपरांत पाप नाँही, अचाहि उपराँति पुनि नाँही, क्रम उपराति मल नाँही, निहि-क्रम उपराति निरमल नाँही, दुष उपराति कुवधि नाँही निरदोष उपराति सुबधि नाँही, घोर उपराईति यंत्र नाँही, नारायण उपराईति ईसर नाँही, निरंजन उपराईति ध्यान नाँही।

दूसरा उदाहरण है—

श्री गुरु परमानंद तिनको दंडवत है। कैसे परमानंद, आनन्द स्वरूप जिन्हको। जिन्हि के नित्य गायेतें शरीर चेतनि अरु आनदमय होत हैं। मैं जु हौं गोरिष सो, मछन्दरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ, आत्म-ज्योति निश्चल है अंतहकरन जिनिको, अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानें। अरु जुग काल कल्प इनिकी रचना तत्व जिनि गायो। सुगंध को समुद्र तिनिको मेरी दंडवते।

स्वामी तुम तो सतगुरु अम्है तौ सिष, सबेद एक पूछिबा, दया करि कहिबा मन न करिबा रोस। पराधीन उपराति बंधन नाँही सुआधीन उपरांति

१ 'हिंदी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचंद्र शुक्ल—पृष्ठ ४०४। २ वही। ३ 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—पृ०-सं० १३। ४ "नाथ संप्रदाय"—पृष्ठ ९८।

प्रसिद्ध है। चतुर्भुजदास कृत 'षट् ऋतु की वार्ते' श्री द्वारिकादास पारीख द्वारा सम्पादित हो कर प्रकाश में आ भी चुकी है। किन्तु उसके विषय में उठने वाली सबसे बड़ा आपत्ति तो यह है कि वह हरिराम जी की रचना है। इसी प्रकार चतुरसेन शास्त्री ने अपने 'हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास[1]' में नददास कृत 'नासकेतु पुराण भाषा' का उल्लेख किया है। उन्होंने उसमें गद्य के नमूने के तौर पर एक उद्धरण भी दिया है, किन्तु वह अवतरण 'नासिकेतोपाख्यान' नामक एक अन्य ब्रजभाषा-गद्य-ग्रंथ का है, जिसके कर्ता का नाम अज्ञात है।

गोकुलनाथ जी विट्ठलनाथ जी के चौथे पुत्र थे। इनका काल स० १६०८से लेकर १६६९ तक था। ये बड़े विद्वान् थे, तथा कम आयु में ही अपने सम्प्रदाय के प्रमुख व्याख्याता गिने जाने लगे थे। इनके जीवन-चर्चा-विषयक प्रवचन इतने रोचक और शिक्षाप्रद होते थे कि भक्तों द्वारा लिपिबद्ध कर लिये गये और एक दूसरे द्वारा बराबर लिखे जाते रहे। गोस्वामी गोकुलनाथ जी के मौखिक प्रवचन ही 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के मूल में हैं। इन दोनों की प्रामाणिकता के विषय में अनेक संदेह प्रकट किये गये हैं[2]। किन्तु इतना तो निश्चित है कि वे गोकुलनाथ जी द्वारा प्रवचित थे, जिसका सम्पादन आगे चल कर हरिराम जी ने किया। यह एक विवाद का प्रश्न है, जिसके लिए पृथक् रूप से लिखने की आवश्यकता है।

ये दोनों वार्ताएँ उनके मौलिक ग्रंथ हैं, इसके अतिरिक्त इनके अन्य बहुत-से ग्रंथों का पता चलता है[3], इनकी भाषा अत्यन्त व्यवस्थित और चलती है। और उसमें जटिल वाक्यों के गठन का प्रयत्न नहीं है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' का एक नमूना देखिए—

बहुर श्री आचार्य जी महाप्रभून ने श्री ठाकुर जी के पास यह माँग्यो जो मेरे आगे दामोदरदास की देह न छूटे, और श्री आचार्य जी महाप्रभु दामोदरदास सों कछू गोप्य न राखते और श्री आचार्य महाप्रभु श्री भागवत अहर्निस देखत कथा कहते और मार्ग को सिद्धान्त भगवत लीला रहस्य श्री आचार्य जी महाप्रभु आप दामोदरदास के हृदय में स्थापना कीयी।

गोकुलनाथ जी के वचनामृतों की लोक-प्रियता इतनी बढ़ी कि उसकी लिपि और प्रतिलिपि का क्रम सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया और वैष्णव जनों में उनके आधार पर कथा वार्ताएँ होने लगीं। इस प्रकार ब्रजभाषा-गद्य का सर्वत्र प्रचार हो गया। पुष्टि-सम्प्रदाय से इतर वैष्णव सम्प्रदायों में भी ब्रजभाषा गद्य में रचनाएँ होने लगीं।

गंगा भाट (१६२९) नामक एक व्यक्ति द्वारा लिखित 'चंद छंद बरनन की महिमा' नामक ग्रंथ का उल्लेख पंडित रामनरेश त्रिपाठी[4] ने किया है। इनके गद्य में ब्रजभाषा से पनपती हुई खड़ी बोली का रूप मिल सकता है। यथा,

१ पृष्ठ ३९३। २ हिंदी साहित्य का इतिहास—प० रामचंद्र शुक्ल पृष्ठ ४०४ तथा हिन्दुस्तानी एकेडमी की तिमाही पत्रिका संख्या ८, सन् १९३२ "क्या दो सौ बावन वार्ता गोकुलनाथ-कृत है?" डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा। ३. श्री गुसाईं जी और दामोदरदास जी का संवाद, श्री गुसाईं जी की वन यात्रा, नित्य सेवा प्रकार, ८४ बैठक चरित्र, १८ बैठक चरित्र, घरू वार्ता, उत्सव भावना, रहस्य भावना, चरण-चिह्न भावना, भाव सिन्धु तथा भावना, वचनामृत आदि अनेक वार्ताएँ गोकुलनाथ-कृत प्रसिद्ध है, जिनमें कहीं-कहीं पर उनके लिखन का समय, स्थान प्रसंग और दिनांक का भी उल्लेख मिलता है, रहस्य भावना, सर्वोत्तम स्तोत्र, सिद्धान्त रहस्य और वल्लभाष्टक में सभी ग्रंथ गद्य में है तथा इनमें पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त और उसकी भक्ति का दर्शन है। ४ हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास—श्री रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ २७।

इतना सुनके पातसाहिजी जो श्री अकबर साह जी आध सेर सोना नरहरदास चरन को दिया। इनके डेढ सेर सोना हो गया। रास बाँचना पूरन भया। आम खास बरखास हुआ।

हरिराय जो, विट्ठलनाथ जी के द्वितीय पुत्र गोविंदराय जी के पौत्र और कल्याणराय जी के पुत्र थे। भादो कृष्णपक्ष सं० १६४७ में इनका जन्म हुआ था। आरम्भ से ही गोकुलनाथ जी के साथ रहने के कारण साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ तो थे हुए ही, साथ-ही साथ उसके रहस्य का उद्घाटन करने वाले भी हुए। संस्कृत, गुजराती और ब्रज-भाषा में इनका समान अधिकार था। इनका सबसे महत्त्वपूर्ण *कार्य 'वार्ता साहित्य' का संकलन और संपादन है। ब्रजभाषा-गद्य के लिए हरिराय जी का कार्य जितना महत्त्वपूर्ण और ठोस हुआ है हिन्दी* के साहित्यकारों तथा इतिहास लेखकों द्वारा उतनी ही उपेक्षा हुई है। पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दरदास ने तो अपने इतिहास-ग्रंथा में इनका नामोल्लेख तक नहीं किया है। 'रसाल', मिश्रबंधु तथा डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अधूरी सूचना के साथ उनका जिक्र किया है। इनके रचित ग्रंथ अनेक हैं जिनका विवरण नागरी प्रचारिणी सभा काशी१, मिश्रबन्धु विनोद२ तथा सूरदास की वार्ता३ *से प्राप्त होता है। इनकी भाषा में यद्यपि गोकुलनाथ जी की तरह प्रवाह नहीं है पर इसमें* ब्रजभाषा का अपनापन अधिक है। परिष्कृत, सुन्दर और व्यवस्थित शैली भी इनकी। उनके निरूपणात्मक गद्य का एक उदाहरण देखिए--

या वार्ता में यह सिद्धांत भयौ जो अहंकार गर्व होइ तहाँ ताई श्री ठाकुर जी अनुभव न जतावें और अपने भक्तन को अहंकार आपु ही कृपा करि के दंड देइ छुड़ावत हे। और वैष्णव सों कबहूँ हीन कार्य होइ नाँही। और कदाचित भगवदीय सों खोटो काम कछू भयो होई तो मन में दोष बुद्धि न करनो। भगवदीय ऐसो करे नाँही। वामें भगवत्कृति जाननी और जीव मात्र ऊपर दया राखनी। चोर होइ, चुगल होइ, ताइ को अपने बस तें बचावनो, रक्षा करनो। *यह वैष्णव को धर्म है।*

हरिराय जी ने गोकुलनाथ जी द्वारा कथित मौखिक वार्ताओं का संपादन और प्रचार ही नहीं किया, वरन उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था, *गोकुलनाथ जी की कथित वार्ताओं के प्रसंगों की पूर्ति और उन पर अपनी 'भाव' नामक टिप्पणी लगाना।* यहाँ एक बात, जो मेरे मन में समायी हुई है, कह देना चाहता हूँ कि आचार्य शुक्ल को और डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा को जो ८४ और २५२ वार्ताओं के औरंगजेबकालीन होने का संदेह हुआ था, उसका निवारण इस बात से हो जाता है कि हरिराय जी ही उन समस्त वार्ताओं के संपादक तथा संकलन-*कर्ता थे और उन्होंने सौ वर्ष से अधिक जीवित रह कर ब्रजभाषा की सेवा की है। इनका आरंभिक जीवन* गोकुल में ही व्यतीत हुआ था। पर औरंगजेब के उपद्रव

---

१ *'त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट—१९०९, १९१०, १९११'—श्री आचार्य महाप्रभून की द्वादस निज वार्ता, श्री आचार्य महाप्रभून के सेवक चौरासी वैष्णवन की वार्ता, श्री आ० म० प्र० की निज वार्ता, और घरू वार्ता।*
२ 'मिश्रबन्धु-विनोद'—ढोला मारू की वार्ता, भगवती के लक्षण, द्विदलात्मक स्वरूप विचार, गद्यार्थ भाषा, गोसाईं जी के स्वरूप के चिन्तन को भाव कृष्णावतार स्वरूप निर्णय, सातों स्वरूप की भावना, वल्लभाचार्य जी के स्वरूप के चिन्तन को भाव वरसोत्सव, यमुना जी के नाम। ३ 'सूरदासकी वार्ता'–पृष्ठ १९–प्र० द० मीतल–द्वादस निकुंज की भावना, सात स्वरूपन की भावना, महाप्रभु जी की प्रामण्य वार्ता (भावना वाली), निज वार्ता (भावना), घरू वार्ता (भावना) बसन्त होरी की भावना सेवा भावना, नित्यलीला भावना, वनयात्रा की भावना, श्रीनाथ द्वारे की भावना, सात बालकन के स्वरूप की भावना तथा स्वामिनी चरण चिह्न आदि।

के कारण ये श्रीनाथ जी के स्वरूप के साथ-साथ नाथ-द्वारा चले गये थे। ये बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे और इन्होंने ब्रजभाषा की सर्वांगीण उन्नति की थी। वास्तव में हरिराय जी के समय को ही ब्रज-भाषा-गद्य का स्वर्णयुग कह सकते हैं। हिन्दी के इतिहासकारों द्वारा ऐसे व्यक्ति की उपेक्षा की गयी है, जो अपने काल का 'भारतेन्दु' था।

ना० प्र० सभा की सन् १९३२, ३३, ३४ की खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्ट के अनुसार कुछ अन्य ग्रंथ भी हरिराय जी के प्राप्त हुए हैं। यथा—श्री कृष्ण प्रेमामृत, पुष्टि दृढ़ावन की वार्ता, पुष्टि प्रवाह मर्यादा, सेवा विधि, वर्षोत्सव की भावना तथा भाव भावना।

नाभादास जी (१६५७) की प्रसिद्धि तो 'भक्त-माल' जैसा उपयोगी और प्रामाणिक ग्रंथ प्रस्तुत करने के कारण ही है। किन्तु आपने 'अष्टयाम' नामक ब्रजभाषा-गद्य की भी एक रचना की है, जिसमें श्री रामचंद्र जी की दिनचर्या का वर्णन है। इसकी भाषा इस प्रकार है—

तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरण छुई प्रनाम करत भए, फिर ऊपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजा-धिराज जू को जोहार करि कै श्री महेन्द्रनाथ दसरथ जू के निकट बैठत भए।

काशी के सेठ गोकुलदास जी के यहाँ सं० १६६२ के मार्गशीर्ष कृष्ण ११ सोमवार का लिखा हुआ एक ताम्रपत्र सुरक्षित है, जिसमें ब्रजभाषा-गद्य का तत्कालीन रूप देखा जा सकता है। यथा—

निज सेवक जादो जी ब्यास ब्राह्मण दोसावाल को नाम सुनायबे की आज्ञा दीनी। बाराणसी प्रभृति के वैष्णवन को नाम सुनावे। ठाकुर जी की सेवा और पादुका जो इनके माथे पधराए। श्री श्री सवत् १६६२, मिती मार्गशीर्ष, कृष्ण ११ सोम्य-वासरे ।।श्री।।

श्री रामनरेश त्रिपाठी ने गोस्वामी तुलसीदास जी के एक पत्र का उल्लेख किया है[१]। उन्हें यह पत्र कहाँ से मिला इसका कोई ज़िक्र नहीं है। पत्र इतने महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का है कि इसकी प्रामाणिकता के लिए एक तर्कपूर्ण प्रस्तावना अपेक्षित थी। पत्र यों है—

सं० १६६९ समये कुमार सुदी तेरसी बारसुभ दीने लिखीतं पत्र अनन्दराम तथा कन्हई के अंस विभाग पूर्वमु जे आग्या पुनहुजने याण जे आग्या मेरो प्रमान माना।

इसकी भाषा अत्यत सदेहास्पद है। तुलसीदास जी जैसा भाषा-मर्मज्ञ इतनी ऊबड़खाबड़ शैली में लिख ही नहीं सकता।

बनारसीदास जैन (१६६८) आगरा निवासी थे, इनके दो ग्रंथों का पता चलता है—वचनिका तथा बनारसी विलास। वचनिका की गद्य-पद्य शैली है। बनारसी-विलास में संस्कृत की प्रश्नोत्तरी-शैली का आभास है।

जटमल (१६८०) कृत 'गोरा बादल की कथा' नाम का एक गद्य-पद्यमय मेवा में लिखित ग्रंथ उपलब्ध हुआ है[२]। इसकी भाषा प्राचीनता लिए हुए भी खड़ी बोली-संयुक्त है, यथा—

गोरा बादल की कथा गुरु के बस सरस्वती के महरबानगी से पुरन भई तीस वास्ते गुरु कू व सरस्वती कू नमस्कार करताहूं ।।१४५।।

अमेठी के राजा हिम्मत सिंह (१७००) के आश्रित एक सुखदेव सिंह मिश्र का अलकार पर

१ 'हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास'—पृष्ठ २७। २ 'एनुअल रिपोर्ट आन द सर्च फॉर हिंदी मैन्स्क्रप्ट्स फॉर द इयर १९०१'—श्यामसुन्दरदास, पृ० ४९ तथा रिपोर्ट-सं० ४८।

'पिंगल' नामक ग्रंथ मिला है, जिसमें पिंगल के विषय के पत्र बने हैं। इसकी भाषा क्रियापद विहीन और राजस्थानी से प्रभावित है। यथा—

जबर अरि जेट करि सेट रामसेर बहादुर बैरिर-बारण बिदारण सिंह। समत्थ हत्थ। असत्थबल॥ हत्थ समान महावीर॥ समरधीर॥ आदि।

काका वल्लभ जी (सं० १७०३) के "५२ वचनामृत" की बड़ी प्रसिद्धि है। वे प्रकाशित भी हो चुके हैं। इनका समय १७०३ से १७८० के बीच का है।

कांकरोली के सरस्वती-भांडार में प्रभुदयाल मीतल को गोविंददास ब्राह्मण की एक वार्ता-पुस्तक मिली है। लगता है, गोकुलनाथ जी के चलाये हुए वार्ता-क्रमों की परम्परा से प्रभावित यह पुस्तक है। इसका लिपिकाल १७४६ है, पर इसी के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि गोविंददास, गोकुलनाथ का समकालीन रहा। गोकुलनाथ जी का मृत्युकाल १६९७ था। अतः यह उसी के आसपास की रचना रही होगी।

जयगोविंद वाजपेयी (१७१६-१७६५) का कवि-सर्वस्व' एक अलंकार संबंधी ग्रंथ है।

बसन्तराम शास्त्री (अहमदाबाद वाले) के पास सेवक जी नाम के एक व्यक्ति का पत्र सुरक्षित है, जो सं० १७२८ से १७८० के बीच का ज्ञात होता है। इससे तत्कालीन भाषा के ऊपर प्रकाश पड़ता है। इसकी भाषा का नमूना देखिए—

तुम्हारो पत्र खोपिया कासिद के हाथ समधियाने तें आयो हे, सो हम तुम पास पठ्यो हे। जैसो जाने तैसो उत्तर लिखियो। आदि।

इस पत्र की भाषा मँजी हुई और स्वस्थ है। लगता है हरिराय जी के समय की ब्रजभाषा काफी प्रौढ़ हो चली थी।

संवत् १७२९ के लगभग ब्रजभूषण जी द्वारा रचित अनेक ग्रंथों का पता चलता है—'नित्य विनोद', 'नीति विनोद', 'श्री महाप्रभु जी तथा गोसाई जी को चरित्र', 'श्री द्वारकाधीश जी की प्राकट्य वार्ता', आदि।

श्री द्वारकेश जी भावना वाले (सं० १७९५ के आसपास) के द्वारा अनेक 'भावना'-ग्रंथों का निर्माण हुआ है—'श्री नाथ जी आदि सात स्वरूपन की भावना', 'धनुर्मास भावना', 'उत्सव भावना' 'भाव भावना' तथा 'भाव संग्रह' आदि। इनकी भाषा इस प्रकार थी—**तुलसीदास जी गोकुल में आए तब श्री गुसाईं जी सों कहे सीता जी सहित श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन होय यह कृपा करो।** आदि।

अवध के राजा के एक मंत्री राजा टिकैतराय (सं० १३०२) के यहाँ बेनी कवि रहते थे। ये प्रसिद्ध भँडौवाकार (सटायरिस्ट) बेनी कवि से भिन्न हैं। इन्होंने अलंकार पर ब्रजभाषा गद्य में 'टिकैतराय प्रकाश' नामक ग्रंथ लिखा। प्रति देखने से नयी लगती है, इसका लिपिकाल भी १९४५ है। निर्माण काल के विषय में स्वयं इनका कहना है—**रघ्र वेद वसु चन्द्रसुत संवतसर को याय॥ माधव याये रच्यो अलंकार गुरु ध्याय[१]॥** इनकी भाषा का रूप यूँ है—

यहाँ प्रस्तुत टिकैतराय अप्रस्तुत वैनायिक को शोभायमान है, यो एक धर्मान्वयम् है। प्रस्तुत विषय जो समान धर्म सो प्रसंग बसते और ठौरहू उपकारक है॥ जैसे महल अर्थ धरो जो दीप है सो स्यो में प्रकास करै॥ मिती अगहन बदि ८ मंगल सं० १९४५ शुभमस्ते।

इनकी भाषा संस्कृत गर्भित तथा विषय के अनुकूल है।

विक्रम संवत १९९७ में लिपिबद्ध ब्रजभाषा-गद्य की पुस्तकों का पता चला है, जिनमें से एक तो

१. 'सर्वे फार हिन्दी मैन्स्क्रप्ट्स फॉर दि इयर १९०९, १०, ११'—श्यामविहारी मिश्र, पृष्ठ ४१।

अनुवाद है, जिसके अनुवाद-कर्ता देवीचन्द थे : दूसरी पुस्तक कृष्ण जी की लीला है, जिसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं हो सका है। इसकी भाषा देखिए—

श्री राधा जी में आई अपनी मटकियाँ सिर पर धरि अरु सब सखियन सहित घर कूं चली। तब पेंडा बीच मुधरा मिली। तब मुधरा सहेली समेत श्री राधा जी के बाँह गहि के घर कूं ले चली। यहाँ आनि नीको भोजन करायो।

सवत् १८०० में निम्बार्क-सम्प्रदाय के गुरु शिष्य ललितकिशोरी और ललितमोहिनी हो गये थे। इन्होंने सैंतालीस पृष्ठों का ब्रजभाषा-गद्य में 'श्री स्वामी जी महाराज की वचनिका' प्रस्तुत की है।

ब्रजभाषा-गद्य की विषय विविधता का सूचित करने वाला एक 'मुगल बादशाहों का संक्षिप्त इतिहास' अज्ञात व्यक्ति द्वारा सं० १८२० का प्राप्त हुआ है। इसमें चालीस पृष्ठ हैं और इसकी भाषा काफी अच्छी है।

रूपस्वामी के 'विदग्ध माधव' संस्कृत नाटक के आधार पर रामहरि जी (सं० १८२४) ने एक ब्रज-भाषा-गद्य की रचना की, जिसकी भाषा का रूप यह है—

श्री वृन्दावन नित्य विहार जानि कैं उजीन नागरी को बासि छाड़ि कर सदर्पन रिपीवर की माता ताको नाम पुर्णमासी कहावे तिन इहाँ आइ वृन्दावन वास कियो अरु पोतो एक ले आई। आदि।

भक्तों के चरित का उल्लेख करने वाला 'भक्त माल प्रसंग' नामक गद्य-पद्यमय एक ग्रंथ वैष्णव-दास का है। जिसकी भाषा साधारण है।

विक्रम की अठारहवीं शती के अन्तिम चरण के आसपास ही मीनराज प्रधान ने 'हरतालिका की कथा'[1] नामक एक ग्रंथ लिखा, जिसमें सामान्य बोलचाल की तथा ब्रजभाषा के ह्रासोन्मुखी काल की भाषा का रूप दिखलाई पड़ता है। यथा—

श्री गेणशायनमः। अथ हरतालिका कथा लिख्यते। कैसो है यह व्रतुजा व्रतु के करे ते अस्त्री भगवती है। आदि।

ब्रजभाषा-काल की एक पुस्तक काशी नरेश के पुस्तकालय में प्राप्त हुई है। देखने में यह अत्यन्त प्राचीन लगती है तथा इसकी लिपि भी कैथी है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है, किन्तु पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। इसका नाम है 'बाजनामा व दौलतनामा'। इसमें लिखा है कि फीरोजशाह ने हकीमों से कहा कि 'एक जानवरों की पहचान व इलाज मुकर्रर करो।' तब किसी हकीम द्वारा इसकी रचना हुई। प्रश्न फीरोजशाह के काल के सबंध में उठता है क्योंकि इस नाम के तीन बादशाहों का सबंध दिल्ली राजवंश से रहा है। १२८८ से १२९६ तक खिलजी वंश का, दूसरा १३५१ से १३९० तक मुगल वंश वाले का तथा तीसरा मुगल वंश के बादशाह बहादुरशाह द्वितीय के पुत्र फीरोजशाह का। प्रथम दोनों के समय में ब्रजभाषा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह अपभ्रंशकाल था। यदि तीसरा फीरोजशाह था, तो उसका समय संवत् १८५० माना जा सकता है। उर्दू-मिश्रित खड़ी बोली की भाषा भी इस बात की गवाही देती है। यथा—

जो पैदा करने वाला है, रात और दिन का जिसने इशारते कुन फंकुन की से हजद हजार आलम और आसमान के सितून पैदा किया। जमी को बैल पर रखा बैल को मछली की पीठ पर रखा॥ मछली हवा पर राखी॥ आदि।

खोज-रिपोर्ट १९०३ के अनुसार[2] यदुनाथ शुक्ल-कृत एक ज्योतिष-ग्रंथ 'पचांग-दर्शन' का पता चलता है। इसका लिपिकाल सं० १८५७ है। इसकी भाषा का नमूना देखिए—

गुरु शुक्र सूर्य तीसरे चौथे शनि मगल छठे इह योग लिखा गया है सो राजा सबकों युद्ध में फलदाय।

---

१ एन्युअल रिपोर्ट आन दि सर्च फॉर हिन्दी मैन्युस्क्रिप्ट्स फार दि इयर १९०३'—श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ-संख्या ८९, रिपोर्ट संख्या ६९। २ पृष्ठ-संख्या ८०, रिपोर्ट-सं० ११२।

खोज-रिपोर्ट १९०१, पृष्ठ-संख्या ५५ रिपोर्ट-संख्या ६२ के अनुसार कवि महेश कृत 'हम्मीररासो' का उल्लेख है। इसकी भाषा गद्य पद्यमयी है।

रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह के आश्रित बख्शी समन सिंह नाम के एक संस्कृत तथा फारसी के अनन्य विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित हो कर महाराज ने हिंदी अलंकारों पर एक उपयोगी ग्रंथ लिखने का आग्रह किया। अतः आपने 'पिंगल काव्य भूषण' नाम से सं० १८७९ में १८६ पृष्ठों का ग्रंथ प्रस्तुत किया, जिसकी शैली भी गद्य पद्य-मय ब्रजभाषा की है।

संवत् १८९७ में नवल सिंह ने 'महाभारत-वार्तिकी' ब्रजभाषा-गद्य में लिखी। उदाहरण-स्वरूप–

पुन भविष्य प्रादुर्भाव में पुष्कर छेत्र की उत्पत्ति को वर्नन है ताके स्नान-दान हवन की महिमा है। सत सहस्र संहिता भारत व्यास जी के वोष्ठ वुठन ते निकसो है पुन्य को बडावनवारो महापवित्र है। पापन को हर्त्ता है।"

यह भाषा शक्तिशाली तथा कथा कहने में समर्थ है।

शकुन विचार-संबंधी एक ग्रंथ श्याम नामक लेखक का मिलता है। जिसकी भाषा में सामान्य बोल चाल का रूप देखा जा सकता है। यथा—

सुन भो पृच्छक तोहि शत्रुन को आधीन एक वा होइगो। पै जो मन चाहि है, सो तेरो कार्ज होइगो।

इतने उस ब्रजभाषा गद्य के मौलिक लेखक है, जिसके विषय में कहा गया है, "वार्ताओं के अति-रिक्त और कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता१।" पिंगल, ज्योतिष, अलंकार, वैद्यक, इतिहास, दर्शन, सब पर स्वतंत्र रूप से विचार किये गये है और सब पर स्वतंत्र ग्रंथो की रचनाएँ हुई है। टीकाओं और अनुवादों की तो बात ही अलग है। उसमें भी टीकाकारों ने जिस ढंग से शास्त्रीय विवेचना की है, उसका रूप संस्कृत में प्रायः नहीं मिलता। इसका जिक्र कहीं अन्यत्र करूँगा। वार्ताओं का साहित्य निस्संदेह अत्यधिक व्यापक और साहित्यिक ढंग का रहा। तत्कालीन शासक वर्ग के प्रभाव से उसमें उर्दू और फारसी के शब्द भी यत्र-तत्र दिखलाई पडते हैं। यों तो धार्मिक प्रचार का माध्यम होने के कारण इन वार्ताओं की रचना उस प्रचलित बोली में की गयी थी जो ब्रज के आस-पास बोला जाता था। दूसरे, मध्यदेश में प्रचलित शौरसेनी प्राकृत की उत्तराधिकारिणी होने के कारण ब्रज की बोली उस समय भी गंगा-यमुना के निकटवर्ती विस्तृत भूभाग के निवासियों की प्रचलित बोली थी। संभवतः इसी कारण अपने मत का सर्व-सुलभ बनाने के लिए गोरखपंथी साधुओं ने भी इस बोली में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की।

शुक्ल जी की भी यह कथन कि 'ब्रजभाषा गद्य का कुछ पुस्तकें इधर-उधर पायी जाती हैं, जिनसे गद्य का कोई विकास प्रकट नहीं होता' उचित नहीं जान पड़ता। क्योंकि 'दो सौ बावन' तथा 'चौरासी वैष्णवा की वार्ता' की जो भाषा है उसका विकास क्रम यदि उसी प्रकार चलता रहता, तो आज खडी बोली का कोई स्थान ही साहित्य में नहीं होता। गद्य यों ही इतना छाया हुआ था कि सामान्य जनता से ले कर दरबारों तक व्याप्त था। उसी से प्रभावित बँगला में 'ब्रज बुलि साहित्य' की रचना होने लगी तथा सुदूर दक्षिण वेलनाडु प्रदेश के रहने वाले आचार्यों ने अपने मत के प्रचार के लिए इस भाषा को अपनाया था। ऐसी स्थिति में, चाहे जिन कारणों से भी ब्रजभाषा गद्य का पतन हो गया हो, यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें अक्षमता थी और उसका विकास-क्रम अवरुद्ध हो गया था, वरन् आज की खड़ी बोली की नींव में ब्रजभाषा ही है, यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं।

१ 'हिंदी की गद्य शैली का विकास', पृष्ठ ११ १२, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा।

केदारनाथ सिंह | शरद्-प्रात

सुबह उठा तो ऐसा लगा कि शरद् आ गया "
आँखों को नीला-नीला आकाश भा गया,
धूप गिरी ऐसी गवाक्ष से—
जैसे काँप गया हो शीशा,
मेरे रोम-रोम ने तुमको—
पता नहीं क्यों बहुत असीसा—
शरद् तुम्हारे खेतों में सोना बरसाए,
छज्जों पर लौकियाँ चढ़ाए,
टहनी-टहनी फूल लगाए,
पत्ती-पत्ती ओस चुआए,
मेंड़ों-मेड़ों दूब उगाए
शरद् तुम्हारे बालों में गुलाब उलझाए,
छिन पल्ले का छोर ताल की ओर उड़ाए
दूर-दूर से—
हल्के हल्के धानों के रूमाल हिलाए,
बाँसों में सीटियाँ बजाए,
गलियारों में हाँक लगाए,
मन पर, बाँहों पर, कंधों पर,
मौलसिरी की डाल झुकाए,
पास कुएँ के खड़े आँवले की शाखों को—
खूब कँपाए,
नदी तीर की नयी रेतियों से—
दिन की सलवटें मिटाए,
लहरों में काँपता भोर का दिया सिराए,
तुलसी के तल धूप दिखाए,
चूल्हे पर उफने, गरमाए,
मग-मग मठा आँच लगाए,
साथ-साथ रोटियाँ सिकाए,
शरद तुम्हारे तन पर छाए, मन पर छाए
नये धान की गन्ध-सरीखा—
घर-आँगन, जंगलों, दरवाजों में बस जाए,
शरद् कि जो मेरी खिड़की से भी—
भिनसारे दिख जाता है,
खिंची धूप की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से,
मेरे इस सागौन वृक्ष के पात पात पर—
नाम तुम्हारा लिख जाता है।

कर्तारसिंह दुग्गल | प्लेग

तब मैं बहुत छोटा था। मुझे अपना गाँव बड़ा लगता था इतना बड़ा, जैसे एक दुनिया हो।

मुझे गाँव की हल्की हल्की धूप प्रिय लगती थी। ऊंचा-ऊंचा आकाश अच्छा लगता था। मेरी माँ के बनाए उपलों की गन्ध अच्छी लगती थी। भैंस की पीठ पर बैठ कर उसे बाहर ले जाना अच्छा लगता था। तालाब में भैंस को नहलाना अच्छा लगता था। घास पर लेट लेट में कितनी-कितनी देर, दूर किसी को 'माहिए' के बोल गाते हुए सुनता रहता था। सुनते-सुनते सो जाता था। गाँव के गुरुद्वारों में बैठा हुआ मैं सोचा करता था कि इससे बड़ा मकान संसार में कोई होगा ? अपना गाँव, उसके आगे एक और गाँव, उसके आगे एक और गाँव, उसके आगे, मैं सोचता, जंगल होगा, अँधेरा-अँधेरा होगा, संसार समाप्त हो जाता होगा।

तब मैं बहुत छोटा था। बासी रोटी पर मक्खन रख कर खाता, लस्सी वाले साग के कटोरे भर-भर सड़पता, जितनी लस्सी खट्टी हो, उतना ही उसे चाव के साथ पीता। प्रातः बेरियों के बेर चुनने के लिए निकल जाता। सावन की बहार में नारामीरा और 'खुमो' की तलाश में कहीं का-कहीं हो आता।

अपने गाँव में मुझे खूब गहमा गहमी लगती थी, बच्चे खूब ऊँचा हँसते थे, मस्जिद का मुल्ला खूब ऊँची बाँग देता था, बाजार में लोग खूब ऊँचा-ऊँचा बोलते थे, लड़ने वाले ऊँचा लड़ते थे, रोने वाले ऊँचा रोते थे, खेलने के समय खेल-खेल कर लोग न थकते थे, न हारते थे।

इस प्रकार खुशी-खुशी दिन गुज़र रहे थे, कि एक दिन सुनने में आया कि हमारे गाँव में प्लेग

रही स्त्रियों को देख रहा था, कि बाहर से एक पड़ासिन ने आ कर उन्हें कोई बात बतायी और एकदम उन्होंने कपडे घाना बद कर दिया। सब स्त्रियां ठोडियों पर उँगलियां रखे कितनी देर सिर जाड़ कर खुसर-फुसर करती रहीं। फिर वैसी को-वैसी, कपडे सँभाल, हाथ मलती हुई वे अपने-अपने घरों को चली गयीं। मेरी माँ जब घर आयी, ता मैंने उससे सारी बात पूछी।

"बेटे, बडा अनर्थ हुआ है!" मेरी माँ ने मुझ बतलाया, "सामने, सडक पर एक आया गोरे के एक बच्चे का गाड़ा में टहला रही थी, उधर से एक ट्रक आया और बच्चा गाड़ी समेत उसके नीचे दब गया। आया ता बच गयी पर बच्चा, पता नही कैसे, ट्रक के नीचे आ गया। हाय बटा, बडा अनर्थ हुआ है। बचारी आया... ..!"

"क्यों, आया का अब क्या होगा ?"

"हाय बेटा, आया वेचारी का मिट्टा पलीद होगी।"

"क्यों, आया को सजा मिलेगी ?"

"सजा जैसी सजा ! इन फिरंगियों से भगवान् बचाए।"

"आया को क्या करेंगे माँ ?"

"क्या करेंगे ? आधा धड उसका जमीन में दबा कर बाकी आधे को शिकारी कुत्ता से नुचवाएँगे। ये फिरगी बड़े दुष्ट है बेटा !"

और मेरी माँ न जाने कितनी दर तक बालती रही। मुझे उसके बाद कुछ सुनाई न दिया। गुमसुम जहाँ बैठा था, वहीं जम गया।

उस रात मैं खाना नहीं खा सका। सान क समय मुझे नींद नहीं आ रही थी। काफी रात गये काम-काज से निवृत्त हो कर अपनी चारपाई पर आ कर लेटी अपनी माँ से मैंने फिर पूछा, 'माँ उस आया को कुत्तों से कैसे नुचवाएँगे, ये गोरे?'

"बेटा, पहले एक गढा खोदेंगे, उसमें आया को खडा करेंगे। फिर आगे-पीछे मिट्टी डाल कर उसे कमर तक गाड देंगे। फिर भूखे शिकारी कुत्तों को छोड़ेंगे जो उस बेबस औरत की बोटी-बोटी कर देंगे। ये फिरगी बड़े निर्दयी है।"

मैं चुपचाप अपने पलँग पर आ पडा। सारी रात मैं न सो सका। मुड-मुड कर मेरी आँखों के सामने एक भारतीय नारी का चित्र उभरता, जिसे गोरों के कुत्ते नोच-नोच कर खा रहे थे। बार-बार अपनी आँखों के आगे मैं उँगलियाँ रख लेता। मैं सोचता रहा, सोचता रहा और भोर हो गयी।

अगली सुबह जब मेरे बड़े लाला जी गाँव से आये, मैं उनके साथ तैयार हो गया। मुझे लाख समझाया गया कि गाँव में प्लेग अपने पूरे जोरों पर थी। मेरी माँ मुझ पर खफा भी हुई। मेरे पिता ने मुझे डाँटा भी। पर मैंने किसी की एक न सुनी। मुझे यों लगता कि यदि मैं एक दिन और गोरों के उस पडोस में रह गया तो मुझ पिल्टो निकल आएगी। रोता-धोता मिन्नतें करता, जब मेरे बड़े लाला जी लौटने लगे, मैं उनके पीछे हो लिया। थोडी दूरी पर जा कर उन्होंने मुझे यूँ हठ करते देखा तो उठा कर मुझे घाडी पर बैठा लिया। और हम तेज-तेज वापिस अपने गाँव चले गये, जहाँ उपलों की सुगंध मुझ अच्छी लगती थी, भैंस के साथ तालाब में नहाना मुझे अच्छा लगता था, घास पर लेटे-लेटे दूर, बहुत दूर 'माहिए' के बोल सुनना अच्छा लगता था, और इस प्रकार सुनते-सुनते प्रायः मैं सो जाया करता था, अपने गाँव की हल्की-हल्की धूप में।

अगरचंद नाहटा, भँवरलाल नाहटा

'मदनशतक' का गुप्त प्रेम-पत्र

मानव बुद्धि के विविध आविष्कार और चमत्कार देख कर कभी-कभी बड़ा आश्चर्य होता है, और जिस बुद्धि के द्वारा वे आविष्कृत होते हैं कभी-कभी वह स्वयं भी हैरान हो कर चक्कर में पड़ जाती है। मनुष्य का मन बड़ा गूढ़ और उसकी क्रिया शक्ति बड़ी बेढव दृष्टिगोचर होती है। अपने मानसिक भावों को प्रकट करने के लिए कभी कभी मन बेचैन बेकरार और बावला सा नजर आता है तो वही मन कभी अपने भावों को प्रच्छन्न रखने में ही आनंद अनुभव करता है, एवं कभी वह अपने भावों को ऐसे ढंग से व्यक्त करता है, जिससे कौतूहल उत्पन्न हो और उसके भावों का प्रकटीकरण दूसरे व्यक्ति के लिए एक समस्या बन जाए।

मानव के इस रहस्यमय मन और बुद्धि के घुमाव ने अनेक गुप्त लिपियों और सांकेतिक शब्दावलियों का आविष्कार किया। हम अपनी बात जब एक दो व्यक्तियों या अमुक समाज आदि के संकुचित दायरे में ही सीमित रखना चाहते हैं, तब दूसरों के लिए गूढ़ ऐसी लिपियों और शब्दावलियों का आविष्कार करते हैं। सांकेतिक लिपियों के संबंध में हमने कुछ विचार 'सांकेतिक लिपि का एक महत्त्वपूर्ण पत्र'[1] और 'इच्छालिपि'[2] आदि लेखों में व्यक्त किये हैं। सांकेतिक शब्दों के संबंध में 'सोनारों की फारसी' का एक उदाहरण भी 'राजस्थान भारती' में प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत लेख में सांकेतिक शब्दों वाले एक प्रेम-पत्र को प्रकाशित किया जा रहा है, यह पत्र अठारहवीं शताब्दी के जैन कवि दामो के 'मदनशतक' में प्राप्त हुआ है। अतः कवि का संक्षिप्त परिचय देते हुए 'मदनशतक' की कथा का सार उपस्थित करके फिर इस पत्र को उद्धृत किया जाएगा।

१ 'कल्पना' (जनवरी, १९५२) में प्रकाशित। २ 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' वर्ष ५७ पृ० ३४३।

'मदनशतक' के अंत में कवि ने अपने नामोल्लेख के अतिरिक्त कोई परिचय नहीं दिया है। पर इसी कवि की दो अन्य रचनाओं से कवि का पूरा नाम दामोदर और दीक्षानाम दयासागर ज्ञात होता है। ये अचलगच्छ के भामरतन के शिष्य उदयसमुद्र के शिष्य थे। अचलगच्छाधिपति श्री कल्याणसागर सूरि के समय में इन्होंने अपने दोनों ग्रंथ बनाये, जिनमें से प्रथम 'सुरपति कुमार चोपाई' सं० १६६५ में पुष्कर के निकटवर्ती पचावनापुर में रची गयी, द्वितीय कृति 'मदनकुमार रास' सं० १६६९ की विजयादशमी के दिन जालोर में रची गयी। इस रास की प्रशस्ति में इससे पूर्व दान-धर्म के माहात्म्य पर सुरपति चोपाई ३५० पद्यों में रची गयी थी, इस उल्लेख के साथ साथ शील-धर्म पर 'मदनकुमार' रास रचने का उल्लेख करते हुए, 'मदन शतक' के एक-एक दोहे दसम पूर्व रचने का निर्देश इस प्रकार किया है—

मदनशतक ना दूहडा, एकोत्तरसय सार।
ते पणि मइ पहिला किया, जाणइ चतुर विचार।
कथा सरस जाणी सयल, सील तणइ अधिकार।
मदन नरिंद तणुं चरित, मइ विरच्युं विस्तारि।

प्रस्तुत रास ५६८ पद्यों में रचा गया है। इस 'मदनशतक' का ही परिवर्द्धित संस्करण समझना चाहिए। 'मदनशतक' के दोहे हिंदी भाषा में है बीच बीच में प्रसंगानुसार गद्य वार्ता भी हिंदी में ही लिखा गया है। अर्थात् 'मदनशतक' ग्रंथ हिंदी का है, जब कि कवि के अन्य दोनों ग्रंथ राजस्थानी भाषा में है। 'मदनशतक' की कथा को कवि ने जिस रूप में संकलित किया है, उससे प्रतीत होता है कि किसी लोक कथा को ज्यों-की-त्यों गुम्फित कर दिया गया है, जब कि उसी कथा को राजस्थानी पद्य में बनाते समय शील-धर्म के उदाहरण का जामा पहना दिया गया है। पद्य संख्या को देखते हुए उसमें अन्य परिवर्तन तथा विस्तार किया गया भी प्रतीत होता है। 'मदनशतक' में ग्रंथ-रचना का समय और स्थान का निर्देश नहीं है, पर मदनकुमार के रास में उसका उल्लेख आने से शतक की रचना सं० १६६९ से पूर्व की निश्चित हो जाती है। कवि ने अपने दोनों ग्रंथों की रचना पुष्कर के निकटवर्ती पचावनापुर और जालोर में की। इससे अनुमानतः कवि राजस्थान का होना चाहिए और शतक की रचना भी राजस्थान में ही हुई होगी।

सत्रहवीं शताब्दी के हिंदी गद्य[1] को जानने के लिए 'मदनशतक' की वार्ता का कुछ गद्यांश यहाँ दिया जाता है।

वार्ता—अमरपुर नगर तिहाँ रत्नसिंह राजा गुनमंजरी नाम रानी ताको सुत मदनकुमर योवनवंत भयो तब श्री कामदेव सुपनै में आइकै कह्यो। मदन कुमर तूं अपनौ राज्य देस छोडिकै परदेसजाहु तोकूं नफा है अरु इहाँ रहन्याँ तोकूं केइक दिन सुख नाँही कष्ट है। एतो कहि कामदेव अदृस भयो। अरु मदनकुमर प्रात समै मात पिता सुं बिना मिल्याँ एक सुक साथ लेकै देसावर चल्यो आगै चल्तों श्रीपुर नगर के विषै उजानंद वन ताकै बीचि श्री कामदेव को प्रासाद तहाँ मदनकुमर सुआ कुं दरवाजै बैठाय के आप देवल भीतर सोया तिन समै नगरराय की बेटी रतिसुंदरी नाम पूजा करनकुं आई।

हिन्दी साहित्य में प्राचीन आख्यानक काव्यों की बड़ी कमी नजर आती है। कतिपय मुस्लिम कवियों के प्रेम-काव्य ही अधिक प्रसिद्ध है। वास्तव में देखा जाए तो आख्यानक अधिक लिखे होने चाहिए, क्योंकि वे जन-साधारण के लिए विशेष रुचिकर होते थे। मौखिक रूप में ऐसे कथानक सैकड़ों ही प्रचलित होंगे पर लिपि-बद्ध, जितने अभी तक ज्ञात हुए हैं, उनसे बहुत अधिक मिलने चाहिए। खेद है, कि इस दिशा

[1] इसी प्रकार हिन्दी-गद्य में कई अन्य वार्ताएँ भी रची गयी है, जिनमें 'कुतुबशतक' सबसे प्राचीन है। हिन्दी गद्य के अध्ययन के लिए इन वार्ताओं का प्रकाशन अत्यंत आवश्यक है।

पर्वत पर जा कर आनंद से रहने लगा। फिर शुक के वचन से माता पिता से मिलने और चम्पकमाला से विवाह करने का वृत्तान्त है।

इस रचना की कई प्रतियाँ वर्षों से हमारे संग्रह में है, पर इसको ध्यान से पढ़ने और इस विषय में कुछ लिखने का विचार अभी तक स्फुरित ही नहीं हुआ था। अभी बीकानेर के खरतरगच्छीय वृहद ज्ञान-भंडार के वार्ता संग्रह की प्रतियों में इधर-उधर पत्रे टटोलते इस कथा की यों ही कुछ देखा तो बीच में एक प्रेमपत्र मिला। इस जिस रूप में लिखा गया है, उसका भाव कुछ भी समझ में न आ सका, इसलिए उसके भाव को समझने की जिज्ञासा प्रबल हो उठी। यद्यपि आगे भी उसमें वह प्रेम पत्र सही रूप में दुहरा दिया गया है, पर इस प्रति में पाठ कुछ अशुद्ध-सा लगा, इसलिए अपने संग्रह की प्रतियों को निकाल कर देखा तो सं० १७६८ की लिखी हुई प्रति में बाँचने की कुंजी मिल गयी अर्थात् प्रेमिका ने अपने पत्र का भाव दूसरा न जान सके, इसलिए उसे ऐसी लिपि व शब्दों में लिखा था, जिससे उसके संकेत को जाननेवाला उसका प्रियतम ही उसे पढ़ कर आशय समझ सके। पहले मूल पत्र दे कर फिर उसकी कुंजी और सही रूप दे देने से पाठकों को समझने में सुविधा होगी।

सांकेतिक गुप्त प्रेम-पत्र

अथ रतिसुन्दरी को समस्यावध गुप्त लेख लिख्यते दोहा—

ऊघ भक्षाया लाव शधि, टभं युक्षाथी वेंप।
लेभी झे भच हाडि ही बघहू शाधं लेघ।।१।
बुसल्पधि क्षिर हौंबला उलिक्षिदिभोश पिपम।
शिदि भुसाभ शबायिटं जय मुहोयी धम।।२।
उपुंभहू थोयी डटि थं टपुंउोट थं बधीय।
योगं यक्ष युक्ष शानड भिन्त्रूयि भयूवसशीय।।३।
शोम हूयह इचलाथवं निटभ हूक्षावध बम।
लयिधवंउ पुंधि एधहू टयुंशं थेक्षहूटंघ।।४।
शट उक्ष हूलिहूट थ.र्यं बलिदुं अभं अटोभ।
भूबाभिसटुं टयुं अभुं उपूढ हूर्डोंउयक्षोम।।५।
डाघिविटो हीटमयं बाधिविटयं हूटोछ।
चोडु हूलेठोडोगितें वदय कटोधि विडोछ।।६।
डाहू शिजडुहूधय युक्ष घोभक्ष साप्यो हेम।
शोयक्ष थडट वूहुउ पुये डलि फानो इेभ।।७।
शोय क्षयं क्षुए लो बधिहू टूयुटो हीं शयि भाय।
क्षोच सदा सद भो हूटी समुयि हूटो वो साय।।८।
टप.भुल्लट मुहूा हूभी झेलु फक्षो ले उाछ।
टाश चडहिक्षोटुंलभं चउु हूघ यउंचाछ।।९।
थे छुट झेट वेन्हे बयूक्षोम क्षटु शुभ आछ।
यथि बहायी वाछटं क्षयि क्षयि भैंयि बकाछ।।१०।
मोयक्ष स्रोय दटा छटं त्युटयु शयि भय उाछ।
थंशोक्ष यि युत्र टुल छोटथ क्षभ क्षाये वाय।।११।
धिय भचड हिजश उोच विट चभहि विलमं बघीय
बाभि सलेभुरा बाजट यि लय बहू यु शो हीय।।१२।
। इति गुप्त लेख।

हमारी प्रति में इस पत्र को पढ़ने की कुंजी इस प्रकार दी हुई है—

अ इ उ ए	क ग ग प	त थ द ध	प फ ब भ	श्री	स म
च छ ज झ	ट ठ ड ढ	य र ल व	श ष स ह	प्री	ह हृ

लिपि ध्वनि का सूचक एक संकेत है। यहाँ प्रसिद्ध ध्वनि सूचक संकेतों को दूसरे ही सांकेतिक अक्षरों से परिवर्तित कर लिया गया है, जैसे अ इ उ ए के स्थान पर च छ ज झ और च छ ज झ के स्थान पर अ इ उ ए अक्षरों का उपयोग किया गया है। इस तरह के प्रसिद्ध अक्षरों को सांकेतिक अक्षरों में पढ़े जाने का प्रयोग महाराष्ट्र के महानुभावी सम्प्रदाय में विशेष प्रचलित है। प्राचीन समय में भी चाणक्यी, मूलदेवी, अंकलिपि, सहदेवी आदि नाना प्रकार की लिपियाँ प्रसिद्ध रही हैं जिनका उदाहरण मुनि पुण्यविजय जी ने भारतीय जैन

संस्कृति और लेखन कला' के पृ० ६ से ८ तक की टिप्पणियों में प्रकाशित है। उपर्युक्त प्रेम-पत्र की लिपि का नाम तो नहीं मिला, जिसमें मात्राएँ ज्यों-की-त्यों हैं। इसी कथा में आने वाली एक अन्य सांकेतिक लिपि का सूचन मदनकुमार द्वारा रतिसुन्दरी को किया गया है, जिसका दोहा पहले उद्धृत किया जा चुका है।

प्रेमपत्र का सही पाठ

अथ रति सुन्दरी को भेज्यौ गुप्त लेख मदन कुमर वांचे दूहा—

जीव हमारा दास करि करै तुमारी सेव
देहीं एह अभागिनी सग न पावै देव ।१।
सुपनतरि मिलवौ सदा जदि मिलि हो परितिक्ष ।
मिलिहूँ बांह पसारिकै उरमैं भीरी वक्ष ।२।
ज्यूं मन मेरो गति करै त्यूं जौ करै सरीर
तौ प्रीतम तुम पाय गहि दूरि हरूं सब पीर ।३।
गोमन वच्छ सदा बसै पिक मन मास बसत ।
रति बसै ज्यूं विरहन त्यूं मेरे मन कत ।४।
पङ्कज मन दिनकर बसै ससि फूं चहै चकोर ।
हूं साहिब कूं रटूं चहूं ज्यूं घन गजित मोर ।५।
जा विध कीनो कत तै सा विधि करै न कोइ
औगुन देखी छ डिपै जलतट की विधि जोइ ।६।
जानै पिउ गुनवत तुम तौ हम बांध्यौ नेह
प्रीतम रग कसूभ ज्यूं वेग दिखायौ छेह ।७।
प्रीतम तै मुझ दोस बिन क्यूं कीनो परिहार ।
मो अबला बलहन को, बहुरिन कीधी सार ।८।
कत हृदय करुना नहीं, ए दुख मो दे जाइ ।
काम अगनि साकुं दहै, अजुं न वरजे आइ ।९।
रे सुक एक सदेस तू प्रीतम कूं पहुँचाइ ।
रति संभारी आइ कै मति मरि है विष खाइ ।१०।
प्रीतम प्रीति लगाइ कै, क्यूं क्यूं परिहर जाइ
अैसी मति तुम कुदई, करम हमारे आइ ।११।
विरह अगनि उपजी अधिक, अहनिसि दहै सरीर
साहिब देहु पसाउ करि दरसन रूपी नीर ।१२।

प्रेमपत्र के बहुत प्रकार के दोहे फुटकर रूप में हस्तलिखित प्रतियों में लिखे मिलते हैं। प्रेमकाव्यों को टटोलने पर जिस प्रकार 'मदनशतक' में सांकेतिक लिपि में वे लिखे मिले हैं, उसी तरह अन्य प्रकारान्तरों से भी लिखे जाते होंगे, इसका पता चल सकता है।

प्रेमकाव्यों में और भी अनेक प्रकार की चमत्कारिक वार्तालाप की पद्धतियाँ, चतुराई और बुद्धि की बातें आदि पायी जाती हैं, जिनका अध्ययन बड़ा रोचक और कौतूहलोत्पादक होता है, पर इस दिशा में अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया, इसलिए बहुत सी ज्ञातव्य बातों से हम वंचित-से रह गये हैं। ऐसे प्राचीन काव्य प्रचुर परिमाण में रचे गये हैं पर उनमें से प्रकाशन तो प्रकाश में हो नहीं सहस्रांश भी नहीं हो पाया। साधारणतः ऐसे प्रेमकाव्यों का प्रकाशित करना अच्छा भी नहीं समझा जाता क्योंकि इनमें प्रधानतः प्रेमी और प्रेमिकाओं की क्रीड़ा, विनोद, आलाप-सलाप ही अधिक रहते हैं, जिनमें कहीं कहीं अश्लीलता भी टपक सकती है। पर उनका महत्त्व काव्य की दृष्टि से होने के साथ अनेक प्रकार की कला और चतुराइयों की जानकारी प्राप्त करने के रूप में भी है इनसे कई प्रसग तो बहुत ही बुद्धि-वर्द्धक हुआ करते हैं। उदाहरणार्थ — प्रत्येक बुद्धचरित में और उत्तराध्ययन वृत्ति में एक राजा के चित्रकार की बुद्धिमती कन्या से विवाह करने का उल्लेख है, जिसने वाक् चातुरी से राजा को ऐसा रिझाया कि छह मास पर्यन्त अन्य किसी भी रानी के यहाँ न जा कर उसका चतुराई भरी नित्य अधूरी छोड़ी हुई कथाओं को सुनने के लिए ही वहाँ आना पड़ता। ये कथाएँ बहुत छोटी होने पर भी बड़े गभीर आशय को व्यक्त करने वाली हैं। यों पति-पत्नी समय को निर्गमन करने व पारस्परिक प्रेम बढ़ाने के लिए विविध विनोद वार्तालाप किया ही करते थे, जिनमें गूढे, पहेलियाँ हियालियाँ, अतर्लापिका, बहिर्लापिका, समस्या आदि

प्रयुक्त होते थे, जिनसे उनके बुद्धि-कौशल का सुन्दर परिचय मिलता है। आज भी जब पुरुष विवाहानंतर ससुराल जाता है तो उसे ससुराल की नवोढाएँ विविध समस्याएँ और आडियाँ पूछ कर वर की बुद्धि की परीक्षा लेती हैं। ऐसी आडियों का एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। 'मुकलावा-बहार' आदि ग्रन्थों में भी कुछ ऐसी सामग्री प्रकाशित है, पर हमारे प्राचीन काव्यों में जो विशाल सामग्री बिखरी पड़ी है, उसका संग्रह होना अत्यावश्यक है। वर्तमान में उस सुन्दर सामग्री से अपरिचित होने के कारण ही *छिछली और भद्दी-सी 'आडियें'* प्रचलित हो रही है। हियाली-साहित्य को तो जैन-कवियों ने बहुत ही सुन्दर रूप दिया है, जिसका कुछ परिचय हमने *लगभग* २२ वर्ष पूर्व *'जैन-ज्योति'* में उदाहरण-सहित दिया था। ऐसी सामग्री का विशेष परिचय फिर कभी पाठकों को दिया जाएगा।

रामदरश मिश्र | सीमाएँ

मेरे मित्र मेरा फोटो खींचने आये थे। सन्ध्या की अंतिम किरणें पेड़ों के उदास शिखरों पर लुन-लुपा रही थीं। लताओं की जाली में लालिमा गुँथ-सी गयी थी। इस धूप-छाँह के सुन्दर सेट को देख कर मेरे भावुक मित्र चिल्ला उठे, "आ जाइए, आ जाइए, बड़ा सुन्दर समय है फोटो खींचने लायक।" मैं तैयार तो था ही आ कर एक घने लता-कुंज के आगे खड़ा हो गया। मेरा एक फोटो खींचने के बाद वे फिर चिल्लाये—"आइए भाभी जी, जल्दी कीजिए सूरज डूबना चाहता है।" मैंने कहा—"रतना को भी लेते आना।"

रतना ने अरुणा से कहा—"चलो भाभी, भइया बुला रहे हैं।"

अरुणा ने थोड़ा तुनक कर जवाब दिया—"मैं नहीं जाती, मेरा मूड ठीक नहीं है। मेरा फोटो ठीक नहीं आएगा।"

रतना ने पुचकार कर कहा—"चलो न मेरी अच्छी-सी भाभी, वहाँ मूड अपने-आप ठीक हो जाएगा।

"मैंने कह दिया न, कि मेरा मूड ठीक नहीं है, मुझे तंग मत करो।" अरुणा ने झटकारते हुए कहा।

"आखिर तुम्हारा मूड क्यों नहीं ठीक है, भाभी!"

"यों ही" कह कर अरुणा उधर घूम गयी। रतना भी कुछ आवेश में आ गयी, बोली—"तुम नहीं जाती तो मैं क्यों जाऊँ? कई दिन से देख रही हूँ तुम्हारा मूड ठीक न होने का रोग। मैं तो यहाँ आयी थी कि कुछ हृदय को शान्ति मिलेगी, किन्तु अभागिनी को शान्ति कहाँ? मैं अपने घर जा रही हूँ।"

हम दोनों वहाँ उपस्थित हो गये। मैंने बड़े प्यार से पूछा—"क्या है रतना, इतना नाराज़ क्यों हो गयी ? चलो न, फोटो खिंचवा लो।

"नहीं, मैं नहीं जाती। क्या मैं यहां फोटो खिंचवाने आयी थी ? जिस चीज़ के लिए आयी थी, वह न मिली। मुझे स्टेशन पहुँचा दो।" रतना तैश में बोल रही थी।

आखिर इतनी नाराज़गी किसलिए ?

"किसलिए क्या ? जब से यहाँ आयी हूँ, तभी से भाभी सीधे मुँह बात नहीं करतीं। इनका मूड खराब रहता है। यहाँ रहने से क्या लाभ कि न मुझे शान्ति मिले और न तुम लोगों को।" उसकी आँखों में जलते हुए आँसू उतरा गये थे।

मैंने घूर कर अरुणा की ओर देखा। कई दिनों से मुझे ऐसा लग रहा था कि अरुणा कुछ खिन्न-खिन्न सी है। मैंने कई बार उससे कारण भी पूछा, लेकिन वह कुछ जवाब न दे कर बहाने से टाल जाती। मैंने कर्कश स्वर में पूछा—"तुम्हारा मूड क्यों खराब हो गया है ? तुम अपना मूड खराब करके मेरे मेहमानों का अपमान करने पर तुल गयी हो ? जवाब दो।"

अरुणा आज अप्रत्याशित रूप से आ कर बोली—"आप औरों के सामने डाँट-डाँट कर मेरा अपमान क्यों करते हैं ? आप तो आप, अब गैर लोग मुझे डांट कर अक्ल सुझाने लगते हैं तब बरदाश्त नहीं होता। खबरदार, मैं किसी की डाँट सहने की आदी नहीं।"

रतना और अरुणा की कहा-सुनी गरम होती गयी। मैं अतिथेय-धर्म और पति-धर्म दोनों के पाट में ऐसा पिसा हुआ था कि बोली नहीं निकल पा रही थी।

आखिर हार मान कर रतना को स्टेशन ले गया। स्टेशन पर चलते-चलते रतना ने कहा—"भइया, भाभी को कुछ न कहना—वह अभी बच्ची है न। अपने आप सँभल जाएँगी।"

मैंने पश्चात्ताप और ग्लानि से भरे हुए हृदय से कहा—"मैं तुम्हें मुँह दिखाने लायक नहीं रह गया। इतनी दूर से तुम हौसला ले कर आयीं कि भइया के यहाँ दो क्षण की शान्ति मिलेगी, किन्तु यहाँ तो तुम्हें और तीखे घूँट पीने पड़े। मैं बहुत शर्मिन्दा हूँ, रतना।"

"नहीं भइया, ऐसा मत कहो। किसी का दोष नहीं। मेरे अभाग्य-चक्र का फेरा जहाँ-जहाँ होता है, वहाँ-वहाँ उत्पात मच जाता है। मैंने जिन्दगी भर अपमान को घूँट पी है। जब किसी पर क्रोध आता है तो दूर हट कर दो घूँट पानी पी लेती हूँ। इससे अधिक मेरे वश की बात नहीं।

मैं कुछ कहने ही जा रहा था कि गाड़ी झकझका कर चल पड़ी।

मैं भारी-भारी डग भरता हुआ स्टेशन के बाहर आया। एक रिक्शे में अपने को फेंक कर कहा—चलो। माघ की ठंडी रात, दस बजे थे। सुनसान सड़क, कुहरा-मिश्रित घने अंधकार में खोई हुई थी। सड़क की दोनों ओर की घनी झाड़ियाँ सूनेपन को गहरा बना रही थीं। कभी-कभी कुत्तों की भौंक, पीछे छूटते हुए स्टेशन पर इधर-उधर दौड़ते इंजन की चीख मेरे मन की परेशानी को चौका-चौका दे रही थी। गंदी-सी पतली सूती चादर ओढ़े एक अधेड़ आदमी धीरे-धीरे रिक्शा खींच रहा था। *मैं अपने से उधेड़-बुन करने में खो* रहा था—

जब से रतना आयी, तभी से अरुणा का प्रफुल्ल मुख-मंडल उदासी की हल्की-हल्की छाँह से धूमिल दिखाई पड़ने लगा था। मैं आदि से अन्त तक इस उदासी का कारण नहीं समझ सका। समझने की बहुत कोशिश की। सुना था कि कोई भी नारी

"खैर चाहे पाप कहो चाहे पुण्य। मेरे मन ने एक अपराध किया था। एक...मुझे पढ़ाने आया करता था। मैं उससे शरारत करते-करते उसे चाहने लगी थी। चाँदनी रातों ने, वसन्त की सुगन्धित सन्ध्याओं ने पावस की उमड़ती हुई घटाओं ने मेरे आरोपित संयम के भीतर सोये हुए मन की प्यास को जगा दिया था। किया न बहुत बुरा मैंने!" फिर सकोच से उसका चेहरा लाल हो उठा था।

"हाँ, बहुत बुरा किया—आगे?"

"उसने शादी के लिए पाँच साल तक मेरी स्वीकृति की प्रतीक्षा की। किन्तु मैं पिता जी का मुँह जोहती रह गयी। पिता जी जहर खाने पर तुल गये थे, मेरे इस इरादे को जान कर। उसने तंग आ कर इस साल शादी कर ली। अब बताओ, मैं क्या करूँ? उसकी सूरत जो नहीं भूलती।"...... यों तो मेरे पीछे बहुतेरे पड़े हैं, किन्तु काश, मैं अपने मन को समझा पाती!"

"उफ, यह सब तुमने पहले ही क्यों नहीं बताया?" और वह कहती गयी—

"भैया, दुनिया की बदनामी के मूल्य पर उसे प्यार किया था, किन्तु वह भी अपना न रहा। अब भैया, भाभी, सखियाँ सभी मुझे ताने मारते हैं। मैं तो कभी की इस दुनिया से विदा हो गयी होती, किन्तु तुम्हारे पत्र ने मुझमें नयी जिन्दगी का विश्वास फूँका है। मैं तुम्हारे भरोसे जी रही हूँ।"

और तभी अरुणा आयी थी, खाना खाने को कहने। और रतना मेरा हाथ छोड़ कर अलग हो गयी थी, बातें भी बंद हो चली थीं।

दूसरे दिन जब मैं और रतना किसी काम से जा रहे थे, तो अरुणा मेरे बहुत कहने पर भी साथ-साथ चलने को राजी नहीं हुई थी। तैयार भी हुई तो साज-सज्जा में विलम्ब करने लगी। मैंने जल्दी तैयार होने की चेतावनी दी तो झिझक कर बोली—में नहीं जाती। खैर किसी प्रकार गयी भी तो रास्ते में से क्रुद्ध हो कर लौट आयी। बात यों हुई—मैंने उससे कहा कि हम लोग एक आवश्यक काम से अपने अध्यापक डा० त्रिवेदी के यहाँ जा रहे हैं, तब तक तुम अपनी दोस्त वीणा के यहाँ इंतजार करो! उत्तर में उसने कहा, "मैं किसी वीणा-फीणा के यहाँ नहीं जाती। आप लोगों को जहाँ जाना हो, जाइए, मैं बाधक नहीं बनूँगी।" और वह क्रोध से हाँफती दो मील पैदल चल कर घर लौट गयी थी। रतना ने भी उसे नहीं रोका, मैं तो क्रोध में बावला था ही। वापस लौट कर देखा, अरुणा का मुँह, रो-रो कर लाल हो रहा था। मैंने पूछा था कि इतना रो क्यों रही हो। जवाब था, "मुझे भी डा० त्रिवेदी के यहाँ ले चले होते तो आपका अपमान न हो जाता। हाँ, इतना जरूर होता कि इतनी रात तक आजादी कैसे कटती?"

"बाबू, कहाँ तक चलूँ?" रिक्शे वाले का सवाल था। देखा, मेरा मकान आ गया था। उतर कर घर आया। देखा आँसुओं की बाढ़ में अरुणा की आँखें डूबी हुई हैं। तकिया में मुँह छिपा कर सिसक रही है। मैं क्रोध और जिज्ञासा के पाट में दबा हुआ था। झकझोर कर अरुणा को उठाया। एक बार, दो बार, दस बार पूछा—"तुम्हारी इस उदासी के मूल में क्या है?"

उसने जरा आवेश में आ कर कहा—"सुनना ही चाहते हो तो सुन लो—'रतना बदतमीज है।"

"ऐ..." मैं अचकचा गया।

"हाँ हाँ, एक बार नहीं, दस बार।"

लेकिन वह तो तुम्हें बहुत प्यार करती है और तुम भी तो उसे .....

"रहने दो, रहने दो, ये सब प्यार के चोचले। यदि वह मुझे प्यार करती होती, तो मुझे देख कर मुरझा नहीं जाती और दूर से ही आपकी पगध्वनि

अनन्तकुमार 'पाषाण' | टुंड्रा*

मेरा जीवन शीतकाल में सोते हुए टुंड्रा के सीने-जैसा है—
बर्फ है और बर्फ है और बर्फ है
और फिर मैं हूं और मेरा जीवन है
जो शीतकाल में सोते हुए टुंड्रा-जैसा है।

मैं मिट्टी से उपजा हूं, मिट्टी की नमी में बढ़ा हूं,
मैं बारिश से भीगा हूं, धूप में अड़ा हूं,
धूल बन कर रौंदा गया हूं, धूल बन कर चढ़ा हूं,
मैं मिट्टी का बेटा हूं, मानव के प्राणों का पिता हूं,
सदियों की सर्दियों में अकड़ा हूं,
फिर भी अविजेय खड़ा हूं!
क्योंकि
मेरा जीवन शीतकाल में सोते हुए टुंड्रा जैसा है।

मैंने गोता मार कर गंगा की लहरों से
पैसा निकाला है,
धर्मशाला और सरायों के बरामदे में
बैठ कर बीड़ी के कश पर कश खींचे हैं,
ट्रामों पर हँसा हूं, ट्रेनों पर हँसा हूं,

*[एक दिवंगत कवि की आत्म-कथा]

कल्पना में बार-बार चट्टान के फौलादी सीने में
हल की नोक से गुदगुदी की है,
धर्म-प्रचारकों के कपड़ों से
उठती भयंकर दुर्गन्ध को मैंने असह्य पाया है,
नाक बन्द कर ली है!
आवारागर्दों, उठाईगीरों, वेश्याओं और भिखमंगों
को चिपटा-चिपटा कर प्यार किया है
और रोया हूं,
क्योंकि
मेरा जीवन शीतकाल में सोते हुए टुंड्रा-जैसा है!

भूख में भुना हूं, मैल से सना हूं,
अन्दर की आत्मा के कोनों से
मकड़ी के जालों को मैंने साफ किया है!
गंगा में तैरा हूं 'सीन' पर पत्थर तैराये हैं,
वोल्गा की लहरों से लुका-छिपी खेली है,
आंखों ही-आंखों से डैन्यूब के प्रवाह को चूमा है,
और फिर लौट-लौट आया हूं
उसी गंगा के पास,

गंगाप्रसाद पांडेय : **सूत्रपात**

रिक्तता भी जैसे जीवन की आवश्यकता है। रिक्तता का अंकुश मानो निष्क्रिय का कर्म की प्रेरणा देता है। उस दिन मैं पूर्ण रिक्त-सा इस अंकुश का अनुभव किये बिना गंगा के तट पर बैठा था। बाहर के शून्य को देख कर अपने भीतर के शून्य को भरने का अचिन्त्य उद्योग चल रहा था। गंगा की पृथुल धारा का अजस्र प्रवाह कभी भी पराजय का भाव न स्वीकार करने वाले कर्म की प्रशस्ति लिख रहा था। आकाश सब को आवृत किये स्वयं अनावृत-सा संध्या की बढ़ती हुई कालिमा में मुंदने के मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहा था। दिन के देवता, सूर्य ने विश्राम के लिए जैसे अस्ताचल की किसी गहन गुफा में समाधि ले ली थी। चाँद अपनी शर्मीली किरणों के प्रसार में कहीं व्यस्त था। मैंने यह सब-कुछ देख कर सोचा कि सब कुछ अपने आप में पूर्ण तो है। फिर यह विराट् कर्म क्यों नहीं कहीं जा कर सो जाता? गंगा का यह अनादि कालीन प्रवाह क्यों नहीं क्षण-भर को जम जाता? यह देश काल से न बँधने वाला पवन कहीं बँध कर मुक्ति का अनुभव क्यों नहीं करता?

मैं भी लेट जाऊँ, इसी शिला पर लेट जाऊँ। यह शिला है, यह गंगा है, यह संध्या है। ऊपर आकाश है, और यह बलाहक-माला है—नभ का संतरण करती हुई। इस सब-कुछ के बोझ के बिना ही क्यों न लेट जाऊँ? बस मैंने इस क्षण तन-मन की समस्त क्रियाओं का विश्राम दे कर स्वयं को जड़ विराट का जैसे एक अंग ही बना डाला।

तभी मेरे एक मित्र आये। मेरे पास खड़े-ही-खड़े बोले, "अब विलंब न करो। इस काम का सूत्रपात कर ही डालो।" इतना कह कर मित्र चले गये। जैसे नाटक में विष्कंभक का इससे अधिक अन्य कोई प्रयोजन ही नहीं होता कि किसी विषय का सन्निवेश भर कर जाए। कुछ दिनों से मैं अपने इन मित्र से अपनी कुछ योजनाओं पर विमर्श कर रहा था। मेरी प्रस्तुत की हुई एक योजना समाप्त नहीं हो

पाती थी, कि मन कहीं से किसी अन्य योजना को पकड़ लाता। इन योजनाओं की चर्चा में, मन के संकल्प-विकल्प में मैं इतना थक चला था कि अज्ञान को ही रिक्तता मान कर यहाँ गंगा के पुलिन पर व्यर्थता में सार्थकता कल्पित कर रहा था।

मित्र तो चले ही गये थे, पर उनका 'सूत्रपात' शब्द मेरे पास रह गया। जैसे वह कह गये हों, कि अब सोचने को विराम दो, और कर्तृत्व में प्रवृत्त होओ। केवल मानसी प्रवृत्ति नहीं, परन्तु ऐसी प्रवृत्ति, जिसमें *मन-मस्तिष्क के साथ हाथ-पाँव भी* प्रवृत्त हों। तभी तो मित्र का कहना है कि विलंब न करो, सूत्रपात करो। अर्थात् विश्राम का अवसर नहीं है, विश्राम का अवसर कभी आता भी नहीं। *विश्राम का स्वीकार क्षितिज जैसे असत्य का स्वीकार* है, अस्ताचल जैसे मिथ्या के पर्वत का स्वीकार है।

और मैं बैठ गया। गंगा उसी तरह बराबर बह रही थी। यह तो कभी नहीं जमेगी, इसके पाँव कभी नहीं रुकेंगे। कहते हैं, सागर को पाने के लिए, यह दौड़ रही है। पर सागर तो यह जाने कब का पा चुकी है, फिर भी यह रुकती नहीं। पा कर विश्राम नहीं करती, अपितु निरन्तर पाते रहने के लिए क्रियाशील रहना चाहती है। फिर मैं ही इस क्रिया को क्यों छोड़ दूँ? क्यों छोड़ दूँ भला?

वास्तव में यह असत्य ही तो है कि दिन-भर के *ज्वलन पराक्रम के बाद सूर्य पश्चिम उदधि में* अवभृथ-स्नान कर अस्ताचल की गहन गुहा में सो जाता है। सत्य तो यह है कि वह पुरानी दुनिया को अपने उद्योगों पर चिन्तन करने का अवसर दे कर *नयी दुनिया* को जगाने चला जाता है। वह स्वयं तो कभी सोता ही नहीं। वह जागरण का देवता जो है! वह तो जहाँ कहीं भी अपने किरण-पद रखता है, वहीं जागृति का शृंगार होने लगता है। फिर अकर्मण्य लोग यह क्यों मान लेते हैं कि सूर्य सोने चला गया! सूर्य ने युगों पूर्व जिस कर्म का सूत्रपात किया था, वह अभी पूरा कहाँ हुआ? अखंड जागृति की स्थापना कहाँ हुई? तो वह उसके पूर्व सोए कैसे? भला सोए कैसे?

और इस क्षितिज को ही देखो। जहाँ दृष्टि के पैर थके नहीं, कि इसने अपना मायामय रूप दिखा दिया। कहीं समुद्र में पैठता हुआ अंतरिक्ष क्षितिज बनता है, तो कहीं धरा पर उतरता हुआ गगन। सत्य इसमें केवल दृष्टि की असमर्थता है। तेजोमय दृष्टि के सामने यह क्षितिज नहीं ठहरता। जहाँ दृष्टि थकी, कि यह जम जाता है। इसी तरह विश्राम भी अपने-आप में भाव-रूप नहीं, वह क्षितिज का दूसरा पर्याय है। जहाँ मन थका, तन हारा, विश्राम वीर सामने आ जाता है। इसका रूप अवश्य ही मनोरम है, इसकी कल्पना निश्चय ही भव्य है; पर है वह सब *माया-मय*, सीधे-सादे कर्म को टालने की दुरभिसंधि। नहीं तो सूर्य को विश्राम के क्षितिज को अस्वीकार करके बढ़ते रहना चाहिए। उसे प्रतिक्षण नवीन सूत्रों के पात में व्यस्त रहना चाहिए।

सूत्रपात......!!!

मैं खड़ा हो गया। गीले पुलिन पर नंगे पाँव *सोचते-सोचते चलने लगा। 'सूत्रपात',* यह शब्द मन-प्राण में डंके की चोट कर जाता है। अब संध्या अधिक काली हो कर रात से जा मिली थी। तारों का राजा अपनी प्रजा को प्रकाशहीन करता *हुआ उजागर हो चुका था।* रजनी *अमृत* की धाराओं से नहा कर धौली पट चुकी थी। कर्म और जागरण के देवता, सूर्य को मैं क्षण-भर के लिए भूल चुका था। योग और विश्रान्ति का जादूगर चाँद किसी *अद्भुत आभा का निसार कर रहा था।* मेरा मन फिर मचला, फिर भरमा। मैंने सोचा, यह सब-कुछ कितना सुन्दर है, इसके आगे क्या है, पूर्व क्या था? क्यों कोई सोचे यह सब! जो पलायनशील क्षण हैं, *यह बँध क्यों नहीं जाता?* और थम कर यह धारा जम क्यों नहीं जाती? यह बर्फ क्यों नहीं हो जाती? इसकी शीतल छाती

पर रजनी अपने चांद को वक्ष से लगाए धीरे-धीरे चलती रहे। चले भी नहीं, स्थिर हो जाए। रजनी को भी इस सुख को बांधने के लिए स्थिर हो जाना होगा। स्थिर...स्थिर, यदि अतीत के वे स्वर्ण-युग स्थिर हो जाते तो निराशा के युग, अभाव और कष्टों के युग आते ही क्यों? इन नवीन विडम्बनाओं का 'सूत्रपात' ही क्यों होता?

'सूत्रपात' के इस प्रयोग पर मैं चौंक पड़ा। नहीं, 'सूत्रपात' का इस वाक्य की दृष्टि से चाहे सही प्रयोग हो, पर वैसे गलत है। सूत्रपात में केवल भाव आ सकता है, अभाव नहीं। सूत्रपात में सूर्य किरणों के सूत्र ही जैसे गुंथे हैं जो जगाती हैं, जो सूर्य को मंडित करती हैं, जो उद्यम के वक्ष की ऋचाएँ हैं। तो यह स्थिरता क्या? इससे क्या उद्यम भी स्थिर नहीं हो जाता? तो यह क्या पराभूत मन की कल्पना है, कि अतीत के स्वर्ण-युग स्थिर हो जाते तो दुनिया मौत की हो जाती। मनीषी तो यह कहते हैं कि जब वे स्वर्ण-युग स्थिर हो गये तभी ह्रास का युग प्रारंभ हुआ। गतिमय कभी पुरातन नहीं होता, कभी जड़ नहीं होता, कभी नहीं मिटता। जो सनातनता का दावा करे, उसे निरन्तर गतिमय रहना होगा, नूतन परिवर्तनों को जन्म देना होगा, नूतन परिवर्तनों का सूत्रपात करना होगा।

बस, मेरा मन सूत्रपात के इस 'सूत्र' को पकड़ने के लिए दौड़ चला। आखिर यह शब्द बना ही कैसे? जैसे बिन्दु प्रत्येक स्थूल निर्माण की सबसे छोटी इकाई है, ठीक, बिल्कुल वैसे ही, यह सूत्र प्रत्येक उद्योग की आधार-शिला। मैंने राजगीरों को सूत्र से भूमि नापते और विशाल भवनों की नींव डालते देखा है। तो क्या यह सूत्रपात वहीं से आया और सूत्रधार के हाथ में पहुँच गया? सूत्रधार का अर्थ है कर्म-यज्ञ का पुरोधा कर्म-सेना का संचालक। सूत्र में कर्म की ही ध्वनि है। यह विराट् कर्म का सूक्ष्म रूप है। यह आरंभ का प्रतीक है। यह ऐसे आरंभ का प्रतीक है, जिसे निरन्तर होते रहना है। यह सूत्र कभी पुराना नहीं पड़ता। यह सूत्र ही सनातन है, क्योंकि यह सदा नवीन का उन्मेष करता रहता है, अपने पात के द्वारा—सूत्रपात!

सूत्रपात! तू विराट् है, पर तेरी पकड़ सूक्ष्म है। उस दिन वह छोटी-सी चिड़िया मेरे कमरे की टूटी चिक में से एक तीली खींच कर उड़ जाने के उद्योग में थी। मेरे इन्हीं मित्र ने तब कहा था, देखो, यह अपने घोंसले के लिए तुम्हारा दान भी चाहती है। यह कदाचित् उसके नये घोंसले का पहला तिनका होगा। इसी से वह सूत्रपात करेगी।

मुझे बात जँची। मैंने चिक में से तीली तोड़ कर डाल दी। पर इससे पहले ही वह चिड़िया उड़ चुकी थी और उसे लेने आयी भी नहीं। मेरा दान जैसे उसे अस्वीकार था। वह तो अपने उद्यम से ही अपने घोंसले का सूत्रपात करना चाहती थी। सच्चा सूत्रपात वही है जो अपने उद्यम से हो। सच्चा उद्यम भी वही है जो आनन्द से भरा है। तभी तो अशोक स्वयं को उद्यमरति कहता था—उद्यम में ही जिसे आनन्द मिले। तो हमें सूत्रपात के द्वारा उद्यम-रति का संदेश भी प्रचारित करना है।

इस चिड़िया को ही लें। जिस घोंसले का यह सूत्रपात करेगी, उसके बनने ही इसका कर्म थोड़े ही पूर्ण हो जाएगा? फिर घोंसले में नये जीवनों का सूत्रपात होगा। वे नये जीवन फिर नये नीड़ों, और उन नये नीड़ों में नये जीवनों का सूत्रपात करते रहेंगे। इस तरह कर्म-चक्र सूत्रपात की धुरी पर चलता ही रहेगा।

तो यह सूत्रपात केवल एक बार ही नहीं होता, यह निरन्तर होता है। यह केवल आरंभ नहीं, अमित व्यापार है। स्थिरता और निरुद्धता को अस्वीकार करने वाला व्यापार है।

जब हम गुलाम थे तो हमने शायद किसी नारे से, किसी विद्रोह से अपनी आज़ादी का सूत्रपात

सरकार की दृष्टि में वह एक भयंकर राजद्रोही है, और अंत में अपने एक मित्र के विश्वासघात से पकड़ा जा कर फाँसी पाता है। भूमिका में लेखक महोदय ने राजन को चन्द्रशेखर आजाद और भगत-सिंह की श्रेणी में ला कर खड़ा कर देने का दावा किया है, लेकिन उपन्यास पढ़ कर लगता है, जैसे राजन बेचारे को मार-मार कर शहीद बनाया गया है। न तो उसमें शहीदों जैसा चारित्रिक बल है, न आत्मोत्सर्ग की प्रबल आकांक्षा।

आरंभ में कुछ दूर तक तो कथानक ठीक ढर्रे पर चलता है, लेकिन आगे चल कर वह अव्यवस्थित हो कर बिखर-सा गया है, जिसे लेखक प्रयास करके भी सम्हाल नहीं सका है। पुस्तक के तीन चौथाई भाग में लेखक ने अपने व्यक्तिगत सुधारवादी विचारों को व्यक्त करने का प्रयास किया है, किन्तु उपन्यास के कथानक में वे पूरी तरह खप नहीं सके हैं इसके लिए यदि यह उपन्यास न लिख कर लेखक ने अपने प्रगतिशील सुधारवादी विचारों से संबंधित कोई स्वतंत्र पुस्तक लिखी होती तो सफलता की और अधिक आशा थी। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ता है कि लेखक में मौलिक उपन्यास-कार की प्रतिभा अवश्य वर्तमान है, जो उसके कच्चे-पन के कारण अभी पूरी तरह निखर नहीं पायी है। इस उपन्यास में भी कहीं-कहीं लेखक ने अत्यंत मार्मिक प्रसंगों एवं चरित्रों का चित्रण बड़ी ही कुशलतापूर्वक किया है। रज़िया बनारसी, रहीम खाँ, लीला, चाची, मि० ठूथरा एवं मल्होत्रा-परिवार के सदस्यों, आदि का चरित्र चित्रण अत्यंत स्वाभाविक एवं कलात्मक है।

शैली के संबंध में लेखक बंगला उपन्यासों से पूरी तरह प्रभावित है। 'एक समय'–'एक समय' की इतनी भरमार है कि पाठक को झुँझलाहट सी होने लगती है। कहीं-कहीं तो भ्रम सा होने लगता है कि हम हिंदी का मौलिक उपन्यास पढ़ रहे हैं, या किसी बंगला उपन्यास का अनुवाद? भाषा साधारण चलती हुई है, लेकिन स्थान-स्थान पर कुछ ऐसे अप्रचलित, अनुपयुक्त, बेढंगे एवं गढ़े हुए शब्दों के प्रयोग किये गये हैं, जो बहुत खटकते हैं, जैसे—'उपहसनीय', 'उलटपंची', 'क्षमापन', 'गिर' 'भिन्न-धर्मीय भिन्न-रक्ताय', 'गुन-खूनामा', 'कार्तित', 'हस्तक', 'विल्ल', 'नैवट्य', 'मित्रत्व' आदि।

गेट-अप, जिल्द, कागज एवं छपाई-सफाई सभी-कुछ साधारण है। प्रूफ-संबंधी भूलें कम हैं।

सुरेन्द्रपाल सिंह

अग्नि-दीक्षा : लेखक, निकोलाई आस्त्रोवस्की; अनुवादक, अमृतराय, प्रकाशक, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, नयी दिल्ली; पृ०-सं० डिमाई साइज़ ४७२, मूल्य ४)

आधुनिक सोवियत साहित्य के इतिहास में निकोलाई आस्त्रोवस्की का नाम परम उल्लेखनीय है। उसका संघर्षमय तपस्वी जीवन और जीवन की अनेक विरोधी सीमाओं के बीच से वह व्यक्ति से आगे एक महान् कृतिकार हो गया, यह प्रस्तुत साहित्यिक कृतित्व से स्पष्ट है। संभवतः इसका मूल कारण इस लेखक की आत्मचेतना है—"मृत्यु के बाद भी अगर आप आदमी की सेवा कर सकें, तो इससे सुन्दर और क्या हो सकता है?" वस्तुतः 'अग्नि-दीक्षा' के उद्देश्य और सृजन-प्रेरणा के पीछे यही आत्म-रहस्य प्रतिफलित है; यद्यपि समूचे उपन्यास का कलेवर राजनीतिक है जनता समाज-वाद के लिए जो सामूहिक संघर्ष करती है, वही इस उपन्यास के कथानक की पीठिका है। उपन्यास के चरित-नायक पावेल कोर्चागिन की समूची जिन्दगी, बचपन से अंत तक के उसके संघर्ष, इस उपन्यास के चरित्र-तत्त्व हैं, फिर भी समूचे उपन्यास के राजनीतिक वातावरण के बीच से इसका स्पष्ट आभास मिलता है कि यह सब संघर्ष, पीड़ा, अनेक कष्ट और विरोधों में किसी नवजीवन का विस्फोट हो रहा है, किसी नयी मानवता के उदय के लिए

उतनी ही बडी है। इधर क्षेत्रीय वर्णन कतिपय लेखकों द्वारा सफलतापूर्वक किये भी गये हैं और मेरा ख्याल है, प्रस्तुत सग्रह के लेखक का भी ध्यान उस ओर गया है, लेकिन कहानियाँ वस्तु चित्रण-मात्र तो नहीं हैं, उन्हें तो गहरी मानवीय सवेदनाओ की अपेक्षा होती है। भाषा का ववडर शब्द-चित्र आँक सकता है, पर मानवीय सवेदनाएँ तो नहीं गढ सकता। शायद इसी कारण घटनाओ की तीव्रता, लेखक की भारी भरकम, लच्छेदार भाषा के बावजूद भी मार खा गयी है। चरित्रों की कोर उभारने में, मुहावरे तो पैने हो गये हैं, पर चरित्र अपनी जगह पर कराह कर टूट गये हैं।

लेखक चरित्रों को तैयार करने में अपनी ओर से बहुत सचेष्ट हो गया है जैसे पत्रकार घटनाओ को तेज करने में हो जाता है। इसलिए घटनाओं के विकास पर चरित्रों का निर्माण पूरी परिस्थितियों में न हो कर सतही हो गया है। पत्रकारिता के गुण प्रधान हो गये हैं।

इन मुख्य कमियो के बाद यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि लेखक समाज को देखने-समझने का खासा प्रयत्न कर रहा है। कहानी जीवन की वास्तविकता को दिन-पर दिन अपनाती जा रही है, इसलिए लेखक यदि भाषा की प्रयोगवादी मनोवृत्ति को छोड दे और जीवन को और गहराई में देखने लगे, तो इन कहानियो में प्राण आ जाए।

'टुकडे टुकडे दास्तां' में अभिनन्दनीय सभावनाएँ हैं। पुस्तक की छपाई-सफाई बहुत खराब है, और प्रूफ की गलतियाँ भी बहुत हैं।

राजेन्द्र घनुवंशी

() काल-कन्या लेखक, रामविहारी लाल, एम० ए०, प्रकाशक, कुसुम प्रकाशन, पटना, पृष्ठ संख्या ६७, मूल्य (कोई उल्लेख नहीं)।

'काल-कन्या' चार अकों का ऐतिहासिक नाटक है। नाटक का काल विस्तार ग्यारह वर्ष है। ओरछा-नरेश छत्रशाल की सहायता करके द्वितीय बाजीराव पेशवा ने विजय दिलायी थी, जिसके उपलक्ष में (१७२९ में) एक नृत्योत्सव हुआ और बाजीराव नर्तकी 'मस्तानी' पर मुग्ध हुए, तथा उसे छत्रशाल के उपहार-रूप में स्वीकार कर महाराष्ट्र लौट आये। 'मस्तानी' छत्रशाल की यवनी पत्नी से उत्पन्न पुत्री थी। धर्मभीरु महाराष्ट्र ने 'मस्तानी' के छोटी रानी होने पर पेशवा बाजीराव को धिक्कारा। राजमाता तक पुत्र से विरोध ठान बैठी। ग्यारह वर्ष तक बाजीराव उपेक्षा और तिरस्कार सहते रहे। ग्यारह वर्ष तक 'मस्तानी' लाछना और कुत्सा सहती रही। इसी कारण ४२ वर्ष की अवस्था में बाजीराव (१७४० में) अकाल ही काल-कवलित हुए। 'मस्तानी' उस पुरुष-सिंह के लिए 'काल-कन्या' ही हुई।

स्पष्ट ही नाटक दुखान्त है। लेकिन इस दुखान्त तक पहुँचने के लिए उचित पात्र, परिस्थिति और घटना आदि की नियोजना वैसी नहीं हुई, कि बाजीराव जैसे पुरुष-सिंह के लिए शराब पीना, घुलना, पुरुषार्थ-हीन होना और दम तोड देना स्वाभाविक और कार्य-कारण-शृखला में युक्ति युक्त रूप में विकसित कार्य-व्यापार समझ जाएँ। उन दुखान्त चरित्र और परिस्थितियों का ऐसा उद्घाटन नहीं हो सका है, कि वे सवेदनाओ के पूर्ण आधार बन कर किसी महान् आदर्श की यज्ञशाला में अपने व्यक्तित्व और जीवन की आहुति चढा कर एक मार्मिक विषण्णता किन्तु आह्लादक मानवता का अमर उद्घोष कर सकें। दुखान्तता निगूढ और सघन नहीं हो सकी। इसका कारण है, बाजीराव की भीरुता। बाजीराव की वीरता सर्वत्र 'सूच्य' है, दृश्य नहीं। जो दृश्य है, वह उसका निष्क्रिय आत्मसमर्पण है। फलतः बाजीराव हमारी सवेदनाओ का पूर्णत जीतता नहीं। अर्थात् हम उससे साधारणीकृत नहीं होते। मतलब यह कि उसमें नेतृत्व, कर्तृत्व का अभाव है। है एक गुण, और वह है भोक्तृत्व। ऐसा दुर्बल भावुक व्यक्ति दुखान्त नाटक का नायक कैसे हो सकता है? लेकिन

जरा ठहरिए। नाटक का नाम है 'काल-कन्या' अर्थात् नायिका 'मस्तानी' है। नाटक की मूलकथा उसी की वेदना की विवृत्ति है। लेकिन यहाँ भी उसके चरित्र का उद्घाटन कुछ दुर्बल हुआ है। गौतिमयी मस्तानी, महाकाव्यात्मक काशीबाई के सामने नगण्य लगती है। विरोधी संघर्षों और आकस्मिकताओं के जिस बिन्दु पर पहुँच कर नाटकीयता जन्म लेती है, उस बिन्दु की पकड़ नाटककार का है अवश्य, पर पकड़ जरा कमजोर है, चुटकी की पकड़ है, पुरअसर और पुरजोर नहीं। द्वन्द्व के दोनो पक्षो की उचित और समतोल शक्तिमत्ता में जो संघर्ष जन्म लेता है—संघर्ष बाह्य हो या आभ्यन्तर—आलोच्य नाटक में वह नहीं, अर्थात् संघर्ष जटिल नहीं हो सका है, सीधा और सपाट है।

प्रथम अंक का प्रथम दृश्य निरर्थक है। उसके दो पात्र भी नाटक में फिर कभी नहीं आते। इसी प्रकार कुछ और दृश्य भी सूच्य बनाये जा सकते थे और अनेक पात्रों को कम किया जा सकता था। वार्तालाप भी व्याख्यात्मक है, व्यंजनात्मक नहीं। व्यंग्य भी है और चंचल तथा वक्र होते हुए भी 'नावक के तीर' का चोट नहीं देते हैं। 'स्वगत गहन है, पर लंबा भी। अंक ३ और ४ के प्रथम तथा द्वितीय दृश्यों में जो दृश्यान्तर है (पूरक दृश्य के रूप में), वे नव प्रयोग-से हैं। मस्तानी और काशीबाई विरोधी और इसी कारण मनोज्ञ चरित्र हैं। पंडितजी, राधाबाई स्वाभाविक और जीवंत पात्र हैं। घटनाओं की एकाग्रता चरित्र की मांसलता और सजीवता तथा कुछ दृश्यों की तरल चंचलता और कुछ की काव्यमयता नाटककार की सफलता की सूचना देती है। नाटक पूर्णतः अभिनेय है। नाटककार की भावी संभावनाओं से हिन्दी-नाटक साहित्य उपकृत होगा।

शिवनन्दन प्रसाद

() शल्य-वध लेखक, उग्रनारायण मिश्र, प्रकाशक, श्री दूधनाथ पुस्तकालय एंड प्रेस, ६३ सूता पट्टी, बड़ा बाजार, कलकत्ता-७, साधारण स्वच्छ सफाई, पृष्ठ १४२, मूल्य २)

'शल्य वध' पांच खंडों का (और प्रारम्भ में पात्र परिचय सहित) 'जयद्रथ वध' कोटि का एक इतिवृत्तात्मक खंडकाव्य है। इतिवृत्तात्मक इसलिए, कि स्थूल वृत्त-वर्णन ही इसमें शुरू से आखिर तक भरा पड़ा है। पढ़ते समय हम या तो तटस्थ दर्शक रहते हैं या जम्हाई लेते हुए जिज्ञासु। स्मरण रहे हम कहीं नहीं। जयद्रथ वध में गुप्त जी ने खड़ी होली हुई खड़ी बोली की शक्तियों का ताला ही नहीं था, वरन् जिस शुद्धता, सरलता, ओजस्विता और लयात्मकता के साथ उसे हरिगीतिका छंद में भी जीवन दिया था तथा प्राचीन कथा के द्वारा वीर, करुण और अद्भुत रसों को त्रिवेणी समुल्लसित कर अभिनय के माध्यम से (तत्कालीन भारतीय) मन् के विरोध में असत (अंग्रेजी दमन-चक्र) से चलने वाले संघर्ष की जैसी प्रच्छन्न अभिव्यंजना की थी वह एक इतिहास है। 'जयद्रथ-वध' की समस्त ओजस्विता या आसव पी, तब जैसे हम झूम उठे थे और उस ओजस्विता के अन्तराल में जो करुण टीस थी, वह हमें बेध गयी था। 'शल्य-वध' और 'जयद्रथ वध' दोनों खड़ा बोली में है, दोनो हरिगीतिका छंद में है, दोनों महाभारत पर आधारित है दोनों के छंदों में ऊब पैदा करने की सीमा वाली एकरूपता है, पर 'जयद्रथ-वध' १९१० का प्रकाशन है और 'शल्य वध' १९५४ का। और यही आश्चर्य है। लगता है, ४४ वर्ष की यह अर्द्ध शताब्दी सती के उल्टे मार्ग पर तो नहीं चली है!

पौराणिक अथवा प्राचीन कथाओं के अन्तराल में—अथवा माध्यम से भी कह लें—यदि हम आधुनिक समस्याओं के निदान नहीं उपस्थित करते, यहां तक कि कल्पना तत्त्व के सहारे कुछ नवीन धारणा, कुछ नूतन सिद्धान्त नहीं दे पाते, तो फिर पिष्टपेषण और अनुवाद ही करते हैं और उस दृष्टि से देखें, तो 'शल्य-

वध' सफल रचना है। किन्तु हाँ, तब इसे 'शल्य-पर्व' का नाम मिलना चाहिए। इस कारण भी कि इसके पाँचों खंडों में 'शल्य-वध' का वर्णन नहीं। वह तो तीसरे खंड के ८९ पद में ही वीरगति को प्राप्त होता है। कथा फिर भी चलती रहती है। एक बूँद आँसू भी कवि अपने उस नायक की मृत्यु पर नहीं गिराता, या गिराने देता (शायद यह सोच कर कि 'शल्य-वध' नाम जब दे दिया है और समस्त पुस्तक उसी पर है तो काफी स्याही गिरा चुका हूँ।) और तीसरे खंड के २२ पदों में, पूर्ण चतुर्थ खंड के १८५ पदों में तथा सम्पूर्ण पंचम खंड के २७ पदों में युद्ध-वर्णन (जो महाभारत के शल्य-पर्व का संक्षिप्त खड़ी बोली-संस्करण है, किन्तु उसकी रोचकता अद्भुतता और वाग्यात्मकता से विहीन) चलता रहता है। अतएव कथा-निर्वाह, प्रसंगोद्भावना, मार्मिक स्थलों की पहचान की दृष्टि से 'शल्य-वध' को परखना हठयोग-सा विकट कार्य होगा। इसमें रस सिर्फ एक है—रसा वै स —अर्थात् कथा कहने का रस, जिसका उल्लेख नौ रसों में नहीं। नौ रसों की दृष्टि से इसमें वीर रस और रौद्र रस सहायक रूप में मान सकते हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार इसमें पर्याप्त मिलेंगे। पर यदि महाभारत सामने खुला हो, तो अलंकारों का अभाव कभी सता नहीं सकता। सिंह और मृग, वृक और अजा, बाज और पक्षी, बन्दर और बाज, कुंजर और पंकज, राम और रावण—ये कुछ अप्रस्तुत हैं, जिनकी बार बार आवृत्तियाँ प्रस्तुत को रमणीय, चित्रमय आदि करने के लिए हुई हैं और *चूँकि ये सारे घिसे-पिटे हैं तथा प्रस्तुत* पुस्तक में कई बार प्रयुक्त हुए हैं अतएव हम वीतरागी की तरह इनसे उदासीन ही रह पाते हैं। वीरगति पाने वालों के बारे में ये कहते हैं—"जो थे प्रधान-प्रधान वे सब स्वर्ग रमणी-लीन थे।" यह तो फायड को एक नया मसाला देना है कि लोग युद्ध में भी इसलिए मरते हैं कि 'स्वर्ग-रमणी-लीन' होंगे। फिर सुर-सुन्दरियाँ मांस-भक्षण भी करती हैं, और कुक्कुर आदि रोते हैं।

इस भाँति कृप के आक्रमण से समर गति होन लगी।
कुक्कुर शिवा सब ओर शव पर मग्न हो रोने लगी।
भक्षार्थ यों आने लगी सुर-सुन्दरी सुर-लोक से।
शोकित हुए सुर देव भी भीषण समर-आलोक से।।

और जातीयता को कौन बुरी कहता है? उसका पतन निश्चय होगा।

जिस जाति में जातीयता का ध्यान रहता है नहीं।
अपना सनातन धर्म का कुछ भान रहता है नहीं।।
उस जाति का होता पतन निर्मूल होती है वही।
परतंत्रता की बेडियों का कष्ट सहती है वही।।

लेकिन यह कहूँगा कि भावाभिव्यक्ति में कवि पर्याप्त स्वच्छ और समर्थ भाषा का प्रयोग कर सका है। कुछ स्थलों के शब्द-व्यवहार चिंत्य हैं—जैसे, अजमाता, सुई, कमनी न होनी, उत्तम दृश्य हैं, उसमें धरा, संग्राम तजि, पुरुषार्थ सखि, मूछित, वृन्द, अश्रु-बरसन, आदि। फिर भी भाषा में प्रवाह है। शैली का प्रसाद गुण और कुछ स्थलों का ओज-गुण कवि की शक्तिमत्ता का परिचायक है। यदि कवि संजय की तरह वृत्त वर्णन न करके, मार्मिक स्थलों को चुन कर कवि की तरह रागात्मक अभिव्यंजना कर पाता, तो 'शल्य वध' परम्परा की अनुकृति—विकृति न हो कर एक कृति होती।

शिवनन्दन प्रसाद

() दिवालोक लेखक, शंभुनाथ सिंह, प्रकाशक, साधना मंदिर की ओर से राजकमल प्रकाशन; पक्की जिल्द, बढ़िया छपाई, डिमाई पृष्ठ-संख्या ९६, मूल्य २)

'दिवालोक' में कवि श्री शंभुनाथ सिंह की १९४५ से १९५० तक की रचित बयालिस कविताओं का संग्रह है। यह काल वास्तव में महाकाल था, संसार के लिए द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका और युद्धोत्तर ह्रास और क्षोभ का, तथा जर्जर भारत के लिए कठिन तप और साधना का। उपलब्धि में भव्य

और उपरांत में दारुण यह वह समय था, जब भारतीय गर्व और शक्ति ने ऊर्जस्वित हो कर अपना अंतिम आहुतियाँ चढ़ा स्वतंत्रता प्राप्त की थी, और हम दंगों तथा गांधी-हत्या के कालकूट पी कर शिव रूप बने अमृत-प्राप्ति के लिए मथन करते जा रहे थे। इस परिवेश में ही 'दिवालोक' की कविताओं का आकलन कर्तव्य है।

'दिवालोक' का प्रथम गीत है 'स्वप्न और सत्य', जिसमें कवि कहता है "(मुझे) शूलमय है जग, फूलमय है गगन' (यह तो पलायन है!)। फिर कवि गुनगुनाता है 'दूर तुमसे हुआ यक्ष मैं हूँ, मुझे शापमय याद वरदानमय विस्मरण" (तुमसे अर्थात् छायावादी कल्पना और माधुरी से?)। तो क्या 'दिवालोक' वास्तव में कल्पना और माधुरी की यक्षिणी के बाहुपाश में बँधे 'स्वाधिकारप्रमत्त' छायावाद नामधारी यक्ष की 'अस्तगमित महिमा' का अवबोध-मात्र है? नहीं स्पष्टतः नहीं। 'दिवालोक' दिवालोक है दिवास्वप्न नहीं। 'स्वप्निल कुहेलिका' से निकल कर किस प्रकार कवि धीरे धीरे प्रकाश और चेतना, ओज और विश्वास, पौरुष और प्रगति के 'कर्म पथ' पर चलता हुआ 'जन-देवता' तक पहुँच कर 'विश्व मेरे' की विराटता में अपने स्व' का विलयन कर सका है, 'दिवालोक' उसी विकास यात्रा का गीतात्मक इतिहास है। १९४५ से १९५० तक की काल-भीति पर जो मुद्राएँ झलक रही थीं उन्हें यदि कुछ शब्दों में बाँध पाऊँ, तो वे होंगे दैन्य, खिन्नता, विषाद वेदना निर्वेद,... . उल्लास, आज, विश्वास, कर्मठता, विनम्रता निष्ठा। 'दिवालोक' की भाव-प्रतिमा पर इनकी झलक बिलकुल साफ मुद्रित-व्यंजित पाएँगे। 'दीप मैं' में एक दैन्य 'सुधि का सावन' में विषाद और वेदना जो सकूँ चुपचाप में खिन्न निर्वेद है, तो 'सत्य स्वप्न', 'रात के पिछले पहर में' में उल्लास और विश्वास, 'जीवन की आग' में आज और विश्वास, 'तम के पार', 'बढ़ रहे चरण', 'कर्म पथ', 'पथ में' आदि में कर्मठता और 'जन-देवता' में उद्बोधन तथा 'विश्व मेरे' में विनम्र, निष्ठा और आत्म विलयन की विराटता है। विकास की ये ऊर्मियाँ आपको स्पष्ट परिलक्षित होंगी:

चल रहा सुनसान पथ पर मैं अकेला
छोड़ पीछे आ रहा रंगीन मेला।

प्राण में अवसाद पर गति है चरण में

चाँदनी अब तक पुरानी हो न पायी।
चाँद की धुँधली निशानी हो न पायी।

क्रान्ति शान्ति समता-आनन्द हेतु क्या कहो—
प्रलयंकर रुद्र न होंगे ओ जनदेवता!

विश्व मेरे, मैं बदलता जा रहा हूँ,
काट सब बन्धन निकलता जा रहा हूँ,
चाहता हूँ मैं 'तुम' बनूँ इससे तुम्हारे रूप में
मैं आज ढलता जा रहा हूँ।

विश्व मेरे मैं तुम्हारा हो गया हूँ,
मैं मिटा निज को तुम्हीं में खो गया हूँ।

आदि पंक्तियाँ उदाहरण-स्वरूप रखी जा सकती हैं।

बुझी न दीप की शिखा अनन्त में समा गयी। अमंद ज्योति प्राण प्राण बीच जगमगा गयी।' में तो जैसे स्वतन्त्रता-संग्राम की हुतात्माओं—नगण्य हो या गाँधी से पूज्य हों—को लक्ष्य किया गया हो, कितना तेज और ऊर्जस्विता है!

ऊपर जो विकास कहा, वह मात्र भावोर्मियों के लिए नहीं। शिल्प-विधान में भी विकास है। प्रारंभिक गीतों में मृदुता और सरलता है भाव-केन्द्रिता कहे। किन्तु पीछे की कविताओं में मार्दव और लालित्य के स्थान पर प्रखरता दीप्ति और कर्मण्यता के आग्रहवश चैतन्य की चपलता और जीवन की ऊष्मा के कारण एक हल्की गद्यात्मकता है। वहाँ घुलावट है, यहाँ ओज। वहाँ सघनता है, यहाँ ढीलापन। 'दूरी', 'आधी रात', 'आकाशबेल', 'मन बेचारा', 'हिमालय सबंधी पाँच सानेट' शिल्प की दृष्टि से अच्छे हैं। 'चाँदनी' की रमणीयता तो गजल को मात कर रही है। गीतों के उपयुक्त सुकुमार अनुभूति, कोमल वातावरण और तरल लयात्मक छंद एवं शब्द-योजना की उद्भावना-शक्ति और पकड़ कवि की विशेषता है।

'दिवालोक' आत्म-मोग्ध्य का वैयक्तिक गीत-मात्र नहीं, कर्मण्यता और लोक चेतना की ऊर्जस्विता का, *कवि और आवेष्टन की प्राणधारा का* उद्घोष भी है, और इसी कारण स्वस्थ रचना भी।

शिवनन्दन प्रसाद

● भारतीय शिक्षा : लेखक, डा० राजेन्द्र प्रसाद, प्रकाशक, आत्माराम एंड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली ६, पृ०-सं० ११९ डिमाई आकार, सजिल्द, मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक में डा० राजेन्द्र प्रसाद के १९ भाषण सग्रहीत हैं, जो उन्होंने विभिन्न शिक्षण संस्थाओं में अथवा सार्वजनिक सभाओं में दिये हैं। अधिकांश भाषण तो १९५० ५२ की परिधि में आ जाते है, *कुछ भाषण १९२४ ई० मे दिये गये थे, उन्हें भी इस* पुस्तक मे स्थान मिला है। परिवर्तित परिस्थितियों में नये लेखों के साथ उन्हें पढ़ना कुछ अटपटा सा लगता है।

पुस्तक चार खंडों में बाँटी गयी है.—१ नवीन शिक्षा-पद्धति २ प्राचीन शिक्षा-पद्धति ३. वैज्ञानिक शिक्षा -पद्धति ४ प्रकीर्ण। इन भाषणों में केवल शिक्षण के आदर्शों की चर्चा है—शिक्षा पद्धतियों पर कम-से-कम विचार व्यक्त किये गये हैं—अतएव *इस प्रकार का वर्गीकरण उचित नहीं कहा जा सकता।* पुस्तक से लेखक के शिक्षण-सम्बन्धी आदर्श सर्व-साधारण तक पहुँच सकते हैं, यदि इसका कोई सस्ता संस्करण प्रकाशित किया जाए। पुस्तक की छपाई सफ़ाई और गेट-अप उत्तम और आकर्षक है।

मधुसूदन चतुर्वेदी

● शेर-ओ-सुख़न (भाग दूसरा) : लेखक, श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय, प्रकाशक, भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, पृष्ठ-संख्या ३२३, जिसमें 'विषय सूची,' 'सूचनाएँ' तथा 'शेर ओ सुखन के प्रथम भाग का स्वागत' शीर्षक वृत्तान्त के १६ पृष्ठ और 'सिंहावलोकन' नाम से गज़ल पर एक विहंगम दृष्टि के लगभग ८० पृष्ठ भी शामिल हैं, सुनहले रैपर पर मर्मासिन शायरों की दिलकश तसवीर, पक्की जिल्द, अखबारी कागज पर बढ़िया छपाई; मूल्य ३)

● शेर-ओ-सुख़न (भाग तीसरा) : लेखक वही, प्रकाशक वही; पृष्ठ-संख्या, २६३, जिसमें पुस्तक के अंत में दिया गया ४८ पृष्ठ का 'शब्द-कोश' भी शामिल है, रैपर और तसवीर वही; जिल्द वही; बढ़िया कागज और अच्छी छपाई; मूल्य ३)

दूसरे भाग में उर्दू के 'लखनऊ स्कूल के उच्च-कोटि के वर्तमान-युगीन' उन पन्द्रह शायरों के छोटे-छोटे चित्रों के साथ परिचय और कलाम (तथा अंतिम कलाम के भाव के 'टैलीस' भी जो बार-बार प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों के अर्थ भी स्पष्ट करते हैं) दिये गये हैं, जो 'शेर-ओ-सुख़न' के *पहले भाग में वर्णित प्रारंभ से १९०० ई० तक* के मुख्य मुख्य गजलगो शायरों के योग्य उत्तराधिकारी हैं (अथवा थे)।

तीसरे भाग में उर्दू के देहली-स्कूल के 'मौजूदा दौर के' भारत-व्यापी सर्वश्रेष्ठ चौदह शायरों के छोटे-छोटे चित्रों के साथ (और कहीं कहीं बगैर चित्र के भी) परिचय और कलाम दिये गये हैं।

लेकिन लेखक ने 'वर्तमान युगीन' और 'मौजूदा दौर के' शब्दों से जो अर्थ लिया है, वह कुछ दूसरा है। वे बतलाते हैं कि' .... वर्तमान युगीन उन स्वर्गीय और वयोवृद्ध (गौर कीजिएगा, स्वर्गीय और वयोवृद्ध, स्वर्गीय अथवा वयोवृद्ध नहीं) शायरों का उल्लेख हुआ है, जो १८वीं शताब्दी में पैदा हुए और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक युग(?) १९१५-२०ई० तक ख्याति के शिखर पर पहुँच गये' *(शेर-ओ-सुख़न—भाग दूसरा, पृष्ठ ४)* तथा 'ध्यान रहे हमने इन तीनों भागों में उन्हीं ग़ज़लगो शायरों

का परिचय दिया है, जो १९वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए और १९२० ई० के पूर्व ही उस्तादी की मसनद पर आसीन हो गये।' (वही, पृष्ठ ५)

'सिंहावलोकन' में विद्वान् लेखक ने ग़ज़ल का जो संक्षिप्त इतिहास दिया है, वह 'शेर-ओ-सुखन (दूसरा भाग)' के पन्द्रह लखनवी शायरों को समझने में और भी अधिक सहायक होता, यदि लेखक एक ठोस और वैज्ञानिक विवेचन करके उन ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक कारणों और रहस्यों का उद्घाटन करता जिनके फल-स्वरूप प्राचीन शायरी में पाक इश्किया शायरी इतनी कम मिलती है कि उन्हें भी कहना पड़ा कि 'हमें अफ़सोस है कि हम प्राचीन शायरों से पाक इश्किया शायरी के उदाहरण अधिक नहीं दे सक्ते' (पृष्ठ ३०)। लेखक ने प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण उठाये हैं, जैसे—ग़ज़ल के माशूक के लिए प्रयुक्त विशेषण प्रायः क्रूर हैं, जैसे बदज़बान, ज़ालिम, हरजाई, क़ातिल जल्लाद आदि; ऐसे क्रूर, हत्यारे, दुराचारी कपटी माशूक का तसव्वुर उर्दू-शायरी में कहाँ से और कैसे आया? फिर उर्दू-शायरी में अमराद-परस्ती के क्या कारण हैं? रक़ीब का तसव्वुर कैसा है, और वैसा क्यों है? शायरी कब और कैसे ज़नानी शायरी बनी और ख़ारिजी शायरी के रूप में लखनऊ में किस प्रकार प्रतिष्ठित हो कर पतित हुई? ग़ज़ल के ऐसे घिनौने रूप के विरुद्ध कब और किसने विद्रोह किया और ग़ज़ल का कायाकल्प किया? ये सारे प्रश्न न केवल ग़ज़ल के इतिहास से, अपितु समस्त उर्दू-शायरी, फ़ारसी-शायरी और मुस्लिम संस्कृति तथा कुछ-बहुत शामी आचार-विचार से संबंधित हैं। और हिन्दी के विद्वानों को गोयलीय जी से आशा थी कि वे इन प्रश्नों का सर्वांगीण विवेचन करते। श्री चन्द्रबली पाण्डेय की पुस्तक 'तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ीमत' पढ़ लेने के बाद अथवा उर्दू शायरी की अनेकानेक पुस्तकें उलट लेने के बाद भी ये प्रश्न अपना पूर्ण समाधान नहीं पा सके हैं और गोयलीय जी से भी कुछ की ही ठोस व्याख्या मिली, सब की नहीं। यही हमारा दुर्भाग्य है। *लेकिन इसका कारण गोयलीय जी उतने नहीं, जितना 'सिंहावलोकन' की संक्षिप्ति है।*

प्रस्तुत पुस्तकों में पन्द्रह लखनवी और चौदह देहलवी रंग के ग़ज़लगो शायरों के जो परिचय और कलाम दिये गये हैं, वे कई स्थलों पर इतने संक्षिप्त हैं कि कोई नक़्शा उभरता नहीं। उदाहरण के लिए लखनवी शायरों में से नज्म तबातबाई, नज़र लखनवी, उम्मीद अमेठवी, हफ़ीज़ जौनपुरी (या पुरी) साक़िब लखनवी, असर लखनवी और देहलवी रंग के शायरों में से दत्तात्रेय कैफ़ी, *आज़ाद अन्सारी*, बहशत कलकत्तवी, अली अख़्तर, रज़्म रुदौल्वी के परिचय बड़े ही संक्षिप्त हैं। इनके माता-पिता के नाम, पेशा, बचपन, शिक्षा आदि के वृत्तान्त भी अन्यों की भाँति रहते तो अच्छा होता। हम यह भी चाहते थे कि इन शायरों के सिद्धान्तों, रुचि, रहन सहन, तौर तरीक़ा आदि का ज़िक्र भी होता, *ताकि वे मानवीय सम्पर्श पा, न केवल खुद उभर* पाते किन्तु पाठकों के मस्तिष्क में भी खुब सकते। यह बात नहीं कि लेखक ने ऐसा कहीं किया ही नहीं। साक़िब लखनवी, आरज़ू लखनवी, रियाज़ ख़ैराबादी, असर लखनवी के कलाम का तथा देहलवी रंग के शायरों में से शाद, हसरत मोहानी, यगाना चंगेज़ी, असग़र गोण्डवी, फ़ानी बदायूनी और *जिगर मुरादाबादी के कलाम का सुन्दर और विस्तृत* अध्ययन है। शायरों की तुलनात्मक समीक्षा उपस्थित करने में जिस प्रौढ़ विवेचन-शक्ति का, विस्तृत और गहरे अध्ययन तथा अटूट परिश्रम का, परिचय गोयलीय जी ने दिया है, वह स्तुत्य है। और यही कारण है कि हम उन शायरों को भी गोयलीय जी की विद्वत्ता के पुलक-स्पर्श से जीवित और मान*वीय बने देखना चाहते थे, जिन्हें उन्होंने यों ही* चलता कर दिया है।

यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि जिस समुद्र-मथन का यह फल हिन्दी-साहित्य को मिल रहा है,

उसका मंथन गोयलीय जी जैसे धीर, अध्यवसायी, तथा मेधावी व्यक्ति से ही सम्भव है और इस पर विश्वास हो जाता है कि 'यह (ये ?) तीनों भाग १९४९ ई० में लिखने शुरू किये गये थे और दिन-रात के लगातार परिश्रम के बाद १९५३ ई० में पूर्ण हो सके हैं।'

किन्तु अंत में हिन्दी-भाषा का निवेदन भी सुन लें। 'शेर-ओ-सुखन' हिन्दी के ग्रन्थ-रत्न है, और इसलिए हिन्दी की यह अपेक्षा न्याय-संगत है कि भाषा उसकी प्रकृति-प्रवृत्ति के अनुसार होती। मानता हूँ उर्दू को जज्ब करने का यह प्रयास श्लाघ्य है, मानता हूँ उर्दू और संस्कृत के शब्द तिल-तण्डुल-न्याय से नहीं, किन्तु नीर-क्षीर-न्याय से घुलमिल गये हैं और शैली को चटकदार बनाने में तथा उसमें एक अजीब मिठास, एक अजीब महानापन और मस्त प्रवाह लाने में सफल हुए हैं, लेकिन हमें यह कहने दीजिए कि हजार हा सिफ्तों में (पृष्ठ ६), वाक (गर्दिश), पतिनारमरुी स्थिति (पृष्ठ ८८-८९), आँसू पूछने (पृष्ठ ३०१) आदि प्रयोग चिन्त्य हैं।

और प्रकाशक 'भारतीय ज्ञानपीठ काशी' वास्तव में इस सुरुचिपूर्ण सर्वांग सुन्दर और 'वैसर के खेत में शराब खींचो जाए' (पृष्ठ ८०), 'शायरी का उस काई उन्हें बना लेगा तो क्या हश्र होगा ?' (पृष्ठ ८८) जैसी चंद गलतियों को छोड़ दें तो शुद्ध मुद्रित पुस्तक के प्रकाशन के लिए बधाई के पात्र हैं।

शिवनन्दन प्रसाद

() कहानी : वार्षिक विशेषांक संपादक, श्रीपत राय, स्थायी सम्पादक, भैरवप्रसाद गुप्त, कहानी कार्यालय, ५, सरदार पटेल मार्ग, पृष्ठ संख्या ४००, मूल्य ५॥)

हिंदी साहित्य को सम्पूर्ण एवं समृद्ध बनाने के पर्याप्त प्रयत्न चल रहे हैं। ऐसा ही एक सुचारु प्रयत्न 'कहानी' का यह विशेषांक भी है। ४०० पृष्ठों के इस विशेषांक को देख कर, (जिसमें नये और पुराने ३३ हिंदी कथाकारों की नयी कहानियों का संकलन है) अब कम से-कम किसी ईमानदार आलोचक को हिंदी कहानी में गतिरोध की समस्या का रोग देने का मौका नहीं लेना चाहिए। प्रस्तुत अंक में १५ अन्य भाषाओं से अनूदित, कहानियाँ भी प्रकाशित की गयी हैं।

रचनाएँ अधिकांश सुन्दर हैं। परन्तु विषय-विभाजन ठीक से नहीं किया गया। 'आयुर्वेद' (हरिमोहन झा), 'सन्यासी' (बलदेवप्रसाद मिश्र), 'मिट्टी बाबू' (भगवतशरण उपाध्याय), 'मेरी रगों में शाही रक्त बह रहा है' (राहुल सांकृत्यायन) 'श्रीमती मोहन' (करतारसिंह दुग्गल) को किसी प्रकार भी कहानियों की कोटि में नहीं रखा जा सकता। आज जब कि शब्द चित्र और कहानी का अन्तर बिल्कुल स्पष्ट हो चुका है इन रचनाओं को कहानी कह कर प्रकाशित करना ठीक नहीं है। 'एक मधुर याद' को भी कहानी नहीं कहा जा सकता। संस्मरणात्मक निबंध अवश्य कह सकते हैं (परन्तु पूरे निश्चय के साथ यह भी नहीं!), इस प्रकार की रचनाएँ इस अंक में न ही दी जातीं तो बेहतर होता।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त निम्नांकित लेखकों की कहानियाँ इस अंक में हैं:—पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, यशपाल, विष्णुप्रभाकर, रांगेय राघव, द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', रामप्रताप बहादुर, बलवंत गार्गी, अमृतलाल नागर, अज्ञेय, अश्क, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, राजेश्वरप्रसाद सिंह, देवेन्द्र सत्यार्थी, भीष्म साहनी, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, मन्मथनाथ गुप्त, अमृतराय, केशवगोपाल निगम, हंसराज रहबर, कृष्णा सोबती, रामकुमार, भदन्त आनंद कौसल्यायन, 'कल्पना', इलाचन्द्र जोशी, मार्कण्डेय, वृन्दावनलाल वर्मा, कमलेश्वर, रामस्वरूप, और भैरवप्रसाद गुप्त। परन्तु रचनाओं के प्रकाशन में भी किसी तरतीब से काम

नहीं लिया गया। कमलेश्वर-कृत 'कस्बे' का आदमी', रांगेय राघव-कृत 'गदल', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार-कृत 'एक और हिन्दुस्तानी का जन्म हुआ', कृष्णा सोबती कृत 'बादलों के घेरे में', भैरवप्रसाद गुप्त-कृत 'चाय का प्याला', उग्र कृत 'पतिव्रता', विष्णुप्रभाकर-कृत 'धरती अब भी घूम रही है', और अश्क-कृत 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' इस अंक की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। कहानी को कलापूर्ण और समृद्ध बनाने के लिए जितना उसका रोचक और जिज्ञासोत्तेजक होना आवश्यक है, उतना ही उसका सरस, तरल, ताजा और सामान्य होना भी। उपर्युक्त सभी कहानियाँ, कला की माँगों का लिहाज रख कर लिखी गयी हैं (इस हद तक तो मैं न जा सकूंगा कि कला की दृष्टि से ये बेदाग हैं!) विशेष-कर कमलेश्वर और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की रचनाएँ उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। दोनों कथाकार बधाई के पात्र हैं कि बहुत से लेखकों के समान अनावश्यक विस्तार से उन्होंने काम नहीं लिया। कृष्णा सोबती की कहानी में इतनी मार्मिकता और संवेदना है कि बरबस शरत्चन्द्र की याद हो आती है। भावुक पाठक इसमें बहुत रस पाएगा, पर कहानी-कला की कसौटी पर यह कहानी भी पूरी उतरती हो, ऐसा नहीं है, *अनावश्यक विस्तार इसमें भी है। समय-विस्तार को निश्चित करके यदि लेखिका ऐसी ही* वातावरण-प्रधान कहानियों की रचना करे तो उसकी कला में और भी प्रौढ़ता आ सकती है। ऐसी ही (परन्तु कला की दृष्टि से काफी कमजोर) एक वातावरण-प्रधान कहानी रामप्रताप बहादुर-कृत 'शकुलो की शादी' भी है। कथानक की ओर यदि वे थोड़ा सा ध्यान देते तो कहानी अधिक सुन्दर बन पड़ती। रांगेय राघव कृत 'गदल' नवीन ढंग से लिखी गयी एक झिंझोड़ कर रख देने वाली कहानी है, जिसमें पात्र सामूहिक रूप में उभरते हैं। इस कहानी में इतनी तहें हैं कि एक युग इनमें सिमट आया है। 'गदल' का चरित्र चित्रण बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

उग्र-कृत 'पतिव्रता' और भैरवप्रसाद गुप्त-कृत 'चाय का प्याला' इस कहानी-सकलन में अपना अलग ही अस्तित्व रखते हैं। इनमें कहानी के लिए एक नया ट्रीटमेंट है—जैसा कि पहले एक बार हमें उग्र कृत 'चन्द हसीनों के खतूत' में मिला था। एक-एक शब्द को सर्दार कर रखा गया है। 'धरती अब भी घूम रही है' विष्णुप्रभाकर की बड़ी तीखी कहानी है और वर्तमान सरकारी व्यवस्था पर भरपूर चोट है पर कितनी यथार्थ! यह देखते ही बनता है। इधर लेखक की रचनाओं में Psycho-analysis की प्रवृत्ति बढ़ रही थी, पर यह रचना उस चक्कर से बरी है।

'अश्क'-कृत 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल" यदि १२ पृष्ठ के वर्तमान कलेवर से छोटी बन पड़ती तो सम्भवतः एक भरपूर व्यंग्यात्मक रचना हो जाती। कहानी के अन्त तक जो परिश्रम और धैर्य पाठक पर पड़ता है, उससे कितने लोग समझौता कर सकते हैं? पाठक 'सम्पन्न' हो और *उसमें सूझ हो तो निःसंदेह वह इस कहानी में एक नयी चीज पाएगा—जीवन के प्रति चार विभिन्न दृष्टि-कोण! कहानी-लेखिका और माँझी का* चरित्र बड़ा सुन्दर बन पाया है।

इधर कहानी की वास्तविक सीमाओं को लाँघ कर कुछ और ही रोना कहानी लेखक रोता है। इसका कारण उसमें नियोजन शक्ति की शून्यता है। 'सर्वहारा', 'छुट्टियाँ', 'लहरें', 'गुड़िया और लोरी', 'पानी की एक बूँद', तथा 'भूखे और *प्यासे' अच्छी कहानियाँ हैं, परन्तु अनावश्यक और* अखरने वाला विस्तार इन्हें ले डूबा है। विषयान्तर बहुत है और कहानीकार भटक-भटक जाता है! *'भूखे और प्यासे' में संवेदना और रवानी तो है पर सिर्फ इसी से ही तो कहानी का काम नहीं चलता।*

अनुवाद अधिकांश सुन्दर हैं। परशुराम, महादेव शास्त्री, गोर्की, साठे और डब्ल्यू० स्टॉम के अनुवाद

उत्तम और प्रभावशाली है। मन्टो-कृत 'टोबा टेक सिंह' ४८ कहानियों के इस संग्रह में अपना अलग व्यक्तित्व रखती है। मन्टो (स्वर्गीय) की श्रेष्ठ रचनाओं में इस कहानी की गणना होती है।

विशेषांक में मराठी और कश्मीरी कथा साहित्य से सम्बन्धित लेख प्रकाशित किये गये हैं। हिन्दी-साहित्य से सम्बन्धित कोई लेख क्यों नहीं है? 'कश्मीरी कथा-साहित्य' में लेखक ने एक दो सदर्भों में ही वर्तमान को लिया है—जब कि कहानी (Short story) वर्तमान ही की पैदावार है! अच्छा होता यदि यह लेख इस अंक में प्रकाशित न किया जाता। (यों तो मराठी साहित्य वाला लेख भी इस अंक में नहीं रहना चाहिए था जब कि अन्य भाषाओं के कथा-साहित्य से सम्बन्धित कोई लेख भी सम्पादक संभवतः जुटा नहीं पाए।)

सम्पादकों ने जितने मनोयोग और लगन से कहानियाँ जुटायी हैं, उसी लगन से अंक को तरतीब नहीं दिया। हिन्दी कथा साहित्य का सिंहावलोकन नहीं किया गया। प्रूफ की गलतियाँ बेशुमार हैं। लेखकों का परिचय न देना भी एक खटकने वाली कमी है। एक बात और है—यदि लेखकों के चित्र छापना आवश्यक समझा गया, तो उन्हें सुरुचिपूर्ण ढंग से क्यों नहीं छापा गया?

एक बात और। प्रस्तुत अंक और इसके पूर्व के अंकों के सम्पादकीय अनावश्यक और हल्की विज्ञापन-बाजी है। सुरुचि का यह अभाव 'कहानी' के महत्त्व को घटाता है।

फिर भी कुल मिला कर 'कहानी' का यह विशेषांक विशेष रूप से पठनीय और संग्राह्य है। आशा है, 'कहानी' इसी प्रकार निरन्तर उन्नति करती जाएगी और हिन्दी में कहानी-कला का एक नवीन आदर्श उपस्थित करने में सहायक सिद्ध होगी।

एक बात और भी है, जिसके लिए सम्पादक बधाई के पात्र हैं। प्रस्तुत अंक के हिन्दी कहानी के साथ-साथ भारतीय कहानी का प्रतिनिधि अंक बनाने का प्रयत्न भी किया गया है, और बहुत हद तक वह प्रयत्न सफल रहा है।

घनश्याम सेठी

पुस्तक-परिचय

बाल भारती: सपादक, प्रयागनारायण त्रिपाठी; प्रकाशक, पब्लिकेशन्स डिवीजन, ओल्ड सेक्रेटेरिएट, दिल्ली, वार्षिक ४)

'बाल भारती' उच्च कोटि की बाल-पत्रिका है। श्रेष्ठ कहानियाँ, सुन्दर कविताएँ, अनेक चित्र तथा अन्य बालोपयोगी सामग्री पत्रिका की विशेषता है। बच्चों के लिए रोचक एवं शिक्षाप्रद है। प्रत्येक परिवार और बाल-शिक्षा-संस्थाओं में पत्रिका का पहुँचना लाभप्रद है।

पचामृत लेखक, बालशौरि रेड्डी; प्रकाशक, हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद; पृष्ठ-संख्या २२८; मूल्य ४)

उक्त पुस्तक में तेलुगू भाषा के पाँच श्रेष्ठतम कवियों की कुछ सुन्दर रचनाओं का नागरी लिपि में सकलन है, साथ ही हिन्दी में अर्थ भी दिये हैं। इस प्रकार की पुस्तकें अन्य प्रादेशिक भाषाओं पर भी लिखी जानी चाहिए।

उक्त पुस्तक में अर्थ-व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है तथा पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था से तुलना करते हुए दोनों व्यवस्थाओं के गुण-दोष बताये गये है।

पुस्तक पठनीय है।

सचित्र गृह-विनोद . लेखक, अरुण एम० ए०; प्रकाशक, आत्माराम एंड सस, दिल्ली, पृष्ठ-सख्या ४११; मूल्य ८)

लेखक ने पाश्चात्य सभ्यता के अनुसार भारत के गृहस्थ-जीवन को बनाने के लिए कुछ विनोद तथा खेल अपनी इस पुस्तक में सग्रह किये है। प्रकाशक ने हिंदी-साहित्य में उपेक्षित इस अंग की पूर्ति कह कर इसे प्रकाशित किया है।

पुस्तक केवल बाल-गोष्ठियों के लिए ही उपयोगी कही जा सकती है। साधारण भारतीय जीवन को ध्यान में रख कर यह पुस्तक नही लिखी गयी है। जन-साधारण के लिए पुस्तक निरर्थक एव अग्राह्य है।

जीवन-प्रभात: लेखक, प्रभुदास गांधी; प्रकाशक, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली, पृ-स. ४३२; मूल्य ५)

यह पुस्तक गांधी जी की अफ्रीका-यात्रा, वहाँ के सघर्ष के इतिहास तथा गांधी-परिवार पर लिखी गयी है। गांधी जी का बाल्यकाल तथा इनके सम्बन्धियों का अच्छा वर्णन है। छपाई तथा मुख-पृष्ठ आकर्षक है। पुस्तक पठनीय है।

आत्मदेव शर्मा

(१) प्रसव के पहले (२) शिशुपालन (३) आपका बच्चा एक वर्ष से छह वर्ष तक (४) हमारे बच्चे छह से बारह वर्ष तक भारत सरकार के स्वास्थ्य मत्रालय के लिए, यूनाइटेड स्टेट्स इन्फरमेशन सर्विस, दिल्ली।

उपर्युक्त विषयों पर ये पुस्तकें काफी उपयोगी है।

क्या रूस समाजवादी देश है ? : प्राची प्रकाशन, कलकत्ता; मूल्य ।)

अमरीका के दो विख्यात राजनीतिज्ञों, अर्ल ब्राउडर और मैक्स स्कॉटमैन ने उक्त विषय पर वाद-विवाद किया था, जिसे ७१ पृष्ठ की पुस्तक में छापा गया है। इस विषय में रुचि रखने वाले पाठको द्वारा यह पुस्तक पढी जा सकती है।

गांधी की कहानी : लेखक, लुई फिशर, अनुवादक, चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय; प्रकाशक, सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, नयी दिल्ली; मूल्य ४)

लुई फिशर की अंग्रेजी की रोचक पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद है, जो पठनीय और संग्रहणीय है।

भारत-विभाजन की कहानी : लेखक, एलन कैम्पबेल जॉन्सन, अनुवादक, रनवीर सक्सेना; प्रकाशक, सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, नयी दिल्ली; मूल्य ४)

एलन कैम्पबेल जॉन्सन की प्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तक का यह अनुवाद है। पुस्तक बहुत ही रोचक और उपयोगी है। अनुवाद कही कही शिथिल हो गया है।

ब्रह्मचर्य : लेखक, मोहनदास करमचन्द गांधी; प्रकाशक, सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, नयी दिल्ली, मूल्य ।।।)

ब्रह्मचर्य-विषयक गांधी जी के जो विचार थे वे इस पुस्तक में सकलित किये गये है।

हिमाचल

फलाहार अनुवादक, सतराम बी० ए०; प्रकाशक, विश्वेश्वरानन्द सस्थान प्रकाशन, होशियारपुर, पृ०-स० १०२, मूल्य १।)

प्रस्तुत पुस्तक डा० ओ० एल० एम० अब्रामौस्की, आस्ट्रेलिया के भूतपूर्व प्रधान चिकित्सक की अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद है, साथ ही अन्य स्वास्थ्य-रक्षा-सबधी पुस्तकों से भी लेखक ने ज्ञान-वर्द्धक सामग्री ली है।

यादव

प्रकाशक : मधुसूदन चतुर्वेदी एम० ए०, ८३१, बेगमबाजार, हैदराबाद–दक्षिण
मुद्रक : कमर्शियल प्रिंटिंग प्रेस, हैदराबाद–दक्षिण

कल्पना
मई, १९५५

निवेदन

१ प्राय 'कल्पना' के पाठकों के इस आशय के पत्र आते रहते हैं कि उनके नगर के पत्र-विक्रेताओं के पास या उनके पास के रेल्वे स्टाल में उन्हें 'कल्पना' नहीं मिलती। ऐसे पाठकों से हमारा निवेदन है कि कई कारणों से देश के नगर-नगर में पत्र-विक्रेताओं के माध्यम से पाठकों तक 'कल्पना' पहुँचाना सभव नहीं है। अत उन्हें १२) वार्षिक शुल्क भेज कर ग्राहक बन जाना चाहिए।

२ ग्राहकों की ओर से प्राय हमें यह शिकायत सुननी पड़ती है कि 'कल्पना' उन्हें नहीं मिलती। कार्यालय से 'कल्पना' भेजते समय एक-एक ग्राहक की प्रति दो बार जाँच कर भेजी जाती है, ताकि किसी की प्रति रह न जाए। फिर भी कुछ लोगों की पत्रिका न मिलने की शिकायत बनी ही रहती है। इसलिए इस वर्ष, जनवरी १९५५ से पोस्टल सर्टीफिकेट के अन्तर्गत 'कल्पना' भेजने का प्रबन्ध किया गया है। इस प्रकार हम अपनी ओर से हर सभव उपाय द्वारा यह प्रबंध कर देना चाहते हैं कि यहाँ से पत्रिका रवाना करने में किसी प्रकार की चूक न हो।

३ सार्वजनिक पुस्तकालयों, शिक्षण-सस्थाओं, तथा विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों की ओर से वर्ष के अत में प्राय इस आशय के पत्र आते हैं कि उन्हें इस वर्ष अमुक अक प्राप्त नहीं हुए। फाइलें पूरी करने के लिए ये अक भेजिए। उपर्युक्त सस्थाओं के अधिकारियों से निवेदन है कि वे हमें ऐसे धर्म-सकट में न डालें। जब कोई अक प्राप्त न हो, तो अपने डाकघर से पूछिए और उनके लिखित उत्तर के साथ दूसरे महीने में ही अक प्राप्त न होने की सूचना हमें भेजिए। अन्यथा दुबारा अक भेज सकने में हम असमर्थ होंगे।

कल्पना

वर्ष ६ मई

अंक ५ १९५५

सम्पादक-मण्डल

डॉ० आर्येन्द्र शर्मा

(प्रधान संपादक)

मधुसूदन चतुर्वेदी

बद्रीविशाल पित्ती

मुनीन्द्र

कला-सम्पादक

जगदीश मित्तल

वार्षिक मूल्य १२)

एक प्रति १)

८३१, बेगमबाजार,

हैदराबाद-दक्षिण

हमारा

नवीनतम प्रकाशन

WHEEL

OF

HISTORY

By

Dr. Rammanohar Lohia

Price
3/12/-

नवहिन्द पब्लिकेशन्स

८३१, बेगमबाजार,

हैदराबाद

इस अंक में

निबंध

कविता की परख ८ रामधारी सिंह 'दिनकर'

'मेघदूत' : राष्ट्रीय काव्य ३४ विद्यानिवास मिश्र

कवि पुश्किन तथा गीति-काव्य ५५ दामोदर झा

कहानी

कलम-घसीट १२ उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

गुलाम, गुलाम—सब की सब गुलाम! २० कमल जोशी

हवामुर्ग ४० मोहन राकेश

खेल और खिलाड़ी ४६ केदार शर्मा

रोने की आवाज़ ५० देवेन्द्र इस्सर

प्रेम-दिवानी ५९ जॉन गाल्सवर्दी

कविता

जन्म दिवस ५ सुमित्रानंदन पंत

तीन कविताएँ १८ शमशेरबहादुर सिंह

दो कविताएँ ४५ 'शिशु'

स्तंभ

संपादकीय १

समालोचना तथा पुस्तक-परिचय ६५

आगामी अंकों में

निबंध

हंसराज रहबर : प्रगतिवाद बनाम यथार्थवाद

बालकृष्ण राव : राष्ट्रभाषा या राजभाषा

वासुदेवशरण अग्रवाल : प्राचीन भारतीय भूगोल

रामधारी सिंह 'दिनकर' : आगे क्या लिखूंगा ?

शिवप्रसाद सिंह : प्राकृत पैंगलम की भाषा में प्राचीन ब्रज के तत्व

कहानी

शिवप्रसाद सिंह : केवड़े का फूल

केशवप्रसाद मिश्र : नाचघर

विद्यासागर नौटियाल : मनहूस

कविता

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : १. विगत प्यार, २. एक नयी प्यास, ३. चांदनी से कह दो, ४. शान्तिमयि तुम हो, ५. बेबी का टेक।

श्रीहरि : तेरह पंक्तियाँ

रामावतार चेतन : चाँद से नीचे

प्रभाकर माचवे : १ अन्तरीप, २ मूल्य और दर, ३ कन्वोकेशन के दिन एक मित्र को।

'अज्ञेय' : १ सांझ के दो मिलाप, २. यही एक अमरत्व है।

देवेन्द्र सत्यार्थी : दो कविताएँ

रघुवीर सहाय : कविताएँ

बालकृष्ण राव : रेडियो

विजयदेवनारायण साही : १ इस घर का यह सूना आँगन २ मौत।

गंगाप्रसाद पांडेय : रात रहते भोर होत

नलिनविलोचन शर्मा : धूलप

पाठकों के पत्र

'कल्पना' में प्रकाशित रचनाओं के विषय में पाठकों की जो राय होती है, उसे प्रायः प्रकाशित किया जाता है। हम यह मानते हैं कि पाठक की राय लेखक के पास पहुँचाना आवश्यक है। उसमें जो ग्राह्य है, वह उसे स्वीकार करे। ऐसा न समझा जाए कि पाठकों की वह राय ही प्रकाशित की जाती है, जिससे सम्पादक-मंडल सहमत हो।

—संपादक

अप्रैल-अंक : अप्रैल की 'कल्पना' मुझे बहुत ही पसन्द आयी। सामग्री का चयन सुन्दर है, मर्यादा है। देख कर बहुत ही प्रसन्नता हुई। कविताओं में केदारनाथ सिंह की कविता मनमोहक है। कई आधुनिक कवियों की तरह उनकी चेतना अभी विदेशी प्रयोगवाद से दबी नहीं है, और मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वे जीवन के सत्य से प्रेरणा ग्रहण करते रहेंगे और बाजीगरी से बचेंगे।

इतना श्रेष्ठ अंक निकालने के लिए 'कल्पना' का सम्पादक-मंडल बधाई का पात्र है। मुझे विश्वास है, नये साहित्य के निर्माण में यह एक सहायता हो रही है।

अनन्तकुमार 'पाषाण', बम्बई

मार्च-अंक : 'कल्पना' का मार्च अंक मिला। उसके निबंध, सपादकीय तथा कहानियाँ बहुत ही रोचक लगीं, पर एक बात—'कल्पना' निबन्ध की दृष्टि से जितनी उन्नत है, कविता की दृष्टि से उतनी नहीं। भावहीन या स्वल्प-प्राण-विशिष्ट कोरी शैली-प्रधान कविता को प्रगति या प्रयोग के लोभ में स्थान देते समय सपादक भाव की ओर ध्यान देते, तो पत्रिका और उन्नत मानी जाती।

चिदानन्द, कटक

अप्रैल अंक : कल्पना के अप्रैल अंक में श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय का 'सूत्रपात' लघुनिबंध एक सुन्दर प्रयास कहा जा सकता है, बहुत उत्कृष्ट तो

नहीं हिन्दी में एसे लिखने की प्रथा समाप्त हो चली है या भी कम।

यदि 'कल्पना' गंभीर और भारी-भरकम निबंधों के स्थान पर लघु निबंधों की संख्या बढ़ा दे, तो श्रेष्ठ है। प्रत्येक अंक में कम-से-कम एक लघु निबंध (Short essay) कल्पना को प्रकाशित करना चाहिए।

यशोधरा माथुर, बनारस

'कल्पना' की नियमितता यहाँ इलाहाबाद में कुछ दिनों से सुनाई दे रहा था कि 'कल्पना' का प्रकाशन बन्द किया जा रहा है। लेकिन लगातार फरवरी, मार्च और अब अप्रैल के अंक निकल जाने से मन बड़ा आश्वस्त हुआ। 'कल्पना' का समय पर प्रकाशित न होना इस तरह की शंकाओं को आश्रय देता है। अब कृपया इसके प्रकाशन की नियमितता बनाये रखें।

अप्रैल अंक में कला के नाम पर कोई चित्र या लेख नहीं है। शायद हिन्दी में 'कल्पना' एक ही पत्रिका है, जो कला-पक्ष पर भी कुछ न कुछ ध्यान रखती है। कम-से-कम इस अंक के लिए कोई मॉडर्न आर्ट (बिना सिर-पैर का) चित्र तो मिल ही जाता।

अनूपकुमार, इलाहाबाद

अप्रैल-अंक 'कल्पना' का अप्रैल अंक प्राप्त हुआ। धन्यवाद। सदैव की भाँति बड़ी उत्सुकता से पढ़ा। किन्तु ज्यों ज्यों पढ़ता गया, चिन्ता बढ़ती गयी। 'कल्पना' की सामग्री सदैव उच्च श्रेणी की रहती है, इस बार क्या हुआ? कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, मानो 'कल्पना' भी बड़े बड़े नामधारियों के नाम दे कर ही सन्तुष्ट हो गयी।

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री करतारसिंह दुग्गल, श्री दिनकर और श्री अज्ञेय निस्सन्देह हिन्दी जगत् के जगमगाते सितारे हैं, और इन महानुभावों के विषय में कुछ लिखना छोटे मुँह बड़ी बात होगी। अतः मैं तो अपने चिरपरिचित 'कल्पना' के सम्पादकों से ही कुछ कहने का साहस कर सकता हूँ।

द्विवेदी जी का लेख केवल चोटी के विद्वानों के लिए ही है, अतः उस पर कुछ कहना मेरे लिए ठीक नहीं। हाँ, श्री दुग्गल जी का स्केच 'प्लेग' पढ़ा। यह

किस विशेषता के आधार पर विद्वान् सम्पादकों द्वारा स्वीकृत हुआ, तीन बार पढ़ कर भी समझ न सका। कथानक की दृष्टि से लचर, वर्णन-शैली भी शिथिल, भावों की गहराइयाँ कहीं दृष्टिगोचर नहीं। कहानी बन गयी।

इस बार कल्पना में केवल दो कहानियाँ थीं; उनमें से भी एक की यह दशा। हाँ, जगदीशचन्द्र माथुर का एकांकी 'शारदीया' अवश्य सुन्दर है।

दूसरी बात भी ऐसी ही है। श्री दिनकर जी की 'समर शेष है' कविता पढ़ी, रोचक है कविता की दृष्टि से अच्छी है। किन्तु जहाँ तक भावों का संबंध है, वे राजनीति से प्रभावित कहे जा सकते हैं। नेहरू जी की स्तुति श्री दिनकर के लिए तो उचित मानी जा सकती है, किन्तु 'कल्पना' में ऐसी चीज़ प्रकाशित होने के विषय में क्या कहा जाए?

श्री 'अज्ञेय' जी की 'टेसू' कविता भी कोई नवीनता लिये नहीं आयी।

यदि मैं कहूँ कि इस अंक के कई लेखकों ने अपनी साधारण रचनाओं को श्रेष्ठ पत्रिका में छपा कर उच्च कोटि की बनाने का प्रयत्न किया है तो शायद कोई अत्युक्ति न होगी।

'कल्पना' के इस अंक का स्तर गिरा देख कर दुख होता है, इसी से यह सब लिखने पर बाध्य हुआ हूँ। आशा, है भविष्य में मेरी नम्र प्रार्थना पर अवश्य विचार करेंगे।

महेश्वरदयाल, आगरा

कला-चित्रों का अभाव: मैं नियमित रूप से 'कल्पना' के दर्शन करता हूँ। मैं तो इसके हर अंक को इस आशा से देखता हूँ कि कलात्मक चित्र भी होंगे फिर आपके प्रसार-विवरण में भी लिखा है कि 'कलात्मक चित्रों से सज्जित' पत्रिका। श्री मित्तल जैसे चित्रकार होते हुए भी पत्रिका में चित्रों का आकर्षण न रहे, शोभा नहीं देता। आशा है, अगले प्रकाशनों में अच्छे चित्र प्रकाशित करेंगे।

शांतिचन्द्र, बीकानेर

घुड़सवार (तैल)

शीला आडेन

सम्पादकीय

"शुद्ध लेखन के कुछ नियम"

नवम्बर १९५४ के 'जीवन साहित्य' में (पृ० ४३५-३७) 'आज' के सहायक संपादक श्री पाडिलकर द्वारा प्रस्तावित शुद्ध लेखन के कुछ नियम उद्धृत किये गये हैं, और इनके संबंध में हिंदी-प्रेमियों के सुझाव माँगे गये हैं। हम 'कल्पना' के कई संपादकीयों में (वर्ष १ अंक ३-४-५, वर्ष ५ अंक १०-११) इस बारे में अपने विचार प्रस्तुत कर चुके हैं। 'जीवन साहित्य' के संपादक महोदय को संभवत 'कल्पना' के *उपर्युक्त संपादकीय पढ़ने का अवसर नहीं मिला। अस्तु। श्री पाडिलकर के नियमों के संबंध में हमारे* सुझाव इस प्रकार हैं—

१ "**का, की, के, ने, से, में, को, पर**—ये विभक्तियाँ शब्दों में मिला कर लिखी जाएँ।"

हम इस सुझाव से सहमत नहीं। विभक्तियाँ मिला कर लिखना पाठकों के लिए, विशेषत अहिंदी-भाषी पाठकों के लिए, असुविधाजनक और भ्रामक हो सकता है। इन शब्दों पर ध्यान दीजिए—गुरुजीपर अराजकताका अभियोग, कागजपर कलमसे लिखो; मेजपरसे; खिड़कीमेंसे। (विशेष 'कल्पना' वर्ष १ अंक ३)

२ "**ही, भी, तक, लिए**—ये अव्यय शब्दोंसे अलग लिखे जायें। हालमें ही, शुरूमें ही, लिखा जाय।"

इन अव्ययों का अलग लिखा जाना उचित है। किन्तु विभक्तियाँ मिला कर लिखने का नियम मान लेने पर '**बच्चों तक को यह मालूम है**' जैसे वाक्यों में क्या किया जाएगा? '**बच्चोंको तक यह मालूम है**' क्या चल सकेगा? 'हालमें ही' और '**शुरूमें ही**' अधिक ठीक है, या '**हाल ही में**' और '**शुरू ही से**'?

३. "श्री श्रीयुत का संक्षिप्त रूप है। यह अलग लिखा जाय, नाम से मिला कर नहीं।"

'**श्री**' को अलग लिखने का औचित्य हम 'कल्पना' के अंक (वर्ष १ अंक ५) में प्रमाणित कर चुके हैं।

४ "लिए जब वास्ते के अर्थ में हो तो स्वर से 'लिए' लिखा जाय, और जब क्रिया 'लेने' के अर्थ में हो *तो व्यंजन से 'लिया', 'लिये' लिखा जाए। नया का नयी, नये; हुआ का हुई, हुए आदि रूप लिखे जायें।"*

'कल्पना' में इस संबंध में विस्तार से लिखा जा चुका है, और इस नियम का पालन भी किया जाता है। 'लिया', 'लिये' की तरह अन्य भूतकालिक क्रियाओं में भी '**या, यी, ये**' का नियम लागू करना चाहिए—'**बनाया**', '**बनायी**', '**बनाये**'।

५. "योजना, सुविधा आदि शब्दों के बहुवचन योजनाएं, सुविधाएं आदि लिखे जायें।"

ठीक है। 'कल्पना' में प्रारंभ से ही इस नियम का पालन किया जा रहा है (देखिए वर्ष १ अंक ४)। किन्तु हम '**योजनाएँ**', '**सुविधाएँ**' लिखते हैं, '**योजनाएं**', '**सुविधाएं**' नहीं (जिन्हें अहिंदी-भाषी प्राय. '**योजनाएम्**', '**सुविधाएम्**' पढ़ते हैं!)।

६ "चाहिये, कीजिये, दीजिये, लीजिये आदि '**ये**' से लिखे जाएँ।"

पर क्यों? '**चाहिए**', '**कीजिए**' आदि लिखने में क्या हानि है? (देखिए 'कल्पना' वर्ष १ अंक ४)।

७ *"जायगा, आयगा, जायँगे, आयँगे आदि रूप ठीक हैं। बायाँ से बायीं, दायाँ से दायीं, दायें होगा।"*

हमारी सम्मति में '**जायगा**', '**आयगा**' आदि ठीक नहीं, '**जाएगा**', '**आएगा**' आदि ठीक हैं। भविष्य के प्रत्यय –एगा, –एगी, –एँगे, –एँगी, हैं जो समस्त व्यंजनान्त धातुओं में लगते हैं—'**चलेगा**', '**करेगी**', '**उठेंगे**', '**पढ़ेंगी**', और स्वरान्त धातुओं में भी—'**पिएगा**', '**जिएँगे**'। '**जायगा**', '**आयगा**' आदि को अपवाद

माना जा सकता है, पर ऐसा न करना ही अधिक उचित होगा। इसी प्रकार 'आयें', 'जायें' भी ठीक नहीं, 'आएँ', 'जाएँ' लिखना चाहिए। ('कल्पना' वर्ष १ अंक ४) 'बादों', 'बायीं' की बात ठीक है, पर वह उपर्युक्त संख्या (८) के अन्तर्गत है। ('कल्पना' वर्ष १ अंक ४)

८ 'संघटन ठीक है, गठन भी ठीक है, पर संगठन ठीक नहीं।"

हम सहमत हैं।

९ 'विदेशी शब्दों के रूप हिंदी व्याकरण के अनुसार बदले जायें, उनकी मूल भाषा के अनुसार नहीं। कागज, सवाल, फुट, खास, आम, दौरा आदि के रूप कागजात, सवालात, फीट, खसूसन, अमूमन, दौरान आदि नहीं होने चाहिए।"

यह सुझाव सिद्धान्ततः मान्य होना चाहिए। पर इसे कठोरता से लागू करने में कुछ असुविधाएँ आएँगी। उदाहरण के लिए 'कागज़ात' का विशेष अर्थ 'कागज़ों' में अप्राप्य है।

१० "जायें में य पर अनुस्वार है। चाहिये का कर्ता या कर्म बहुवचन होने पर भी 'ये' पर अनुस्वार की आवश्यकता नहीं।

'जायें' में वस्तुतः 'य' होना ही नहीं चाहिए (दे० ऊपर संख्या ७)। शुद्ध रूप 'जाएँ' है, ठीक उसी प्रकार जैसे 'चलें'। (दे० 'कल्पना' वर्ष १ अंक ४)

'चाहिये' अथवा 'चाहिए' (जो हमारी सम्मति में अधिक ग्राह्य है) हिंदी में एक अविकारी शब्द की तरह प्रयुक्त होता है। 'चाहिएँ' अग्राह्य है। (देखिए 'कल्पना' वर्ष १ अंक ४)।

११ "सराहना का सराहनीय नहीं बनाना चाहिये। संस्कृत के प्रत्यय संस्कृत तत्सम शब्दों में लगाये जायें। हिन्दी शब्दों के साथ संस्कृत प्रत्यय नहीं लगाने चाहिए।"

सिद्धान्त माना जा सकता है। पर 'सराहनीय' अथवा इसी कोटि के अन्य शब्द, जो बहु-व्यवहृत हैं, त्याज्य नहीं माने जा सकते।

१२. "भाषण किया जाता है, व्याख्यान दिया जाता है।"

यह भेद रुचि-मूलक है, न्याय संगत नहीं। 'भाषण देना' भी प्रचलित मुहावरा है। प्रत्युत 'भाषण करना' 'व्याख्यान देने' से भिन्न अर्थ में भी प्रयुक्त हो सकता है।

१३. "राजनीतिक, मुखर्जी, फ़ीरोज, मोमीन, शीया, डब्बा, सिर, इञ्जन, बहन, पहला, वाइस-चांसलर, रांची, रीवा, मास, मुहम्मद, पार्लमेंट, राशन, रेडार, दरोगा, चलान, बगत आदि ठीक रूप हैं।"

हमारी सम्मति में 'डब्बा' की अपेक्षा 'डिब्बा' अधिक ग्राह्य है। अल्पवाचक 'डिबिया' का 'डि' 'डिब्बा' से मेल खाता है, 'डब्बा' से नहीं।

'इञ्जन' ठीक है, पर इसे 'इंजन' लिखना चाहिए। 'एंजिन' वस्तुतः अनावश्यक है।

'बहन' की अपेक्षा 'बहिन' मूल संस्कृत ('भगिनी') के अधिक निकट है, और हिन्दी की दृष्टि से भी परंपरा-प्राप्त है। 'बहन' शायद उर्दू में अधिक प्रचलित है।

उर्दू वाले 'चलान' लिखते हैं, पर हिन्दी में तो 'चालान' ही अधिक प्रचलित रूप है। क्या 'चलान' की शुद्धता का कोई प्रमाण है?

१४ "संग्रह के अर्थ में कोश तालव्य से लिखा जाए। पूँजी और खजाने के अर्थ में 'कोष' होता है।"

यह भेद उपयोगी है। मान लिया जाए तो अच्छा है।

१५ "आदमियों को गिरफ्तार किया गया, उनको पकड़ा गया, अशुद्ध प्रयोग हैं। आदमी गिरफ्तार किये गये, वे पकड़े गये आदि शुद्ध हैं। मनुष्य यदि कर्म हो तो कर्म की विभक्ति लगती है, जैसे—राम ने रावण को मारा। राम ने रावण मारा, ठीक नहीं।"

'को' के अनावश्यक प्रयोग से बचने का सुझाव ठीक है, पर 'उनको पकड़ा गया' में 'को' सर्वथा अनावश्यक नहीं है। यह वाक्य पकड़ने वालों की तत्परता, प्रयत्न, कर्तव्य आदि सूचित करता है। इसके विपरीत 'वे पकड़े गये' में संयोग, परिस्थिति आदि की ध्वनि है।

'को' के सबध में विस्तृत विवेचन हम 'कल्पना' के किसी अगले अक में करेंगे।

१६ "हिन्दी में कोलन नही होता। '' विसर्ग का चिन्ह होता है, इसलिए कोलन न लिखा जाय।"

'हिन्दी में कोलन नही होता' का क्या अर्थ है ? कोलन एक उपयोगी विराम-चिह्न ('चिन्ह' नही !) है, परपरा-प्राप्त न होने पर भी उपादेय है। परपरा-प्राप्त तो कामा, डैश आदि भी नहीं है। कोलन को ठीक ढग से (कुछ हटा कर) लिखा जाए तो विसर्ग का भ्रम होने की सभावना नही रहेगी।

१७ "अभियोग साबित होने पर अपराध होता है। इसलिए अपराध में गिरफ्तारी ठीक नही।"

Accusation के लिए अभियोग और Crime, Offence के लिए 'अपराध' कहना ठीक होता। पर 'अभियोग' मुकदमे (Case) के अर्थ में भी प्रचलित है। इसलिए Accusation के लिए कोई नया शब्द रखना उचित होगा। अन्यथा बहु व्यवहृत 'अपराध' ही ठीक है।

१८ "साल भर के किसी सभा के प्रधान को अध्यक्ष, अध्यक्षा कहा जाय। एक सभा के प्रधान को सभापति, सभानेत्री आदि कहा जाय। नेतृ, दातृ सस्कृत है इनका पुलिंग एकवचन नेता, दाता और स्त्रीलिंग नेत्री, दात्री आदि।"

यह सुझाव मान्य है।

१९ "रखा, सिवा, सच ठीक है।"

ठीक है।

२० "सवाद ठीक है, सबाद नही। जबरदस्त, कारवाई ठीक है, जबर्दस्त, कार्रवाई नही। उरदू में रेफ नही होता। कार्यवाही का अर्थ काम ढोने वाला होता है।"

'सबाद' निश्चय ही त्याज्य है। पर क्या कोई शिक्षित व्यक्ति 'सबाद' लिखता है ?

"उरदू (उर्दू) में रेफ नहीं होता" का क्या अर्थ है ?

'काम ढोने (करने ?) वाला' के लिए उपयुक्त शब्द 'कार्यवाहक' है। 'कारवाई' के लिए 'कार्यवाही' का प्रयोग अनुचित नही माना जा सकता। यह शब्द प्रचलित हो चुका है।

२१ "अकारान्त विशेषणो के स्त्रीलिंग रूपों मे परिवर्तन अनावश्यक है—सुन्दरी, सुशीला, व्यवस्थापिका आदि की आवश्यकता नही, सुन्दर स्त्री, सुशील कन्या व्यवस्थापक ही ठीक है।"

सुझाव मान्य है, पर यहाँ विशेषणो के पहले 'तत्सम (सस्कृत)' शब्द रखना आवश्यक है।

२२ "दो भिन्नदेशीय शब्दो को मिलाना हास्यास्पद है। जिलाधीश, उपचुनाव, बरसगाँठोत्सव, झंडोत्तोलन आदि नही लिखना चाहिये।"

'जिलाधीश' और 'उपचुनाव' सुप्रचलित तथा उपयोगी शब्द है, जो किसी भी तरह 'हास्यास्पद' नही कहे जा सकते। हाँ, 'बरसगाँठोत्सव' और 'झडोत्तोलन' ठीक नही।

दो भिन्नदेशीय' (भिन्न भाषाओ के) शब्दो को कभी नही मिलाना चाहिए, यह सिद्धान्त मान्य नही है। हिन्दी में, तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी दो भिन्न भाषाओ के शब्दो को समास द्वारा मिलाने की प्रवृत्ति पहले ही से चली आ रही है। 'लाज-शरम', 'कागज-पत्र', 'खेल तमाशा', 'धन दौलत', आदि इस प्रवृत्ति के उदाहरण है (देखिए, 'प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ' में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का लेख "भारतीय आर्य-भाषा में बहुभाषिता", पृष्ठ ६९—७३)।

२३ "उपर्युक्त, षष्ठ, छठाँ ठीक है। उपरोक्त, षष्ठम, छठवाँ नही।"

शुद्ध रूप 'छठा' है, 'छठाँ' नही।

२४ "परमिशन के लिए अनुमति, इजाजत लिखना चाहिये, आज्ञा नही।"

सुझाव मान्य है।

२५. "वोट, कारतूस पुलिंग है, इसलिए वोटें, कारतूसे गलत है। पिस्तौल स्त्रीलिंग है।"

ठीक है। 'वोट' और 'कारतूस' की ही श्रेणी का शब्द 'तार' है, जिसे 'धर्मयुग' जैसे लोक-प्रिय साप्ताहिक मे स्त्रीलिंग लिखा जाता है—"नयी तार विद्युत् मोटरो की शक्ति को बढा देगी।...बहुत-सी तार लिपटी रहती है।...तारे प्रतिदिन देखते है।...बिजली की तार की मोटाई..।" (धर्मयुग वर्ष ६, अक १८, पृष्ठ २३)।

२६ "आफिशल का अर्थ अधिकृत नही, साधिकार, आधिकारिक है। अधिकृत का मतलब अधिकार किया हुआ होता है।"

'आफिशल' के लिए, इस विशेष अर्थ मे, 'आधिकारिक' शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

२७ "रक्षा, सहायता स्त्रीलिंग है, पर रक्षार्थ, सहायतार्थ पुलिंग हो जाते है, इसलिए उसके रक्षार्थ ठीक है।"

'रक्षार्थ' और 'सहायतार्थ' पुलिंग नही है—और न स्त्रीलिंग ही है। 'अर्थ' शब्द यहाँ 'के लिए' का समानार्थक है, अव्यय है, उसका कोई लिंग नहीं हो सकता। फलत 'उसकी रक्षार्थ (=उसकी रक्षा के लिए)' ही ठीक है। इसी प्रकार 'उसकी इच्छानुसार' ठीक है, 'उसके इच्छानुसार' नही।

२८ "पद पहले और नाम बाद में लिखा जाए। 'श्री...अध्यक्ष, जिला कांग्रेस' ठीक नही 'जिला कांग्रेस के अध्यक्ष श्री...' यह ठीक है।"

यह सुझाव ठीक है। पर पते आदि में नाम पहले और पद बाद में ही लिखा जाएगा।

२९ "गुप्त, मिश्र, सिंह ठीक है, गुप्ता, मिश्रा, सिनहा ठीक नही।"

'गुप्ता' और 'मिश्रा' स्पष्ट ही त्याज्य है, पर 'सिनहा' को निकालना कठिन होगा।

३० "आयु का अर्थ पूरे जीवन की अवधि होता है। एज के अर्थ मे उम्र, अवस्था लिखना चाहिए, आयु नही।"

सुझाव ग्राह्य है।

३१ "दिल्ली-स्थित, कबीले वाले, मुहम्मद, मुहर्रम, उम्मेद, गिरि, गिरजाघर उपलक्ष्य (लक्ष नही), गोरखा आदि ठीक रूप है।"

'मुहररम' की अपेक्षा 'मुहर्रम' अधिक उपयुक्त है।

३२ "हिंदी में अंग्रेजी जैसा इनडाइरेक्ट टेन्स नही होता। 'उसने कहा कि वह गया' ठीक नहीं, 'उसने कहा कि मैं गया' ठीक है।"

सुझाव सर्वथा मान्य है।

३३ "व का अर्थ और नही होता। व वा का संक्षिप्त रूप है।"

'व' का अर्थ 'और' ही होता है। यह 'वा' का संक्षिप्त रूप नहीं है, फारसी से आया है। हाँ, हम इसका प्रयोग त्याज्य मानते है।

३४ "मरने पर दुख या शोक होता है, खेद नही।"

ठीक है।

३५ "हर, हर एक, प्रत्येक के बाद एकवचन होना चाहिए।"

ठीक है।

३६ "मद्रासी नामों में साधारणत त और द को अंग्रेजी मे टी एच, डी एच से लिखा करते हैं। इसलिए उधर के नामों को नागरी में लिखते समय टी एच को त, न कि थ, और डी एच को द, न कि ध लिखना चाहिए।"

ठीक है। पर साथ ही मद्रासी नामों में 'थ' को भी डी एच से लिखा जाता है—रंगनाथन् को लोग (Ranganadhan) लिखते हैं। इसका भी ध्यान रखना चाहिए।

सुमित्रानंदन पंत | जन्म-दिवस*

आ, यौवन निदाघ अब बीते,
जीवन के कलशों-से रीते ?
यौवन मधु निदाघ अब बीते !

गत युग के वैभव-चिह्नों से, मधु के अंतिम
ताम्र हरित कुछ पल्लव, कुछ कलि कोरक स्वर्णिम
जाडे से ठिठुरे, डालों पर बिलमाए थे
रजत कुहासे पट में लिपटे अलसाए थे;
धरती पर जब शिशु ने पहिले आँखें खोलीं !
(आँगन के तरु पर तब क्या गिरि कोयल बोली ?)

विजन पहाड़ी ग्राम, हिमालय का था अंचल,
स्नेह क्रोड शैशव का, गिरि परियों का प्रिय स्थल;
धूप-छाँह का स्वप्न नीड— श्यामल स्मृति कोमल,
वनफूलों का गंधदोल, ऋतु मारुत चंचल !

नव प्रभात वेला थी, नव जीवन अरुणोदय,
विगत शती थी भुक्तप्राय, युग-संधि का समय,
ओस हरी ही थी, तृण तरु की पलकों पर जल,

मातृ चेतना शिशु को दे प्राणों का संबल
अंतर्हित जब हुई : भाग्य-छल कहिए विधि-बल !
जन्म मरण आये थे संग-संग बन हमजोली,
मृत्यु अंक में जीवन ने जब आँखें खोलीं !

आ समदृष्टि प्रकृति !
विपण्ण आँगन में स्वर्गिक स्मिति भर
फूल उठे थे आड़ू ललछौंहे मुकुलों में सुंदर !
सेबों की कलियाँ प्रभूत, रक्तिम छींटों से शोभित
खिलीं मझोले विटपों में मन को करती थीं मोहित !
पइयों की प्रसन्न पंखड़ियाँ उड़ती थीं पिछवारे,
महक रहे थे नींबू, कुसुमों में रज-गंध सँवारे !
नारंगी, अखरोट, ढाक के फूल, मंजरी, कलियाँ
बढ़ा रही थीं ऋतु-शोभा, केले की फूली फलियाँ !
काफल थे रँग रहे, फूल में थी फल लिए खुबानी,
लाल बुरूँसों के मधुछत्तों से थी भरी धनानी !

हँसती थीं घाटियाँ, हिसालू खिले सुनहले क्षण में,
घेंडू थे बैंगनी, लसलसे, पके, अधपके वन में !

*२० मई १९०० ई०।

लदे अधोए गुच्छों में थे जंगली मूंगी दाने,
टूट रहे थे तोते खटमिट्ठे वन मेवे खाने !
देवदारु कुंकुम का स्वर्णिम टँगा सहन में था नभ,
साँसें पीती थीं चीड़ों की मर्मर, नीरज सौरभ !
मूक नवागत का करती थी शैल-प्रकृति अभिनंदन,
वर्षों बाद किशोर हुआ इन दृश्यों के प्रति चेतन !

सोता था क्या भूंक रात भर झबरा कालू पाजी
मस्त भोटिया शेर, बाघ से ली थी जिसने बाजी ?
सी-सी सीटी बजा, आ रहा होगा भाजी देने,
मगल बावर्ची का नटखट लड़का पैसे लेने,
उमड चींटियों से, किलबिल कर,
माली धर निज डलियाँ
चुनते होंगे हरी चाय की बटी सुनहरी कलियाँ !

हाथ जोड कर, बकता होगा खड़ा मसखरा बिस्ना,
'अब हजूर, पेन्सन मिल जाए, और नहीं कुछ तिस्ना !
घोलों के सोंधो से कंपते हाथ-पैर कर लक लक
पानी के बहँगे लाने में साँस फूल जाती धक !
जाड़े से हड्डी बजती, सरकार, हुआ बूढा तन,
मोना के छत्ते करते फूटे कानों में भन-भन !
अब मोती पर कौन कसेगो ? देखें आप किसी छिन
कान खड़े कर, टाप उठाए करता दिन भर हिन हिन !
आगे के सब दाँत निगल अब चुका साथ चारे के
पीठ झुक चली, पेन्सन के दिन हैं उस बेचारे के !"
हीं-हीं हँस, जुट गया काम में होगा तुरत लगन से
भृत्य पुरातन, शुभ दिन की कर मौन कामना मन से !

निश्चय ही, कटती होगी तब जौ गेहूँ की बाली,
कटि में खोंस दराती, सिर पर धर सोने की डाली,
जाती होगी खेतों में प्रात मखमल की चोली
मार छींट लहँगे में फेंटा, बहू गाँव की भोली !
ढोरों के संग निकल छोकरे खुले हरे गोचर में
रोर मचाते होंगे खेल कबड्डी हो-हो स्वर में !
उचक चौंक खरहे झाड़ी में छिपते होंगे डर से
हिरन चौकड़ी मार भागते होंगे चकित उधर से !

कंधे से टोपी उतार कर, हाथ कनपटी पर धर
गाता होगा गँवई छैला खड़ा किसी चोटी पर !
घास छीलती होगी हरी तलैटी में नथवाली
देख सुवा को छायी होगी आँखों में हरियाली !
छेड़ी होगी मस्त तान, स्वर मिला मुखर मर्मर से,
मधुर प्रतिध्वनि आयी होगी घाटी के भीतर से !

"बिजली बसती घन में,
आग लगा दी खिल बुरूँस ने बन में, तूने मन में !
मेंहदी पिसती सिल में,
तू न देख पाए तेरी ही रंगत टूटे दिल में !
मन उड़ता पाँखों में,
सुवा घूमती बन-बन, तू घूमा करती आँखों में !
साँझ हुई आँगन में,
तुझे देख कैसे बतलाऊँ क्या हो जाता मन में !
बदली छायी दिन में,
नयी उमर की बाढ़ नवेली उतर जाएगी छिन में !"

मीठे स्वर में देती होगी प्यार-भरी धनि गाली,
'क्या खा कर मरभुखे करेगा तू मेरी रखवाली !
सास सिंहिनी-सी है मेरी, ससुर एक में सौ से,
जेठ बैल से हैं मतवाले देवर मेरे गौ-से !
सैंयाँ मेरे कामधेनु से, मैं जाऊँ बलिहारी
वे चंदन, मैं गंध छाँह, वे चंदा, मैं उजियारी !
वे हिरना, मैं हिरनी, पीते मिल झरने का पानी,
तू प्यासा तो खोज और जलधार, मूढ़ बकध्यानी !
ननदी मेरी काली नागिन, जो हो उसे खिझा तू
और मरद जो बीन बजा। कर पहिले उसे रिझा तू !
और नहीं तो क्या चुल्लू-भर पानी तुझे नहीं है ?"
"बहती गंगा छोड़ कहाँ जाऊँ धनि, क्या न सही है !"
गूंज रही होगी गिरि-वन-अंबर में दुहरी तानें,
और पास खिच आये होंगे दो जन हँसी बहाने !

हाँ तब ऊषा स्वर्ण क्षितिज पर स्वर्णिम मंगल घट भर
उतरी या, युग उदय शिखर पर माणिक सूर्य मुकुट धर !
पहिले से जग कर खग, ऊँचे गिरिग्रामों के कारण,
गाते थे नव स्वरलय गति में नवल जागरण धारण !
नील, प्रतीक्षा था नीरव, अनुराग द्रवित थे लोचन,

गंध तुहिन से ग्रथित रेशमी पट-सा मसृण समीरण!
रँग-रँग के वनफूलों से गुंफित मखमल के शाद्वल
तल्प सँजोए थे स्मित, शैशव के हित, क्रीडा-कोमल!

देख रहा था खड़ा निकट ही हिमवत् नव जन्मोत्सव,
गौरव से उन्नत कर मस्तक बरसा आशीर्वैभव!
अमरों का अधिवास पुण्य शिखरों से अक्षय कल्पित,
अकलुष आत्मोल्लास, चेतना में एकांत समाधित!
स्वर्गिक गरिमा में उठ कर, नैसर्गिक सुषमा में स्थित
स्फटिक शृंग निर्वाक् नीलिमा में थे स्वर्ण निमज्जित!
उतर रहा था हेम गौर चूडों पर मौन अनंदित
ज्योतिकाय चैतन्य लोक सा नवप्रभात दिक् प्रहसित!
फहराते थे आरोहों पर नीहारों के केतन
शुभ्रारुण छायातप कंपित, रश्मिज्वलित नवचेतन!
अतल गहनताओं से जग उत्कर्षों में नभ-चुंबन
आध्यात्मिक परिवेश शांत लगता था विस्मय स्तंभित!

तभी अगोचर अंतरिक्ष में, अंतर्जग के भीतर,
नये शिखर थे निखर रहे शत, सूक्ष्म विभव के भास्वर!
जिन पर नूतन युग प्रभात था उदय हो रहा गोपन,
रजतनील स्वर्णारुण शृंगों पर भर स्वर्गिक प्लावन!
नयी शती थी जन्म ले रही काल वक्ष में जीवित,
स्नेह-मूर्ति सी विगत-शती थी कृच्छ्र वेदना मूर्च्छित!
नवचेतन था अभिनव, मानस-शव-सा पुण्य-पुरातन,
बाल मुकुल —पर इनका स्मृति-पावन संबंध सनातन!
था निमित्त शिशु, नवयुग था अवतरित हो रहा निश्चय,
बहिरंतर का धूम चीर हँसता था नव स्वर्णोदय!
इसीलिए, संभव, हिमाद्रि का स्वर्गोन्मुख-आरोहण
युग सनाभि शिशु के मन के हित रहा महत् आकर्षण!
इंद्रचाप के ज्योति सेतु पर नव स्वप्नों के पग धर
विचरा वह मोहित शृंगों पर शोभा तन्मय अंतर!
महिमान्वित कर मनःक्षितिज को,

दृष्टि-सरणि को विस्तृत
दीपित करते थे शैशव पथ शुभ्र शिखर दिक् शोभित!
मुग्ध प्रकृति की छवि किशोर मानस में तिरती थी नित,
स्वर्ग अप्सरी-सी तुषार सरसी सुषमा में बिंबित!

कांव कांव कर आँगन में कौवे करते थे स्वागत,
गुह्य शक्तियां तब अलक्ष्य में निश्चय होंगी जाग्रत:
अवचेतन निश्चेतन को होना था युग के मथित,
मानस को उन्नीत, देह के जड़ अणुओं को ज्योतित!
चिर विभक्त को युक्त, रुद्ध को मुक्त, खंड को पूरित,
धरा विरोधों को होना था विश्व-ऐक्य संयोजित!
कुत्सित को सुंदर, सुंदर को बनना था सुंदरतर,
शिव को शिवतर, लोक-सत्य को मानव-सत्य महत्तर!

दूर कहीं घिरते थे, संभव, धीरे क्रांति बलाहक,
रक्तिम लपटों के पर्वत, भू के नवजीवन वाहक!
घुमड रही थी क्रुद्ध धरा उर में हुंकार भयानक,
ज्वालामुखी उगलने को था रुद्ध उदर का पावक!

झंझा का था जन्म दोल वह ऋतु कुसुमों से गुंजित,
प्रलय सृजन थे साथ खेलते, प्रभु की दया अपरिमित!
नहीं जानता कब कृतार्थ होगा भू पर नव चेतन,
तम पर अमर प्रकाश, मृत्यु पर विजयी शाश्वत जीवन!
हिमवन् का विश्वास लिये अटल, नव प्रभात की आशा,
नील मौन में खोए शृंगों की अनंत जिज्ञासा,—
प्रलय क्रोड में खींच प्रौढ़ शिशु अमृत प्राणप्रद श्वासा
घृणा द्वेष में, लिए हृदय में महत् प्रेम अभिलाषा!
खोज रहा वह युग-विनाश में नवजीवन परिभाषा
विश्व ह्रास में नवल चेतना, सृजन प्रेरणा, भाषा!

हां, यौवन निदाघ अब बीते,
रिक्त अमृत विष के मटकों से मीठे तीते,
यौवन मधु निदाघ अब बीते।

वैयक्तिक विशिष्टता ही उनके साथ आने वाली नवीनता है, मौलिकता है और इसी के परिमाणानुसार वे बड़े या छोटे कहे जाते हैं। प्रत्येक युग मे हजारों नही, तो सैकड़ों कवि अवश्य काव्य-रचना करते होते हैं, किन्तु सहृदय पाठकों या समाज स्वीकृति केवल उन्हें दे पाता है, जिनकी रीति नयी और शैली नवीन है, जो किसी भी अन्य कवि की प्रतिध्वनि नही हो कर आप अपनी आवाज होते हैं, जिनका कलश भीड़ से ऊपर, दूर से ही, दिखाई देता है। जहाँ यह नवीनता सुस्पष्ट नही होती, वहाँ *काव्य-रचना का श्रम व्यर्थ हो जाता है।* ऐसे अनेक कवि हुए हैं, जिनकी कल्पना और भावना भली-भाँति समृद्ध थी, किन्तु वे कवि-पद नही पा सके अथवा उनकी गिनती सामान्य कवियों में कर दी गयी, और यह केवल इसलिए कि सारी समृद्धियों के रहते हुए भी उनमें यह शक्ति नही थी कि वे समय के वक्ष पर कोई ऐसी लकीर खीच सकें जो पहले खीची नही गयी थी। इसके विपरीत, ऐसे कवि भी हुए हैं, जिनकी पूंजी अपेक्षाकृत अल्प थी, किन्तु उनकी गिनती सहज कवि के रूप में अनायास हो गयी, क्योंकि उनमें अपने लिए नया मार्ग प्रस्तुत करने की शक्ति प्रत्यक्ष थी। उन्होंने साहित्य को समृद्धियाँ तो थोड़ी ही दी, किन्तु अपने लिए उन्होंने जिस क्षितिज का निर्माण किया, वह पहले से विद्यमान नहीं था। साहित्य में नये भाव अथवा भावों की नवीन अनुभूतियाँ भी कम ही लिखी जाती हैं। धन का खजाना तो एक ही है, जिस पर एक साथ अनेक कवियों के हाथ पड़ते हैं और इस खजाने के सिक्के भी, प्रायः, घिसे-घिसाए ही होते हैं, फिर भी जिस कवि में नयी लकीर खीचने की शक्ति है, भावों को नयी अदाओं का जामा पहनाने की योग्यता है, उसके हाथ पर जाते ही ये सिक्के नवीन हो जाते हैं। इसी लिए कुछ अत्यन्त समृद्धिशाली कवि भी अपेक्षाकृत अल्प पूंजी वाले कवियों के सामने मन्द पड़ जाते हैं, और इतिहास में उनका स्थान नीचे आ जाता है। पहली कोटि के दृष्टान्त कदाचित् नन्ददास, केशवदास, कुलपति मिश्र भिखारीदास, आदि हैं, और दूसरी कोटि के सौभाग्यशाली कवियों में मीरा, घनानन्द बोधा और ठाकुर की गिनती सहज में की जा सकती है। अतएव शैली की मौलिकता, रीति की नवीनता और सब के स्वरों में बच कर अपना स्वतंत्र स्वर फूंकने की योग्यता कवि की सबसे पहली पहचान है।

कवि आकाश से टपका हुआ प्राणी नही होता है। शिक्षा-दीक्षा संगति और संस्कार के कारण ही, उसका उद्भव और विकास होता है तथा औरों को सिखाने के पूर्व उसे स्वयं भी बहुत कुछ सीखना पड़ता है। कवि की अनुभूतियाँ और कवि के ज्ञान जीवन के तपस्या कुंज में आते हैं। कविता और कुछ नही ही कर कवि की आत्मा का प्रस्वेद होती है अतः जिस कवि की जीवन साधना अधूरी है, उसकी कविता में परिपूर्णता की खोज ही बेकार है। अनुभूतियों और भावों के संचय का काम कवि अज्ञात रूप से करता है, किन्तु काव्य की वास्तविक रचना के समय उसे एक नही दो दो धरातलों पर अत्यन्त जागरूक एवं सावधान रहना पड़ता है। पहला धरातल वह है जिस पर कवि के विचार उतरते हैं, जिस पर उसकी कल्पना मँडराती और भावनाएँ किलोल करती हैं। इस धरातल पर कवि की चिन्ता का विषय यह होता है कि जो विचार या भाव उसके मन के भीतर, अस्पष्ट रूप में, गुंजार रहे हैं, उन्हें वह ठीक-ठीक सुन रहा है, या नहीं। और दूसरा धरातल वह होता है, जिस पर कवि की लेखनी चलती है। इस धरातल पर *कवि की चिंता का विषय यह होता है कि जो कुछ* उसे सुनाई पड़ा है, उसे वह ठीक ठीक लिख रहा है या नहीं। कठिनाई यह होती है कि कभी तो भाव को ठीक से ग्रहण नही कर सकने के कारण और कभी सस्ते सुयश के लोभ या अपयश के भय से कवि कुछ का-कुछ लिख जाता है। रचना के इस दोष को मैं अभिव्यक्ति की अपूर्णता का दोष कहता हूँ, जो काव्य के अन्य सभी दोषों से कदाचित् भया-

नक होता है। पदों में असंबद्धता, भावों की अपरिपक्वता, प्रसादगुण का अभाव और कविता में वेधकता की कमी, ये सभी दोष अभिव्यक्ति की अपूर्णता के ही दोष हैं। लोग जिसे कवि की साधना कहते हैं वह तपस्या या अभ्यास है तथा यह अभ्यास इसी अभिव्यक्ति की पूर्णता तक पहुँचने का प्रयास है। अभिव्यक्ति की पूर्णता का प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कवि शरीर और मन, दोनों से स्वस्थ हो, जिससे वह समाधि की गहराई में पहुँच कर वहाँ ठहर सके। उसे भाषा पर पूरा अधिकार होना चाहिए, जिससे वह प्रत्येक भाव को उसके अनुरूप शब्दों में बाँध सके। उसमें साधना जन्य शिल्प और चातुर्य भी होना चाहिए, जिससे वह भावों को ठीक उसी नर्मी या गर्मी से रंगीनी या सादगी से, अभिव्यक्त कर सके, जिसके साथ वे बाहर आना चाहते हों। टेलीफोन के एक सिरे पर हम जिस प्रकार बोलते हैं, उसके दूसरे सिरे पर वह वैसा ही सुना जाता है। कविता भी दो हृदयों के बीच टेलीफोन का काम करती है। कवि के हृदय में उठे हुए भाव ठीक ठीक पाठकों के हृदय में पहुँच जाएँ, तभी पाठक को उस आनन्द की अनुभूति होती है, जिसका अनुभव कवि ने किया है। इसलिए कविता की दूसरी पहचान यह है कि कवि जो-कुछ कहना चाहता था, उसे वह ठीक ठीक कह सका है या नहीं।

कभी कभी यह प्रश्न भी उठाया जाता है, कि ऊँची और अपेक्षाकृत कम ऊँची कविताओं का भेद कैसे समझा जाए। एकाध आलोचक ने यह सुझाव रक्खा है कि कविता का सौन्दर्य उसकी शैली में परखा जाना चाहिए, तथा उसकी उच्चता उसमें वर्णित भाव में। किन्तु, इस प्रकार का विभाजन संभव है या नहीं, यह बताना कठिन है। जब किसी कविता से हम आनन्द-मग्न होने लगते हैं, तब हमें यह तो पता नहीं होता कि इतना आनन्द इसकी शैली से आ रहा है और इतना आनन्द इसके भाव से। शैली भाव से कोई अलग वस्तु नहीं होती। कवि जिस मुद्रा में, अथवा जिस भंगिमा के साथ भावों को ग्रहण करता है वही मुद्रा या भंगिमा उसकी शैली बन जाती है। शैली भाव की पोशाक नहीं, उसकी त्वचा होती है। एक शरीर पर बारी-बारी से अनेक परिधान चढ़ाये जा सकते हैं। किन्तु, एक भाव को अनेक शैलियों में नहीं कहा जा सकता। क्रोसे की एक बात मुझे बहुत सत्य लगती है कि जब कोई व्यक्ति "समय की अतल गहराइयों में", इस वाक्यांश का प्रयोग करता है, तब उसका वही आशय होता है जो इस वाक्यांश में है। उसके आशय को हम, "बहुत प्राचीन काल में", यह कह कर व्यक्त नहीं कर सकते। अतएव, शैली और भाव के बीच विभाजन का प्रयास व्यर्थ है। ऊँची और अपेक्षा कृत कम ऊँची कविताओं के पहचानने का इससे अधिक सरल मार्ग वह है, जिसका अनुसंधान जार्ज रसल ने किया है। उनके अनुसार, कुछ कविताएं अंधी और कुछ पारदर्शी होती हैं। अंधी कविता उसे कहते हैं, जो केवल कारीगरी और कौशल से रची जाती है, तथा जिसमें प्रेरणा का स्पंदन नहीं, अथवा कम ही होता है। ऐसी कविता में रंग और सौन्दर्य की कमी नहीं होती। किन्तु, उसका सारा सौन्दर्य उसके ऊपरी धरातल पर केंद्रित रहता है, एवं उसके भीतर झाँकने पर सतह के नीचे कोई चीज दिखाई नहीं देती। इसके विपरीत, पारदर्शी काव्य के भीतर झाँकने पर उसकी सतह के नीचे अर्थों और संकेतों का बहुत बड़ा संसार जगमगाता नजर आता है। फिर, यह जानने के क्रम में कि यदि काव्य पारदर्शी है, तो उसके भीतर कितनी गहराई के दृश्य दिखाई देते हैं, हम यह भी जान लेते हैं कि कवि किस ऊँचाई या गहराई से बोल रहा है। जीवन की वीणा में जितने तार लगे हुए हैं, उनकी गिनती नहीं की जा सकती। किसी भी कविता के लिए यह तो संभव नहीं है कि वह सभी तारों को झनकार दे, किन्तु जिस कविता से उस वीणा के अधिक-से-अधिक तार झङ्कृत हो उठें, उसे अधिक-से-अधिक उच्च या श्रेष्ठ काव्य कहना चाहिए। कविताएँ प्रत्येक धरातल पर सफल हो सकती हैं, और कला

की दृष्टि से ये सभी सफलताएँ समान हैं। बिहारीलाल ने दार्शनिक अनुभूतियाँ नहीं लिख कर केवल लड़कियों की अदाओं का वर्णन किया है, किन्तु उनकी सफलता उतनी ही बड़ी है जितनी जयशंकर प्रसाद या तुलसीदास की। ऊँचे स्तर के विचारों के आने से कविता ऊँची ही बनेगी इसका कोई प्रमाण नहीं है। सिद्ध ऋषियों की कविताएँ गद्य रूप और सामान्य चिन्तक या अत्यन्त भावुक व्यक्ति की रचनाएँ मधुर और आजस्विनी हो सकती हैं। ऊँची कविताओं की पहचान ऊँचे विचार नहीं, प्रत्युत् उनकी पारदर्शिता है। इसके विपरीत, दार्शनिक भावों से भरी हुई रचनाएँ भी गद्यात्मक हो सकती हैं, यदि वे अंधी हों, यदि उनमें संकेतों का अभाव हो, यदि वे पाठक के मन को अज्ञात दिशाओं की ओर उड़ने की प्रेरणा नहीं दे सकें। इसलिए, कविता की तीसरी पहचान यह है कि वह अंधी है या पारदर्शी अर्थात् वह रंगीन चित्रों की झाँकी और अलंकारों की छटा दिखा कर ही बस कर देती है, अथवा चित्रों और अलंकारों के भीतर से कुछ और कहना चाहती है।

कविता की मैं एक चौथी कसौटी भी मानता हूँ, यद्यपि उसका उपयोग मैं तभी करता हूँ, जब मुझे यह जानने की आवश्यकता होती है, कि परस्पर समान से दीखने वाले किन्हीं दो कवियों में अपेक्षाकृत कौन छोटा और कौन बड़ा कवि है। यहाँ भी कुछ आलोचकों का मत है कि कवि की सारी पूँजी भावों, अलंकारों और चित्रों में निहित होती है। अतएव तुलना के समय हम दोनों कवियों की पूँजी को अलग-अलग गिन कर नंबर बिठा सकते हैं। किन्तु, इस कार्य को भी मैं व्यूह-पूर्ण मानता हूँ, क्योंकि काव्य संपदा के आधिक्य से कोई कवि बड़ा और उसकी अपेक्षा-कृत न्यूनता से कोई कवि छोटा नहीं हो जाता। केवल बोझ-के-बोझ चंदन की लकड़ियाँ जमा कर देने से क्या लाभ, यदि पास में उन्हें प्रज्वलित करने वाली आग ही नहीं हो? इसस अच्छे तो वे रहेंगे जिनके पास, भले ही बबूलों का ढर हो, किन्तु जो उन्हें प्रज्वलित करके गर्मी पैदा करने की शक्ति रखते हैं। कवि में जो प्रज्वलन वाला गुण है, प्रेरणा के आलोक में शब्दों को सजीव बना देने वाली शक्ति है, उसका सबसे बड़ा चमत्कार विशेषणों के प्रयोग में देखा जाता है, विशेषणों के प्रयोग में आधी सफलता और आधी असफलता नहीं होती। कवि या तो पूर्ण रूप से सफल अथवा सर्वथा असफल हो जाता है। इसलिए, जहाँ यह जानने की आवश्यकता हो कि दो कवियों में से कौन बड़ा और कौन छोटा है, वहाँ विशेषतः यह देखना चाहिए कि दोनों में से किसने कितने विशेषणों का प्रयोग किया है तथा किसके विशेषण प्राणवान् और किसके निष्प्राण उतरे हैं। शब्दों के सम्यक् प्रयोग की जैसी पहचान विशेषण में होती है, वैसी संज्ञा और क्रिया में नहीं। इसलिए, कविता की चौथी और आखिरी पहचान यह है कि उसमें विशेषणों का कैसा प्रयोग हुआ है।

❦❦❦

वह रुचि से करता हो, ऐसी बात नहीं। रुचि को नहीं, उसकी त्वरा से पारिश्रमिक को दखल है। कितनी तेज़ी से उसका कलम सामने पड़े काम की धज्जियाँ उड़ाता है, यह बात उस काम से मिलने वाले पारिश्रमिक पर निर्भर करती है। शायद उसके घर में एक बीमार या लड़ाकी या चिड़चिड़ी बीवी और किलबिलाते या स्कूल जाते कई बच्चे हैं, या अगर वह शादीसुदा नहीं है, तो अपने छोटे भाइयों की पढ़ाई का बोझ, या अपनी बहनों के ब्याह की समस्या उसके सामने मुँह बाये खड़ी है, या फिर उसकी बूढ़ी माँ या वृद्ध पिता बीमार हैं और महँगे डाक्टर और दवाइयाँ उसे निरन्तर कलम घसीटने पर विवश किये हुए हैं। जो भी सामने आए, इच्छा-अनिच्छा को छोड़, वह उस काम को ले लेता है और घर घसीटता है। काम के बोझ से दब जाता है और उफ नहीं करता। परिस्थितियों के कोड़े निरन्तर उसकी पीठ पर पड़ते हैं और वह थके मन और शिथिल तन से कदम बढ़ाये जाता है। वह लद्दू जानवर नहीं तो क्या है ?

वह लेखक है। देव ने उसे अपने विचारों को व्यक्त करने की अपूर्व शक्ति प्रदान की है। उसने कभी महान् कहानीकार, नाटककार या कवि बनने के सपने देखे हैं। लेकिन अब तो उसे उन सपनों की याद भी नहीं रही। शुरू शुरू में उसने सदा चाहा था कि वही काम वह हाथ में ले जो उसकी रुचि के अनुकूल हो। उसने कोशिश की थी कि वह कहानियाँ लिख कर अपना और अपने कुटुम्ब का पेट पालेगा, लेकिन शीघ्र ही उसे मालूम हो गया कि साहित्य-सृजन से इतना धन अर्जित करना, कि उसके बीवी-बच्चे पल सकें, भाई शिक्षा पा सकें, बहनों का ब्याह हो सके, या माँ-बाप की बीमारी और महँगी दवाइयों के बीच की खाई पट जाए, एकदम असंभव है और उसने पहले उत्कृष्ट विदेशी कहानियों के अनुवाद करने शुरू किये थे। बड़ी रुचि से वह यह काम करता और दस-पाँच रुपये जो भी साप्ताहिक या मासिक पत्रिकाओं से मिल जाते थे, ले लेता, लेकिन महीने में वह इतना भी न कमा पाता कि उसे कमाना कहा जाए। फिर सहसा एक जासूसी उपन्यास छापने वाले अनपढ़, पर धनी प्रकाशक ने उससे कहा कि वह इतनी मुश्किल से कहानी लिखना (यानी अनुवाद करता) है और उसे केवल पाँच दस रुपये मिलते हैं, यदि वह उसके लिए एक छोटा सा उपन्यास लिख दे, तो वह उसे साठ सत्तर, और उपन्यास बड़ा हो तो, सौ रुपये तक दे सकता है।

कलम-घसीट को जासूसी उपन्यास लिखना तब निहायत घटिया काम लगता था। उसने टालने के लिए कहा, "मुझे जासूसी उपन्यास लिखना नहीं आता।"

"इसमें कौन मुश्किल है ?" प्रकाशक बोले, "गुदड़ी बाज़ार में जा कर पुरानी किताबों से कुछ अंग्रेज़ी जासूसी उपन्यास चुन लीजिए। जो अच्छा हो उसका उलथा कर डालिए। ज़रा नाम-वाम बदल कर उसे हिन्दुस्तानी बना दीजिए। बस ! कापी हमको पसन्द आ गयी, तो पचास साठ रुपये हम आपको देंगे।"

"कापी !" कलम घसीट ने उपेक्षा से प्रकाशक की ओर देखा। उसका खून अभी गर्म था और साहित्यकार बनने के सपने भी अभी छिन्न भिन्न न हुए थे। "ऐसी कापी तैयार करना मेरे बस का नहीं।" उसने उपेक्षा से कहा, "अच्छी कहानी या उपन्यास चाहिए, तो हम लिख दें।"

लेकिन परिस्थितियों के कोड़ों की मार ने उसे गुदड़ी बाज़ार जाने जासूसी उपन्यास खरीदने, उसका उलथा करने और उसको उन निताल अनपढ़ प्रकाशक महोदय की सेवा में ले जा कर उसके बदले सौ नहीं, साठ नहीं, पचास नहीं, केवल तीस रुपये पाने पर मजबूर कर दिया। उसके सुनहरे सपनों की रेशमी चादर में यह पहला पैबन्द था। लेकिन यह तो तब की बात है जब 'आतिश जवान था'। अब तो चादर में रेशम का कहीं पता ही नहीं, बस, पैबन्द ही पैबन्द नज़र आते हैं।

जिस प्रकार साहित्य-लेखन की कला है, अच्छा साहित्यिक अपनी रुचि के अनुसार अच्छी कहानियाँ, नाटक या कविताओं को पढ़ता है, सुन्दर उपयुक्त सूक्तियों के उद्धरण कार्डों में नोट कर रखता है छोटी-सी लाइब्रेरी बनाता है, और अध्यवसाय से अपनी कला में सिद्धि प्राप्त करता है, उसी तरह कलम घिसने की भी एक कला है जिसमें निरन्तर श्रम अध्यवसाय और अनुभव से कलम-घसीट ने अपूर्व सिद्धि प्राप्त कर ली है। भानमती के पिटारे सरीखी उसकी छोटी-सी लाइब्रेरी है। इसमें गुदड़ी बाज़ार से खरीदे हुए जासूसी और प्रेम-सम्बन्धी उपन्यास हैं, पत्र पत्रिकाओं में छपे विभिन्न विज्ञापनों की फाइलें हैं, अलग अलग लिफाफों में अलग-अलग तरह के लेखों के तराशे बन्द हैं - एक में स्वास्थ्य पर तो दूसरे में स्पोर्ट्स पर, तीसरे में सेक्स पर तो चौथे में फैशन पर, पाँचवें में महान् नेताओं के वक्तव्य हैं, तो छठे में समाज के प्रसिद्ध लोगों की जीवनियाँ। फिर एक फाइल में नेताओं मैनेजिंग डाइरेक्टरों और बड़े पदाधिकारियों को दिये जाने वाले मान-पत्र अभिनन्दन पत्र और विदाई-पत्र हैं तो दूसरी में दूल्हा के सेहरे और दुल्हनों को दिये जाने वाले आशीर्वाद। इन्हीं सबके बल पर छोटे-से-छोटे नोटिस पर कलम घसीट मनचाही चीज़ तैयार करने की प्रतिभा रखता है।

किसी बड़े लाला के लड़के की शादी है। उनकी इच्छा है कि जब बारात उनके समधी के यहाँ जाए, दूल्हा सेहरा बाँधे तो उसके मित्र दो सेहरे पढ़ें, जिनमें दूल्हा के हुस्न की तारीफ के साथ उसके पिता के धन-धान्य उदारदिली और हँसमुखता का भी उल्लेख हो। लेकिन दुर्भाग्य यह कि उनके अपने और उनके सुपुत्र के मित्रों में कोई भी कवि नहीं। कविता करना तो दूर रहा, कविता को समझने का सलीका भी उनमें से किसी को नहीं। उनके सुपुत्र के मित्रों में एक सिनेमा के गानों को अपने भोंडे स्वर में बड़े मजे से गा लेते हैं। दूसरे फिल्मों के नायक नायिकाओं के गुप्ततम जीवन के सबंध में मित्रों की ज्ञानवृद्धि कर सकते हैं एक तीसरे हैं जो नित्य नयी तर्ज़ के फैशन के बारे में मित्रों को जानकारी दिया करते हैं और एक चौथे प्रेम-कहानियाँ सुनाने में दक्ष हैं, लेकिन कवि उनमें से कोई नहीं। लाला जी के अपने मित्रों में दो साहब मिठाइयों की विभिन्न किस्मों का उल्लेख बड़े विशेषज्ञ की भाषा में कर सकते हैं। एक तीसरे चाट के पंडित हैं और चौथे भाँग घोटने में अपना सानी नहीं रखते, लेकिन कविता किस चिड़िया का नाम है यह उनमें से कोई नहीं जानता। और लाला जी हैं कि सुपुत्र की शादी के अवसर पर सेहरे पढ़वाने पर तुले हैं। बात यह हुई कि वे एक बार अपने एक बैरिस्टर मित्र के लड़के की शादी में गये थे। उनके सुपुत्र को जब सेहरा बँधा तो दूल्हा के एक मित्र ने बड़ा सुन्दर सेहरा पढ़ा। लड़के की जो तारीफ की सो की पर उन बैरिस्टर महोदय की भी बड़ी तारीफ की। बड़े चौड़े सुनहरी फ्रेम में जड़ा, सुन्दर सुनहरी अक्षरों में छपा हुआ सेहरा जब दूल्हा के मित्र ने पढ़ा (एक-एक प्रति सब उपस्थित सज्जनों को बाँटी गयी) तो लाला जी की आँखें अपने बैरिस्टर मित्र के चेहरे पर जमी, उसके खिलते हुए रंगों को देखती रहीं और तभी उन्होंने तय किया था कि जब उनके साहबज़ादे की शादी होगी तो दो सेहरे पढ़वाएँगे। अपने मित्रों से उन्होंने कहा कि चाहे जैसे हो, जितना खर्च हो, सेहरे लिखवाये जाएँ, सुनहरी रंग में छपवाये और सुनहरी फ्रेमों में मढ़वाये जाएँ।

सो ढूँढते-ढाँढते लाला जी के मित्र कलम-घसीट के यहाँ आये। पोर व्यस्तता का बहाना कर (कि यह भी उसकी कला का अंग है) कलम-घसीट ने मजबूरी जाहिर की कि वह एक अभिनन्दन-पत्र लिखने जा रहा है, जो कल ही उसे दे देना है। पर लाला जी के मुसाहब यों खाली हाथ लौटने वाले न थे। सख्त चेहरे कैसे नर्म पड़ जाते हैं, यह सब वह भली-भाँति जानते थे। उन्होंने अनुनय-

विनय की और कहा कि ज्यादा समय होता तो वे कहीं और जाते, लेकिन बारात तीन दिन में चढने वाली है और लाला जी सेहरे ज़रूर चाहते है और ऐसे मुश्किल वक्त कोई दूसरा उनके आड़े नहीं आ सकता और उन्होंने बीस रुपये पेशगी कलम-घसीट के सामने रख दिये और बाकी तीस रुपये दोनो सेहरे मिलने ही देने का वचन दिया। तब प्रकट बड़ी अनिच्छापूर्वक (लेकिन दिल में बड़े खुश होते हुए) कलम घसीट ने रुपये जेब में डाल लिये। कहा कि लाला जी भी वह बड़ी इज्जत करता है, उनका आदेश वह कैसे टाल सकता है! वह रात भर जागेगा, और भगवान ने चाहा तो सुबह उनको दोनो सेहरे दे देगा।

"ज़रा लाला जी की तारीफ करना न भूलिएगा।" लाला जी के मित्र कहते है।

"निश्चिन्त रहिए। लाला जी क्या, उनके दूर नजदीक के रिश्तेदारो और मित्र पड़ोसियो तक की तारीफ सेहरे में कर दूंगा।" कलम-घसीट उन्हे विश्वास दिलाता है।

उनके जाने के बाद कलम-घसीट सेहरो की फाइल निकालता है। चूंकि सेहरे दो लिखने है इसलिए एक लबे छन्द का, दूसरा छोटे छन्द का चुनता है। और थोड़े-बहुत परिवर्तन के बाद उन्हे अच्छे कागज़ पर सुन्दर अक्षरो में लिख कर तैयार कर देता है।

परिवर्तनो की ज़रूरत नामो के कारण पड़ती है, क्यो कि सेहरे में दूल्हा, उसके पिता और पितामह का नाम यदि आ जाए तो सोने में सुगंधि की सी बात हो जाती है।

लाला जी का नाम *भगवानदास* है, और लड़के का रोशनलाल। कलम-घसीट झट लिखता है
हुए भगवान के जब दास के तुम दास ऐ रोशन,
तो सेहरे पर निछावर क्यों न हो फूलो भरे दामन।

पितामह का नाम है रूपलाल। कलम घसीट *उस नाम को फिट करना नही भूलता*
मुबारक रूप के इस बाग में खिल कर बहार आयी।
लिये फूलो को परियाँ साथ में दीवानावार आयी॥
गुलो में यह सुनहरी तार कैसे जगमगाते है।
खिला है रूप का बाज़ार तारे रश्क खाते है।
और बाप बद वैसे के वैसे उठा कर कलम घसीट उसमें रख देता है। दूसरे सेहरे को वह कुछ यो लिखता है
सेहरा तेरा गौहर है
सेहरा तेरा अख्तर है
रुख तेरा मेरे रोशन
इक माहे मुनव्वर है।
क्या हुस्न का पैकर है।

और यो समय से दोनो सेहरे तैयार कर कलम-घसीट वादे के अनुसार दे देता है। बाकी तीस रुपये चूँकि उसे तत्काल मिल जाते है इसलिए ग्राहक को आगे के लिए पक्का करने के खयाल से वह उन पर इतनी मेहरबानी करता है कि दूल्हे के मित्रो का बुला कर उनमें से दो बाँके छरहरो के *नाम उन दोनो सेहरो के अंतिम पदो में फिट कर* देता है। न सिर्फ यह, बल्कि सेहरे पढ़ने की रिहर्सल भी उन्हे अच्छी तरह करा देता है।

इस काम से निबट कर वह फिर पुराने काम में हाथ लगाता है। शहर में एक बड़ी कपनी के मैनेजिंग डायरेक्टर आ रहे है। उनके अधीन चीनो की कितनी ही मिले है। शहर के व्यापारियो की सिंडीकेट की ओर से उन्हे अभिनन्दन पत्र दिया जा रहा है। उसे लिखने का काम कलम-घसीट के सिर पर पड़ा है। दस रुपये पारिश्रमिक मिलने की आशा है। सिंडीकेट से उसे यदा-कदा काम मिलता *ही रहता है इसलिए पेशगी वह माँग नही* सका, लेकिन यदि आगे काम लेना है तो इस अभिनन्दन-पत्र को समय पर देना है। सो वह विदाई पत्रो, मान-पत्रो और अभिनन्दन पत्रो की फाइल निकालता

है और तीन चार को मिला जुला कर एक अभि नन्दन पत्र तैयार कर देता है। वह लिखता है:

मान्यवर

हम शहरियों और व्यापारियों के लिए यह कितने सौभाग्य का दिन है कि आप जैसे कर्मठ और योग्य जनसेवी का स्वागत करने का शुभ अवसर हमें प्राप्त हुआ है। हमारे नगर की परंपरा ही त्याग और पर सेवा की है। उसी उज्ज्वल परम्परा के आप स्वयं एक स्तम्भ है। आपको आज अपने बीच पा कर हम अपने आप को सम्मानित और गौरवान्वित अनुभव कर रहे हैं, क्योंकि आपका आगमन हमें सच्ची जन-सेवा के भावों से भर रहा है। यह आपके महान् गुणों का ही प्रभाव है कि हम सब आपको विश्वास, दृढ़ता, त्याग और श्रम के रूप में मूर्तिमान देख रहे हैं। आपके इन्हीं गुणों ने आपको व्यक्ति से उठा कर संस्था बना दिया है।"

और इसी शैली में कलम-घसीट लिखता चला जाता है, और मानव के जितने भी गुण वह सोच सकता है वे सब उन मैनेजिंग डायरेक्टर महोदय में दिखा देता है।

कलम-घसीट आखिर लेखक है कभी कथा लेखक और कवि भी रहा है। वह जरूर भावुक अनुभूति-प्रवण, और हस्सास होगा। उसका कोई मित्र कभी-कभी सोचता है, 'फिर क्या इस सब काम से जिसे उर्दू के एक हस्सास कवि ने खिश्त कोबी याने ईंट पत्थर तोड़ने का नाम दिया है, उसका जी नहीं ऊबता? क्या इस झूठी प्रशंसा चापलूसी और चाटुकारिता की बातें लिखते हुए, बिन दबे लोगों की प्रशस्तियां गाते हुए वह अपने आप पर झुंझला नहीं उठता? और उसका वह मित्र लेखक की भाव-प्रवणता का उल्लेख कर उसके विचार जानना चाहता है।

कलम-घसीट के विचार एक-से नहीं रहे। कभी जब उसके सपने का रेशमी पट यों तार-तार न हुआ था, उसकी आशा के किले की दीवार मजबूती से खड़ी थी, वह समाज की सड़ी-गली व्यवस्था को बदल देने के सपने देखता था। 'इस व्यवस्था को हम बदलेंगे।" वह घोषणा करता था, "हम कवियों और लेखकों के कंधों पर बड़ी भारी जिम्मेदारी है, क्योंकि हम जनता की सेना के टैंक हैं। हम एक तरफ विचारों के गोले बरसा कर इस क्रूर व्यवस्था को कायम रखने वाले शत्रुओं की पंक्ति में अफरा-तफरी पैदा कर देंगे और दूसरी तरफ अपनी आलोचनाओं के भारी पहियों के नीचे अव्याम को गुमराह करने वालों का चीम कर जनता के विजय-पथ को प्रशस्त बनाएंगे।"

पर धीरे धीरे उसके विचारों की तुन्दी मिटती गयी। उसने अपने-आप को तसल्ली दी कि परि-स्थितियों की कठिनाई के कारण उसे शत्रुओं से समझौता करना पड़ रहा है। उन्हीं के हथियारों से वह उनको परास्त कर देगा। इन स्थितियों पर अधिकार पा कर अपनी इच्छा के अनुसार लिखेगा, और दुनिया को नये सिरे से बनाने-सँवारने के अपने चिर-उद्देश्य को पूरा करेगा।

लेकिन इस बात को भी बरसों बीत गये हैं। अब तो कभी वह इन बातों के बारे में सोचता भी नहीं। नया काम जुटाने और हाथ के काम को निबटाने की चिन्ता में दिन-रात गर्क रहता है। यदि कोई मित्र उसकी आर्जुओं पर मुद्दतों से पड़ी उस राख को कुरेदना भी चाहता है तो वह सदा हँस कर, या मजाक करके या बात का रुख ही पलट कर उसके प्रयास को असफल कर देता है, क्योंकि उसे यकीन हो गया है कि राख के नीचे दबे उसकी आशाओं के अंगारे में, शायद बुझते बुझते अब चिनगारी-भर रह गया है, इतनी शक्ति भी नहीं रही कि वह दमक कर ज्वाला बन उठे। उसे तो यह भी डर है कि वह राख कुरेदने बैठेगा तो शायद उसके हाथ चिनगारी भी न आएगी। सो व्यंग्य-भरी मुसकान से वह एक-आध ऐसी सूक्ति से मित्रों की जिज्ञासा शांत कर देता है, कि

"लद्दू जानवर सोचेगा, तो भार कैसे ढोएगा ?"

या

"मजदूर का काम मेहनत करना है, फिलसफा बघारना नहीं।"

या

'विचार और फिलसफा भरे पेट, बेकार और कंधों के बोझ से आजाद लोगों की ऐय्याशी है। हमारे कंधों के बोझ ने दिमाग़ को सोचने की ऐय्याशी के योग्य नहीं रखा।' और परम तितिक्षावादी की तरह वह बड़ी-से-बड़ी राजनीतिक या सामाजिक घटना पर व्यंग्य से मुसकरा कर हाथ के काम को निबटाने में लग जाता है। लेकिन किसी कवि ने कहा है -

जिंदगी आग हो
आर है बार है
जब तलक कि रस न हो
जब तलक कि बस न हो

चूंकि वह शायद शाकाहारी है, इसलिए उसने परामर्श दिया है कि नीरसता को दूर करने के लिए

बाग में शौक से
संगतरे तोड़ के
उनका रस पीजिए
ऐश यों कीजिए।।

कलम घसीट भी निरामिष है क्योंकि मामिष खाना वह जुटा नहीं सकता। पर उसे इतने संगतरे मयस्सर नहीं कि वह उनका रस पी कर ऐश करे। वह एक संगतरा तभी चूस सकता है जब अपने बीवी बच्चों के लिए छह साथ लाए। कभी जब पैसे फालतू आ जाते हैं, तो वह उन्हें कोई धार्मिक या हास्य-रस की फिल्म दिखा लाता है। उसमें बीवी बच्चों का मनोविनोद हो तो हो, उसका इतना मनोरंजन नहीं होता कि वह यह इतना भार आसानी से ढो सके। लेकिन रस वह लेता है, और मजे की बात यह है कि अपने उसी कमर तोड़ देने वाले काम में लेता है। वह उससे स्वयं ही रस नहीं पाता, मित्रों को भी देता है।

जब उसके पास समय होता है और काम की जल्दी नहीं होती तो वह मनोविनोद के लिए सेहरे या बधाइयों या आशीर्वादों या अभिनन्दन पत्रों के विशेष रूपान्तर तैयार करता है और यों उनसे अपना और मित्रों का मनोरंजन करता है। यही जो लाला भगवानदास के सुपुत्र का सेहरा उसने लिखा है, उसका विशेष रूपान्तर कुछ यों है

सेहरा तेरा छप्पर है
सेहरा तेरा टट्टर है
रूख तेरा कहूँ गर सच,
टूटा हुआ छतर है।

बाराती तेरे रौशन,
भालू या बघेले हैं
औ तू मैं तेरे कुरबां,
अच्छा भला बन्दर है।

और उस अभिनन्दन-पत्र का भी दूसरा वर्शन उसके पास है वह इस दूसरे वर्शन में लिखता है :

"धूर्तेश्वर, हम साहूकारों और व्यापारियों के लिए यह कितने दुर्भाग्य का दिन है कि आप जैसे कामचोर, अयोग्य, जनघातक का स्वागत करने का संकट हमारे सम्मुख आ पड़ा है। हमारी सिंडीकेट की परम्परा घोर स्वार्थ और बदनीयती की रही है। इसी उज्ज्वल परम्परा के आप एक देदीप्यमान स्तम्भ हैं .."

और इसी शैली में उसने यह अभिनन्दन पत्र लिख रखा है, जिसमें मैनेजिंग डायरेक्टर और उसका स्वागत करने वाले व्यापारियों का ऐसा खाका खींचा है और वे राज की बातें कही हैं कि कलम घसीट और उसके मित्र इसे पढ़ कर ठहाके पर ठहाके लगाते हैं।

और जब एक चीज से तबीयत भर जाती है तो वह झट ही ऐसी कोई दूसरी चीज तैयार कर देता है। इन कृतियों में दरअसल समाज की ऐसी आलोचना है कि यदि ये छप जाएँ, तो समाज और उसके स्तम्भ आइने में अपनी सूरत देख कर स्तंभित रह जाएँ और पहली बार उन्हें मालूम हो कि लद्दू जानवर जब दिमाग भी रखता है, तो क्या-क्या सोचता है!

शमशेरबहादुर सिंह | तीन कविताएँ

और लो, वह आ गयी !

और लो, वह आ गयी
सोना नहीं चिड़िया नहीं कू-कू नहीं
वह सलोनी शाम की झिलमिल नहीं
वह कभी जो राग में घुटता हुआ घुलता हुआ मेला
निगाहों और आहों का लगा था
वह नहीं
जो
रेशमी रंगीन आशाएँ
चिताओं पर सजा कर
बुझ चुकी थीं
—नहीं वे भी नहीं
नहीं नहीं

एक और प्रपात
सरल सोने का
हलाहल कांति नव उत्साह कान्त
जिस्म पिघले मोम का-सा
लाल किरनों में सुलगते कली से होंट
तपे सोने से तरल रक्तिम कपोल
गात कमल उषाभ
कुल
आदिति-मधुर

हुई अब फिर से
मुग्ध जीवन में
एक और प्रपातमय नव प्रात।

वह नन्हीं-सी गुलाबी सुबह*

एकाएक याद फिर दिला दी नरूदा ने
"कसीदे में डूबा हुआ वह मर्सिया×" गा कर
उस नन्हीं-सी गुलाबी सुबह को,
उस शर्मीली पहली किरन को,
जिसे मैंने गोद में भी गुदगुदाया था,
मुश्किल से तीन-चार बरस हुए।

---

*एक मित्र के दिवंगत शिशु की याद में। ×"कसीदे में डूबा हुआ वह मर्सिया"—पाब्लो नरूदा के 'धरती वास' नामक अंग्रेज़ी में अनूदित संग्रह में एक कविता का शीर्षक है A Song with a Lament।

सहसा
वह
लाल नींद शहद चंदा अम्मा का दिल सब एक साथ
समय के पार से झांकती उस काली एक आंख को
भा गया,
जिसके घर धुंधले कोहरीले गढ़ों में
काले-काले गुलाब भरे हुए हैं,
जा कर वहीं चुपचाप सो गया सहसा ही
अनायास अनगिन तारों का हो गया वह
हाय क्यों ?

ओह मानव !
बिखरती पत्तियों के धूल-धुएँ-भरे झरों की धार में
गड़ समय की पत्तियों में . मड़ !
और...
—नहीं !
देखो, कैसा शान्त है पृथ्वी का अन्तर और
हवा के साल लाख तार कैसे मौन !
केवल उदास आग चूल्हे में
(अन्तरिक्ष में जैसे) हँस रही है,
एक मात्र में ही हैं क्या
शब्द में रमा मोह
उदास कवि की विडम्बना, आह !

भाई, सत्य ही गति है ।
हम असित-तम हैं पराजित !

केवल असित तम है पराजित ।
ओ किरन, तू
ओ अनन्त लबों नन्हीं सी घड़ी, तू
ओ अथाह गहरी नन्हीं-सी तड़प, तू
गोद में एक बेकस याद के हमारी
आज भी खेल रही है उसी प्रकार
उसी प्रकार !

एक शाम के कुछ क्षण

एक सीपी की चमक फैली सकल आकाश में।
शाम होती है धुली सी साँवली सी
मौन के परिवेश में
वह कबूतर रंग छितरा बादलों का —
शान्त आभा में हुआ नभ और भी शान्त ।

बहुत हल्के बैंगनी रूमाल पर इस ओर
कागजी बादाम-से छीले हुए, बादल पड़े हैं।
और धूमिल हो चले से नील पट पर,
और खाकी हो चले हैं
कागजी पीले-गुलाबी फूल
पश्चिम क्षितिज बन्दनवार के ।
और मटमैली छतें हो गयीं ।
उन पर, थके से आकाश में कुछ जन खड़े हैं,
देखते हैं शाम को मिटते हुए
इस नगर पर।

ᘐᘐᘐ

कमल जोशी

गुलाम, गुलाम—सब की सब गुलाम !

"हमारी मेमसाहब बहुत अच्छी हैं। बड़ी दयालु हैं। चल न, अभी उनके पास तुझे ले चलता हूँ।" पूरन ने खुश होते हुए कहा।

धड़कते हुए दिल से कुछ सकुचाते हुए गनपत ने जवाब दिया, "अभी रहने दो पूरन भैया ! फिर ले चलना। ठहरो, जरा यहाँ की मिट्टी ठीक कर दूँ।"

"नहीं रे, बाहर के किसी आदमी को बगीचे में हाथ लगाते हुए भी अगर साहब देख लेते हैं, तो उनका पारा फौरन चढ़ जाता है। पहले तू इस घर का आदमी तो बन जा। फिर सब सिखा दूंगा—क्यारियाँ बनाना, पानी देना, घास काटना और इन सब फूलों के नाम।"

"सब फूलों के नाम, पूरन भैया ?" गनपत कुछ विस्मित हुआ।

"हाँ-हाँ, सब के। अब चलो।" पूरन बोला, "अरे, तू इतना डरता क्यों है ? मेमसाहब हैं, तो क्या हुआ ? हैं तो मेम ही। मेम का मतलब है औरत।"

ऊन बुनने की सलाइयाँ रोकते हुए मेमसाहब ने अपना सिर ऊपर उठाया, "क्या है पूरन ?"

बहुत ही विनयपूर्वक पूरन बोला, "आपने एक आदमी के लिए कहा था न ? ले आया हूँ। हमारे देश का ही छोकरा है। यहाँ अपनी एक बहन के पास रहता था। अब जीजा ने इसे घर से निकाल दिया है। यदि इसे रख लें—सब काम जानता है। साहब का सारा काम अकेला सँभाल लेगा।"

"अच्छा, तुम इसे यहीं छोड़ जाओ। मैं अभी बातें करूँगी।"

सलाम कर पूरन के बाहर जाते ही गनपत के दिल की धड़कन फिर बढ़ गयी।

सामने की दीवार पर लगे हुए आइने में दोनों की छाया पड रही है। सिल्क से ढकी हुई दूध जैसी सफेद मूर्ति के पास मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए रूखे बालों वाला एक दुबला पतला लडका खड़ा हुआ है जिसके बदन पर धूल जमी हुई है। गनपत का सामने खड़े रहने में शर्म आ रही था। वह जरा हट गया।

गनपत ने कमरे म चारों ओर एक बार सरसरी नजर दौडायी। फर्श पर बहुत सुन्दर कार्पेट बिछा हुआ है, शायद फर्श की लज्जा ढकने के लिए। दूर खड़े रहने पर भी सिल्क की साडी के उडने हुए पहले से बहुत हल्की और भीना-भीना सुगंध फैल रही है। क्या मालूम, कौन सा सेंट या इत्र है। लंबी और धनुष जैसी नकीली भौहों के नीचे बडी बडी आँखें। गले की सलवटों म पाउडर भी नजर आता है।

"तुम यहाँ कहाँ रहते थे?" मेमसाहब ने प्रश्न किया।

"मटियाबुर्ज मे।"

"बडी बहन के यहाँ? सगी बहन है? जीजा ने क्यों निकाला? तुम्हारे जीजा कहाँ काम करते हैं? क्या करते हैं?"

गनपत ने एक प्रेस का नाम बताया।

और भी ऐसी ही दो-चार छोटी मोटी बातें मेमसाहब ने पूछीं। जवाब सुन कर शायद कुछ खुश भी हुईं। ऊन का गोला और सलाइयाँ एक ओर रखते हुए उठीं। दीर्घ शिखा जैसी देह है। उन्होंने अपना आंचल ठीक किया।

'ठीक है तुम्हें रख लिया गया, आज से ही काम शुरू कर दो।"

नुकीली सफेद उँगलियों की लाली पर नजर पडते ही गनपत की आँखें फटी-की फटी रह गयीं। शरीर की बनावट में इतनी सुषमा हो सकती है? अनजाने ही उसे अपनी अहिल्या बहन की याद आ गयी। प्राय तीन तरफ से बिलकुल बंद और धुएँ से भरे हुए उस छोटे से रसोई घर में चूल्हे चक्की के साथ साथ जैसे उनकी उँगलियाँ भी घिस-पिस गयी हैं, ठूँठ और कंकाल जैसी। अपनी इस सत्रह वर्ष की उम्र में गनपत ने जितनी भी औरतें देखी हैं, उनमें से किसी म भी इन मेमसाहब की तुलना नहीं हो सकती। जिसकी आँखें भीतर धँस गयी हों, गाल पिचके हुए हों, शरीर की हड्डियाँ गिनी जा सकें और पति के डर से जो थर थर काँपती हो—उस अहिल्या जीजी में ऐसा मोहक सौन्दर्य और सुषमा कहाँ होगी!

'आपने मुझे रख लिया मेमसाहब? लेकिन, लेकिन साहब—"

मेमसाहब जरा हँसी, "इसकी तुम फिक्र न करो। मैंने जो कह दिया वही होगा। साहब कुछ नहीं कहेंगे।"

ठीक उसी समय बाहर किसी के जूतों की आवाज सुनाई दी।

पहले ही पुरन ने सिखा-पढा दिया था। चरमर आवाज होते ही सीधा खडा हो गया। पुतले की तरह, एकदम अटेन्शन!

"कौन है?" मि० तलवार ने पूछा, अर्धमनस्क, पंखे का फुल स्पीड पर चलाते हुए।

इन्द्राणी बोली, "नया नौकर है। आज से ही इसे रखा है। उस आदमी से तो कोई भी काम नहीं होता था ."

"ओ!" मि० तलवार ने पूरी बात सुनने की भी शायद जरूरत नहीं समझी। टाई ढीली करने के लिए उन्होंने गले में हाथ लगाया।

गनपत के हाथ तब तक साहब के जूतों के फीते पर पहुँच चुके थे। तलवार साहब ने पैर आगे

बढ़ाये । कोच पर लुढ़कते हुए बोले, "जरा जल्दी-जल्दी हाथ चलाओ।"

खाना खाने के बाद तलवार साहब एक विलायती अखबार के पन्ने उलटने लगे। ठीक उलटना नहीं, बल्कि पन्ने की तेज हवा से आप ही आप उडने लगे। साहब तो सिर्फ अखबार पकड़े हुए थे। जरा सुस्ता रहे थे कि आँखें झपक गयीं। मेमसाहब एक कढ़ाई का नमूना ले कर बैठीं और उनके पैरों के पास मन्त्र-शान्त भुजग की तरह कुत्ता बैठ गया।

गनपत बरामदे में चला आया। दोपहर की धूप पेड़ों के पत्तों से छन-छन कर बगीचे में फैल रही थी। गनपत धीरे धीरे नीचे आया, सँभल-सँभल कर घास से बचता हुआ आगे बढ़ा। इस बगीचे में घास की भी खेती होती है।

पूरन की कोठरी में उस समय ताश का खेल जमा हुआ था। पास-पड़ोस के बंगलों से तीन-चार नौकर आ गये हैं। और तो और, सामने वाली कोठी का ड्राइवर प्रफुल्ल भी मौजूद है। गनपत को देखते ही पूरन बाहर निकल कर आया।

"क्यों रे, सब कुछ ठीक-ठाक हो गया न ?"

गनपत ने खुश होते हुए सब बता दिया।

"क्यों, मैंने पहले ही कहा था न," कुछ बुजुर्गाना ढंग से पूरन ने कहा, "लेकिन तू अभी तक गँवार ही है। मेमसाहब ने जब रख लिया तो फिर तुझे साहब की बात कहने की क्या जरूरत थी। अरे बुद्धू, ये क्या तेरे-मेरे घर की औरतें हैं। हमारी मेमसाहब स्वाधीन हैं। कितनी सभा-समितियों की वह पिरसीडेन और सिकत्तरी हैं, जानता है?"

गनपत कुछ नहीं जानता था, आँखें फाड़ कर देखता ही रह गया।

पूरन कहता गया, "अगर किस्मत के जोर से तू यहाँ टिक गया तो खुद ही सब जान जाएगा। सिर्फ हमारी मेमसाहब ही क्यों, लेडी चोपड़ा, मिसेज मलहोत्रा, मिसेज खान, इन सब को। ये सब दूसरे ही ढंग की जनानी हैं। जा, तू अपने काम पर जा। अब साहब के बाहर जाने का वक्त हो गया है।"

साहब तो बाहर नहीं गये। लेकिन हाँ, इन्द्राणी गयी। बरामदे में आयी, जँभाई ली और फिर मुँह पर हाथ रखा। जो हाथ मुँह पर रखा था, उसी हाथ के इशारे से उन्होंने गनपत को बुलाया। गनपत दौड़ता हुआ पहुँचा। उसके पैरों की आहट से कुत्ता भी चौंकता हुआ बाहर निकला। भूँकने ही वाला था कि इन्द्राणी ने हाथ के इशारे से ही कुत्ते को चुप रहने का आदेश दिया। बोलीं, "तुम इतने जोर से क्यों दौड़ते हो ? कुत्ता डर गया और अगर साहब की नींद खुल जाती, तो !"

लज्जा और भय से गनपत सकुचा गया। इसके बाद मेमसाहब ने उससे एक-दो छोटे-मोटे काम कराये। फिर दूसरे कमरे में घुसीं और कपड़े बदल कर नयी वेश-भूषा में बाहर आयीं। बोलीं, "मैं बाहर जा रही हूँ, गनपत, तुम यहीं रहो। साहब जब सो कर उठें तो ख्याल रखना।"

कुछ देर बाद ही साहब की नींद टूटी। पलकें कुछ भारी भारी थीं। अधखुली आँखों को प्रायः बंद करते हुए उन्होंने दो बार पुकारा, "इन्दु, इन्दु !" जब कोई उत्तर नहीं मिला तो उन्होंने अपनी आँखें पूरी खोलीं। गनपत को देखा।

"मेमसाहब कहाँ हैं रे ?"

"अभी-अभी बाहर गयी हैं।"

मेमसाहब को तो कोई डर नहीं था। लेकिन हाँ, गनपत डरा हुआ था। साहब से बिना कुछ कहे-सुने ही बाहर चली गयी हैं। अगर साहब बिगड़

गये तो ? लेकिन साहब ने कुछ नहीं कहा। सिर्फ इतना ही, "अभी ? क्या टाइम हुआ है ? साढे चार, ओ !" साहब चुपचाप उठे और बाथरूम में चले गये।

दो दिन बाद यही घटना गनपत अपनी अहिल्या जीजी को खूब हँस-हँस कर सुना रहा था।

गनपत की किस्मत खुल गयी है। साहब को कब किस चीज की जरूरत पड़े, इस ख्याल से ही उनके बेड रूम के सामने वाले बरामदे के आखीर में एक छोटी सी कोठरी उसे रहने के लिए दे दी गयी है। सिर्फ यही नहीं, बल्कि दो कमीज खरीदने के लिए मेमसाहब ने उसे एक दस रुपये का नोट दिया है। उसमें से दो रुपये बचा कर वह अहिल्या जीजी को देने आया था।

अहिल्या बहुत खुश हुई। 'नौकरी लग गयी है, सच गनपत ? साहब के यहाँ ? अंग्रेज साहब है ?"

"अंग्रेज साहब नहीं हैं।" लेकिन इतनी सारी बातें अहिल्या जीजी को बताने से क्या फायदा। गनपत ने मेमसाहब की ही सैंकड़ों प्रकार से व्याख्या की। कैसे साज-शृंगार करती हैं, कैसे कपड़े पहनती हैं। कितनी सुन्दर और स्वाधीन हैं। खुद ही मोटर ड्राइव करती हैं। किसी की भी परवाह नहीं करती। यहाँ तक कि साहब की भी नहीं।

गाल पर हाथ रखे अहिल्या बड़े ध्यान से सुन रही थी। उसकी आंखों में विस्मय था। अन्त में बोली, "लेकिन, देख भैया, उस दिन तेरे जीजा से बिना पूछे जरा सिनेमा देखने चली गयी थी, तो उन्होंने मुझे कितना मारा था। तुझे याद नहीं, गनपत ?"

"याद नहीं ? बहुत अच्छी तरह याद है।"

उस दिन बैंड बजाते हुए चार-पांच आदमियों की एक टोली सिनेमा का हैंडबिल बाँटती हुई जा रही थी। एक हैंडबिल अहिल्या ने भी उठा लिया था। दोपहर को गनपत को दिखाया, "जा, जल्दी से दो टिकट ले आ।"

"लेकिन पैसे ?"

इसका प्रबन्ध भी अहिल्या ने कर लिया था। पुराने कपड़े और दो-चार टूटे-फूटे बर्तन आज ही बेचे हैं। नकद दो रुपये मिले हैं। इन रुपयों के बारे में नन्दू को कुछ पता नहीं।

लेकिन तो भी गनपत की इच्छा नहीं हुई, पैर *आगे नहीं बढ़े। बोला, "जीजा जी को अगर पता चल गया तो वे बहुत नाराज होंगे।"*

"उन्हें पता चलेगा तब तो !" अहिल्या ने हँसते हुए कहा, "आजकल कई दिनों से ओवरटाइम कर रहे हैं। हजरत रात दस-साढ़े-दस बजे से पहले *लौटते ही नहीं। हम लोग तो* इससे पहले *ही आ* जाएँगे। तरकारी बना कर रख दी है, लौट कर रोटियाँ सेक लूँगी।"

लेकिन उस दिन *नन्दू जल्दी लौट आया था। ओवरटाइम की लिस्ट में अपना नाम न* देख कर उसका मिजाज बिगड़ गया था। घर आ कर देखा कि ताला लगा हुआ है, तो पारा और भी ऊपर चढ़ गया। काठ की सीढ़ियों पर बैठ कर एक के बाद एक बीड़ी फूंकने लगा।

गनपत ने काफी दूर से ही बीड़ी की चमक देखी। समझ गया कि आसार अच्छे नहीं हैं। उसका दिल धड़कने लगा। खुली हवा में जरा सांस लेने के लिए वह पीछे रह गया।

बस्ती की इस गली में गैस या बिजली की रोशनी नहीं है। किरासिन की एक लालटेन है। पर वह भी रोज नहीं जलती। तो भी गनपत ने देखा कि मकान के दरवाज़े पर पैर रखते ही *नन्दू ने अहिल्या* जीजी की चोटी कस कर पकड़ ली, रावण ने जैसे सीता को पकड़ी थी। और फिर उन्हें घसीटता हुआ कमरे में ले गया।

काफी देर बाद चोर की तरह, दबे पांव गनपत आया था। बाहर चबूतरे पर ही वह सारी रात

पड़ा रहा। आकाश में असंख्य तारे जगमगा रहे थे, पर गनपत की दृष्टि उन पर नहीं थी। उसके सारे बदन में दर्द सा हो रहा था। शायद थकान की आग की वजह से, या काफी देर तक अहिल्या जीजी के सुबक-सुबक कर रोने की आवाज सुन कर।

दूसरे दिन, नन्दू जब काम पर चला गया, तब अहिल्या जीजी ने उसे मार के दाग दिखाये थे। सिर्फ पीठ पर ही नहीं, बल्कि नाक कान और गाल पर भी नीले निशान मौजूद थे।

"जीजा जी ने तुम्हें बहुत बेरहमी से पीटा है न, अहिल्या जीजी ?"

गनपत की अबोध दृष्टि का ख्याल कर अहिल्या ने कहा था, "वाकई भैया, कल हम लोगों से गलती की थी। औरत अपने पति के अधीन होती है। बिना उनसे पूछे, उनसे आज्ञा लिए बिना हम लोगों को नहीं जाना चाहिए था।"

अहिल्या जीजी सगी बहन नहीं हैं। दूर का रिश्ता है। लेकिन इससे क्या हुआ, बचपन में ही पड़ोस में रहती थीं। उससे दो ढाई साल ही बड़ी होंगी। दोनों का उठना-बैठना और खेलना साथ ही साथ होता था। इस कारण वह पहले नाम ले कर ही पुकारता था। जब अहिल्या तेरह चौदह साल की हुई, तो उसकी शादी हो गयी। दूल्हा नन्दकिशोर कलकत्ता में नौकरी करता था। शादी के बाद एक बार अहिल्या अपने मैके आयी थी—चौड़े लाल किनारे की धोती, माँग में सिन्दूर और माथे पर बिंदी। उससे सिर्फ दो वर्ष ही तो बड़ी थी, लेकिन अब, शादी के बाद मानो उसकी उम्र और भी दो साल बढ़ गयी।

भाई-बहनों की कापियों से पन्ने फाड़-फाड़ कर अहिल्या अपने पति को लंबी-लंबी चिट्ठियाँ लिखती थी। गनपत ही उन चिट्ठियों को डाक में छोड़ने जाता था। लिफाफे पर बहुत बना कर लिखा हुआ पता पढ़ते-पढ़ते उसे कंठस्थ हो गया था।

इस बार कलकत्ता आते समय गनपत वह पता एक कागज पर लिख लाया था; लेकिन तो भी ठीक ठीक पता लगाने में उसे चार दिन लग ही गये। ये चार दिन उसने महानगरी में चना-चिउड़ा चबा कर, सड़क के किनारे लगे हुए नल का पानी पी कर और फुटपाथ पर सो कर बिताये थे। लेकिन अन्त में काफी खोज और परेशानी के बाद पता-मोटा ठीक ठिकाने पर पहुँच ही गया।

खपरैल की छत, कच्ची ईंट और मिट्टी की दीवार, टीन का घेरा और टूटे किवाड़—यह देखते ही गनपत का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया था। निराशा ही हुई थी उसे। लेकिन फिर भी फुटपाथ से तो अच्छा ही है। कुछ देर सोच कर उसने कुंडी खटखटायी। अहिल्या गली में थी। वहाँ लगे हुए नल में नहा रही थी। अनजान आदमी को देखते ही उसने अपनी गीली धोती अच्छी तरह से लपेटी, सशंकित भाव से आगे बढ़ कर कलसी को जमीन पर रखा और जरा-सा घूँघट काढ़ कर खड़ी हो गयी। गनपत ने देखा, सरकंडे-जैसे सूखे और पतले पतले हाथ, आँखों के नीचे कालिख। अहिल्या की उम्र जैसे और भी चार वर्ष बढ़ गयी है। अब नाम ले कर नहीं पुकार सका, बोला, "अहिल्या जीजी ?"

अहिल्या ने जरा गौर से देखा, "कौन, गनपत ! मैं तो सोच में पड़ गयी थी कि कौन आ गया। आ-आ, भीतर आ। कब आया ?"

सारा हाल सुनने-सुनाने के बाद अहिल्या कुछ गंभीर और चिन्तित हो गयी, "मौसी अब नहीं है ? कब चल बसी ? मौसा सन्यासी हो गये ? उफ़ ! यहाँ रहने के इरादे से आये हो, अच्छी बात है। लेकिन यहाँ तो बहुत मुसीबत है। अब क्या बताऊँ ? इस कोठरी का हाल तो तुम खुद देख ही रहे हो। कहाँ जगह दूँ। तेरे जीजा तो छापेखाने में मामूली

काम करते हैं। उसमें हमारी ही अपनी गुजर-बसर नहीं होती।

यह ठीक है, लेकिन तो भी उसमें ही सब प्रबंध हो गया। बाहर चौतरे पर गनपत सो जाया करेगा। वे लोग जैसा रूखा सूखा खाते हैं वैसा ही वह भी खा लेगा। किसी प्रेस में वह गनपत को प्रूफ उठाने का काम दिला देगा, नन्दकिशोर ने आश्वासन दिया।

नन्दू स्वयं भी क्या कम बदला है! शादी के वक्त चेहरे पर एक रौनक और ताजगी थी, चिकने-चुपड़े बालों में सुगंधित तेल की महक आती थी। लेकिन अब गनपत ने देखा नन्दू के माथे के आधे बाल प्रायः सफेद और अधपके हैं। सिर्फ चार पाँच वर्ष में ही मनुष्य की उम्र इतनी बढ़ जाती है! उस बार जब नन्दू ससुराल गया था तो दनादन कैंची सिगरेट पीता था। अब बीड़ी फूंकता है और वह भी बहुत हिसाब से। अकसर खों-खों करके खाँसता भी है। बीड़ी पीता है तो क्या हुआ, नन्दू अब भी पहले-जैसी ही लम्बी-चौड़ी डींगें हाँकता है। पहली मुलाकात में ही गनपत ने कहा था "जीजा जी, मेरा कहीं काम लगवा दीजिए न। आप तो प्रेस के मैनेजर हैं।"

"मैनेजर?" नन्दू ने कहा, "नहीं, मैनेजर तो मैं नहीं हूँ। लेकिन हाँ, कह सकते हो। मैनेजर की कुर्सी पर जो साला बैठा हुआ है प्रेस का काम क्या वह खाक जानता है। सारा काम तो मुझे ही करना पड़ता है। बीस साल से कम्पाजीटरी कर रहा हूँ। आँखें बन्द कर यह बता सकता हूँ कि कितने स्लिप में कितना इस्टिक मैटर होगा। तुम बता सकोगे? या हमारा बी० ए० पास मैनेजर ही बता सकता है? मुझे मैनेजर बनाने के लिए अनेक प्रेस वाले मेरी खुशामद करते हैं, लेकिन मैं नहीं जाता। क्या जरूरत है, पुरानी नौकरी है। फिर, उसमें बहुत माथापच्ची और बकझक करनी पड़ती है। खैर, गनपत, तू कोई फिक्र न कर, कहीं-न-कहीं काम लगवा ही दूँगा।"

और कुछ दिनों बाद उसने काम लगवा भी दिया। प्रूफ उठाने का काम। यह काम आसान है। इसमें कोई विशेष ट्रेनिंग की जरूरत नहीं पड़ती। किसी का शागिर्द नहीं होना पड़ता। दो चार दिन गलियों का उठाने-धरने से ही आदमी उस्ताद हो जाता है।

महीना ठीक हुआ या नहीं, अथवा कितना ठीक हुआ नन्दू ने इस बारे में गनपत को कुछ भी नहीं बताया बोला, 'अभी सिर्फ काम किये जाओ। सीढ़ी में तुम सबसे नीचे हो और तुम्हें सबसे ऊपर पहुँचना है—जहाँ वह साला मैनेजर बैठता है, समझे?"

नन्दू सुबह आठ बजे चला जाता था, और गनपत उसके कुछ देर बाद जाता था। पहले कम्पोज होगा तब तो प्रूफ उठेगा। बाजार से साग सब्जी लेकर जब गनपत लौटता तो देखता कि अहिल्या जीजी गली में लगे हुए नल से पानी भर कर ला रही हैं। लेकिन कलसी के भार से जैसे दबी जा रही हैं, ठीक से चल नहीं पातीं। कमर झुक गयी है और हाँफ रही है। गनपत दौड़ता "लाओ अहिल्या जीजी, मैं कलसी ले चलता हूँ।"

ससुराल में इन कुछेक वर्षों में ही चूल्हा-चक्की और गृहस्थी के चक्करों में पड़ कर अहिल्या जीजी का शरीर सूख कर काँटा हो गया है। शरीर का सारा लावण्य भी जाता रहा है।

कभी कभी नन्दू की जूठी थाली का बचा-खुचा खा कर ही अहिल्या जीजी संतोष कर लेती। एक दिन गनपत ने यह गौर किया तो पूछा, "तुम्हारे लिए आज शायद कुछ नहीं बचा है, अहिल्या जीजी?" अहिल्या के होंठों पर हँसी खेल गयी। लज्जा और अभाव को हँसी से छिपाना चाहती, पर हँसी की दीनता किससे ढकती?

'है क्यों नहीं, लेकिन जरा-सा भी अन्न नष्ट नहीं करना चाहिए न! तू निरा बुद्धू है, गनपत।"

वह बूढ़ा नहीं है, शायद यह साबित करने के लिए ही कभी-कभी गनपत अपनी थाली का आधा खाना छोड़ कर उठ जाना चाहता, लेकिन अहिल्या उठने नहीं देती, "अन्न को यों बर्बाद कर रहे हो, क्यों ?"

"जीजी, पेट ठसाठस भर गया है। अब और नहीं खाया जाता। और हाँ, बर्बाद क्यों होगा ?"

बर्बाद नहीं होगा, तो और क्या होगा ? मेरा जूठा कौन खाएगा ?"

डरते-डरते, अपनी आँखे प्रायः बन्द करते हुए गनपत ने कहा था, "क्या, तुम नहीं खाओगी ?"

अहिल्या नाराज़ हो गयी, या दिखाने के लिए ही उसने ऐसा किया—"इतना बड़ा हो गया और तुझे अभी तक ज़रा भी अक्ल या तमीज़ नहीं आयी। पति की जूठन खाने से पुण्य होता है। लेकिन तेरी जूठन खाने से मेरा क्या फायदा " गनपत की इच्छा थी कि कहे, "मुझे पुण्य मिलेगा।" पर वह नहीं सका और दरअसल, अहिल्या को सिर्फ खाना नहीं मिलने की ही तकलीफ नहीं है। और भी एक तकलीफ है—डर। यह डर स्पष्ट नहीं है। प्रत्यक्ष नहीं है। लेकिन तो भी है। हवा की तरह, श्वास-प्रश्वास की तरह, अनजाने ही पलकें झप जाने की तरह।

शाम को नहा धो कर अहिल्या साफ-सुथरी धोती पहन लेती है। नन्दू के लिए ही पहनती है। तो भी, गनपत ने यह देखने में कतई भूल नहीं की है कि दरवाज़े पर नन्दू की बोली सुनते ही उसके चेहरे पर कैसी एक छाया नज़र आने लगती है। वह छाया प्रायः क्षण-भर में गायब हो जाती है। ज़रा देर बाद ही अहिल्या जीजी हँसती है। अहिल्या जीजी का हँसना पड़ता है, "आज इतनी देर ?"

सारा दिन काम करने के बाद नन्दू का मिजाज निर्चिड़ा रहता है। रूखे स्वर में क्या जवाब देता है, यह समझ में नहीं आता। फिर हाथ-मुँह धो कर ज़रा ठंडा होता है, अपनी पत्नी से कभी-कभी दो-चार हँसी-दिल्लगी की बातें करता है। अहिल्या जीजी हँसती है, हँसना पड़ता है। लेकिन तो भी वह हँसी, गनपत ठीक पकड़ लेता है, पीतल की कलसी के भीतर की छाया जैसी होती है—छिप जाती है, पर मिटती नहीं।

सिर्फ अहिल्या जीजी ही क्यों, पति-पत्नी के पारस्परिक संबंध के बारे में गनपत का यही अनुभव है। इस बस्ती में ही तो और भी अनेक परिवार हैं। उस तरफ रमेश और ललिता और इस तरफ बद्री और मीता। मानो ऐसे ही ठीक है। पति के लिए खाना बनाती हैं, कपड़े सीती हैं, एक साथ सोती हैं, हर साल बच्चा देती हैं; लेकिन तो भी न जाने कहाँ एक पराधीनता का सा पर्दा लटकता रहता है। एक ही सुख में, एक ही दुख में दोनों शरीक हैं। किन्तु फिर भी, दोनों जैसे एक बराबर नहीं हैं। एक प्रभु है और दूसरी दासी।

नहीं तो ज़रा सी अन्यमनस्कता या अन्य किसी कारण से जिस दिन दाल या सब्ज़ी जल जाती है, उस दिन अहिल्या जीजी का मुँह इतना क्यों सूख जाता है। आँखों और चेहरे पर आतंक का ऐसा भाव क्यों छा जाता है। कहती है "गनपत, अब आज तेरे जीजा मुझे नहीं छोड़ेंगे। सब्ज़ी कैसे जल गयी, बता तो सही।"

हाँ नन्दू भी कहता है हँसते हँसते। एक बार घुड़दौड़ में सवा रुपये की बाज़ी लगायी थी। लेकिन जीता नहीं। प्रेस की स्याही धो पोंछ कर घर लौटते हुए नन्दू ने कहा था, "तेरी जीजी को मालूम होगा तो बहुत बिगड़ेगी। कपड़े धोने का साबुन, सूता और दाल लाने के लिए ठीक हिसाब से पैसे दिये थे। अब मैं उससे क्या कहूँगा।" कहते कहते नन्दू की आवाज़ कुछ भारी हो गयी थी, चेहरा भी गंभीर था। लेकिन गनपत अच्छी तरह जानता है कि यह सब ढोंग है। नन्दू भला अहिल्या जीजी की

क्या परवाह करता है। जैसे बगल वाली कोठरी का रमेश अपनी पत्नी ललिता को नहीं करता। किसी किसी दिन रमेश बहुत रात को घर लौटता है। आते ही जोर से किवाड़े पीटना शुरू कर देता है। ललिता यदि कहती है "आज फिर पी कर आये हो", तो क्षण भर में ही रमेश विनय का अवतार बन जाता है। बहुत आजाजी से कहता है, "तेरे सिर की कसम। अब कभी छूऊँगा तक नहीं। तेरे पैर छूता हूँ।"

पैर छूना जरूर चाहता है। उस समय नशे के उतार के बाद पश्चात्ताप का भाटा आता है। लेकिन सच में छूता है या ललिता उसे छूने ही देती है। अनुनय विनय के बाद भी यदि ललिता चुप नहीं होती, तो फिर फौरन ही रमेश भलमनसाहत का यह नकाब उतार फेंकता है, दहाड़ता है और लात घूंसों से ललिता की अच्छी तरह मरम्मत कर देता है।

गनपत अब इन चीजों का आदी हो गया था। बावजूद इन सब बातों के दिन कोई बुरे नहीं कट रहे थे। कट भी जाते, अगर नन्दू की नौकरी एका-एक ऐसे ही न छूटती।

नौकरी छूटी। काम में किसी प्रकार की गफलत की वजह से नहीं। गैरहाजिरी के कारण भी नहीं। बल्कि शीशा चुराने के अपराध में। कुछ दिनों से टाइप कम होना शुरू हो गया था। दो-तीन दिन में केस-का-केस खाली होने लगा। चुपचाप कड़ी नजर रखी जाने लगी। सात दिन के भीतर ही नन्दू पकड़ लिया गया, रँगे-हाथों। फौरन ही उसे बर्खास्त कर दिया गया। पुलिस के सुपुर्द नहीं किया गया क्योंकि बीस साल का पुराना कर्मचारी था। मालिक ने माफ कर दिया, लेकिन नौकरी से अलग कर दिया। उसके साथ-साथ गनपत को भी। चोर-चोर मौसेरे भाई ही नहीं होते, साले-बहनोई भी होते हैं। यह कौन नहीं जानता कि गनपत नन्दू का ही आदमी है।

सब सुन-सुना कर अहिल्या गुम-सुम बैठी रही। फिर बोली, "अब क्या होगा?"

नन्दू ने ढाढ़स बँधाया, "कुछ फिक्र न करो, कहीं-न-कहीं तो मिलेगी ही। आखिर इतने वर्षों से इस लाइन में हूँ।"

लेकिन इतनी जल्दी और आसानी से नौकरी नहीं मिली। बदनामी बहुत तेजी से फैलती है, मक्रामक बीमारी की तरह। सबको न जाने कैसे मालूम हो गया कि चोरी के अपराध में नन्दू निकाला गया है। एक महीना बीत गया। इस एक महीने में नन्दू चुप नहीं बैठा रहा। चाय की दुकान के सामने बैठे बैठे उसने रेस के घोड़ों पर दाँव लगाये हैं। पाँच आने के बदले उसे सिर्फ एक बार ही दस आने मिले हैं। लेकिन इससे तो घर गृहस्थी का खर्च नहीं चल सकता। अहिल्या ने अपना पेट काट कर जो थोड़ा-बहुत जोड़-जाड़ कर रखा था वह भी खत्म हो गया। लेकिन नन्दू बहुत आशावादी है। हड्डियाँ निकले हुए अपने सीने को ठोंकते हुए बोला, "घबराओ नहीं, बस दो-चार दिन और। एक खबर मिली है। अगर सब ठीक हो गया तो बेड़ा पार है, समझी अहिल्या?" अहिल्या जैसे गूंगी है। कुछ बोली नहीं, अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से सिर्फ मुँह ताकने लगी। पता नहीं, कुछ समझा भी या नहीं।

एक दिन शाम को बाहर से आ कर नन्दू ने बड़ी जल्दबाजी मचायी, "अहिल्या, जल्दी से कपड़े बदल कर फौरन तैयार हो जाओ, सिनेमा चलेंगे।"

सिनेमा! सबेरे चना-चिड़वा खा कर किसी तरह पेट भरा है, और शाम के लिए तो वह भी नहीं है। अहिल्या ने आश्चर्य से पूछा, "सिनेमा!"

नन्दू ने धमकाया, "अरी, खड़ी-खड़ी मेरा मुँह क्या देख रही है। जा, साबुन से अपना मुँह-हाथ धो कर फौरन तैयार हो जाओ, जल्दी।"

"साबुन कहाँ है ?"

"क्यों, ललिता से ज़रा-सा टुकड़ा उधार नहीं ले सकती। नहीं देगी ? ज़रूर देगी।"

अहिल्या ने जितनी देर में अपने कपड़े बदले, उतनी देर में नन्दू ने अपनी सारी प्लान बतायी, "तुम क्या जानो एक बहुत ज़ोरदार टिप मिली है। रतन परफ्यूमरी का नाम सुना है न!" परफ्यूमरी किस चिड़िया का नाम है, अहिल्या यह नहीं जानती थी।

'तेल और साबुन बनाने वाली कम्पनी, और क्या, आज ललिता साबुन का ज़रा-सा टुकड़ा देने में खिच-खिच कर रही थी, दो दिन बाद तुम उसे एक नहीं बक्स-के-बक्स साबुन दे सकोगी। लेकिन हाँ, तब फिर हम लोग यहाँ नहीं रहेंगे।"

अहिल्या अपना सिर ढक रही थी, एकाएक हाथ से पल्ला खिसक गया— 'यहाँ हम लोग नहीं रहेंगे।" नन्दू ने बड़ी अकड़ और ठाठ से कहा, "हाँ, नहीं तो फिर कह हो क्यों रहा हूँ। रतन परफ्यूमरी के मालिक मनोहरलाल से मेरी मुलाकात हुई है। वे मुझे बाहर भेजना चाहते हैं–बिहार और उड़ीसा का सोल एजेन्ट बना कर। उनका माल बेचना होगा न! जगह जगह मुझे घूमना होगा।"

इतनी देर बाद अहिल्या की समझ में आया, "तुम फेरीवाले बनोगे?" कम्पोज़ीटर की पत्नी है अहिल्या। अपनी सामाजिक मर्यादा के संबंध में बहुत सचेत है। फेरीवाला तो और भी एक-दो मंज़िल नीचे हुआ।

"अरी, चल, चल। मैं फेरीवाला क्यों होने लगा। देखना, मेरे नीचे ही दर्जनों फेरीवाले काम किया करेंगे। इस लौंडे गनपत को भी मैं किसी-न-किसी काम में लगा ही दूँगा। यह काम बहुत ज़िम्मेदारी का है अहिल्या, बहुत रुपया जमा देने पर तब कहीं बड़ी मुश्किल से मिलता है। यह समझो कि मनोहर-लाल की मुझ पर कुछ विशेष कृपा हो गयी है, इसी लिए—"

इसी लिए मनोहरलाल के पैसों पर सिनेमा देखने जाना पड़ा।

सिनेमा में क्या हुआ था, उस दिन गनपत की समझ में यह नहीं आया था। वहाँ से वापस आ कर अहिल्या ने भला या बुरा कुछ भी नहीं कहा। कहानी कैसी थी, कितने गाने थे, कुछ नहीं। गनपत का भी कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ। प्राय तीन चार दिन बाद नन्दू ने कहा, "तैयार रहना, शाम को घूमने चलेंगे। मनोहरलाल अपनी मोटर ले कर आएगा।"

अहिल्या का मुँह एकदम पीला पड़ गया। नन्दू ने यह गौर किया या नहीं, पता नहीं। लेकिन गनपत की नज़रों से यह भाव परिवर्तन छिपा न रह सका।

"आज फिर!" उतरा और पीला पड़ा हुआ चेहरा नन्दू नहीं देख सका, पर उदास स्वर उसने ठीक सुन लिया। चिढ़ कर बोला, "यहाँ ही तुम कौन-सा काम कर रही ऐसा हो, बताओ। अरी अहिल्या, मनोहर के पास बहुत है लेकिन खर्च करने वाला कोई नहीं। इसी कारण तो वह हमेशा उदास रहता है और रुपये की परवाह नहीं करता। आज उसने ज़िद पकड़ी है कि बॉटेनिकल गार्डेन जाएगा।

"जाएगा तो जाए न!" अहिल्या ने कहा, "उसकी जहाँ मर्ज़ी हो वहाँ जाए। लेकिन हम लोगों के पीछे क्यों पड़ा है ?" इन बातों की कड़वाहट से नन्दू चिढ़ गया, "पीछे क्या पड़ा है। इच्छा हो तो जाओ और नहीं तो यहीं मरो। फिर मेरी नौकरी भी नहीं लगेगी।" स्थिर दृष्टि से एक बार पति की आँखों में आँखें डालते हुए अहिल्या ने कहा, "ठीक है, चलो।"

लौट कर आते ही अहिल्या एकदम चुप-चाप लेट गयी। गनपत ने पहले ही थोड़ा सा सत्तू खा लिया था। उस दिन फिर चूल्हा नहीं जला।

आँखों पर नया चश्मा था। भौंह के ऊपर छोटा-सा बैंडेज था। बहुत गुस्से में दूसरी ओर मुँह फेर कर गनपत जल्दी से चला गया।

सारी बातें सुन कर पूरन ने कहा, "इसमें इतने चिढ़ने और नाराज होने की क्या बात है। अहिल्या ने जो कुछ किया वह ठीक ही किया है, गनपत।" पूरन सब बातों पर ठंडे दिमाग से विचार करता है। बोला,"पति की आज्ञा मानना ही तो पत्नी का धर्म है। पति की इच्छा ही पत्नी की इच्छा है। पति से अलग सुख क्या है, अलग इज्जत क्या है!"

'तो भी," गनपत ने कहा, "इसलिए ही पर-पुरुष के साथ—"

"पर-पुरुष क्या होता है।" पूरन ने समझाया, "पति जिसके भी हाथ में सौंप दे, उसमें ही तो पति का ध्यान करना पड़ता है, जैसे गोपियाँ करती थीं। स्वयं को श्रीकृष्ण को सौंप देती थीं। नहीं पढ़ा? इसमें कोई पाप नहीं है, गनपत। अहिल्या का कोई दोष नहीं।

चार नम्बर बस्ती की दो नम्बर कोठरी में बिताये हुए दिन अब दुःखद स्वप्न की तरह लगते हैं। नाली की वह सड़ी दुर्गंध और फटे पुराने तथा मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए नर नारी यहाँ चलते-फिरते नजर नहीं आते। यहाँ तो सिर्फ फूलों की बहार है। हरी-हरी घास का नरम नरम गलीचा है। सुन्दर हवा है। और, मेमसाहेब।

कहीं किसी स्पोर्ट्स में मेमसाहब इनाम बाँट आयीं। बाहर से आते ही बिस्तरे पर लेट गयीं। सिर में दर्द है। माथे पर थोड़ा-सा ओडीकोलन छिड़क लिया। उससे भी दर्द कम नहीं हुआ। बाहर बैठा हुआ गनपत अस्फुट कराहने की आवाज सुनता रहा। कुछ देर बाद मेमसाहब ने बहुत धीरे से उसे पुकारा। छोटा-सा रूमाल सूख गया था, उसे फिर भिगो कर लाने का आदेश दिया। शयनकक्ष में बाथरूम संलग्न है। वहाँ आने-जाने में ही गनपत को दो मिनट लग गये। इन्द्राणी ने कातर स्वर में पुकारा, 'गनपत, जल्दी ला न। इसमें इतनी देर का क्या काम?" वह चौंका। काँपते हुए हाथों से उसने भीगा हुआ रूमाल मेमसाहेब के हाथ में रख दिया।

कुछ देर बाद ही तलवार साहब कमरे में घुसे। स्विच बोर्ड में हाथ लगाते ही इन्द्राणी ने कहा, "प्लीज डान्ट।"

"सिर-दर्द है?"

करवट बदलते हुए इन्द्राणी ने जवाब दिया, "यस, वेरी सीवियर।"

और दूसरे दिन सब ठीक हो गया है। कला-प्रदर्शनी का उद्घाटन करने जाएँगी। बिस्तरे से उठ कर मेमसाहब हाथ मुँह धोने गयी हैं। गनपत बिस्तर की सलवटें ठीक कर रहा है। चादर और तकिये तक में एक अस्पष्ट मधुर सुगंध है।

सैंडल की पालिश करने में देर हुई और जब डाँट पड़ी, तब गनपत को होश हुआ।

और एक दिन, बंगलोरी सिल्क की साड़ी गनपत ड्राई-क्लिनीग में धुलाने ले गया था। उसे खोलते ही मेमसाहब चीख उठीं, "यह क्या, यह कैसे फटी?" फौरन गनपत की बुलाहट हुई।

"इसको धुला कर कौन लाया है, तुम?

गनपत ने स्वीकार किया। उसे साड़ी देते हुए इन्द्राणी बोली, "जाओ, इसे अभी दूकान पर दिखा कर आओ। कहना, मैं पूरे दाम काटूँगी।"

गनपत चुप वहीं खड़ा रहा। मेमसाहब ने इस बार जोर से धमकाया, "जाता क्यों नहीं? खड़ा-खड़ा मेरा मुँह क्या ताक रहा है!"

गनपत की आँखो की पलकें नही गिरी। उसके पीछे की दीवार में बिजली की रोशनी लगी हुई है और सामने मेमसाहब हैं। एकाएक गनपत ने देखा, मेमसाहब के शरीर पर उसके सम्पूर्ण शरीर की छाया पड रही है। गनपत ने पहचानने में भूल नही की, वह छाया उसकी ही है।

इन्द्राणी ने फिर धमकाया। तब गनपत चुपचाप चला गया। लेकिन ऐसा लगता है जैसे कहीं कुछ हो गया है, इधर कई दिनों से गनपत यह स्पष्ट अनुभव कर रहा है।

बगीचे में पानी देना बंद है। घास सूख गयी है। हॉलिहॉक वायलेट, पॉपी, और प्रिमरोज निर्जीव हैं। कई पेडों की कलम टेढी हो गयी है, लेकिन अब उनकी कटाई नहीं होगी है। पूरन ने कहा, 'इस साल अब और फूल नहीं लगेंगे। यह सब फिजूल खर्च अब साहब ने बंद कर दिया है।" फिर जरा देर रुक कर बहुत उदास स्वर में बोला, "अब मेरी बारी है गनपत, मुझे भी निकाल दिया जाएगा।"

"तुम्हें निकाल दिया जाएगा, पूरन भैया!"

थोडे दिनों में ही गनपत को शहर की हवा लग गयी। अब उसको इस सहानुभूति मे आन्तरिकता नही है। शायद वह यह भी भूल गया है कि पूरन की सिफारिश से ही उसकी यहाँ नौकरी लगी थी। 'तुम्हे निकाल दिया जाएगा, पूरन भैया!' किसी के पुत्र-वियोग की खबर सुन कर मेमसाहब फोन पर जिस स्वर और ढंग से शोकातुरा को सान्त्वना देती है, गनपत की आवाज में भी वैसी ही अनात्मीयता और उत्ताफहीन नागरिकता की पूरी पूरी झलक है।

असल बात का धीरे धीरे पता चला। शेयर-मार्केट में तलवार साहब अपना सर्वस्व गँवा चुके हैं। खुले हुए पिंजडे से चिडिया के उडने की तरह सारा नक्द रुपया फुर्र हो गया। सुना है कि यह मकान भी गिरवी रख दिया गया है। सिर्फ मोटर बची है। बंद दरवाजे के बाहर कुत्ता टें-टें करता है, लेकिन उसकी ओर कोई ध्यान नही देता। कमरे के भीतर साहब और मेमसाहब की चख-चख होती रहती है। जब देखो तब कलह। दीवार के सहारे बाहर बैठा हुआ गनपत ऊँघता रहता है। भीतर क्या बात हो रही है वह उसकी समझ मे नहीं आता। सिर्फ जोर-जोर से क्रुद्ध गर्जन की आवाज सुनाई पडती है। कभी-कभी गनपत चौंक उठता है। पर्दा हटाते हुए मेमसाहब अभी बाहर निकलेंगी, उंगली के सिर्फ एक इशारे में उसको भी निकाल दिया जाएगा। बगीचे के फूलों, लॉन की हरी घास और दीवारों के डिस्टेम्पर का जो हाल हुआ है वही हालत गनपत की होगी। गनपत स्टूल को कस कर पकडता है। उसकी आँखों में पानी आ जाता है। वह नहीं जाएगा, नहीं जा सकता। दबे पैरों से वह आगे बढ कर दरवाजे से कान लगाता है। कुर्सी पर एक पैर और हाथ रखे और दूसरा हाथ पैन्ट की जेब में डाले हुए साहब खडे हैं। स्पष्ट ही बहुत उत्तेजित हैं।

'नहीं बताओगी, तुम अपना हिसाब-किताब नहीं बताओगी?"

"नहीं। घर गृहस्थी के खर्च के रुपयों में तुम हाथ नहीं लगा सकते। वह रुपया मेरा है।"

"तुम्हारा है!" साहब ऐसे हँसे, जैसे खिडकियों के सारे शीशे एक साथ झनझना उठे हों। "तुम्हारे! तुमको कौन जानता है, इन्दु। सब लोग मिसेज तलवार को पहचानते हैं। यहाँ कौन-सी चीज तुम्हारी है। घर खर्च की बात जाने दो। अगर मैं चाहूँ तो क्षण भर में तुम्हारे कैश-बाक्स की चाबी छीन सकता हूँ। देख सकता हूँ कि तुम्हारी पास-बुक में कितने रुपये जमा हैं। और अगर जरूरत हुई तो हीरे के ये टॉप्स भी तुम्हारे कानों से खींच सकता हूँ। समझी?"

गनपत काँप उठा। दीवार को कस कर पकड लिया। लेकिन वहाँ से हटा नहीं। इस आदमी की

सभ्यता का नकाब मानो एकदम ही टूट जाएगा। लेकिन नहीं, इन्द्राणी एकदम सीधी खड़ी हो गयी—देवी की मूर्ति की तरह। इस समय मानो साहब से भी ज्यादा ऊँची और बड़ी हो गयी हैं। देवी की तरह हाथ में अस्त्र-शस्त्र तो नहीं है लेकिन भंगिमा वैसी ही है। सीना तना हुआ है और जलती हुई आँखों में घृणा है। इन्द्राणी ने अपनी अँगुली उठायी—तेज चाकू की तरह, और रंजित नाखून बिजली की तरह चमक उठे —"जाओ, तुम फौरन यहाँ से चले जाओ, जाओ।"

उस समय इन्द्राणी के पैरों पर गनपत मूर्छित हो कर गिर सकता था। इन्द्राणी ने असम्भव को सम्भव कर दिखाया। उसकी अहिंस्या जीजी जो नहीं कर सकी, उस असाध्य को मेमसाहब ने सिर्फ एक निर्भीक अँगुली उठा कर ही साध्य कर दिया।

साहब के कमरे से बाहर जाते ही मेमसाहब लेट गयीं, बिजली बुझा कर। साहब जब बाहर गये तो पूरे दस दिन तक लौट कर ही नहीं आये। बगीचा तो पहले ही मुरझा चुका था। अब बरामदे में भी जाले लगने लगे, पर्दों पर धूल और फर्श मैला रहने लगा। इस ओर मेमसाहब का कोई ध्यान ही नहीं है। उनके होठों की मुसकराहट गायब हो गयी है। मुसकराहट की जगह कठोरता और दृढ़ता आ गयी है। कपड़ों में अब एसेन्स की खुशबू नहीं है। इन कई दिनों में मेमसाहब ने जरा भी प्रसाधन नहीं किया है, न उन्होंने गनपत को ही बुलाया है। तो भी गनपत दूर से ही सब कुछ देखता रहता है। इन्द्राणी विद्रोहिणी है, बन्दिनी है, लेकिन तो भी विजयिनी है।

दस दिन बाद फिर कमरे में फुसर-फुसर बातें सुन कर गनपत अचम्भित हो गया। पूरन ने बताया, "कल साहब आ गये न! रात की गाड़ी से आये थे, प्रायः आधी रात को। सुना नहीं? साहब बम्बई गये थे।"

"क्यों?" बेमतलब ही गनपत ने पूछा।

काफी पुराना नौकर है। पता नहीं, फौरन ही इसे सब बातों की खबर कैसे मिल जाती है। बोला, "साहब की बहुत दिनों से एक फिल्म कम्पनी खोलने की इच्छा है। शेयर-मार्केट में सर्वस्व गँवा कर उनकी वह इच्छा अब और भी प्रबल और उग्र हो गयी है। थोड़े बहुत रुपये इधर उधर से ले कर उन्होंने इकट्ठे कर लिये हैं। बम्बई से चार-पाँच आदमियों को और भी पकड़ लाये हैं। सारा रुपया तो वे ही लोग लगाएँगे। यहाँ टालीगंज में ही फिल्म बनाएँगे।

"वे सब लोग हैं कहाँ?" गनपत ने पूछा।

"ग्रांड होटल में ठहरे हुए हैं। आज शाम को यहाँ जोरदार पार्टी होगी, तब देखना।"

साहब कमरे से निकल कर बरामदे में आये। नीले आकाश की ओर देखते हुए कुछ देर तक सीटी बजाते रहे। कुत्ते को गोद में उठा कर प्यार भी किया। मेमसाहब भी पीछे-पीछे आयीं। तलवार साहब ने कहा, "तो अब मैं जाता हूँ। छह बजे से पहले ही उन सब लोगों को ले आऊँगा। तुम यहाँ सब ठीक-ठाक रखना। होटल में फोन कर देना, सब सामान आ जाएगा।"

"मुझसे यह सब नहीं होगा।"

साहब नाराज नहीं हुए, हँसे, "नॉटी गर्ल, मेक एज एवर।"

"शाम को मुझे काम है। आर्ट गैलरी में सिम्पोज़ियम है।"

"टू हेल विथ योर सिम्पोज़ियम।" साहब ने कहा, "नहीं-नहीं तुमको यह काम करना ही होगा, इन्दु। इस काम के होने पर ही मेरी भलाई है, तुम्हारी भलाई है। यू कैन डू इट, एण्ड आई नो यू विल।"

मेमसाहब ने कोई जवाब नहीं दिया। धीरे धीरे कमरे में चली गयीं। गनपत छिप कर देख रहा था। सोफा पर इन्द्राणी लेटी हुई है। आँखों पर उन्होंने

विद्यानिवास मिश्र | 'मेघदूत' : राष्ट्रीय काव्य

'मेघदूत' भारत का राष्ट्रीय काव्य है—सुन कर किसी को चौंकने की जरूरत नहीं। स्काटलैंड वाले बर्न्स को अपना राष्ट्रीय कवि मानते हैं, इसलिए नहीं कि उसने स्काटलैंड की वीरता के गीत गाये हैं, या स्काटलैंड निवासियों को किसी युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया है, या स्काटलैंड के इतिहास की कोई गाथा गायी है, बल्कि इसलिए कि वह स्काटों की प्रकृति और स्काटलैंड की धरती की प्रकृति का सामंजस्य स्थापित करने में सफल हुआ है। उसने दोनों की आत्मा पहचानी, उसकी प्रत्येक काव्य-पंक्ति उस प्रत्यभिज्ञान के संस्पर्श से पुलकित है। ठीक यही बात 'मेघदूत' के बारे में कही जा सकती है। 'मेघदूत' में किसी रघु या राम या अर्जुन की वीरगाथा नहीं है, किसी अश्वमेध-पराक्रमी के दिग्विजय का वर्णन नहीं है, यहाँ तक कि कोई भी ऐतिहासिक आख्यान नहीं है, पर फिर भी वह समूचे राष्ट्र की भौगोलिक और सांस्कृतिक चेतना की पुंजीभूत राशि है, जिसमें प्रत्येक युग में प्रत्येक भारतीय हृदय अपने स्निग्धतम क्षण का प्रतिबिंब पा सकता है, अपने जीवन की चरम मंगलमय उपलब्धि जोड़ सकता है और साहित्य का जो मूल लक्ष्य लोक-मंगल है, उसका अत्यंत सहज-बोध्य रूप अपने हृदय में बसा सकता है। मेघदूत का आशीर्वचन है

मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः

अर्थात्, क्षणमात्र के लिए भी जड़-चेतन, किसी भी जगत् में, दो संवादी तत्वों का विश्लेषण न हो और इसीलिए हजारों कोस की दूरी लांघती हुई भी मेघदूत' की वह यात्रा विन्ध्य और हिमालय के एकीकरण के लिए सरस प्रयत्न है, बल्कि ऐहिक प्रेम-साधना और पारमार्थिक भक्ति के बीच तादात्म्य-

साधना की सिद्धि भी है, खेतिहर और वनवासी के उन्मुक्त उल्लास के साथ नागर, परिष्कृत वक्ता का मधुर परिचय भी है।

मैंने 'मेघदूत' की कहानी कई दृष्टियों से कई बार पढ़ी है। शुद्ध प्रेम कहानी के रूप में मैंने इसका रस ग्रहण किया है, प्रकृति-वर्णन के सूक्ष्म निरीक्षण के रूप में आस्वादन किया है, कलात्मक अभिव्यक्ति को परखा है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के साथ इसके पारमार्थिक शिव साधना के प्रेम को भी समझने की कोशिश की है। भारतीय जीवन के स्वस्थ दर्शन की प्रतिच्छाया पायी है और इतिहास की एक अत्यन्त मधुर अनुगूंज सुना है और हर बार मैं सम्मोहित हो गया हूं। हर बार माना मेघदूत ने मनसातीत सत्य को उघाड़ कर रख दिया है।

जो लोग कहते हैं कि यथार्थ और आदर्श के बीच समझौता नहीं हो सकता, कल्पना और यथार्थ्य में कोई जोड़ नहीं बैठाया जा सकता, या इतिहास और भूगोल के बीच कोई सामंजस्य नहीं हो सकता, या नगरों के परिष्कृत जीवन के साथ गांव के निर्व्याज जीवन का गठबंधन नहीं हो सकता या उद्दीपन और आलंबन में कोई ऐक्य नहीं हो सकता उनके लिए 'मेघदूत' एक चुनौती है।

'मेघदूत' में केवल मेघ के मन्द गर्जन से मानस गामी राजहंसों की उत्कंठा जगाने की ही बात हो१, सो नहीं बल्कि उसके मंगल-वारियों से धरती के साफल्य और धरती की वाणी के साफल्य का भी उदय है और यह बात बहुत महत्त्व की है। विरह का काव्य होते हुए भी मंगल की सृष्टि ही उसका मुख्य लक्ष्य है इस बात की ओर 'मेघदूत' में स्थान-स्थान पर अत्यन्त मनोरम ढंग से संकेत कराया गया है। कहीं वप्रक्रीडा का स्मृति जगा कर२, कहीं चातकों के मधुर निनाद का गुंजित करके३, कहीं पथिक वनिताओं को आश्वासन दे कर४, कहीं विष्णु के सौन्दर्य का समता प्राप्त करके५, कहीं कृषि फल की कृतज्ञता से प्रीति पियत्वा करके६, कहीं पके आम की सफलता में धरती का मातृत्व सफल करके७, कहीं अपनी मुरज-ध्वनि से ताण्डव नृत्य की साध पूरी करके ८ कहीं अपनी मंगल-सृष्टि कदंब के फूल को सीमन्त में सजा करके९ और कहीं स्वयं विभिन्न आमोद-क्रीडाओं में उपकरणीय हो कर१० 'मेघदूत' उस व्यापक रूप में प्रवहमान जनोल्लास को बरसाता है, जिसकी प्यास धरती का बराबर लगी रहती है और जिसकी किसी भी मात्रा से वह कभी नहीं अघाती।

'मेघदूत' को समझने के लिए विशाल हृदय की जरूरत तो है ही, लेकिन उससे भी अधिक जरूरत है यह समझने की कि मेघदूत न केवल एक शाप प्रवासित यक्ष की विरह-जल्पना है बल्कि वह भारत के आराध्य देवता द्वारा प्रत्येक युग के आत्म-विश्लेष की वेला में भेजा गया, आश्वासनमय, ममतामय मंगलमय, मधुर सन्देश है जो उस विश्लेष को अपनी परिप्लुति में एकदम बोर देना है। जब तक यह चीज नहीं समझी जाएगी, 'मेघदूत' के चरितार्थ तक नहीं पहुँचा जा सकता। 'मेघदूत'

---

१ तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्का २ आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं वप्रक्रीडापरिणत-गजप्रेक्षणीयं ददर्श। ३ वामश्चायं नदति मधुरश्चातकस्ते सगन्ध। ४ आरूढं त्वां पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ता प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिता. प्रत्ययादाश्वसन्त्य। ५ येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते। बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णो॥ ६ त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः। ७ छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रैस्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे। नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां मध्ये श्यामः स्तन इव भुवश्शेषविस्तारपाण्डुः॥ ८ निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत् कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्। सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥ ९ सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् १० तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं। नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्।

की समस्त काव्य-योजना राष्ट्र देवता की एक महान् परिभाषा के निर्माण में विनियोजित हुई है, जो इतिहास, संस्कृति, भूगोल, जनजीवन, विज्ञान और दर्शन की सभी मान्यताओं और विभिन्न-रेखाओं की सम्मिलित-भूमि का निर्माण करती हुई राष्ट्र के प्रत्येक अवयव और कण के साथ हृदय का साक्षात्कार करा देती है। वह केवल चार घड़ी के लिए उत्तेजना नहीं जगाती, नसों में गरम लोहू नहीं उबालती बल्कि राष्ट्र के जितने भी घटक हो सकते हैं, उन सभी के साथ ऐसा गहरा अनुराग भर देती है कि राष्ट्र व्यक्ति के जीवन का अंग बन जाता है।

कुछ लोग पूछ सकते हैं कि क्या उद्दाम विलास के वर्णन, "नीवीबन्धोच्छ्वास", प्रणयी के उत्सग में दुकूल का विस्रसन, शृंगार सिद्ध करने वाले कल्पवृक्ष के वितान, और स्वप्न अथवा चित्र में, सम्मिलन के प्रयत्न राष्ट्रीयता के लिए उपकारक हो सकते हैं? और क्या यह राष्ट्रीयता काम्य होगी? इसका उत्तर देना आज के बाह्य नैतिकतावादी युग के मानों को देखते हुए बहुत कठिन है, पर इस देश की प्रकृति में जिस स्वस्थ उपभोग के बिना—दूसरे शब्दों में जिस ऐषणा के बिना, जिसका ऐश्वर्य व्यर्थ माना जाता रहा है और इसलिए जिसका जीवन भी खण्डित माना जाता रहा है—अकुंठित, अहर्निश, निर्व्याज स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की स्थापना करायी जाती है, वह समूचे समाज के मंगल के लिए है, केवल व्यक्ति के क्षणिक सुख के लिए नहीं।

मेघदूत' की कथा-योजना के पीछे मूल हेतु—जो यद्यपि स्पष्ट रूप में नहीं कहा गया है, पर समूचे कथा प्रवाह में जिसका संकेत सूक्ष्म रूप में कई स्थानों पर किया गया है—शिव की अर्चना में प्रमाद है और उस प्रमाद के अनुताप का ही परिशोध है मेघ द्वारा संदेश वहन। कहा यह जाता है कि यक्ष जब नये परिणय के रस-रंग में एकदम डूब गया, तो उसे अपने उस कर्तव्य के बारे में सावधानता न रह गयी, जो उसे धनपति ने सौंपा था। अलकापुरी शिव की छत्रछाया में बसी हुई नगरी है, और शिव की आराधना के विभिन्न कार्य विभिन्न व्यक्तियों के जिम्मे सौंपे रहते हैं। 'मेघदूत' का नायक फूल चुनने के काम में नियुक्त था और शिव के मस्तक पर बासी फूल चढ़ाना मना है, यह जानते हुए भी यौवन के उन्माद में उसने नये फूल चुनने के परिश्रम से जी चुरा कर कुछ दिनों तक लगातार बासी फूल दिये, और यह प्रमाद उसके अभिशप्त प्रवास का कारण बना। इस प्रमाद का प्रायश्चित्त भली भाँति वहीं हो सकता था, जहाँ यौवन और ऐश्वर्य की वे सुविधाएँ, जिनमें मग्न रहने के कारण यह हुआ, छीन ली जाएँ, और इसीलिए शिव के पुनः परितोष के लिए वह रामगिरि की छाया में बसेरा लेता है, क्योंकि शिव और राम परस्पर आराध्य-आराधक दोनों हैं। राम मानव की कल्याण-साधना के साथ ही साथ केवल अपनी साधना के कारण साध्य से भी अधिक महनीयता के मूर्तिमान् आलम्बन हैं। देवताओं की भूल का उद्धार भी मानव शरीर में ही कराने की परम्परा बराबर साहित्य में रही है और लोक के परम मंगल के आराधक कालिदास ने भी उस परम्परा का अनुसरण किया है। कालिदास के शिव गतिशील मंगल के जीवित पुंज हैं और उनकी प्राप्ति के लिए जिस दूरगामी दृष्टि की आवश्यकता है, वह बिना नाना सर-सरिताएँ और गिरि कानन लाँघे आ नहीं सकती, बिना धरती के प्रत्येक अंचल से स्नेह पाये स्निग्ध नहीं हो सकती। इसीलिए कालिदास ने जिस माध्यम का सहारा लिया है, उसमें व्यापकता, गतिशीलता, सघन सरसता और सघन द्रवणशीलता, सभी एक साथ प्रकृति के वरदान के रूप में प्राप्त हैं। वह माध्यम शिव की उर्वर मूर्ति के सभी पदार्थों में ऐसा मिला हुआ है कि एक भी उससे विलग रह कर निष्प्राण हो जाए—

---

१. तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलाम्।

भूमिरापो नलो वायुः ख मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

और मीमांसा करने पर यह पता चलेगा कि मेघ मे धरती की तृप्ति, जल का बीज, तेज क रचना वायु की चेतना, आकाश का शब्द ब्रह्म, मन का विश्वगोचरता बुद्धि की पारदर्शिता और अहंकार की स्फीति, सब एक अद्भुत संयोग के कारण एकत्र संचित है। वह पौरुष के अर्द्धनिहत रूप का प्रतीक है जिसके लिए कुछ अप्राप्य नहीं है कुछ असम्भव नहीं है और जो आठों प्रकृतियों का अन्त मे वरण कर रच सकता है।

थोड़ी देर के लिए इतनी लम्बी-चौड़ी आध्यात्मिक व्याख्या में यदि हम न भी जाएँ तो कम से कम जो मेघ का स्थूल प्रभाव है, जिसके कारण वह खेतों में काम करने वाले कृषकों और कृषक वधुओं तथा महलों में फूलों की सेज बिछाने वाली रसिक जोड़ियों के लिए समान रूप से आश्वासन और पूर्ण-कामना का वाहक बन कर आता है, उसकी अमोघता तो सहज ही में समझी जा सकती है और इसी प्रकार शिव को भी उनके योगीश्वर के रूप में समझने में कुछ कठिनाई हो तो कम-से-कम शिव का जो सार्वजनिक उत्सवों के साथ एक एकाकार रूप जन मन में बसा हुआ है, उसकी प्रेरणा तो सहज-बोध्य हो सकती है।

कालिदास का काव्य अत्यन्त असंलक्ष्य रूप से लौकिक और आध्यात्मिक दोनों भूमिकाओं को एक साथ ले कर चलता है, यद्यपि एक क्षण के लिए भी वह लोक को नहीं बिसारता। संस्कृत का समग्र साहित्य लोक का साहित्य है और लोक के परम पुरुषार्थ न आधिक पाप्य करान का वह कभी दावा नहीं करता। उसका प्रत्येक लौकिक आनंद परमानंद का पर्यायवाची या आभासमात्र न रह कर स्वयं परमानंद के उद्भासन क्षण के रूप में देखा जाता है। शायद इसीलिए उसके साहित्य के प्रतिनिधि गायक कालिदास ने अपने प्रत्येक ग्रंथ में जो आरंभ में वन्दना की है वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस जगत की सृष्टि के चार केंद्रित शक्ति योग के रूप में शिवतत्त्व की प्रतिष्ठापना के लिए की गयी है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में भारतवर्ष के प्रथम सिंह पराक्रमी चक्रवर्ती भारत की उद्भव भूमि शकुन्तला की शक्ति का एक ओर उन्होंने परिचय दिया है, तो दूसरी ओर शिव की अष्टमूर्ति का ध्यान किया है१। 'रघुवंश' में एक ओर पार्वती और परमेश्वर की वन्दना की है, तो दूसरी ओर मानवी गिरा और उसके अर्थ की आराधना, और साथ ही साथ जगत को वात्सल्य से संचित करने के लिए एक माता पिता का अनुसंधान किया है२। 'कुमार सम्भव' में शिव की उर्वर कल्पना को स्फुरण देने वाली धरती का सीमाओं को अपनी बाहुओं में घेर कर गौरव के अधिष्ठान, देव-त्व के परम निलय, उत्तर-यान के साध्य हिमालय के अस्तित्व के साथ-साथ पृथ्वी के ऊर्ध्वगामी अभिमान की भी घोषणा की है३।

मेघदूत' में कवि ने एक साथ यौवनोन्माद जनित प्रमाद के परिणाम और उस परिताप के लिए धरती की सनातन सीता के स्नान से पवित्रीकृत जल के स्पर्श तथा राम के वनवास की स्मृति से शीतल छाया में निवृत्त जो आंकी है४, वह केवल इसलिए कि

१ या सृष्टि: स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री। ये द्वे कालं विधत्त: श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्। यामाहु: सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिन: प्राणवन्त: प्रत्यक्षाभि: प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टा-भिरीश: ॥ २. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगत: पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ ३. अस्त्यु-त्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज:। पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थित: पृथिव्या इव मान-दंड: ॥ ४ कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्त: शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येन भर्तु:। यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥

मनुष्य की दुर्बलता या उससे उत्पन्न दुर्दिन भी मंगल-कामना के लिए अनुर्वर न समझा जाए और व्यक्ति का दुर्वह से-दुर्वह और गहन-से-गहन दुख का क्षण भी चराचर विश्व के मंगल और आनन्द की आराधना करने के लिए सक्षम हो सके, जिसमें उसका दुख भी विश्व के आनन्द की एक कड़ी बन जाए।

वस्तुत कालिदास के एक शिवशेखर भक्त का विरह केवल शिव के चैतन्य के बहुमुखी प्रसार के परिदर्शन और उस परिदर्शन के द्वारा आत्म निवृत्ति के लिए है। जो लोग रचनात्मक कार्यों और समाज-सुधार के दिखाऊ साधनों पर बहुत बल देते हैं और यही सोच कर अपनी विरहिणी राधा या गोपी से नर्स या मजदूर नेता का काम कराये बिना जिन्हें सन्तोष नहीं होता, वे सचमुच समाज की मूल आनन्दवृत्ति के बारे में घोर अज्ञान रखते हैं। वस्तुत वे आनन्द को भी एक अभाव के रूप में ही समझ पाते हैं और इसीलिए पीड़ा के साथ उनकी सहानुभूति गहरी होती है, पर पीड़ा का बोध ही न हो, ऐसा भी कोई साधन हो सकता है और उसकी भी साकार उपासना की जा सकती है, इसका उन्हें ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वे अपने बोध के आगे नहीं देख सकते विश्व के उत्सव में वे एकाकार नहीं हो सकते, दूसरे के उल्लास में उनका हृदय नहीं मिल सकता और अपनी रुचि के आगे दूसरों की रुचि से उन्हें परिष्कार नहीं दीख सकता, और किसी भी सामूहिक गायन में वे अपना कण्ठ नहीं मिला सकते। ऐसे विसंवादी स्वर वाले व्यक्तिवादियों का जब प्राधान्य हो, या ऐसे समष्टिवादियों का बोलबाला हो जो समष्टि में कभी चैतन्य तत्त्व भरना ही नहीं चाहते, उस को जड़ बना कर ही रखना चाहते हैं, जिससे उसकी जड़ता से मनमाना लाभ उठाया जा सके, तब इन सब वादों से दूर शुद्ध रूप से एक महान कल्पना के द्वारा जन जन के मंगल को रूप देने वाले स्रष्टा की उपादान-सामग्री के बारे में चर्चा करना बहुत आवश्यक है। आज के रीतेपन को उस गौरव की पूर्णता से ही भरा जा सकता है जो कालिदास के काव्यों में से झलक रही है। आज की अनास्था को उस प्रत्यय का आश्वासन देना है जो कालिदास के वृक्ष, मेघ और पर्वत देते हैं। आज के क्षयकारी, पियराये अवसाद पर उस हरियाली का रंग चढ़ाना है जो सिद्धांगनाओं के कुतूहल की[1], जन-पद-वधू की सरल विस्फारित दृष्टि[2] की, पौरांगनाओं के चचल कटाक्षपात की[3], शिप्रा के पवन की मधुर चाटुकारिता[4] की, गम्भीरा के उन्मत्त आनन्द[5] की, गंगा के फेनिल मुक्तहास[6] की, शिव के पुंजीभूत अट्टहास की[7], सुर-युवतियों के कंगण-बन्धन में मेघ के श्रम[8] की, अलका की नव-वधू के प्रयोग में प्रत्येक ऋतु के कुसुम के शृंगार[9] की, यक्ष-कन्याओं के स्वर्ण-रज से मुष्टि निक्षेप-क्रीड़ा की[10], अलका के झरोखों में घुस कर जाने वाली मेघ की विड़म्बना[11] की, विरह के विनोद[12] की, प्रिय के

---

१ अद्रे शृंग हरति पवन किंस्विदित्युन्मुखीभि दृष्टोत्साहश्चकितचकित मुग्धसिद्धांगनाभि ॥ २. प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनै पीयमान । ३. विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौरांगनानां लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥ ४. यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमंगानुकूल शिप्रावात प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकार. ॥ ५. गम्भीराया पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्। ६. गौरी वक्त्रभ्रुकुटिरचना या विहस्येव फेनै । शम्भो: केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥ ७. तुंगोच्छ्रायै कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थित स राशीभूत प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहास ॥ ८. तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं नेष्यन्ति त्वा सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्। ९. हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्ध नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्री । चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं सीमन्ते च त्वदुपगमज यत्र नीप वधूनाम् ॥ १०. ह्रीमूढाना भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टि ११ शंकास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा यत्र जालै. धूमोद्गारानुकृति निपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥१२. शेषान्मासान् विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीमुक्तपुष्पै । सयोग वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती प्रायेणैते रमणविरहे ह्यङ्गनानां विनोदा ।

कुशल समाचार में समागम-सुख की प्राप्ति[1] को, तथा सन्देश-वहन की प्रत्याशा में ही कृतज्ञता स्वीकार के उपलक्ष्य में अखण्ड सम्मिलन की मंगल-कामना की, स्निग्ध श्यामलता के प्रसार में आदि से अन्त तक लहरा रही है।

आज की प्रान्तीय सीमाओं के विनाशकारी मोह को वह विशद दृष्टि देती है, जो रामगिरि की टेकड़ी पर घिरते बादल को मालदेश से लेकर हिमालय तक सचरण कराने के लिए अपने अनुनय से विवश करती है।

आज के पथ की खोज की लालसा को वह सीधा-सा चौरस रास्ता बतलाता है जो 'मेघदूत' ने पकड़ा है और जिस डगर में न कोई पलायन है, न कोई आत्म-सकोच है, न कोई चोर है न कोई डाकू है। पथ में नदियाँ हैं कूल है, वन है, वन की छाँह है, खेत हैं, खेत की जुती गन्ध है, मन्दिर हैं, मन्दिरों में मंगल-ध्वनि है, शैशव है, शैशव की वात्सल्य उमगाने वाली अठखेलियाँ हैं, तरुणाई है, तरुणाई का विलास है, बुढ़ापा है, बुढ़ापे का क्यारस है, सौंदर्य है, सौंदर्य का सुहाग है, कला है, कला में कलानिधि को छूने की उमंग के कारण अतुलित ज्वार है, भक्ति है, भक्ति में आत्म-निवेदन की पूर्णता है, स्थूल जगत है, उसमें फूल फल और पल्लव की समृद्धि है, अन्तर्जगत् है, उसमें चित्त की समस्त संभावित सात्विक चित्त-वृत्तियाँ हैं कुंठा, अतृप्ति, अरुचि, विरक्ति, कुढ़न और जलन से एकदम अछूती। संक्षेप में न तो उस पथ में वह आशंका है, जो यह कहने को बाध्य करती है कि "न सहसा चोर कह उठे मन में प्रकृतवाद है स्खलन क्योंकि युग जनवादी है।"

न वह छूंछा अभिमान है जो यह थोथी गर्जना करता है—

'आह में ऊँचा गगन औ नीच का पाताल आम् का नद' म

न उसमें फराजी होठों पर इस जिन्दगी की बर्बादी' है न उसमें कुछ क्षणों का प्रेयसी के स्पर्श से गीत में अमरत्व प्रदान करने का असफल विश्वास ही है। उसमें न वाणी की दीनता है, न वाणी में सत्य और ईमानदारी के वहन का बहुत बड़ा दुर्वह दायित्व ज्ञान ही। उसमें यदि कुछ है, तो स्वस्थ जीवन की चेतना है, विरह की कृशता में सौभाग्य का दर्शन है और कभी भी रीती न होने वाली चर अचर विश्व को भर देने वाली मंगल की पूर्णता है, परंपरा में गहरी आस्था है और इस आस्था में नव जीवन भरने की अतुलित शक्ति। ग्रंथि, भय, वक्रता जटिलता को छोड़ जो कुछ भी काम्य या मांगलिक हो सकता है, वह सब कुछ है।

मेघदूत का संदेश बहुत पुराना है, पर प्रत्येक युग में वह वैसा ही नया और वैसा ही स्फूर्तिदायक है। इसका कारण संदेश देने वाले की भावना है या उस युग के पूर्ण पुरुष विक्रम की परछाईं है, देश की प्रकृति के प्रत्येक अंग प्रत्यंग के विभ्रम विलास के साथ दृष्टि की तन्मयता है या अमृत घट के लिए जीवन के समुद्र का मन्थन है। पर उस संदेश के लिए आज लोग अधिक उत्कर्ण हों, संदेश वाहक के प्रति युगों युगों की कृतज्ञता की स्मृति में अधिक उद्ग्रीव हों और जब देश की उसकी स्वतन्त्रता से विश्लेष की अवधि पूरी हो गयी हो, आनन्द मिलन की वेला आयी हो तो उस विरह के सबल 'मेघदूत' के प्रति मेघदूत की ओर से कहीं फिर उदासीनता न आ जाए, कहीं जन-शिव की आराधना में वह प्रमाद न हो, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि 'मेघदूत' का संदेश बार-बार कहा जाए और अपनी समग्रता में कहा जाए, अंश में नहीं, तभी उसकी राष्ट्रीय जीवन में सार्थकता होगी।

---

१. कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किंचिदूनः। २. एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे। सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या। इष्टान्देशान् विचर जलद प्रावृषा सम्भृतश्रीः। माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोग ॥

मोहन राकेश | हवामुर्ग़

अप्रैल के महीने में बर्फ़ का पड़ना अस्वाभाविक नहीं था, फिर भी रेस्ट-हाउस का चौकीदार संतराम सवेरे से कितनी बार अपने मिलने वालों से कह चुका था, "देखा जी, कैसी अनहोनी बात हो रही है ? ये कोई बर्फ़ पड़ने के दिन हैं ? मेरा ख्याल है इसका आज के इलेक्शन पर ज़रूर असर पड़ेगा। घर से निकलना ही मुश्किल है, वोट देने कौन आएगा ?"

वैसे उसे खास विश्वास नहीं था कि लोग वोट देने नहीं आएँगे, पर बार-बार यह बात कह कर ज्यों कुछ असंतोष का अनुभव अवश्य होता था। तीन बजे के लगभग एक भारी-भरकम बाबू रेस्ट-हाउस के दो नंबर कमरे में आ कर ठहरा, तो उसका सामान खोलते हुए भी उसने कहा, 'बाबू जी, आगे कभी अप्रैल के महीने में आपने इतनी बर्फ़ पड़ती देखी है ?"

पर इससे पहले कि वह बात के उत्तरार्ध तक पहुँच पाता, बाबू ने उसे आदेश दिया कि वह भाग कर उसके लिए एक गिलास गर्म पानी ले आए, क्योंकि उसे दाँत साफ़ करने हैं। संतराम 'अभी लाया जी' कह कर चला गया, और जब वह लौट कर आया तो बाबू ने उसे चाय बना कर लाने का आदेश दे दिया।

चाय ला कर प्याली में उँडेलते हुए संतराम ने दूसरी तरह बात आरंभ की, 'बाबू जी, आज यहाँ पर म्युनिसपल कमेटी का इलेक्शन हो रहा है," और अपनी बात में बाबू की रुचि जाग्रत करने के लिए उसने तत्परता दिखलाते हुए पूछा, "चीनी एक चम्मच लेंगे, कि दो चम्मच ?"

"डेढ़ चम्मच ?" बाबू ने बिना ज़रा भी रुचि प्रदर्शित किए कहा।

सतराम ने चाय में चीनी मिलाई और प्याली बाबू के हाथ में देते हुए कहा, "इस बार हमारे रेस्ट-हाउस का जमादार भी हरिजन टिकट पर इलेक्शन के लिए खड़ा हुआ है।'

"अच्छा!" बाबू ने चाय का घूंट भरते हुए कहा, "देखो, वह जो मेरे जूते रखे हैं उन पर ज़रा पालिश कर देना।"

सतराम बैठ कर जूतों पर ब्रश से पालिश लगाने लगा। पालिश लगाते हुए उसने कहा, "पर जी, न तो यह जमादार खास पढ़ा-लिखा है और न ही यह कभी जेल गया है, वैसे भी जात का भंगी है—भला ऐसे आदमी का कमेटी के लिए चुना जाना कहाँ तक मुनासिब है ?"

बाबू बिना कुछ कहे अपना कंबल ले कर बिस्तर पर लेट गया और एक पुस्तक के पन्ने पलटने लगा। सतराम ने जूतों के फीते निकाल दिये और एक जूते को ब्रश से रगड़ता हुआ बोला, "वैसे जी, सब मेहतर इसे वोट दें, तो यह चुना भी जा सकता है। सरकार ने भी हद कर दी। जमादार कल तक कमेटी की नालियाँ साफ करते थे, अब जा कर कमेटी की कुर्सी पर बैठा करेंगे।"

वह जूता चमक गया था। उसे रख कर दूसरा जूता उठाते हुए उसने कहा, "आज अगर यह चुन लिया गया तो मेरे लिए तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी। पहले ही हम दोनों की खटपट चलती रहती है, फिर तो एक दिन भी कटना मुमकिन नहीं होगा।'

कुछ क्षण वह चुपचाप जूते को रगड़ता रहा। फिर उसमें फीता डालते हुए बोला, "अगर आज यह चुना गया तो मैं सोचता हूँ कि मैं नौकरी से इस्तीफा ही दे दूं। यह, साहब, अपनी इज्जत का सवाल है। क्या कहते हैं ?"

और बाबू के फिर कुछ न कहने पर उसने जूते बाबू को दिखलाते हुए पूछा, "क्यों जी ठीक चमक गये ?"

'हाँ इधर रख दे' बाबू ने कहा "और जा कर मेरे लिए एक कैप्स्टन की डिबिया ले आ।"

सिगरेट लाने का आदेश पा कर जब वह बाहर निकला तो उसने देखा कि जमादार की बीवी बनो लान के पौधों से फूल तोड़ रही है। अभी तीन-चार दिन पहले उसकी बीवी शान्ति ने बनो को फूल तोड़ने से रोका था। सतराम को लगा कि आज बनो जानबूझ कर उन्हें चिढ़ाना चाहती है। उसके मन में क्रोध-मिश्रित खीज का उदय हुआ, पर उससे कुछ कहते नहीं बना। इसका एक कारण तो यही था कि आज उसे अपने में बनो से कुछ कहने का नैतिक साहस नहीं मिल रहा था, और दूसरा यह कि अपने नए रंगीन वस्त्रों में बनो आज और दिनों की अपेक्षा अधिक सुन्दर लग रही थी। सतराम को जमादार माधो से इस बात की भी ईर्ष्या थी, कि उसकी पत्नी इतनी सुंदर थी और तीन बच्चों की माँ होते हुए भी अभी लड़की-सी ही दिखाई देती थी। दूसरी ओर उसकी पत्नी शान्ति थी, जो अभी एक ही बच्चे की माँ थी, पर लगता था, कि उसका यौवन दस साल पीछे रह गया है—सुन्दर तो खैर वह कभी थी ही नहीं। जब शांति बनो को कोई आदेश देती तो स्वयं सतराम को उसका आदेश देना अस्वाभाविक लगता था, यद्यपि शांति के शिकायत करने पर कि बनो बात-बात में उसकी अवहेलना करती है, वह उसके अधिकार का शाब्दिक समर्थन कर दिया करता था। परन्तु कभी शांति बनो की उपस्थिति में उसकी शिकायत करती तो वह निष्पक्ष मध्यस्थ की तरह कहता, "अरी, आपस में झगड़ती क्यों हो! यह सरकार का काम है और हम सब का साझा फर्ज है। आपस में मेल जोल के साथ रहा करो।'

बनो के पास से निकल कर सतराम अपने क्वार्टर के आगे पहुँचा तो उसने देखा कि वहाँ

शांति किसी वजह से बच्चे पर झुंझला रही है। उसके ढीले ढाले अंग, फिर और भी ढीले-ढाले वस्त्र, और उस पर यह झुंझलाहट का भाव देख कर सतराम का अपना हृदय झुंझलाहट से भर गया। उसका मन हुआ कि उसे डाँट दे, पर फिर कुछ सोच कर वह आगे बढ़ गया। सड़क पर आ कर भी उसकी झुंझलाहट शांत नहीं हुई। उसने बाबू के लिए कैंप्स्टन की डिबिया खरीदी और एक अपने लिए ले ली। एक सिगरेट सुलगाये हुए वह रेस्ट-हाउस की ओर लौटा। चलते हुए उसके मस्तिष्क में उन दिनों के धूमिल चित्र उभरने लगे जब वह दिल्ली में बाबू गनपत लाल की थिएटर कंपनी में नौकर था। वहाँ उसका काम बिजली की फिटिंग करने का था, पर दो-एक बार बाबू गनपत लाल ने उसे अभिनय करने का अवसर भी दे दिया था। उस कंपनी में लगातार छह-छह महीने वेतन नहीं मिलता था, पर फिर भी जिस दिन कंपनी बंद हुई थी, उस दिन उसे यही प्रतीत हुआ था कि उसके जीवन का आधार छिन गया है। वेतन तो कहीं भी काम करने से मिल सकता था पर थिएटर कंपनी में जो कुछ मिलता था वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ था। वहाँ भिन्ना थी, रूपी थी, सकीना थी। वह समय अब बारह साल पीछे रह गया। यह सोच कर उसे एक विचित्र सी सिहरन का अनुभव हुआ कि भिन्ना की बेटी चंदा, जो तब आठ बरस की गुड़िया थी, अब बीस वर्ष की नवयुवती होगी। उसके कदम कुछ तेज हो गये और वह इस विश्वास के साथ चलने लगा कि उसका वास्तविक क्षेत्र थिएटर कंपनी ही है—वह यूँही रेस्ट-हाउस की चौकीदारी के दलदल में फँस कर अपना जीवन नष्ट कर रहा है।

जब उसने दस नंबर कमरे में पहुँच कर कैंप्स्टन की डिबिया बाबू को दी, तब भी उसका मन फिल्म कंपनी के वातावरण में ही खोया हुआ था। दियासलाई जला कर बाबू का सिगरेट सुलगवाते हुए उसने उससे पूछा, "क्यों बाबू जी, आजकल उधर कहीं कोई थिएटर कंपनी नहीं चल रही?"

"मुझे पता नहीं।" बाबू ने सिगरेट का कश खींच कर कहा।

"दरअसल बात यह है साहब, कि मेरी असली लाइन वही है।" सतराम आवश्यकता न रहने पर भी झाड़न उठा कर कुर्सी झाड़ता हुआ बोला, "चौकीदारी में तो मैं ऐसे आ फँसा हूँ, वर्ना पहले मैं दिल्ली में एक थिएटर कंपनी में ही काम करता था।"

"यहाँ तुम कब से काम कर रहे हो?" बाबू ने पूछा।

"यहाँ जी, मुझे कोई दस-ग्यारह साल हो गये।"

"तो तुम यहाँ के बहुत पुराने आदमी हो!"

"जी हाँ!" सतराम ने ये शब्द स्वभाववश ही कह दिये। वैसे वहाँ का पुराना आदमी कहलाना उस समय उसे रुचिकर नहीं लगा।

"थिएटर कंपनी में तुम कितने साल रहे हो?" बाबू ने दूसरा प्रश्न पूछा। सतराम इस प्रश्न का निश्चित उत्तर अच्छी तरह जानता था। उस 'अपनी लाइन' में उसने कुल एक साल और सात महीने बिताये थे, जिसमें से वेतन केवल आठ महीने का ही प्राप्त हुआ था। पर उत्तर देने से पहले वह जैसे मन-ही-मन गिनती करने के लिए कुछ रुका और फिर बोला, "बस जी, यहाँ आने से पहले मैं वहीं था।" और उसके होंठों पर खिसियानी हँसी की रेखा प्रकट हो गयी।

कुर्सी को छोड़ कर अब अलमारी के शीशे झाड़न से साफ करता हुआ सतराम अपने उन दिनों के अनुभव सुनाने लगा, तो बाबू ने उसे बीच में ही रोक कर कहा कि वह जल्दी जा कर डाकखाने से दो लिफ़ाफ़े और चार पोस्टकार्ड ला दे, उसे कुछ आवश्यक चिट्ठियाँ लिखनी हैं।

डाकखाने से लिफ़ाफ़े और पोस्टकार्ड खरीदते हुए उसने शोर सुना कि जमादार माधो इलेक्शन

जीत गया है, और कई लोग उसे फूलों की मालाएँ पहना कर रेस्ट हाउस की ओर ला रहे हैं। उसने जेब का नया सिगरेट सुलगाया और बाहर आ कर उस दिशा में देखा, जिधर से बर्फ़ से ढके हुए रास्ते पर तीन चार सौ गज़ दूर कुछ लोग जमादार माधो को घेरे हुए आ रहे थे। उनके रंगीन वस्त्र बर्फ़ की सफ़ेदी के वैषम्य में और भी रंगीन लग रहे थे। वे बाहें उठा-उठा कर उत्साहपूर्वक नारे लगाते आ रहे थे। सतराम ने उस ओर से आते हुए एक नवयुवक से पूछा, "क्यों भाई, कितने वोटों से जीता है हमारा जमादार ?"

"सवा दो सौ वोटों से !" और उस नवयुवक ने साथ यह भी बताया कि शाम को बड़े साहब ने जमादार को खाने पर बुलाया है।

"अच्छा!" और सतराम की आँखें विस्मय और ईर्ष्या से फैल कर रह गयीं। उसने पुनः उस दिशा में देखा, जिधर से लोग माधो के साथ आ रहे थे। वह क्षण-भर इस अनिश्चय में खड़ा रहा कि उसे वहाँ रुकना चाहिए या रेस्ट हाउस की ओर चल देना चाहिए। फिर हाथ के कार्डों और लिफ़ाफ़ों की ओर ध्यान जाने पर वह जैसे बहाना पा कर रेस्ट-हाउस की ओर चल दिया।

वतो क्वार्टर के बाहर खड़ी अपने पति को दूर से आते देख रही थी। उसके चेहरे की चमक उस समय और भी बढ़ रही थी। कुछ और भी जमादारिनें उसके पास खड़ी थीं। सतराम ने उसके पास से निकलते हुए उसे लक्षित करके कहा, "जमादारिन, माधो इलेक्शन जीत गया है। दो सौ वोटों से जीता है।"

उसने स्वर में यथासम्भव सौहार्द लाने की चेष्टा की थी, पर वतो ने उसकी बात की ओर ध्यान नहीं दिया। वह उपेक्षापूर्ण ढंग से बोली, "हाँ, राजू अभी हमें बता गया है।"

सतराम मन-ही-मन कुछ उलझ कर दो नंबर कमरे की ओर चल दिया। जब उसने कार्ड और लिफ़ाफ़े बाबू को दिये, तो उसे आदेश मिला कि वह वहीं ठहरे, अभी पत्र पोस्ट करने के लिए ले जाने होंगे। कुछ देर बाद जब वह पत्र ले कर निकला तब तक माधो के साथी, उसे लिये हुए रेस्ट-हाउस के सामने पहुँच गये थे और ज़ोर-ज़ोर से नारे लगा रहे थे—"हरिजन यूनियन ज़िंदाबाद।" 'माधाराम जमादार ज़िंदाबाद।"

सतराम डाकखाने की ओर न जा कर पीछे के रास्ते से डेरी फ़ार्म के लेटर बक्स की ओर चल दिया, हालाँकि वह जानता था कि डेरी फ़ार्म के लेटर-बक्स से दिन की अन्तिम डाक चार बजे ही निकल जाती है और उस समय साढ़े चार बज रहे थे।

दूसरे दिन सवेरे सतराम की पत्नी शान्ति की सूरत कुछ और-सी हो रही थी—उसकी आँखें सूज रही थीं और चेहरे पर झाइयाँ सी पड़ी हुई थीं। सतराम चाय ले कर दो नंबर के कमरे में आया, तो चाय उँडेलते हुए उसने बाबू से पूछा, "क्यों साहब जमादार कमरा साफ़ कर गया है?"

"उसकी बीवी साफ़ कर गयी है।" बाबू ने उत्तर दिया।

'मेरे बारे में उसने कोई बात तो नहीं की?" उसने कुछ आशंकित और खिसियाने स्वर में पूछा। "नहीं!" बाबू ने एक शब्द में उत्तर दे कर चाय की प्याली उठा ली।

अब सतराम व्याख्या करता हुआ कहने लगा, "साहब आपको पता है न कि जमादार कल इलेक्शन जीत गया है? बड़े साहब ने कल रात को इसे और इसकी बीवी को खाने पर बुलाया था। पता नहीं, इन लोगों ने वहाँ जा कर साहब के सामने मेरी क्या क्या शिकायत की है! मैंने सोचा कि शायद आपसे भी जमादारिन ने इस बारे में कुछ कहा हो।"

"मुझसे किसी ने कोई बात नहीं की।" बाबू ने झिड़कने के स्वर में कहा।

सतराम कुछ क्षण चुप खड़ा रहा। फिर बोला, "साहब, मेरा स्वभाव ऐसा है कि मैं किसी से लड़ना-झगड़ना पसंद नहीं करता। पर मेरी घर वाली का अपनी जबान पर काबू नहीं है। वही रोज-रोज जमादारिन से लड़ पड़ती थी, जिससे जमादार की भी मेरे साथ नहीं पटती थी। मैंने इसे कई बार समझाया पर वह समझी ही नहीं। रात को फिर मुझसे नहीं रहा गया। मैंने दो-चार हाथ ऐसे लगा दिये हैं कि अब आगे के लिए सुधरी रहेगी।"

बाबू ने चाय की प्याली ट्रे में रखते हुए कहा कि वह ट्रे उठा कर ले जाए। सतराम ट्रे उठाता हुआ बोला, "अब तो बड़ा साहब भी जमादार की ही सुनेगा, क्यों जी? उसने साहब के पास मेरी शिकायत कर दी तो बताइए मैं कहीं का रह जाऊंगा। औरत जात इन चीजों को नहीं समझती। मुसीबत तो अब मेरी हो रही है, जिसकी नौकरी का सवाल है।"

ट्रे उठाये हुए वह बाहर निकल आया। बरामदे के सिरे पर उसे जमादार माधो झाड़ू देता हुआ मिला। उसके निकट पहुँच कर सतराम खीसें निपोर कर बोला, "क्यों भई, जीत लिया इलेक्शन माधो-राम? कल सुन कर बहुत ही खुशी हुई। हम गरीब लोगों की भी अब कमेटी में सुनवाई हो जाएगी। अब लगता है कि हाँ, सचमुच में ही आजादी आयी है।"

और क्षण भर रुक कर जब और कुछ कहने को नहीं मिला तो वह ट्रे सँभाले हुए अपने क्वार्टर की ओर बढ़ गया, जहाँ उस समय शांति एक हाथ से बच्चे को पकड़े हुए गालियाँ देती हुई दूसरे हाथ से उसे पीट रही थी।

ooo

'शिशु' | दो कविताएँ

वृक्ष से

मेदिनी के सुकुमार कुमार! महीरुह कहलाने वाले!
कोंपलों में मिट्टी की ललित कलाएँ दिखलाने वाले!
मूल के सौरभ सने विचार शिखर तक पहुँचाने वाले!
प्यालियों में भर-भर मकरन्द, वायु को महकाने वाले!

तुम्हारे कर्ण-फूल अवलोक, सांवली टोली आती है।
परखने को सोने का मूल्य कसौटी अपनी लाती है।
प्रवासी पंछी तुममें नीड बना कर आश्रय पाते हैं।
सुरीले स्वर से शाखोच्चार शाख पर बैठ सुनाते हैं।

झूमने लगते हो जब कभी भाव-संकेतों में भर कर,
बनाते वायु-पृष्ठ पर विविध वर्ण-मालाओं के अक्षर।
उस समय मगन देख निकल पड़ते आशिष के स्वर—
"तुम्हारे हरे-भरे छत्र की करे सुरक्षा जगदीश्वर!"

गर्व के किन्तु हिंडोले डाल, शून्य में झूल न जाना तुम।
धूल को अपना पहला फूल चढ़ाना भूल न जाना तुम।

उपालम्भ

पखेरू का रोना है कि बिखरे तिनके चुन-चुन कर
बनाया था जो मैंने नीड़ परिश्रम से सिर धुन-धुन कर,
उसी ने मेरे उड़ते समय एक भी बार न साथ दिया
जिसे समझा था अपना सगा उसी ने मुझसे दगा किया।

नीड़ का यह उलाहना है कि वृक्ष मैंने सम्पन्न किया,
जहाँ सब गूँगे फल थे वहाँ चहकना फल उत्पन्न किया;
किन्तु जब किसी क्रूर ने हाथ मार तिनकों को बिखराया,
उस समय प्रतिशोधन तो दूर, वृक्ष प्रतिरोध न कर पाया।

वृक्ष की यही शिकायत है कि छत्रवत् मैंने छाया की।
अंगारे अपने सर पर झेल धरा की शीतल काया की।
किन्तु भीषण आँधी के वेग जब कि लाये दुस्सह बाधा,
उस समय पैर उखड़ते देख धरा ने मुझे नहीं साधा।

सभी के उपालम्भ यों उतर रहे हैं धरती के घर में
किन्तु वह बेचारी क्या करे, पड़ी खुद दुहरे चक्कर में।

केदार शर्मा | खेल और खिलाड़ी

मैं सात-आठ साल का हूँ, और अभी से दादा बनने की इच्छा है। मैं दादा क्यों बनना चाहता हूँ, इसका उत्तर मैं शायद नहीं सोच सकता। लेकिन मैं स्कूल क्यों नहीं जाना चाहता, इस प्रश्न को मैं केवल सोच ही नहीं सकता, अपितु इसका निर्णयात्मक उत्तर भी दे सकता हूँ, क्योंकि वहाँ मास्टर जी टॉफी और बिस्कुट नहीं देते, क्योंकि प्रायः वे खेल की छुट्टी भी बंद कर देते हैं, क्योंकि कक्षा में बैठे-बैठे मैं जब भी बाहर मैदान में खेलते हुए साथियों को देखता हूँ, और देखता हूँ मास्टर जी को ऊँघते हुए, तो आँख बचा कर भाग जाता हूँ, क्योंकि इसी कारण मास्टर जी अपने उसी काले और खुरदरे रूल से जिसे वे पिछले पन्द्रह सालों से तेल पिलाते आ रहे हैं, और जिसका नाम सुन कर ही मेरा रोम-रोम सिहर उठता है—बेतहाशा मारते हैं। और क्योंकि स्कूल न जाने के इससे ज्यादा कारण नहीं हो सकते, इसलिए मैं स्कूल नहीं जाना चाहता। परन्तु मैं दादा क्यों बनना चाहता हूँ? इस बारे में क्या सोचूँ? सिर्फ इतना ही कि दादा का हुक्का गुड़गुड़ाना मुझे पसन्द है। उनकी लंबी, सफेद और मुलायम मूँछें मुझे पसन्द हैं। उनकी 'चूरन की गोलियों' की खुशबू मुझे पसन्द है—बस, सिर्फ पसन्द है। सुनता हूँ, भगवान् सच्चे दिल से की गयी प्रार्थना ही स्वीकार करते हैं, पर वे मेरी नहीं सुनते। हाँ! मेरी उनसे जान पहचान जो नहीं है, और कोई ऐसा भी नहीं, जो मेरी सिफारिश ही भगवान् से कर दे। क्योंकि आजकल जान-पहचान और सिफारिश से ज्यादा काम निकलते हैं। कोई तो हो, जो कह दे, "भई सच्चे हृदय से प्रार्थना करता है, इसे दादा बना दो।" और वह यदि बना दे तो मैं सच कहता हूँ, मैं उसे इकन्नी दे दूँ क्योंकि इससे ज्यादा मुझे खरचने को नहीं मिलता।

मैं तो कहता हूँ कि मुझे भी हुक्का गुड़गुड़ाने को मिले, कि बच्चे (मेरे साथी ही) मेरे सामने आ कर मुझसे पैसा मांगें, कि मैं भी चूरन की गोलियां खा सकूँ, कि मैं भी उन मुलायम और सफ़ेद मूँछों का भार उठा सकूँ कि मैं भी दादा बन सकूँ।

शर्दि मेरी क्लास में पढ़ती है और शाम को बाग़ में मेरे साथ ही जाती है, क्योंकि नौशी और जावेद उसकी गुड़िया को कुँए में फेंक देते हैं। और चूंकि गुड्डे को वह विधुर नहीं रख सकती, इसलिए उसे सपत्नीक बनाने के लिए दीदी की खुशामद करनी पड़ती है। दोबारा नयी बहू बनाना, उसे कपड़े पहिनाना, गहने पहिनाना—इन सब कामों में वह इतनी व्यस्त रहती है कि कई दिन तक उसे स्कूल जाने का समय ही नहीं मिल पाता। कहती है—"इतनी-सी जान और इतने सारे काम! क्या करूं, और क्या न करूं?" मुझसे कहती है—"आओ, मेम-साब खेलें।"

अब, यह मेम साब भी एक बला है। शाम का समय है। साहब दफ़्तर से आते हैं। मेमसाहब उनके लिए चाय लाती हैं। एक-एक करके सब बच्चे "डैडी-ममी" करते आ पहुंचते हैं। मेम साहब एक बच्चे को गोद में ले कर 'किस' करती हैं। साहब भी उसी जगह 'किस' करते हैं। बच्चे खुश हो कर भाग जाते हैं। मेम और साहब भी कुछ करते हैं और फिर... । खेल, न खेल का सिर-पैर। हुं!

मैं कहता हूँ—"आओ, दादा-पोता खेलें। तुम दादी बन जाओ, और मैं दादा बन जाता हूं। बच्चे हमारे पास पैसे मांगने आएंगे। हम उन्हें डांट देंगे। और सब खेल खत्म पैसा हजम। देखा, कितना अच्छा खेल है।"

"मैं तो दादी नहीं बनूंगी तुम्हारे लिए।"

"तो जाओ, मैं भी साहब नहीं बनता तुम्हारे लिए।"

"तुम्हारा खेल भी हो कुछ! बिल्कुल बच्चों का सा!"

बच्चों का-सा खेल तुम्हारा है। मेरा खेल तो दादा वाला है। फिर कभी ऐसा न कहना, नहीं तो . . ."

'नहीं तो?"

और मैं उसकी गुड़िया को कुएँ में फेंकने की धमकी देता हूँ तो वह मेरे लिए 'दादी' बन जाती है और मेरे दादा वाले खेल को बड़ों का खेल मानने में कोई आपत्ति नहीं उठाती।

'तुम दादा वाला खेल क्यों नहीं पसन्द करती?"

"और तुम मेम-साब वाला खेल क्यों नहीं पसन्द करते?"

"बस, मेरी मर्ज़ी . . ."

"हाँ! हाँ! हाँ! मैं समझ गयी। तुम्हारे घर में न डैडी हैं, न ममी है।"

"क्या मतलब?"

"जिसके डैडी-ममी नहीं होते, वह मेम-साब वाला खेल नहीं खेल सकता। तुम्हारी ममी मर गयी है न? मेरी ममी ने मुझे बताया था, तुम्हारे डैडी घर पर नहीं रहते। और तुम अपने बाबा के पास रहते हो!"

"शशि! ममी मर कर कहाँ जाती है, तुम अपनी ममी से पूछना तो!"

"छि, ऐसा नहीं कहते। हमारी ममी मरती कहाँ है?"

"अच्छा, अपनी ममी से पूछना कि मेरी ममी कब आएगी! पूछोगी न?"

"हाँ, हाँ! लेकिन तुम मेरा खेल खेलोगे?"

"और तुम भी मेरा खेल खेलोगी न ? मैं दादा बनूँगा। मेरे पास मेरे पास पैसा माँगने आएँगे। मैं उन्हें डाँट दूँगा। वे रोएँगे, जिद करेंगे, तो मैं उन्हें पैसा दूँगा। लेकिन मेरा खेल बच्चे नहीं खेल सकते, तुम अभी बच्ची हो।"

"बच्चे तो तुम हो, जो दादा वाला खेल पसन्द करते हो।"

और ज्योंही मैं उसकी गुडिया का घर जो वह रेत बटोर कर बडी मेहनत से बनाती है, तोड़ने को होता हूँ त्योंही वह झट से कह उठती है—"अच्छा! अच्छा! तुम दादा—मैं दादी। तुम गुडिया का घर ता न तोड़ो! नहीं तो बेचारी बे घर-बार की हो जाएगी।"

और मैं जब उसके मुँह से यह सुनता हूँ कि वह दादा वाला खेल पसन्द करती है तो मैं भी कह उठता हूँ—'मैं भी तुम्हारा मेम-साब वाला खेल खेलूँगा।" हम दोनों पहले की तरह खुश हो जाते हैं।

पहले मेरा खेल शुरू होता है। पर दादा बनने के आवश्यक उपकरणों में से हुक्का पहला उपकरण है। बिना हुक्के के दादा कैसे! तो जब भी दादा बाहर होते हैं मैं हुक्का उठा लाता हूँ। जब घर पर होते हैं, तब मैं साहस नहीं कर पाता। वे सो रहे होते हैं, मैं तब भी साहस नहीं कर सकता। क्योंकि वे नींद में भी हल्की-सी आहट सुन लेते हैं, और रँगे हाथों पकड़ कर मेरा मुर्गा बना देते हैं।

शशि को बड़ी मेहनत के बाद मैं अपना खेल खेलने पर राजी कर लेता हूँ। पर दादा घर पर है। अभी तो शाम है और केवल पाँच बजे हैं। दादा छह बजे के बाद घूमने निकलते हैं। पर छह बजे के बाद तो शशि कभी की अपने घर चली जाएगी और फिर मेरा खेल बिना हुक्के के अधूरा ही रह जाएगा, या फिर शुरू ही न होगा। किस तरह से हुक्का उठाऊँ? डर है कहीं उन्हें आहट मिल गयी, तो चमड़ी उधेड़ देंगे। शशि से कोई उपाय पूछता हूँ। पर बेचारी शशि को गुड़िया के 'चूल्हे-चक्की', 'गहने-कपड़े', 'माँग-सिंदूर' के अतिरिक्त कुछ मालूम ही नहीं।

"शशि, कुछ देर ठहर जाओ! दादा चले जाएँ, तो खेल शुरू करें!"

"नहीं भई! आज हम सब लोग पिक्चर जा रहे हैं। मैं तो जाती हूँ।"

मैं किसी तरह शशि को रोक लेता हूँ।

कुर्सी के स्थान पर तो टिन के खाली कनस्तर से काम चल जाएगा। पर हुक्के की जगह ?...मैं खिड़की से झाँकता हूँ तो दादा चाय पीते दिखाई देते हैं और चूँकि हुक्का जिस कमरे में रखा है, वे उसमें बैठ कर चाय नहीं पीते, मैं हुक्का उठा लाता हूँ। टिन के कनस्तर की कुर्सी, सचमुच का हुक्का, उस पर मिट्टी की चिलम, पीतल की चमकती हुई कुली—मैं बड़े रौब से बैठता हूँ। हुक्के के दो-तीन दम भरता हूँ। यद्यपि चिलम भरी हुई नहीं है, तब भी मेरा जी मतलाने लगता है, क्योंकि उसमें से कुछ ऐसी दुर्गन्ध आती है, जैसी मेहरी के कपड़ों में से आती है। मुझे कै हो आती है। दादा आते हैं। वे सब कुछ समझ जाते हैं, पर वे मेरी दशा देख कर कुछ नहीं कह सकते।

दादा के जाने के बाद शशि कहती है–'दादा के तो लम्बी लम्बी मूँछें हैं, तुमने तो मूँछें लगायी ही नहीं ?"

खेल के पूरा करने की धुन में मैं कै-वाली बात भूल गया हूँ। वास्तव में खेल अधूरा ही रह गया।

खेल फिर शुरू होता है। काफी जिद करके मैं इब्राहिम से, जो कई बार नाटक दिखाने का वायदा करके भी केवल एक ही बार नाटक दिखाने ले गया है, लंबी और सफेद मूँछें लगवा लेता हूँ। वे मूँछें

देवेन्द्र इस्सर | रोने की आवाज़

यह मेरी कल्पना थी, या स्वप्न, या केवल भ्रम, या हकीकत, लेकिन मुझे ऐसा आभास हुआ कि किसी की पदचाप दरवाज़े के निकट आ कर रुक गयी है। दरवाज़े पर हल्की-सी दस्तक हुई। दरवाज़ा बिना आवाज़ पैदा किए खुला और कोई अन्दर आ गया, और मेरे निकट एक क्षण के लिए बैठ गया। मैंने अपने सारे अंगों को शिथिल पाया। जैसे किसी ने बर्फीली लहर से मेरी समूची शक्ति छीन ली है। मैं निस्तब्ध लेटा रहा, और फिर पूरे ज़ोर से सारी शक्ति समेट कर आँख खोली। लेकिन मेरे निकट कोई न था। जो कोई आया था, जा चुका था। शायद रामाधीन ही आया हो। लेकिन मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मेरे आसपास आँसुओं की जमी हुई बूँदें हैं। या यह बात होगी कि कुछ दिनों से जब भी मैं अपने कमरे में जाता हूँ, खामोशी से लेट जाता हूँ और छत की कड़ियाँ गिनता हूँ, तो उनके टूटने की आवाज़ आती है, जैसे मरता हुआ कोई आदमी कराहता है। छत नीचे की ओर खिसकती दिखती है। दीवारें निकट सरकने लगती हैं, जैसे किसी कब्र में कोई लाश दफ़्न हो रही हो। उस दिन के बाद मैंने कई बार ऐसी स्थिति महसूस की। मेरे कमरे में न भूत था न प्रेत, न परछाईं और न कोई अजनबी, सिवाय मेरे और मेरे बूढ़े नौकर रामाधीन के। मैंने इस विचार को दिल से निकालने के लिए सोच लिया कि इसका कारण मेरे एकाकीपन का दर्द है, या वह बोझिल-बोझिल बर्फीला वातावरण है, जो रामाधीन के पीड़ित मौन से इस कमरे पर घुटा-सा छाया रहता था। रामाधीन कमरे में बहुत कम आता था। जब भी उसे कमरा साफ़ करना होता, या मुझे खाना देना होता या किसी मित्र के आने की सूचना पहुँचानी होती, या वह डाकिये से कोई चिट्ठी लाया होता, या

'मालिक, इससे पहले जो मेरे मालिक थे, उनके कमरे में भी रात की आवाज़ आती थी। मैं अभी बहुत छोटा था, कि उनके घर में नौकर हुआ था। मेरी आयु अब चालीस-पैंतालीस की होगी। बस यहीं कोई दस वर्ष का रहा हूंगा, जब उनके यहां आया था। मालिक के पास परमात्मा का दिया सब कुछ था। अपना मकान था, गाड़ी थी, नौकर-चाकर थे। काम-धंधा खूब था, और फिर जो खत्म होने को आया तो सब धीरे धीरे खत्म हो गया। मकान और गाड़ी तो अपने साथ न ला सके। बस अपनी और बीवी बच्चों की जान बचा कर ही निकल सके। सब नौकर-चाकर गये। लेकिन मैं सब में पुराना था, बचपन से काम कर रहा था। मालिक ने मुझे अलग न किया यद्यपि घर के सब गहने बिक गये थे जो रुपया-पैसा था बेकारी के दिनों में चर गया। काम-धंधा कई बार चलाने की कोशिश की लेकिन जब भाग्य ही बिगड़ जाए तो वह क्या करते। फिर भी अपनी हिम्मत थी कि अपने लड़के को बी० ए० करा दिया और चैन की सांस ली। उनको आशा थी कि अच्छे दिन देखने को मिलेंगे पर मालिक, कभी अच्छे दिन भी लौटे हैं? मालकिन रसोई-घर में जाते डरती थी। सोचती क्या पकाएँ और क्या खिलाएँ। लड़के को काम न मिला। लड़की अब सयानी हो गयी थी। मालकिन को यही गम खा गया, और उसी गम में घुल-घुल कर मर गयीं। मालिक उसका धैर्य देखने का था। लेकिन जब दिल को ही घुन लग जाए, तो कोई कब तक जिएगा। लड़के ने काम की कोशिश की, लेकिन काम न मिला घर में जैसे भूत-प्रेत की परछाईं पड़ गयी थी। 'काम मिला?' मालिक पूछते। 'नहीं।' उत्तर मिलता।

"मालिक अखबार पढ़ने लगते और अपने मन में सोचते कि वह पहले शब्दों से पूछते थे, और अब आंख से पूछते हैं यद्यपि वह समझते थे कि हर बार उसका उत्तर 'नहीं' होगा। लेकिन फिर भी कभी-कभी पूछ लेते ताकि मोहन को ढाढस बंधा रहे। हर बार पूछने के बाद वह महसूस करते कि उन्होंने उसके दुःख को बढ़ा दिया है। वह अपने मन में फैसला करते कि अब कभी न पूछेंगे और फिर पूछते। उनके मन को शान्ति न थी। उनके शरीर में अब शक्ति न थी, कि कोई काम कर लेते। और मोहन को काम न मिलता था, न मिला। खाते-पीते दर-दर की ठोकरें खानी पड़ गयीं। मुंह-अँधेरे निकलता और रात गये आता। 'खाना खा लो' मालिक पूछते। मन में सोचते, क्या खाएगा। बना ही क्या है।

'थोड़ा खा लो।'

'बिलकुल भूख नहीं, रास्ते में प्रकाश मिल गया था। जबरदस्ती घर ले गया। वहीं खाना पड़ गया।'

कभी प्रकाश मिल जाता, कभी चन्दर, कभी बचपन का कोई मित्र, लेकिन मालिक खामोश हो लेते, सोचते, समझते और सो जाते।

'आपने खा लिया?' वह पूछता।

'हाँ', मालिक कहते और मुन्नी हांडी पर कड़छी रखके प्रतीक्षा करते-करते सो जाती।

सुबह उठ कर सब जने रात का बचा-खुचा खा लेते। सब की दृष्टि एक दूसरे पर पड़ती, बचती, हटती और अपने में डूब जाती।

'मेरा विचार है मुन्नी को नौकरी मिल सकती है।' मोहन ने एक दिन मालिक से कहा।

'मुन्नी नौकरी करेगी?' बाप के अभिमान ने पूछा, क्रोध में और आश्चर्य में भी।

मोहन खामोश हो गया। सोचा, अगर मुन्नी नौकरी नहीं करेगी तो क्या करेगी। अब इस घर में कौन सदेसा ले कर आएगा, उसने मन में सोचा।

'थोड़े दिन काम कर ले। जब उसे कोई काम मिल जाएगा तो छोड़ देगी।'

'अब मुन्नी ने पढना भी छोड दिया है। घर बैठने से......' मोहन ने कहा। मालिक समझते थे कि मुन्नी ने पढना छोड दिया है या...

दूसरे कमरे से मुन्नी की आवाज आयी—'मैं कहीं काम कर लूँ, तो क्या हर्ज है। सब ही तो करते हैं। रायजादा की बीवी भी तो करती है। कितने बडे अफसर की बीवी है।'

'वह बडे अफसर की बीवी है, और मुन्नी...' मालिक को ठेस पहुँची।

'जब मोहन को काम मिल जाएगा तो छोड दूंगी।' मुन्नी ने कहा। यह क्या रहस्य है कि मोहन के मन की बात मुन्नी के होंठों तक जा पहुँची। मालिक खामोश रहे। मुन्नी नौकरी करेगी, बाप के अभिमान ने प्रश्न किया। मुन्नी को नौकरी करनी पडेगी—खाली घर के खाली बर्तनों से आवाज आयी। बाप खामोश रहा।

मुन्नी को नौकरी मिल गयी, किसी प्राइवेट स्कूल में। कुछ दिनों बाद मोहन को भी काम मिल गया, साठ-सत्तर रुपये महीने का, किसी केमिस्ट की दुकान पर। सुबह आठ बजे से रात के नौ बजे तक। वह घर आता तो उसके कपडों से दवाइयों की गंध आती। उसे खाँसी की शिकायत हो गयी। फिर वह लगातार खाँसने लगा। फिर हल्का हल्का बुखार रहने लगा।

'मोहन, तुम दवा क्यों नहीं लेते?' मालिक पूछते।

'ले रहा हूँ, वैसे कोई खास तकलीफ नहीं। खाँसी की शिकायत है। मौसम ही ऐसा है। दूर हो जाएगी।' फिर वह खून थूकने लगा और मालिक की दृष्टि से छिपने लगा। मुन्नी से दूर रहने लगा।

एक दिन मुन्नी फर्श पर खून देख कर चौंकी।

'मेरा ख्याल है, मोहन को अब काम पर नहीं जाना चाहिए।' मुन्नी ने मालिक से कहा।

'क्यों?'

मुन्नी चौंकी। मालिक पूछ रहे हैं, क्यों। इसलिए कि पैसे आना बन्द हो जाएँगे।

'उसकी तबीयत तनिक खराब रहती है।'

लेकिन मालिक के मन में खाली बर्तन बजने लगे।

'मैं तनिक अधिक काम कर लूँगी।'

लेकिन स्वयं ही मोहन का दुकान पर जाना बन्द हो गया। उसे नौकरी से जवाब मिल गया था। और अब मुन्नी के वेतन से दवा के पैसे भी निकलने लगे। घर में भूत-प्रेत की परछाईं फिर से दीखने लगी। अचानक एक रात मोहन गायब हो गया। बाप ने गली-कूचे छान मारे। मुन्नी रोयी चिल्लायी—'मैं और मेहनत कर लेती। तुम्हारा इलाज हो जाता। तुमने समझा कुछ हो गया तो और फिर बेकार रोगी घर में.. तुम अच्छे हो जाते। हमने तुम्हें खो दिया। हमने देखा तुम खाँसे, बीमार हुए, खून थूका।' मुन्नी रोने के अतिरिक्त क्या कर सकती थी।

फिर मुन्नी देर से आने लगी। अधिक पैसे लाने लगी। मालिक जैसे दुनिया से सन्यास ले चुके थे। मुन्नी छिप-छिप कर कभी रो लेती।

'क्या तुम्हें अधिक काम मिल गया है?' मालिक ने पूछा।

'हाँ, शाम की शिफ्ट में भी।'

'बडी देर हो जाती है।'

'हाँ।'

'मैं तुम्हें लेने आ जाया करूँ?'

'नहीं, कोई आवश्यकता नहीं।'

एक दिन मुन्नी को अधिक देर हो गयी। बहुत रात गये मुन्नी के लडखडाते कदमों की आवाज आयी।

मालिक ने देखा। खामोश रहे। फिर वह उसके निकट आये। मुन्नी ने समझा कि शायद वह क्रोध

में उसका गला घोट देंगे। जब मालिक कुछ न बोले, तो उसने समझा कि मालिक के विवेक के काँटे की नोक अब टूट गयी है। उसे मालिक से एक क्षण के लिए घृणा हुई। लेकिन मालिक उसका सिर अपनी गोद में ले कर धीरे-धीरे सहलाने लगे। मुन्नी सो गयी। मालिक उस रात बिलकुल न सो सके। एकटक छत की ओर देखते रहे। सुबह मुन्नी उनकी गोद में जागी।

'आज तुम काम पर न जाओ। तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं।'

'ठीक तो है।' उसने दृष्टि झुका ली। फिर मुन्नी ने रोना बन्द कर दिया। लेकिन मालिक समझते थे, कि अब मुन्नी का अंग-अंग रो रहा है। मालिक ने एक-दो बार सोचा कि वह कुछ खा कर सदा के लिए जिन्दगी से किनारा कर लें। शायद कोशिश भी की। फिर सोचा कि वह भी बेटे की तरह एक रात कहीं अँधेरे में गायब हो जाएँ। मुन्नी की तकलीफ तो कम हो जाए। वह केवल स्कूल का काम ही करे। लेकिन मुन्नी इस अँधेरे में निगल ली जाएगी। और वह मुन्नी को इस दुःख में देख भी न सकते थे। न जाने कैसे उनके दिल में भयानक-सा विचार आया कि मुन्नी .... वह काँप गये। मालिक ने कहा, चाय बनाओ। मैंने चाय बनायी और मालिक ने कहा—यह दवा मिला दो। मुन्नी की तबीयत ठीक नहीं। मैंने दवा मिला दी। मुन्नी ने चाय पी। मालिक उसकी ओर भयभीत दृष्टि से देखने लगे। मुन्नी ने कहा कि मेरा शरीर टूट रहा है। वह लेट गयी। उसका चेहरा सफेद पड़ने लगा। शरीर ठंडा होने लगा मालिक मुन्नी के निकट बैठ गये। उसका सिर गोद में ले लिया। मुन्नी के शरीर में हरकत कम होने लगी।

'मुन्नी!'...मालिक चिल्लाये। मुन्नी खामोश लेटी रही। मुन्नी ने मालिक की आखिरी आवाज़ न सुनी। मालिक पागलों की तरह अपने बाल नोचने लगे। और मुन्नी के शरीर से लिपट-लिपट कर रोने लगे। मालिक, उस दिन से जान पड़ता है कि कमरे में भूत-प्रेत की परछाईं है। एक रात मालिक अँधेरे में गायब हो गये।

रामाधीन खामोश हो गया। मेरे हाथ में चाय का प्याला काँपा और छूट गया।

"रामाधीन!"

रामाधीन ने मेरी आँखों में उसी तरह खामोशी से देखा, चाय का प्याला सँभाला और बाहर चला गया। कदाचित् अँधेरे में अपने आँसू सुखाने या शायद मोहन के शरीर और मुन्नी की आत्मा को तलाश करने अँधेरे में गायब हो गया। लेकिन जब भी मैं उसका ख्याल करता हूँ तो मुझे ऐसा महसूस होता है कि छत की कड़ियाँ टूट रही हैं। जैसे कोई आदमी कराहता है। छत नीचे की ओर फिसलती दीखती है। दीवारें निकट सरकने लगती हैं। जैसे कब्र में कोई लाश दफन हो रही है और मेरे कानों में सिसकता-सा रोने का स्वर भीगता हुआ-सा आने लगता है।

◌◌◌

दामोदर झा | कवि पुश्किन तथा गीति-काव्य

२७ जनवरी १८३७ ई० को लगभग ३८ वर्ष की अवस्था में एक द्वन्द्व-युद्ध में महाकवि पुश्किन की मृत्यु हुई। १२ मई, १८४० ई० को एक भाषण में बड़े ही गौरव के साथ युग-पुरुष एवं लेखक कारलाइल ने गर्जन किया था कि 'अंग्रेजी-भाषा-भाषी का राजा शेक्सपियर अमर है, हजार वर्षों के बाद भी वह अंग्रेजी भाषा-भाषी राष्ट्रों के ऊपर चमकता रहेगा, और उन्हें एकता के सूत्र में पिरोये रहेगा. इटली पद-दलित होते हुए भी महान् है, जीवित है, मुखरित है, क्योंकि इटली दांते जैसे कवि की जननी है, रूस का जार शक्तिशाली है, सेना के बल पर राजनीतिक एकता को बनाये हुए है. फिर भी बोलने में असमर्थ है, गूंगा है, वह एक महान् मूक राक्षस है, क्योंकि रूस ने कोई भी ऐसा प्रतिभासंपन्न कवि उत्पन्न नहीं किया है, जिसकी वाणी प्रत्येक राष्ट्र में, प्रत्येक युग में सुनी जाएगी।" मुझे विश्वास है, कारलाइल की जानकारी पुश्किन तक न पहुँच सकी होगी, नहीं तो वे पुश्किन के रूस को मूक की पदवी कदापि न देते।

यह हर्ष की बात है कि पाश्चात्य लेखकों का ध्यान रूस के साहित्यकारों की ओर आकृष्ट हुआ है। कथा-साहित्य में रूस का अमिट प्रभाव पड़ा है। एक युग था, जब कि तुर्गनेव तथा डास्टायवस्की, टाल्स्टाय एवं चेखव की महत्ता स्वीकार करने के लिए पाश्चात्य देशों में होड़ लगी हुई थी। आज टाल्स्टाय के उपन्यासों, चेखव के नाटकों तथा कहानियों के अनुवादों के संस्करण पर संस्करण निकलते जा रहे हैं। पुश्किन की महत्ता वे दबे जबान से ही स्वीकार कर रहे हैं। समालोचकों ने पुश्किन-साहित्य की खूबियों के विश्लेषण की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। स्वयं रूस में रूस के राष्ट्रीय कवि के रूप में पुश्किन की प्रतिष्ठा क्रमशः ही

हुई। मृत्यु के पश्चात् पुश्किन की स्वीकृति एक कलाकार के रूप में की गयी, जिसने रूसी भाषा का संस्कार किया था और रूसी साहित्य की मौलिक धारा का सृजन। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रूस के दोनों ही साहित्यिक दल—राष्ट्रीय परम्परावादी तथा पाश्चात्यीकरणवादी-पुश्किन को अपने दल से अलग समझते थे। पुश्किन की लोकप्रियता १८८० ई० के डास्टायवस्की द्वारा पुश्किन भाषण तथा १८८७ ई० में पुश्किन की कृतियों के सर्वाधिकार समाप्त होने के बाद होने लगी। १९१७ ई० की रूसी-क्रांति के तूफान में एकमात्र पुश्किन साहित्य ही क्रांति पूर्व साहित्य मे अवैध करार दिये जाने से बच सका। आज पुश्किन-साहित्य का प्रचार बहुत तेजी से बढ़ रहा है। रूस की एकता बनाये रखने में पुश्किन का उतना ही हाथ है जितना कि अंग्रेजी-भाषा-भाषी में शेक्सपियर का। रूस में पुश्किन की तुलना शेक्सपियर, फ्रेंच कवि मोलियर तथा जर्मन कवि गटे के साथ की जाती है। अतः अब समय आ गया है कि हिन्दी-भाषा-भाषी रूसी-साहित्य को ज्ञान, केवल टाल्स्टाय के उपन्यासों, चेखव की कहानियों तथा गोर्की की 'माँ' तक ही सीमित न रखें।

पुश्किन एक साथ ही एक महान् कवि, उपन्यासकार, कहानीकार नाटककार तथा गद्य-लेखक हैं, यद्यपि उसकी विशिष्ट महत्ता कवि के रूप में है। रूस के गद्य-साहित्य में पुश्किन की देन यथेष्ट है। प्रस्तुत निबंध में पुश्किन-साहित्य के विभिन्न स्वरूपों का परिचय न प्रदान कर, उसके काव्य, विशेषतः गीति काव्य, की विशेषताओं का विश्लेषण किया जा रहा है।

पुश्किन रूसी काव्य के स्वर्ण-युग की उपज तथा केन्द्र हैं। रूसी काव्य का स्वर्ण-युग यूरोपीय रोमांटिक युग का समकालीन है। पुश्किन-काव्य की धारा का मूल स्रोत रूसी करामजीन-आन्दोलन है। पुश्किन काव्य का धरातल रूसी है। उसका सरकार वाल्टेयर पार्नी जैसे फ्रेंच कवियों तथा फ्रेंच शास्त्रीय सिद्धान्तों द्वारा हुआ है। काव्य के यौवन-काल में अंग्रेजी कवि शेक्सपियर, बायरन तथा स्काट को स्वच्छन्द झकोरे पुश्किन-काव्य-कानन में प्रकम्पन पैदा कर देती है। फिर भी, अन्त तक पुश्किन-काव्य अपने मूल रूप में १८वीं शताब्दी के फ्रेंच सौन्दर्य के साथ स्थिर रहता है। पुश्किन-काव्य-कानन में उन्हें निराश होना पड़ेगा, जो कविता में उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं की भरमार चाहते हैं, कीट्स-काव्य की तरह चित्रों की प्रचुरता खोजते हैं, शैली जैसी भाव तरंगों की विह्वलता में निमग्न होना चाहते हैं, तथा वर्ड्सवर्थ के दार्शनिक गाम्भीर्य के प्यासे हैं। पुश्किन की कविता समतल भूमि से हो कर स्वाभाविक स्वछन्द गति से प्रवाहित होने वाली नदी की तरह है; उस वृक्ष की भाँति है, जिसकी सीधी-सीधी डालियाँ सतत ऊपर की ओर जाती हैं। उसके काव्य का सौन्दर्य उस तरुणी जैसा है, *जिसका लावण्य सादगी में और भी निखर उठता* है। पुश्किन की काव्य-वाटिका में गाढ़े रंगीन पुष्पों का चयन नहीं, हल्के रंग वाले फूलों को चुन-चुन कर *सजाया गया है। उसके काव्य में* लालित्य तथा चापल्य का अद्भुत मिश्रण है, जो श्रेष्ठ फ्रेंच साहित्य की विशेषता है। पुश्किन के अनुसार श्रेष्ठ काव्य में 'स्वर की अनुरूपता, काव्यात्मक शुद्धता, भाषा की शिष्टता तथा सुरूपता' का होना अपेक्षित है। पुश्किन की कविता में श्रेष्ठ काव्य के ये सभी लक्षण वर्तमान हैं।

पुश्किन-काव्य की दूसरी विशेषता शैली तथा भाव की अनुरूपता है। पुश्किन, शेक्सपियर की कोटि का कवि नहीं है, जिसमें प्रारंभ में भावों का आवेग है, टेक्नीक का परिमार्जन नहीं, जिसकी शैली उत्तरोत्तर परिष्कृत होती जाती है। वह इस दृष्टि से हिन्दी कवि तुलसी जैसा है, जिसमें शैली तथा भाव की अनुरूपता है, टेकनीक और वस्तु दो मित्र की तरह कन्धे से कन्धे मिला कर चलते हैं।

पुश्किन गीति-काव्य का एक महान् कवि है। उसके गीतों की संख्या प्रचुर है। पुश्किन ने अपने गीतों में बन्धुत्व और मित्रता, प्रेम और विरह, शोक और ईर्ष्या की अभिव्यक्ति की है। प्रकृति-संबंधी गीतों की संख्या भी पर्याप्त है। पुश्किन के गीतों का विश्लेषण संभव नहीं। पुश्किन काव्य विशेषतः उनके गीतों का सौन्दर्य उनकी सम्पूर्णता में है, स्वर-लहरी की संगीतात्मक एकरूपता में है, जो विश्लेषण के स्पर्शमात्र से तिरोहित हो जाता है। पुश्किन के प्रचुर गीतों में निम्नलिखित गीत विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं: बूढ़ा आदमी, छायादेव के प्रति, मैं जीवित हूँ अपनी इच्छाओं के दमन के लिए, स्वतन्त्रता बीज, जाड़े की संध्या, पैगम्बर, साइबेरिया-सदृश यादगारी, विपत्-वृक्ष, मैंने तुम्हें कवि! प्यार किया था, यह जाड़ा है, कवि के प्रति, शरद् विचार मग्न। पुश्किन के गीतों में तीन प्रकार के स्वर हैं। प्रारंभिक गीतों का स्वर अवैयक्तिक, संयमित तथा परिष्कृत है। १८२०-२३ ई० के गीतों का स्वर कुछ वैयक्तिक, कुछ प्रकम्पित तथा शक्तिशाली हो जाता है। अन्त में उसके गीतों का स्वर सर्वजनीन पूर्ण संयमित तथा परिष्कृत हो जाता है। प्रथम और अन्तिम काल के संयमित स्वर में भेद है। प्रारंभिक काल में पुश्किन का संयम अनुकरणात्मक है, उसकी स्वर-लहरी में फ्रेंच कवि पार्नी तथा चेनियर की ध्वनि स्पष्ट है। अन्तिम काल में पुश्किन का संयम सार्वजनीन तथा अवैयक्तिक हो जाता है। प्रत्येक महान् कलाकार अपने वैयक्तिक अनुभवों को सार्वजनिकता प्रदान करता है, अपने व्यक्तित्व को अपनी कला-कृति में विलीन कर देता है। पुश्किन के अन्तिम-कालीन गीतों में महाकाव्यत्व का आभास मिलता है। काव्यत्व के शिखर पर पहुँचने पर गेय-काव्य और महाकाव्य का भेद मिट जाता है और काव्य रह जाता है—शुद्ध और उदात्त रूप में।

'यादगारी' शीर्षक कविता में कवि रात्रि में निस्तब्ध, एकाकी वातावरण में, जब कि मानव-जगत्, दिवस के कठोर जीवन के वरदान-स्वरूप निद्रा-देवी की गोद में निमग्न रहता है, अपने पिछले जीवन की यादगारियों से अनाक्रान्त हो जाता है, और पश्चात्ताप रूपी सर्प दंशों से विक्षुब्ध हो, सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत कर देता है। चुपचाप, 'यादगारी' बीते हुए जीवन के क्षणों के लंबे पृष्ठ को खोलती जाती है। भार से थकित आत्मा में न यन्त्रणाओं को सहन की क्षमता है और न दूर करने की, फिर भी इन्हें सहना है। वह पिछले वर्षों के लेखा को पढ़ता है, कोसता है और शिकार में फँसे जानवर की तरह भयभीत हो जाता है, फिर भी इन सर्प भेदी आहों और मर्म भेदी आँसुओं से पिछले जीवन का लेखा इन पंक्तियों में विलुप्त नहीं हो पाता है। इस कविता में पुश्किन के हृदय की तीव्र भावना, आत्मालोड़न, पश्चात्ताप और करुण जीवन की अभिव्यक्ति हुई है। स्वर में विह्वलता का अभाव है, संयम तथा तीव्रता का अद्भुत समन्वय है, आत्माभिव्यक्ति होते हुए भी विश्वानुभूति है। प्रत्येक मानव के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, जब वह अपने दुष्कर्मों से क्षुब्ध हो उठता है। पुश्किन की आत्माभिव्यक्ति मानवाभिव्यक्ति हो जाती है। कविता के किसी भी मापदंड के अनुसार 'यादगारी' उत्कृष्ट काव्य के अन्तर्गत परिगणित की जाएगी।

प्रकृति गीत पुश्किन के श्रेष्ठ गीत हैं। यद्यपि पुश्किन ने काकेशस की यात्रा दो बार की थी और काकेशस के प्रकृति-सौन्दर्य का चित्रण उसकी कहानियों और उपन्यासों में हुआ है, लेकिन पुश्किन रूस के शरद् और जाड़े की संध्या, तूफान और बर्फ पतन, साइबेरिया के हिमाच्छादित मैदान और वृक्षों का कवि है। पुश्किन के प्रकृति संबंधी गीतों में न वर्ड्सवर्थ जैसा सर्वभूतात्मवादिक दर्शन का आभास है, न शैली-जैसा प्लेटो दर्शन की झलक, और न पत-जैसा मानवीकरण की भरमार। पुश्किन का प्रकृति-चित्रण यथार्थवादी है, पर यह यथार्थवाद यूरोपीय यथार्थवाद नहीं, रूसी यथार्थवाद है जिसमें स्थूलता है यथार्थता है काव्यत्व है, और है

सकेतात्मकता, जो उसे पूर्वीय रहस्यवाद के समीप ला देती है। 'तूफान' शीर्षक कविता में कवि ने तूफान के सौन्दर्य की तुलना चट्टान पर बैठी हुई बालिका के सौन्दर्य से की है। बालिका का सौन्दर्य तूफान के सौन्दर्य को मात कर देता है। इस कविता का आस्वादन पढ़ कर ही किया जा सकता है। 'शरद' शीर्षक कविता में पुश्किन ने रूस के शरद्-कालीन सौन्दर्य का गान किया है। इसमें उल्लास है, पर विह्वलता नहीं, यथार्थता है, पर कल्पना का अभाव नहीं। इन गीतों में पुश्किन प्रकृति का चित्रण दो रूपों में करता है—मानव-भावों की पृष्ठभूमि के रूप में तथा तटस्थ रूप में। प्रकृति-गीता एवं पुश्किन-काव्य की उत्कृष्ट कविताओं में 'उपस-वृक्ष' है। इसका गद्य भावानुवाद नीचे दिया जा रहा है, जिससे काव्य की उत्कृष्टता का कुछ आभास मिल सकता है।

उपस-वृक्ष

१

मरुभूमि में, सम्पूर्ण संसार से पृथक्, एक उपस-वृक्ष, ग्रीष्मताप से निर्जनीकृत वीरान में पहाड़ के दाग की तरह, एक भयावह संतरी की तरह खड़ा है।

२

प्यासे मैदान का निर्माण करने वाली प्रकृति ने क्रोधावश के क्षण में इसे उत्पन्न किया। इसकी जड़ में, डाली-डाली में, तथा नस नस में उत्कट हलाहल भर दिया।

३

वृक्ष की त्वचा से विष पिघल-पिघल कर, बूँद बूँद, *नीचे टपकता है, जब दुपहरी में सूरज की रोशनी* तेज होती है और जब सन्ध्या काल में सूरज डूबता है, यह पारदृष्टिगोचर राल के रूप में जम जाता है।

४

कोई भी खग इन डालियों पर साँस नहीं लेता। *कोई व्याघ्र समीप नहीं आता। एकमात्र तूफान* ही साहस कर इस मृत्यु-वृक्ष के ऊपर आता है और फिर सपूर्णत विषाक्त हो कर आगे बढ़ जाता है।

५

और कभी अगर भटकते एक बादल से पत्ते भीग जाते हैं, तो विषाक्त डालियों से, वर्षा, विष का फेन नीचे बालुकाराशि पर वमन कर देती है।

६

*लेकिन एक मनुष्य ने एक मनुष्य को इस विष-*वृक्ष के पास भेजा। उसकी दृष्टि में आदेश था। उस भाग्य-निर्दिष्ट वृक्ष से वह प्रचण्ड विष ले आया।

७

मृत्यु-राल को वह लाया, लेकिन मुरझायी डालो के सहारे। जाड़े में भी उसके चेहरे से भयंकर *पसीना चू रहा था; उसका मुख कष्ट-ग्रस्त था।*

८

नाश का आहत वाहक, वह बास्ट के बिछावन *पर पड़ा था। वह नष्ट हो गया, अनुष्णाशीत अपने* अजेय स्वामी के आदेश-पालन निमित्त।

९

और उस विष-राल में शक्तिशाली जार ने अपने तीरों को निर्मम हो कर भिगो दिया और उसने समीप तथा दूरस्थ के पड़ोसियों के समीप, नाश के दूत को द्रुत गति से भेजना प्रारंभ किया।

उपर्युक्त कविता में प्रकृति-चित्रण उत्कृष्ट रूप में हुआ है। प्रकृति का चित्रण स्वानु-रूपिणी नहीं, सकेतात्मक है, यथार्थवादी है, पर काव्यात्मक है, भयंकर है, पर निरपेक्षात्मक है। *अतः गेय कवि के रूप में पुश्किन का स्थान रूस के* महान् कवियों में है और रहेगा। पुश्किन के गेय-गीतों में काव्यात्मक अनुभूति की तीव्रता तथा अद्भुत संयम का आश्चर्यजनक संगम है। सब *मिला कर, पुश्किन के गेय-काव्य में फ्रेंच-गीतों* जैसी संयत स्वर-लहरी है, अंग्रेजी गीतों जैसी भावोन्मेषता नहीं।

जॉन गाल्सवर्दी | प्रेम-दिवानी

एशर्स्ट और उसकी पत्नी स्टेला अपनी शादी की रजत-जयन्ती मनाने के लिए अपने प्रथम मिलन के स्थान टॉर्क्वे में रात गुजारने चले। स्टेला को ही यह विचार आया था। आज से छब्बीस वर्ष पहले एशर्स्ट, स्टेला की जिस फूल सरीखी मोहक सुन्दरता पर आकर्षित हुआ था, यद्यपि वह अब क्षीण हो गयी थी, तथापि आज तेतालीस वर्ष की उम्र में भी वह पति की विश्वासपात्र थी।

एक तरफ सुन्दर, ऊँची टेकरी, दूसरी तरफ पाइन वृक्षों की छटा और पुष्पाच्छादित हरे मैदान का प्रदेश। नाश्ता लेने के लिए स्टेला ने मोटर रोकी। दृश्य इतना रमणीय था कि उसे चित्रांकित कर लेने के लिए चित्रकला का सामान ले कर ही उतरी। उसके पीछे अड़तालीस वर्ष का लंबा और सुन्दर एशर्स्ट नाश्ते की टोकरी लिए आ रहा था। उसने बैठने के लिए बिछावन बिछाया। एकाएक स्टेला पुकार उठी, "अरे देखो तो यह कब्र!" रास्ते के बाजू में जंगल की पगडंडी की ओर एक कब्र थी। किसी ने उस पर फूल चढ़ाये थे। एशर्स्ट का कवि-हृदय हिल उठा—किसी आत्मोत्सर्गी की कब्र! उसके मन में विचारों की तरंग-माला उठने लगी, आकाश में दौड़ते हुए बादलों की तरफ देखते-देखते न जाने क्यों आज विवाह की रजत-जयन्ती के दिन उसका मन किसी चिन्ता में उलझ गया। वह उठा और चारों तरफ देखने लगा। मोटर में से इसका ख्याल नहीं आया था, पर अब यह रास्ता कुदरती नज़ारे, सब उसे परिचित से लगे। आज से छब्बीस वर्ष पहले यहाँ से करीब आधे मील की दूरी पर बने हुए एक खेत-घर से वह टॉर्क्वे चल दिया था, और फिर कभी वापस नहीं आया था। एकाएक उसे हृदय-वेदना होने लगी। उसके पूर्व-जीवन की मधुर, रोमांचक, पर दर्द-भरी स्मृतियाँ रोकने पर भी पंख फड़फड़ा कर उसे किसी अनजान प्रदेश की ओर खींचने लगीं।

जीवन में एक बार आ कर बीती हुई वे मधुर घड़ियाँ आज उसके दिल का हुलमचाने लगी। हथेली पर मुँह टक कर चौतरफ फैली घास को देखते-देखते वह भूत काल की स्मृति में बहने लगा।

कॉलेज के अंतिम वर्ष के बाद फ्रॅंक एशर्स्ट और उसका मित्र रॉबर्ट गार्दन दो महीने के प्रवास के लिए पैदल चल पड़े थे। वे ब्रेन्ट से निकले। रास्ते में एशर्स्ट के पैर में चोट लग जाने के कारण उसे रुक जाना पड़ा। रास्ते के किनारे बैठे हुए वे दोनों बातें करते रहे। इच्छा हुई कि पास ही कोई जगह हो, जहाँ रात्रिवास किया जाए। इतने ही में सामने से टाकरी ले कर आती हुई करीब सत्रह साल की एक खूबसूरत देहाती लड़की दिखाई दी। उसके फटे कपड़े हवा में उड़ रहे थे और उसकी श्याम लटें मुखड़े पर फैल रही थीं, पर उसकी शोभा-वृद्धि करने वाली सबसे मनोहर चीज तो उसकी *जल-भरे बादलों-सरीखी आँखें थीं। ज्योंही उसकी नजर एशर्स्ट की ओर गयी कि उसने नमस्कार करते* हुए पूछा, "इधर कोई जगह है जहाँ हम रात गुजार सकें ? मेरे पैर में तकलीफ है।'

"हाँ साहब, हमारा खेत नजदीक है।" उसने मधुर कंठ से जवाब दिया और उन्हें अपने साथ ले गयी। दोनों मित्रों ने बातों ही बातों में जान लिया कि उसका नाम मेगन डेविड है। वह मूल निवासी तो वेल्स की थी, पर सात वर्ष से यहाँ अपनी विधवा मौसी के साथ रहती थी। उनके घर पहुँचते ही उसकी मौसी श्रीमती नाराकोम्बे सामने आयीं और साथ में आये हुए अतिथियों का परिचय मिलने पर उसने उन्हें सिर से पैर तक निहार लिया और तब *मेगन से उनके रहने के लिए स्थान की व्यवस्था* करने के लिए कह दिया।

"यहाँ अन्दर आ कर पैर को जरा आराम दीजिए।" वह बोली, "कॉलेज में पढ़ते हैं न ?"

"हाँ", एशर्स्ट ने जवाब दिया, "यहाँ कोई जल-प्रवाह हो, तो हम स्नान कर आएँ।"

"जल-प्रवाह तो हमारी बाड़ी के पास ही है, पर पानी बहुत कम गहरा है।" वह रास्ता बताते हुए बोली। एशर्स्ट ने देखा कि मकान पत्थर का है और उसके सामने सेव की बाड़ी है पास ही घास का मैदान भी है। उसके नजदीक ही छोटा सा झरना बह रहा है।

दूसरे दिन पैर का दर्द बढ़ जाने की वजह से एशर्स्ट ने आगे जाना स्थगित कर दिया। प्रवास के इस तरह स्थगित हो जाने पर उसका दोस्त दूसरे ही दिन चल चला गया। उस दिन एशर्स्ट ने पैर का आराम दिया। मेगन और उसकी मौसी उसके पैर पर लेप करके पट्टी बाँध जाती, और थोड़ी-थोड़ी देर पर आ कर उसकी जरूरतें पूछ जाती। वह सारा वक्त धूम्रपान करने में, चारों तरफ का अवलोकन करने में, या तन्द्रावस्था में गुजारता। कभी-कभी मेगन के साथ बातें करता और जब वह काम करती उस वक्त वह देखता कि काम करते हुए भी उसकी आँखें आतुरता से उसकी ओर लगी रहती। वह सोचता—"जंगल का फूल !" और अक्सर उसी के तसव्वुर में गर्क रहता।

दूसरे दिन मौसी के कहने पर मेगन उसे अपना सहारा दे कर मई-दिवस के उत्सव में भाग लेने ले गयी। बालकों से बातें करते-करते उसे मालूम हुआ कि मेगन हमेशा उसके कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थना किया करती है। उसके मन में मेगन का चित्र धीरे-धीरे अंकित होने लगा। मेगन चाय देने आयी, तो वह बोला, "अब मुझे वापस जाना चाहिए, मेगन ! तुम्हारी मौसी मुझे कोई हमेशा थोड़े रखेंगी।"

"जल्दी क्या है ? हम तो हर गर्मी में बौसी चलाते हैं।"

एशर्स्ट ने देखा कि उसका जाना मेगन को पसन्द नहीं है। पूरे सप्ताह पैर की वजह से उसने वहीं गुजारा। अब वह अपने आप चल फिर सकता था।

उस इतवार की शाम को वह बाग में लेटा हुआ किसी प्रीत के गीत की रचना कर रहा था कि उसे मेगन बेतहाशा दौड़ती हुई दिखाई दी। जॉन नामक जवान उसे परेशान कर रहा था। एशर्स्ट की ओर दोनों में से किसी का ध्यान नहीं था। मेगन अपनी जान बचाने के लिए भरसक कोशिश कर रही थी। यह देख कर एशर्स्ट उसे बचाने दौड़ा। जॉन उसको देखते ही गुस्से में बड़बड़ाता हुआ चला गया। मेगन काँपती हुई झाड़ की आड़ में छिप गयी। एशर्स्ट उसे समझाते हुए बोला, "मेरा अनुमान है वह तुम्हें चाहता है मेगन! ठहर जरा सुन ना।"

मेगन ने गुस्से से पैर पटकते हुए कहा, "उसकी यह गुस्ताखी कि मेरे पीछे पड़े!"

"तुम कहो, तो मैं उसका सिर छेद डालूँ, तुम्हें अच्छा लगेगा?" एशर्स्ट हँसा।

मेगन आवेश में रो पड़ी, "तुम मेरी-हमारी सबकी—हँसी करते हो!"

एशर्स्ट उसका हाथ पकड़ने बढ़ा, मगर वह पीछे हट गयी। एशर्स्ट ने उसका हाथ पकड़ कर होंठों से लगाया, उसके बदन में मीठी कँपकँपी दौड़ गयी। मेगन भी उसके स्पर्श से खुश दिखाई दी। एकाएक आवेश में आ कर उसने उस सरल सुन्दर बाला को बाहुपाश में जकड़ कर उसके ललाट का चुम्बन ले लिया। मगर मेगन को एकदम फीकी पड़ते देख, वह डर गया। उसकी आँखें बन्द थीं, दोनों हाथ शिथिल हो कर लटके हुए थे। वह काँप उठा। निश्वास छोड़ कर अलग होते हुए वह बोला, "मेगन!"

मेगन ने प्रेमाभिभूत हो कर उसका हाथ ले कर उसे अपने गाल, होंठ और हृदय से लगाया, फिर एकदम दौड़ कर झाड़ी में अदृश्य हो गयी। उसके जाने के बाद कुछ देर तक वहीं बैठा हुआ एशर्स्ट उसी के सम्बंध में सोचता रहा। बेशक वह उसे चाहती थी! उसे विजय की, सुख की, और किंचित् भय की अनुभूति होने लगी। आज से पहले उसे कभी ऐसा सुखद अनुभव नहीं हुआ था। जब वह उठा, तो घड़ियाल बारह बजे का बजने ही आया।

घर पहुँचा, तब तक अंधकार छा गया था। चारों तरफ वातावरण शान्त था। उसने देखा कि मेगन खड़ी हुई अब भी खिड़की से उसकी राह देख रही है। उसने धीरे से उसे बुलाया। दोनों मिले, पर इतने में ही कुत्ता भूँका। वे घबरा कर, फिर अलग हो गये।

दूसरे दिन जब एशर्स्ट नीचे उतरा, तो उसकी आँख मेगन को ही ढूँढ रही थी, पर वह कहीं न दिखी, तो उकता कर किताब लेने के लिए वह अपने कमरे में आया और एकाएक हर्षावेग से उसका हृदय जोर से धड़कने लगा। मेगन उसका बिछौना कर रही थी। उसे चुपचाप देखता हुआ, वह वहीं खड़ा रहा। मेगन ने उसका तकिया ले कर गाल से लगाया फिर उसे चूम कर बिछौने पर ठीक से लगाया। एशर्स्ट उसके इस प्रीति भाव को मुग्ध हो कर देखता रहा। फिर उसने मेगन का चुम्बन किया। मेगन ने उसकी ओर देखा। उन चमकती आँखों की गहराई में जो पवित्रता, हृदय-स्पर्शी श्रद्धा भरी हुई थी, उसका अनुभव आज से पहले उसने कभी नहीं किया था। कल जो आकस्मिक तौर पर हुआ था, वही आज उसकी इच्छा से हुआ। एशर्स्ट ने पूछा, 'मेगन, आज रात को जब सब सो जाएँ, तुम सेब के पेड़ के नीचे आओगी? वचन दो!"

"आऊँगी!" उसने धीमे से कहा।

उसके जाने के बाद वह उसी के ख्याल में डूबा हुआ बैठा रहा।

उस रात को सेब के पेड़ के नीचे उसे मेगन मिली। बेखुदी के आलम में वे कब तक चुप-चाप खड़े रहे, इसका दोनों में से किसी को भान न था। कुदरत को भी जबान कहाँ है? झरने की मर्मर ध्वनि और खिलते फूलों की महक ही उसकी भाषा है।

ये दानों प्रेमी उस मौन में अपने को और सारे विश्व का भान भूल गये थे। जब उनका ध्यान टूटा, तो एक निश्वास छोड़ कर एशर्स्ट ने कहा—"मेगन! तू क्यों आयी ?"

उसने विस्मय से ऊपर देखा, "जी, आपने मुझसे कहा था न ?"

'अब तुम मुझे नाम ले कर ही बुलाया करो! तुम मुझे चाहती हो न ?"

'हाँ मगर यह मुझसे न होगा। मैं आपको चाहे बगैर रह ही नहीं सकती। आपको देखा उसी समय से मैं आपसे प्रेम करती हूँ। आप मेरे पास रहें, यही मेरे लिए सब-कुछ है। मैं आपके बिना मर जाऊँगी।"

"तो तुम भी मेरे साथ लंदन चलो। मैं टॉर्की जा कर तुम्हारे लिए पैसे और कपड़े ले आऊँ फिर हम यहाँ से चुपचाप चल देंगे। किसी को खबर न होगी। तेरी इच्छा होगी, तो हम शादी कर लेंगे। मैं तेरे साथ अनुचित बर्ताव नहीं करूँगा, तुझे वचन देता हूँ।" एशर्स्ट ने कहा।

मेगन घुटनों के बल उसकी कदमबोसी के लिए झुकी कि एशर्स्ट ने उसे हृदय से लगा लिया। "मैं तेरे लायक नहीं हूँ, मुझे तेरे चरण चूमने चाहिए।" उसने प्रेमार्द्र हो कर कहा।

एशर्स्ट मेगन के लिए कपड़ा लेने टॉर्की गया, पर उसे कपड़े की या उसके नाप की कुछ भी जानकारी नहीं थी, इसलिए बड़ी उलझन में पड़ा। वापस लौट रहा था कि रास्ते में उसे एक दोस्त मिल गया। वह उसे आग्रहपूर्वक अपने यहाँ भोजन कराने ले गया। उसके साथ उसकी तीन बहनें भी थीं। उनके आग्रह से उनके साथ खेलने बैठा। जब जाने के लिए उठा, तो बैंक के बंद होने का वक्त हो गया था। अनिच्छा से उस दिन उसे वहाँ रुकना पड़ा। मेगन उसकी चिंता कर रही होगी, इसलिए उसने तार कर दिया कि 'कल आ रहा हूँ।' पर दूसरे दिन भी अपने मित्र के आग्रह को न टाल सका। उसके आग्रह से विवश हो कर वह उसके साथ तैरने गया। वहाँ मित्र को धारा में खिंच कर बह जाने से उसने बचाया। धीरे धीरे संबंध गाढ़ा होता गया। मित्र की सत्रह साल की जवान बहन स्टेला की ओर वह अनजाने खिंचता चला गया। फिर भी मेगन की याद उसके दिल से जाती नहीं थी। उसके पास जाने के लिए उसका मन झींखता रहता। उसके ये शब्द उसके दिमाग में हमेशा घूमते रहते कि 'मैं तुम्हारे बिना मर जाऊँगी' और वह व्याकुल हो जाता। तमाम रात उसने रो-रो कर गुजारी। उसने दूसरे ही दिन मेगन के पास चले जाने का फैसला किया। लेकिन सुबह फिर मित्र-कुटुम्ब के साथ पर्यटन के लिए चलने का आग्रह हुआ और वह उनकी दिलशिकनी न कर सका। 'एक दिन और सही' यह सोच कर, वह उनके साथ हो लिया। इस तरह दिन बढ़ते गये।

वहाँ एक दिन उनके साथ गाड़ी में जाते हुए उसने दूर से मेगन को देखा। वह वही फटे वस्त्र पहने हुए थी। वहशी नजरों से वह हर तरफ सब को देखती हुई चली आ रही थी। सहसा एशर्स्ट ने हाथ से अपना मुँह छिपा लिया। पर तब भी वह अँगुलियों के बीच से उसे इस तरह देख रहा था, जैसे कुत्ता अपने मालिक को देखता हो। वहाँ किस तरफ जाए, यह जाने-समझे बग़ैर वह डरती, अट-कती, इधर-उधर फिजूल भटकती फिर रही थी। एशर्स्ट का दिल यह देख कर विद्रोह कर उठा। "मैं कुछ भूल आया हूँ, आप जाएँ, मैं बाद में आऊँगा।" यह कहते हुए वह नीचे कूद पड़ा। वह मेगन की तरफ दौड़ा। पर ज्यों-ज्यों वह उसके नजदीक आता गया, त्यों-त्यों उसके कदम धीमे पड़ते गये। उसका दिल पीछे खिंचता था।

उसे प्रतीत हुआ, वह तो कठिनाई के समय का प्रेम था। मित्र-कुटुम्ब में आने के बाद से उसे लगने

लगा कि उसके साथ शादी नहीं की जा सकती। न तो उसके साथ जंगल में बसा जा सकता है, न उसे लंदन के सभ्य समाज में स्थान दिया जा सकता है। सब छोड़ कर उसके पीछे जाना ना निरी मूर्खता है। सब अपना सर्वस्व दे दे ता भी वह कितना सामान्य है! उसमें तो कुछ ही समय में तबीयत उकता जाएगी। तो फिर? उस चपल, तेजस्वी, मस्तानी स्टेला याद आयी और वह पीछे मुड़ पड़ा।

लेकिन दिल में फिर खलबली होने लगी। मेगन और उसका निर्दोष प्रेम याद आया। वह फिर मेगन को खोजने निकला, पर अब वह वहाँ न थी। आधा घंटा उसकी तलाश में भटक कर, थक कर वह दरिया किनारे गया। वहाँ रेती में लेट कर वह मेगन की याद को उलट-पलट रहा था। उसके साथ गुज़ारी हुई सुखद घड़ियाँ याद आ रही थीं। उसे लगा कि स्वयं स्टेशन या घर जा कर उससे मिले। पर वह उठ न सका। उसका मन दुविधा में पड़ा था।

आखिर, कुछ दिनों में मेगन मुझे भूल जाएगी। चंद चुंबनों को देने के सिवाय ज्यादा क्या हुआ है?' ऐसा मान कर मन से उसकी याद खींच निकालने का फ़ैसला करके वह तैरने के लिए घुसा। यह सब भूल जाने के लिए वह थकने तक तैरता रहा। फिर स्टेला से मिला। अन्त में, बारम्बार दिल में मेगन की उठती हुई तसवीर को मिटा कर, वह स्टेला के आकर्षण के वशीभूत हो कर उसी के साथ परिणीत हो गया।

आज उसकी शादी की रजत जयन्ती के रोज यह सब उसके मानस-पटल पर उभर आया। स्टेला को वापस आने में अभी घंटा भर लगेगा। इतने में फिर एक बार उस स्थान पर हो आने की उसे प्रबल इच्छा हुई। वह बाग के दरवाज़े पर जा कर रुक गया। कहीं कुछ भी फेरफार नहीं हुआ था। सब कुछ पूर्ववत् दिखाई देता था। वैसे ही सुन्दर फूल बाग में लग रहे थे। झरने का पानी वैसे ही बह रहा था। सूरज की किरणें भी वैसी ही तेजोमय और देदीप्यमान लगती थीं। कुछ देर के लिए उसे भ्रान्ति हो आयी कि अभी मेगन उसकी राह देखती हुई सब के पेड़ के नीचे खड़ी है। अनजाने हो उसका हाथ दाढ़ी पर गया और वह चौंक पड़ा। क्या सपने में है? सचमुच क्या इस बात को छब्बीस वर्ष बीत गये? गुज़री हुई जवानी और खोये हुए प्रेम की मधुरता उसके हृदय में तीव्र वेदना जगाने लगी। वह अत्यन्त व्यग्र हो गया।

एक बूढ़ा लकड़ी के सहारे उसकी गाड़ी के पास खड़ा था। उससे उसने पूछा, 'यह कब्र किसकी है? रास्ते पर क्या है? ऐसी कोई प्रथा तो नहीं जान पड़ती!'

वृद्ध दिलगीर हो कर हँसा—"यह एक पुरानी प्रेम-कथा है। बहुत-से लोग यहाँ से गुज़रते हैं और यही बात पूछते हैं। हम उसे 'कुमारी की कब्र' कहते हैं।"

वह हुक्का ले कर बैठा—"साहब! उस लड़की को मेरे बराबर कोई नहीं पहचानता। मेरा उस पर स्नेह था। जब मैं यहाँ से निकलता हूँ, इस पर फूल चढ़ाता हूँ। मैं जहाँ नौकरी करता था, उस नाराकोम्बे-परिवार में ही वह रहती थी। उसका नाम था मेगन डेविड। एक बार एक कॉलेजियन यहाँ आया, और उस तरंग पर चढ़ा कर चला गया। फिर वह कभी वापस आया ही नहीं। पर यह लड़की मेगन उसके जाने के बाद से बावली ही हो गयी। फिर कभी वह वैसी न दिखी साहब! मैंने अपनी ज़िन्दगी में किसी स्त्री को इस तरह बदल जाते हुए नहीं देखा।"

"हाँ!" एशर्स्ट ने काँपते हुए कहा। पर उसकी आवाज़ उसे खुद को ही अजीब लगी।

"एक दिन मैंने उससे पूछा, 'मेगन! तू इतनी उदास क्यों रहती है? तुझे क्या हो गया है?'

वह रो पड़ी। मुझसे बोली, "कुछ नहीं, पर अगर मैं मर जाऊँ तो मुझे इसी सेव के पेड़ के नीचे दफनाना।" मैं हँसा, 'तुझे क्या होने वाला है? पगली न बन!' उसने छाती पर हाथ रख कर कहा, "मेरे यहाँ दर्द होता है। पर अच्छा हो जाएगा।" इस सेव के पेड़ के नीचे शून्य मरोखी हो कर वह अक्सर ताकती रहती थी। दो दिन बीत गये, मुझे तो याद भी नहीं था, कि वहाँ एक शाम को मैंने उस झरने में, जहाँ वह जवान—एशम या ऐसा ही कोई नाम था—नहाता था, कुछ पड़ा हुआ देखा . अरे, पर साहब! आपका इस बात से क्या मतलब है? मैं नहीं जानता, पर आप बड़े दयनीय दिख रहे हैं!.. मुझे कुछ शक हुआ मैं झरने के पास गया और वहाँ मैंने क्या देखा?" उसने वेदनापूर्ण नेत्रों से ऊपर देखा। एशर्स्ट भी काँप रहा था।

"मेगन वहाँ गड्ढे में मरी पड़ी थी। उसका मुँह पानी में था। वहाँ सुन्दर फूल का पौधा पास ही उगा हुआ था। उसका मुख ऐसा अद्भुत, सुन्दर, मोहक और बालक जैसा निर्दोष, शांत दिखाई देता था! उस समय जून का महीना था, फिर भी कहीं से सेव की पुष्पकलिकाएं उसने खोज ला कर अपने सिर में खोंस रक्खी थीं। मैं यह देखते ही रो पड़ा, गड्ढे में पानी तो मुश्किल से एकाध फुट होगा। उसमें मैं कोई मर नहीं सकता था। डाक्टर ने भी यही कहा। मुझे लगता है कि उसका दिल बड़ा ही प्रेमार्द्र था, और वह टूट गया, पर किसी ने किसी दिन यह जाना नहीं। कुमारियाँ अपने प्रेम के लिए क्या कर गुजरती हैं! अद्भुत!! उसकी आखिरी इच्छा के अनुसार उसे यहीं दफनाया गया। साहब! इस बाबत में हमारे लोग बड़े ही सावधान रहते हैं।" उसने अपनी बात के समर्थन के लिए ऊपर देखा, तो एशर्स्ट वहाँ नहीं था।

एशर्स्ट उस ऊँची टेकरी पर जा कर, कोई न देखे इस तरह, धरती पर लुढ़क पड़ा, "तो मैंने जो किया सो ग़लत था क्या? मैंने यह क्या किया?" पर उसके प्रश्न निरुत्तर ही रहे। वहाँ उसका आँसुओं में फीका बना हुआ चेहरा उसे अपनी आँखों के सामने दिखा। उसके काले गोरे गालों में सेव के फूलों की कलियाँ शोभती थीं। वसन्त अपनी पूरी बहार के साथ उसके और मेगन के दिल में खिल उठा। मेगन! गरीब बिचारी मेगन! टेकरी पर आती हुई, सेव के पेड़ के नीचे राह देखती हुई, मृत्यु में भी सौन्दर्य से शोभायमान मेगन!

उसी समय उसकी पत्नी ने उसे आवाज़ दी, "देखो तो फ्रैंक! यह चित्र बराबर है? मुझे लगता है कि इसमें कुछ कमी है।"

"हाँ", एशर्स्ट ने शांति से सिर हिलाया, "कमी है! सेव के पेड़, संगीत और......"

अनुवादक—नारायणप्रसाद जैन

✿✿✿

समालोचना

[सम्पादक-मण्डल ने यह निश्चित किया है कि समालोचना के लिए प्राप्त प्रत्येक पुस्तक की आलोचना न की जाए। हां, प्राप्ति स्वीकार सभी पुस्तकों का किया जाए, और सम्भव हो तो उनका संक्षिप्त परिचय भी दिया जाए। आशा है, यह व्यवस्था सबको पसन्द आएगी।

उपर्युक्त निर्णय को ध्यान में रखते हुए प्रकाशकों से निवेदन है कि वे पुस्तक की एक ही प्रति भेजें। यदि हम उसकी समालोचना प्रकाशित करना चाहेंगे तो एक प्रति और मंगा ली जाएगी। —संपादक]

() भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास का योगदान. लेखक, बलदेव प्रसाद मिश्र, प्रकाशक, नागपुर विश्वविद्यालय, पृष्ठ संख्या ८८, मूल्य २)

ईसवी सन् १९५२ में 'राव बहादुर बापूराव दादा किनखेडे व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत डा० बलदेव प्रसाद मिश्र ने 'भारतीय संस्कृति को तुलसीदास का योगदान' विषय पर एक व्याख्यान प्रस्तुत किया, यह पुस्तक उसी व्याख्यान का प्रकाशित रूप है। इन व्याख्यानों में लेखक ने 'संस्कृति' शब्द के अर्थ से ले कर वेदवेदांग श्रुति पुराणों का परिचय कराते हुए वर्तमान भारत की समस्याओं का जिक्र करके बताया है कि यह तुलसीदास के 'मानस' का ही असर था कि भारत का हृदय, मध्यदेश पाकिस्तान न बन सका। पहले पृष्ठ पर 'कल्चर' शब्द का अर्थ दिया हुआ है— आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार, वेब्स्टर की डिक्शनरी के अनुसार, सेराम के विश्वकोष के अनुसार, मैथ्यू अर्नाल्ड के अनुसार, टाइलर के अनुसार, आदि-आदि और फिर उसकी 'संस्कृति' से तुलना करके विद्वान् लेखक ने कहा है—"संस्कृति हाल का गढ़ा हुआ शब्द है (पृष्ठ ८)। आप्टे के संस्कृत-कोश में यद्यपि 'संस्कृति' का पता नहीं, तथापि उसमें 'संस्कृ' धातु का अवश्य पता है। इसी से बने हुए एक अन्य शब्द 'संस्कार' का भी पता है (पृष्ठ ९), और फिर लेखक ने सुझाया है कि हम 'कल्चर' के आधार पर संस्कृति को नहीं, बल्कि संस्कृति के सहारे कल्चर को समझने का प्रयत्न करें, तो संस्कृति विषयक भ्रम अपने-आप दूर हो जाएगा।" समझ में नहीं आता कि यह भ्रम दूर करने की भूमिका है, या भ्रम पैदा करने का प्रयत्न। लेखक ने अध्ययन किया है, संग्रह और संचयन भी है, किन्तु बहुत स्पष्टता नहीं दिखाई पड़ती एक स्टेटमेंट सुनिए: कबीर में बुद्धि, बुद्ध,

शंकराचार्य, गोरखनाथ तथा सूफियों का विचार अधिक आया; सूर में श्रद्धा, शासन, शास्त्रीय परंपरा तथा वैष्णव आचार्यो का उत्तराधिकार अधिक आया। कबीर का चिन्तन अमूल्य था, सूर की भावुकता अमूल्य थी, इन दोनों ही विचारों का समन्वय हुआ गोस्वामी तुलसीदास में (पृष्ठ ३४)। इस तरह की जोड़ बाकी से हिंदी आलोचना का जितना शीघ्र उद्धार हो, उतना ही अच्छा। विद्वान् लेखक ने कुछ महत्वपूर्ण शोध की बातें भी प्रस्तुत की है। हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के प्रथम सूत्रधार गुरु गोरखनाथ ने ब्रह्म के निर्गुण भाव पर ही जोर दिया, और उसके लिए 'अलह' का जोड़ कर भारतीय भाषा का 'अलख' शब्द गढ़ा (पृष्ठ ४८)। यह 'ह' का 'ख' परिवर्तन कैसे हुआ, इस पर विद्वान् लेखक ने तर्क नहीं उपस्थित किये। गोरखनाथ ने हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए और क्या क्या प्रयत्न किये, इसका विवेचन लेखक और कभी करेंगे, ऐसी आशा है। तुलसी के 'अलखहिं का लखें' के अलक्ष्य को विदेशी जार्ज वस्टन ब्रिग्स तक को समझने में कठिनाई नहीं होती (गोरखनाथ एंड कनफटा योगीज, पृष्ठ २०२)। लेखक आगे कहता है आचार्य रामानन्द को विशुद्ध भारतीय परंपरा का प्राप्त 'राम' शब्द ही पसन्द आया, अतः उनसे इस नाम का मंत्र पा कर कबीर आदि संतो ने नवनिर्मित अलख की जगह राम राम कहना शुरू कर दिया (पृ० ४८-४९)। 'साधो ब्रह्म अलख लखायो' कहने वाले कबीर को क्या पता था कि किसी दिन उसके राम अलख के एकदम विरोधी मान लिये जाएँगे। अन्त में लेखक के सांस्कृतिक दृष्टिकोण की ओर इशारा कर दूँ। "वाल्मीकि-रामायण के बाद तुलसी-रामायण की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि विकासशील मानव-समाज ने वाल्मीकि की कृति में कुछ कमियाँ पायी, जिसमें रामचरितमानस की आवश्यकता पड़ ही गयी" (पृ० ५२)। इन कमियों में कुछ पृष्ठ ५३-५६ पर बतायी गयी है। यानी लक्ष्मण क्रोध में दशरथ को बुढ़भस की निन्दा करते हैं। राम कहते हैं, "एक मदमाती औरत को खुश करने के लिए बाप ने जैसा मेरे साथ किया, वैसा एक मूर्ख भी अपने आज्ञाकारी बच्चे के साथ न करेगा" (५५)। श्लोक नीचे दिया जाता है ताकि इसका रूप देख ले।

कोऽह्यविद्वानपि पुमान् प्रमदाया कृते त्यजेत
छन्दानुवर्तिनं पुत्रं तातो मामिव लक्ष्मण

आगे चल कर लेखक ने वाल्मीकि की सबसे बड़ी कमी बतायी है कि उन्होंने सीता के शब्दों में गंगा को मनौती मानी कि हम सकुशल अयोध्या लौट आएँगे, तो हजार घड़े शराब और मांस-पूतोदन (पुलाव) से तुम्हें प्रसन्न करूँगी। कैसी अद्भुत संस्कृति थी वह (पृ० ५६)!

संस्कृति-निर्णायक का सही दृष्टिकोण इन तथ्यों को स्वीकार करना होना चाहिए। इन्हें किसी लेखक की खामी कहके हँसी उड़ाना संस्कृति की विरासत का तिरस्कार करना है, और जब तक ऐसा दृष्टिकोण रहेगा, तुलसी के सांस्कृतिक योगदान की मीमांसा लीक पीटना ही कही जाएगी, कोई नयी और सत्य बात नहीं आ सकेगी। किताब शोधपूर्ण व्याख्यानमाला को उपस्थित करती है, इसलिए कुछ प्रश्नों की ओर संकेत कर देना उचित जान पड़ा।

शिवप्रसाद सिंह

() चन्द्रसखी और उनका काव्य : लेखिका, पद्मावती 'शबनम', प्रकाशक, लोकसेवक प्रकाशन, बुलानाला, बनारस, पृष्ठ-संख्या १८०, मूल्य २)

प्रस्तुत पुस्तक अभी हाल में उत्तर-प्रदेश की सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई है, इसलिए इसके महत्व के विषय में एक पूर्व-धारणा का बन जाना स्वाभाविक ही था, किन्तु जब पुस्तक को पढ़ गया तो लगा कि पुरस्कार और पुस्तक दोनों दो बातें हैं, उन्हें एक मान लेना भारी भूल है। पुस्तक के दो खंड हैं। पहले में लेखिका ने चन्द्रसखी के जीवन-वृत्त और उनके काव्य की आलोचना उपस्थित की

है, दूसरे में चन्द्रसखी की कविताओं को संगृहीत किया गया है। चन्द्रसखी पर अभी तक बहुत ही न्यून सामग्री प्रकाश में आयी है, ऐसी अवस्था में यत्किंचित् जो भी प्रयत्न हो, उसकी सराहना करनी ही चाहिए, इसी दृष्टि से मैं इस पुस्तक की अभ्यर्थना करता हूँ। जीवनवृत्त आदि पर जो विचार दिये गये हैं, उनमें विरोधी बातें बहुत हैं, किन्तु उनका यहाँ उल्लेख नहीं करना ही उचित लगता है। संग्रह में पदों के नीचे कहीं-कहीं 'पदाभिव्यक्ति में अर्थ सामंजस्य नहीं जैसे वाक्य दिये हुए हैं, उनसे लेखिका का क्या तात्पर्य है, कुछ साफ नहीं होता। इस तरह के ऊलजलूल कथन इन पदों के नीचे अक्सर दिये हुए हैं। 'पदाभिव्यक्ति हास्यास्पद, अस्पष्ट है, साफ नहीं है' का क्या मतलब है ?

पुस्तक के अन्त में एक परिशिष्ट है, जिसका शीर्षक है 'देशज शब्दों और मुहावरों का स्पष्टीकरण'। अगरोरी (अग्रणी), चष (चक्षु) जादूराई (यादव-राज), जिवड़ो (जीव), दाँवन (दामन) पटम्बर (पाटाम्बर) आदि शब्द देशज कैसे कहे गये, इसे तो विदुषी लेखिका ही बताए। कोष्ठकों में मैंने व्युत्पत्ति का संकेत कर दिया है।

शिवप्रसाद सिंह

•

() **सूरसागर-सार :** लेखक, डा धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक हिन्दी साहित्य भवन लि, प्रयाग, पृष्ठ संख्या २४०, मूल्य ४॥)

'सूरसागर' हिन्दी के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रन्थों में से है। काफी शोध के बाद, जब यह ग्रन्थ प्रकाशित भी हुआ तो मूल्याधिक्य के कारण सर्व साधारण तक न पहुँच सका।

हिन्दी के प्राचीन साहित्य की खोज का कार्य अभी चल ही रहा है, और सूर के पदों की भी खोज हो रही है। डा वर्मा ने सम्पूर्ण 'सूरसागर' से महत्त्वपूर्ण पदों को चुन कर 'सूरसागर-सार' में संकलित किया है। इस संकलन में केवल ८०० पद हो हैं, किन्तु ये 'सूरसागर' के चमकते हुए मोती कहे जा सकते हैं जिनकी आभा अलौकिक है।

प्रारम्भ में भक्ति और विनय के अत्यन्त मधुर एवं भावपूर्ण पदों का संग्रह है। इसके बाद पूरे ग्रन्थ को छह भागों में विभक्त कर कृष्ण-चरित को कथा-बद्ध रूप में रखने का प्रयास किया गया है, जिसमें कुछ साधारण पदों को भी स्थान मिल गया है, किन्तु वह अखरता नहीं।

सूर की इस महान् कृति का परिचय हमें इस छोटे से संकलन से मिल जाता है। इसमें सन्देह नहीं है कि यह संग्रह 'सूरसागर' का वास्तविक सार है। अन्त की पदानुक्रमणी पाठकों के लिए सहायक होगी, विशेष कर विद्यार्थियों के लिए। डा. वर्मा ने साथ में यदि संक्षिप्त टिप्पणियाँ भी दे दी होतीं, तो संकलन की उपयोगिता अवश्य ही बढ़ जाती। व्रजभाषा से कम परिचित हिन्दी प्रेमी भी उससे लाभ उठा सकते थे। फिर भी यह श्रेष्ठ पदों का संकलन हिन्दी-प्रेमियों को सूर के अधिक निकट लाने में सफल होगा।

शुद्ध छपाई तथा पुस्तक-सज्जा के लिए प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

आत्मदेव शर्मा

() **हमारे लेखक** लेखक, राजेन्द्रसिंह गौड, प्रकाशक, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या ३८४, मूल्य ६)

आलोच्य पुस्तक राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिंद' से ले कर श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी तक के 'उन्नीस प्रमुख निबंधकारों, नाटककारों तथा कथाकारों के जीवन और कृतित्व की आलोचना' है। इसमें इतना ही स्पष्ट है कि गद्यकारों में से कुछ प्रमुख व्यक्तियों का विद्यार्थी-उपयोगी परिचय देना ही प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की ओर उसकी सफलता पर अपने विश्वास को लेखक ने अपने निवेदन में

प्रकट किया है, 'अंत में मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक से हमारे विद्यार्थियों को हिन्दी के प्रमुख लेखकों की रचनाओं को समझने में अवश्य पूरी *सफलता मिलेगी।' लेखक सफल हुआ है,* क्योंकि आलोच्य पुस्तक का 'प्रथम सस्करण, जो आगरा के श्रीराम मेहरा ने स० २००७ मे प्रकाशित किया था लगभग दो ही वर्ष में समाप्त हो गया।'

आत्म निवेदन मे लेखक ने स्पष्ट लिखा है कि मे यह दावा नहीं कर सकता कि विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से यह सर्वथा मौलिक रचना है। वस्तुत यह मेरे कई वर्षों के अध्ययन का परिणाम है। जिन आलोचकों की रचनाओं से हिन्दी-लेखकों के समझने-बूझने की चेष्टा की है, उनका मैंने स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया है।' लेखक की यह निर्भीक स्वीकारोक्ति स्पृहणीय है। लेखक ने *सामग्रियों का उपयोग अपने रूप में ढाल कर किया।* जभी कहीं उद्धरण नहीं, सकेत नहीं।

उन्नीस गद्यकारों में से भारतेंदु महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचद, रामचंद्र शुक्ल, और जयशंकरप्रसाद पर लगभग १७० पृष्ठ लगाये गये है, और शेष चौबीस के लिए २१४ पृष्ठ। इसमे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों पर सम्यक विचार करने का अवसर प्राप्त हो गया है। लेखक ने सामग्रियाँ एकत्र करने में, सजाने मे, सुपाठ्य और सुग्राह्य बनाने में पर्याप्त परिश्रम किया है। स्थल स्थल पर तुलनात्मक विवेचन ने—जैसे प्रसाद और द्विजेन्द्रलाल राय, अथवा प्रेमचंद और जैनेन्द्र, अथवा रामचद्र शुक्ल और द्विवेदी जी आदि—विषय को अधिक स्पष्ट किया है। लेकिन सर्वत्र लेखक का लक्ष्य है विद्यार्थी-समाज। अतएव मौलिक विवेचन का तेज और ऊष्मा नहीं। फिर भी 'हमारे लेखक' साधारणतः प्रचलित विद्यार्थी-वर्गोपयोगी पुस्तकों की कोटि से, कई दृष्टियों से, सुरुचिकर, सुपाठ्य और विशिष्ट है।

शिवनन्दन प्रसाद

() चन्दा : लेखक, इन्द्र वसावडा; प्रकाशक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य १॥।=)

'चन्दा' श्री इन्द्र वसावडा का नवीनतम सामाजिक उपन्यास है। अपनी मूल कृति में इसकी कथा प्रेम-मूलक होते हुए भी ग्रामीण समाज के मध्य-वित्तीय परिवारों के सामान्य गुण-दोषों को ले कर चलती है। गोपाल, राधे बाबू, गजानन पडित, सती आदि सभी पात्र वे मूर्तियाँ है, जो मदिर की मुख्य मूर्ति चदा को भव्यता प्रदान करने के लिए इधर-उधर सजी हैं पर चन्दा—बावजूद अपने कारुणिक इतिहास और जन्म से गूँगी होने की विषमता के—इतनी तराशी हुई नहीं लगती, जितनी मुख्य मूर्ति के लिए अपेक्षित थी। इसके पीछे यह स्वीकार किया जा सकता है कि स्वय चन्दा गूँगी है, उसके जीवन में जिन परिस्थितियों और व्यक्तियों ने खिलवाड किया है, उसके प्रति चन्दा की क्या प्रतिक्रिया है, वह उसकी जबान से मुखर हो ही नहीं सकती। अन्य पात्रों के सदर्भ में उसके जीवन की वेदना निश्चय ही ध्वनित हो जाती है। पर चन्दा की वेदना और अन्य पात्रों की ज्यादतियाँ कहीं भी प्रखर नहीं हो पाती। यदि लेखक केवल एक गूँगी नायिका का इतिहास ही लिखना चाहता था, तब तो ठीक है। वह इतिहास लिखने में सफल हुआ है, परन्तु जिन सामाजिक विषमताओं के कारण यह इतिहास निर्मित हुआ है, उस ओर लेखक की दृष्टि नहीं पहुँची है, क्योंकि कथानक व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है और व्यक्ति की उपलब्धि पर समाप्त हो जाता है। यदि केवल व्यक्तिगत चरित्रों का दिग्दर्शन ही अभीष्ट था, तो चरित्रों को एकदम मथ कर ही सामने रखा जाता—ऐसा भी इस उपन्यास में नहीं है।

मुख्य पात्रों में चन्दा, गोपाल और पडित गजानन *तथा उसकी पत्नी सती है।* शेष पात्रों को भी लेखक ने उनकी व्यक्तिगत विलक्षणताओं के सदर्भ में ही देखा है। इतना अवश्य है कि ये पात्र महज लेखक

के मस्तिष्क की उपज नहीं है उन्हें वास्तविक जगत् से उठाया गया है।

चन्दा दैव के अभिशाप से यद्यपि गूंगी हो कर भी उपन्यास की केन्द्र-बिन्दु बन सकी इसके पीछे लेखक का मन्तव्य यही दिखाई पड़ता है कि उसने मुख्य पात्र को चुप करा कर चरित्रों के वैयक्तिक गुण-दोषों को खोल सकने का प्रयास किया है।

घटनाओं के संयोग को लेखक ने स्वयं गढ़ा है और उसकी दृष्टि घटना-बाहुल्य की ओर रही है। कथारस पैदा करने के लिए उसने इस उपकरण को चुन कर शेष उपकरणों को गौण कर दिया है। सम्भवतः इसीलिए उपन्यास में तारतम्य नहीं रह पाता, अनावश्यक घटनाएँ और वर्णन स्थान पा गये हैं, आवश्यक संवेदना-स्थल दो दो पंक्तियों में समाप्त हो गये हैं। इसीलिए पूरे उपन्यास का सन्तुलन नष्ट हो गया है।

लगभग सभी पात्र प्रवृत्तिमूलक हैं। गोपाल उद्दंड और उदात्त, सती निश्चल और निर्मल, गजानन वासना का दास, धूर्त और पाखंडी, अजित एकदम अजित है और उज्ज्वल सदैव उज्ज्वल। पर जीवन तो ऐसा नहीं है। जीवन में जहाँ एकरसता और अति आ जाती है, वहीं वह कृत्रिम और असामान्य हो उठता है, चाहे उसमें देवत्व की प्रतिष्ठा हो, चाहे आसुरी वृत्ति की। दोनों स्थितियाँ ही सामान्य नहीं हैं।

वस्तु की जो उठान पूर्वार्ध में है, वह उत्तरार्ध में पहुँच कर रोमानी कल्पना में भटक जाती है। और इसीलिए युग की यथार्थवादी धारा के प्रभाव के कारण पुरानेपन का आभास देने लगती है। एक साहसिक की प्रेम-कहानी के रूप में कथा समाप्त हो जाती है। अंत में जन्म से गूंगी चन्दा अपने प्रेम की सफलता के आह्लाद में वाणी पा जाती है—ऐसा दुर्लभ चमत्कार प्राचीन आख्यानों में तो पढ़ा और सुना था, पर आज के वैज्ञानिक युग में यह बचकानी कल्पना हँसी ला देती है।

गजानन पंडित के चरित्र को गहराई से पकड़ा गया है, इसीलिए शैली का व्यंग्य पूरी तरह मार करता है। शैली में व्यंग्य का हल्का पुट उसकी शक्ति बन गया है। भाषा बहुत साफ़ और प्रवाहशील है—एकदम चिकनी समतल और व्यंजनात्मक।

एक बात प्रकाशकों के संबंध में कह देना आवश्यक है—वह यह कि उनकी छपाई आदि बहुत सुन्दर है, प्रूफ की गलतियाँ भी नगण्य हैं, परन्तु प्रकाशन-संस्था का आतंक पूरी पुस्तक पर हावी है। जैसे लेखक और कृति की महत्ता उतनी नहीं है, जितनी प्रकाशक की। संस्था की 'मुद्रा' की छोटी का स्वर जैसे यह अहसास कराता रहता है कि हम प्रमुख हैं और बार-बार 'राजकमल कथा-साहित्य' की धुन के सामने लेखक और कृति का स्वर नक्कारखाने में तूती की आवाज़ जैसा लगने लगता है।

कमलेश्वर

() जन्म-पत्र : लेखक, देवीप्रसाद धवन 'विकल'; प्रकाशक, सीता प्रकाशन, कानपुर, मू० २)

प्रस्तुत कहानी-संग्रह में लेखक की 'मनोवृत्ति की बात', 'कामायनी', 'जन्म-पत्र', 'मगू पसारी' आदि कहानियाँ संग्रहीत हैं। इन सभी कहानियों में लेखक विशुद्ध कहानीपन ले कर पाठक के सामने उपस्थित होता है। कहीं-कहीं मनोविश्लेषण के मोह में उसने पात्रों के विकास के लिए आत्मनियोजित परिस्थितियाँ पैदा की हैं और चरित्रों को जगह जगह से मोड़ दिया है। फलतः अधिकांश कहानियाँ कमज़ोर हो गयी हैं।

कई कहानियों में गढ़े हुए चमत्कृत करने वाले कथानकों का सहारा लिया गया है। इस संग्रह की कहानी 'जन्म-पत्र' इसी तरह की घटनाओं के संयोग का प्रतिफल है। 'जब नक्षत्र टूटा' लेखक के मनोवैज्ञानिक प्रयास का नमूना है। इस तरह, इस संग्रह की अधिकांश कहानियों में ये ही दो तत्त्व हैं।

गढ़े हुए कथानक में कुशल कथाकार मन को छू जाने वाली बातें कह सकता है । यशपाल की अधिकांश कहानियाँ जीवन के किसी प्रभावशाली सत्य का स्पष्टीकरण करती हैं, या उन्हें पढ़ने पर लगता है कि यह बात तो हम भी सोचते थे—हमारी ही बात तो लेखक कह गया, पर यह इतनी प्रभावशाली कैसे हो गयी ! धवन जी की कहानियों में सत्य धुंधला ही नहीं हो जाता, उस पर एक अज्ञान का परदा पड जाता है ।

मनोविज्ञान का प्रयोग पात्रों की वास्तविकता बढ़ाने के लिए ही होना चाहिए, जिससे कहानी अधिक स्वाभाविक लगे और जीवन के करीब आए। बुनावट कहानी में बुरी नहीं, पर वह ऐसी न हो जाए कि पूरी कहानी में से चार पैरा पढ़ लेना ही काफी हो जाए । रहस्यों में सत्य होता, तो चमत्कार की खोज हमें बुरी न लगती । इन सीधे-सादे जीवन-चित्रों को अनुभूति की आवश्यकता थी । शायद इसी कमी के कारण जीवन का मर्म कहीं भी पैदा नहीं हो पाया है।

भाषा में सफाई और सादापन है । घटनाओं के वर्णन में कहीं-कहीं लेखक ने अपना पूरा कौशल दिखाया है । पुस्तक की छपाई-सफाई विशेषत. अच्छी है ।

राजेन्द्र धनुर्वंशी

() लहर और चट्टान : *लेखक, विश्वम्भर 'मानव', प्रकाशक, किताब महल, इलाहाबाद; क्राउन पृष्ठ-संख्या १७०; मूल्य २॥)*

इस पुस्तक में 'मानव' जी के सात एकांकी संगृहीत किये गये हैं । 'ये सातों एकांकी सामाजिक हैं, और इनका केंद्र-बिंदु है नारी, इनकी कथा वस्तु नारी-हृदय के उस गूढ़ प्रेम को ले कर चलती है, जिसका रहस्य बहुत कम व्यक्तियों पर खुल पाता है ।' इस कथन से किसी भी पाठक को असहमति नहीं हो सकती, कि समें नारी को केंद्र मान कर घूमने वाली तथा 'प्रेम के गूढ़ रहस्य को' उद्घाटित करने वाली घटनाओं का चित्रण हुआ है । परिस्थिति में लेखक ने लिखा है कि 'दो फूल' को छोड़ कर, जो कुछ परिवर्तनों के साथ एक सुनी हुई सच्ची घटना के आधार पर लिखा गया है, शेष एकांकी अधिक परिचित घटनाओं के मर्म पर आधारित हैं; किन्तु सत्य तो यह है कि इन सातों नहीं, तो पाँच एकांकियों की घटनाएँ एकदम एक हैं, यानी नायिका बचपन में या यौवन के आरंभ में किसी अच्छे आदमी से (अधिकतर कवि या लेखक से) प्रेम करती है और सामाजिक परिस्थितियों के कारण उसके मन की कोमल 'लहर' चट्टानों से टकरा कर बिखर जाती है । 'संकीर्ण' एकांकी की शारदा चन्द्रकान्त को चाहती है जो गरीब लेखक है; 'भीगी पलकें' का अनुपम विचारक है; 'चट्टानें' का अशोक रचनाकार है, सम्भवत. कवि । 'प्रेम के बंधन' की पात्रियाँ अपनी प्रेम-गाथा सुनाती हैं : कुसुम का प्रेमी सुकुमार कवि है, कल्याणी के प्रेमी का ठीक नाम तो ज्ञात नहीं और वह लज्जाशीला बताती ही नहीं, पर उन्हें 'कवि जी' कहती है । इस तरह अधिकांश लड़कियाँ कवि जी से या लेखक जी से प्यार करके कष्ट भोगती हैं, क्योंकि कवि जी लोग प्रायः गरीब होते हैं । इस पर विचार करने पर कहना पड़ता है कि इसमें लेखक का दोष नहीं । उसके हृदय में निरन्तर निवास करने वाली किसी अत्यन्त परिचित घटना का मोह है, जो इन एकांकियों पर हावी हो गयी है । 'इन एकांकियों के लिखने की प्रेरणा तो अप्रत्याशित रूप से अनायास और अकस्मात मिली । अतः कल्पना के उन साथियों के साथ जो इन एकांकियों की प्रधान पात्रियाँ हैं, एक और मुख कहीं धुंधला-सा और कहीं स्पष्ट इन पंक्तियों में तैरता दिखाई पड़ता है', और जहाँ यह मुख ज्यादा स्पष्ट हो गया है, वहाँ इन एकांकियों की नायिकाएँ सिमिट कर एक नायिका और तमाम नायक कवि या लेखक हो गये हैं । इस तरह को वस्तु-वैविध्य हीनता गुण

नही कही जाएगी, इतना तय है। इस तरह ये तमाम एकांकी (स्टिरिओटाइप) होकर रह गये है।

एकांकियों की टेक्नीक निःसन्देह विकसित और पूर्ण दिखाई पडती है। लेखक ने कथोपकथन में स्वाभाविकता और वक्रता लाने का भरसक प्रयत्न किया है। इस दिशा मे लडकियों के कथोपकथन बडे ही स्वाभाविक और जानदार है, जो लेखक के निरीक्षण को सूचित करते है।

शिवप्रसाद सिंह

() तप्तगृह लेखक, प्रभात, प्रकाशक श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४, पृष्ठ-संख्या १८५, मूल्य २॥)

'साकेत' से 'कुरुक्षेत्र' तक हिन्दी-प्रबंध-काव्य या खंडकाव्य की जो प्रगति हुई उसको परिपार्श्व में रख कर प्रभात जी के 'तप्तगृह' को देखने मे निराशा होती है। प्रभात जी मँजे हुए कवि है, उन्होने गीतो के क्षेत्र में कई अच्छे प्रयत्न किये है, इसके पहले उन्होने 'कैकेयी' नामक 'युगांतरकारी महाकाव्य' लिखा, जिस पर विद्वानो की सम्मतियाँ वर्तमान पुस्तक के फ्लैप पर छपी है, किन्तु इतना कौशल, ऐसी सिद्धि, गीतो के कवि की भावुकता और अनुभूतियाँ सभी इस काव्य में इतनी कुंठित हो गयी है कि देख कर आश्चर्य होता है।

कथा पुरानी है, बहुत बार की लिखी-पढ़ी। अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बसार को राज्यलोभ-वश कैद कर लिया और ऐसा प्रसिद्ध है कि अन्त में जब अजातशत्रु को अपनी गलती महसूस हुई और वह अपने पिता को मुक्त करने के लिए कारागार को दौडा तब तक वे मर चुके थे। कवि ने कल्पना की है कि गिरिव्रज (राजगृह) में कोई ऐसा कारागार था जो अपनी उष्णता के कारण तप्तगृह के नाम से प्रसिद्ध था। इसी कारागृह में अजातशत्रु ने अपने पिता को कैद कर रखा था।

महाकवि के लिए महाकाव्य लिखना आवश्यक हो या न हो, किन्तु महाकाव्य के लिए महाकवि (बड़े कवि) की प्रतिभा अवश्य चाहिए। 'प्लॉट' कथा मे भी चरित्रो की मांसलता, अनुभूतियो की गहराई और मार्मिक प्रसगो की योजना से प्राणवत्ता लाना महाकवि का कार्य है और ये सब गुण जहाँ नही होते, वहाँ प्रबंधकाव्य चाहे सर्गों मे विभक्त हो, किसी मशहूर कथा को लेकर चलता हो, आदि, पर वह उस कोटि को कदापि नही पहुँच पाता। इस काव्य में इन तत्वो को जो महत्व मिलना चाहिए था, वह नही मिल सका।

प्राचीन परिभाषाओ को हम जितना भी घिसा-पिटा कहे, उसमें वर्षों के अनुशीलन का परिणाम दिया हुआ है। छन्दो के परिवर्तन पर पुराने आचार्य इसी से जोर देते थे कि एकरसता कम हो, इस सग्रह में जो छन्द आता है, वह इतना उखडा-उखडा लगता है कि इसमें कोई रागात्मक अनुभूति-परक बात भी कही जा सकती है, इसी में सन्देह होने लगता है, और ऐसी स्थिति में कथा का आकर्षण भी पाठक को साथ लेने में अक्षम हो जाता है।

शिवप्रसाद सिंह

() धरती की करवट : लेखक, रघुपति सहाय 'फिराक', प्रकाशक, लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ-संख्या १९०, मूल्य २॥)

'धरती की करवट' उर्दू के प्रसिद्ध कवि श्री 'फिराक' की १८ छोटी-बडी प्रगतिशील कविताओ का हिन्दी-संग्रह है। अपनी भूमिका में रचयिता ने प्रगतिवाद के बारे में बड़ा सुलझा हुआ मन्तव्य प्रकट किया है। वह यह है, कि 'यों तो प्रगतिवाद की धारणा और व्याख्या बराबर विकसित होती हुई और उगती हुई वस्तु है, और कई अर्थों में देश-काल की माँगो के अनुसार प्रगतिवाद बदलता रहता है, फिर भी विज्ञान और समाज शास्त्र और जीवन के अधिक-से-अधिक कल्याणकारी सिद्धान्तो के अनुसार साहित्य और कला की ऐसी रचना

करना, जिससे संस्कृति और जीवन दोनों की माँगें पूरी होती हों—*यही प्रगतिवाद है।*' इसमें प्राचीन साहित्य और कला-संबंधी जो धारणाएँ है, उनमें केवल दो नये शब्द जोड़े गये हैं, और वे हैं 'विज्ञान' और 'समाज-शास्त्र'। 'जीवन' को ऐसा रखा गया है, जैसे जीवन 'विज्ञान' और 'समाज-शास्त्र' से पृथक हो। फिर भी यदि 'यही प्रगतिवाद है', तो इसमें किसी को विवाद नहीं, इसका कोई प्रतिवाद नहीं। कला हो या साहित्य, उसमें लोक सृजन, 'त्रिलोकी सृजन', भारतीय कला की विशेषता रही है। कोरी सौन्दर्योपासना को वासना (मदन) को यहाँ मांगलिक साधना (शिव) क्षार कर देती है, कर दे चकी है। 'प्रगतिवाद ने साहित्यकारों के लिए न क्षेत्र सीमित किये, न रास्ते बन्द किये और न विचारों को वर्दियाँ पहनायी।' श्री 'फ़िराक' की इस उक्ति में उनका कवि बोल रहा है, क्योंकि यदि उनसे पूछा जाए कि फिर प्रगतिवाद एक 'वाद' क्यों है। अमेरिका बुरा क्यों, रूस अच्छा क्यों, छायावाद बुरा क्यों, प्रगतिवाद अच्छा क्यों, तो उत्तर यही होगा कि प्रगतिवाद के लिए भी एक जायज़ क्षेत्र है, एक नाजायज़ क्षेत्र है, और उधर रास्ता खुला है, पर इधर रास्ता बन्द है, यह नहीं कि यह बुरा है अथवा ऐसा होना नहीं चाहिए। नहीं, नहीं, यही लाज़िमी है। साहित्य एक जीवित प्राणधारा है और यह धारा तेज़-तर्रार नदी की तरह बंधनों को तोड़ती हुई आगे बढ़ती है। लेकिन एक बंधन को तो तोड़ती है, पर दूसरे बंधन अथवा बंधनों में गिरफ्त हो जाती है। बंधन ही बंधन नहीं, बंधन-मुक्ति भी बंधन ही है। नये बंधान में उसे नयी ताज़गी और गर्मी, नयी गति और ऊर्जस्विता मिलती है और उसे अपने तट पर *भी नयी उमगों की बहार, नये पायलों की झंकार,* नये घड़ों की मनुहार मिलती है। जैसे जीवन में यज्ञ और तप, प्रकृति में आविर्भाव और तिरोभाव, संगीत में सुर और ताल, छंद में गति और यति है, साहित्य का भी कारवाँ उसी प्रकार चाल की गति के साथ-साथ पड़ाव के ठहराव पर विश्राम करता हुआ आगे बढ़ता है। अन्तर्मुखी जीवन में जब भावना-प्रवण तप की प्रधानता थी, तो उपनिषदों का निर्माण हुआ; बहिर्मुखी जीवन में जब कर्मकाण्ड की प्रधानता थी तो यज्ञों का विधान हुआ। छाया-वादी *युग अन्तर्मुखी वृत्ति की भावना प्रवणता का,* तप का, युग था। प्रगतिवादी युग बहिर्मुखी वृत्ति के पुरुषार्थ का, यज्ञ का, जयगान है। जीवन दोनों को लेकर है। ये दोनों शक्ति और शिव हैं। एक नारी है, दूसरा पुरुष। लेकिन नारी जब वंध्या हो कर मात्र कामिनी रह जाती है, माता नहीं बन पाती, और पुरुष जब पुरुषार्थ खो कर मात्र उपभोक्ता और निर्वीर्य रह जाता है, तो जो विकृतियाँ आती है, प्रकृति उनका उपचार करती है। यही *नियम* ऋत् और सत्य है। साहित्य में भी प्राण और रुचि के रूप में, बहाव और ठहराव के रूप में दोनों हैं।

'*धरती की करवट*' में समृद्धों का सतोष नहीं, *शोषितों का उद्घोष है। यह कविता-संग्रह प्राप्ति के* उल्लास का विलास नहीं, और न नैराश्य की शिथिलता का विषाद है, यह प्रयत्न के पुरुषार्थ का हुलास है। अतएव इसका बीज भाव शृंगार नहीं, निर्वेद नहीं, है, उत्साह। यह उत्साह जीवित चेतना का स्फुरण है, मानवता का नव-जागरण है, धरती की नयी करवट है। 'धरती की करवट' तथा 'दास्ताने-आदम' शीर्षक कविताओं में जो अदम्य जोश है, अनन्त विश्वास है, वह उसके स्वर-स्वर में, शब्द-शब्द में उतर कर उसे स्पंदित कर रहा है। 'रोटियाँ' का स्वर धीमा है, जैसे कोई बुज़ुर्ग किसी छोकरे की वहम का जवाब सिर धुन धुन कर दे रहा हो। 'ये माना कि रोटी ही सब कुछ नहीं है' की आवृत्ति *आवर्त बनाती हुई छोकरे की वहम की धज्जियाँ उड़ाती* हुई दिल तक को झकझोरती जाती है। 'कैदी' और 'माज़ी परस्त' का संदेश बिलकुल साफ़ है—अतीत-पूजा में नुकसान ही है। नदी की धारा को पीछे ठेल कर उद्गम-स्थान को ले जाना और इतिहास को ठेल कर प्राचीन संस्कृति की ओर ले जाना बेजा

हरकत है। आगे बढ़ने का मतलब पीछे लौटना नहीं होता। स्वतंत्र हो कर भी हम अतीत की कैद में कैदी बने तड़प रहे हैं। 'शीर्षक ढूंढने वाले कवि से' में जो तीखे व्यंग्य, रवानी और बल-दी है, और साथ-साथ शैलियों के जितने प्रकार पूरे कौशल के साथ प्रयुक्त हुए, वे श्री 'फिराक' की काव्य-प्रतिभा के प्रमाण हैं। धरती की करवट की शैली अपनी सहज सरलता में मनोज्ञ और जबर्दस्त चोट करने वाली है। अभी उनकी कविताओं की गूंज थमती नहीं, घुमड़ती रहती है, और खून में एक ताजगी और गर्मी, दिल में एक नयी धड़कन और मस्तिष्क में एक सर्मा तैयार कर देती है। इसका कारण कविता के भाव में जो तनाव है, वह ही नहीं, वरन् भाषा में जो सुलझाव है, शैली में जो फैलाव है, वह भी है।

राग-विराग : सम्पादक, रघुपति सहाय 'फिराक', प्रकाशक, लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ-संख्या २१०, मूल्य २॥)

'राग विराग' हाली, नाज़िर, अख्तर शीरानी, जोश मलीहाबादी, शौक किदवई, शौक लखनवी, मुंशी गोरखप्रसाद 'इबरत', और अल्लामा तबातबाई की एक-एक मसनवियों—प्रबंध एवं निबंध-काव्यों—का हिन्दी संकलन है। मसनवियों के चुनाव में सम्पादक ने जौहरी का काम किया है, और प्रत्येक शायर की विशेषताओं को आम तौर पर तथा दी हुई मसनवी की खूबियों को खास तौर पर बयान करने में सम्पादक ने जिस पैठ और पकड़ का परिचय दिया है, वे न केवल मसनवी का रस सहज बनाते हैं, किन्तु साथ साथ यह भी बेलौस बतलाते हैं कि 'फिराक' स्रष्टा और द्रष्टा दोनों हैं।

हाली की मसनवी 'मुनाजाते बेवा' की मासूम और भोली घुलावट तथा मन्द्र-मंथर गति एक ओर है, तो जोश मलीहाबादी की मसनवी 'सुहागन बेवा' की ऊर्जस्विता और कर्म-चैतन्य का संदेश दूसरी ओर है। दोनों दो युगों की चेतना और भावना को विधवा के माध्यम से व्यक्त कर रहे हैं, पर लगता है कि जैसे 'हाली' दर्द हो, 'जोश' उसकी दवा। 'नाजिर' में प्रकृति-चित्रण की रँगा-रँगी है, 'शौक' किदवई में गार्हस्थ्य-रस है और 'शौक' लखनवी में ऐकान्तिक रोमांटिक प्रेम की मार्मिकता। 'हुस्ने-फितरत', सम्पादक श्री 'फिराक' के गीत, 'इबरत' की रूपक कथा अपनी कल्पना, वर्णन-वैपुल्य और सर्वांगीण निर्वाह के लिए एक ही चीज है। अल्लामा तबातबाई की 'गोरे—गरिबाँ' यद्यपि 'ग्रे की एलिजी' का उर्दू रूपान्तर है, पर उसमें भावों के प्रकाशन में, चित्रों—वस्तुओं—दृश्यों के विधान में और उद्दीपन के निर्वाह में जो कमाल का कौशल दिखलाया गया है, वह उसे मौलिक रचना की ताज़गी और घुलावट देता है।

पुस्तक हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि करेगी, इसमें संदेह नहीं।

शिवनन्दन प्रसाद

वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा : लेखक, डा० सत्यप्रकाश, प्रकाशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना। आकार डिमाई, पृष्ठ-संख्या २६८, मूल्य ८)

भारत ज्ञान-विज्ञान में जगद्गुरु है, ऐसा कहते बहुत हैं और 'वेदों को चुरा कर जर्मनी वाले अपने देश ले गये, वहाँ उन्होंने उनके आधार पर नाना तरह की आश्चर्य-जनक चीजों की ईजाद की' का नारा तो किसी ज़माने में अनपढ़ गाँव वाले भी लगाया करते थे, किन्तु इस ज्ञान-गुरु देश ने विज्ञान में क्या प्रगति की थी, उसका पता तो विद्वानों में भी कम को ही होगा, डा० सत्यप्रकाश ने संस्कृत वाङ्मय के परिश्रमपूर्ण अध्ययन के बाद जो यत्किंचित् सामग्री संकेत प्राप्त किया है, उसे बड़ी कुशलता के साथ सहेज कर उन्होंने उसके आधार पर वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा को पुनरुज्जीवित किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में कुल पाँच अध्याय हैं। पहले *अध्याय में विज्ञान की वैदिक कालीन प्रेरणाओं* पर विचार किया गया है। लेखक ने इस अध्याय में *अग्निमथन, अन्न और साद्य,* मधु और सरघा (मधुमक्खी-पालन), पात्र, भांड और उपकरण, कृषि का आरंभ, सूत की कताई बुनाई आदि अनेक विषयों पर वेदों में पाये जाने वाले विचारों का संकलित किया है। यह सत्य है कि उन्हें इस दिशा में ग्रीफिथ के वेदों पर किये गये कार्यों तथा बी० एन० सील की पुस्तक 'दि पाजिटिव साइन्सेज ऑफ एन्शियंट हिंदूज़' से पर्याप्त सहायता मिली है, किन्तु संस्कृत की इस अतिप्राचीन सामग्री का फर्स्टहैंड अध्ययन के साथ लेखक ने जिस कुशलता से उपयोग किया है, वह कम महत्त्व की वस्तु नहीं। इस अध्ययन से *प्रकारान्तर रूप से वैदिक जीवन की भौतिक विशेष*-ताओं, उद्योग धंधों की स्थिति आदि का बड़ा ही मनोरंजक वर्णन मिलता है। साथ ही उस जमाने की अतिआवश्यक गार्हस्थ्य वस्तुओं स्रुच (प्याला), चमस (चमचा), अधिषवण (सिल), ग्रावाण (सिलबट्टा) तथा उपलप्रक्षिणी (भड़भूँजनी), बैन्द (तालाब से मछली पकड़ने वाला), सम्भवतः आज का बिन्द, कीनाश (किसान), आदि सैकड़ों पेशों के कर्ताओं के वैदिक नाम *अध्ययन की नयी दिशा* दिखाते हैं। हल में बैलों को जोड़ने की त्रिया को *सीर योग कहते थे और यह सीर, 'सीरधर' में आज भी दिखाई पड़ता है।* इस प्रकार की बहुत ही उपयोगी, कई दृष्टियों से विचारणीय और महत्त्वपूर्ण सामग्री इस पहले अध्याय में दी गयी है।

दूसरे अध्याय में भारतीय गणित और ज्योतिष पर विचार उपस्थित किये गये हैं। इस अध्याय में अंकगणित की परम्परा, जैन-गणित, बीजगणित का विकास आदि उपशीर्षकों से इन विषयों पर लेखक ने विचार किया है।

तीसरे अध्याय में कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर अर्थशास्त्र, धातुकर्म और आकरज पदार्थ, गोधन-पशुपालन, आदि कई विषयों का विवेचन हुआ है। *चौथे अध्याय में रसायन की परम्परा तथा पाँचवें* में आयुर्वेद की स्थिति पर अत्यन्त गंभीर और विशद विचार हुआ है।

यद्यपि पुस्तक प्राचीन भारतीय विज्ञान से सम्बन्धित है; किन्तु लेखक की शैली और विषय के विवेचन का सरल ढंग पुस्तक को सर्वत्र नीरस होने से बचाता है। इस प्रकार से भारतीय विद्याओं के अध्ययन का प्रयत्न यों ही बहुत कम हुआ है, और हिंदी में तो यह सबसे पहला प्रयत्न है, जो प्रयत्न की दृष्टि से ही प्रथम नहीं, विषय-विवेचन और भाषा सभी दृष्टियों से प्रथम श्रेणी का है। हाँ, एक बात खटकती है कि लेखक ने सर्वत्र ऐतिहासिक विकास का यथा-तथ्य आंकड़ों के साथ अंकन किया है, उस पर गहराई के साथ विवेचन, वर्तमान पश्चिमी विज्ञान से सन्तुलन आदि नहीं दिखाया है। वैदिक कालीन विद्याएँ १२वीं शताब्दी तक आ कर, किस रूप में *परिवर्तित हुईं, पहले से उनमें क्या अन्तर आ गया,* क्या प्रगति हुई, इसका स्पष्ट रूप नहीं दिखाई पड़ता। *एक स्थान पर 'सीसेन विद्याओं' के वैदिक* मंत्र के अर्थ करते हुए लेखक ने लिखा है कि शीशे के बने छर्रे (lead shots) काम में लाये जाते थे (पृ० २०)। यह अनैतिहासिक लगता है, छर्रों का प्रयोग कमोस या बारूद के साथ होने लगा, जो बाद की चीज़ है। लेखक ने *स्वयं स्वीकार किया है* कि अग्निचूर्ण, या बारूद जिसका वर्णन शुक्रनीति में आता है, बाद की चीज़ है (पृ० २०६)। पुस्तक संक्षेप में प्राचीन भारतीय-विद्याओं के परिचय के लिए कोश का काम देती है। इस ग्रंथ के प्रकाशन से निःसन्देह हिंदी-भाषा की गौरव-वृद्धि हुई है।

शिवप्रसाद सिंह

सफल जीवन (होली-विशेषांक) : सम्पादक, दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, कु० कमला गोयल, *अरविन्द मालवीय, प्रकाशक, विद्यावती; वार्षिक* मूल्य ७), एक प्रति ।।।-

९४, बेयर्ड रोड, पो०बा० नं० ३१९, नयी दिल्ली— १ से प्रकाशित मासिक 'सफल जीवन' का होली-विशेषांक सामने है। कवर की विज्ञप्ति विशेषांक के विषय से कुछ खास साम्य नहीं रखती। सपादकीय, 'कांग्रेस की शुचिता और लक्ष्य सिद्धि' कवर के लेबिल 'अखिल भारतीय शिक्षात्मक तथा सांस्कृतिक मासिक' का विरोधाभास है। विभिन्न-विषय-विभूषित होते हुए भी सतही निबंध खींच नहीं पाते। कविताएँ पुरानी है। एकाध नयी भी हैं, जो 'शिशु-बोध', 'बाल-साहित्य'-जैसी पुस्तकों के लिए उपयुक्त हैं, कुछ अधिक नहीं।

'महीने की डायरी' मास के संक्षिप्त समाचार का संकलन है 'स्वदेश' में स्वदेश की महीने भर की राजनीतिक गति विधियों का संक्षिप्तिकरण है, और 'घटना-चक्र' तीस दिन के अन्दर विश्व में घटित घटनाओं की उलझी कड़ियों का अजायबघर। इसी प्रकार 'जनता की दृष्टि में', 'खेल और खिलाड़ी', 'विज्ञान की प्रगति', 'अपना हिंदी-शब्द-ज्ञान जाँचिए', 'नारी-ससार', 'गोपनीय उलझनें', 'चलचित्र', 'पाठक के पत्र' आदि स्तंभों में स्तंभानुरूप विषयों की चर्चा है जो भारी-भरकम नहीं होते हुए भी, विविध विषयों की सामान्य-ज्ञान वृद्धि के उपयुक्त साधन है। इसके अतिरिक्त परीक्षोपयोगी लेख और 'छात्रों के लिए' 'सदा पठनशील रहो' जैसे स्तभ भी हैं।

संक्षेप में इस विशेषांक में वह सब-कुछ है, जो सामान्य है, पर ऐसा कुछ विशेष नहीं, जो 'विशेषांक' की सार्थकता प्रमाणित कर सके—'होली-विशेषांक' की तो कतई नहीं। मिला जुला कर कुल चार ही शीर्षक होली से सबंधित हैं—वे भी इतने हीन, जिनकी ओर ध्यान भी नहीं जाता, जाता भी, तो रम नहीं पाता। अपितु ऐसा लगता है, जैसे-कम्पोजीटर की भूल से कवर पर 'होली-विशेषांक' छप गया हो, जिस ओर प्रूफरीडर की दृष्टि ही नहीं गयी।

रामवृक्ष बेंकठपुरी

पुस्तक-परिचय

पंजाब की लोककथाएँ लेखक, प्रीतम पछी और बनजारा बेदी, पृ०-सं० ५२, मूल्य १)

ब्रज की लोककथाएँ लेखिका, आदर्शकुमारी यशपाल, पृष्ठ-संख्या ६१, मूल्य १।)

बंगाल की लोककथाएँ लेखक, मन्मथनाथ गुप्त; पृष्ठ-संख्या ६५, मूल्य १।।)

तीनों के प्रकाशक, आत्माराम एंड संस, दिल्ली—६, आकार १।२ फुलस्केप।

उपर्युक्त तीनों पुस्तकें प्रकाशक की 'सचित्र लोक-कथा माला' के अन्तर्गत प्रकाशित की गयी हैं। अभी तक हमारे देश में बाल-साहित्य के लिए कोई सामूहिक और सूझ-भरा काम नहीं हुआ है। विदेशी कहानियों के आधार पर देशी भाषाओं में लिखी कथाएँ मिलती रही है, पर इस नवीन सूझ-भरे प्रयास को देख कर बड़ा हर्ष होता है।

पहली पुस्तक में पंजाब की १० सचित्र कहानियाँ हैं, इसी प्रकार दूसरी में ७, तथा तीसरी में ९ कहानियाँ हैं। पुस्तकों का मुद्रण मोटे टाइप में सुरुचिपूर्ण ढंग से किया गया है। चित्र भी ठीक हैं यद्यपि और सरल तथा स्पष्ट चित्र बेहतर होते। सभी में कहानियों का चुनाव योग्य लेखकों ने बहुत अच्छा किया है। ये कहानियाँ ८ वर्ष से १२ वर्ष के बालकों के लिए मनोग्राही तथा उपयोगी होंगी। लोक-कथाओं के स्वाभाविक

गुण के अनुसार ये बच्चे और बूढे दोनों के लिए ही रुचिकर होगी। इस पुस्तकमाला को यथोचित प्रचार मिलना चाहिए।

() कथा-मंजरी : लेखक, नागार्जुन; पृष्ठ सख्या ६०, मूल्य १)

() बूढ़े बच्चे : लेखक, रामचन्द्र तिवारी तथा सिद्धी तिवारी; पृष्ठ-सख्या ७९, मूल्य १।।)

() बाल-मेला : लेखक, शमुनाथ 'शेष'; पृष्ठ-सख्या ३६; मूल्य ।।।)

तीनो के प्रकाशक, आत्माराम एंड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली—६; आकार १।२ फुलस्केप।

कथा मजरी में ६ वर्ष से ८ वर्ष तक के बालकों के लिए लिखी गयी, सुन्दर चित्रों से युक्त सीख-भरी २० कहानियाँ सग्रहीत हैं। कहानियो में पशु-पक्षी ही प्रमुख पात्र हैं, जिनके कारण यह यह बच्चो को और भाएँगी।

बूढ़े बच्चे में ८ से १२ तक के बालकों के खेलने योग्य ५ सुन्दर नाटकों का सग्रह है, जिन्हे थोड़ी-सी सामग्री से ही बालक अपने मोहल्ले या स्कूल में खेल सकते हैं।

बाल मेला में ८ से १२ तक के बालकों के लिए १४ सचित्र कविताएँ सग्रहीत हैं। पुस्तक की कविताएँ तो सुन्दर हैं, पर चित्र भद्दे हैं।

स्कूलो तथा बच्चो के पुस्तकालयो में इन पुस्तकों को अवश्य स्थान मिलना चाहिए।

() पढ़ लो बेटा, पढ़ लो : लेखक, बेनीमाधव शर्मा, चित्रकार, काजिलाल; प्रकाशक, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, बनारस, पृष्ठ सख्या ४८, आकार डिमाई, मूल्य ।।।≈)।।

आजकल बाल-साहित्य के नाम पर जो धाँधली मची हुई है, विशेष कर अधिक खपत वाली प्राइमरो में, उस बीच प्रस्तुत पुस्तक को देख कर मन प्रसन्न हो जाता है। अच्छे आर्ट पेपर पर प्रत्येक अक्षर के साथ तिरंगे चित्रों से युक्त यह पुस्तक प्रत्येक हिन्दी सीखने वाले बच्चे की अपनी हो कर रहेगी। कुछ चित्रों को छोड कर सारे चित्र तो सुन्दर हैं ही, साथ ही प्रत्येक अक्षर पर बनायी गयी कविताएँ बच्चे जल्दी नही भूलेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के लिए प्रकाशक, लेखक और चित्रकार तीनो ही साधुवाद के पात्र हैं।

() एक क़दम आगे मनरो लीफ, प्रकाशक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, आकार रायल, पृष्ठ-सख्या ८०, मूल्य १।।।)

प्रस्तुत पुस्तक प्रसिद्ध अमरीकी लेखक मनरो लीफ की अग्रेजी पुस्तक का अनुवाद है। इसमें चित्रों के सहारे हमारे समाज की व्यवस्था, आदि-काल से अब तक, बड़े सरल और सरस ढग से समझायी गयी है।

पुस्तक का कागज तथा मुद्रण बहुत सुन्दर है। इसका प्रयोग प्रत्येक पाठशाला में होना चाहिए।

() ज्ञान की कहानियाँ : भाग १ और २ : लेखक, प्रो० सी० एस० भटारी, प्रकाशक, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, पृष्ठ-सख्या ३२, आकार १।२ फुलस्केप, मूल्य ।।।≈)।।

दोनों पुस्तकें क्रमश ६ से ८ तथा ८ से १० वर्ष के बालकों के लिए लिखी कहानियों का सचित्र-संग्रह है। प्रथम भाग में पशु-पक्षियों की तथा दूसरे में फुटकर कहानियाँ हैं, कहानियों की भाषा बड़ी रोचक तथा विषय बड़े उपयोगी है। दुरगे चित्र सुरुचिपूर्ण हैं। दोनो पुस्तकें श्रेष्ठ आर्ट पेपर पर बड़ी सफाई से छपी हैं। दोनों में चित्रकार का नाम नहीं है। बाल-साहित्य में चित्रकार की भी उतनी ही जिम्मेदारी है, जितनी लेखक की, अतः उनका नाम अवश्य होना चाहिए। — जगदीश मित्तल

प्रकाशक : मधुसूदन चतुर्वेदी एम० ए०, ८३१, बेगमबाजार, हैदराबाद–दक्षिण
मुद्रक : कमर्शियल प्रिंटिंग प्रेस, हैदराबाद–दक्षिण

कल्पना

जून, १९५५

निवेदन

१. प्राय 'कल्पना' के पाठकों के इस आशय के पत्र आते रहते है कि उनके नगर के पत्र-विक्रेताओं के पास या उनके पास के रेल्वे स्टाल मे उन्हे 'कल्पना' नहीं मिलती। ऐसे पाठको से हमारा निवेदन है कि कई कारणो से देश के नगर-नगर में पत्र-विक्रेताओ के माध्यम से पाठको तक 'कल्पना' पहुँचाना सभव नहीं है। अत उन्हे १२) वार्षिक शुल्क भेज कर ग्राहक बन जाना चाहिए।

२ ग्राहको की ओर से प्राय हमें यह शिकायत सुननी पडती है कि 'कल्पना' उन्हे नही मिलती। कार्यालय से 'कल्पना' भेजते समय एक-एक ग्राहक की प्रति दो बार जाँच कर भेजी जाती है, ताकि किसी की प्रति रह न जाए। फिर भी कुछ लोगो की पत्रिका न मिलने की शिकायत बनी ही रहती है। इसलिए इस वर्ष, जनवरी १९५५ से पोस्टल सर्टीफीकेट के अन्तर्गत 'कल्पना' भेजने का प्रबंध किया गया है। इस प्रकार हम अपनी ओर से हर सभव उपाय द्वारा यह प्रबंध कर देना चाहते है कि यहाँ से पत्रिका रवाना करने में किसी प्रकार की चूक न हो।

३. सार्वजनिक पुस्तकालयो, शिक्षण-सस्थाओ, तथा विश्वविद्यालय के पुस्तकालयो की ओर से वर्ष के अत में प्रायः इस आशय के पत्र आते है कि उन्हें इस वर्ष अमुक अक प्राप्त नही हुए। फाइले पूरी करने के लिए ये अक भेजिए। उपर्युक्त सस्थाओ के अधिकारियो से निवेदन है कि वे हमें ऐसे धर्म-सकट में न डाले। जब कोई अक प्राप्त न हो, तो अपने डाकघर से पूछिए और उनके लिखित उत्तर के साथ दूसरे महीने में ही अक प्राप्त न होने की सूचना हमें भेजिए। अन्यथा दुबारा अक भेज सकने में हम असमर्थ होंगे।

कल्पना

वर्ष ६ जून
अंक ६ १९५५

सम्पादक-मण्डल
डॉ० आर्येन्द्र शर्मा
(प्रधान संपादक)
मधुसूदन चतुर्वेदी
बद्रीविशाल पित्ती
मुनीन्द्र

कला-सम्पादक
जगदीश मित्तल

वार्षिक मूल्य १२)
एक प्रति १)

८३१, बेगमबाज़ार,
हैदराबाद-दक्षिण

सेवा
के
लिए
प्रस्तुत
Quality Printing
in
EXPERT HANDS
LABELS
LITHOGRAPHERS
PRINTERS
BOX MAKERS
BOOK BINDERS
BOXES
CALENDERS
सन् १९५५ के अपने प्रिंटिंग संबंधी विचार-विमर्श के लिए शीघ्र ही मोहमदी को बुलाएँ और हमारे विस्तृत अनुभव तथा प्रिंटिंग संबंधी नवीनतम जानकारी को अपनी सेवा में लें। आपको तुरन्त मालूम हो जाएगा कि मोहमदी आपकी योजना बनाने के भार में किस हद तक मुक्त कर सकता है—खास कर आजकल जब कि सामग्री (Material) का अभाव है। बगैर किसी कृतज्ञता के मोहमदी के प्रतिनिधि को बुलाने के लिए आज ही लिखें।
The
MOHAMADI
FINE ART LITHO WORKS
MOHAMADI BUILDING, GUNPOWDER ROAD,
MAZAGON, BOMBAY
TELEPHONE 40235 TELEGRAMS: "KORAN" ESTABLISHED 1875 INCORPORATED 1938
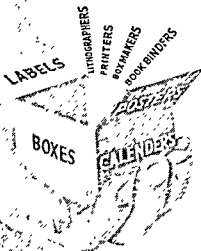
हमारा

नवीनतम प्रकाशन

WHEEL

OF

HISTORY

By

Dr. Rammanohar Lohia

Price
3/12/-

नवहिन्द पब्लिकेशन्स

८३१, बेगमबाजार,

हैदराबाद

इस अंक में

निबंध

प्रज्ञा-सूत्र और कहावत	६	कन्हैयालाल सहल
प्राचीन भारतीय भूगोल	२०	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

कहानी

केवड़े का फूल	३६	शिवप्रसाद सिंह
माँ से कहा था...	११	कुलभूषण

कविता

रेडियो	५	बालकृष्ण राव
तीन कविताएँ	१८	सर्वेश्वरदयाल सक्सेना
दो कविताएँ	४२	प्रभाकर माचवे

स्तंभ

संपादकीय	१
समालोचना तथा पुस्तक-परिचय	४३

समीक्षार्थ प्राप्त साहित्य

रामपुरिया प्रकाशन, कलकत्ता

सन्यासी और सुन्दरी यादवेन्द्रनाथ शर्मा 'चन्द्र'

विद्यामन्दिर प्रकाशन, ग्वालियर

हमारे पड़ोसी देश : प्रो० रजन

साहित्य निकेतन, कानपुर

कविताएँ १९५४ अजित कुमार

राजपाल एंड सन्स, दिल्ली—६

चोली दामन . करतारसिंह दुग्गल
अपराधी कौन इन्द्र विद्यावाचस्पति
कलकत्ता से पेकिंग भगवतशरण उपाध्याय
भारत की कहानी : भगवतशरण उपाध्याय
आधुनिक समीक्षा डा० देवराज

आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली—६

नेपाल की कहानी . काशीप्रसाद श्रीवास्तव
पृथ्वी परिक्रमा . जी० वी० मावलकर
रेडियो नाटक . हरिश्चन्द्र खन्ना
निबंध विवेचन के सिद्धान्त : सुमन मल्लिक
गढ़वाल की लोक-कथाएँ : गोविन्द चातक
राजस्थान की लोक-कथाएँ पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
मालवा की लोक-कथाएँ : श्याम परमार
हिमाचल की लोक-कथाएँ : सतराम वत्स्य
सौराष्ट्र की लोक-कथाएँ : प्रवासीलाल वर्मा
रूस की लोक-कथाएँ : हंसराज 'रहबर'

एन० जी० मेहता, जोशी बाग, कल्याण

हिन्दी गुजराती शिक्षक एन० जी० मेहता

नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद

लकीरें ओंप्रकाश
अंजो दीदी . 'अश्क'
बड़ी बड़ी आँखें : 'अश्क'

[शेष पृष्ठ ६ पर]

भारतीय ग्रंथमाला, दारा गंज, प्रयाग

समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय : भगवानदास केला
राजव्यवस्था सर्वोदय दृष्टि से : भगवानदास केला
प्राकृतिक चिकित्सा ही क्यों ? : भगवानदास केला
मेरी सर्वोदय यात्रा : भगवानदास केला
आर्थिक क्रांति के आवश्यक कदम : जवाहिरलाल जैन

काव्य कुटीर, चन्दौसी

कल्पना कामिनी : सुरेन्द्रमोहन मिश्र

प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नयी दिल्ली

आचार्य विनोबा भावे
हिन्दी साहित्य की नवीन धाराएँ
भूमि-व्यवस्था : सुधार की प्रगति

आगामी अंकों में

निबंध

नलिनविलोचन शर्मा : विधेयवाद और नव्यालोचन

कहानी

लक्ष्मीनारायण लाल : शरणागत (एकाकी)

पाठकों के पत्र

'कल्पना' में प्रकाशित रचनाओं के विषय में पाठकों की जो राय होती है, उसे प्रायः प्रकाशित किया जाता है। हम यह मानते हैं कि पाठक की राय लेखक के पास पहुँचाना आवश्यक है । उसमें जो ग्राह्य है, वह उसे स्वीकार करे। ऐसा न समझा जाए कि पाठकों की वह राय ही प्रकाशित की जाती है, जिससे सम्पादक-मंडल सहमत हो।

—संपादक

मार्च-अंक का संपादकीय : 'कल्पना' के मार्च अंक के इतने अच्छे संपादकीय के लिए मेरा बहुत बहुत आभार लें। साहित्य और जीवन के लिए जो आस्था मुझे इसमें दीख पड़ी है, उसे और भी बहुत-से लोग पा सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

कृष्णा सोबती

शिव और सती (जलीय चित्र),
कालीघाट पट-चित्र :
१८६० ई० के लगभग

श्री अजित घोष के सौजन्य से

सम्पादकीय

साहित्य में यथार्थ और आदर्श

यथार्थ का, जीवन की वास्तविकता का, चित्रण साहित्य की अपरिहार्य विशेषता है, यह सिद्धान्त प्रायः सर्व-सम्मत है। पर, यथार्थ क्या है, इस प्रश्न का उत्तर कुछ अस्पष्ट और उलझा हुआ-सा है। अथ च चित्रण का रूप और प्रकार भी व्याख्या की अपेक्षा रखता है। आपाततः 'यथार्थ' का अर्थ होना चाहिए, 'इंद्रिय-गोचर अथवा बुद्धि-गोचर जगत्' और 'चित्रण' का अर्थ 'ज्यों का त्यों, यथातथ्य रूप में, वर्णन'। पर क्या साहित्यकार विश्व के दृश्य, श्रव्य, अनुभूयमान पदार्थों, परिस्थितियों, भावनाओं और विचारों का यथातथ्य वर्णनमात्र करता है? यदि वह इतना ही करता है, तो उसे किसी फोटोग्राफर या संवाददाता से किस आधार पर भिन्न माना जा सकता है? चित्रण अथवा वर्णन 'कलात्मक' होना चाहिए, इतना कह देने-भर से बात नहीं सुलझती। 'कलात्मक', अर्थात् कैसा? क्या यह कलात्मकता केवल अभिव्यक्ति की विशेषता है? क्या लक्षणा-व्यंजना-वक्रोक्ति की सहायता से किया हुआ, वास्तविकता का वर्णनमात्र कलात्मक हो जाता है? साहित्य के फल अथवा प्रभाव की दृष्टि से देखें, तो कलात्मकता का अर्थ होगा, सरसता अथवा हृदयावर्जकता। उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियों में सरसता कहाँ से आती है? विषय-वस्तु से अथवा वर्णना-नैपुण्य से, अथवा दोनों के समन्वय से? पंडितराज ने रमणीय अर्थ (=वस्तु) के प्रतिपादक शब्द को काव्य बनाया है। पर क्या यथार्थ की रमणीयता स्वयंसिद्ध है? यदि है तो कवि की सहायता के बिना ही उसका अनुभव सब को सदा क्यों नहीं होता रहता? विषय-वस्तु में स्वयं रमणीयता नहीं है, तो वर्णना-नैपुण्य उसकी सृष्टि कैसे कर सकता है? अरमणीय का कलात्मक वर्णन वक्रोक्तिमात्र हो सकता है, काव्य नहीं।

इन प्रश्नों में से कुछ के उत्तर अप्रैल के 'संपादकीय' में दिये जा चुके हैं। वस्तुतः उत्कृष्ट साहित्य सदा यथार्थ का ही चित्रण करता है, अन्यथा वह उत्कृष्ट साहित्य हो ही नहीं सकता। क्योंकि उत्कृष्ट साहित्य

गदा सरस होना है और सरसता अथवा हृदयावर्जकता साधारणीकरण के बिना संभव नहीं, और साधारणीकरण होता है केवल ऐसी अनुभूतियों का, जो पाठक के लिए सर्वथा अविदित नहीं हैं। इस प्रकार की विश्वजनीन अनुभूतियाँ अयथार्थ अथवा अयथार्थ-विषयक कैसे हो सकती हैं?

इस बात को थोड़ा और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। यह ठीक है कि साहित्यकार जिस अनुभूति को पाठकों द्वारा भावित कराता है, वह वस्तुतः पाठकों की अपनी ही अनुभूति होती है; केवल साहित्यकार की वैयक्तिक संपत्ति नहीं, अन्यथा उसका साधारणीकरण नहीं हो सकता था। पर अन्तर यह है कि साहित्यकार की अनुभूति तीव्र, गहरी और सुस्पष्ट होती है, जब कि पाठक की अनुभूति धुँधली और अधूरी-सी रहती है—जब तक वह साहित्यकार की रचना को पढ़ और समझ नहीं लेता। जो साहित्यकार नहीं है उसकी अनुभूतियों के धुँधली होने का कारण स्पष्ट है—जीवन की अनन्त विविधता और अनुभूति-विषयों का अतिपरिचय। आज के मानव को क्षण-क्षण में दर्जनों अनुभूतियाँ होती रहती हैं, जो प्रायः एक दूसरी से असंबद्ध होती हैं। वह किस-किस अनुभूति से प्रभावित हो? मान लीजिए, आप खाना खा कर दफ्तर जा रहे हैं। पत्नी से कुछ झगड़ा हुआ है, इसलिए मन में कुछ झुँझलाहट है—आप स्त्री-जाति के स्वभाव की आलोचना कर रहे हैं। पर वह देखिए, उधर बस छूटी जा रही है और लोग क्यू तोड़ कर भाग रहे हैं। पत्नी की बात भूल कर आप सोचने लगते हैं—मनुष्य कितना स्वार्थी है, बर्बरता से अभी तक ऊपर नहीं उठ सका। बस में बैठे लोगों से भीख माँगने वाली भिखारिन को देख कर आपको आर्थिक विषमता की बातें याद आती हैं; किसी सहयात्री के सुन्दर शिशु को देख कर आपको वात्सल्य की अनुभूति होने लगती है, और उसी समय रास्ते में जाते हुए, किसी मुर्दे को देख कर वैराग्य की। दफ्तर में मालिक की फटकार सुन कर आप आत्म-ग्लानि से भर जाते हैं और किसी विनोदी साथी की बातें सुन कर उल्लास से। यह सब पन्द्रह मिनिट या आधे घंटे के भीतर ही हो जाता है। आपने सब कुछ देखा, सुना और अनुभव किया, पर अन्त में आपके पास बचा क्या? शायद मुर्दे की बात याद रह गयी हो, पर क्या आप पहले से ही नहीं जानते हैं कि संसार में हजारों मनुष्य रोज मरते हैं? यह तो 'रोटीन' है—रोज का धंधा—इसके लिए माथा-पच्ची क्यों? ठीक आपकी ही तरह साहित्यकार भी देखता, सुनता और अनुभव करता है, पर वह, पत्नी का कटु स्वभाव, क्यू तोड़ने वालों की बर्बरता, भिखारिन का दुःख, बच्चे का भोलापन, मुर्दा, मालिक का अत्याचार, विनोदी साथी—इनमें से किसी एक वस्तु को चुन कर उसका सर्वात्मना अनुभव करता है, अथवा सभी को ले कर उन्हें एक व्यवस्थित, शृंखलाबद्ध रूप में आत्मसात् कर लेता है। उसकी अनुभूति सामान्य व्यक्ति की अनुभूति की तरह बिखरी हुई, धुँधली, अधूरी और क्षणिक न हो कर तीव्र, स्पष्ट, समन्वित और 'रोटीन' की उपेक्षा से मुक्त होती है। इस अनुभूति के आधार पर किया गया, वर्णन अथवा चित्रण हमें सरस, सजीव सुन्दर और मर्मस्पर्शी लगता है—इसलिए नहीं, कि वर्ण्य वस्तुओं में कोई अलौकिकता है, अथवा, वर्णनों में 'कल्पना की ऊँची उड़ान' है, प्रत्युत इसलिए कि वर्णित वस्तुओं से हम परिचित हैं और तद्विषयक अनुभूतियाँ हमारे लिए सर्वथा नयी नहीं हैं, कम-से-कम एक धुँधले-से संस्कार अथवा वासना के रूप में हमारे मस्तिष्क के किसी कोने में पड़ी हुई हैं। साहित्यकार अपनी संवेदनशीलता की सहायता से इनका अम्लान रूप देख पाता है और अपने शब्द-शिल्प की सहायता से उसी रूप को हमें दिखाता है। अतिपरिचय के कारण, अथवा संवेदना के कुंठित हो जाने के कारण अथवा जीवन-संघर्ष के कारण हम वस्तुओं के स्पष्ट अम्लान रूप को नहीं देख सकते, किन्तु है वह रूप यथार्थ ही। हमारे लिए आपाततः इंद्रिय-गोचर अथवा बुद्धि-गोचर न होते हुए भी वह कवि-कल्पना-प्रसूत नहीं है। साहित्यकार जब हमारी भावनाओं को सब ओर से हटा कर केवल वर्ण्य वस्तु पर केन्द्रित कर देता है, तब उसका वास्तविक प्रत्यक्ष हमें हो पाता है। इसी दशा को प्राचीन आचार्यों ने 'विगलितवेद्यान्तरत्व' अथवा 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता' कहा है। इस प्रकार साहित्यिक कृतियों की

रमणीयता का मूल वस्तुत हमारी अपनी ही वासनाओ में है, जिन्हे ये कृतियाँ उद्बुद्ध और उद्दीप्त करके वस्तुओ का 'यथार्थ' रूप हमारे सामने उद्घाटित करती है। 'यथार्थ', अर्थात् वह नही जो हम सामान्यतया देखते है, बल्कि वह जो एक सहृदय को, बाल सुलभ सवेदनशीलता रखने वाले व्यक्ति को दिखाई देता है। इसीलिए यथार्थ का साहित्यिक चित्रण सामान्य फोटोग्राफी या अखबारी रिपोर्ट से भिन्न होता है। साहित्यिक चित्रण का आधार होता है, सवेदना, और फोटोग्राफी या रिपोर्ट का सामान्य चाक्षुप प्रत्यक्ष। एक प्रकार से *कहा जा सकता है कि साहित्य में यथार्थ को 'आदर्श' रूप में प्रस्तुत किया जाता है; अर्थात्* ऐसे रूप में जिसमें कि, साहित्यकार की दृष्टि से, यथार्थ का प्रत्यक्षीकरण होना चाहिए। कालिदास जब कैलास की उपमा त्रिलोचन के अट्टहास से, अथवा इन्दुमती की सचारिनी दीपशिखा से, अथवा आम्रकूट पर्वत की पृथ्वी के स्तन से देते है, तब वे कैलास, इन्दुमती और आम्रकूट के सौन्दर्य का 'आदर्शीकरण' ही करते है। यह आदर्शीकरण हमें रसाप्लावित करता है, यही इसकी तात्त्विकता का, इसके कपोल-कल्पित न होने का प्रमाण है। वस्तुत हमें इन पदार्थों को इसी प्रकार के, उत्कृष्ट-सौन्दर्य-शाली रूप में देखना चाहिए था, पर परिस्थिति-वश हम वैसा कर नही सकते—हमारी दृष्टि निर्बल और सदोष है।

इस प्रकार साहित्य में यथार्थ और आदर्श परस्पर-विरोधी तत्त्व नही है, मूलत ये दोनो एक ही है। वस्तुओं, व्यक्तियो, घटनाओ, परिस्थितियो और भावनाओ के जिस सतही, अस्पष्ट और अधूरे रूप का *अनुभव कर पाते है, वह हमारा, सामान्य व्यक्तियो का 'यथार्थ' है, और जिस स्पष्ट, सपूर्ण, सर्वांगीण* रूप का दर्शन साहित्यकार करता है, वह 'आदर्श' है—हमारी दृष्टि से 'आदर्श', पर साहित्यकार की दृष्टि से तात्त्विक। समस्त उत्कृष्ट साहित्य यथार्थ का, अर्थात् जीवन का, अपने वास्तविक, आवरण-विनिर्मुक्त रूप मे, प्रत्यक्षीकरण ही है। आवरण है, हमारी दैनिक, भौतिक आवश्यकताएँ, उनके लिए हमारा सघर्ष, जीवन के बाह्य रूप से हमारा अतिपरिचय तथा उसके प्रति उपेक्षा, और हमारी कुण्ठाएँ। *इन सब से ऊपर उठ कर ही हम सत्य (=यथार्थ=जीवन) का तात्त्विक, सपूर्ण रूप देख सकते है।* उत्कृष्ट साहित्य के आस्वादन से उत्पन्न आनन्द इसी सत्य के प्रत्यक्षीकरण का दूसरा नाम है। जीवन का प्रत्यक्षीकरण हमें आनन्द देता है, इसी से यह भी प्रमाणित है कि हम जीवन को अपने वास्तविक 'आदर्श' रूप में देखना अवश्य चाहते है—भले ही स्वय देखने म असमर्थ हो।

लिपि सुधार का प्रश्न

नागरी लिपि को छपाई तथा टाइप राइटिंग की दृष्टि से अधिक उपयुक्त बनाने के प्रयत्न बहुत दिनो से होते आ रहे है। आवश्यक सुधारो और परिवर्तनो पर विचार करने के लिए पहले कई समितियाँ बन चुकी है और वे अपने सुझाव भी प्रस्तुत कर चुकी है—यद्यपि उन सुझावो में से शायद किसी को भी व्यापक *मान्यता नही मिली। पर इस स्वध में अधिकारिक रूप से विचार करने के लिए लखनऊ में जो सम्मेलन* बुलाया गया था, उसके सुझावो को उत्तर-प्रदेश की सरकार ने मान लिया है। उत्तर-प्रदेश के अतिरिक्त बबई सरकार ने भी इन सुझावो को मान्यता दी है, और अभी हाल में सुना गया है कि केन्द्रीय सरकार ने भी इन्हे स्वीकार कर लिया है।

सम्मेलन के केवल दो सुझाव ऐसे है, जिन्हे नये और मौलिक कहा जा सकता है। पहला सुझाव है ख के सबध में। सम्मेलन का निर्णय है कि ख के पहले भाग (र) के नीचे वाले छोर को दूसरे भाग (व) से जोड कर लिखा जाए। इससे ख और रव के रूप अलग अलग हो जाएँगे, भ्रम की गुजाइश नही

रहेगी। दूसरा सुझाव है ह्रस्व इ की मात्रा के संबंध में। नागरी में ह्रस्व इ की मात्रा व्यन्जन के पहले (बायीं ओर) लगायी जाती है, पर उसका उच्चारण व्यन्जन के बाद होता है। इस 'अवैज्ञानिकता' को दूर करने के लिए सम्मेलन ने यह सुझाव दिया है कि ह्रस्व इ की मात्रा को भी व्यन्जन के बाद (दाहिनी ओर) ही लगाया जाए, पर (दीर्घ ई की मात्रा से भेद करने के लिए) उसकी खड़ी पाई को आधा (या चौथाई) ही लिखा जाए : कि को कॆ लिखा जाए।

हमारी सम्मति में ये दोनों सुझाव अव्यावहारिक सिद्ध होंगे। ख को सम्मेलन के सुझाव के अनुसार लिखने में असुविधा भी है और कभी त्वरा-लेखन में ख अथवा ष्व का भ्रम होने की संभावना भी है। ख और रव का भ्रम अवश्य दूर हो जाएगा, पर एक दूसरा भ्रम उठ खड़ा होगा। इसी प्रकार ह्रस्व इ की मात्रा ॆ लिखने की बात भी कुछ समझ में नहीं आती। शीघ्रता से लिखने में (=इ) ॆ का ी (=ई) लिख जाना बिलकुल स्वाभाविक है। इसे कैसे रोका जा सकेगा ? 'सरिता' (अप्रैल, १९५५) के संपादक का यह सुझाव भी कि ह्रस्व इ की मात्रा ी हो, और दीर्घ ई को ॊ (पृष्ठ २३), हमें उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। इससे अच्छा तो यह होगा कि ह्रस्व इ को हम ी लिखें, और दीर्घ ई को ी के ॊ में बीचोबीच एक हाइफन (-) जैसा चिह्न दे कर।

वस्तुत. लिपि-सुधार के विषय में अभी और विचार करना आवश्यक है। सुधार अपेक्षित अवश्य है, पर यह काम जल्दी का नहीं है। लखनऊ-सम्मेलन के निर्णयों को तुरन्त मान्यता देना उचित नहीं हुआ। इन पर पुनर्विचार होना चाहिए।

❧❧❧

बालकृष्ण राव | रेडियो

हर नगर में, हर गली में वे महल हैं
बैठ जिनमें ध्यान से धृतराष्ट्र सुनते
आँख देखा हाल जो पूछे बिना ही
(और, सम्भव है, बिना देखे हुए भी)
आज का संजय सुनाता जा रहा है।

हो रहे समवेत योद्धा उभय दल के;
पुष्प-वर्षा के लिए है स्वर्ग प्रस्तुत,
भूमि पूजा-द्रव्य ले, नतग्रीव, सादर

पूछती, 'वह कौन-सा है शिविर जिसमें
बैठ कर अभ्यास करता है युधिष्ठिर
झूठ-सच को साथ कहने-देखने का?'

हो रहे समवेत योद्धा; देखना है
आज संशय-भार अर्जुन के हृदय का
कौन-सा सन्देश हल्का कर सकेगा।

सुन रहा जग, मौन हो जाना न संजय,
शपथ है तुमको नयी धृतराष्ट्रता की!

❦❦❦

कन्हैयालाल सहल | प्रज्ञा-सूत्र और कहावत

अंग्रेज़ी का Aphorism शब्द ग्रीक Aphorismos से निकला है, जिसका अर्थ है 'परिभाषा देना'। Apo का अर्थ है 'से' और Horos का अर्थ है 'सीमा'। इस प्रकार 'Aphorism' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ हुआ, 'किसी विचार-बिन्दु का सीमाबद्ध करके उसका लक्षण निर्धारित करना, अर्थात् उसे निश्चयात्मक रूप देना।' प्रज्ञा-सूत्र एक प्रकार की ऐसी संक्षिप्त और सारगर्भित उक्ति है, जिसमें किसी सर्वसामान्य सत्य की अभिव्यक्ति हुई हो। कहावत[1] और प्रज्ञा-सूत्र में मुख्य अन्तर यह है कि कहावत का सम्बन्ध सामान्य जनता से है, वह लोक की उक्ति अर्थात् लोकोक्ति है, जब कि प्रज्ञा-सूत्र का सम्बन्ध विद्वानों अथवा प्राज्ञों से है, वह प्राज्ञों की उक्ति अथवा प्राज्ञोक्ति है।

पाश्चात्य देशों में प्रज्ञा-सूत्रों का जन्मदाता विख्यात यूनानी वैद्य हीपोक्रेट्स था, जो ईसा के ४६० वर्ष पहले हुआ था; किन्तु भारतवर्ष में सूत्रों की परम्परा बहुत प्राचीन है। हीपोक्रेट्स से भी हज़ारों वर्ष पहले से इस देश में सूत्रों की रचना होती आयी है। ब्रह्मज्ञान तथा उस समय की अन्यान्य विद्याओं की रचना सूत्रों के रूप में हुई थी। अपने यहाँ 'सूत्र' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गयी है :

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवत् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

अर्थात्, सूत्र उसे कहते हैं, जिसमें थोड़े अक्षर हों, अस्पष्टता न हो, अर्थ-गौरव से युक्त हो, विश्वतो-मुखी हो, जिसमें पुनरावर्तन न हो और जो निर्दोष हो।

१. Aphorism is a short frithy statement containing a truth of general import.—(A treasury of English Aphorisms by Logun pearsall Smith p 4.)

भारतीय ग्रंथो को देखते हुए सूत्रो के दो वर्ग निर्धारित किये जा सकते है १ प्रज्ञा सूत्र और २ विद्या सूत्र ।

प्रज्ञा सूत्रो का सबध है आध्यात्मिक ज्ञान, धार्मिक तथा नैतिक उपदेश आदि से, जब कि विद्या-सूत्रो का सबंध ज्योतिष, व्याकरण, छद, नाटय आदि विद्याओ से है। यहाँ प्रज्ञा सूत्र तथा विद्या-सूत्रो के कुछ उदाहरण दिये जा रहे है।

प्रज्ञा सूत्र १ एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति २ विद्ययाऽमृत मश्नुते ३ अध्यात्मविद्या विद्यानाम् ४ आचार प्रथमो धर्म ५ यो वै भूमा तत्सुख, नाल्पे सुखमस्ति ।

विद्या-सूत्र · नाटयशास्त्रकार भरत मुनि का प्रसिद्ध रस-सूत्र *'विभावानुभावव्यभिचारि सयोगात* रसनिष्पत्ति:' विद्या-सूत्र के उदाहरण-स्वरूप रखा जा सकता है। इसी प्रकार 'योगाद्‌धिर्वलीयसी' *जैसे शास्त्रीय न्याय भी जिनका व्याकरण से सबध* है, विद्या सूत्र के अन्तर्गत है।

प्रज्ञा-सूत्र और व्यवहार सूत्र : बहुत-से लोग ऐसे है, जो प्रज्ञा-सूत्रो और व्यवहार-सूत्रो को एक ही समझते हैं किन्तु वास्तव में इन दोनो शब्दो में बडा अन्तर है। Maxim (व्यवहार-सूत्र) लेटिन शब्द Maxima से निकला है जिसका अर्थ है सबसे बडा। अग्रेजी शब्दकोश में 'सर्वाधिक गुरुतापूर्ण उक्ति को'[१] Maxim की सज्ञा दी गयी है। प्रज्ञा-सूत्र और व्यवहार-सूत्र दोनों ही जीवन की किसी सचाई को प्रकट करते हैं, *किन्तु दोनो की पद्धति* भिन्न है। प्रज्ञा-सूत्र विचार को ले कर प्रवृत्त होता है तथा व्यवहार सूत्र का सबध आचार-व्यवहार से है[२]। प्रज्ञा सूत्र तथा व्यवहार-सूत्र दोनो का एक-एक उदाहरण लीजिए

'Eminent posts make great men greater and little men less' एक प्रज्ञा सूत्र है, जब कि 'When in doubt keep silent' व्यावहारिक दृष्टि से शिक्षाप्रद होने के कारण एक व्यवहार-सूत्र है। किन्तु मोर्ले ने प्रज्ञा सूत्र और *व्यवहार सूत्र के अतर को कोई विशेष महत्त्व नहीं* दिया है।

मर्मोक्ति और प्रज्ञा-सूत्र : *पाश्चात्य देशो में प्रथम* श्रेणी के मर्मोक्तिकार के रूप में La Roche foncauld का नाम अत्यन्त विख्यात है। अपनी मर्मोक्तियो के द्वारा इन्होने फ्रासीसी साहित्य को बहुत समृद्ध बनाया है। मर्मोक्तियो के अतिरिक्त इन्होने करीब ७०० व्यवहार सूत्रो की भी सृष्टि की है, जिनका विश्व की अनेक भाषाओ में अनुवाद हो चुका है। ये मर्मोक्तियाँ तथा व्यवहार-सूत्र जितने सक्षिप्त है, उतने ही विशुद्ध और ललित है उनकी अभिव्यक्ति। मानव-स्वभाव की गूढता को प्रदर्शित करने में ये बेजोड सिद्ध हुए है[३]।

किसी ऐसी निशानदार उक्ति को जो अपने पीछे एक प्रकार की चटक छोड जाए, मर्मोक्ति कहते है[४]। निशान (Point) और चटक (Sting) मर्मोक्ति के दो प्राण-बिंदु है। सक्षिप्तता और ललित भाषा यदि मर्मोक्ति का शरीर है, तो निशान और चटक इसकी अर्थ-चातुर्य-रूप आत्मा है। किसी ने कहा है *कि मधुमक्खी में जो गुण होते है, वे ही गुण मर्मोक्ति* के लिए अनिवार्य है। छोटी-सी मधुर देह और पूँछ में डक, ये ही मधुमक्खी की विशेषताएँ है, जो

१ Maxim is a statement of the greatest weight २. "Aporism only states some broad truth of general bearing, a maxim besides stating the truth, enjoins a rule of conduct as its consequence." (Studies in Literature by J. V. Morley, p. 62) ३ चवरा कियानु तत्त्वदर्शन (फिरोजशाह रुस्तमजी मेहता) पृष्ठ ८३। ४ Any saying of a pointed character and a sting in its tail is epigram

मर्मोक्ति में भी मिलती है१। मर्मोक्ति में डक से तात्पर्य उसकी चटक से है।

अंग्रेजी में जिसे Epigram (मर्मोक्ति) कहते हैं, उसका संबंध विद्या-सूत्रों से न हो कर प्रज्ञा सूत्रों से है, किन्तु प्रज्ञा-सूत्र और मर्मोक्ति में भी अन्तर है। प्रज्ञा-सूत्र के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह निशानदार अथवा धारदार हो, किन्तु मर्मोक्ति के लिए ऐसा होना अनिवार्य है।

विषय के स्पष्टीकरण के हेतु कुछ मर्मोक्तियों के उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

(क) कविता जिसके वश में है, वह कवि नहीं है, जो कविता के वश में है, वही कवि है।
—कवि नर्मद।

(ख) जहाँ आशा निराशा बन जाती है, वहाँ निराशा ही आशा का रूप धारण कर लेती है।
—गोवर्धनराम त्रिपाठी

(ग) संयम बिना तलवार राक्षस को, और तलवार बिना संयम साधु को शोभा देता है।
—धूमकेतु

(घ) यह स्पष्ट है कि कोई उपन्यास इतना बुरा नहीं हो सकता कि वह प्रकाशित करने योग्य न हो। हाँ, यह अवश्य संभव है कि कोई उपन्यास इतना अच्छा हो कि वह प्रकाशित करने योग्य न हो।
—जार्ज बर्नार्ड शा

(ङ) जो मनुष्य यह कहता है कि उसने जीवन को समाप्त कर दिया है, उसका तात्पर्य सामान्यतः यह होता है कि जीवन ने ही उसे समाप्त कर दिया है।
—आस्कर वाइल्ड

संस्कृत साहित्य में सूत्र, सूक्ति, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, नर्मोक्ति, मर्मोक्ति, छेकोक्ति, मुक्तक तथा सुभाषित आदि अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु सुभाषित एक अत्यन्त व्यापक शब्द है जिसमें प्रज्ञा-सूत्र, व्यवहार-सूत्र तथा मर्मोक्ति, आदि सभी का समावेश किया जा सकता है। संस्कृत के सुभाषितों में से इन तीनों का एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

प्रज्ञा सूत्र : 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' अर्थात्, धर्म का तत्त्व गुफा में छिपा हुआ है।

व्यवहार सूत्र : सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् (भारवि), अर्थात् सहसा कोई काम नहीं करना चाहिए, क्योंकि अविवेक आपत्तियों का परम पद है।

मर्मोक्ति : भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता.
तपो न तप्तं वयमेव तप्ता.
कालो न यातो वयमेव याता
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा २।

अर्थात्, हमने भोग नहीं भोगे, हम ही भोग लिये गये; हमने तप नहीं तपा, हम ही तप्त हो गये, काल नहीं व्यतीत हुआ, हम ही व्यतीत हो गये, तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, हम ही जीर्ण हो गये। उक्त श्लोक की प्रत्येक पंक्ति एक-एक मर्मोक्ति है।

ऊपर की पंक्तियों में प्रज्ञा-सूत्र, व्यवहार-सूत्र और मर्मोक्ति, इन तीनों के पारस्परिक अन्तर को सोदाहरण दिखलाने का प्रयास किया गया है, किन्तु

१ The qualities rare in a bee that we meet,
In an epigram never should fail,
The body should always be little and sweet,
And sting should be left in its tail
What is an epigram ? A dwarfish whole
Its body brevity, and wit its soul
(quoted in Stevenson's Book of Proverbs 'Maxims and Familiar Phrases' P. 704)

२. वैराग्यशतक (भर्तृहरि)।

'बाङ्ला प्रवाद' के विद्वान् सम्पादक श्री सुशीलकुमार दे ने सभी प्रकार की उक्तियों को लोकोक्ति और प्राज्ञोक्ति इन दो वर्गों में विभक्त कर दोनों के सम्बन्ध में अपने जो विचार प्रकट किये हैं वे अत्यन्त मननीय हैं। उन्हीं के शब्दों में 'प्राज्ञोक्ति, जिसे लेटिन में 'Sententia' कहते हैं, हमेशा लोकोक्ति का रूप धारण नहीं कर लेती। प्राज्ञोक्ति में ज्ञानी के ज्ञान का जो निष्कर्ष हमें मिलता है, वह सुचिंतित होता है और प्रायः उपदेश-मूलक नीति-वाक्य के रूप में देखा जाता है, किन्तु प्रवाद या लोकोक्ति पाण्डित्य, चिन्तन तथा उपदेशात्मकता को ले कर अग्रसर नहीं होती। लोकोक्ति तो स्वतः-प्रसूत होती है, और सरस तथा संक्षिप्त रूप में अभिव्यक्त होती है किन्तु प्राज्ञोक्ति ज्ञान और चिन्तन के परिपक्व फल के रूप में देखी जाती है। नीति-शिक्षा, तत्त्व-ज्ञान और उच्च आदर्श लोकोक्तियों के प्रेरक हेतु नहीं हैं[1]।"

लोकोक्ति और नीति-वाक्य (प्राज्ञोक्ति) में अनेक बार एक बड़ा अन्तर यह देखा जाता है कि प्राज्ञोक्ति 'नैतिक जगत् का सत्य होते हुए भी *व्यावहारिक जगत् का तथ्य नहीं होती[2]।*' और लोकोक्ति 'व्यावहारिक जगत् का तथ्य होते हुए भी नैतिक जगत का सत्य नहीं होती[3]।' विषय के स्पष्टीकरण के लिए निम्नलिखित साखी पर विचार कीजिए :

जो तोको काँटा बुवै ताहि बोहि तू फूल।
तोको फूल के फूल है वाको है तिरशूल॥

यह कबीर की एक सूक्ति है जो नैतिक जगत् का सत्य होते हुए भी व्यावहारिक जगत का तथ्य नहीं है, अर्थात् यथार्थ जगत् में इस सूक्ति के अनुसार आचरण बहुत कम देखने में आता है। इसी प्रकार कुछ राजस्थानी कहावतें लीजिए

१. **पराई पीर परदेस बराबर।** अर्थात्, परदेश के आदमी का यदि कोई चिन्ता करे तो पराये दुख का करे, दूसरे के कष्टों की सभी उपेक्षा करते हैं।

२. **दूसरे की थाली में घी घणा दीखै।** अर्थात् दूसरे की थाली में घी अधिक दिखलाई पड़ता है।

३. **सं आप आप की रोटयाँ कै नीचै आच लगावै।** अर्थात्, सब अपनी-अपनी रोटियों के नीचे आँच लगाते हैं[4]।

उपर्युक्त लोकोक्तियों में व्यावहारिक जगत् का तथ्य होते हुए भी नैतिक जगत् का सत्य नहीं मिलता।

ऊपर के तुलनात्मक उदाहरणों से स्पष्ट है कि लोकोक्ति नैतिक ज्ञान नहीं है, वह है सांसारिक ज्ञान, लोकोक्ति परोक्ष चिन्तन नहीं है, वह है प्रत्यक्ष अनुभूति; लोकोक्ति न तो काव्य है, न तत्त्व-चिन्तन है, न नीति प्रचार है, यह तो सांसारिक ज्ञान की *प्रत्यक्ष अनुभूति की अभिव्यक्ति है।*

लोकोक्तियाँ ग्राम्य होती हैं, यह कहना भी ठीक नहीं। शहरों की अपेक्षा ग्रामों में ही लोकोक्तियों का विशेष निर्माण तथा प्रचार देखा जाता है, किन्तु इसी कारण लोकोक्तियों को ग्राम्य करार देना उचित नहीं। *अवश्य ही लोकोक्तियों की भाषा* जोरदार होती है क्योंकि जीवन की घनिष्ठता से उनका सम्बन्ध रहता है। अनेक कहावतों में सत्य को खुल्लमखुल्ला प्रकट कर दिया जाता है। यहाँ

१ 'बाङ्ला प्रवाद'—श्री सुशील कुमार दे, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४। २ "नैतिक जगतेर सत्य हइले ओ व्यावहारिक जगतेर तथ्य नय" वही, पृष्ठ ४। ३ "व्यावहारिक जगतेर तथ्य हइले ओ नैतिक जगतेर सत्य नय" वही, पृष्ठ ४। ४ मिलाइए—Russian. The burden is light on the shoulders of another.
French. One has always enough strength to bear the misfortune of one's friends
Latin: Men cut thongs from other men's leather
Italian. Everyone draws the water to his own mill.

इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि लोकोक्तियों की सफलता उनके वर्ण्य विषय पर उतनी निर्भर नहीं करती। उनकी सफलता निर्भर करती है उनकी अभिव्यक्ति की भंगिमा पर, सहज बुद्धि के चमत्कार पर, तथा संक्षिप्त एवं साभिप्राय प्रयोगों की सार्थकता पर।

किन्तु कभी-कभी प्राज्ञोक्ति और लोकोक्ति में अन्तर मालूम करना बड़ा मुश्किल हो जाता है। संस्कृत के महाकाव्यों में अर्थान्तरन्यास के रूप में प्रयुक्त अनेक प्राज्ञोक्तियाँ उपलब्ध हैं। हो सकता है कि उनमें से कुछ उक्तियाँ प्रचलित जनश्रुतियों के संस्कृत रूपान्तर हों और शेष कवियों द्वारा स्वयं निर्मित हों। जो उक्तियाँ कवियों द्वारा निर्मित हैं वे लोक की उक्तियाँ नहीं हैं, इसलिए हम उनको लोकोक्तियाँ नहीं कह सकते, उन्हें प्राज्ञोक्तियों के नाम से अभिहित करना ही समीचीन होगा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "वस्तुतः कहावत (प्रावर्ब) केवल लोकोक्ति नहीं है। वह कई बार प्राज्ञोक्ति भी है। तुलसीदास जी की अनेक पंक्तियाँ कहावत बन गयी हैं। उन्हें लोकोक्तियाँ नहीं कहा जा सकता, वे प्राज्ञोक्तियाँ हैं, जो लोक में साहित्य के माध्यम से प्रचलित हुई हैं।" डा० द्विवेदी ने 'कहावत' शब्द में लोकोक्ति और प्राज्ञोक्ति दोनों का अन्तर्भाव कर इस शब्द को और भी व्यापकता प्रदान कर दी है।

स्टीवेन्सन ने लोकोक्ति और व्यवहार-सूत्र के अन्तर को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि व्यवहार-सूत्र किसी सामान्य सत्य अथवा आचार-व्यवहार की अभिव्यक्ति है, या मार्विन के शब्दों में यह कहावत तो है किन्तु है झिनगे की अवस्था में। पर उगने पर ही झिनगा उड़ सकता है, इसी प्रकार व्यवहार सूत्र लोकोक्ति का रूप तभी धारण करता है, जब इसको लोक हृदय ने स्वीकार कर लिया हो और यह सर्वसाधारण में प्रचलित हो गया हो१।

व्यवहार-सूत्र इकट्ठे किये हुए सिक्के हैं, जब कि लोकोक्तियों को प्रचलित सिक्कों के नाम से अभिहित किया जा सकता है। व्यवहार-सूत्र यदि प्रचलित न हों तो केवल पुस्तकों की शोभा बढ़ाते हैं, जब कि लोकोक्तियाँ जनता की जिह्वा पर नृत्य करती रहती हैं।

'अच्छी कहेवतों' के संग्राहक श्री दुलेराय एल. कारागी ने यथार्थ ही कहा है कि "सुभाषित जहाँ एक दूकान से दूसरी दूकान पर चलने वाली हुंडी है, वहाँ कहावत एक ऐसा राज-मान्य लोक-सिक्का है, जो रास्ते चलते बाजार में बेधड़क चाहे जहाँ चलाया जा सकता है२।"

ऊपर जो बात व्यवहार-सूत्र और लोकोक्ति के अंतर के सम्बन्ध में कही गयी है, वही लोकोक्ति तथा प्रज्ञा सूत्र अथवा मर्मोक्ति के अन्तर के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। किसी भी उक्ति को, चाहे वह प्राज्ञोक्ति हो, आचारोक्ति हो अथवा मर्मोक्ति हो, लोकोक्ति की संज्ञा तभी मिल सकेगी जब लोक मानस उसे स्वीकार कर ले, अन्यथा नहीं।

---

१ "Maxim is the sententious expression of some general truth or rule of conduct, that it is a proverb in the caterpillar stage, as Marvin puts it and that it becomes a proverb when it gets its wings by winning popular acceptance, and flutters out into the highways and by ways of the world."— Introductory Note to Stevenson's Book of proverbs, 'Maxims and familiar phrases' २ "सुभाषित एक अमुक दुकान पर थीज वटावी शकाय एवी हुंडी के चेक छे ज्यारे कहेवत रस्ते चालता बाजार मा बेधड़क वटावी शकाय एवुं राज मान्य चलणी नाणु छे—लोक-सिक्को छे।"—'अच्छी कहेवतों', पृष्ठ ५।

कुलभूषण | माँ से कहा था .

सरला आलमारी के पास खड़ी जमीन पर धरे सूटकेस में से अपने पति के कपड़े निकाल रही थी, और उन्हें आलमारी में सजा कर रख रही थी। वह सोच रही थी, पता नहीं क्या बात है? आज वह मुझसे कुछ बोले नहीं—मुसकरा कर एक नजर देखा तक नहीं। बस, चुपचाप सामान ताँगे से उतरवा कर मुझसे नजरें चुराते हुए माँ से मिलने चले गये। ख़ैर, होगी कोई बात। माँ-बेटे की बातों से उसे क्या सरोकार? वह कपड़े लगाने में व्यस्त हो गयी।

एक गंदी कमीज़ सूटकेस के एक कोने में मुड़ी पड़ी थी। सरला ने उसे उठा लिया और एकाएक एक अद्‌भुत-सा आनंद उसके दिल में मँडराने लगा। उनके कपड़े की गंध, उनके पसीने की गंध, उनकी गंध!

न जाने क्यों वह उसे अपने नथनों के पास ले आयी। और तभी कमीज़ का टूटा हुआ एक बटन उसकी उंगली में चुभ गया। अचकचा कर उसने कमीज़ हाथ से छोड़ दी—जैसे किसी अजनबी ने उसे अपने पति के साथ प्रेम करते देख लिया हो!

मगर चारों ओर नजर घुमा कर उसने देखा—रघू नहीं था, कहारी भी नहीं थी, और बाबू जी बाहर गये थे।

सुई तागा ले कर बटन टाँकने वह बैठने ही वाली थी कि उसे अपने आप पर हँसी आ गयी। वह भी पगली है! अभी बटन टाँकेगी, तो धोबी के यहाँ से फिर टूट कर वापस आएगा। बावली कहीं की!

वह उठ खड़ी हुई। सूटकेस को खाली करके, उसकी तह से पिस्ते के कुछ छिलके फर्श पर बिखेर कर, पिस्ते की गिरी के एक नन्हे-से टुकड़े को दाँतों

उसकी समझ में कुछ न आया, जब अगले दिन उसकी चारपाई बाहर दालान में डाल दी गयी। महरी सरला की ओर कुछ ऐसे देखने लगी जैसे वह दया के योग्य कोई भिखारिन हो। नदू उससे ऐसे बात करने लगा, जैसे वह घर की बहू नहीं पास पड़ोस के नीची जात वाले किसी घर की नौकरानी हो।

सरला की समझ में कुछ न आया, जब उसने नौकरों की जबानी सुना, उनका विवाह होने जा रहा है, परसों सगाई है और चार दिन बाद ब्याह।

उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई अजीब सी घटना हो रही हो—या शायद यह एक सपना था एक भयंकर सपना, जिससे किसी क्षण भी वह जाग जाएगी। जागेगी और पाएगी, उसके पति उसे कंधों से लगाए थपकियाँ दे रहे हैं और कह रहे हैं, "यह सब सपना था, अरे! मैं तेरे पास हूँ तेरा हूँ। केवल तेरा पति।" मगर नहीं, यह सपना नहीं था।

दीवार की आड़ दालान के कोने में अपनी चारपाई पर बैठी सरला सब-कुछ देख रही थी, सब-कुछ सुन रही थी।

घर के दरवाजे पर गली में सगाई के बाजे बज रहे थे और सुनहरी गोटे की बैंजनी साड़ी पहन माँ जी इधर से उधर भाग रही थीं। "तू आ गयी, बहना? बड़ा अच्छा किया। तेरे बिना कोई काम कैसे पूरा हो सकता है! अरी लाजो, आ, इधर आ। यहाँ बैठ। अरे रामू, एक गिलास शरबत तो दीजो। महरिया री, कहाँ मर गयी तू?"

स्त्रियों की खुसर-फुसर, बच्चों की चीख-पुकार, पुरुषों के आदेश, और बाजों की गरज।

सरला से कुछ ही दूर बैठी स्त्रियाँ बातें कर रही थीं—

"अरी, बड़ी बहू में खराबी है। मैं तो कब की कह रही थी सरस्वती से, अपने मन्नू का जल्दी से एक और ब्याह कर दे। पोते के दर्शनों का सुभाग तो मिले।"

"और नहीं तो क्या? छह बरस की बाँझ बहू! बच्चे बिना तो औरत राकस होवे है, राकस! मरद को खा जावे है, डायन!"

और फिर माँ जी की चिकनी-चुपड़ी आवाज—'क्या करूँ, बहना, बेटे का दुःख मेरे से और न देखा गया। जाने वाली को आग लगे, भला बिना बच्चे के भी कोई घर होवे है?"

'जाने वाली को आग लगे!' इन्हीं शब्दों से सरला का भी कभी सत्कार हुआ था। वह भी आयी थी, कभी इस घर में और उसे भी आग लगे थे।

जिस वर्ष उनका ब्याह हुआ था, 'वह' बी० ए० की परीक्षा में बैठे थे और उसमें उत्तीर्ण हुए थे। गाँव से माँ जी ने बेटे को पत्र लिखा था—"बहू भाग्यवान है। उसका कभी जी मत दुखाना।" और उसके पति, यौवन वर्ष के उसके भोले सुन्दर पति, जिनकी हँसी उनके चौड़े मुख की भाँति ही निर्मल थी, उसके पास रसोई में आ घुसे थे। उनकी आँखों को आहिस्ता से मूँद कर उन्होंने कहा था—"कौन है, कहो तो भाग्यवान जी?" आटे से सने हाथ लिए वह चुपचाप बैठी रही थी, और सुबह की नीरव शान्ति और जवानी का नि:शब्द आनंद उसके अन्दर हिलोरें लेने लगा था—जैसे गहरे सागर की तरंगें हौले-हौले उठती-गिरती हैं। और सने हाथ लिये वह बैठी रही—इस आशा में कि वह क्षण कभी समाप्त न होगा, यह प्रेम कभी क्षीण न होगा।

परीक्षा के बाद दर-दर की ठोकरें! गाँव से अनाज आ जाता था, विवाह का कपड़ा इतना था कि अभी काफी दिन उसकी आवश्यकता महसूस न

होगी। मगर नौकरी के बिना शहर में रहना—और नौकरी की तलाश में दफ्तरों, मिलों, दुकानों के चक्कर काटना! शाम को थके घर लौटते, तो हार उनके मुख पर लिखी होती। "लोग मूरख हैं", सरला उन्हें सांत्वना देती, 'संसार अभी आपकी योग्यता नहीं आंक सका। मगर घबराने की कोई जरूरत नहीं। योग्य आदमी की पहचान हो कर रहेगी, *आज नहीं तो कल उसका आदर अवश्य होगा।"*

पलंग पर लेटे अलसायी आँखों से 'वह' सरला की ओर देखते और फिर ठंडी आह भर कर आँखें मूंद लेते। उनके सिरहाने बैठी सरला उनके बालों में उँगलियाँ फिराने लगती, और धीरे-धीरे उनका दुःख पानी बन कर आँखों से बह निकलता।

वह दिन सरला को आज भी अच्छी तरह याद था, जब 'उन्हें' पहली नौकरी मिली थी। मिल की क्लर्की, मगर नौकरी तो थी! सत्तर रुपये महीना वेतन। कितने खुश थे वे दोनों? उसी दिन आढ़ती से उधार पर वह एक साड़ी ले आये थे—लाल किनारी और गुलाब के फूलों की हरे प्रिंट वाली साड़ी—जो आज भी, चार वर्ष बाद भी, सरला ने संजो कर आलमारी में रख छोड़ी थी, और विशेष अवसर पर ही निकाल कर पहनती थी।

उस दिन की याद से ही रोमांच हो उठता था सरला को। पूर्णमासी की रात। मोतिया के गजरों की सुगंध, जिसे खुद अपने हाथों से उन्होंने उसके गले में पहनाया था, और जिसे पहना कर नटखट बालक की-सी मुसकराहट उनके होंठों पर खेल गयी थी।

और फिर दुकान की नौकरी बीमा कंपनी का दफ्तर, रेल्वे का एकाउंट इंस्पेक्टरी। यह अंतिम नौकरी मानो उनके स्वप्नों का साकार रूप बन कर उनके सम्मुख आयी—मगर सरला को क्या पता था, कि स्वप्नों का साकार होना स्वप्नों का नष्ट हो जाना होता है!

रेल्वे की नौकरी में उनका काम बाहर का था। महीने में बीस दिन वह दौरे पर रहते, स्टेशनों का हिसाब-खाता देखते। घर में अकेली सरला। सोच-विचार कर उन्होंने माँ को एक पत्र लिख दिया। सास-ससुर शहर में आ गये और उनके दौरे के दिनों की विरह-व्यथा को सरला सास-ससुर की सेवा में भुलाने का प्रयत्न करने लगी।

और अब?

अब उनका ब्याह हो रहा था।

स्त्रियाँ दालान में बैठी गा रही थीं, नाच रही थीं, स्वांग भर रही थीं। ढोल बज रहे थे, चूड़ियाँ *खनक रही थीं,* झुमके झूल रहे थे और इसका किसी को खयाल न था कि दूल्हे के सजे-सजाए कमरे में किसकी अशुभ छाया पड़ रही है, किस उजड़े भाग्य का रुदन बाजों-गाजों की ध्वनि में चीत्कार कर रहा है।

एकाएक स्त्रियों में खलबली मच गयी। थिरकते पाँव और मटकते हाथ वहीं-के-वहीं रुक गये। ढोलक की थाप हवा में मुरझा कर मर गयी। दूर से बाजों की आवाज आ रही थी।

माँ जी का मुखमंडल असीम आनंद से चमक उठा। दूल्हे की दूर के रिश्ते की बहन शांता तेल का कटोरा लेने रसोई-घर की ओर चली। भाई-भावज का सत्कार उसी के जिम्मे था।

अगले क्षण दूल्हा-दुल्हन घर के दरवाजे पर खड़े थे और माँ जी चिल्ला रही थीं—"अरी शांता बेटी, जल्दी कर! *बेटा द्वारे खड़ा है।"*

सरला अपनी चारपाई से उठ आयी। दीवार से सटी वह देख रही थी—चौड़े ललाट पर गुलाबी पगड़ी, लंबे बदन पर सफेद लंबा कोट और चूड़ीदार पायजामा। कितने सुन्दर *लगते थे!* एकटक वह उनकी छवि का निहार रही थी, कि छम से आवाज

हुई और सरला ने घूम कर देखा, तेल का कटोरा जमीन पर औंधा पड़ा था और पास ही शान्ता हतप्रभ गिरी पड़ी थी।

माँ जी का चेहरा फक हो गया, खुशी की लाली उनके मुख से एक क्षण में विलीन हो गयी। स्त्रियों के जमघट पर सन्नाटा छा गया। मगर अगले क्षण माँ जी ने अपने आपको सँभाल लिया। लंबे डग भरती हुई वह तेल की शीशी लेने भंडार की ओर चल दीं।

आखिर दूल्हा दुल्हन ने घर में प्रवेश किया और स्त्रियाँ दुल्हन को ले कर बैठ गयीं।

"बहू चाँद-सी सुन्दर है!"

"*गुलाब का फूल है लड़की!*"

"जोड़ी भगवान की मिलाई है!"

सरला उठ कर दीवार की ओट, अपनी चारपाई पर आ बैठी। नहीं, वह यह सब न देख पाएगी।

खुशी ने पंख पा कर समय चलता नहीं, दौड़ता है, मिनटों में घंटों की दूरी तय कर लेता है। मगर सरला का समय धीरे-धीरे घिसट रहा था—जैसे अपाहिज हो लूला-लँगड़ा फकीर हो, जो भिक्षा की आशा पर अपनी चाल और भी सुस्त कर देता है।

मगर फिर भी समय रुकता नहीं, चलता जरूर है। पंद्रह मिनट, आधा घंटा, एक घंटा। दो—तीन—चार—पाँच घंटे।

कुमकुमों के तेज प्रकाश के नीचे रग्घू सुनसान दालान में बिछी दरी लपेट रहा था। नल पर महरी बर्तन माँज रही थी। एक चूहा भोजन की तलाश में इधर-उधर घूम रहा था। सरला अपनी चारपाई पर लेटी थी। दालान के एक कोने में बिछी उसकी सूनी चारपाई, और अंदर सुहाग-रात की सजी सेज! कल्पनामात्र से सरला का शरीर सिहर उठा। उसके पति और उसकी सौत! उसकी सौत और उसके पति का चौड़ा नक्शा सीना। उसकी सौत और उसके पति के पान से रँगे मोटे होंठ!

नहीं! नहीं! नहीं!

सरला ने अपना सिर झटक दिया। उसका बदन टूट रहा था। उसका सिर फटा जा रहा था। उसका दिल तड़प रहा था।

गहरे नीले आकाश पर बिखरा सुनहरी बुरादा। तारे तारे, तारे—देर तक सरला की दृष्टि वहाँ जमी रही।

ऐसी ही रात थी वह—छह वर्ष पहले सरला की सुहाग-रात। घर अँधेरा, दालान सुनसान, आकाश में टिमटिमाते तारे और जुगनू की भाँति सुलग कर बुझती हुई सिगरेट की नोक। सरला सेज के एक कोने में बैठी थी और पास ही आराम कुर्सी पर लेटे वह सिगरेट पी रहे थे और कह रहे थे "मुझसे डरती हो सरला? मैं क्या इतना बुरा आदमी हूँ?"

लाल साड़ी की ओट सरला ने इनकार में सिर हिला दिया। मगर उन्होंने शायद नहीं देखा, क्योंकि वह उठ खड़े हुए। छत से लटकता तेज रोशनी वाला बल्ब बुझा कर उन्होंने टेबल-लैम्प जला दिया। चाँदनी-सी स्निग्ध रोशनी कमरे में फैल गयी और साथ ही सरला का ऐंठा हुआ बदन ढीला पड़ गया। अब वह आराम से बैठ सकती है, हाथ-पाँव हिला सकती है।

मगर यह क्या? वह दो कुरसियाँ मिला कर अपना तकिया एक कुरसी की पीठ पर टिका रहे थे। सरला ने चाहा, उनके इस कार्य के विरुद्ध वह अपनी आवाज उठाए—मगर चाह के बावजूद उसके मुँह से कुछ न निकल सका।

और वह एक कुरसी पर पाँव फैला कर दूसरी पर लेट गये। सिगरेट का कश खींचते हुए—"लो,

अब आराम करो। सारे दिन की थकी हो, सो जाओ।" आज्ञाकारी बच्चे की भाँति वह लेट गयी, मगर उसके दिल की धड़कन कम न हुई। उसके अंग शिथिल न हुए। उसकी उनींदी आँखों में नींद न आयी। और कुछ ही देर बाद उसने पाया, वह सो रहे हैं और उनके कुरसी से नीचे लटके हुए हाथ की सिगरेट आप-से-आप छूट कर फर्श पर जा गिरी है। उसने सोचा, दबे पाँव उठ कर जाए और सिगरेट बुझा दे। मगर सोचते सोचते न सोने का प्रयत्न करते-करते उसे झपकी आ गयी।

चौंक कर सरला ने आँखें खोल दीं। नहीं, उसकी सुहाग रात में तो ऐसा न हुआ था! वह उठ कर चारपाई पर बैठ गयी और परेशान निगाहों से दालान के परे देखने लगी। कुछ मिनट तक उसकी समझ में कुछ न आया कि वह यहाँ बाहर दालान में कैसे आयी और सामने यह सब क्या हो रहा है?

मगर तभी सब-कुछ स्पष्ट हो गया। उसकी सौत का कमरा जल रहा है! उसकी सौत जल रही है! मन्त्रमुग्ध बैठी वह आग की लपलपाती लपटों को देखती रही। कमरे की खिड़की चटपट करके जल उठी तो एकाएक सरला को खयाल आया उसके पति भी तो अंदर हैं। वह चीख पड़ी।

अँधेरी रात के सन्नाटे में चीख़ गूँज उठी। देखते-देखते सारे घर में भगदड़ मच गयी। बनियाने और धोतियाँ पहने पुरुष, अस्तव्यस्त साड़ियाँ लपेटे स्त्रियाँ, डगमगाते कदम रखते वृद्ध और बच्चे—सभी एक-एक करके आँगन में आते गये।

"आग! आग!! आग!!!"

"पानी लाओ, पानी!" एक चिल्लाया और दूसरा बाल्टी लेने रसोई घर की ओर भागा। पड़ोस के नौजवान पानी की बालटियाँ उठाए दरवाज़े से अंदर आने लगे।

"मनोहर! मनोहर!" एक मोटे गंजे अतिथि ने अपनी सारी शक्ति लगा कर आवाज़ दी। "बाहर आओ, मनोहर!"

आग की चटक के सिवाय अंदर से कोई उत्तर न मिला।

आँगन में चारों तरफ आवाज़ें थीं, आग की लपटों की गर्मी थी। एकाएक भीड़ को चीरती हुई माँ जी आ गयीं। उनकी आँखें फैली हुई थीं, उनके पैर काँप रहे थे। "मेरा बेटा! मेरा मन्नू!" बाल नोचती हुई वह चिल्लायीं।

"दरवाज़ा बाहर से बंद है!" एक नवयुवक ने कहा, 'वह बाहर कैसे आ सकते हैं?"

"बेटा!" माँ जी एक कदम आगे बढ़ीं, मगर तभी हवा का एक तेज़ झोंका आया और लाल लपटें भीड़ की ओर बढ़ आयीं।

माँ जी और दूसरे सभी लोग दो कदम पीछे हट गये।

मगर तभी उन्होंने देखा, मोटे कपड़े से सिर को ढके एक स्त्री आगे बढ़ रही है। वह आगे झुकी दहती जा रही है। आग की लपटों से लड़ती, हाथ झटकती आगे बढ़ रही है।

"सरला!"

चारों ओर का शोर एकाएक थम गया। वह दरवाज़े की कुंडी से उलझ रही थी। दरवाज़ा धकेल रही थी।

दालान में खड़े लोगों के नंगे पाँव फर्श की गर्मी से जल रहे थे।

धर्र से दरवाज़ा खुल गया। अंदर सभी कुछ जल रहा था—शृंगार-मेज़, पलंग, कुरसी। एक जलती हुई छड़ को सामने से हटाती हुई सरला आगे बढ़ गयी। आग की लपटों ने उसे लील लिया।

बाहर भीड़ पर एक सन्नाटा छा गया। मौन ऊपर का ऊपर, नीचे का नीचे!

एक युग की प्रतीक्षा के बाद लोगों ने देखा, दुल्हन को उठाए मनोहर बाहर आ रहा है, और सरला उन्हें बाहर धकेल रही है। एक निःश्वास लोगों के मुँह से निकल गया। माँ जी बेहोश हो कर जमीन पर गिर पड़ीं।

मगर सरला अभी अंदर थी। लोगों की आँखें फिर दरवाजे पर टिक गयीं। और सचमुच कुछ देर बाद किसी चीज को सीने से चिपकाए हुए सरला बाहर आ रही थी। मगर दहलीज का अभी वह पार न कर पायी थी कि भड़भड़ा कर छत उसके ऊपर गिर पड़ा। और तभी आग बुझानेवाला इंजन आ गया।

'सरला!"

इंजन का इंतजार मनोहर ने न किया। अपनी बेहोश दुल्हन को स्त्रियों के सुपुर्द करके वह तेजी से वापस झपटा। खतरे की परवाह न करके वह जलते हुए मलवे में घुस गया। और कुछ देर बाद जब वह वापस हुआ तो उसकी बाहों में सरला का कुचला हुआ शरीर था।

एक पल सरला ने आँखें खोल कर अपने पति की ओर देखा, एक पल उसका हाथ अपने पति के कंधो पर टिका रहा। और फिर आँखें मुँद गयीं, हाथ ढुलक कर नीचे लटक गया।

घबरा कर मनोहर वहीं जमीन पर बैठ गया "सरला! सरला! सरे!"

मगर पति की गोद में पड़ी सरला कुछ न बोली। अपने प्यारे पति के आदेश पर भी उसने आँखें न खोलीं। मनोहर की आँखों से टपक कर आँसू सरला के होठों पर पड़े, मगर उसने फिर भी आँखें न खोलीं।

सरला को लिये मनोहर उठ खड़ा हुआ। दालान के कोने में पड़ी चारपाई के पास पहुँच कर उसने सँभाल कर अपनी चहेती पत्नी को उस पर लिटा दिया।

"सरला!" काँपते स्वर से अपनी आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति से मनोहर ने पुकारा। शायद वह जिंदा हो!

मगर जब उसके झंझोड़ने पर भी सरला ने कोई उत्तर न दिया—तो वह फूट पड़ा—"मैंने कहा था, सरला! मैंने माँ से कहा था, सरे..."

लोगों ने उसे परे खींचना चाहा। रसोई की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा—"उसकी खबर लो, मनोहर! वह होश में आ रही है।"

मनोहर ने उन्हें झटक दिया। दहाड़ मार कर वह रो पड़ा—"मैंने माँ से कहा था, सरला! मैंने उनसे गिड़गिड़ा कर प्रार्थना की थी! सरला .. सरला!"

और सरला के सीने से चिपकी लाल किनारी और गुलाब के फूलों की हरे प्रिंट वाली साड़ी में—जिसे वह आग से बचा लायी थी—उस अमूल्य साड़ी की तहों में मनोहर ने अपनी हिचकियों को दबा दिया।

ꣲꣲꣲ

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना | तीन कविताएँ

शांत ज्वालामुखी-सी तुम

शांत ज्वालामुखी सी तुम
सो रही हो, चांद अपने वक्ष पर रख कर,
कहाँ है विस्फोट ?
कहाँ है वह मौन अन्तर का
रुँधा हाहाकार ?
जिसे सुन कर
धरा काँपी थी,
हिला था आकाश,
चीथड़ों-सी उड़ी थीं सारी दिशाएँ,
मिटी थीं हर एक सीमाएँ।
कहाँ है वह ज्वार ?
कहाँ है वह एक प्लावन निर्विकार,
दफन जिसमें हुई थी स्मृति अपार ?
महज़ तुम थीं—
औ' तुम्हारा प्यार था,
हृदय का उद्गार ही
अधिकार था।
आज तुम चुप हो,
यहाँ जैसे स्वयं में खो गयी हो,
बनी हो अपनी स्वयं दीवार,
लाँघने को जिसे
प्यार का बौना उछलता बार-बार।
लोग कहते हैं—
जम गये चट्टान के आँसू,
बुझ गयी है आग,
हर तरफ काली शिलाएँ रह गयी हैं,
और नन्हे हाथ में ले फावड़े
यही कहते घूमते हैं—
प्यार का उन्मेष कितना प्रबल
पर कितना क्षणिक है !

विगत प्यार

एक हल्का-सा मेघ
बरस कर निकल गया,
पेड़ों की पत्तियाँ धुल गयीं,
एक छोटी सी चिड़िया
तेज़ी से झुरमुटों को चीरती चली गयी,
कुछ नयी कोंपलें टूट कर गिर गयीं,
क्या किसी ने यहाँ पहली बार किसी को देखा था ?

एक थका हुआ नम सुरभित झोंका
क्यारियों से हो कर चला गया,
एक टूटा हुआ नन्हाँ बेजबान फूल
अनजानी धरती पर छूट गया,
क्या कोई यहाँ फिर आया था ?

इन झूलती लताओं की टहनियों को
देखो, आपस में कोई उलझा गया है
इन कँटीली जंगली झाड़ियों का क्रम कर
देखो बाड़े से कोई बाँध गया है,
क्या कोई यहाँ रहा था ?

साँस क्यों आखिरी दम तक यहाँ रहती है ?

सुबह क्यों सबसे पहले यहां आती है ?
हरे काले रंग के कटोरे ले
झुकी हुई तन्मय बरसात
दीवारों पर किसके चित्र खींचती है ?
सरदी धूप में किसके कपड़े सुखाती है ?
गरमी बौराई दीवारों से
टकरा-टकरा कर क्या गाती है ?
क्या किसी ने यहां प्यार की बातें की थीं ?

मैं तो अजनबी हूँ—
पहली बार शायद यहां आया हूँ
मैं तो इस घर को पहचानता तक नहीं,
सच मानो जानता तक नहीं
लेकिन लगता है जैसे
कभी कुछ हुआ था,
अच्छा अब जाता हूँ
कमबख्त आंखें भर आती हैं
यद्यपि जानता हूँ
यह गहरा धुआँ था।

एक नयी प्यास

मैं तुम्हें कब मना करता हूँ
कि मेरे इस मकान में
दरवाज़े, खिड़कियां और रोशनदान मत लगाओ,
काश, कि तुम इनसे ही मकान बना पाते !
दीवारें न होतीं,
क्योंकि मुझे
सुबह की नीली हवा से ले कर
सांझ का पीला तूफान तक भाता है,
क्योंकि मुझे
सावन की गुलाबी फुहार से ले कर
भादों की साँवली मूसलधार तक
अच्छी लगती है,
मुझे बर्फ-सी चांदनी
और आग-सा सूरज
दोनों प्यारे हैं—बेहद प्यारे।
मेरी प्रार्थना तो केवल इतनी है—
कि मेरे इस मकान के कहीं किसी कोने में
एक छोटा-सा कमरा ऐसा भी रहने दो,
जहां मैं धूप-दीप जला सकूँ,
जहां मैं चन्द पलकें रंगीन सुगंधित
फूलों के गीत भरे कागज़
बेले की कच्ची कलियों से
दबा कर रख सकूँ,
जहां मैं कभी हँसते-हँसते
थक जाने के बाद जा कर
किसी सतरंगे कपड़े से
अपनी गीली आँखें भी पोंछ सकूँ,
जहां मैं अपने भीतर की
सारी घुटन, सारी कुंठा
उन खामोश फूलों के बीच दबा आऊं
जो एकांत की सूनी डाल से
अविराम झरते रहते हैं,
जहां पहुंच कर
मैं किसी पूजा-गीत की पवित्र कड़ी-सा
बन जाऊं, और किन्हीं संगीत भरे
चरणों पर, कुछ क्षण अपना सर धर,
सब कुछ भूल सकूँ,
जहां जा कर
मैं अपने भीतर की दीवारें तोड़ सकूँ,
और—
ताज़ी हवा
तूफान
चांदनी
धूप
सबके लिए
एक नयी प्यास ले कर
सदैव वापस आ सकूँ।

वासुदेवशरण अग्रवाल

प्राचीन भारतीय भूगोल

हमारे देश की संज्ञा भारतवर्ष है। इसमें भारतीय महाप्रजा निवास करती है। देश के नाम की दो परंपराएँ हैं—एक स्वदेशी और दूसरी विदेशी। संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में इस देश को सर्वत्र और सदा भारत या भारतवर्ष ही कहा गया है। महाभारत के भीष्मपर्व में अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम् की प्रशस्ति में भारतवर्ष नाम स्फुट रूप में आया है और वहीं पर इसके भौगोलिक विस्तार के अन्तर्गत पर्वत, जनपद और नदियों की सूची भी दी गयी है। पुराणों के भुवनकोश नामक अध्यायों में भी भारतवर्ष के नाम और भौगोलिक विस्तार से संबंध रखने वाली सामग्री सुरक्षित है। देश के नामकरण की जो विदेशी धारा है, उसमें सर्वप्रथम ईरानी सम्राट् दारयवहु ने छठी शती ईसवी पूर्व के अपने लेखों में भारत के पश्चिमी भाग को 'हिंदु' कहा है। गंधार और हिंदु, दोनों दारयवहु के साम्राज्य के अंतर्गत प्रदेश थे। हिंदु से तात्पर्य सिन्धु जनपद से होना चाहिए, जिसका उल्लेख भारतीय जनपदों की सूची में प्रायः आता है। यह सिन्धु जनपद सिन्धु नदी के पूर्व में उत्तर-दक्षिण के भूभाग में अटक से बहावलपुर तक फैला हुआ था। इस जनपद का यह नाम सिन्धु-नदी के कारण ही प्रसिद्ध हुआ। वस्तुतः 'सिन्धु' शब्द नदी के लिए ऋग्वेद में आया है, और वहीं सबसे प्राचीन है। नदी के नाम से जनपद का नाम पड़ा, और जनपद के नाम से क्रमशः वही नाम विदेशियों द्वारा समस्त देश के लिए प्रयुक्त होने लगा। दारयवहु के दो शती बाद सिकन्दर के साथी यूनानी भौगोलिकों ने 'सिन्धु-हिन्दु' से ही व्युत्पादित 'इंडिया' नाम से इस देश को अभिहित किया। उसी से आगे चल कर चीनी लेखकों ने इस देश को 'इन्-तु' कहा। किन्तु भारतवर्ष की निजी परंपरा

भारत नाम के ही अनुकूल है और इस परपरा का जन्म और विकास मध्यदेश में हुआ जो भारतीय सस्कृति का हृदय कहलाया ।

भारत नाम की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की जा सकती है एक राजा की दृष्टि से, दूसरे प्रजा की दृष्टि से और तीसरे सस्कृति की दृष्टि से । दुष्यत के पुत्र चक्रवर्ती भरत ने समुद्रान्त पृथ्वी को अपने शासन में ला कर देश को राजकीय एकता प्रदान की । इस कारण भरत के नाम से यह देश भारत कहलाया । इस प्रकार की व्याख्या पुराणो मे पायी जाती है । दूसरी परपरा यह है कि भरत ऋग्वेद-कालीन एक जन की सज्ञा थी । वह जन विचरण करता हुआ, जिस प्रदेश में प्रतिष्ठित हुआ वह प्रदेश भरत जनपद कहलाया । भरत जनपद से ही उत्तरोत्तर विस्तार पाते हुए यह नाम समस्त जनपदो की पृथिवी के लिए प्रयुक्त होने लगा और भारत-भूभाग की भारती प्रजा यह सज्ञा समस्त देशवासियो के लिए प्रयुक्त होने लगी । वैदिक परपराओ के अनुसार भरत नाम की एक सास्कृतिक व्याख्या भी प्राचीन साहित्य में मिलती है । ब्राह्मण-ग्रथो में भरत नाम अग्नि का है । यज्ञ की भरत नामक अग्नि जिस-जिस प्रदेश में फैलती गयी, वह भारतीय सस्कृति के अन्तर्गत आता गया । सस्कृति के विस्तार का यह क्रम नदियो के तटो पर प्रसृत हुआ । महाभारत में कहा है—

एवं स्वजनयत् धिष्ण्यान् वेदोक्तान् विविधान् बहून् ।
विचरन् विविधान् देशान् भ्रममाणस्तु तत्र वै ॥
(वनपर्व, पूना, २१२।२०)

—भरत-अग्नि अपने लिए विविध प्रदेशो में वेदोक्त विधि से वेदियाँ कल्पित करती हुई सर्वत्र लोक में फैल गयी । देश के अनेक भूभाग उसके विस्तार के अन्तर्गत आ गये । जहाँ यज्ञ की वेदी बनी वही देश की सस्कृति का जयस्तम्भ स्थापित हो गया । यज्ञ के यूप जनविस्तार के प्रतीक बन गये । जन का यह विस्तार नदियो के कांठो मे हुआ । नदी-तटो के मार्ग वेदी और यूपों से सज्जित हुए । नदियाँ सच्चे अर्थ में यज्ञ-वेदियो की माताएँ हुईं—**एता नद्यस्तुधिष्ण्यानां मातरोया प्रतीष्ठिता** (वनपर्व, २१२।२४) । जन सनिवेश की क्रमश बढ़ती हुई इस प्रक्रिया का पर्यवसान उस समय हुआ, जब जितना भूमि का विस्तार उतना ही यज्ञ की वेदि का भी विस्तार हो गया, और तभी उस अखड भाव की यह परिभाषा बनी : **यावती भूमिः तावती वेदिः** अर्थात जितनी भूमि है, उतनी ही हमारे यज्ञ की वेदि है, जिसमें भरत-सज्ञक सास्कृतिक अग्नि प्रज्वलित हो रही है । भरत अग्नि की महती विशेषता प्रजाओ का भरण-पोषण करना है । इसी-लिए यह भरत है । जितनी प्रजाएँ हैं, सबके शरीर और मन का यह प्रतिपालन करती है—**भरतिस प्रजा सर्वास्तनो भरत उच्यते ।** (वनपर्व, २११।१)।

भारत देश के उत्तर में हिमवान् पर्वत है और दक्षिण में समुद्र है । हिमालय के तीन भाग है—अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, उपगिरि, जिनकी व्याख्या आगे की गयी है । दक्षिण में महार्णव के दो पार्श्व हैं—पूर्वी समुद्र भाग महोदधि और पश्चिम का समुद्र भाग रत्नाकर कहलाता था और ये प्राचीन नाम आज भी लोक में जीवित हैं । हिमालय के पर्वतीय प्रदेश भारत देश की भौगोलिक स्थिति, जलवायु की अनुकूलता, वृष्टि-सस्थान, एव नदियो में निरतर प्रवाहित जलराशि के लिए अत्यन्त आवश्यक है । कवि ने उन्हें देवभूमि कहा है (**'पितु प्रदेशास्तव देव भूमय.'**—कुमार सभव, ५।४५) ।

भारतवर्ष की प्राचीन सीमाएँ उत्तर में मध्य-एशिया के पामीर पर्वत तक थी । पामीर पठार की भूमि को ही प्राचीन भुवनकोशों में कबोज देश कहा है । कबोज देश में वक्षु नाम की नदी बहती थी और उसकी दक्षिण-पश्चिमी सीमा निर्धारित करती थी । कबोज के उत्तर का देश उत्तर कुरु कहलाता था । उत्तर कुरु के समीप ही प्राचीन शाक-द्वीप था । अर्जुन की दिग्विजय-यात्रा के प्रसग

में महाभारत में कहा है कि, कुमुद पर्वत के समीप रहने वाले शक और ऋषिकों के साथ उसका घोर संग्राम हुआ। ऋषिक ही चीनी इतिहास में यूची कहलाये। उनकी भाषा आज तक आर्षी कहलाती है। यूनानी इतिहास-लेखक हेरोडोतस ने भी कुमुद पर्वत के वासी शकों का उल्लेख किया है। कुमुद को उसने कोमेदाई लिखा है। वहीं एक कुमार पर्वत था, जिसे हेरोडोतस ने कामिराई कहा है। जो महाभारत का मृगाक्ष देश था, उसी का यूनानी नाम मर्गियाना हुआ तथा इस समय मर्व कहलाता है। महाभारत की सीता नदी चीनी इतिहास-लेखकों की सीतो नदी थी, जिसे अब यारकन्द कहते हैं। यह कम्बोज जनपद के पूर्व में बहती है। कम्बोज जनपद के मध्य में मेरु पर्वत था। भारतवर्ष के प्राचीन भूगोल में कम्बोज की स्थिति अति महत्वपूर्ण थी। उस प्रदेश के भूगोल को ठीक प्रकार से समझने के लिए चार जनपदों की आपेक्षिक भौगोलिक स्थिति जान लेना चाहिए। कम्बोज, बाल्हीक, कपिश, गंधार, ये चार महाजनपद थे। इन चार महाजनपदों का गुच्छा इस प्रदेश में था। कम्बोज वक्षु नदी के पेटे में उसके उत्तर की ओर था। बाल्हीक वक्षु के दक्षिण-पश्चिम की ओर का प्रदेश था जिसे प्राचीन समय में बैक्ट्रिया और अब बल्ख कहते हैं। वक्षु के दक्षिण किन्तु बाल्हीक के पूर्व का छोटा प्रदेश मौंजायन कहलाता था जिसे वैदिक समय में मुंजवन कहते थे। आजकल इसे मुंजान कहते हैं, और वहाँ की भाषा को मुंजानी जो कम्बोज-वर्ग की गल्चा भाषाओं के अन्तर्गत आर्यभाषा परिवार की है। कम्बोज देश की भाषा, और उसकी बोलियों में गत्यर्थक शव धातु का आज भी प्रयोग होता है। उसका उल्लेख प्राचीन काल में यास्क ने निरुक्त में और पतञ्जलि ने महाभाष्य में किया है (शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते)। यहीं के नामसे महाजनपद का नाम कापिशी था जिसे कपिश भी कहते थे। इस समय यह काफिरिस्तान के पास पड़ोस का पश्चिमी भाग है। पाणिनि ने 'कापिश्याः ष्फक्' सूत्र में उसका उल्लेख किया है। वहाँ से किसी समय कापिशायन मधु नामक एक प्रकार की शराब अपने देश में भी आती थी और जिस हरी दाख से वह बनायी जाती थी, उसे कापिशायनी द्राक्षा कहते थे। प्राचीन कापिशी राजधानी इस समय बेग्राम कहलाती है, जो काबुल से लगभग ६० मील उत्तर में है। वहाँ कुछ वर्ष पूर्व खुदाई हुई थी, जिसमें एक शिलालेख प्राप्त हुआ था। उससे यह निश्चित पहचान ज्ञात हुई कि वही स्थान प्राचीन कपिशा थी। यूनानी भूगोल-लेखकों ने कपिशा का उल्लेख किया है। कापिशी के नगर-देवता का मन्दिर प्रसिद्ध था। कापिशा की खुदाई में बहुत-से हाथी दांत के फलक प्राप्त हुए थे जो रत्न और आभूषण रखने की सुन्दर शृंगार पेटिकाओं के अंग थे। उन पर उत्कीर्ण स्त्रियों की आकृतियाँ मथुरा की कला-शैली से बहुत मिलती हैं जिससे यहाँ तक अनुमान होता है कि उनमें से कुछ अवश्य ही मथुरा में बनी होंगी और व्यापार के सिलसिले में कपिशा में, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का केन्द्र था, ले जायी गयी होंगी। कपिशा के उस भण्डार में बहुत-से शीशे के बने हुए मधु-पात्र भी पाये गये हैं जो रोम साम्राज्य से बन कर वहाँ आये थे। कुछ सुन्दर पात्र मछलियों की आकृति जैसे हैं।

जनपदों के इस गुच्छे में चौथा महाजनपद गंधार का था। हिंदूकुश के दक्षिण-पश्चिम की ओर कपिशा और दक्षिण-पूर्व की ओर का प्रदेश गंधार था। भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से गंधार बहुत बड़ा था। उसके बीच में बहता हुआ सिन्धु महानद उसे दो भागों में बाँटता था। सिन्धु के पश्चिम का भाग अपर गंधार कहलाता था। उसकी राजधानी पुष्कलावती थी, जो, इस समय चारसद्दा नामक छोटा-सा गाँव है। पुराणों के भुवनकोशों में यहाँ के निवासियों को पौष्कल कहा गया है। सिन्धु के पश्चिम की भूमि साधारणतया पारेसिन्धु भी कहलाती थी और सिन्धु के उस भाग में आने वाली मजबूत और चमकदार घोड़ियाँ पाणिनि के समय में 'पारे वडवा'

कहलाती थी। पश्चिमी गंधार देश में सुवास्तु नाम की प्रसिद्ध नदी थी, जिसका वेदों में कई बार उल्लेख आता है। आज-कल इसे स्वात कहते हैं। यह किसी समय बहुत ही हराभरा देश था। आज भी फलों के लिए यह भूमि कामधेनु है। सुवास्तु नदी की द्रोणी प्राचीन काल में ओर्दयानी भी कहलाती थी। इसी से इस प्रदेश को पाली साहित्य में उड्डियान भी कहा गया, जिसमें आगे चल कर इस प्रदेश को उद्यान कहने लगे। उड्डियान देश में विशेष प्रकार के कंबल बनते थे जिन्हें उड्डियान-कंबल अथवा पाडु-कंबल भी कहते थे। पाणिनि ने पाडु कंबल का विशेष रूप से उल्लेख किया है। जातक ग्रंथों से विदित होता है कि गंधार देश में बने हुए पाडु कंबल सेना के उपयोग के लिए मध्य देश में लाये जाते थे। सिंधु के पूर्व में गंधार जनपद का भाग पूर्व गंधार कहलाता था। उसकी राजधानी तक्षशिला थी।

कपिश और गंधार के उत्तर में चित्राल नाम का प्रदेश है, जिसे प्राचीन काल में चित्रक कहते थे। इसे ही श्यामाक और काष्कर भी कहते थे। चित्राल नदी का ही दूसरा नाम काष्कर नदी प्रसिद्ध है। काष्कर नदी और सुवास्तु नदी के बीच में पंजकोरा नदी है, जिसका प्राचीन नाम गौरी नदी था। यूनानी लेखकों ने उसे गौरियस कहा है। गौरी और काष्कर नदियों के बीच का प्रदेश इस समय दीर कहलाता है। महाभाष्य में दो नदियों वाले एक देश को द्वीरावतीक और तीन नदियों वाले एक देश को त्रीरावतीक कहा गया है। द्वीरावतीक देश और त्रीरावतीक देश यह भौगोलिक नामों का जोड़ा था। दोनों प्रदेश एक दूसरे से सटे हुए होने चाहिए। वर्तमान काबुल नदी के उत्तर में जो दीर प्रदेश है, वही द्वीरावतीक ज्ञात होता है। गौरी और काष्कर के बीच में स्थित होने के कारण वह दो नदियों वाला देश प्रसिद्ध हुआ। आजकल यहाँ मोहमंद नामक पठान कबीले के लोग निवास करते हैं। मोहमदों को प्राचीन समय में मधुमत कहते थे, जिनका उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी, और महाभाष्य में आता है। प्राचीन कुभा (वर्तमान काबुल) नदी के दक्षिण की ओर का इलाका इस समय तीरा कहलाता है। यही कुभा, क्रुमु और सिन्धु इन तीन नदियों के बीच में होने के कारण त्रीरावतीक प्रसिद्ध था। इस स्थान में अफ्रीदी नामक पठान कबीले के लोग रहते हैं। प्राचीन संस्कृत साहित्य में अफ्रीदियों को आप्रीत कहा गया है। मधुमत और आप्रीत इन दोनों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में एक साथ आता है।

सिन्धु नदी के पूर्व में जो वर्तमान हजारा जिला है, उसका प्राचीन नाम उरशा जनपद था। वस्तुतः सिन्धु और झेलम के बीच में वर्तमान रावलपिंडी जिले के उत्तर में उरशा जनपद था। झेलम और चन्द्रा नदी के बीच का प्रदेश अभिसार जनपद था, जहाँ इस समय पुंछ और राजौरी की रियासतें हैं। इसी सिलसिले में आगे बढ़ कर चन्द्रभागा और रावी के उपरले भाग के बीच में दार्व नामक जनपद था जो वर्तमान जम्मू का प्रदेश है और जिसे इस समय डुग्गर इलाका कहते हैं। दार्व-अभिसार-उरशा जनपदों की इस त्रिमूर्ती में गर्वी से सिंधु तक का वह समस्त प्रदेश आ जाता है जो पूर्व गंधार और मद्र जनपद के उत्तर में था। कश्मीर और पंजाब के मानचित्र में इसकी भौगोलिक स्थिति स्पष्ट समझी जा सकती है। कश्मीर का उत्तर पश्चिमी भाग जहाँ सिन्धु नदी दक्षिण की ओर मुड़ी है और उसके उत्तर में गिलगित, यासीन और हुंज़ा का वर्तमान दर्दिस्तान प्रदेश प्राचीन दरद जनपद था। तक्षशिला के दक्षिण में पूर्व की ओर से आ कर सिन्धु में मिलने वाली सोहान नदी प्राचीन समय में सुषोमा कहलाती थी, जिसका उल्लेख ऋग्वेद के नदीसूक्त में आया है।

सिन्धु से ले कर सतलज तक फैला हुआ विशाल भू-प्रदेश प्राचीन समय में वाहीक कहलाता था। महाभारत में लिखा है "नदीनां सिंधुषष्ठानां देशा ये अन्तराश्रिता. वाहीका नाम ते ज्ञेया."। यही वर्तमान पंचनद प्रदेश या पंजाब है। वाहीक देश के जनपदों का विस्तार इस प्रकार समझना चाहिए।

सिन्धु और वितस्ता (झेलम) के बीच में सिन्धु जनपद था, जहाँ इस समय सिन्धु सागर दोआब है। इसका उत्तरी भाग सक्तुसिन्धु और दक्षिणी भाग पानसिन्धु कहलाता था। आज भी उत्तर के भाग में सत्तू खाने का बहुत रिवाज है और यहीं वहाँ की सौगात है। पानसिन्धु देश में क्षीर या दूध लोगों का प्रधान भोजन था। पानसिन्धु से सटा हुआ चनाब के पूरब में दूसरा जनपद शिबि या उशीनर था जिसकी राजधानी शिबिपुर वर्तमान शोरकोट है। यह इलाका सदा से गौओं के लिए प्रसिद्ध था। इसी के पूरब में पाकपत्तन या माण्टगुमरी है, जहाँ की दुधार साहीवाल गायें प्रसिद्ध हैं। व्याकरण-साहित्य में उदाहरण प्रसिद्ध है: क्षीरपाणा उशीनराः। अर्थात् उशीनर देश के निवासी भोजन में दूध के बहुत शौकीन थे। चनाब से झेलम के पश्चिम तक जहाँ नमक की पहाड़ियाँ हैं, केकय जनपद था, जिसे इस समय खिउड़ा भी कहते हैं। यहीं सैंधव या सेंधा नमक उत्पन्न होता था। शाहपुर का जिला केकय जनपद के ही अन्तर्गत था।

पंजाब का सबसे प्रसिद्ध जनपद मद्र नामक महा जनपद था। यह झेलम से रावी तक फैला था। इसकी राजधानी शाकल या स्यालकोट थी। यहीं मद्राधिपति शल्य का राज्य था। यहीं की राजकुमारी माद्री थी। इसके भी दो भाग थे। बीच की चनाब नदी के पश्चिम का भाग अपर मद्र कहलाता था और चनाब और रावी नदी के बीच का भाग पूर्व मद्र कहलाता था। पूर्वी मद्र में देविका नाम की प्रसिद्ध नदी थी जो इरावती या रावी से मिलती थी, उसे इस समय देग कहते हैं। देविका के किनारे पर बहुत अच्छे प्रकार का चावल होता था, जिसे व्याकरण साहित्य में दाविकाकूल शालि कहा गया है। देविका के दोनों तटों पर बरसात में जो गोमटी मिट्टी की तह जम जाती है वह चावलों के लिए बड़ी उपजाऊ है। आज भी वैसा ही चावलों का प्रसिद्ध केन्द्र है। रावी और व्यास के सबसे निचले भाग में क्षुद्रक नाम के वीर क्षत्रिय निवास करते थे, जिन्होंने सिकंदर से युद्ध में लोहा लिया था। उनके लिए पतंजलि ने लिखा है: एकाकिभिः क्षुद्रकैः जितं अर्थात् अकेले क्षुद्रकों ने ही युद्ध में विजय प्राप्त की। क्षुद्रकों के साथी मालव नाम के वीर क्षत्रिय थे। उन्होंने भी सिकंदर से गहरा युद्ध किया था। मालवों के बाण से यवन सेनापति सिकंदर एक बार तो मरणासन्न दशा को पहुँच गया था। मुलतान के आसपास का इलाका मालवों का प्रदेश था। मालवों के उत्तर में क्षुद्रक और क्षुद्रकों के उत्तर में कठ नाम के क्षत्रिय वहाँ निवास करते थे, जहाँ इस समय अमृतसर का प्रदेश है। रावी और व्यास के सबसे उपरले भाग में उदुम्बर नाम के क्षत्रिय थे, जहाँ इस समय गुरुदासपुर है। वह प्रदेश पठानकोट तक औदुम्बरायण देश कहलाता था। यहीं त्रिगर्त देश में घुसने का मैदानी रास्ता था। चम्बा से काँगड़ा तक फैला हुआ समस्त भूप्रदेश जालन्धरायण कहलाता था। आज उसे काँगड़ा कहते हैं। चन्द्रभागा, इरावती और विपाशा, इन तीन नदियों के बीच का पहाड़ी प्रदेश त्रिगर्त था। इसी का एक भाग कुलूत कहलाता था, जिसे इस समय कुल्लू कहते हैं।

पंचनद के पूर्व में जहाँ यमुना और सतलज के बीच का प्रदेश है, वहाँ कुणिंद जनपद था। उसी के विशेष भाग को युगंधर या युगंदेश भी कहते थे। देहरादून से शिमला तक का प्रदेश युगंधर था। यहाँ के पहाड़ की सत्ता युगशैल थी।

पंचनद के दक्षिण-पूर्वी भाग में सरस्वती और दृषद्वती ये दो प्रसिद्ध नदियाँ थीं। सरस्वती के तट पर किसी समय आर्य जाति के महत्त्वपूर्ण सन्निवेश थे। सरस्वती के तट पर ही पृथूदक (वर्तमान पिहोवा) था। इसी प्रदेश में कुरुक्षेत्र था। इसके दक्षिण-पश्चिम का भाग कुरुजांगल कहलाता था, जिसे इस समय हरियाना कहते हैं। हाँसी हिसार फतेहाबाद सिरसा आदि उसी में हैं। सरस्वती और यमुना के बीच में कुरुक्षेत्र और कुरुजांगल फैले थे। यमुना के पूर्व में कुरु-राष्ट्र या कुरु जनपद था, जिसकी राजधानी हस्तिनापुर नगर

के किनारे थी। गंगा, यमुना, सरस्वती इन तीनों के बीच का प्रदेश भारतीय इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध रहा। दृषद्वती नदी की ठीक पहिचान संदिग्ध है, किन्तु संभावना यही है कि वर्तमान घघ्घर या चितांग नदी ही दृषद्वती थी। इसे रागवती भी कहते थे, जो पूर्व और पश्चिम की विभाजक सीमा मानी जाती थी। महाभारत में रोहतक को रोहीतक कहा गया है। यही वीर क्षत्रिय यौधेयों का गणराज्य था। इस उपजाऊ प्रदेश को बहुधान्यक भी कहते थे। यहाँ कार्तिकेय की पूजा किसी समय बहुत प्रचलित थी।

पंचनद प्रदेश के बाद भारत का अतिप्राचीन मध्यदेश नामक भूभाग है। किसी समय सरस्वती दृषद्वती के बीच का ब्रह्मावर्त प्रदेश अतिपवित्र माना जाता था, जैसा कि मनु ने लिखा है। उसके अनंतर शूरसेन, मत्स्य कुरुपंचाल इन जनपदों के सम्मिलित क्षेत्र को ब्रह्मर्षिदेश नाम प्राप्त हुआ। कुरुपंचाल इतिहास के अनेक महत्वपूर्ण अध्याय इसी भूमि में घटित हुए। क्रमशः ये सीमाएँ कोसल के महत्वपूर्ण जनपद को अपने भीतर समेटती हुई प्रयाग तक फैल गयीं और यह भूभाग मध्यदेश कहलाया। पुनः इन सीमाओं का भी विस्तार हुआ और हिमालय एवं विन्ध्याचल या उसके पड़ोसी पारियात्र एवं पूर्व पश्चिम समुद्रों के बीच का समस्त भूखंड आर्यावर्त कहलाया। इस स्थिति में सिन्धु सौवीर एवं कच्छ और आनर्त्त से ले कर अंग-बंग, कामरूप और कलिंग तक की समस्त पृथिवी आर्य सन्निवेश के अन्तर्गत आ गयी। मनु ने स्पष्ट ही आर्यावर्त की यह परिभाषा स्वीकृत की है। शक यवनों के आक्रमण और राज्य संस्थापन से पहले सचमुच आर्यावर्त्त का इतना ही बृहत् विस्तार था। यह एक नियम था कि जिसे पुण्यभूमि समझा जाता था, उसी में तीर्थों की स्थापना या कल्पना की जाती थी। मध्य राजस्थान में पुष्कर और शाकम्भरी देवी बड़े तीर्थ माने गये। दक्षिणी राजस्थान में अर्बुदाचल हिंदुओं का अत्यंत प्राचीन तीर्थ हुआ। कहा जाता है यहीं पर एक वसिष्ठाश्रम था। मातृदेवी और नागपूजा का भी यहाँ केंद्र था। अम्बादेवी और अर्बुदनाग के मंदिर यहाँ गुप्तकाल में पहले स्थापित हो चुके थे और मध्यकाल में भी उनका अस्तित्व रहा। भारतीय इतिहास की उल्लेखनीय घटना, वसिष्ठ ऋषि का यज्ञ, अर्बुद पर्वत पर हुआ था, जिसके फलस्वरूप क्षत्रियों के छत्तीस राजकुलों का जन्म हुआ। इस घटना की व्याख्या ऐतिहासिकों द्वारा इस प्रकार समझी गयी है। जो विदेशी जातियाँ बाहर से आ कर इस देश में बस गयी थीं, भारत की समाज व्यवस्था में उनके अन्तर्भाव का द्वार अर्बुद पर किये हुए वसिष्ठ के यज्ञ द्वारा उद्घाटित हुआ। सौवीर जनपद के पश्चिम में हिंगला तीर्थ की स्थापना और दक्षिण में सिन्धु-सागर संगम नामक तीर्थ की स्थापना पश्चिमी समुद्रान्त तक आर्यावर्त की सीमाओं को सूचित करती है। मध्यभारत के तीर्थयात्रा प्रकरण में सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़) के ऊर्ज्जयन्त या रैवतक पर्वत (वर्तमान गिरनार) एवं प्रभास या सोमनाथपट्टन नामक तीर्थों का उल्लेख आया है। द्वारावती (द्वारका) को आनर्त देश की राजधानी कहा गया है। यहीं पर कृष्ण के नेतृत्व में वृष्णियों ने, जब वे मथुरा से पश्चिम की ओर गये, अपना राज्य स्थापित किया।

पूर्व की ओर आर्यावर्त की सीमाओं को पूर्वी समुद्र तक माना गया है। इससे भी यह सूचित होता है कि गंगासागर संगम तक का समस्त क्षेत्र आर्यभूमि समझा जाने लगा था और हिंदुओं के अनेक पवित्र तीर्थों की कल्पना इस प्रदेश में की जा चुकी थी। कामरूप या असम के छोर पर ब्रह्मपुत्र की शाखा लौहित्य नदी के तट पर स्थित संवेद्य तीर्थ का नाम आरण्यक पर्व में आया है, जिसकी पहिचान वर्तमान सदिया में की जा सकती है। गौहाटी का कामाक्षा तीर्थ भी प्राचीन था, जिसके पीछे किरात और शबर जातियों की मातृपूजा-पद्धति की परम्परा थी। कालिका-पुराण में स्पष्ट ही उसे कैरातधर्म कहा गया है।

भूमि के ही परिचय में नदियों के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि वे सबसे अधिक स्थायी माने जाते हैं। जब अन्य प्रकार के नाम बदल जाते हैं, तब भी नदी के नाम उसी प्रकार अपरिवर्तित रहते हैं। गंगा, यमुना कालिन्दी, रामगंगा (रथस्था), गोमती, तमसा वेदश्रुति (विसुई, अवध की एक छोटी नदी), स्यन्दिका (सई), इरावती (राप्ती), गण्डकी या नारायणी, कौशिकी (कोसी), अरुणा, ताम्रा, करतोया, त्रिस्रोतसा, आत्रेयी, ब्रह्मपुत्र, लौहित्य, सुरमस (सुरमा), पद्मा इत्यादि नदियों के नाम शुद्ध संस्कृत भाषा की परम्परा सूचित करते हैं, जिसका विस्तार भारत के पूर्वी छोर तक हो गया था, इसके अतिरिक्त विन्ध्य पारियात्र पर्वत की ओर से आने वाली नदियाँ भी उसी परम्परा को सूचित करती हैं, जैसे पर्णाशा (बनास), चर्मण्वती (चंबल), कुमारी (कुँवारी), वेत्रवती (बेतवा), दशार्ण (धसान), तमसा (टांस), शोण (सोन या हिरण्यवाहु) एवं शोण की शाखा ज्योतिरथा (जोहिला)। और भी छोटी-मोटी अनेक नदियाँ इस प्रदेश में बहती हैं। आरण्यक पर्व के तीर्थयात्रा अध्याय में गंगा की शाखों में बहने वाली नदियों की संख्या ५०० कही गयी है, जिनके जल को लेकर गंगा समुद्र में मिलती है। गंगा सागर संगम-तीर्थ में स्नान करने का उतना ही फल है, मानो हम सब नदियों में स्नान कर रहे हों—

स सागरं समासाद्य गङ्गायाः सङ्गमे नृप।
नदी शतानां पञ्चानां मध्ये चक्रे समाप्लवम् ॥
(वनपर्व, पूना० सं० ११६।८)

पञ्चतन्त्र में, जिसकी रचना लगभग गुप्तकाल में हुई, गंगा की शाखा नदियों की संख्या १८०० कही गयी है।* यह संख्या इस बात को सूचित करती है कि भारत के प्राचीन भूगोलकर्ताओं ने भौगोलिक तथ्यों को छानबीन में कितनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया था।

पुराणों के अन्तर्गत भुवनकोश नामक अध्यायों में भारतवर्ष की नदियों और जनपदों की सूची दी गयी है। उसका विशेष रूप से अध्ययन आवश्यक है। उसके अनुसार देश के निम्नलिखित बड़े विभाग किये गये हैं—

मध्यदेश, उदीच्य, प्राच्य, दक्षिणापथ, अपरान्त, विन्ध्य-पृष्ठ एवं पर्वताश्रयी भाग। यह विभाग एकदम मौलिक और व्यावहारिक ज्ञात होता है। इसके अनुसार मध्यदेश और प्राच्य देश के जनपदों की गणना इस प्रकार है—कुरु, पञ्चाल, शाल्व, (उत्तरी राजस्थान), जाङ्गल (उत्तरपूर्वी राजस्थान), कुरुक्षेत्र, शूरसेन, मत्स्य, काशी, कोशल, मगध। इनके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे जनपदों के नाम रहे होंगे, जिनका इस सूची में उल्लेख नहीं है। जैसे वत्स (राजधानी कौशाम्बी), वत्स्य (मिर्जापुर) के दक्षिण पूर्व का प्रदेश। प्राच्य जनपदों में अंग (चम्पा, भागलपुर), वंग, मुद्गरक (मुद्गगिरि या मुंगेर), अन्तर्गिरि बहिर्गिरि। हिमालय की १८-२० हजार फुट से ऊँची चोटियों वाला भाग अन्तर्गिरि या महाहिमवन्त कहलाता था जिसमें बदरी, केदार, नन्दादेवी, त्रिशूल, धवलगिरि, कञ्चनजंघा, गौरीशंकर शृंग हैं। हिमालय की ५-६ सहस्र से १० सहस्र फुट ऊँची चोटियों का प्रदेश बहिर्गिरि या पाली में चुल्ल हिमवन्त कहा जाता था। इसमें धर्मशाला, शिमला, मसूरी, नैनीताल रानीखेत आदि स्थानों वाला हिमालय का भाग सम्मिलित है। इससे नीचे उतर कर मैदानों की ओर फैला हुआ हिमालय का तीसरा भाग है, जिसे इस समय भाभर तराई का प्रदेश कहते हैं। हरद्वार से देहरादून तक की यात्रा में क्रमशः ऊँची उठती हुई भूमि हिमालय की यही तीसरी उपत्यका है, जिसे प्राचीनकाल में उपगिरि कहते थे। पाणिनि ने 'गिरेश्च सेनकस्य' (५।४।११२) सूत्र में अन्तर्गिरि और उपगिरि इन दोनों नामों का उल्लेख किया है।

*भो कान्त, यत्र जाह्नवी नवनदीशतानि गृहीत्वा नित्यमेव प्रविशति तथा सिन्धुश्च तत्सर्वं त्वम् अष्टादश शतनदी शतै: पूर्यमाण त समुद्र विश्व्याहित्या चञ्च्वा च शोषयिष्यसि। (पञ्चतन्त्र, १।३०८)

सभापर्व में (२७।३) अर्जुन की दिग्विजय यात्रा का वर्णन करते हुए कहा है कि उसने अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि को जीता था।

हिमालय के भूगोल का उल्लेख करते हुए यह कह देना प्रासंगिक है कि भारतीय भौगोलिक विद्वानों ने हिमालय के पर्वत शृंग, निर्झर, सरोवर और नदियों का बहुत ही सूक्ष्म पर्यवेक्षण कर लिया था। मोटे तौर पर हिमालय के दो भाग हैं—बदरी-केदार खंड और कैलास मानस-खंड। इन दोनों का परिगणन तीर्थयात्रा प्रकरण में बहुत बार आया है। कैलास मानसरोवर की ओर जाने वाला जो मार्ग था, वह क्रौंचरन्ध्र से होकर जाता था। इसे ही कालिदास ने **हंसद्वार भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्** (मेघदूत, १।५७) कहा है। हिमालय के अधित्यका से आगे बढ़ कर कैलास की ओर जाने के लिए ऊँचे शिखर कोई पहाड़ी दर्रा होना चाहिए। इसी मार्ग से प्रति वर्ष भारतीय मैदानों से उड़ कर आकाशगामी हंस मानसरोवर की ओर जाते हैं और शरद् ऋतु के आरम्भ में पुनः वहाँ से अन्तर्वेदि की ओर लौटते हैं। हमारा अनुमान है कि अल्मोड़े से कैलास को जाने वाले मार्ग पर जो लिपुलेख दर्रा है, जिसे पार करने पर पहले मान्धाता पर्वत और फिर कैलास पहुँचते हैं। वही हंसद्वार या क्रौञ्चरन्ध्र होना चाहिए। भारत के उत्तर-पश्चिमी छोर पर भी एक हंसमार्ग था, जहाँ से भारत के हंस जातीय पक्षी मध्य एशिया की ओर उड़ कर जाते थे। उसे आजकल हुंजा कहते हैं जो कश्मीर की सीमा पर है।

मानसरोवर ही संस्कृत साहित्य का अच्छोद सर है और पाली साहित्य का अनवतप्त (अनातप्त) सरोवर है। संस्कृत साहित्य में इस पुण्य सलिल राशि की बड़ी महिमा है। आधुनिक दृष्टि से भी यह समीचीन ज्ञात होती है, क्योंकि मानसरोवर के जलों से ही सतद्रु और ब्रह्मपुत्र इन दो महानदियों का उद्गम हुआ है। मानसरोवर के समीप ही लगभग उतना ही बड़ा राक्षसताल नामक सरोवर है, जिसका जल मानसरोवर के स्वच्छ जलों की अपेक्षा अत्यन्त हीनगुण है। प्रसिद्धि है कि यहीं दशग्रीव रावण ने तपस्या की थी, जब शिव के आराधन के लिए वह कैलास तट में निवास करता था। रजताद्रि कैलास भारतवर्ष का सबसे पवित्र स्थान माना गया है, जहाँ साक्षात् शंकर का निवास कहा जाता है। कालिदास के शब्दों में कैलास क्या है, त्र्यम्बक शिव के प्रतिदिन के अट्टहास का घनीभूत रूप है। भिन्न भिन्न युगों में कवियों ने भिन्न भिन्न रूपों में कैलास को देखा है। भारतीय इतिहास के उस स्वर्णयुग में यशों की प्रजा ने सबसे अधिक अट्टहास किया था, जब पृथिवी का समृद्ध राज्य इन्द्रपद की समता करने लगा था और भारत के महानगर स्वर्ग के कान्तिमान खंड जैसे प्रतीत होते थे। कैलास का ही एक नाम हेमकूट था। जैन ग्रंथों में इसे ही अष्टापद कहा गया है। कैलास की ओर से आने वाली निरंजना सुवर्ण की संज्ञा अष्टापद था। भारतीय समाज का सबसे आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि देश के उत्तरी छोर पर कैलासवासी शिव हैं और सुदूर दक्षिण में समुद्रतट पर कन्या-कुमारी पार्वती हैं जो शिव की प्राप्ति के लिए अहर्निश तपस्या में लीन रहती हैं। विवाह से पूर्व एक ओर शिव समाधि में और दूसरी ओर पार्वती तप में निरत रह कर पारस्परिक सम्मिलन की साधना करते रहे थे। किसी भी देश के भूगोल में इस प्रकार की रहस्यमयी कल्पना नहीं पायी जाती। उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर की ओर बहती हुई भावधारा और प्राणधारा के रूप में देश के अखंड ऐक्य की यह कल्पना चमत्कारपूर्ण है। जब तक गिरिराज हिमवन्त और दक्षिणी सागर का भारतीय पृथिवी के साथ संबंध है, तब तक शिव-पार्वती के इस अमिश्र एवं अर्द्धनारीश्वर रूप में हमें देश की एकता के दर्शन मिलते रहेंगे।

हिमालय के बदरी-केदार खंड में गंगा-यमुना की महत्त्वपूर्ण धाराएँ हैं। यमुना का उद्गम यामुन पर्वत से हुआ है। यामुन पर्वत के ही एक शृंग का

वर्तमान नाम बन्दर-पूंछ है। तीर्थयात्रा प्रकरण में कहा गया है कि वायुपुत्र हनुमान रामावतार के अन्त में यहीं आ कर रहने लगे थे और द्वापर में यहीं भीमसेन से उनकी भेंट हुई। भारत की अनेक विद्याओं में से एक निदान (नामकरण) विद्या थी। इसके अनुसार अपने यहाँ की महत्वपूर्ण कथाओं को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उनका सम्बन्ध किसी पर्वत का चोटी, नदी या नक्षत्र के नाम से जोड़ दिया जाता था, जिससे लोक में जब तक इन भौतिक प्रतीकों की स्थिति रहे तब तक कथाएँ भी प्रचलित रहें।

हिमालय की सच्ची तीर्थमाला तो बदरी केदारखंड में गंगा का प्रस्रवण क्षेत्र है। पश्चिम में भागीरथी से ले कर पूर्व में अलकनन्दा तक यह प्रदेश फैला हुआ है। गंगोत्री, गोमुख, त्रियुगी नारायण, केदारनाथ, सतोपन्थ (स्वर्गपथ), बदरीनाथ, द्रोणगिरि, नन्दादेवी, त्रिशूल इसी प्रदेश में हैं। जाह्नवी, भागीरथी, मन्दाकिनी और अलकनन्दा—ये चारों हिमालय में पृथक् पृथक् धाराओं के नाम हैं, यद्यपि संस्कृत साहित्य में इन्हें प्रायः गंगा का पर्याय ही समझा जाता है। हिमालय में गंगा की द्रोणी का भौगोलिक अन्वेषण भारतीय भूगोल की महती दिग्विजय थी। गंगा भारत की सबसे पवित्र नदी है। संसार के अन्यत्र किसी प्रदेश में भौगोलिक नामों की ऐसी कविता नहीं मिलती जैसी गंगा से युक्त हिमालय के प्रदेश में। एक अंग्रेज विद्वान् ने लिखा है कि ये नाम प्राचीन भारतीय भूगोल-शास्त्रियों की नामकरण कला के अद्भुत नमूने हैं। अर्वाचीन भूगोल न केवल इनकी प्रशंसा करता है, बल्कि इनसे ईर्ष्या भी। विष्णु गंगा, विरही गंगा, वसुगंगा, क्षीरगंगा आदि शाखा नदियाँ अलकनन्दा में मिलती हैं। गंगा की ऊपर की धाराओं के मिलने से हिमालय में पंचप्रयागों का निर्माण हुआ। बदरीनाथ की ओर से अवतीर्ण विष्णुगंगा, जिसे सरस्वती भी कहते हैं, और द्रोणगिरि के पश्चिम से आयी हुई धौली गंगा (धवल गंगा) का जोशीमठ में संगम हुआ है, जिसका नाम विष्णु-प्रयाग है। विष्णु-प्रयाग से आगे बहती हुई अलकनन्दा में नन्दाकना-पर्वत से आयी हुई नन्दाकिनी का संगम नन्दप्रयाग कहलाता है। नन्दाकोट और त्रिशूल शिखरों के जलों को लाने वाली पिंडारगंगा और अलकनन्दा का संगम कर्णप्रयाग कहलाता है। केदारनाथ की ओर से आने वाली मन्दाकिनी जहाँ अलकनन्दा से मिली है, वह स्थान रुद्रप्रयाग है। गंगोत्री से आने वाली भागीरथी जहाँ अलकनन्दा से मिलती है, उस संगम का नाम देवप्रयाग है। देवप्रयाग के बाद ही सम्मिलित धारा गंगा कहलाने लगती है। गंगोत्री से थोड़ा और आगे गोमुख हिमाल (हिमस्रव) में भागीरथी का उद्गम हुआ है। लगभग १० मील बहने पर गंगोत्री के समीप भागीरथी में उत्तर की ओर से एक धारा आ कर मिली है जिसका नाम जाह्नवी है। जाह्नवी के उद्गम के समीप ही जह्नु ऋषि का आश्रम था। देवप्रयाग के बाद हृषीकेश और कनखल तक गंगा की धारा पहाड़ पर ही बही है। कनखल में पहली बार वह चट्टानों से उतर कर समतल मैदान में बहने लगती है। इसी को लक्ष्य करके कालिदास ने तस्माद् गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णाम् कहा था। गंगा की अन्तर्वेदि मध्यदेश का हृदय है। गंगा ने ही इस देश को संस्कृति प्रदान की है। भारतीय संस्कृति के लिए गंगा की महिमा अतुलनीय है।

मनु के समय में मध्यदेश की सीमाएँ विनशन अर्थात् सरस्वती के बालू में अदृश्य हो जाने के स्थान से प्रयाग तक थीं। किन्तु गुप्तकाल में मध्य देश का क्षेत्र-विस्तार बढ़ कर बिहार बंगाल तक हो गया था। कश्मीर से प्राप्त संस्कृत विनयपिटक में कथा है कि मध्य देश का एक माणवक विद्याध्ययन के लिए दक्षिणापथ गया। कभी अनध्याय के दिन सहपाठियों में चर्चा होने लगी कि कौन कहाँ से आया है। इस माणवक ने कहा—'मैं मध्यदेश से आया हूँ।' इस पर औरों ने कहा—'सब देश तो हमने देखे सुने, पर मध्यदेश नहीं देखा। हे

ने कहा है, साम्राज्य शब्दोहि कृत्स्नभाक्। अर्थात् साम्राज्य-पद्धति सबको अपने भीतर हड़प कर लेती है। वहीं यह भी कहा है कि पारमेष्ठ्य या गण-प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति का निजी गौरव होता है और जनपद के भीतर दूर तक समृद्धि और सम्पन्नता फैली रहती है, किन्तु साम्राज्य-प्रणाली में सब वैभव राजकुल के चारों ओर सिमिट जाता है और व्यक्ति का गौरव सम्राट् से सबध होने के कारण ही माना जाता है। मगध में बृहद्रथ वश, शिशुनाग वश और नद वश में साम्राज्य प्रणाली की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। यहाँ तक कि नद वश के अतिम राजा ने मध्यदेश के अनेक जनपदों को जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। तदुपरान्त मौर्य साम्राज्य का उदय हुआ, जिसने उत्तर-पश्चिम के गणराज्यों को समाप्त कर डाला। समय की आवश्यकता के अनुसार कबोज-कपिशा से ले कर वग-कलिंग तक, एव सुराष्ट्र से ले कर दक्षिण में मैसूर तक का समस्त भूप्रदेश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया। उस युग में देश के दूरस्थ भागों को एक दूसरे से मिलाने के लिए स्थलपथ, व्यापार, आन्तरिक शासन, सुव्यवस्था, कला, साहित्य, इन सबकी विशेष उन्नति हुई। एक प्रकार से यह कहना उचित होगा कि मगध के साम्राज्य की स्थापना ने भारतीय इतिहास की गतिविधि को एक निश्चित दिशा प्रदान कर दी।

साम्राज्य के उत्थान के अतिरिक्त विदेह और मगध की प्राचीन भूमि ने भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन को भी प्रगति दी। जैन और बौद्ध धर्म की विहार-भूमि यही प्रदेश था। पाँचवीं शती ईसा से पूर्व से ले कर लगभग बारहवीं शती के अन्त तक मगध में बौद्ध धर्म अनेक रूपों में विकसित होता हुआ प्रचलित रहा। गया से दक्षिण में गया के समीप बोधगया नामक स्थान में बुद्ध धर्म का जो प्रकाश प्रकट हुआ था, उसकी अन्तिम ज्योति नालंदा के विश्वविद्यालय के रूप में बारहवीं शती तक अनवरत पड़ती रही। इस प्रदेश का बिहार नाम बौद्ध धर्म की ही ऐतिहासिक देन है।

भौगोलिक दृष्टि से जहाँ उत्तर से आयी हुई कौशिकी नदी गगा में मिली है, उसके पास का प्रदेश अग जनपद कहलाता था। उसकी राजधानी चपा थी, जो गगा के तट पर वर्तमान भागलपुर है। कौशिकी (कोसी) बिहार की प्रधान नदी है। इसका उद्गम नेपाल में होता है, जहाँ इसकी कई धाराएँ सप्त कौशिकी कहलाती है। कौशिकी में मिलने वाली दो सहायक नदियाँ, अरुणा और ताम्रा प्राचीन भारतीय भूगोल में अत्यत प्रसिद्ध रही है। इन्ही के सगम पर कौशिकी के साथ ताम्रारुण-सगम का उल्लेख महाभारत के तीर्थयात्रा पर्व में आया है। यहीं पर प्राचीन कोकामुख तीर्थ था। अरुणा नदी महा हिमवन्त के गौरीशकर शिखर का जल ले कर आयी है। ये भौगोलिक नाम और तीर्थ आर्य सनिवेश के स्मारक है और सूचित करते है कि किस प्रकार तीर्थों की रचना द्वारा भूमि को देवत्व प्रदान किया गया।

गगा के दक्षिण अग जनपद से दक्षिण पूर्व की ओर बढ़ता हुआ मार्ग गगासागर-सगम तक जाता था। इस प्रदेश में कई स्थान-नाम उल्लेखनीय है। जिसे इस समय वीरभूम कहते है, उसका प्राचीन नाम वज्रभूमि था। इसे प्राकृत में वयरभूमि कहते थे। गगा-सागर के पास ताम्रलिप्ति (तामलुक) नामक अत्यन्त प्रसिद्ध[1] समुद्रपत्तन था, जहाँ से यानपात्र या प्रवहण द्वीपातर (हिन्देशिया) को जाते थे। ताम्रलिप्ति सुह्म जनपद की राजधानी थी। कालिदास ने रघुवश में सुह्म जनपद के विषय में लिखा है कि यहां के लोगो ने रघु के समक्ष वैतसी वृत्ति धारण कर, अर्थात् युद्ध के बिना उसकी अधीनता स्वीकार कर अपनी रक्षा की। सुह्म के

१. प्राचीन संस्कृत साहित्य में समुद्रपत्तन, जलपत्तन, तटपत्तन, यानपत्तन ये विभिन्न नाम बदरगाह के लिए आते है।

उत्तर में पश्चिम बंगाल का प्राचीन नाम राढ़ा या प्राकृत में लाढ़ा भूमि था। गंगा के बायें तट पर पूरब की ओर गौड नगर था। संभवतः इसी को पाणिनि ने गौडपुर लिखा है। उत्तरी बंगाल का प्राचीन नाम पुण्ड्र देश या पुण्ड्र भूमि था इसे गुप्तकालीन लेखों में पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति[१] कहा गया है। इसकी राजधानी महास्थान नामक नगर था (बोगरा जिले का महास्थान गढ़)। पाणिनि ने प्राच्यदेश के जिस महानगर का उल्लेख किया है, वह यही ज्ञात होता है। जिसे इस समय मालदा कहते हैं, उसका प्राचीन नाम मलद था। इसका उल्लेख जनपद सूची में आता है। पूर्व दक्षिण बंगाल का बारीसाल प्रदेश जो समुद्रतट से मिला है, वाणिग कहलाता था। सभापर्व में 'वाणिजेण समुद्रान्ते' कह कर इसका उल्लेख किया गया है।

प्राग्ज्योतिष और कामरूप भारत का पूर्वी प्रदेश है जो ब्रह्मपुत्र नद के दोनों ओर फैला है। ब्रह्मपुत्र की ही एक शाखा नदी लौहित्य पूर्व से आ कर उसमें मिलती है। दोनों के संगम पर वर्तमान सदिया नगर है। इसका प्राचीन नाम सवेद्या था, जिसका उल्लेख महाभारत के तीर्थयात्रा प्रकरण (वनपर्व) में आया है। ब्रह्मपुत्र के बायें किनारे पर सिल्हट या श्रीहट्ट नगर है, जहाँ कामाक्षा देवी का प्रसिद्ध मंदिर है। पूर्वदेश में प्रचलित मातृपूजा का यह प्रसिद्ध केन्द्र था। ब्रह्मपुत्र के दक्षिण में सूरमा नदी की द्रोणी है। इसका प्राचीन नाम सूरमस पाणिनि की अष्टाध्यायी में आया है। कामरूप की असमिया भाषा संस्कृत परिवार की है। भारतीय इतिहास में कितनी ही बार कामरूप की राजनीति का संबंध मध्यदेश से रहा है। हर्ष के मित्र कुमार भास्कर वर्मा का उल्लेख बाण ने हर्षचरित में विस्तार से किया है। यह उस समय कामरूप का शासक था। कामरूप का ही एक प्रदेश मणिपुर था, जहाँ के राजा की पुत्री उलूपी के साथ अर्जुन के विवाह की कथा कही जाती है। मणिपुर के राजा अभी तक अपनी प्राचीन वंशावली का संबंध अर्जुन-पुत्र बभ्रुवाहन से जोड़ते हैं। कामरूप के पूर्व में ब्रह्मदेश है, जिसका प्राचीन नाम सुवर्ण भूमि था। वहाँ की इरावदी नदी का नाम संस्कृत इरावती से प्रत्यक्ष सिद्ध है। ब्रह्मदेश पर बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव पड़ा, जिसके कारण वहाँ भारतीय संस्कृति के साथ बराबर आदान-प्रदान होता रहा। भौगोलिक दृष्टि से उत्तरी बर्मा की राजधानी पगान का प्राचीन नाम अरिमर्दनपुर था, मध्य बर्मा की राजधानी प्रोम का प्राचीन नाम श्रीक्षेत्र था और दक्षिणी बर्मा की राजधानी पीगू का नाम हंसवती था। उससे भी नीचे थैटन नगर का प्राचीन नाम सुधम्मवती था। ब्रह्मदेश और कलिंग के बीच में भारतीय समुद्र का वह भाग है, जिसे इस समय बंगाल की खाड़ी कहते हैं। उसका प्राचीन नाम महोदधि था। प्राप तालीवनश्याममुपकंठ महोदधेः श्लोक में कालिदास ने इस प्राचीन नाम का उल्लेख किया है। बंग देश से समुद्र के किनारे-किनारे कलिंग को मार्ग जाता था। कलिंग जनपद में वैतरणी, ब्राह्मणी, महानदी और ऋषिकुल्या ये चार मुख्य नदियाँ अभी तक अपने प्राचीन नामों से विख्यात हैं। वैतरणी के दक्षिण तट पर विरजा तीर्थ है जिसे जाजपुर (यज्ञपुर) भी कहते हैं। यहाँ प्रजापति ने बड़ा यज्ञ किया था। महानदी के मुख पर प्रसिद्ध पुरुषोत्तम-क्षेत्र है, जिसे जगन्नाथपुरी भी कहते हैं। उसी के समीप एकाम्रक्षेत्र नामक अतिप्रसिद्ध तीर्थ था, जिसका उल्लेख महाभारत और पुराणों में आया है। उसे आजकल भुवनेश्वर कहा जाता है। भुवनेश्वर से कुछ मील दूर समुद्र-तट पर कोणादित्य क्षेत्र था, जिसे इस समय कोणार्क कहते हैं। यहाँ १३वीं शती में सूर्य का एक अतिविशाल मंदिर बनाया गया, जो सूर्य के रथ के आकार का है। भारतवर्ष में मंदिर-निर्माण शिल्प का इतना भव्य दूसरा उदाहरण नहीं है। ऋषिकुल्या नदी के मुख पर कलिंगपत्तन

१ गुप्तकाल में प्रान्त या प्रदेश को भुक्ति कहते थे।

नामक प्राचीन राजधानी थी, जहाँ से यातायात के समुद्री मार्गों के गुच्छे एक ओर ताम्रलिप्ति, दूसरी ओर सिंहल और सामने सुवर्ण-भूमि बर्मा एवं दक्षिण-पूर्व में सुवर्ण-द्वीप (सुमात्रा) और यवद्वीप (जावा) तक जाते थे। कलिंग के अधिवासियों ने ही द्वीपांतर में जा कर अपने उपनिवेश बसाये। इस कारण आज तक वहाँ के निवासी अपने को 'क्लिंग' कहते हैं। कलिंग जनपद यद्यपि मध्यदेश से बहुत दूर है, तो भी इसका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व बहुत बड़ा-चढ़ा था। पतञ्जलि ने महाभाष्य में कलिंग और खडिक इन दो का उल्लेख किया है। खडिक कलिंग का ही एक भाग था, जिसे इस समय खडगिरि कहते हैं। जब मगध में नंद राजाओं ने अपना साम्राज्य स्थापित किया तब भी कलिंग स्वतंत्र बना रहा। इसी कारण भारतवर्ष में नाप-तोल के लिए दो मान प्रचलित हुए—एक मगध-मान और दूसरा कलिंग-मान, जिनका उल्लेख आयुर्वेद के ग्रंथों में आता है। कलिंग के निवासी बड़े स्वतंत्रता-प्रेमी और अभिमानी थे। मौर्य सम्राट् अशोक ने जिस समय कलिंग पर लड़ाई की, वहाँ के लोगों ने अपनी स्वतंत्रता के लिए उससे डट कर लोहा लिया। यह कलिंग-युद्ध ही अशोक के जीवन में उस परिवर्तन का कारण हुआ, जिसका प्रभाव विश्व के इतिहास पर पड़ा। युद्ध में हताहतों के दुःख से व्यथित हो कर अशोक युद्ध से विरत हो गया और युद्ध के भेरी-घोष के स्थान पर उसने धर्मघोष की नीति को स्वीकार किया और भारत के अनेक पड़ोसी देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

कलिंग जनपद का उत्तरी भाग, जिसमें विरजा क्षेत्र और पुरुषोत्तम-क्षेत्र और एकाम्र-क्षेत्र है, उत्कल एवं ओड्र कहलाने लगा। उत्तर कलिंग या उत्कलिंग का ही संक्षिप्त रूप उत्कल कहा जाता है। कालिदास ने उत्कल और कलिंग दोनों का पृथक् उल्लेख किया है (उत्कलादर्शितपथः कलिंगाभिमुखो ययौ, ४-३८)। महेन्द्र पर्वत वर्तमान महेन्द्र मलै कलिंग के दक्षिण भाग का प्रसिद्ध पर्वत है, जिसके कारण कलिंग के राजा महेन्द्राधिपति या महेन्द्रनाथ भी कहलाते थे। महेन्द्र के दक्षिण में आन्ध्रदेश था, जो गोदावरी और कृष्णा इन दोनों नदी-मुखों के बीच में अत्यंत उपजाऊ भाग था। यहाँ के निवासी बड़े साहसी और व्यापार-कुशल थे। किसी समय आन्ध्र सातवाहनों का राज्य सह्याद्रि से महेन्द्रगिरि तक फैल गया था। पश्चिम में नासिक से ले कर पूर्व में अमरावती और नागार्जुनीकोंडा तक का प्रदेश सातवाहन साम्राज्य के अन्तर्गत माना जाता था।

भारतवर्ष के मध्य भाग में चार बड़ी नदियाँ हैं: नर्मदा और ताप्ती पश्चिम वाहिनी हैं और उनके दक्षिण में गोदावरी और कृष्णा पूर्व की ओर बह कर महोदधि में मिली हैं। नर्मदा के उत्तर में अवन्ति जनपद अत्यंत प्रभावशाली था और उत्तरापथ से दक्षिणापथ के मार्ग पर उज्जयिनी बहुत बड़ी नगरी थी। इस समय यह प्रदेश मालवा नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु इस प्रदेश का यह नाम गुप्तकाल से ही आरम्भ हुआ। मालव नामक क्षत्रिय किसी समय दक्षिण पश्चिम पंजाब में रावी और चिनाब के संगम के समीप बसे थे। वहाँ से वे उत्तरी राजस्थान में होते हुए जयपुर की ओर चले आये और फिर कोटा की ओर बढ़ते हुए अन्त में वर्तमान मालवा में बस गये। तभी से यह प्रदेश मालव कहलाने लगा। अवन्ति से पूर्व वेत्रवती के तट पर विदिशा नाम की दशार्ण देश की प्रसिद्ध राजधानी थी, जिसका उल्लेख कालिदास ने मेघदूत में किया है (तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीम्—मेघदूत)। वेत्रवती से पूर्व और शोण से पश्चिम का घना जंगल विन्ध्याटवी कहलाता था और यहीं के छोटे-मोटे अनेक राज्य आटविक राज्य थे। बाण ने हर्षचरित और कादम्बरी में विन्ध्याटवी का अोजो-देखा वर्णन किया है। नर्मदा का तटवर्ती प्रदेश कालिदास के समय में अनूप देश कहलाता था, जिसकी राजधानी माहिष्मती (आधुनिक महेश्वर) थी। पीछे यही चेदि जनपद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नर्मदा के दक्षिण में लगभग उसी के समा-

मान्तर बहने वाली तपती (वर्तमान ताप्ती) या पयोष्णी नदी है, जो शुक्तिमान् पर्वत से निकली है। नर्मदा और पयोष्णी के मुख भाग के बीच में उत्तर-दक्षिण की ओर फैला हुआ लाट प्रदेश था। इस समुद्र-तटवर्ती देश को अतिप्राचीन काल में पिप्पली कच्छ भी कहते थे। नर्मदा के मुख पर मरुकच्छ या भृगुकच्छ (वर्तमान भड़ूच) नामक समुद्रपत्तन था जहाँ से पश्चिम की ओर जाने वाले प्रवहण यात्रा करते थे।

जिस प्रकार उत्तर के लिए गंगा नदी है, उसी प्रकार दक्षिण की धमनी गोदावरी है। यह नासिक के समीप त्रिम्बकेश्वर नामक स्थान से निकली है। इसका वह भाग गोलमी कहलाता है। नासिक के पश्चिमोत्तर का प्रदेश त्रिकूट कहलाता था। कालिदास ने रघुवंश में यहीं के त्रिकूट पर्वत का उल्लेख किया है—

मत्तेभरदनोत्कीर्ण व्यक्तविक्रम लक्षणम्।
त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकारसः॥
(रघुवंश, सर्ग ४।५९)

—गोदावरी के उत्तर और दक्षिण चार जनपद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—उत्तर पश्चिम में ऋषिक (खानदेश), उत्तरपूर्व में विदर्भ (बरार), दक्षिण में अश्मक (औरंगाबाद), और दक्षिण-पश्चिम में मूलक (अहमदनगर)। उत्तर की ओर से कई महत्त्वपूर्ण नदियाँ गोदावरी में आ कर मिली हैं। पश्चिम से पेनगंगा (प्रवेण्या) और उत्तर से वेनगंगा (वेण्या) एक दूसरे से मिलती हैं और पुनः उनकी संयुक्तधारा जो प्रतिहिता कहलाती है, गोदावरी में मिली है। विदर्भ की वरदा नदी प्रवेणी की शाखा नदी है। वरदा और प्रवेणी के बीच का प्रदेश विदर्भ है। वेण्या के पूर्व में दक्षिण कोसल-जनपद था। प्रतिहिता और गोदावरी संगम के बाद इन्द्रवती और शबरी दो और नदियाँ उत्तर से आ कर गोदावरी में मिलती हैं। ये दोनों आज भी अपने प्राचीन नामों से प्रसिद्ध हैं। शबरी के घने जंगलों में शबर जाति का निवास था। गोदावरी के दक्षिण कृष्णा नदी पश्चिमी घाट (सह्याद्रि) से निकल कर पूर्व की ओर बही है। कृष्णा का तटवर्ती प्रदेश कुन्तल कहलाता था। सह्याद्रि (पश्चिमी घाट) और समुद्र के बीच की पतली भूमि अपरान्त नाम से प्रसिद्ध थी। इसे ही आजकल कोंकण कहते हैं। कृष्णा में उत्तर की ओर से भीमरथी या भीमा नदी और दक्षिण से तुंगभद्रा आ कर मिली है। तुंगभद्रा तुंगा और भद्रा नामक दो छोटी नदियों की संयुक्त धारा है। इनके बीच में प्राचीन वैजयन्ती नगरी थी, जो इस समय वनवासी कहलाती है। सुदूर दक्षिण की नदियों में कावेरी ताम्रपर्णी और पिनाकिनी मुख्य हैं। पिनाकिनी (पेन्नार) के उत्तर में किसी समय इतिहास-प्रसिद्ध पल्लवों का राज्य था, जिनकी राजधानी कांची थी। अवन्तिसुन्दरी कथा में दंडी ने और जानकीहरण में कुमारदास ने कांची का विशेष रूप से उल्लेख किया है। कावेरी और पिनाकिनी के बीच में चोल जनपद था। कावेरी के दक्षिणी तट पर उरगपुर नामक प्राचीन पाण्डव जनपद की राजधानी थी, जिसका उल्लेख कालिदास ने रघुवंश में किया है (अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथम सर्ग, ६।५९)। पाण्डव देश में सेतुबन्ध रामेश्वर तीर्थ है, जहाँ से सिंहल को समुद्रयात्री जाते हैं। पाण्डव देश में ही मलय पर्वत है, जहाँ चंदन के वृक्ष होते हैं। भारतीय साहित्य में मलयगिरि अतिप्रसिद्ध है। मलय पर्वत के पश्चिम में केरल देश था, जिसे इस समय मलैबार (कोचीन-त्रावणकोर) कहते हैं। केरल के ही सबसे दक्षिणी छोर पर कन्याकुमारी है, जहाँ पति-रूप में शिव की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या करती हुई कुमारी पार्वती का समुद्र तट पर भव्य मंदिर है। भारत के दक्षिण में मातृभूमि से मिला हुआ लंका-द्वीप है, जो सिंहल द्वीप और ताम्रद्वीप भी कहलाता था। भारतीय प्रायद्वीप के तीन ओर अगाध समुद्र भरा है। किसी समय भारतवासी सच्चे अर्थों में अपने समुद्र के अधिपति थे। महाकवि कालिदास ने दक्षिण दिशा का वर्णन करते हुए मातृभूमि की

जो कल्पना की है, उसमें उसे समुद्रों की रत्नजटित मेखला पहने हुए कहा है—रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नीभव दक्षिणस्याः (रघुवंश, ६।६३) वस्तुतः आन्ध्र सातवाहन युग में भारत के सामुद्रिक व्यापार में बहुत वृद्धि हुई। व्यापार के साथ-साथ विदेशों में भारतीय संस्कृति, धर्म, भाषा और कला का भी प्रचार हुआ। फलतः सिंहल, इन्द्रद्वीप (अंडमन), नागद्वीप (निकोबार, नक्कवरम्), मलयद्वीप (मलाया प्रायद्वीप), यवद्वीप (जावा), सुवर्णद्वीप (सुमात्रा), बलिद्वीप (बाली), कटाहद्वीप (मलय के उत्तर में केडा नामक स्थान) इत्यादि द्वीपों में भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा, बौद्ध धर्म एवं हिन्दू धर्म का प्रचार हो गया, जिसके अनेकों प्रमाण मंदिर, मूर्ति और शिलालेखों के रूप में पुरातत्त्व संबंधी उत्खनन में प्राप्त हुए हैं। गुप्तकाल में भारत के इस सांस्कृतिक प्रचार को धर्मविजय कहा जाता था। इस धर्म विजय द्वारा ये द्वीप इस प्रकार भारत के साथ एकरूप हो गये थे कि भारत शब्द का भौगोलिक अर्थ ही बदल गया और इन द्वीपों की गणना भी भारतवर्ष के अन्तर्गत होने लगी। पुराणों ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है—भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान्निबोधत। समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम्। इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णी गभस्तिमान्। नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः। अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागर संवृतः (मत्स्य, ११४।७-९, वायु, ६।४५।७८-८०, मार्कण्डेय ५७।६-७)। इसमें स्पष्ट कहा है कि भारत के नौ भागों के बीच में समुद्र होने के कारण वे एक दूसरे से अगम्य थे। इस भौगोलिक तथ्य का लेखक भारत में ही बैठ कर लिख रहा था। अतएव उसने इस देश के लिए 'अयम्' शब्द का प्रयोग किया। राजशेखर ने काव्य मीमांसा में इन्हीं श्लोकों को उद्धृत करते हुए स्पष्ट लिखा है कि नवें द्वीप का नाम कुमारी द्वीप था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गुप्तकाल के लगभग मूल भारत देश कुमारी द्वीप कहलाने लगा और बृहत्तर भारत के लिए भारत नाम प्रयुक्त होने लगा। इसका एक सुन्दर प्रमाण हमारे नित्य के संकल्प में पाया जाता है, जिसका निम्नलिखित रूप है—हरिः ॐ तत्सत् अद्य श्रीमद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य श्री ब्रह्मणोऽह्नि द्वितीय प्रहरार्द्धे श्री श्वेतवाराहकल्पे वैवस्वत मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे भारतवर्षे कुमारिकाखण्डे[1] आर्यावर्तैकदेशे... . इत्यादि। इस प्राचीन संकल्प में पहला पाठ 'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे' था, जिसका भौगोलिक अर्थ था जम्बूद्वीप के एक भाग भारत में'। यही मूल पौराणिक भूगोल था। इस भूगोल में हरिवर्ष, इलावृतवर्ष, केतुमाल वर्ष और भारतवर्ष इन चारों को मिला कर जम्बूद्वीप कहते थे। उस जम्बूद्वीप का दक्षिणी भाग भारतवर्ष था। गुप्तकाल के लगभग जब भारतवर्ष का प्राचीन अर्थ बदल कर उसमें उपर्युक्त नवद्वीपों की गणना होने लगी तब प्राचीन संकल्प के पाठ में 'भारतवर्षे कुमारिकाखण्डे' इतना और जुड़ गया और संयोग से प्राचीन पाठ और नूतन पाठ दोनों एक साथ पढ़े रह गये। स्कन्दपुराण के माहेश्वर-खंड के कुमारिका खंड में भी इस देश को कुमारिका-खंड कहा गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में भारतीय भूगोल की अपरिमित सामग्री विद्यमान है। भारत के जनपद, पर्वत, नदी, प्रदेशों और नगरों का जैसा सूक्ष्म परिचय उस काल के साहित्य में पाया जाता है, उसे नूतन दृष्टि से देखने पर हमारे ज्ञान की पर्याप्त वृद्धि होती है और प्राचीन लोगों के सूक्ष्म भूमि परिचय पर आश्चर्य भी होता है। इस भौगोलिक सामग्री का ज्ञान संस्कृत के अध्ययनाध्यापन कराने वाले विद्वानों को होना चाहिए। यह आवश्यक है कि इसके लिए प्राचीन संस्कृत साहित्य की भौगोलिक सामग्री का उचित रूप से अध्ययन कराया जाए। नवीन भौगोलिक

[1] महाराष्ट्र में 'कन्याकुमारिकाक्षेत्रे' पाठ है।

ग्रंथों के साथ-साथ प्राचीन भुवनकोश, काव्य, स्थल-माहात्म्य, तीर्थयात्रा प्रकरण, शिलालेख आदि में उल्लिखित भौगोलिक सामग्री को संस्कृत के विद्वानों के अध्ययनार्थ प्रस्तुत करना चाहिए। इस मार्ग से उन्हें अपने साहित्य में नूतन निष्ठा प्राप्त होगी और उस साहित्य के अर्थ को ठीक प्रकार हृदयंगम करने की नयी शक्ति प्राप्त होगी। अर्वाचीन विद्वान् यह मानते हैं कि भूगोल से बढ़ कर वास्तविक स्थिति का परिचायक दूसरा शास्त्र नहीं है। अतएव जब हम कालिदास या बाण के काव्य और ग्रंथों का अध्ययन करते हैं तो यदि साथ-साथ उनके भौगोलिक नामों और संकेत में भी हमारा परिचय हो तो उन वर्णनों को समझने में कहीं अधिक सुविधा होगी। रघु की दिग्विजय में ताम्रपर्णी से ले कर वक्षुनदी (ऑक्सस) तक और कामरूप से पारसीक देश तक कवि ने जिन स्थान-नामों का उल्लेख किया है, उन्हें जाने बिना कवि का यथार्थ अभिप्राय समझना कठिन है। इस वर्णन के पीछे गुप्त सम्राटों की जो महती देश-विजय थी, उसकी प्रतिध्वनि हम तभी समझ सकते हैं, जब उन-उन भौगोलिक नामों की यथार्थ पहचान हमें ज्ञात हो। वराहमिहिर, राजशेखर एवं कितने ही पुराण-लेखकों ने अपने ग्रंथों में भौगोलिक सामग्री का मानो भण्डार भर दिया। उस भाषा को उचित भौगोलिक व्याख्या के साथ हमें पुनः अपने दृष्टि-पथ में लाना होगा।

✿✿✿

शिवप्रसाद सिंह | केवड़े का फूल

अँधेरा भी कम सुन्दर नहीं होता, और खास-कर ऐसा अँधेरा, जिसकी जड़ में उजाला फूटने वाला हो, ठीक गुलचीन की काली नंगी डाल की तरह, जिस पर चाँद की तरह मुसकराता फूल निकल आये। चैत के अँधेरे पाख की तीज थी। मैं अपने छत पर लेटा सामने की अमराई को देख रहा था, जिसके अन्तराल से चाँद का गोला ऊपर उठने लगा था। मेरी आँखों के सामने लाल ईंटों की इमारत है, जिसकी पश्चिमी खिड़की कई दिनों से बन्द रहती है, जिसमें पहले कई बार जलते दीये को देख चुका हूँ, जो ऐसी अँधेरी रातों में अंधकार की लहरों में झूलता प्रतीत होता था। दीये की मद्धिम जोत के साथ ही मेरी आँखों में अनिता की झुकी हुई आँखें भी तैरने लगती हैं, जो सामने निघड़क भाव से देखती रहती थीं, जैसे कुछ देखना ही इनका काम है, देखने की कोई वस्तु सामने हो तो भी, न हो तो भी। न जाने घंटों इस प्रकार दीये की ओर देखने में उसे क्या राहत मिलती है, किन्तु मुझे तो उसकी ऐसी हालत देख कर भय लगने लगता। कई दिन से सोचता था, पूछूँ—आखिर उसे हो क्या गया है! वह इतनी उदास और खिन्न क्यों रहती है। कसबे-भर में उसके बारे में जो प्रवाद फैला है, उसे मैंने न सुना हो, ऐसी बात नहीं। मैं जानता हूँ कि कोई भी विवाहित लड़की अपने पति-गृह से माँ-बाप के बिना बुलाए यदि चली आए, तो यह कम-से-कम अपने समाज में साधारण बात नहीं मानी जाती। पर अनिता के विषय में इतनी बात के आधार पर कुछ निर्णय दे सकना मेरे लिए तो बहुत मुश्किल है। इसलिए नहीं कि मैं कोई बहुत बड़ा कारण जानना चाहता हूँ, बल्कि इसलिए कि मैं अनिता के स्वभाव को अच्छी तरह जानने का थोड़ा दावा रखता हूँ।

होली के तीन चार रोज पहले इसी छत पर जब लेटा मैं सामने के मुंडेरे की ओर देख रहा था, जिसके पीछे चांद की किरणों का जाल अनजाने उलझ रहा था। मुझे लगा जैसे छत के उस मुंडेरे पर हाथ धरे कोई और खड़ा है। चांद को रोकने वाली दीवार की काली छाया ठीक मेरे बिस्तर पर पड़ रही थी, इसलिए यह अनुमान लगा सकना सहज कठिन था कि इस लंबा चौड़ी छाया में कहीं अनिता की भी छाया छिपी है या नहीं। चांद के उठने के साथ ही, फागुनी अन्धड़ से धूसरित आसमान में, धूमिल रोशनी फैलती जा रही थी और अब सामने के मुंडेरे का हर भाग साफ-साफ मेरी आंखों के सामने खुला हुआ था, पर वहां कोई दूसरी छाया न थी। मैं विस्मय-सा मुंह फेर कर दीवार की काली छाया को रोशनी में घुलते देख रहा था, जिसके पास काली पुतली-सी सिकुड़ी कोई मूर्ति खड़ी थी। अपनी छत पर अनिता को चुपके से खड़ी देख मुझे आश्चर्य हुआ प्रसन्नता भी।

"सरोज!" वह बोली।

"हूं!"

"सुनते हो!"

"हूं!"

"अरे भाई, 'हूं' के अलावा भी कुछ सीखा है कि नहीं?"

"नहीं!" और तब बिना उसकी ओर देखे हाथ के एक झटके से मैंने उसके शरीर पर लिपटी चादर को खींच लिया। रुई के बारीक रेशे की तरह चांदनी उसके अंगों से लिपट गयी। ईंटा वाली इमारत की ऊंची दीवारें झुक गयीं, चांद का प्रकाश उसके बालों में आ कर उलझ गया, तभी मैंने देखा कि वह रो रही थी और उसकी आंखों से झर झर आंसू गिर रहे थे। मैं अवाक् कुछ भयभीत-सा उसके पास खड़ा हो गया।

"अनिता!" मैंने कहा, किन्तु सोच न पाया, आगे क्या कहूं। मुझे भय था कि कहीं नीचे से मां न आ जाएं, तो पता नहीं वे क्या सोचेंगी, कहीं कोई देख ले, तो क्या कहेगा।

"अनिता, चुप हो जाओ!" मैं इतना ही कह सका।

वह चुप हो गयी और मेरी ओर एक क्षण के लिए देखती रही। झील की तरह साफ और नीली आंखों में शोक की काली छाया थी। उसके विवर्ण मुख पर सीप की तरह जड़ी आंखें निश्चेष्ट भाव से पड़ी थीं। मैं उसकी ओर देख न सका, और मैंने गर्दन झुका ली।

"क्या खास बात है, अनिता!" मैंने गर्दन झुकाए ही पूछा।

"मैं कल जा रही हूं सरोज!" वह इतना कह कर चुप हो गयी। मैं उसके कथन के मर्म को समझ न सका। आयी थी और जा रही है—इसमें नवीनता क्या? मैं चुपचाप उसकी ओर देखता रहा।

"जाऊं न!" उसने मेरी ओर आंसू-भरी आंखें उठायीं। इतनी पीड़ा भी किसी दृष्टि में हो सकती है, ऐसा मैं नहीं सोच पाता, उसका गला व्यथा से रुंध गया था।

"तुम्हें कोई दुख है, अनु!" मैंने पूछा, तो वह बिखर कर रोने लगी। मैं तो उसकी यह अवस्था देख कर हतप्रभ-सा हो गया। उसका इस तरह रोना निश्चित ही कोई गूढ़ अर्थ रखता है, और उसे जानना भी मेरा फर्ज है किन्तु इस विह्वल अवस्था में, इस प्रकार बातचीत कर सकना मेरे लिए अत्यन्त कठिन लगा। मैंने उसे भरसक समझाया-बुझाया और कल उसके घर आने का वादा करके उसे नीचे तक पहुंचा आया।

दस वर्ष की उमर के पहले अनिता कैसी थी, यह मुझे नहीं मालूम, किन्तु उसे जब मैंने पहली

.र देखा तो इसके करीब रही हूंगी। इतने दिनों तक वह अपने मामा के यहां रही। पढ़ती थी, क्योंकि उसकी माँ को विश्वास था कि उनके मायके में जितनी अच्छी पढ़ाई होती है, उतनी अच्छी इधर के किसी स्कूल में नहीं होती। हाँ, तो यह सुन कर कि अब तक जो सिर्फ पढ़ने के लिए ही अपने मामा के यहाँ रह गयी, वही अनिता आज आ रही है। हम लोगों को विशेष करके जो उसी उमर के थे बड़ा कुतूहल हुआ। मुझे औरों से ज्यादा, क्योंकि एक तो उसका घर मेरे घर से बिलकुल सटा था, दूसरे उसकी और मेरी माँ में बहुत निकट का भाव था। उस दिन सवेरे सवेरे ही माँ ने मुझे बताया कि आज अनिता आने वाली है, और न जाने कितनी देर तक अनिता की तारीफ का पुल बांधती रहीं यहाँ तक कि मैं उकता गया और उस जरा-सी लड़की पर मुझे बेहद गुस्सा भी आया, जिसको मैंने देखा तक नहीं। माँ ने भी तो देखा होगा, जब वह बहुत छोटी थी, फिर कौन-सा सुर्खाब का पर लग गया है उसमें, कि जिसे देखो वही कहता है कि अनिता आने वाली है। अच्छा भाई, आने वाली है, तो आने न दो। उसके लिए इतना तूल-तड़ाम क्यों! आने वाली है आए।

अनिता आयी। छोटे-छोटे लड़के-लड़कियाँ उसे देखने के लिए उसके घर आये। माँ सुबह से ही अनिता के घर डेरा डाले बैठी थीं। मेरे मन में तो आया कि न जाऊँ, पर मेरे मन में भी उसे देखने की उत्सुकता कम न थी, गया।

सफेद रबड़ की तरह चिट्टी गोरी एक दुबली-पतली लड़की जो ऊँचाई में मेरे कंधे तक आए, एक बक्स पर बैठी गाल पर हाथ लगाए टुकुर-टुकुर सबको देख रही थी, जैसे तमाम दुनिया उसके सामने नाचीज हो। मैं चुपचाप जा कर उसी बक्स पर हो गया और उसी जगह में वैसे ही गाल पर हाथ लगा कर बैठ गया उसको और देखा तक नहीं।

'ए लड़के!' वह फुदक कर बक्स पर से उतर कर खड़ी हो गयी और मेरी ओर मुँह फिरा कर बोली, 'भीतर हनुमान जी की तस्वीर है, शीशे में मढ़ी, वही टूट गयी, तो?"

"तो क्या?" मैंने बैठे-बैठे कहा, 'तेरे बैठने से नहीं टूटती थी?"

वह शायद इस तरह की बात सुनने की आदी नहीं थी, मारे गुस्से के तमतमा गयी और फिर तुरन्त जैसे शिकार की ओर बाज झपटे, मेरी ओर बढ़ी कि बीच में उसकी माँ ने खींच लिया और मेरी ओर देख कर बोली, "अनी, अरे यह तेरा सरोज भैया है न! इससे झगड़ा करेगी?"

"बड़ा आया है सरोज भैया!" उसने कड़वा-सा मुँह बनाया और अपनी माँ से तुनक कर बोली, 'अच्छा इससे कह दो कि बक्से से उतर जाए।"

"मैं तो खुद उतर जाऊँगा।" मैंने खड़ा हो कर कहा, 'पर तू भी बैठने न पाएगी।"

वह मेरे मुँह की ओर हताश देखती रही, फिर गुस्से ओठ बिचका कर एक ओर चल पड़ी, जैसे इन बातों को उसने सुना तक नहीं, मानो वह इसका उत्तर न दे कर ही अपना बड़प्पन दिखाना चाहती हो।

अनिता से पहले-पहले दिन ही जो लड़ाई ठन गयी, उसे वह बहुत दिनों तक निभाती रही। खेल-कूद में वह हमेशा मेरे खिलाफ नया गिरोह तैयार करती, बहुत-से लड़के उससे इतना डरते कि वे चाह कर भी मेरे पास आने की हिम्मत न करते, किन्तु यह सब क्षणिक था, बचपन के ये तमाम उत्पात न जाने कब छू मन्तर हो गये। अनिता घर के बाहर बहुत कम निकलती, उसके चलने फिरने, बातचीत करने पर जैसे प्रतिबन्ध था। कभी-कभी मेरी माँ से मिलने मेरे घर आती, तो मुझसे सीधे बात न करती। माँ से कहती कि सरोज भैया से यह कह दो, वह कह दो। मुझे बड़ा आश्चर्य होता, मैं उसकी ओर कुतूहल से देखने लगता, तो वह न

उसमें किसी तरह की कमी न आयी। मैं निष्फल वापिस लौट आया।

मैं जानता था कि अनिता के मन की बात को इतनी आसानी से निकाल सकना मुश्किल है, यदि वह खुद किसी खास तरह की मनोदशा में अपने ही न कह दे।

दो महीने बाद अचानक सुना कि अनिता के बच्चे की मृत्यु हो गयी। बीमार वह पिछले कई दिनों से था, किन्तु इतनी अल्पायु ले कर आया है, ऐसी उम्मीद किसको थी! यह एक और विचित्र घटना हो गयी, जिसके लिए लोगों में अनिता के लिए सहानुभूति कम, पाप के फल के लिए ईश्वरी विधान में आस्था ज्यादा दिखाई पड़ी। मैं तो कसबे वालों की बातें सुन कर ऐसा घबड़ा गया कि कइयों से लड़ाई होते-होते बची। किन्तु इस तरह की लड़ाइयों से लाभ की अपेक्षा हानि ज्यादा सम्भव है, इसे मैं जानता था। लाचार होंठ बन्द किए सुन लेना ही अधिक सीधा मालूम होता। यद्यपि मैं दूसरों की कही बातों का प्रतिकार न कर सका, किन्तु इस अप्रत्याशित शोक की स्थिति में अनिता के प्रति सहानुभूति न दे सकना भी कठिन था। मेरे सामने वह खड़ी थी, मैं उसकी ओर न देख कर, धीरे-धीरे बच्चे की मृत्यु पर कुछ कह रहा था, जिसे उसने सुन लिया—फिर न जाने क्यों थोड़ी विकल सी हो उठी, चंचल भी लगी, जैसे मेरा इस समय आना उसे अच्छा नहीं लगा। बच्चे के लिए मेरे शोक व्यक्त करने पर बोली, "चलो, अच्छा हुआ उसकी यह निशानी भी न रही।" मैं अवाक् उसके विवर्ण, किन्तु जिद से खिंचे हुए चेहरे की ओर देखता रह गया, मेरे कानों को विश्वास न हुआ कि ये शब्द मेरे बच्चे के लिए उसकी माँ ने कहे हैं।

"अनिता!" मैं गुस्से को रोक न सका।

वह काँपते होंठों से, मेरी ओर एकटक देखते हुए, जैसे कुछ कहना चाहती थी, किन्तु कुछ कह न सकी और हिचकियों में टूट टूट कर रो उठी।

"तुम नहीं जानते सरोज", उसने रोते-रोते कहा—और शायद कुछ और कहती, तभी उसकी रुलाई सुन कर उसकी माँ कमरे में दौड़ आयी। लड़की को रोते देख वे भी रोने लगीं और मैं चुपचाप दोनों माँ-बेटी को रोते छोड़ चला आया।

दूसरे दिन प्रातःकाल मैं अनिता के घर गया। आज फिर मेरे हाथ में केवड़े का फूल था, जिसे मैंने अनिता को देने के लिए तोड़ लिया था, क्योंकि आज वह जाने वाली थी। दरवाजे पर अनिता के पिता जी बैठे थे। मैं उनके पास जा कर बैठ गया। बड़ी देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं। "ताऊ जी!", अन्त में मैं अपने को रोक न सका, "अनु को वहाँ कुछ तकलीफ है?" मैंने पूछा। वे एक क्षण मौन मेरी ओर देखते रहे, बोले, "तकलीफ क्या है भई, लाखों का कारबार ठहरा। खाना-पीना, कपड़ा-लत्ता इसमें कमी की बात ही नहीं। अनु कहती थी कि शायद वह दूसरी शादी करने वाला है तो इसमें भी क्या हुआ, बड़े घरों के लड़के ऐसे करते ही हैं। जो दूसरी शादी नहीं करते, वे रखेल रखते हैं। इसके लिए क्या घर बार छोड़ देना चाहिए? अनु कुछ पगली है, तुम उसे समझाओ, इस तरह के कामों से बाप-भाई की बेइज्जती होती है।"

मैं उठा तो बोले, "यह क्या लिए हो, केवड़ा! बड़े अच्छे!" और उन्होंने जोर की आवाज दे कर अपने नौकर को बुलाया, "हरखू, अरे ये लो केवड़ा।" उन्होंने मेरे हाथ से फूल ले कर तोड़ मरोड़ कर नौकर को देते हुए कहा, "इसे कुएँ में डाल दो। मेहमान आने वाले हैं, जरा देर में पानी खुशबूदार हो जाएगा।"

मैं तो टुकुर-टुकुर ताकता ही रह गया, कुछ कहते न बना।

ताऊ के घर में आज बड़ी भीड़ थी। गाँव-भर की औरतें इकट्ठी थीं। अनु आज ससुराल जा रही

है, इसलिए सारा प्रवाद मिट गया। वह फिर मासूम दुल्हन के रूप में सजायी गयी थी। किन्तु वह बोलती कम थी, इसी से लड़कियाँ उसके पास न जा कर दूर बैठी थीं। मैं चुपचाप उसकी कोठरी के दरवाज़े पर जा कर खड़ा हो गया। उसने मुझे देखा, देखती रही, और तब उसकी आँखों में गंगा उमड़ पड़ी- -वह दौड़ कर मुझसे लिपट गयी।

"सरोज, तुमने कहा, सो जा रही हूँ"—वह बोली।

"अनु, मेरी कसम, तुम सच बताओ, तुम्हें वहाँ क्या दुःख है?" मैंने पूछा। वह एकदम मुझे छोड़ कर सामने खड़ी हो गयी। उसकी आँखें जैसे प्रति*हिंसा से जल रही थीं—बोली, "जानते हो वह क्यों* दूसरी शादी कर रहा है?"

मैं चुप रहा।

"इसलिए कि मैं उसके वहे मुताबिक हर काम *करने को तैयार नहीं हूँ। वह पुरुष नहीं है सरोज,* जो अपनी पत्नी के सम्मान की रक्षा भी नहीं कर सकता। वह मुझे बदलना चाहता है..बदलना चाहता है, फूटे बर्तन की तरह।" उसने बगल के आले से एक पत्र उठाया और बोली, "यह है उसकी चिट्ठी, लो पढ़ लो।"

मैंने लिफ़ाफ़े से पत्र निकाल लिया। लिखा था कि "तुम्हारा बाप मेरे पैरों पर नाक रगड़ रहा है कि मैं तुम्हें बुला लूँ, क्योंकि उसकी बेइज़्ज़ती हो रही है। मुझे आना हो, तो आओ, लेकिन याद रखना, तुम्हें मैं पैरों की जूती से अधिक कुछ नहीं समझता। तुम्हें वह सब करना पड़ेगा, जो मैं कहूँगा। तुम्हें अपने को मेरे समाज के लिए बदलना होगा... तुम मेरी ही नहीं 'मेरे मित्रों' तक के लिए मनो-*रंजन का साधन हो... मेरा सारा मतलब तुम* समझती होगी सती धर्म की दुहाई दे कर तुम मेरी इच्छाओं को नहीं रोक सकतीं।"

मैं पत्र को आगे न पढ़ सका। अनिता मेरे मन की लज्जा और कमजोरी को शायद जानती थी, वह एक ओर मुँह फिरा कर रोती रही। मैं उसकी आँखों के सामने से अपने को छिपाता कमरे से चला आया और वह उसी असह्य अग्नि में, उसी बदबूदार नरक-कुण्ड में पिता की इज़्ज़त और *समाज के बन्धन के नाम पर चली गयी।*

मैं अब भी जब कभी इस अनिता के बारे में सोचता हूँ, मेरे सामने केवड़े के फूलों की याद आ जाती है। यदि इन्हें स्वतंत्र खिले रहने दें, तो ज़हरीले साँप इन्हें अपनी कुंडली में लपेट लेते हैं, क्योंकि इनकी मादक गन्ध सही नहीं जाती, और यदि किसी को निवेदित किया जाए, तो भद्र लोग उन्हें तोड़ मरोड़ कर कुएँ में डाल देते हैं, क्योंकि इससे पानी खुशबूदार होता है।

ooo

प्रभाकर माचवे | दो कविताएँ

एक्स्चेंज-रेट

हमने माँगी रोटी
उनने अणु-बम फेंका !
लगा, हमारी नीयत खोटी,
उनने हम को जो देखा !

हर तस्वीर यहाँ नगी है,
हर गाने में कामुकता !
किश्त कर्ज़ की बेढंगी है,
अन-ऋण कैसे कब चुकता ?

हमने माँगी दया, अनुग्रह
उनने दागी बस बन्दूक !
कहा, बेच दो आत्मा, अ
वर्ना मर जाओ दो-टूक !

यह सौदा महँगा है मित्र,
पौंड से तुलता है चित्र !

निदान

सुनते हैं कलजुग में महिमा बड़ी दान की
अगर कहीं आपने ज़रा-सी तुक-तान की
रेडियो में होता है 'कांटेक्ट-दान'; और
एम० ए० में 'गोदान', 'टेक्स्ट' है ।

(विनोबा का भूदान विश्रुत है विश्व में)
'किन्तु यह सूदान सुसरा कहाँ है जो !'
पूछा एक भूगोल छात्र ने ।

ज्ञान-दान, पानदान, फूलदान, मूलदान,
प्याजदान, खानदान, पीकदान, चूल दान,
मतिदान, गतिदान, प्रतिदान, पति-दान
सुना है सतीत्व-दान और संपत्ति-दान ।

दान का ये रोग अगर ऐसा ही बढ़ा तो,
बोलो कहाँ है निदान ?
क्या निदान है,
निदान...

❧❧❧
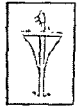
समालोचना

(1) वितस्ता की लहरें लेखक, लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रकाशक, आत्माराम एंड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली–६, पृ०-सं० १२३, मूल्य १॥)

नाटककार के रूप में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने हिंदी-जगत् में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। इनके प्रमुख नाटक 'अशोक', 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग' और 'सिन्दूर की होली' माने जाते हैं। इनका प्रथम नाटक 'अशोक' सं० १९८४ वि० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। विगत २५-३० वर्षों में आपकी कला उत्तरोत्तर विकसित होती रही है और इस प्रकार 'वितस्ता की लहरें' नाटक साहित्य के क्षेत्र में एक सुन्दर प्रयोग है। आपकी अन्य रचनाओं में विभिन्न आलोचकों ने जिन दोषों की चर्चा की है, उनसे बचने का इस नाटक में पूरा प्रयास किया गया है।

आपके प्रथम नाटक 'अशोक' में प्रमुख दोष व्यापार का आधिक्य बतलाया गया था। अशोक की चरित्र-हीनता भी भारतीय हृदयों को आहत करती थी। क्योंकि विदेशी इतिहासकारों ने भी उसे महान् माना है। समस्त नाटक में यूनानियों के चरित्र भारतीयों की अपेक्षा कुछ उज्ज्वल दिखलाये गये थे। 'वितस्ता की लहरें' में यह क्रम बदला हुआ है। इसमें भारतीय आदर्शों की उत्तम व्याख्या प्रदर्शित की गयी है और यूनानी विचारकों का चिंतन दोषपूर्ण प्रकट किया गया है। 'संन्यासी', 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', और 'सिन्दूर की होली' मिश्र जी के सामाजिक नाटक हैं, जिनके कथोपकथन कहीं-कहीं श्लीलता की सीमा उल्लंघन कर गये हैं। हर्ष का विषय है कि लेखक ने 'वितस्ता की लहरें' में पर्याप्त संयम से काम लिया है।

इस नाटक की कहानी हमारी चिर-परिचित सिकन्दर द्वारा भारत पर आक्रमण की कहानी है, जिसमें विष्णुगुप्त चाणक्य के बौद्धिक कौशल ने विदेशी आक्रमण को विफल बना कर देश की स्वतंत्रता की रक्षा की। कहानी इतनी लोकप्रिय है कि अनेक नाटककार इस विषय पर लेखनी उठा कर यश-अर्जन कर चुके हैं। संस्कृत में मुद्रा-राक्षस इसी इतिहास का परिचायक है, जिसका हिंदी अनुवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था। प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त', द्विजेन्द्रलाल राय के 'चन्द्रगुप्त' का हिंदी रूपान्तर, सेठ गोविंददास का 'शशिगुप्त', श्री जनार्दन नागर का 'चाणक्य' इसी विषय पर लिखे गये अन्य नाटक हैं। 'वितस्ता की लहरें' भी उसी कहानी को दुहरा रही है, परन्तु कुछ अंतर के साथ।

कहानी राजा पुरु के प्रदेश में ही समाप्त हो जाती है। उसके द्वारा मगध साम्राज्य की स्थापना का इतिहास नहीं बतलाया जाता। अन्य नाटककार जहाँ संपूर्ण कहानी कहने को संलग्न हो गये हैं, वहाँ मिश्र जी ने उसका केवल नाटकीय अंश चुना है। अन्य नाटक-कारों ने जहाँ कई अंक और उनमें भी कई दृश्यों का समावेश कर अपनी रचनाओं को रंगमंच के लिए कठिन बना दिया है, वहाँ मिश्र जी ने केवल एक-एक दृश्य वाले तीन अंकों में सारी कथा कह कर उसे रंगमंच पर उपस्थित करना बहुत सरल बना दिया है। नाटकीय पात्रों की संख्या भी सीमित होने के कारण प्रत्येक पात्र का चरित्र स्पष्ट किया जा सका है और कथा-प्रवाह में उसका समुचित सहयोग है।

नाटक की कहानी पुरु के राजभवन में प्रारंभ होती है। केकय-राजवधू रोहिणी अपने पति रुद्रदत्त की प्रतीक्षा में चिन्तित है। यवन प्रतिहारी वसन्त-सेना और पुरु के प्रहरी हयग्रीव और अश्वकर्ण अपनी मनमानी वार्ता में राजवधू की चिन्ता भुलाने का प्रयास करते हैं। रोहिणी अश्व मँगवा कर राजकुमार की खोज में जाना चाहती है, उसी समय रुद्रदत्त के लौटने की सूचना देने वाली शंख-ध्वनि सुन पड़ती है। रुद्रदत्त से पहले विष्णुगुप्त रोहिणी के समीप आ कर उन्हें सूचना देते हैं कि रुद्रदत्त के साथ पारस-नरेश दारयवहु की दो कन्याएँ रजनी और तारा भी आ रही हैं। विष्णुगुप्त चाहता है कि रोहिणी उनके प्रति मातृवत् स्नेह का प्रदर्शन करे। रोहिणी सम्प्रति उस स्नेह की अभ्यस्त नहीं है, अतएव उन्हें अपनी सखियों के रूप में स्वीकार करने को उद्यत होती है। रुद्रदत्त के आ जाने पर रोहिणी और उसकी नयी सखियाँ महल में उनके साथ जाती हैं, क्योंकि राजा पुरु उधर आ रहे हैं। विष्णुगुप्त और पुरु देश की राजनीतिक स्थिति पर विचार करते हैं। तक्षशिला के स्नातक अलिक-सुन्दर के पड़ाव से समाचार लाते हैं। विजित राजा अम्भी का पुत्र भद्रबाहु राजा पुरु से अस्त्र ग्रहण करता है। तारा और रजनी महल से लौट कर भद्रबाहु से आकर्षित हो कर उसके समीप खड़ी हो जाती हैं। रुद्रदत्त के पुनः मंच पर आ जाने पर भद्रबाहु से विवाद बढ़ जाता है, जिसे राजा पुरु शांत कराते हैं। सब मित्र-भाव से विदा लेते हैं, विष्णुगुप्त वितस्ता तट की ओर प्रस्थान करता है और राजा पुरु आदि मन्दिर की ओर।

दूसरे अंक का दृश्य भी राजा पुरु का वही राज भवन है। रजनी युवराज की प्रतीक्षा में है। उसने स्फटिकशिला पर युवराज का चित्र बनाया था। सप्ताह-भर प्रतिदिन वह चित्र बनाती रही थी। प्रतिदिन चित्र बना कर वह उसे मिटा देती थी, आज वह चित्र मिटाना भूल गयी और इस प्रकार रोहिणी पर उसका राजकुमार के प्रति प्रेम प्रकट हो गया। रजनी, तारा और रोहिणी की वार्ता वसन्तसेना द्वारा लाये गये राजकुमार के आगमन के समाचार से समाप्त हो जाती है। रुद्रदत्त का स्वागत किया जाता है। महिलाओं के अन्दर चले जाने पर सभा-भवन व्यवस्थित किया जाता है।

पुरु, विष्णुगुप्त, भद्रबाहु और स्नातक अग्निवर्ण सभा-भवन में आते हैं। विष्णुगुप्त भारतीय एकता का महत्त्व स्पष्ट करता है और तक्षशिला के स्नातकों द्वारा किये गये प्रचार-कार्य की सराहना करता है। मंत्रिपुत्र अलिकसुन्दर का दूत बन कर आता है। अलिकसुन्दर के दो सैनिक भी वहाँ आ जाते हैं। पुरु भारतीय युद्ध के सिद्धान्तों की यूनानी युद्ध के सिद्धान्तों से तुलना करते हुए अलिकसुन्दर को द्वन्द्व-युद्ध के लिए बुलाता है। सभा की समाप्ति पर सब चले जाते हैं, परन्तु तारा और भद्रबाहु एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं।

तीसरा अंक स्पष्ट ही वितस्ता के किनारे की युद्ध-भूमि है, यद्यपि लेखक ने यहाँ दृश्य का परिचय नहीं दिया। अलिकसुन्दर भारतीय युद्ध की विशेषताएँ समझने का प्रयास करता है। उधर सन्धि की चर्चा चल रही थी इधर रात्रि में आक्रमण किया गया, जिसे तक्षशिला के स्नातकों ने असफल बना दिया। विष्णुगुप्त आ कर अलिकसुन्दर को पत्र देता है। रात्रि में राजा पुरु ने भी आक्रमण किया— उनका हाथी घायल हुआ। उसने अलिकसुन्दर को अपनी सूंड में उठा लिया। राजा पुरु ने अलिकसुन्दर के प्राणों की रक्षा की और दोनों मित्र बन गये। तारा और भद्रबाहु के विवाह की अनुमति के साथ नाटक समाप्त होता है।

मूलकथा एक ऐतिहासिक घटना है। जिसमें तारा और रजनी का प्रसंग जोड़ कर वातावरण मधुर बना लिया गया है। हाथी की सूंड में अलिकसुन्दर के उठाये जाने की सूझ भी नयी है। लेखक का ध्येय भारतीय संस्कृति की यूनानी संस्कृति पर विजय दिखलाना है, इसलिए नाटक में संघर्ष का वर्णन कम है, सिद्धान्तों की चर्चा अधिक। दृश्यों की संख्या सीमित होने के कारण घटनाएँ रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं की गयी — उनके समाचार लाये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यूनानी नाटकों की त्रय-ऐक्यता का नियम लेखक ने अपनाना चाहा था, इसी-लिए प्रथम और द्वितीय अंक का दृश्य एक ही रखा है, परन्तु बाद में विचार बदल गया। घटनाओं की सूचना रंगमंच पर देना भी यूनानी नाटकों की शैली के अनुसार ही है।

'वितस्ता की लहरें' में कहानी की प्रगति नहीं के बराबर होती है। लेखक का ध्येय भारतीय वीरों का गौरव प्रकट करना है परन्तु उनके प्रेम-प्रसंग उसे अधिक प्रिय हैं—उनके सँवार सुधार में लेखक ने अधिक श्रम किया है। भारतीय संस्थाओं और सिद्धान्तों के परिचय कहीं कहीं कलात्मक नहीं बन पड़े। अश्ववर्ण से रोहिणी पूछती है, कि युवराज कितनी दूर गये हैं और किस ओर। उत्तर में अश्ववर्ण कहता है—"दो योजन उत्तर-पश्चिम। तक्षशिला पार जाने वाले घाट पर। तक्षशिला के व्यापारी स्नातक, उपाध्याय पौरजन सब की सुविधा का घाट वितस्ता के इस पार यहाँ से दो योजन उत्तर-पश्चिम है जहाँ वन के उस पार भूमि समतल और खुली है। शंकर और पार्वती के दो मन्दिर जहाँ हैं। यात्री के काम की छोटी मोटी वस्तुएँ जहाँ वणिक दिन-रात बेचने रहते हैं। धीवर गाँव जहाँ से बराबर दिखाई देता है।' घाट का इतना विशद परिचय व्यग्र रोहिणी चुपचाप सुनती रहती है। उसे बीच में ही टोक कर अपनी जिज्ञासा शमन करना उसे नहीं सूझता। वाक्य के उत्तरार्द्ध में उपवाक्य का भी सम्पूर्ण वाक्य मान कर लिखा गया है जो सम्भवतः मुद्रण की भूल है।

प्राचीन कथा में आधुनिक युग की परिस्थितियों का मिश्रण भी बहुत उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। भारत-विभाजन के पश्चात पश्चिमी पाकिस्तान के निवासियों के भारत में आगमन की झलक हमें हयग्रीव के इस कथन में मिलती है: 'तक्षशिला के आधे से अधिक नगर-निवासी बालक, वृद्ध, युवा, कुलवधुएँ और कन्याएँ इस ओर चल पड़ी हैं। केकय-मण्डल को हृदय खोल कर उनका स्वागत करना है।" अमेरिका और पाकिस्तान की अस्त्र-

शस्त्र सहायता-सन्धि की झलक हमें राजा पुरु के इस कथन में मिलती है "आम्भी के परिवार या गावार-जन ने किसी व्यक्ति के प्रति स्वप्न में भी द्रोह का आचरण मुझमें नहीं हुआ। क्या वैर था मुझसे, जिसके लिए भारतभूमि का सिंहद्वार इस ध्वंसक यवन के लिए खोला गया।" वर्तमान युग के साम्य-वाद के विरुद्ध रोहिणी की यह युक्ति भी आधुनिक युग का स्मरण दिलाती है "आग लगे उस नये में, जो सबको एक लाठी से हाँकने चला है।" राजा पुरु कहते हैं—"पिछले तीस वर्षों से सङ्कट-कालीन विशेष अधिकार का उपयोग मैंने कभी नहीं किया।" यह भी आजकल के वैधानिक शासकों की स्थिति का परिचायक अधिक है, उस स्वेच्छाचारी युग का कम। आम्भी कहता है—"सैनिकों की साँस के साथ विष का प्रयोग किया गया है। तक्ष-शिला के विष-विज्ञान का विस्मय है यह...।" इस कथन में भी आधुनिक युग के संहारक साधनों का आभास है। भद्रबाहु कहता है—"स्त्रियों को उधर आगे भेज कर अपने हाथ अपने घरों को फूंक कर पुरुष इधर आ रहे हैं।" इस कथन में भी वर्तमान युग के युद्धों की scorch earth नीति का विश्ले-षण है। किसी प्राचीन कथा में उसी युग का सच्चा चित्रण अधिक उपयुक्त है।

इस नाटक में प्रधान पात्र का चुनाव कठिन है। पुरुष पात्रों में विष्णुगुप्त, पुरु, दृढ़दत्त, भद्रबाहु और अलिकसुन्दर प्रमुख हैं। विष्णुगुप्त और पुरु राजनीतिक हलचलों में विशेष रूप से सलग्न हैं, उनका मानवीय आचरण अधिक स्पष्ट नहीं है। दृढ़दत्त रोहिणी का पति और रजनी का प्रियतम होने के नाते कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। नाटक का प्रारम्भ भी उसी की चिन्ता में विकल रोहिणी के चित्रण से होता है, परन्तु नाटक के अन्त में उसे कुछ महत्त्व नहीं दिया गया। भद्र-बाहु और तारा की प्रेम-कहानी और भद्रबाहु का शौर्य उसे नाटक का नायक बना सकता था, परन्तु नाटककार ने उस कथा को एक उपकथा की भाँति नाटक में सलग्न किया है। अलिकसुन्दर और उसकी प्रेयसी तारा ही अन्त में ऐसे पात्र बच रहते हैं, जिन्हें नाटक का नायक और नायिका मान लिया जाए। इस मान्यता में भी एक आपत्ति है, और वह यह कि नाटक के प्रथम दो अंकों में अलिकसुन्दर की केवल चर्चा की गयी है, उसे रंगमंच पर नहीं लाया गया। नाटक का प्रधान पात्र ऐसा होना चाहिए, जिसके चारों ओर कथानक चक्कर काटता हो। नाटक में कथा का विकास जिन स्थितियों में दिखलाया गया है, उनमें अलिकसुन्दर का उतना महत्त्व नहीं है।

जिस प्रकार प्रजातन्त्रवाद में प्रत्येक मनुष्य का समान आदर होता है, उसी प्रकार प्रजातन्त्रवादी युग के नाटकों में सभी पात्रों को समान स्तर पर ले आना भी युग के अनुकूल प्रवृत्ति मानी जा सकती है। सामन्तशाही युग के नाटकों में राजा का प्रमुख स्थान था और इसीलिए उनके नायक राजा अथवा राजमन्त्री होते थे। वे नाटक उग्र संघर्षों का वर्णन करते थे, जिनमें प्रधान नायक की विजय पाठकों और दर्शकों को आनन्दित करती थी, और उनकी दुःखमय परिस्थितियों में दर्शकों में सहानुभूति जागृत होती थी। आधुनिक युग के नाटक विचारों के संघर्ष के परिचायक हैं, अतएव उनमें प्रधान नायक की स्थापना उतनी आवश्यक नहीं प्रतीत होती, कदाचित इसी कारण से जितने भी पात्र नाटक में आ सके हैं, सभी के चरित्रों का परिचय समान अनुपात में हमें प्राप्त होता है।

लेखक ने विष्णुगुप्त को एक महान् विचारक के रूप में उपस्थित किया है जिसका प्रत्येक कार्य भविष्य के चिन्तन पर आधारित है। वह पारस के अभागे सम्राट् दारायवहु की दो कन्याएँ रजनी और तारा को यवनों के चंगुल से छुड़ा कर लाता है, और उन्हें रोहिणी की शरण में रखना चाहता है। उसे उस युद्ध की चिन्ता है, जो केकयपति पुरु का यवन विजयी अलिकसुन्दर के साथ होगा। पारस

पर यवनों की विजय उसकी दृष्टि में 'संस्कार नीति पर पशु-वृत्ति की, उदारता पर हिंसा की, धर्म और विवेक, कला और रुचि पर निरे वन्य विधान की विजय, पारसीकों पर यह यवन सेना की विजय है। समूचे संसार से मनुष्य का महत्त्व उठ गया, मानवता की अन्तिम सांस टूट रही है। भावी-युद्ध का स्वरूप उसके सामने नाचता रहता है : "युद्ध की नीति हमारी दूसरी थी जब केवल शस्त्रधारी मारते और मरते थे। कृषक खेत जोतते रहते थे और सेनाएँ निकल जाती थीं, निःशस्त्र को जब कोई नहीं छेड़ता था। शत्रु की देवियों की ओर देखना भी जब पाप था। एक ही धर्म और नीति वालों में जब वैर छिड़ता था। यह युद्ध दो भिन्न धर्म, नीति और संस्कार वालों में है। पुराना कुछ नहीं, सब कुछ नया होगा, नया, इस युद्ध में।'

विष्णुगुप्त तक्षशिला में आचार्य था। तक्षशिला-विद्यामन्दिर के कपाट बन्द कर, विद्या की साधना छोड़ कर देश के उद्धार में वहाँ के आचार्य और स्नातक सब दिशाओं में निकल पड़े। सब ओर से सेनाएँ एकत्रित कर वितस्ता के तट पर शत्रु से लोहा लेना और उसकी प्रगति रोक देना ही उनका ध्येय था। विष्णुगुप्त उन सबका नेता था। उसकी केवल एक ही चिन्ता थी—'हमारी धरती छीनी जा रही है, हमारी नदियां विदेशियों के अधिकार में है।" इसी कारण उसने अन्य स्नातकों के साथ एकाहार का व्रत ले रखा था। वह तक्षशिला के आचार्यों और स्नातकों को 'समाज की चेतना और कर्मनिष्ठा के अग्रदूत' मानता है।

उज्ज्वल भविष्य में विष्णुगुप्त का दृढ़ विश्वास था—आम्भी की हार से वह विचलित नहीं हुआ। राजा पुरु को वह समझाता है—"मनुष्य के कर्म की परिधि होती है राजन्! उसके संचित कर्मों के अनुसार वह विवश हो कर उसी परिधि में घूमता है। आम्भी अपने कर्म की परिधि में है, इसकी चिन्ता क्या? उसने धर्म, जाति और अपनी धरती के साथ द्रोह किया है। उसने देवमन्दिर में श्वपच को आसन दिया है। हर ध्वंस में निर्माण की और हर प्रलय में सृष्टि के बीज पड़ते हैं।" निराश राजकुमार से वह कहता है "नींद में सोये अजगर पर जम्बुक ने दाँत मारा है।' यवन-विजय का मूल कारण वह अरिस्तानल की विचार-धारा को मानता है और स्पष्ट कहता है—"यवन-विधान से भारत तभी बचेगा जब इसके सभी अंग एक साथ होंगे।" "दिन-रात में भारती प्रजा की शक्तियों का केन्द्रित कर, एक संगठन और एक नियम-विधान में संचालित कर यवन-सेना के सामने खड़ी कर देना है। जैसे पर्वत समुद्र की लहरों के सामने अड़ा रहता है।"

पुरु विष्णुगुप्त को भारतीय अरिस्तानल मानता है, परन्तु विष्णुगुप्त कहता है—"सूर्य और दीपक का अंतर है, देव!" आयु का सम्मान करना उसने सीखा है। 'यवन संसर्ग से दूर रहने के लिए, भरत-भूमि की मर्यादा के अनुरूप जाति के धर्म की ध्वजा नीचे न आए, इस चिन्ता में' वह 'अग्नि में कूदा था'। उसे राजा नहीं बनना था। उसकी देह जिस धरती की धूल से बनी है, उस धरती को उस देह से बड़ा मानता था। वह जानता था कि शस्त्र की विजय का युग चला गया और अब युग आया है मेधा की विजय का। जिस प्रकार अरिस्तानल को अलिक्सुंदर एक निमित्त मिल गया, उसी प्रकार यदि विष्णुगुप्त का भी कोई निमित्त मिल जाता, उस दिन इस देश पर आक्रमण करने का कोई साहस न करता, भारत के मान-चित्र में तब इतने सरित-हीन, हेय जन-पद और राज्य विभाग न रहते। उसकी भावना में उस विशाल भारत की मूर्ति थी, जिसके चरण समुद्र धो रहा है, हिमालय जिसका किरीट है, विन्ध्य जिसकी मेखला है, पूर्व और पश्चिम के समुद्र तट जिसकी भुजाएँ हैं।

युद्ध-स्थल में विष्णुगुप्त सन्धि-पत्र ले कर पहुँचता है। यवन सेनापति टियोनस से वह लड़ना नहीं चाहता—"नख वालों से, सींग वालों से और शस्त्र

वालों से मैं नहीं उलझना" । अन्त में अलिक्सुंदर और पुरु के बीच पारस्परिक प्रेम-भावना की स्थापना कराने और आम्भी को क्षमा प्रदान कराने में भी विष्णुगुप्त का हाथ रहता है। सभी दृष्टियों से विष्णुगुप्त एक आदर्श भारतीय चरित्र है।

भारतीय आदर्शों के स्पष्टीकरण में जो न्यूनता विष्णुगुप्त में रह जाती है उसकी पूर्ति राजा पुरु के चित्रण द्वारा की गयी है। राजा पुरु मनस्वी है, क्योंकि आम्भी ने उनके प्रति द्रोह मान कर अलिकसुंदर को भारत में आन दिया। उनका विश्वास था कि वितस्ता की लहरें निगल जाएँगी उसे (अलिकसुंदर को) और, उसकी सेना को। वह स्वयं को अलिक्सुन्दर के होने वाले समर-यज्ञ का कर्ता मानते हैं। यवन-स्कन्धावार में नारियों के अपमान की कथा सुन कर उनके मुख से निकल पड़ता है—"वहाँ अब भी पुरुष हैं! सिन्धु का जल जैसे उनके लिए सूख गया है। डूब मरते उसी में जा कर!" "जिस जाति ने यमराज से विनोद किया, मृत्यु को जिसने उत्सव माना, यवन-भय में वही अधीर हो कर पुरुष के सबसे बड़े धर्म, नारी की रक्षा का निर्वाह न कर सकी। धरती वही है, आकाश भी वही है, सूर्य और चन्द्र वही हैं, केवल हम वह नहीं रहे अब।" वह यवनों से द्वैरथ युद्ध करने को उद्यत है।

आम्भी-पुत्र भद्रबाहु जब राजा पुरु के सामने आता है, तब वे कहते हैं—"शत्रु के पुत्र को भी हम बराबर अपने पुत्र का स्नेह देते आये हैं।" अलिकसुन्दर को प्राण दान देते समय भी उन्होंने ऐसी ही भावना व्यक्त की है। मौत का उन्हें भय न था। "मृत्यु से डरने वाला हर दिन और हर रात सौ बार मरता है और जो नहीं डरता, वह मर कर भी अमर रहता है।" वह केवल विजय के लिए ही युद्ध करने वाले न थे, मृत्यु के लिए भी युद्ध कर सकते थे। उनका सिद्धान्त था—"फल की चिन्ता छोड़ कर हम कर्म भर करना है।" ताया द्वारा भजना के जलाये जाने का समाचार सुन कर पुरु कहता है—"कह देता कोई उस ज्वालामयी से, उसका प्रेमी समुद्र नहीं बना सकेगा, उसे सोख ले, धरती नहीं बना सकेगा, उस पाताल में भेज दे, पवन नहीं बना सकेगा, उन्हें चूर कर उड़ा दे।" यूनान की युद्ध-नीति उसे रुचिकर नहीं है, क्योंकि उसने देख लिया था—'शस्त्र के बल से संसार जीतने वाले अपनी सभ्यता भी न बचा सके।"

पुरु के उज्ज्वल चरित्र की झलक हमें उसके अन्य कथनों में भी मिलती है "और फिर जिस नारी में पुत्र की कामना न हो, उसे हम ज्वाला मानते हैं। मेरी पितर परम्परा हीन मानती है उसे। उसके साथ धर्म का कोई कार्य नहीं किया जा सकेगा।" "विद्या का धर्म विनय, और बल का धर्म शील है।" 'शस्त्र से जो सम्भव नहीं, उससे कहीं अधिक दया और शील से सम्भावित है।" "हमारी धरती जो रूप, रस और गन्ध देती है, उससे आगे भरकर हम कामना भी नहीं करते।" "मेरे कुल में बस एक पत्नी का विधान है।"

नाटक में तीसरा महत्वपूर्ण चरित्र अलिक्सुन्दर का है। विष्णुगुप्त ने उसे 'बर्बर यवन' कहा है। रोहिणी को आशीर्वाद देते हुए वह कहता है—"बर्बर यवन को जीतने का यश मिले तुम्हारे पति को।" रोहिणी ने उसे 'यवन दैत्य' नाम दिया था। अश्मक की रानी सुघोषा उसकी उपपत्नी बनायी गयी। पुरु कहता है, "हमारे जातीय जीवन का भी चीरहरण वह क्यों कर रहा है?" "निर्माण करने वाले दूसरे रहे, इस यवन का जन्म केवल ध्वंस के लिए हुआ है।" यूनानी सेनापति उसे अपना नेता मानते हैं, जिसके नेतृत्व में उनका इतिहास मिस्र, पारस और भारत में लिखा जा रहा था। नाटक में अलिक्सुन्दर को ताया के वियोग में विकल दिखलाया गया है। अपने घोड़े की मृत्यु का भी उसे दुःख है। पुरु की धाक उसके हृदय में जम गयी है। पुरु से प्राण-दान मिलने पर वह और भी अधिक प्रभावित होता है। उसका हृदय परिवर्तित होता है। यही भारतीय संस्कृति की यूनानी संस्कृति पर विजय है।

आने पर वह युद्ध के लिए उद्यत है, "आर्यपुत्र के रथ पर उनके बायें बैठ कर मैं युद्ध करूँगी।" साहस और त्याग की मूर्ति रोहिणी आदर्श भारतीय नारी के रूप में चित्रित की गयी है।

नाटक के अन्य स्त्री पात्र विदेशी हैं, उनके चित्रण में उनके जन्मजात स्वभावों का ध्यान रखा गया है। अलिकसुन्दर की प्रेयसी ताया की चर्चा तो पहले भी सुनी जाती है, परन्तु रंगमंच पर वह बिलकुल अंत में आती है। उसका पहला वाक्य है—"ईर्ष्या न करना विजयी, उधर मैं युवराज की सेवा करती रही हूँ, इधर महाराज ने तुम्हें प्राणदान दिया है।" भारतीय सैनिकों द्वारा बन्दी बनाये जाने पर भी उसके प्रति जो सद्व्यवहार किया गया, उसने उसकी आँखें खोल दी। उसे बन्दिनी बनाते समय कहा गया था—"समूचे सभ्य जगत् की नारियों का अपमान तुम्हारे प्रेमी ने किया, और अब हम तुम्हें ले चल रहे हैं, केवल इसलिए कि तुम्हारे अभाव में नारी जाति का महत्त्व वह जान ले। हमारे साथ तुम्हारा स्थान वहीं रहेगा जो हमारी माता का है।" भारतीयों के इस आचरण ने ताया का बदल दिया। यह वही ताया है जो पहले कहती थी, "मेरे विजयी की शक्ति जहाँ हार जाए, उसे इस धरती पर न रहने दूंगी।" शत्रु के प्रति दया और नारी के प्रति आदर का आदर्श उसने भारत में ही देखा। नाटक में अन्तिम वाक्य भी ताया का ही है—"कुछ ऐसा हो कि मानवता के घाव पर शीतल विलेपन लगे और विनम्रता की लहरों में अनुराग का जल हो।" ये शब्द उसके परिवर्तित हृदय के प्रमाण हैं। पारस नरेश दारयवहु की दो कन्याएँ रजनी और तारा दोनों समान वय की हैं। पारस के विलासमय वातावरण में पालित, अपने देश से बिछुड़ी हुई ये तरुणियाँ नाटक में प्रणय व्यापार की संभावना उत्पन्न करती हैं। रजनी राजकुमार रुद्रदत्त की ओर अधिक आकर्षित हुई है और तारा ने प्रारंभ से ही भद्रबाहु को अपने आकर्षण का हेतु बनाया है। कोमल हृदया रजनी विनाश के चित्रों को स्मरण कर बार बार मूर्छित होती है। तारा में उसकी अपेक्षा कुछ अधिक साहस है। वह दूसरों का अपने प्रति उदार बनने में रोकती है। "जिसकी दया हमें मिलेगी, जो हमें स्नेह देगा, उस पर हमारा अभाग्य वज्र बन कर टूटेगा।" तारा अपनी माताओं की संख्या नहीं जानती। वह कहती है—"देख चुकी हूँ उस व्याधि को, उसमें स्वयं न पड़ूँगी।" युद्ध के पश्चात् वह किसी भी वीर से विवाह करने को उद्यत है। पति की योग्यता उसने बहुत संक्षेप में कह दी है—"बीस से ले कर पचास तक, उनकी आयु चाहे जो हो। कोई दूसरी पत्नी न हो उन्हें, जो केवल मेरे पुरुष बनें। धन के नाम पर दो हाथ हों उनके, बस!" भद्रबाहु को वह आशा और साहस के साथ युद्ध के लिए विदा देती है। युद्ध-भूमि में पुरुष-वेश में तारा को देख कर आम्भी के मन में जो कौतूहल उत्पन्न होता है, अपनी वाक्चातुरी से तारा उसमें वृद्धि करती है। विनम्रता की लहरों में कूद पड़ने की धमकी दे कर वह आम्भी को दूर खड़े रहने पर विवश करती है। विष्णुगुप्त द्वारा सूचना पा कर कि वह उनकी भावी पुत्रवधू है, वह उस स्थान से चली जाती है। भद्रबाहु से फिर उसकी नुकीली वार्ता नाटक के अंत में होती है, जिसके द्वारा उसके नाटक की नायिका कल्पित होने का संदेह होता है।

वसन्तसेना के चित्रण पर भी नाटककार ने कुछ ध्यान दिया है। हयग्रीव से वह प्रश्न करती है—'आयु और रूप से हट कर नारी की कोई दूसरी भी मर्यादा होती है? यवन-वीर प्रेमिका के चरण औरों से ले कर चलता है। पत्नी के राज्य में माता का प्रवेश वर्जित है। ताश के ऊपर वहाँ कोई नारी आना नहीं चाहती। घाट् बीतते-बीतते वहाँ हमारी जीभ पर वह पानी चढ़ जाता है, जो तुम्हारे कृपाण पर न चढ़ता होगा।" अपनी सीमाओं में वह भी साहस से काम लेती है। यवन-समाज के जीवन का कुछ आभास हमें उसके चित्रण में मिल जाता है।

नाटककार ने जिन चरित्रों की सृष्टि की है, उनमें से अधिकांश बने बनाये हैं। नाटक में उनका कोई विकास नहीं होता। केवल अलिकसुन्दर और ताया के हृदयों में परिवर्तन प्रदर्शित किया गया है। आम्भी के हृदय का पश्चाताप भी सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है। वह कहता है—"संसार में सब के लिए कार्य है। केवल मैं हूँ, जिसे कुछ नहीं करना है। वितस्ता की लहरों में डूब मरना भी नहीं, वह भी आत्मघात होगा।"

नाटक के वार्तालाप सप्रयोजन और स्वाभाविक हैं। गंभीर वातावरण में मृदुहास का कुछ पुट दे कर लेखक ने सभी स्थलों पर अच्छा प्रभाव उत्पन्न किया है। हयग्रीव और वसन्तसेना जैसे पात्रों की वार्ता भी रसमय है, फिर श्रेष्ठ पात्रों की तो बात ही क्या है। वसन्तसेना कहती है, "प्रहरी से अच्छे तो तुम चारण बन सकोगे। हाथी की प्रशस्ति में तुम्हें रोमांच हो आया।" हयग्रीव तारा और रजनी के बारे में सूचना देता है—'उनके पैर उठने रहे या दोनों पानी पर तैर गयी, पता नहीं चला।" रोहिणी और रुद्रदत्त विष्णुगुप्त और पुरु भद्रबाहु और तारा अलिकसुन्दर और ताया के संवाद भाव-मय और सारगर्भित हैं। विष्णुगुप्त जैसा गंभीर व्यक्ति भी अवसर आने पर व्यग्य से नहीं चूकता। पुरु कहता है—'यमराज के महिष के कण्ठ की घंटी भी मुझे उतनी ही प्रिय लगगी .

'विष्णुगुप्त—कितनी महाराज ?'

"पुरु—आप अब भी ब्रह्मचारी हैं आप क्या जानेंगे?

अलिकसुन्दर और पुरु के संवाद को भी नाटक-कार ने विधिवत सँवारा है।

नाटककार का ध्येय देशवासियों में जातीया-भिमान की भावना भरना है। इस ध्येय में उसे सफलता भी मिली है। स्थल-स्थल पर भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता नाटक में प्रतिपादित है, परन्तु कहीं भी यह प्रतिपादन ऊपर से लादा हुआ नहीं प्रतीत होता। स्वाभाविक संवादों में कलाकार ने यह संदेश निहित कर दिया है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है नाटककार का मानवता का संदेश, जिसका विकास वह दो संस्कृतियों के सामंजस्य द्वारा संभव समझता है। मानवता के घाव पर वह शीतल विलेपन लगाना चाहता है और वितस्ता की जिन लहरों ने अब तक बहुत कुछ देख लिया है, उनमें उसे अनुराग के जल की कामना है।

नाटक का नामकरण 'वितस्ता की लहरें' भी उचित कहा जा सकता है। नाटक की प्रमुख घटना वितस्ता की लहरों में ही घटित होती है। इसके अतिरिक्त नाटक के सभी पात्र वितस्ता की लहरों से कुछ न-कुछ आशाएँ रखते हैं। कोई उनमें अपना पाप धोना चाहता है, तो कोई उनमें शत्रु के दर्प के डूब जाने की कामना करता है। पुरु की आशा है, "वितस्ता की लहरें निगल जाएंगी उसे और उसकी सेना को।" अलिकसुन्दर कहता है—"मेरी सेना का वह गौरव वितस्ता के जल में समा चुका है।" नाटक के अन्त में ताया ने वितस्ता की लहरों में अनुराग के जल की कामना प्रकट की है।

मधुसूदन चतुर्वेदी

(I) **रवीन्द्र कविता-कानन** . लेखक, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रकाशक, हिन्दी प्रचारक पुस्त-कालय, काशी, मूल्य ॥।≈)॥

यह दिसम्बर १९५४ में प्रकाशित, इस पुरानी पुस्तक का, 'संशोधित तथा परिवर्द्धित जन-संस्करण' है। प्रकाशक ने अपने छोटे-से 'निवेदन' में हमें बताया है कि यह उनकी सर्वप्रथम साहित्यिक गद्य-रचना है।

प्रस्तुत संस्करण किस विशिष्ट अर्थ में 'जन-संस्करण' कहा गया है, यह प्रकाशक ने अपने 'निवेदन' में स्पष्ट करते हुए केवल २) से घटा कर मूल्य का साढ़े पन्द्रह आना कर दिया जाना ही इस नामकरण का कारण बताया है। वास्तव में यह ग्रन्थ किसी अन्य संस्करण की अपेक्षा नहीं रखता,

क्योंकि यह स्पष्टतः उन्हें उद्दिष्ट करके लिखा गया है, जो रवीन्द्रनाथ से केवल नाम से ही परिचित हैं। इस दृष्टि से ग्रन्थ के बहुत से अंश बड़े ही उपयोगी हैं। अच्छा होता यदि यह सचमुच 'परिवर्द्धित' होता। अन्त में परिशिष्ट के रूप में रवीन्द्रनाथ की कृतियों की एक क्रमानुसार दी हुई सूची लगा दी गयी है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती है। पर यदि पुस्तक के परिच्छेदों को भी, अधुनातन जानकारी और विचारों का समावेश करने के लिए बढ़ा दिया जाता तो अच्छा होता। फिर भी पुस्तक महत्त्वपूर्ण तो है ही, केवल इसीलिए नहीं कि रवीन्द्र के विषय में है, इसलिए भी कि यह आलोचक और गद्यकार के रूप में 'निराला' जी का पहला प्रकाशन है।

बालकृष्ण राव

स्वर के दीप : लेखक, जितेन्द्रकुमार, प्रकाशक अलका प्रकाशन, मुंगेर; पृष्ठ-संख्या १२०, मूल्य ३)

यह जितेन्द्र के ५५ बड़े-बड़े गीतों का संग्रह है। ये गीत १९५१–५४ के मध्य लिखे गये हैं। विषय-वस्तु को लेकर यदि कवि के दायित्व-निर्वाह की ओर ध्यान दिया जाए तो बहुत ही निराशा होती है। इन कविताओं की प्रेरणा दैविक नहीं है, और न कवि की पीड़ा ही आध्यात्मिक है। किसी भी प्रकार इन 'गीतों का स्वर भक्त कवि का स्वर' (भूमिका, 'दिनकर' जी) नहीं हो सकता। इनमें प्रायः वही ह्रासशील छायावादी वेदना, आकुलता, कुंठा, विषाद तथा विकृति भरी हुई है। युग की पीड़ा, उद्वेलन अन्तर्द्वन्द्व टूट फूट, विनाश का भय, ये सारी संवेदनाएँ जो आज के मानव मन को ग्रस रही हैं, उनमें से एक भी इन गीतों में नहीं पायी जाती। बाह्य और अन्तर्संघर्ष के इतने बड़े ऐतिहासिक युग में रहते हुए, पता नहीं, कोई कवि अपने को कैसे किसी एक निर्जीव प्रतिमा तक ही सीमित करके इतने राग के प्रति निमग्न रह पाता है।

कवित्व की कसौटी पर भी इन गीतों से कोई संतोष नहीं होता। गीत की विशेषताओं में संक्षिप्ति और मार्मिकता भी है। संक्षिप्ति का नाम तो जैसे कवि ने सुना ही नहीं। यहाँ तक कि इसके तमाम गीत को काट छाँट कर छोटा किया जा सकता है, इससे उसकी वस्तु में कोई कमी न होगी। जहाँ तक मार्मिकता का सम्बन्ध है, वह भी संदिग्ध है। इसके कई कारण हैं। एक तो कवि कई स्थलों पर विश्लेषक बन गया है जो कवि का बिल्कुल काम नहीं है। दूसरे, भावों की पुनरावृत्ति एक के बाद दूसरे छंद में प्रचुर मात्रा में मिलती है। तीसरे, कहीं कहीं पर दार्शनिक बनने का प्रयास किया गया है। जीवन दर्शन रखना, उसकी अवतारणा, कविता का दोष नहीं होता किन्तु मात्र पिष्ट पेषण कविता को बोझिल और रूखा बना देता है और फिर जब जीवन के अन्य सब द्वार बन्द हों, मात्र व्यक्तिगत प्रेम ही, वह भी कुंठा और निराशा से ग्रस्त, व्यक्त किया जा रहा हो, दर्शन नितान्त एकांगी और अस्वस्थ हो उठता है। यही कारण है कि रस ग्रहण में बाधा पड़ती है।

टेकनीक की दृष्टि से ये गीत बहुत साधारण हैं। सबकी एक ही छंद-योजना है। वह भी कवि की मौलिकता नहीं, पहले के कवियों का प्रयोग है। भाषा भी बहुत-कुछ कृत्रिम और व्यंजनाहीन है। आज जो भाषा विकसित हो रही है, उसका कहीं कोई रूप नहीं दिखता, शब्दावली पूर्ण रूप से छाया-वादी है।

काटो ये ममता के बंधन
यह व्यामोहावरण हटाओ,
मेरे मन के अंधकार में
चिन्मय विद्युद्दीप जलाओ,
दिखलाओ अपना श्रेयस् पथ
अपनी ज्योतिर्बाहु बढ़ाओ —

बस लो मुझे प्रकाश पाश में मेरा हृदय पुकार रहा है।
मेरा तो हर श्वास तुम्हारा ले कर नाम पुकार रहा है।

इन गीतों में कहीं-कहीं एक दो अच्छे छंद दिख जाते हैं, अन्यथा वही पिपासा, प्रलाप आकुलता सभी में वर्तमान है। इस सब का कारण यही है कि कवि युग-चेतना के प्रति बिल्कुल उदासीन और निरपेक्ष है।

पुस्तक में आचार्य शिवपूजन सहाय, डा० अमरनाथ झा, डा० विश्वनाथ प्रसाद, प्रो० जगन्नाथप्रसाद, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी आदि की प्रशंसात्मक सम्मतियाँ और दिनकर जी की आशावादी एवं प्रशंसापूर्ण भूमिका है। इन दिग्गजों के आगे एक साधारण समालोचक क्या कहेगा? वास्तव में यह परम्परा बहुत ही गलत है।

गंगाप्रसाद श्रीवास्तव

पुस्तक-परिचय

() मुन्नू किसान की दुनिया लेखक प० हरीश, चित्रकार काजिलाल।

() भो पो इंजन और छक छक लेखक, बालबंधु, चित्रकार काजिलाल।

() सितारों की बारात लेखक, एम० पी० खत्री चित्रकार काजिलाल।

() रानी घोड़ी लेखक बालबंधु; चित्रकार बृजराय चौधरी।

() बहादुर दमकल वाले और मोती लेखक, बालबंधु; चित्रकार काजिलाल, प्रकाशक, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, बनारस; प्रत्येक की पृष्ठ संख्या ३२, आकार डिमाई, मूल्य साढ़े ।।=)।।

इसमें पहली पुस्तक 'मन्नू किसान की दुनिया' ६ से ८ वर्ष तक के बालकों के लिए बड़े सरस और मौलिक ढंग से लिखी गयी है। इसे देख कर लगा कि हमारे यहाँ भी कुछ अच्छे बाल-साहित्य के विशेषज्ञ हैं। इसमें एक किसान, जिसका नाम मुन्नू है की दिनचर्या को कहानी के रूप में बतलाया गया है। और बात-ही-बात में निरंगे चित्रों के साथ बच्चों को गाँव के बारे में अनेक ज्ञातव्य बातें बतला दी गयी हैं। पुस्तक सचमुच बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी।

दूसरी पुस्तक में 'भो पो और 'छक-छक' दो इंजनों की रोचक कहानी है जिसमें बतलाया गया है कि हर चीज अपनी जगह जरूरी और उपयोगी होती है।

'सितारों की बारात' में सरल कविता में ध्रुव तारे की कहानी बतलायी गयी है।

'रानी घोड़ी' में एक नासमझ लड़की मीना की कहानी है, जो बिना समझे अपने पिता की घोड़ा-गाड़ी चला कर जान खतरे में डाल लेती है। उसी प्रकार 'बहादुर दमकल वाले और मोती' में मोती दमकल वालों का एक नासमझ कुत्ता है, जो बिना समझे कुतूहलवश एक दिन आग बुझाने के लिए जाते वक्त दमकल वालों के साथ लग जाता है और अपनी जान खतरे में डाल लेता है। इसमें बच्चों को नासमझी न करने की सीख मिलती है। दोनों पुस्तकें सुन्दर हैं। विशेष कर अंतिम।

प्रकाशक का यह 'सेट' बहुत सराहनीय प्रयास है।

() बुलबुल तरंग लेखक, दुर्गेशचन्द्र पंत, पृष्ठ-संख्या ३०; मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में मारतंड हाई स्कूल, रीवाँ के १०वीं कक्षा के एक विद्यार्थी की लिखी १० कहानियाँ हैं। बालक दुर्गेशचन्द्र का प्रयास सराहनीय है फिर

भी अभी से प्रकाशन आदि में उन्हें नहीं पड़ना चाहिए।

() 'शिक्षण प्रयोगमाला (भाग १, २ और ३): लेखक, रामशरण उपाध्याय; प्रकाशक, कुसुम प्रकाशन, कुसुमपुरी, पटना–३; क्राउन आकार, पृष्ठ-संख्या क्रमश. २१, १३, और १६; मूल्य पहला भाग ।≡), दूसरा तथा तीसरा भाग।-)

लेखक, बिहार शिक्षा-विभाग के अवकाश-प्राप्त अधिकारी हैं, जो आजकल आसपास के मदरसों में अपने शिक्षा-संबंधी नये प्रयोग कर रहे हैं। पुस्तकों में बहुत सी बातें अध्यापकों के लिए उपयोगी होंगी। पुस्तकों का मूल्य अधिक है। यदि लेखक, जैसा कि उन्होंने विज्ञापित किया है, इस माला के अन्तर्गत अन्य पुस्तकों को अलग अलग न छाप कर एक साथ छापें तो हो सकता है, उन्हें अधिक दाम न मिलें, पर नाम तो मिलेगा ही।

जगदीश मित्तल

() सामाजिक कल्याण: प्रकाशक, पब्लिकेशन्स डिवीजन, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फार्मेशन एंड ब्राडकास्टिंग, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया; पृष्ठ-संख्या ४६; मूल्य ।।)

प्रस्तुत पुस्तक ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। भूमिका के अन्तर्गत विगत और वर्तमान को स्पर्श करते हुए भावी भारत के नागरिकों के अधिकार और दायित्व पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक का प्रथम अध्याय 'योजना' पंचवर्षीय योजना के विज्ञापक के रूप में है जो योजना के एक प्रमुख अंग विशेष—सामाजिक कल्याण पर प्रकाश डालता है। अन्य अध्यायों में भी 'सामाजिक-कल्याण' से ही संबंधित बातों की जानकारी करायी गयी है, जिससे संबंधित विषयानुकूल २४ चित्र भी दिये गये हैं।

प्रूफ की भयंकर भूलों की ओर संभवत: प्रकाशक का ध्यान गया ही नहीं।

रामवृक्ष बेंकटपुरी

ooo

प्रकाशक : मधुसूदन चतुर्वेदी एम० ए०, ८३१, बेगमबाज़ार हैदराबाद–दक्षिण
मुद्रक : कमर्शियल प्रिंटिंग प्रेस, हैदराबाद–दक्षिण
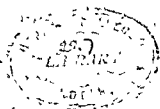
कल्पना

जुलाई, १९५५

निवेदन

१ प्रायः 'कल्पना' के पाठकों के इस आशय के पत्र आते रहते है कि उनके नगर के पत्र-विक्रेताओ के पास या उनके पास के रेल्वे स्टाल मे उन्हे 'कल्पना' नही मिलती। ऐसे पाठको से हमारा निवेदन है कि कई कारणो से देश के नगर-नगर मे पत्र-विक्रेताओ के माध्यम से पाठको तक 'कल्पना' पहुँचाना सभव नही है। अत. उन्हे १२) वार्षिक शुल्क भेज कर ग्राहक बन जाना चाहिए।

आवश्यक सूचनाएँ

१. 'कल्पना'-कार्यालय का नया पता "५१६, सुलतान बाज़ार, हैदराबाद—दक्षिण" होगा। अब से सारा पत्र-व्यवहार आदि उपर्युक्त पते से किया जाए। असुविधा के लिए क्षमा कीजिए।

२ 'कल्पना' के वार्षिक शुल्क में जुलाई'५५ से १) की कमी कर दी गयी है। अब ग्राहकों को ११) ही देने पड़ेगे।

आत्मदेव शर्मा
प्रबन्ध-सम्पादक, 'कल्पना'
५१६, सुलतान बाज़ार,
हैदराबाद-दक्षिण

तथा विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों की ओर से वर्ष के अत में प्राय इस आशय के पत्र आते है कि उन्हे इस वर्ष अमुक अक प्राप्त नही हुए। फाइले पूरी करने के लिए ये अक भेजिए। उपर्युक्त सस्थाओं के अधिकारियो से निवेदन है कि वे हमें ऐसे धर्म-सकट मे न डाले। जब कोई अक प्राप्त न हो, तो अपने डाकघर से पूछिए और उनके लिखित उत्तर के साथ दूसरे महीने में ही अक प्राप्त न होने की सूचना हमें भेजिए। अन्यथा दुबारा अक भेज सकने में हम असमर्थ होंगे।

वार्षिक मूल्य ११)
एक प्रति १)

५१६, सुलतान बाज़ार,
हैदराबाद-दक्षिण

Quality Printing
in
EXPERT HANDS
LABELS
LITHOGRAPHERS
PRINTERS
BOXMAKERS
BOOK BINDERS
POSTERS
BOXES
CALENDERS
सेवा
के
लिए
प्रस्तुत

हमारा

नवीनतम प्रकाशन

WHEEL

OF

HISTORY

By

Dr. Rammanohar Lohia

Price
3/12/-

नवहिन्द पब्लिकेशन्स

८३१, बेगमबाजार,

हैदराबाद

इस अंक में

निबंध

भारतीय संस्कृति वैदिक धारा का अमृत-स्रोत ७ डा० मंगलदेव शास्त्री
आगे क्या लिखूंगा ? २९ रामधारी सिंह 'दिनकर'
राष्ट्रभाषा या राजभाषा ४७ बालकृष्ण राव
प्रगतिवाद बनाम यथार्थवाद ६१ हंसराज 'रहबर'
वर्ण-उच्चारण ७५ डा० सिद्धेश्वर वर्मा

कहानी

शरणागत (एकांकी) १७ डा० लक्ष्मीनारायण लाल
नाच-घर ४२ केशवप्रसाद मिश्र
इला ५३ सुधीर कुमार
प्रेत ७० विष्णुस्वरूप
मुनीन्द्र (स्केच) ७९ गिरीशचन्द्र चौधरी

कविता

आः धरती कितना देती है ! ५ सुमित्रानंदन पंत
अंधा युग ३३ डा० धर्मवीर भारती
दो कविताएँ ५२ शिशुपाल सिंह 'शिशु'
कलैण्डर की अनबदली तारीख ! ६८ राजेन्द्र यादव
एकान्त गायिका ८४ चारुचन्द्र झा

स्तंभ

संपादकीय १
समालोचना तथा पुस्तक-परिचय ८५
साहित्य-धारा ९७

समीक्षार्थ प्राप्त साहित्य

सरस्वती प्रेस, बनारस
विषाद : श्रीराम शर्मा

आत्माराम एंड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६
समाधान : रामावतार त्यागी
सूफीमत और हिन्दी साहित्य : विमलकुमार जैन
हिन्दी के आलोचक : शचीरानी गुर्टू
काव्यधारा के विषय : शिवदानसिंह चौहान
अगला कदम : हरिकृष्ण मेहताब
संसार का महान युग-प्रवर्तक : इन्द्र
कदम कदम बढ़ाए जा : गोपालप्रसाद व्यास
कला का पुरस्कार : 'उग्र'
सूर साहित्य और सिद्धान्त : यज्ञदत्त शर्मा
जायसी साहित्य और सिद्धान्त : यज्ञदत्त शर्मा

समाजवादी साहित्य परिषद्, कलकत्ता
सोवियत अर्थ व्यवस्था के विषय में सत्य और मिथ्या : अरुण बसु अम्लान दत्त

जे० रतनसिंह वर्मा गाडीपुरा नाँदेड
दार्शनिक : रामाधार शर्मा

साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर
पृथ्वीराज रासो : महाकवि चन्द बरदाई
ओझा-निबंध संग्रह (भाग १ तथा २) स्व० डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
राजस्थानी भीलों के लोक-गीत : स० फूलजीभाई भील
राजस्थानी भीलों की कहावतें

प्रगति प्रकाशन, ७।२३ दरियागंज, दिल्ली
आखिरी चट्टान तक : मोहन राकेश

युवक साहित्यकार-संघ, धार
अंतराल : महेन्द्र भटनागर

[शेष पृष्ठ ६ पर]

आगामी अंकों में

निबंध

परशुराम चतुर्वेदी : प्रादेशिक साहित्यों में भक्ति-धारा

कहानी

हरिमोहन : सौ गज का माँस

सोमा वीरा : अधूरी गाँठ

कविता

धर्मवीर भारती : १ आधी रात : रेल की सीटी, २. प्रतीक्षा की शाम : दो मनःस्थितियाँ

लक्ष्मीकान्त वर्मा : दशरथ

प्रयागनारायण त्रिपाठी १ कोयले २. तृष्णा

शिवकुमार श्रीवास्तव गीत

गिरिजाकुमार माथुर तीन कविताएँ

बच्चन . पपीहा और चील-कौए

श्रीहरि सात मुक्तक

नरेश मेहता : चार कविताएँ

भारतभूषण अग्रवाल दो कविताएँ

श्यामस्वरूप जैन, ३१ गोराकुंड, इन्दौर

अभियान महेन्द्र भटनागर

विज्ञान वार्ता प्रकाशन, ३९-ए, कमलानगर, दिल्ली—६

अणुशक्ति के शांति-कालीन उपयोग . वीरेंद्रसिंह पमार

बिहान प्रकाशन, ५ मदन चटर्जी लेन, कलकत्ता—७

मेघ-सदेश :

गोविंदलाल बंसीलाल, १४ ए बोमनजी पीटीट रोड, बम्बई—२६

दि कान्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया एंड इंडियन लेंगुएजेज : गोविन्दलाल बंसीलाल

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, बनारस

धूप के धान : गिरिजाकुमार माथुर

प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली

भारतीय कला का सिंहावलोकन .

पाठकों के पत्र

(१)

'कल्पना' में प्रकाशित रचनाओं के विषय में पाठकों की जो राय होती है, उसे प्रायः प्रकाशित किया जाता है। हम यह मानते हैं कि पाठक की राय लेखक के पास पहुँचाना आवश्यक है। उसमें जो ग्राह्य है, वह उसे स्वीकार करे। ऐसा न समझा जाए कि पाठकों की वह राय ही प्रकाशित की जाती है, जिससे सम्पादक-मंडल सहमत हो।

—संपादक

(२)

महान् आलोचक : ऐतिहासिक भूल-चूक : यों समझिए, एक ही उपन्यास है—प्रेमचन्द का 'कर्मभूमि' जिसके रचना काल या प्रकाशन-काल के संबंध में प्रकट किये गये ख्यातिप्राप्त आलोचकों के भिन्न भिन्न (एक दूसरे से सर्वथा बे-मेल) मत काफ़ी भ्रामक हैं। जो भूल-चूक हुई भी है वह ऐतिहासिक है, और आधुनिक युग की कृति के बारे में है—अतः 'यों ही' कह कर इस प्रसंग को टाला नहीं जा सकता।

'कर्मभूमि' के संबंध में आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है—"कर्मभूमि उपन्यास सन् '३६-३७ में लिखा गया।' [आधुनिक साहित्य, पृ० १८४]

इधर 'कर्मभूमि' का प्रकाशन-काल डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित सं० १९३१ बताते हैं ('प्रेमचंद,' पृ० १६४)।

क्या यह समझा जाए कि प्रकाशन पहले हुआ, लेखन-कार्य बाद में? बात ग़ौर करने की है, और इतनी ही नहीं है। और भी आलोचक हैं—और भी सम्मतियाँ हैं। 'कर्मभूमि' का रचना-काल प्रो० कमला देवी गर्ग (दिल्ली विश्वविद्यालय) सन् '३० बताती हैं। उनका यह मत डा० रामरतन भटनागर ['आलोचना' उपन्यास अंक, पृ० ८०] के मत से साम्य रखता है।

एक ही उपन्यास है। तीन तरह की सम्मतियां हैं। सभी विद्वानों की, युनिवर्सिटी में पढ़ाने वाले आचार्यों की हैं, अतः किस मत की सचाई में संदेह किया जाए? यह हर्गिज़ न समझा जाए कि यह झगड़ा किसी एक कृति को ले कर है। नहीं, अधिकांश कृतियों के रचना-काल के संबंध में यही या इसी तरह का भूल हुई है। ऐसी कृतियों की लिस्ट तो यहां नहीं दी जा सकती है। चलते चलते 'सेवासदन' को ले लीजिए।

सूझ-बूझ के आलोचक बच्चन सिंह ('आलोचना', उपन्यास अंक, 'मध्यवर्गीय वस्तुतत्त्व का विकास', पृ० १२७) 'सेवासदन' का रचना-काल सन् १९१४ और डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित उसका प्रकाशन-काल सन् १९०५ ('प्रेमचन्द', पृ० १६३) बताते हैं।

यह सारा संकट उस पाठक के लिए तो है ही, जो किसी कृति को पढ़ने से पहले उन परिस्थितियों को पढ़ना चाहता है, जिनमें कृति लिखी गयी है। लेखक का कृतित्व हर हालत में आस पास की परिस्थितियों, विचारधाराओं से प्रभावित होता है। लेखक की कृति से यह आशा भी की जाती है कि वह सामयिक स्थितियों पर प्रकाश डालेगी। अतः उक्त भूलें ऐतिहासिक बन पड़ी हैं, और 'रासो' के सम्बन्ध में न होकर प्रेमचन्द की कृति के सम्बन्ध में हैं। अतः अत्यधिक चिन्त्य हैं। यही वजह है, यह सब *लिख कर यह नम्र निवेदन करना आवश्यक समझा* गया ताकि इनका परिमार्जन हो सके—ये भूलें दुहरायी न जाएं; वर्ना चीजें रोज पढ़ी जाती हैं—इट्स की परवाह कौन करता है। 'कल्पना' के माध्यम से बात कहने का अवसर मिला है, अतः प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक 'कल्पना' के प्रति कृतज्ञ है।

चन्द्रकांत, गोरखपुर

सम्पादकीय

यह बेचारी हिन्दी !

आज जहाँ एक ओर हिन्दी के देशव्यापी प्रचार के लिए केन्द्रीय सरकार, विभिन्न राज्य सरकारें और छोटी-बड़ी अनेक संस्थाएँ ताबड़-तोड़ नये-नये उपायों और योजनाओं को कार्यान्वित करती जा रही हैं, और दूसरी ओर अखिल-भारतीय सम्मान तथा पुरस्कारों की प्रेरणा पा कर हिन्दी ग्रन्थों के प्रकाशन में बाढ़-सी आ गयी है, वहाँ हिन्दी का अपना रूप ऐसा उपेक्षित हो रहा है, और वह भी हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में, कि कुछ कहते नहीं बनता। लगता है, जैसे हिन्दी की "सर्वतोमुखी अभिवृद्धि" की इस घुड़दौड़ में स्वयं हिन्दी ही जमीन पर गिर कर सबके पैरों के नीचे रौंदी जा रही है। आश्चर्य तो यह है कि हिन्दी के विख्यात आचार्य और संरक्षक जहाँ किसी अहिन्दी-भाषी विद्वान् द्वारा हिन्दी के सरलीकरण की माँग पर उबल पड़ते हैं और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद से हटा लेने तक की बात करने लगते हैं, वहाँ हिन्दी-भाषियों द्वारा ही की जाती हुई हिन्दी की छीछालेदर को या तो देखते ही नहीं, या देख कर भी चुप रह जाते हैं। हिन्दी में नये लेखकों की संख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही है, और उन्हें प्रोत्साहन भी मिलना चाहिए, पर इसका मतलब यह तो नहीं है कि कोई भी साक्षर हिन्दी-भाषी जो कुछ, जैसा कुछ, लिख दे उसे 'स्टैंडर्ड' हिन्दी मान लिया जाए। क्या हिन्दी में शुद्ध अशुद्ध, शिष्ट-अशिष्ट प्रयोग, परम्परा, मुहावरा, व्याकरण—यह सब कुछ भी नहीं है? क्या केवल छाया-, प्रगति-, प्रयोग-, स्वच्छन्दता-वादों में से किसी का पल्ला पकड़ कर चलने लगना ही हिन्दी-साहित्यकार बनने के लिए पर्याप्त है? रीति-काल और भारतेन्दु-काल के जिन साहित्यकारों को आज उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है, वे कम-से-कम अपनी भाषा को तो निर्दोष रखने का प्रयत्न करते थे। आज तो यह हाल है कि—

स्वाधीनो रसनाञ्चलः, परिचिता शब्दाः कियन्त, क्वचित्
क्षोणीन्द्रो न नियामकः, परिषद शान्ता, स्वतन्त्रं जगत्।
तद् यूयं, कवयो वयं वयमिति प्रस्तावना हुकृति-
स्वच्छन्दं प्रतिसद्म गर्जत, वयं मौनव्रतालम्बिनः ॥

(आपकी जीभ भला कौन पकड़ सकता है? कुछ शब्दों से भी आप परिचित हैं। आप पर नियन्त्रण रखने के लिए आज न कोई राजा है, न कोई विद्वत्-परिषद् है। संसार ही स्वतन्त्र हो चुका है। सो आप

घर-घर स्वच्छन्दता से यह घोषित करते फिरिए कि "हम कवि हैं, हमी कवि हैं !" आपके सामने हमारा तो मौन-व्रत ही एकमात्र अवलम्ब है।)

*हिन्दी में आज यदि कहीं नियन्त्रण है तो विचारों पर और अनुभूतियों पर—इस विषय पर लिखो, इस पर नहीं। किन्तु भाषा पर किसी प्रकार का, कोई नियन्त्रण नहीं है—सिवाय स्कूल के विद्यार्थियों पर हिन्दी अध्यापकों के नियन्त्रण के। शायद यह भाषा-स्वातन्त्र्य हमारी राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक-*सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का ही एक अंश है। आज क्लर्क, कुली, मजदूर, किसान सब स्वतन्त्रता की दुहाई देते हैं, फिर साहित्यकार ही क्यों पीछे रहे ? जनतन्त्र में सबको समान अधिकार हैं। आखिर हिन्दी हमारी मातृ-भाषा है न ! हम क्यों ऐसा नहीं लिख सकते ? (बोलने की बात अलग है : कौन टोकेगा)। हिन्दी-व्याकरण पढ़ना, सोच-विचार कर, सँभाल कर लिखना अहिन्दीभाषियों के लिए आवश्यक होगा। हम यह माथापच्ची क्यों करें ? हमें अभी राष्ट्रभाषा के भंडार को ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, शास्त्र, कला, संस्कृति और साहित्य की उत्कृष्ट कृतियों से भरना है। भाषा पर ध्यान देने का यह कोई अवसर है ? हिन्दी-भाषा अभी बन रही है। कुछ दिनों में सब-कुछ आप ही ठीक हो जाएगा।

लखनऊ में बृहत् लिपि-सुधार सम्मेलन हुआ। प्रत्येक राज्य के चुने हुए विद्वान् और साहित्यिक बुलाये गये, प्रीतिभोज हुए, प्रतिनिधियों को सचित्र कला-ग्रन्थ और चमड़े के बैग बाँटे गये। दो-तीन दिन की बहस के बाद तै यह हुआ कि नागरी-लिपि ज्यों की त्यों रखी जाए—हाँ, ह्रस्व इ की मात्रा बायीं ओर से हटा कर दायीं ओर लगायी जाया करे, और ख को नीचे की ओर से भी मिला कर लिखा जाया करे। तदनुसार उत्तर प्रदेश की सरकार ने आदेश भी जारी कर दिये कि भविष्य में समस्त हिन्दी पाठ्य-पुस्तकें उपर्युक्त 'सुधारित' लिपि में मुद्रित हों। बम्बई सरकार ने भी ऐसा ही किया, और अभी हाल में शायद केन्द्रीय सरकार ने भी लखनऊ सम्मेलन के प्रस्तावों को मान्यता दे दी है।

नागरी लिपि को चिरप्रतीक्षित 'अवैज्ञानिकता' का दूर करने का यह भगीरथ प्रयास अवश्य स्तुत्य है। पर हिन्दी के दर्जनों शब्दों की द्विरूपता, अनेकरूपता और संदिग्धरूपता तक की ओर किसी का ध्यान क्यों नहीं गया, व्याकरण और मुहावरे की बात तो जाने दीजिए ?

'कल्पना' में इस सम्बन्ध में अनेक सम्पादकीय लिखे जा चुके हैं। हमारे अनेक सहृदय लेखकों और पाठकों ने उनका आदर किया, पर हिन्दी के अनेक 'धुरन्धर' विद्वानों और 'प्रतिष्ठित' पत्र-पत्रिकाओं को यह सब नहीं रुचा। एक सुविख्यात साहित्यकार ने इन लेखों को पढ़ कर कहा, "ये सब सदियों पुरानी बातें हैं। कौन नहीं जानता कि 'गये' ठीक है, 'गए' नहीं ?" जानते सब हैं, पर लिखते 'गए' ही हैं। बहुत हुआ तो कभी 'गये' लिखते हैं, कभी 'गए'। एक पत्रिका ने लिखा कि इस सम्बन्ध में बहस करना बिलकुल बेकार है कि 'चलिये' लिखा जाए या 'चलिए'। इस पत्रिका की हिन्दी के कुछ नमूने देखिए—

"(भारत की) यह नीति अब सभी देशों के साथ स्वाभाविक और घनिष्ठ मित्रता के रूप में 'बहुमूल्य लाभ' प्रदान कर रही है हालाँकि शुरू में...इस नीति के सम्बन्ध में.. कुछ संदेह भी प्रगट किया गया था। (अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को) सुलझाने के लिए बहुत ही बारीक और मैत्रीपूर्ण ढंग की जरूरत पड़ती है।"—"धीरे-धीरे इस प्रकार के विनिमय-सम्बन्धों में विविध प्रकार की वस्तुओं का प्रवेश हो जाता है। ऐसी दशा में मूल्य-रूप की आवश्यकता उत्पन्न होती है और जो वस्तु सबसे अधिक सामान्य रूप से माँग का विषय होती है, वह यह रूप धारण कर लेती है। उदाहरण के लिए, आर्येद युग में पशुओं ने यह रूप धारण किया। वैदिक आर्यों की अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत गाय ने यह विस्तृत रूप

धारण किया।"..."पशुओं ने मुद्रा का कार्य ग्रहण कर लिया और मुद्रा के कार्य करने लगे।"—"सुसपादित 'वीणा' उच्च कोटि के साहित्य-प्रकाशन में लगी अपने २८ वे वर्ष मे है। प्राय कविताओं, गद्य-गीतों, स्वच्छंद कविता, इत्यादि से भरपूर रहती है।"

किन्तु यह पत्रिका साहित्यिक अथवा साहित्यिक-सम्पादित नही है, इसलिए इसे जाने दीजिए। प्रतिष्ठित, प्रख्यात साहित्यकारों द्वारा सम्पादित कुछ पत्रिकाओ की स्टैंडर्ड हिन्दी के नमूने देखिए—

(१) "आदर करने वाले इन लोगो में कवियित्री भी थी, उस समय स्वय भी प्रस्फुटित होते यौवन के उद्वेग में, जब कि निस्वार्थ और त्याग भी सीमाओं को तोड कर ही बहना चाहते है।"

"कवियित्री के लिए यह आघात राष्ट्रीय भावना की पीड़ा तक सीमित नही था।"

"...कवियित्री झुकी और उसने नेता के चरणों के नीचे की धूल समेट कर, अपने आँचल के कोने में यत्न के साथ सम्भाल ली।"

"नेता ने देखा और उसके शरीर में बिजली कौंध गई।"

"कवियित्री की जीवन-शक्ति सब ओर से सिमिट कर उनकी कविता में वेगवान हो उठी, जैसे पूरे प्रदेश मे सिमटा वर्षा का जल .."

"नेता के निराभिमान, विनय और कर्मठता..."

"भीतर जा वह सोफा पर बैठ गई. "

उपर्युक्त उद्धरण जिस कहानी से लिये गये है, वह एक सुविख्यात साहित्यकार की रचना है, और एक सुप्रतिष्ठित, सुसपादित हिन्दी पत्रिका में छपी है।

इसी पत्रिका के इसी अक मे से कुछ और उदाहरण लीजिए —

(२) "...फिर इस दूत परम्परा का साहित्य में हमें अनुकरण मिलता है, किन्तु वह कालिदास के 'मेघदूत' में काव्यत्व के चरम (की चरम सीमा) पर पहुँच जाता (जाती) है। कालिदास के उपरान्त (बाद) तो दूत-काव्य परम्परा पर्याप्त दीर्घ है।"

"नायक तथा नायिका दोनो में ही रति-भाव जाग्रत (जागृत) होना चाहिए। यदि केवल रति-भाव एक पक्षगत है (यदि रति-भाव केवल एकपक्ष गत है) . "

"प्रकृति में सिसृक्षा की प्रवृत्ति (सिसृक्षा की प्रवृत्ति).. "

"ब्रह्म तथा आत्मा या जीव नायक या (और) नायिका बन जाते है।"

'उस प्रेम को वह काम भाव की भान्ति (भाँति) अस्थाई (अस्थायी) क्षणभङगुर रूप में ग्रहण नही कर सकता।"

उपर्युक्त पक्तियो के लेखक भी सुप्रसिद्ध साहित्यकार और हिन्दी के प्राध्यापक है।

(३) इसी पत्रिका के इसी अक मे छपे कुछ सस्कृत उद्धरणो की भी बानगी देखिए—

"य आत्मदा बलदा, यस्य विश्व उपासते प्रशिर्ष (प्रशिष) यस्य देवाः।"

"एको ह बहुस्याम (एकोऽहं बहु स्याम्)।"

"सहनाववतु महनौभुनक्तु मह वीर्यं करवावहि।" (सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै)

पत्रिका के सम्पादक सस्कृतज्ञ है, और प्रूफ-रीडरो की उनके पास कमी नही है। पत्रिका का दावा है कि वह "भारतीय साहित्य और सस्कृति का प्रतिनिधि पत्र" है।

(४) इसी पत्रिका के एक अन्य अंक में एक विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर का, हिंदी शब्दों से सम्बन्धित, लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें एक स्थान पर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि हिंदी के, "बच्चों का स्वभाव होता है कि समस्त वस्तुएँ पट्टते फिरते हैं", इस वाक्य का अंग्रेज़ी में अनुवाद नहीं हो सकता। लेखक की स्थापना है कि 'पट्टना' का काम disturb से नहीं चल सकता, क्योंकि "हिन्दी का पट्टना अंग्रेज़ी के disturb से कहीं आगे जाता है।" हमें लगता है कि यह शब्द समस्त हिन्दी-संसार से ही आगे चला गया। शायद यह सुदूर भविष्य की हिन्दी है। वर्तमान हिंदी में तो इसका प्रयोग कहीं दिखाई नहीं पड़ा। लेखक का कहना है कि, "बहुत-से लोग यह भी नहीं जानते कि अंग्रेज़ी में 'पाजामे' के लिए कोई शब्द नहीं है...।" इस प्रकार अधिकांश शिक्षित भारतीयों को अंग्रेज़ी भाषा की बारीकियों से अपरिचित सिद्ध करके उन्होंने, "मुझे जाना होगा" का अंग्रेज़ी अनुवाद दिया है I will have to go । हो सकता है कि यहाँ व्याकरण-सम्मत shall के बदले will के प्रयोग में कोई बारीकी छिपी हो।

(५) एक अन्य प्रतिष्ठित पत्रिका में, पहले ही पृष्ठ पर, एक कविता छपी है, जिसकी पहली चार पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

सृष्टा विनाश के आयुध का
कर रहा प्रलय का आह्वान
तू नियति-करों में खेल रहा
हो कर स्वतन्त्र अमृत-सन्तान !

'आह्वान' और 'अमृत-सन्तान' में क्या आपको छन्दोभंग सुनाई पड़ता है? ग़लती आपकी ही है जो आप इन शब्दों की बारीकी नहीं देख पाये। 'आह्वान' को 'आहवान' पढ़िए और 'अमृत-सन्तान' को 'अमृ-तसन्तान', तो छन्दो-भंग कहाँ रहता है?

(६) एक सुप्रसिद्ध, लोक-प्रिय हिन्दी साप्ताहिक की भी हिन्दी के नमूने देखिए—

"महारानी लक्ष्मीबाई की जीवनगाथा भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त जाज्वल्य पृष्ठ है।...शक्ति का ही तेजांश प्रगट हुआ था।"

"दिल्ली की स्वास्थ्य-मंत्रिणी...फ्रांस के प्रतिनिधि ...से वार्ता करते हुए" (चित्र का शीर्षक)

"हम कौन के रेशों से तैयार किये गये साइकिल की, तथा लकड़ी की तरह मुड़ाव्य पट्टियों की चर्चा कर चुके हैं।"

"कुछ समय पूर्व.. एक बालक की सूचना (बालक के विषय में समाचार) निकली थी..."

"अंग्रेज़ गुड़ियाएँ".. चीनी गुड़ियाएँ (चित्रों के शीर्षक)

इस पत्र के सम्पादक हिन्दी के सरलीकरण की माँग को पूरा करने में प्रयत्नशील दिखाई देते हैं।

इस बार के लिए इतने उदाहरण पर्याप्त हैं। कोई यह न समझे कि यह सब छिद्रान्वेषण करने या कीचड़ उछालने के लिए लिखा गया है। और न हम यह कहेंगे कि हम स्वयं त्रुटि-हीन, सर्वथा निर्दोष हैं। उपर्युक्त त्रुटि-प्रदर्शन यदि किसी को चुभे, तो उसका फल अच्छा ही होगा। लेखक और सम्पादक कुछ सतर्क रहने की चेष्टा तो करेंगे।

आशा है, ऊपर उद्धृत उदाहरणों को पढ़ने के बाद हमारे निष्पक्ष पाठक इस 'सम्पादकीय' की व्यङ्ग्योक्तियों और 'अभद्रताओं' को क्षम्य समझेंगे। शेष फिर।

ꩤꩤꩤ

सुमित्रानन्दन पंत | आः धरती कितना देती है !

मैंने छुटपन में छिप कर पैसे बोये थे,
सोचा था, पैसों के प्यारे पेड़ उगेंगे,
रुपयों की कलदार मधुर फसलें खनकेंगी,
और, फूल-फल कर, मैं मोटा सेठ बनूँगा।

पर बंजर धरती में एक न अंकुर फूटा,
बन्ध्या मिट्टी ने न एक भी पैसा उगला !
सपने जाने कहाँ मिटे, कब धूल हो गये !
मैं हताश हो, बाट जोहता रहा दिनों तक,
बाल-कल्पना के निज अपलक बिछा पाँवडे !
मैं अबोध था, मैंने गलत बीज बोये थे,
ममता को रोपा था, तृष्णा को सींचा था !

अर्धशती हहराती निकल गयी है तब से !
कितने ही मधु पतझर बीत गये अनजाने,
ग्रीष्म तपे, वर्षा झूलीं, शरदें मुसकायीं,
सी-सी कर हेमंत कँपे, तरु झरे, खिले वन !
औ' जब फिर से गाढ़ी ऊदी लालसा लिये,
गहरे कजरारे बादल बरसे धरती पर,

मैंने, कौतूहलवश, आँगन के कोने की,
गीली तह को यों ही उँगली से सहला कर
बीज सेम के दबा दिये मिट्टी के नीचे !
रज के अंचल में मणि-माणिक बाँध दिये हों !

मैं फिर भूल गया इस छोटी-सी घटना को,
और बात भी क्या थी, याद जिसे रखता मन ?
किन्तु एक दिन जब मैं सध्या को आँगन में
टहल रहा था, तब सहसा मैंने जो देखा,
उससे हर्ष-विमूढ़ हो उठा मैं विस्मय से !

देखा, आँगन के कोने में कई नवागत
छोटे-छोटे छाते ताने खड़े हुए हैं !
छाते कहूँ कि विजय-पताकाएँ जीवन की,
या हथेलियाँ खोले थे वे नन्हीं, प्यारी—
जो भी हो, वे हरे हरे, उल्लास से भरे,
पंख मार कर उड़ने को उत्सुक लगते थे,
डिम्ब तोड़ कर निकले चिड़ियों के बच्चों-से !

निर्निमेष, क्षण भर, मैं उनको रहा देखता;
सहसा मुझे स्मरण हो आया, कुछ दिन पहिले
बीज सेम के रोपे थे मैंने आँगन में,
और उन्हीं से नन्हे पौधों की यह पलटन
मेरी आँखों के सम्मुख अब खड़ी गर्व से,
नन्हे नाटे पैर पटक, बढ़ती जाती है !

तब से उनको रहा देखता—धीरे-धीरे
अनगिनती पत्तों से लद, भर गयीं झाड़ियाँ,
हरे-भरे टँग गये कई मखमली चँदोवे !
बेलें फैल गयीं बल खा, आँगन में लहरा,
और सहारा ले कर बाड़े की टट्टी का
हरे-हरे सौ झरने फूट पड़े ऊपर को !
मैं अवाक् रह गया, वंश कैसे बढ़ता है !

छोटे, तारों-से छितरे, फूलों के छींटे
झागों-से लिपटे लहरों श्यामल लतरों पर
सुंदर लगते थे, मावस के हँसमुख नभ से
चोटी के मोती-से, आँचल के बूटों-से !

ओह, समय पर उनमें कितनी फलियाँ फूटीं !
कितनी सारी फलियाँ—उफ, उनकी क्या गिनती !
लंबी-लंबी अंगुलियों-सी, नन्ही-नन्ही
तलवारों-सी, पन्ने के प्यारे हारों-सी,

झूठ न समझें, चंद्रकलाओं-सी नित बढ़तीं,
सच्चे मोती की लड़ियों-सी, ढेर-ढेर खिल,
झुंड-झुंड झिलमिल कर कचपचिया तारों-सी

आः, इतनी फलियाँ फूटीं, जाड़ों भर खायीं,
सुबह शाम घर घर में पकीं, पड़ोस-पास के
जाने अनजाने सब लोगों में बँटवायीं,
बंधु-बांधवों, मित्रों, अभ्यागत, मँगनों ने
जी भर-भर दिन रात मुहल्ले भर ने खायीं !
कितनी सारी फलियाँ, कितनी प्यारी फलियाँ !

यह धरती कितना देती है ! धरती माता
कितना देती है अपने प्यारे पुत्रों को !
नहीं समझ पाया था मैं उसके महत्व को
बचपन में छिः, स्वार्थ-लोभ-वश पैसे बो कर !

रत्न-प्रसविनी है वसुधा, अब समझ सका हूँ !
इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं,
इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं,
इसमें मानव-ममता के दाने बोने हैं,
जिससे उगल सके फिर धूल सुनहली फसलें,
मानवता की — जीवन-श्री से हँसें दिशाएँ !
हम जैसा बोएँगे वैसा ही पाएँगे !

***

मंगलदेव शास्त्री

भारतीय संस्कृति : वैदिक धारा का अमृत-स्रोत

भारतीय संस्कृति-सम्बन्धी इस लेखमाला के पिछले तीन लेखो मे ('कल्पना', जनवरी, फरवरी, मार्च १९५५) 'वैदिक धारा के ह्रास' को दिखलाते हुए हमने कहा है कि वह दिव्यमेधा, जिसने ऋषियो द्वारा वैदिक धारा को प्रवाहित किया था, जिसने भारतीय संस्कृति के उप:काल में विश्व में व्याप्त उस मौलिक तत्त्व का साक्षात्कार किया था, जिसकी दिव्य विभूतियो का वैदिक देवताओं के रूप में मन्त्रो मे गान किया गया है, और जिसने मानो प्रकाशमय, आनन्दमय लोको से ला कर मानव-जीवन के लिए दिव्य-सदेशो को श्रुति-मधुर पवित्र शब्दो मे सुनाया था, भारतीय संस्कृति के अमृत-स्रोत के रूप में अब भी वैदिक मन्त्रो में सुरक्षित इस अमृत-स्रोत में अवगाहन निश्चय ही मानव के सतप्त हृदय को शांति दे सकता है। अपनी अद्वितीय उदात्त भावनाओ और अमूल्य जीवन-सदेश के कारण उसका निश्चय ही सार्वकालिक और सार्वभौम महत्त्व है।

उसी दिव्य अमृत-स्रोत का धारावाहिक दिग्दर्शन, वैदिक मन्त्रो के शब्दो में ही, हम इस लेख में कराना चाहते है, जिससे उसके पवित्रतादायक और शान्ति तथा आनन्द को देने वाले प्रभाव का साक्षात् अनुभव पाठक स्वय कर सके।

मौलिक प्रश्न

कस्मै देवाय हविषा विधेम ?

(ऋग्०, १०।१२१।५)

हम किस देव की स्तुति और उपासना करे ?

उत्तर

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा

येन स्व: स्तभितं येन नाक: ।

यो अन्तरिक्ष रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋग्०, १०।१२१।५)

जिस दैवी शक्ति ने इस विशाल द्युलोक को, इस पृथिवी को, स्वर्लोक और नाक-लोक को अपने-अपने स्वरूप में स्थिर कर रखा है, और जो अन्तरिक्ष लोक में भी व्याप्त हो रही है, उसको छोड कर हम किस देव की स्तुति और उपासना कर सकते हैं ? अर्थात्, हमको उसी महाशक्ति-रूपिणी देवता की पूजा करनी चाहिए।

मूल तत्त्व का स्वरूप :

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु। (यजु०, ३२।८)

वह मूल-तत्त्व सारे विश्व में ओत-प्रोत है, और यह सृष्टि उसी से उत्पन्न हुई है।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः ।

(यजु०, ३२।३)

उसका यश सर्वत्र फैला हुआ है। उसकी प्रतिमा या उपमान नहीं हो सकता। सब देवता उसी की विभूति हैं।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्य-
ग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः । (ऋग्०, १।१६४।४६)

एक ही मूलतत्त्व को विद्वान्, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामों से कहते हैं।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति । (ऋग्०, १०।११४।५)

एक ही सर्व-व्यापक तत्त्व को विद्वान् कवि वचनों द्वारा अनेक रूपों में कल्पित करते हैं।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

(यजु०, ३२।१)

उसी मूलतत्त्व को अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र(=भास्कर) ब्रह्म, अप् (=जल) और प्रजापति कहा जाता है। अथवा, अग्नि आदि सब उसी की विभूतियाँ हैं[1]।

महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः ।
नास्य क्षीयन्त ऊतयः ॥ (ऋग्०, ६।४५।३)

परमैश्वर्यशाली भगवान् की लीला या चरित्रों की कोई सीमा नहीं है। इस अनन्तानन्त विश्वप्रपञ्च के निर्माता के सख्यातीत गुणों का गान कौन कर सकता है ? हमारा कल्याण इसी में है कि हमको सदा यह विश्वास रहे कि भगवान् सब के रक्षक हैं। इस सारे विश्व की रचना का एकमात्र उद्देश्य हमारा कल्याण ही है[2]।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

(यजु० ३१।१८)

---

१. तु०—अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
तथा, (गीता, ७।६-९)
यतो भूतानि जायन्ते यत्र तेषां लयो मतः। यदाश्रयेण तिष्ठन्ति तत्त्वं तन्नित्यमव्ययम् ॥
सत्यं ब्रह्म परं धाम कर्म 'धम्म' प्रजापतिः। शक्तिर्माता शिवो विष्णू राम ओंकार एव च।
प्रेमेत्यादि पदं मूलतत्त्ववाचि न संशयः। तदेव तत्त्वं गीतायामहं शब्देन कथ्यते ॥
(रश्मिमाला, ६०।१, १५-१६)

२ तु०—विश्वमेतद्यया शक्त्या धार्यते पाल्यते तथा। नूनं सा प्रथमा बुद्धिश्चेतना चैव मन्यताम् ॥
तया सहेतुकं विश्वमाब्रह्माण्ड व्यवस्थितम्। चाल्यते हितभावेन तामेवाहं समाश्रये ॥
(रश्मिमाला, ६६।१-२)

सर्वत्र ओत-प्रोत वह महान् देवाधिदेव सूर्य के समान अपने तेजोमय रूप को सर्वत्र फैलाये हुए भी हमारे अज्ञानान्धकार के कारण हमसे तिरोहित है। उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु की भावना का अतिक्रमण कर सकता है। अमृत व अक्षर विशाल जीवन की प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

आदर्श प्रार्थना

तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (यजु० ३०।३०)

अर्थात् हम सब सवितृ-देव के उस प्रसिद्ध वरणीय तेजोमय स्वरूप का चिन्तन करते हैं जो हम सब की बुद्धियों को प्रेरणा प्रदान करे।

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥

(अथर्व०, ६।१०८।२)

ऋषियों द्वारा मस्तुत, ब्रह्मचारियों से सेवित, ज्ञान का प्रकाश करने वाली और स्वयं ज्ञानमय उस श्रेष्ठ मेधा-शक्ति को हम आह्वान करते हैं, जिससे समस्त दैवी शक्तियों का सान्निध्य और संरक्षण हमको प्राप्त हो सके।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। (यजु०, ३४।१)

मेरे मन के संकल्प शुभ और कल्याणमय हों।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव ॥ (यजु०, ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवित! समस्त दुर्गुणों को हमसे दूर कीजिए, और जो कल्याण-प्रद है, उसे हमें प्राप्त कराइए।

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा
मा सुचरिते भज। (यजु० १९।३०)

हे प्रकाश-स्वरूप अग्नि देव! मुझे दुश्चरित से बचाकर सुचरित में दृढ़तया स्थापित कीजिए।

भद्रं नो अपि वातय मनः।

(ऋग्०, १०।२०।१)

भगवन्! ऐसी प्रेरणा कीजिए जिससे हमारा मन भद्र मार्ग का ही अनुसरण करे।

भद्रं भद्रं न आ भर। (ऋग्० ,८।९३।२८)

भगवन्! हमें बराबर भद्र की प्राप्ति कराइए।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

(यजु०, २५।२१)

हे यजनीय देवगण! हम कानों से भद्र को ही सुनें और आँखों से भद्र को ही देखें।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽ
दब्धासो अपरीतास उद्भिदः।

(यजु०, २५।१४)

हमको ऐसे शुभ संकल्प प्राप्त हों जो सर्वथा अविचल हों, जिनको साधारण मनुष्य नहीं समझते और जो हम उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन की ओर ले जाने वाले हों।

जीवन की दार्शनिक दृष्टि

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(यजु०, ४०।२)

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्तव्य-कर्मों को करता हुआ ही पूर्ण आयु-पर्यन्त जीने की इच्छा करे। उसका कल्याण इसी में है, कर्तव्य-कर्म को छोड़ कर भागने में नहीं। कर्म-बन्धन से बचने का यही उपाय है[1]।

---

[1] तु०—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

(गीता, २।४७)

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
(यजु० ४०।१)

सारे विश्व में अन्तर्यामी भगवान् व्याप्त है। कर्म करने पर ईश्वर द्वारा जो भी फल प्राप्त हो, उसका तुम उपभोग करो। जो दूसरे को प्राप्त है, उस पर अपना मन मत चलाओ[१]।

सः ..... . याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (यजु०, ४०।८)

हमारे जीवन के ईश्वर-प्रदत्त पदार्थों में सदा ही योग्यता और औचित्य का आधार होता है।

अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।
(यजु० ३६।२४)

हम सौ वर्ष तक और सौ वर्ष से भी अधिक काल तक अदीन हो कर रहें! अर्थात्, हम जीवन के महत्त्व को समझें और दीनता के भाव से अपने को दूर रखते हुए सदा उन्नति पथ पर आगे बढ़ते रहें।

इन्द्र इच्चरतः सखा। (ऐतरेय-ब्राह्मण, ७।१५)

जो स्वयं उद्योग करता है, भगवान् उसी की सहायता करते हैं।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।
(ऋग्०, ४।३३।११)

जो श्रम नहीं करता उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते।

यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत्।
(ऋग्०, ५।४४।८)

मनुष्य अपने ध्येय को श्रम और तप से ही प्राप्त कर सकता है।

अस्ति रत्नमनागसः। (ऋग्० ८।६७।७)

निरपराध मनुष्य के लिए निधिरूप अमूल्य रत्न स्वयं उपस्थित हो जाते हैं[२]।

जीवन का लक्ष्य

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥
(यजु०, २०।२१)

अज्ञान रूपी अन्धकार से उत्तरोत्तर प्रकाश की ओर बढ़ते हुए हम देवताओं में सूर्य के समान, उत्तम ज्योति अर्थात् सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करें[३]।

लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि।
(ऋग्०, ९।११३।९)

भगवन्! मुझे उस पूर्णता की अवस्था को प्राप्त कराइए जहाँ केवल प्रकाश ही प्रकाश है।

परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु। (अथर्व०, १८।३।६२)

भगवन्! अपूर्ण जीवन की अवस्था से हमें पूर्णता के जीवन को प्राप्त कराइए।

उदायुषा स्वायुषोदस्थाम्। (यजु०, ४।२८)

हम उत्कृष्ट और शुभ जीवन के लिए उद्योग-शील हों।

प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः। (ऋग्०, १०।५९।१)

भगवन्! हम नवीन से नवीनतर और उत्कृष्ट से उत्कृष्ट-तर जीवन की ओर बढ़ते रहें।

---

१. तु०—कर्म कृत्वा ततस्तस्य फलप्राप्तावनन्तरम्। प्रसन्नश्च निरुद्वेगः स्वस्थ आसीत पण्डितः॥
प्रभौ कर्मफलन्यासस्तत्समं फलसमर्पणम्। शरणागतिरस्त्येषा भक्तानां परिभाषया॥
(रश्मिमाला, १७।४–५)

२ तु०—अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। (योगसूत्र, २।३७)

३. तु०—"उत्तरोत्तरमुत्कर्षं जीवनं शाश्वतं हि नः। अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा॥ (रश्मिमाला, २।७)

जीवन-संगीत

जीवेम शरदः शतम् । बुध्येम शरदः शतम् ।
रोहेम शरदः शतम् । पूषेम शरदः शतम् ।
भवेम शरदः शतम् । भूयेम शरदः शतम् ।
भूयसी शरदः शतात् ॥

(अथर्व०, १९।६७।२-८)

हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन यात्रा करें, अपने ज्ञान को बराबर बढ़ाते रहें, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति को प्राप्त करते रहें, पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करते रहें, आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहें और समृद्धि ऐश्वर्य तथा गुणों से अपने को भूषित करते रहें।

आदर्श-जीवन

कृधी न ऊर्ध्वान् चरथाय जीवसे ।

(ऋग्०, १।३६।१४)

भगवन्! जीवन यात्रा में हमें समुन्नत कीजिए।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम
पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम् ।

(ऋग्०, ६।५२।५)

हम सदा प्रसन्न-चित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें !

मदेम शतहिमाः सुवीराः । (अथर्व०, २०।६३।३)

अर्थात्, हमारी सन्तानें वीर हों और हम अपने पूर्ण जीवन को प्रसन्नतापूर्वक ही व्यतीत करें।

यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ।

(यजु०, १६।४)

हमारी जीवन चर्या ऐसी हो, जिसमें यह सारा जगत् हमको व्याधियों से बचा कर प्रसन्नता देने वाला हो।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
.........तत्र माममृतं कृधि ॥

(ऋग्०, ९।११३।११)

भगवन्! मुझे सदा आनन्द, मोद, प्रमोद और प्रसन्नता की मन स्थिति में रखिए।

विश्वाहा वय सुमनस्यमाना ।

(ऋग्०, ३।७५।१८)

हम सदा ही अपने को प्रसन्न रखें।

व्रत का जीवन

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ (यजु० १।५)

व्रतपति अग्नि देव! आप शक्तियों के एकमात्र केन्द्र हैं। जो शुभ संकल्प के साथ सत्य मार्ग पर चलना चाहते हैं, आप उनकी सहायता अवश्य करते हैं। मैं असत्य को छोड़ कर सत्य-मार्ग पर चलने का व्रत ले रहा हूँ। आप मुझे इस व्रत के पालन की सामर्थ्य दीजिए।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।

(यजु०, १९।३०)।

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः । (अथर्व०, ११।५।२४)

ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला प्रकाशमान ब्रह्म (= समष्टि-रूप ब्रह्म अथवा ज्ञान को) धारण करता है और उसमें समस्त देवता ओत प्रोत होते हैं (अर्थात, वह समस्त दैवी शक्तियों से प्रकाश और प्रेरणा को प्राप्त कर सकता है)।

ब्रह्मचारी . श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ।

अथर्व०, ११।५।४)

ब्रह्मचारी तप और श्रम का जीवन व्यतीत करता हुआ, समस्त राष्ट्र के उत्थान में सहायक होता है।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।

(अथर्व०, ११।५।१७)

आचार्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही ब्रह्मचारियों को अपने शिक्षण और निरीक्षण में लेने की योग्यता और क्षमता का सम्पादन करता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।

(अथर्व०, ११।५।१७)

ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्।

(अथर्व० ११।५।१९)

संयत जीवन से रहने वाला मनुष्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही अपनी इन्द्रियों को पुष्ट और कल्याणोन्मुख बनाने में समर्थ होता है।

ऋत और सत्य की भावना[1]

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति
पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष
ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः॥

(ऋग०, ४।२३।८-९)

ऋत अनेक प्रकार की सुख-शांति का स्रोत है;
ऋत की भावना पापों को विनष्ट करती है।
मनुष्य को प्रेरणा और प्रकाश देने वाली
ऋत की कीर्ति बहिरे कानों में पहुँच चुकी है॥
ऋत की जड़ें सुदृढ़ हैं;
विश्व के विविध रमणीय पदार्थों में
ऋत मूर्तिमान हो रहा है।
ऋत के आधार पर अन्नादि खाद्य पदार्थों
की कामना की जाती है;
ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियाँ जल
में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती है॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥

(यजु०, १९।७७)

सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य के रूपों को देख कर पृथक्-पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की भावना सत्य में ही है, और अश्रद्धा की अनृत या असत्य में।

वाचः सत्यमशीय। (यजु०, ३९।४)।

मैं अपनी वाणी में सत्य को प्राप्त करूँ।

देवा देवैरवन्तु मा। ...सत्येन सत्यम्...।

(यजु०, २०।११-१२)

समस्त दैवी शक्तियाँ मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य में तत्पर रहने की शक्ति प्रदान करें!

सत्यं च मे श्रद्धा च मे...यज्ञेन कल्पन्ताम्।

(यजु०, १८।५)

यज्ञ द्वारा मैं सत्य और श्रद्धा को प्राप्त करूँ।

---

१ बाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है। परन्तु उन समस्त नियमों में परस्पर विरोध न हो कर ऐक्य विद्यमान है। इसी को 'ऋत' कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं, उन सब का आधार 'सत्य' है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही सत्य है यही वास्तविक धर्म है। इसी तथ्य को अपने शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं—जीवनेऽस्मिन् महाँल्लाभः स्वान्ततस्तोषो निगद्यते। स्वस्यान्तरात्मना सार्धमविरोधो तदिष्यते॥१॥ यतस्तत् परमं सत्यं भास्वरं च निरञ्जनम्। अन्तः सर्वस्य लोकस्य साक्षिरूपेण तिष्ठति॥२॥ (पद्य-पुष्पाञ्जलि)।

मा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः ।

(ऋग्०, १०।३७।२)

सत्य-भाषण द्वारा ही मैं अपने को सब दुर्गतियों से बचा सकता हूं।

पवित्रता की भावना

...देव सवितः ! ...मा पुनीहि विश्वतः ।

(यजु० १९।४३)

हे सवितृ देव ! मुझे सब प्रकार से पवित्र कीजिए।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
अथो अरिष्टतातये ॥ (अथर्व०, ६।१९।२)

बुद्धि, पराक्रम, जीवन और निरापद आत्म-रक्षा के उद्देश्य से पवित्रतादायक पवमान देव मुझे सब प्रकार से (अर्थात् कायेन, मनसा और वाचा) पवित्र करें।

आत्मविश्वास की भावना

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये[1] । (ऋग्० १०।४८।५)

मैं इन्द्र हूं मेरी पराजय नहीं हो सकती।

यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ।

(अथर्व, ६।५८।३)

जगत के समस्त पदार्थों में मैं सबसे अधिक यश वाला हूं। अर्थात् मनुष्य का स्थान सृष्टि के समस्त पदार्थों में ऊँचा है।

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् ।

(शतपथ ब्राह्मण ४।३।४।३)

सब प्राणियों में मनुष्य सृष्टिकर्ता परमेश्वर के अत्यन्त समीप है।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥

(अथर्व०, १२।१।५४)

मैं स्वभावतः दूसरों पर विजय पाने वाला हूं। पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है। मैं विरोधी शक्तियों को परास्त कर, समस्त विघ्न बाधाओं को दबा कर प्रत्येक दिशा में सफलता को प्राप्त करने वाला हूं।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

(यजु०, ४०।३)

आत्मघात या आत्म-चेतना की विस्मृति-रूप आत्म-हत्या (अर्थात् जीवन में आत्म-विश्वास की भावना का अभाव) न केवल व्यक्तियों के लिए, किन्तु जातियों और राष्ट्रों के लिए भी, किसी भी प्रकार की प्रगति से विहीन अज्ञानान्धकार में गिरा कर सर्वनाश का हेतु होती है।

ओजस्वी जीवन

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि,
सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ (यजु०, १९।९)

मेरे आदर्श देव !
आप तेज-स्वरूप हैं, मुझमें तेज को धारण कीजिए!
आप वीर्य-रूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिए!
आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइए!
आप ओज-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइए!
आप मन्यु[2]-रूप हैं, मुझमें मन्यु का धारण कीजिए!
आप सह[3]-स्वरूप हैं, मुझे सहस्वान् कीजिए!

१ तु०—इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहम् अरातीनां वशोऽस्म्यहम् । तेषां बाधास्तिरस्कृत्य पदं मूर्ध्नि ददाम्यहम् ॥

(रश्मि-माला, ६।१)

२ मन्यु—अनौचित्य को न सहने वाला क्रोध। ३ सहस्—विरोधियों को दबा देने वाली शक्ति और बल।

वीरता तथा निर्भयता की भावना

मा त्वा परिपन्थिनो विदन् । (यजु०, ४।३४)

इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारी वास्तविक उन्नति के बाधक शत्रु तुम पर विजय प्राप्त न कर सकें ।

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यत ।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥ (अथर्व०, ७।८३)

सत्कार्यों में बाधक जो शत्रु हम पर आघात करें हमारा कर्तव्य है कि वीरोचित क्रोध और पराक्रम के साथ हम उनका दमन करें और उनको विनष्ट कर दें ।

मम पुत्राः शत्रुहण । (ऋग्०, १०।१५९।३)

मेरे पुत्र शत्रु का हनन करने वाले हों !

सुवीरासो वय . . जयेम ।
(ऋग्०, ९।६१।२३)

हमारे पुत्र सुवीर हों । और उनके साथ हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें ।

मा भेः, मा सविक्था. । (यजु०, १।२३)

तुम न तो भयभीत हो, न उद्विग्नता को प्राप्त हो ।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यत ।
एवा मे प्राण मा बिभे ॥
(अथर्व०, २।१५।१-३)

जैसे द्युलोक और पृथ्वी अपने-अपने कर्तव्य के पालन में न तो डरते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इस प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी भय को न प्राप्त हो ।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा न तो भय को प्राप्त होते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी भय को न प्राप्त हो ।

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षत ।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिता ॥
(ऋग्०, १०।१६६।२)

मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला हूँ । इन्द्र के समान मुझे कोई न तो मार सकता है, न पीड़ित कर सकता है । मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मेरे समस्त शत्रु यहाँ मेरे पैरों तले पड़े हुए हैं !

मह्यं नमन्ता प्रदिशश्चतस्रः (ऋग्०, १०।१२८।१)

मेरे लिए सब दिशाएं झुक जाएँ । अर्थात्, प्रत्येक दिशा में मुझे सफलता प्राप्त हो ।

शारीरिक स्वास्थ्य तथा दीर्घायुष्य

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ।
. . . . यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ॥
(यजु०, ३ १७)

अग्निदेव ! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर का पुष्ट कीजिए । तुम आयु को देने वाले हो, मुझे पूर्ण आयु दीजिए । मेरे शारीरिक स्वास्थ्य में जो भी कमी हो उसे पूरा कर दीजिए ।

वाङ् म आसन्नसो. प्राणश्चक्षुरक्ष्णो. श्रोत्रं कर्णयो· ।
अपलिता. केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जव· पादयो· प्रतिष्ठा
(अथर्व० १९।६०।१-२)

मेरे समस्त अग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें, यही मैं चाहता हूँ । मेरी वाणी, प्राण, आँख, और कान अपना-अपना काम कर सकें । मेरे बाल काले रहें । दाँतों में कोई रोग न हो । बाहुओं में बहुत बल हो । मेरी उरुओं में ओज, जाँघों में वेग और पैरों में दृढ़ता हो ।

आयुर् यज्ञेन कल्पता प्राणो ..अपानो...व्यानो .. चक्षुर् .

श्रोत्रं वाग् मनो...आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥
(यजु०, ३२।३३)

प्राकृत जगत् में काम करनेवाली अग्नि, वायु आदि दैवी शक्तियों के साथ सामञ्जस्य का जीवन (=यज्ञ) व्यतीत करते हुए मैं पूर्णायुष्य को प्राप्त कर सकूं, मेरी प्राण, अपान आदि शक्तियां तथा चक्षु आदि इन्द्रियां अपना-अपना कार्य ठीक तरह कर सकें, और इस प्रकार मेरे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो—यही मेरी आन्तरिक कामना है, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा और प्रार्थना है।

अश्मा भवतु नस्तनूः । (यजु०, २९।४९)

हमारा प्रार्थना है कि हमारे शरीर पत्थर के समान सुदृढ़ हों।

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि ।
(ऋग०, १०।३७।६)

हम कल्याण मार्ग पर चलते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त हों।

अहं सर्वमायुर्जीव्यासम् । (अथर्व०, १९।७०।१)

मैं अपने जीवन में पूर्ण आयु को प्राप्त करूं।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्
पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।
शृणुयाम शरदः शतम् । प्र ब्रवाम शरदः शतम् ।
अदीनाः स्याम शरदः शतम् । भूयश्च शरदः शतात् ॥
(यजु०, ३६।२४)

वह देखो! इन्द्रियों के स्वास्थ्य के निर्वाहक, सब के चक्षु स्थानीय प्रकाशमय सूर्य भगवान सामने उदित हो रहे हैं। उनसे स्वास्थ्य को प्राप्त करते हुए, हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें, सौ वर्ष तक सुन सकें, सौ वर्ष तक बोल सकें, सौ वर्ष तक किसी के आश्रित न हों और सौ वर्ष के अनन्तर भी।

स्वर्गीय पारिवारिक जीवन

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ॥
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
(अथर्व० ३।३०।१–३)

हे गृहस्थो! तुम्हारे पारिवारिक जीवन में परस्पर एकता, सौहार्द और सद्भावना होनी चाहिए। द्वेष की गन्ध भी न हो। तुम एक-दूसरे को उसी तरह प्रेम करो जैसे गौ अपने तुरन्त जन्मे बछड़े को प्यार करती है।

पुत्र अपने माता पिता का आज्ञानुवर्ती और उनके साथ एक-मन हो कर रहे। पत्नी अपने पति के प्रति मधुर और स्नेह-युक्त वाणी का ही व्यवहार करे।

भाई भाई के साथ और बहिन बहिन के साथ द्वेष न करें।

तुम्हें चाहिए कि एक-मन हो कर समान आदर्शों का अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह और प्रेम की बढ़ाने वाली वाणी का ही व्यवहार करो।

आदर्श सामाजिक जीवन

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
(ऋग्०, १०।१९१।२)

हे मनुष्यो! जैसे सनातन से विद्यमान, दिव्य शक्तियों में सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से, मानो प्रेम से, अपने-अपने कार्य को करते हैं, ऐसे ही तुम भी समष्टि-भावना से प्रेरित हो कर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त होओ, एकमत से रहो और परस्पर सद्भाव बरतो।

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
(ऋग्०, १०।१९१।३)

तुम्हारी मन्त्रणा में, समितियों में, विचारों में और चिन्तन में समानता हो, सद्भावना हो, वैषम्य और दुर्भावना न हो।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(ऋग्० १०।१९१।४)

तुम्हारे अभिप्रायों में, तुम्हारे हृदयों (अथवा भावनाओं) में और तुम्हारे मनों में एकता की भावना रहनी चाहिए, जिससे तुम्हारी सांघिक और सामुदायिक शक्ति का विकास हो सके।

राजनीतिक आदर्श

राष्ट्राणि वै विशः। (ऐतरेय ब्राह्मण ८।२६)
प्रजाएँ ही राष्ट्र को बनाती हैं।

विशि राजा प्रतिष्ठितः। (यजु० २०।९)
राजा की स्थिति प्रजा पर ही निर्भर होती है।

त्वा विशो वृणतां राज्याय। (अथर्व० ३।४।२)
हे राजन्! प्रजाओं द्वारा तुम राज्य के लिए चुने जाओ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु। (अथर्व० ४।८।४)
हे राजन्! तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि समस्त प्रजाएँ तुमको चाहती हों।

ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह। (अथर्व०, ६।८८।३)
राजन्! राज्य में तुम्हारी अविचल स्थिति समिति अथवा लोक-सभा पर ही निर्भर है।

मानवीय कल्याण की भावना

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ (यजु० ३६।१८)
मैं, मनुष्य क्या सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ! हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें!

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः (ऋग्० ६।७५।१४)
एक दूसरे की सर्वदा रक्षा और सहायता करना मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है।

यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि।
(अथर्व० १७।१।७)

भगवन्! ऐसी कृपा कीजिए, जिससे मैं मनुष्यमात्र के प्रति, चाहे मैं उनको जानता हूँ अथवा नहीं, सद्भावना रख सकूँ।

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।
(अथर्व०, ३।३०।४)

आओ, हम सब मिल कर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो!

विश्व शान्ति की भावना

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्ति-
र्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्ति-
रेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥ (यजु०, ३६।१७)

द्युलोक, अन्तरिक्ष-लोक और पृथिवी-लोक सुख-शान्ति-दायक हों; जल, औषधियाँ और वनस्पतियाँ शान्ति देने वाली हों, समस्त देवता, ब्रह्म और सब कुछ शान्तिप्रद हो! जो शान्ति विश्व में सर्वत्र फैली हुई है, वह मुझे प्राप्त हो। मैं बराबर शान्ति का अनुभव करूँ!

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु
शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु। (ऋग्० ७।३५।८)

अत्यन्त विस्तृत तेज से युक्त सूर्य का उदय हम सब के लिए शान्तिदायक हो। चारों दिशाएँ हमारे लिए शान्ति देने वाली हों।

शं नो वातः पवतां शं नस्तपतु सूर्यः।
शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु।
(यजु०, ३६।१०)

वायु हमारे लिए सुखरूप हो कर चले! सूर्य हमारे लिए सुखरूप हो कर तपे! अत्यन्त गरजने वाले पर्जन्य देव भी हमारे लिए सुखरूप हो कर अच्छी तरह बरसें!

लक्ष्मीनारायण लाल | **शरणागत**

पात्र : परीक्षित; शुकदेव; जनमेजय; उत्तरा; तक्षक; शृंगीऋषि; ऋषिकुमार; परीक्षित के और
तीन पुत्र तथा अन्य पात्र।

गंगा तट पर एक उच्चासन; शुकदेव जी रत्नमंडित व्यास गद्दी पर आसीन हैं। सिर पर छाया-रूप में स्वर्ण क्षत्र फैला है। सामने श्रोतासन पर राजा परीक्षित बैठे हैं। उस पार पृष्ठ-भूमि में शुभ्र-ज्योति पर स्वर्ण-कलश की भांति राजधानी हस्तिनापुर दीख पड़ रही है।

जब पर्दा उठता है, प्रातःकाल का मंडलाकार सूर्य उदित हो रहा है। पृष्ठभूमि में आरती के वाद्य-यंत्र समवेत स्वर से बजने लगते हैं। मंत्रमुग्ध, ध्यानावस्था में हाथ जोड़े परीक्षित बैठे हैं। अवधूत, वीतरागी शुकदेव कमलासन से एकाग्र बैठे हैं। धीरे-धीरे पृष्ठभूमि का आरती-संगीत मंद पड़ने लगता है, तब भक्ति-संगीत से शुकदेव जी मंत्र पाठ आरम्भ करते हैं.

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञ स्वराट्, तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारि मृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा, धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहक सत्य परं धीमहि॥

मन्त्र-स्वर जैसे ही समाप्त होता है, दायीं ओर से राजमाता उत्तरा आती है, और चुपचाप व्यास-गद्दी के सम्मुख नतशिर प्रणाम करती है।

शुकदेव–(*आत्म-चिन्तन से जैसे जग कर*) परीक्षित ! *जीवात्मा, यह समूची सृष्टि जिस अनन्त शक्ति...*

उत्तरा–(गम्भीरता से बीच ही में) क्षमा महर्षि और उस सृष्टि की धरती, माँ, कौन .

शुकदेव–(ध्यानमग्न हो कर) कौन ? ..राजमाता उत्तरा ! यहाँ कैसे ?

उत्तरा–(मौन)

परीक्षित–(*करुण दृष्टि से माँ की ओर देख कर*) माँ ! *तुम यहाँ ?*

शुकदेव–शान्त परीक्षित ! यह मोह है—जडमाया . माया-बंधन ।

उत्तरा–माया नहीं, मैं सत्य हूँ जैसे तुम्हारा ब्रह्म सत्य है । .. मुझे मेरा पुत्र चाहिए.. .. मुझे मेरा सत्य दो महर्षिराज !

परीक्षित तन्मय हो माँ को देखने लगते हैं ।

शुकदेव–परीक्षित! ..... अधकार को बेध कर देखो, दर्शन की दृष्टि से ।

परीक्षित–(घबरा कर) मुझे प्रकाश दो प्रभु ! ऐसा प्रकाश जो मृत्यु को जीत ले ।

शुकदेव–राजधानी लौट जाओ, महामाया !

उत्तरा–वहाँ मेरी मुक्ति नहीं !

शुकदेव–उसका विधान होगा, पहले राजमहल जाओ ।

उत्तरा–नहीं, मुझे मेरी आत्मा चाहिए! वही मेरी मुक्ति है ।

शुकदेव–ईश्वर की शरण जाओ !

उत्तरा–मेरा ईश्वर तक्षक है ।

शुकदेव–शान्त महारानी ! विवेक मत खोओ ! यह सब कुछ, भूत, वर्तमान और भविष्य, यह सब उसी परब्रह्म का विधान है । (मंद मुसकान) तक्षक का *विश्वास उसी की इच्छा है वह उसी का अंश है जो विराट् है, शाश्वत है !*

उत्तरा–मुझे भ्रम में मत डालो महर्षि, मुझे मुक्ति नहीं चाहिए ।

पृष्ठभूमि में सहसा कई रथों के दौड़ने की आवाज़ उभरती है और जनकोलाहल से सारा वातावरण भर जाता है ।

परीक्षित–(घबड़ा कर आसन से उठ जाते हैं, कातर स्वर से) महर्षि ! महर्षिराज ! यह किसका आक्रमण ? यह कौन है ?

शुकदेव–(हँसते हुए आसन से उठ कर) विह्वल मत हो राजन् ! ये आपके पुत्र हैं—जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन तथा उग्रसेन ।

परीक्षित घबड़ाहट से चुप हैं ।

शुकदेव–*चिन्ता मत करो परीक्षित ! चिन्ता को जननी मोह है ।*

परीक्षित–शक्ति दीजिए, मुझे भय लग रहा है ।

शुकदेव–भय सत्य से मिटाओ परीक्षित ! अभय हो !

पृष्ठ भूमि में कोलाहल मच जाता है । रण वेष में चारों पुत्र प्रकट होते हैं ।

जनमेजय–(*वीरतापूर्ण आवेश में*) *कहाँ है वह अभिशाप ?* यह तक्षक कहाँ है ? (उत्तरा पर दृष्टि पड़ते ही) ओह ! राजमाता ! (चरण स्पर्श करता है, शेष भाई नतशिर हो जाते हैं) ।

***आशीष के लिए उत्तरा एक हाथ उठाती है,* दूसरे हाथ से आँचल सम्हाल कर अपने आँसुओं को छिपाती है ।**

जनमेजय–राजमाता ! मृत्यु के सामने रुदन ! नहीं, चलो ! रथ पर बैठो ! रोओ मत, नहीं तो मृत्यु

को शक्ति मिल जाएगी। (रुक कर) तक्षक मृत्यु है, तो हम जीवन है, वह अपनी माँ का एक होगा, हम चार हैं ! दृष्टि उठाओ आर्या ! भ्रम से देखो, जीवन की ये चार भुजाएँ हैं !

शुकदेव अपने आसन पर बैठ कर हँस पड़ते हैं।

जनमेजय–आर्य ! (परीक्षित का चरण-स्पर्श)

परीक्षित–पुत्र, मैं अभिशप्त हूँ !

जनमेजय–तो क्या हुआ ? जहाँ आप हैं वहाँ वरदान भी है !

परीक्षित–(अपने आसन पर बैठते हुए) आज से ठीक सातवें दिन मुझे तक्षक डँसेगा ! यह ईश्वर का विधान है, जनमेजय !

जनमेजय–उसी विधान का एक अंग मैं हूँ। और ईश्वर क्या केवल मृत्यु के लिए है ?

शुकदेव–(मंद मुस्कान-सहित) मृत्यु जीवन का ही परम विधान है ! सत्य को ज्ञान की दृष्टि से क्यों नहीं देखते ?

जनमेजय–ज्ञान क्या, मैं उसे समूचे दर्शन से देखता हूँ, वह दर्शन, जो जीवन से आता है मृत्यु से नहीं !

शुकदेव–(खुल कर हँसते हुए) पगले ! कैसा जीवन, कैसी मृत्यु ! सब कुछ ईश्वर ही तो है वही तक्षक, वही परीक्षित, वही शृंगी ऋषि, वही ऋषि-पुत्र...वही केवल।

जनमेजय–(बीच में ही) अर्थात् निष्क्रिय हो जाएँ हम ? क्यों महर्षि ! यही तुम्हारा उपदेश है न ? (रुक कर परीक्षित से) महाराज, रथ पर बैठ कर अपनी राजधानी चलिए !

परीक्षित–नहीं जनमेजय, मैं यहाँ अपनी मुक्ति के लिए आया हूँ।

जनमेजय–क्षमा हो आर्य ! बैठ कर मरने में मुक्ति नहीं, ऐसी मृत्यु पाण्डवों में नहीं होती। कभी नहीं हुई ! जीना और संग्राम करते जीना, यह पाण्डुकुल की मुक्ति है !

परीक्षित–संयम से बातें करो पुत्र ! तुम भगवान् शुकदेव के सामने हो !

जनमेजय–(सिर झुका कर) नतशिर हूँ, पर मैं नियति को नहीं मानता ! मुझे कर्म पर विश्वास है, विष्णुरात !

परीक्षित–(आश्चर्य में) विष्णुरात !

उत्तरा–सच, तुम विष्णुरात हो ! जिस मृत्यु ने जन्म से पूर्व ही तुम्हारी परीक्षा ली है ..तब तुम्हें साक्षात् विष्णु ने बचाया था।

जनमेजय–आर्य, तभी आप परीक्षित हैं।

शुकदेव–तुम मृत्यु से इतने भयाकुल हो, जनमेजय ?

जनमेजय–नहीं, मैं जागरूक हूँ ..और ऐसी मृत्यु से मैं संग्राम करूँगा, जो जीवन को अभिशप्त करती है।

परीक्षित–(आज्ञार्थक स्वर से) शान्त जनमेजय ! जाओ, पाण्डवों का राजसिंहासन सँभालो। जाओ, मैं ईश्वर की शरण हूँ, मुझे परम गति पाने दो, जनमेजय !

शुकदेव–जाओ राजमाता, पुत्र को विवेक से देखो !

उत्तरा–(मौन, चिंतित खड़ी हैं।)

जनमेजय–विवेक की नहीं, मैं तक्षक को देखूँगा... देखूँगा, तक्षक की कितनी लम्बी जिह्वा है। (उत्तरा से) चिन्ता न करो राजमाता ! यह देखो, आपकी आठ भुजाएँ हैं ..आशीर्वाद दो, मैं देखूँगा, पिता को कौन विष-दंश करता है !

शुकदेव–अंधकार में मत भटको जनमेजय ! चोट लग जाती है, उसकी शरण जाओ ...जो नियता है, समग्र सम्पूर्ण है—सत् चिद् आनन्द !

जनमेजय–ये लीला की बातें हैं ! हम मनुष्य हैं ! पुत्र के देखते पिता की मृत्यु हो जाए...यह

मानव-धर्म नही कहता, ईश्वर धर्म भले ही कहता हो !

शुक्देव-प्रकृति का विरोध मत करो जनमेजय, परीक्षित को शान्ति मिलने दो—अन्तिम शान्ति ! *तुम सब चले जाओ यहाँ से !*

जनमेजय-यह शान्ति की विडम्बना है ऋषि-प्रवर ! जिसे मृत्यु की अवधि बता दी गयी हो, उसे शान्ति मिलेगी ?

शुक्देव-(हँसते हुए) भूलते हो जनमेजय ! मृत्यु शरीर की एक अवस्थामात्र है, जहाँ आत्मा को सबसे अधिक शान्ति मिलती है ।

जनमेजय-ऐसी अकाल मृत्यु से नही !

उत्तरा रो पड़ती है ।

जनमेजय-घबड़ाओ नही राजमाता ! किसी भी मूल्य पर मैं यह होने नहीं दूंगा । मैं काल-तक्षक को ढूँढने जा रहा हूँ । तीनो लोक, चौदहो भुवनो में उसका पीछा करूँगा ! देखना हूँ, वह मेरे पजे से कैसे बच निकलता है । मै उसे भयानक कारागार में डालूंगा कि सात दिन क्या, सात कल्प तक उसे कोई रास्ता न मिले !

उत्तरा-जनमेजय, मुझे भी अपने सग ले चल ! मैं प्राण के बदले प्राण दूँगी । (पृष्ठ-भूमि में यह मत्र गूंज उठता है..."ओऽम् पूर्णमिद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।") पूरे सतीत्व की परीक्षा दूँगी ।

परीक्षित-नही, नही, मैं ऐसा नहीं । मनाओ जनमेजय को । रोको उसे । कुरुवश का सत्य निभाओ !

जनमेजय-हम कुरुवंश का सत्य निभाएँगे महाराज ! (रुक कर) आर्य ! आप शृंगी ऋषि के यहाँ जाइए । ऋषि-पुत्र को चुनौती दीजिए कि मृत्यु से जीवन का पल्ला बडा है (उत्तरा का प्रस्थान कराना है ।)

जनमेजय-(प्रस्थान देता हुआ) सारथी, रथ बढ़ाओ !

तेजी से रथ का प्रस्थान ।

परीक्षित-(उठ कर जाते हुए जनमेजय को रोक कर) जनमेजय, अपनी मर्यादा में रहो ।

जनमेजय-(नतशिर) मुझे आशीर्वाद दीजिए ।

शुक्देव-सावधान ! नियम की ही सत्ता सृष्टि है, परीक्षित ! जनमेजय की स्वतन्त्रता कहीं तुम्हे भी न गिरा दे !

परीक्षित-मेरी आज्ञा है जनमेजय, राजधानी को छोड़ तुम कहीं नहीं जा सकते ।

जनमेजय-राजधानी सँभालने के लिए आपके ने तीन बेटे खड़े हैं । सैन,

परीक्षित-लेकिन तुम धर्म का विरोध नहीं कर स

जनमेजय-विरोध नही आर्य, मैं उसी को ; जा रहा हूँ । कुरुवश के पुत्रो की यही मान्ता को पिता के लिए पुत्र । गाडीवधारी अर्जुन । अभिमन्यु, महाराज शान्तनु के लिए भीष्म हैं ।

परीक्षित-वे और वाले थी ।

जनमेजय-नहीं, यही बात थी, जीवन और मृत्यु की ! (रुक कर) याद आ गया । बचपन में मुझे राजमाता ने बताया था, कुरुक्षेत्र की लड़ाई में बेध अर्जुन, सर्प-कुडली की तरह सजी हुई दुर्योधन सेना को देखते ही मृत्युमय हो गये थे । आज भि-पता लग गया, यही वैरी तक्षक उस समय भी दृष्टि वहाँ ! (रुक कर) न जाने कब से यह हमारे रता पड़ा है ।

शुक्देव-(हँस कर) प्रतिशोध की ज्वाला में तुम्हारा विवेक भी जल रहा है ।

जनमेजय-शायद तभी मुझे दृष्टि मिल रही है । (आगे बढ़ता है) सारथी ! मत्र फूँको, बढ़ाओ रथ, तक्षक को अभी बदी करना है ।

परीक्षित–(घबड़ा कर) क्या करना चाहते हो तुम ?

जनमेजय–अपना धर्म ।

परीक्षित–और मेरा धर्म !

जनमेजय–आपका भी धर्म जीना है, इससे बढ़ कर संसार में कोई धर्म नहीं !

परीक्षित–लेकिन मेरे अपराध का दंड कौन भोगेगा ?

जनमेजय–समूचा राष्ट्र, केवल राजा नहीं। (रुक कर भाइयों की ओर) उग्रसेन, जाओ तुम राजधानी जाओ। शासन करो।

उग्रसेन–(शीश झुका कर) एवमस्तु।

जनमेजय–भीमसेन जाओ, तुम युद्ध की तैयारी

जन
ईश्वर–जो आज्ञा।

शुकदेव–श्रुतसेन ! तुम यहाँ गंगा-तट से ले कर परम [illegible] के आश्रम तक सावधान रहो।

नहीं दे[illegible]रोधार्य।

जनमेज[illegible] क्रमश: तीनों भाई चले जाते हैं

हैं, वह
मेजय–(आवेश में प्रस्थान करता हुआ) मन
ो, सारथी !

तक्ष भूमि में शङ्खध्वनि होती है और रथ चला
पुत्र।

जन न–(आसन पर आ, कातर स्वर से) यह
हम र हो रहा है, ऋषिनाथ ?

शुकदेव एक शक्तिपूर्ण हँसी बिखेर देते हैं।

[परी]क्षित–(भयभीत हो) शक्ति दो, मुझे भय लग [र]हा है।

शुकदेव–और मुझे हँसी लग रही है। जानते हो भय का कारण ? सब तुम्हारे मोह का अंधकार है।

परीक्षित–मुझे ज्ञान दो !

शुकदेव–बिना आस्था के ज्ञान पंगु होता है। (रुक कर) जनमेजय के कारण तुम अपने जीवन के मोह में आ गये, परीक्षित !

परीक्षित–नहीं, कभी नहीं।

शुकदेव–तो जनमेजय को उत्साह दें, अपनी शान्ति क्यों भंग की ? जानते हो, अनियमन से सृष्टि में आतंक फैलता है।

सहसा उत्तरा का प्रवेश।

उत्तरा–अभी नहीं ! मेरा जनमेजय नयी मानवता है।

परीक्षित–राजमाता !

उत्तरा–राजमाता नहीं, केवल तुम्हारी माँ, तुम्हारी, जिसे गर्भ में ही परीक्षा देनी पड़ी थी।

शुकदेव–परीक्षा.. ...तभी परीक्षित।

हँसते हैं, आसन से उठ कर पास रखे जलपात्र को उठा गंगा की ओर चले जाते हैं। दूसरी ओर से शृंगी ऋषि का प्रवेश।

परीक्षित–ओह, शृंगी ऋषि !

शृंगीऋषि–हाँ, राजन ! क्षमा माँगने आया हूँ।

परीक्षित–नहीं, क्षमाप्रार्थी तो मैं हूँ। अपराध मैंने किया है।

शृंगीऋषि–लेकिन वह इतना बड़ा अपराध नहीं कि आप जैसे चक्रवर्ती राजा को मृत्यु-दंड मिले। (रुक कर) ऐसे तामसी पुत्र को जन्म दे कर मैं स्वयं अपराधी हूँ।

उत्तरा आँचल में मुख छिपा लेती है।

शृंगीऋषि–रोओ नहीं, राजमाता ! मैं तब से कई बार तक्षक से मिला हूँ।

उत्तरा–(कौतूहल से) तो क्षमा दे दी उसने ?

शृंगीऋषि—मृत्यु के पास दया नहीं होती, राजमाता! लेकिन मेरे पास अगर परीक्षित को बचाने के लिए कोई भी शक्ति है तो मैं उसे अब भी न्योछावर करता हूँ।

उत्तरा—करो ऋषि। किसी भी मूल्य पर मेरे परीक्षित को बचा लो।

परीक्षित—नहीं, नहीं, कभी नहीं!

उत्तरा—परीक्षित!

परीक्षित—क्या करोगी इस अभिशप्त परीक्षित को जिला कर? जो मर गया उसे कब तक जिन्दा रख सकोगी?

उसी क्षण सहसा पृष्ठभूमि में तूफान आता है। गंगा की लहरें जैसे ऊपर उठ उठ कर आकाश में दौड़ने लगती हैं।

उत्तरा—जब तक मैं जिन्दा हूँ!

परीक्षित—(आतंकित हो) यह तूफान कैसा? ओह! अभी तक शुकदेव जी नहीं लौटे (आर्त पुकार) जनमेजय! श्रुतसेन! श्रुतसेन!!

श्रुतसेन का प्रवेश

परीक्षित—देखो, यह क्या है? रथ दौड़ाओ!

उत्तरा—मैं भी चलूँगी!

दोनों का प्रस्थान

शृंगीऋषि—कहीं से तक्षक भागा आ रहा है। पाताल-लोक से भागा आ रहा है, वही है।

तूफान थम जाता है। भयाकुल तक्षक का प्रवेश परीक्षित के चरणों पर आ गिरता है।

तक्षक—शरण दो,......शरण दो चक्रवर्ती। जनमेजय से मुझे बचाओ!

परीक्षित—शान्त कालनाग, इतनी दीनता न दिखाओ! जो मेरा धर्म हो गया, उसके लिए दीनता क्यों?

तक्षक—बचाओ मुझे।

परीक्षित—सुरक्षित हो तुम कालकूट! (याचना के स्वर में) लेकिन तक्षक, तुम मुझ पर एक कृपा करो।

तक्षक—कृपा?

परीक्षित—घबड़ाओ नहीं, सुनो, मैं हाथ जोड़ता हूँ, तुम मुझे आज ही डँस लो!

तक्षक—तो आप मुझे शरण देना नहीं चाहते?

परीक्षित—वह तो दे ही चुका। तुम सुरक्षित हो, लेकिन तुम मुझे आज ही डँस लो!

तक्षक—ऐसा नहीं हो सकता, कभी नहीं हो सकता।

परीक्षित—हो क्यों नहीं सकता? लो, विषदंश करो।

तक्षक—(डर कर) नहीं-नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। कभी नहीं, अभी जीवन के सात दिन बाकी हैं। जीवन मुझे ही डँस लेगा।

परीक्षित—नहीं दया करो तक्षक! मैं इन सात दिनों का भयंकर त्रास नहीं सह सकता।

तक्षक—जीवन सब कुछ सह लेता है राजन्! बड़ा चौड़ा है इसका वक्ष।

परीक्षित—मेरे साथ छल न करो, कालकूट!

तक्षक—लेकिन आज तो मेरे मुँह में विष ही नहीं है, राजा परीक्षित!

परीक्षित—मुझे डँस कर दिखाओ।

तक्षक—असम्भव।

परीक्षित—मैं स्वप्न देखता हूँ।

तक्षक—(क्रोध में) सावधान परीक्षित! शरण देकर मूल्य चुकाना चाहते हो? यही है तुम्हारी मर्यादा?

श्रृंगीऋषि–मर्यादा का ध्यान रखो, तक्षक !

तक्षक–(व्यंग्य से) ओह ! श्रृंगी ऋषि ! आप ?

श्रृंगीऋषि–भूलो नही, तुम्हे भी श्राप दिया जा सकता है ।

तक्षक–(फूट कर हँसने लगता है) मैं और श्राप ! (हँस कर) मुझे श्राप ! जानते हो, मैं स्वयं अपना श्राप हूँ । बोलो ऋषि ! चुप क्यों हो गये ? श्राप जीवन पर लगता है, मौत पर नही ।

श्रृंगीऋषि–भयानक !

तक्षक–मैं हो भयानक हूँ । (रुक जाता है) ऋषि, भयानक तुम हो, मुझसे सौ गुने भयानक । .. आश्रम में रहते हो, और यहीं तुम्हारे बेटे हिंसा करते हैं । वह मरा हुआ सांप जिसे राजा परीक्षित ने तुम्हारे गले में डाला, वह तुम्हारे बेटे ही का तो शिकार था । तुम्हे सावधान करने के लिए वह सांप तुम्हारे गले में लटका दिया गया तो इसमें राजा का क्या दोष ? चक्रवर्ती राजा राष्ट्र का धर्मराज भी होता है । (रुक कर) एक सर्प का प्राण लिया, उल्टे दूसरे व्यक्ति को दोषी बना उसकी जान लेने के लिए फिर सर्प का ही हाथ खून से रंगा । क्या यह कम भयानक है ?

परीक्षित–ऐसा न कहो तक्षक ! ऋषि मेरे अतिथि हैं उनका अपमान न करो सर्पराज !

तक्षक–शरणागत से बडा कोई अतिथि नही होता, राजा परीक्षित !

परीक्षित–(उठ कर उसे छिपाते हुए) जनमेजय से तुम सुरक्षित हो । आओ, यहाँ छिप जाओ ।

ऋषि–(साधु कंठ से) महान् हो राजा परीक्षित ! ओह, मृत्यु जीवन की शरण ! महान् हो तुम !

परीक्षित–आपको कष्ट हुआ, मैं लज्जित हूँ ।

ऋषि–नहीं, मैं लज्जित हूँ । तक्षक ने ठीक कहा है । (रुक कर) जो मृत्यु को शरण दे कर जीवन की परीक्षा दे, वह परीक्षित मुझे क्षमा करे । मैं तुम्हारी मुक्ति के लिए तपस्या करूँगा राजन ! (प्रस्थान करते हुए) ओ३म शान्ति ! ओ३म् शान्ति !

एकाएक पृष्ठभूमि में शंख ध्वनि के साथ कोलाहल उठता है । उसी बीच में उत्तरा के साथ जनमेजय का प्रवेश होता है ।

जनमेजय–(आवेश में) मुझे तक्षक चाहिए । यहाँ तक्षक आ छिपा है । बालो, कहाँ है वह ?······ आर्य, आप बोलते क्यों नहीं ? मुझे तक्षक चाहिए ।

परीक्षित–तक्षक मेरी शरण में है ।

उत्तरा–बंदी करो जनमेजय ! पकड लो उसे !

परीक्षित–धर्म के विरुद्ध चलने की राय मत दो माँ ! मेरी शरण से तक्षक को बंदी करने वाला इस संसार में कोई नहीं है ।

जनमेजय–मैं हूँ ।

परीक्षित–उसके लिए पहले मेरी मौत होगी, तब कहीं शरणागत बंदी होगा ।

उत्तरा–तक्षक ने तुम्हारे साथ छल किया है ।

परीक्षित–असंभव ! गंगा को साक्षी दे कर कहता हूँ, जब तक तक्षक मेरी शरण है, उसे कोई नहीं छू सकता ।

उत्तरा–धर्म निभ चुका परीक्षित, अब राजनीति निभने दो ।

उसी क्षण शुकदेव का व्यंग्य-हास उठता है ।

शुकदेव–(हँसी बंद करते हुए प्रवेश) धर्म और राजनीति ! काल के पुतलो ! किसका धर्म, किसकी राजनीति, किसके लिए, और क्यों ?

जनमेजय–रहस्य की भाषा जनमेजय नहीं समझता।

शुक्देव–नहीं समझते, तो देख लो तक्षक कहाँ है । परीक्षित, दिखा दो रहस्य के सत्य को ! (हँस कर) यहाँ क्या ढूंढते हो ? तक्षक चला गया यहाँ से, तुम देख नही सके । मौत को देख सकते हो तुम ?

जनमेजय(दुःख पूर्ण आश्चर्य से) भाग गया ? भाग गया तक्षक !

उत्तरा–छल करके भाग गया ? (आज्ञार्थक स्वर) जनमेजय, पीछा करो, जल, थल, वायु तीनों को बाँध लो। घेरे डाल दो महाबली !

शुक्देव–मौत और बंधन ! कौन बंदी करेगा तक्षक को ? वह कहाँ नही है ? जो दृश्य अदृश्य दोनों से परे है, उसे कौन बाँध सकता है ?

जनमेजय–जनमेजय ।

शुक्देव हंसते हैं ।

उत्तरा–पता नहीं क्यों महात्मन, आप इस समय सर्प का पक्ष ले रहे हैं ।

शुक्देव–वह काल सर्प नही, ईश्वर की इच्छा है ।

जनमेजय–तो ईश्वर की इच्छा विनाश है ? (रुक कर) अगर यही सत्य है, तो मैं तुम्हारे दर्शन से घृणा करता हूँ !

शुक्देव–घृणा, घृणा, प्रतिशोध, घृणा, ये सब मृत्यु की पोषक हैं, जीवन की नहीं । मुझे उनमें आस्था है, जो जीवन के तत्त्व हैं—प्रकृति, ब्रह्म आत्मा ।

उत्तरा–फिर मेरे पुत्र का कल्याण करो, महर्षि !

शुक्देव–कल्याण हो होगा जो मौत को शरण दे सकता है, जो श्रृंगीऋषि से अपनी मुक्ति के लिए तपस्या करा सकता है, वह मुक्त है.. मंगल चिर-मंगल !

जनमेजय–(व्यंग्य से) ऐसी मुक्ति, जो साँप काटने से होती है !

शुक्देव–तुम परीक्षित के अवसान को अपनी दृष्टि से क्यों नही देखते ?

जनमेजय–जो शून्य है, उसमें क्या देखूँ ?

शुकदेव–देखना होगा ।

जनमेजय–तो उसे देखने के लिए पहले पिता को मरने दूँ ?

शुकदेव–(एक क्षण उसे देख कर) मेरा एक उपदेश लो जनमेजय !

जनमेजय–(बीच ही में) क्षमा..... उपदेश मुझे ज्ञान नहीं देते, न कल्पना अनुभूति देती है । मैं वही हूँ, वही जानता हूँ, जो मेरा संघर्ष है । (रुक कर) किसने देखी है मौत के बाद की दुनिया ?

शुकदेव–(स्नेह से) सुनो, मैंने देखी है । यहाँ बैठो मैं एक-एक करके अमरत्व बताऊँगा !

जनमेजय–मुझे नहीं चाहिए.. मुझे केवल तक्षक चाहिए'!

शुक्देव–लेकिन यह परीक्षित को नहीं चाहिए । मौत से तुम डरे हो, परीक्षित नहीं । क्योंकि मौत को तुमने सदा भय की दृष्टि से देखा है, (रुक कर) तुम मौत पर दया क्यों नहीं करते, जनमेजय ? फिर तुम्हें मौत के बाद का अवसान देखने को मिल जाएगा !

पृष्ठभूमि से सहसा एक शक्तिपूर्ण हँसी उठती है और ऋषिपुत्र का प्रवेश होता है।

शुक्देव–(देखते ही) ऋषिपुत्र ! तुम यहाँ क्यों आये ? धर्म को राजनीति बनाना चाहते हो क्या ?

ऋषिपुत्र–मैं जनमेजय का अहंकार देखने आया हूँ !

उत्तरा–नहीं, नहीं, ऐसा नहीं !

परीक्षित–क्षमा ऋषिपुत्र !

जनमेजय–नहीं ऋषिपुत्र! मैं तुमसे क्षमा नहीं चाहता! तुम्हारी जो शक्ति हो, मुझ पर प्रयोग कर लो! (रुक कर) तुम्हें श्राप देने का अगर घमंड है, तो मुझे परीक्षित पुत्र होने की मर्यादा है!

ऋषिपुत्र–देखूंगा।

जनमेजय–अरे, तुम क्या देखोगे? मौन के उपासक! तुम नहीं समझते कि जीवन का कितना मूल्य है! (क्रोध से) ऋषि के बेटे! श्राप देते समय शायद तुम भूल गये कि इस चक्रवर्ती राजा के भी कोई बेटा है।

ऋषिपुत्र–हुआ करे? वह मेरे सत्य को नहीं पा सकता।

जनमेजय–यह भविष्य बताएगा कि किस बाप के बेटे में अधिक सत्य है। (विश्वास से) तुम श्राप हो तो मैं तपस्या हूँ! जला डालूँगा तेरे श्राप को!

ऋषिपुत्र हँसता है।

ऋषिपुत्र–अज्ञानी, तुझे कुछ पता भी है! तक्षक अपना रास्ता देख गया।

उत्तरा रो पड़ती है।

परीक्षित–मत लड़ो जनमेजय! मत लड़ो! शान्त हो जाओ!

जनमेजय–जनमेजय अभी जीवित है, राजमाता!

उत्तरा–मुझे शक्ति दो महाबली! विश्वास दो मुझे!

जनमेजय–राजमाता! दुश्मन के सामने यह रुदन! यह अधीरता! चेतना में आओ! जनमेजय के मस्तक पर रक्त का टीका करो! अब वह महाराज परीक्षित के चारों ओर चक्रव्यूह रचाएगा! असंख्य महारथियों से मैं इस भूमि को पाट दूंगा। गंगा की पूरी धरती पर विषमार दवाइयाँ बिखेरूंगा। प्रकृति पर भी विजय पाने वाले अमरत्व वैद्यों को यहाँ बैठाऊँगा! (रुक कर) जाओ ऋषिपुत्र! तुम भी तक्षक के साथ जाना.. ...जाओ, तैयारी करो! ..चले जाओ यहाँ से!

जनमेजय की पूरी बात समाप्त नहीं हो पाती, तभी व्यंग्य से हँसता हुआ ऋषिपुत्र बाहर चला जाता है।

जनमेजय–(उसी आवेश में) श्राप बाज़ो, जाओ! तुम्हारा श्राप तुम्हीं पर उतरे!

धीरे-धीरे रंगमंच की सारी रोशनी समाप्त हो जाती है। एक क्षण के लिए रंगमंच अंधकारमय, सुनसान पड़ा रहता है। धीरे-धीरे मंत्र का स्वर उभरने लगता है

निरस्त निखिला ज्ञान ज्ञानाज्ञान विलक्षणम्।
पूर्णानन्द किमपि तन्नीलरत्नमहं भजे॥

और इसी के साथ रंगमंच पर प्रकाश आने लगता है। लौट कर आये हुए प्रकाश में हम फिर शुकदेव और परीक्षित को उसी मुद्रा में बैठे पाते हैं, जैसे नाटक के आरम्भ में।

शुकदेव–राजा परीक्षित!

परीक्षित–हाँ भगवन!

शुकदेव–परीक्षित, सुनो! यह जगत् मन का विलास है! और यह विराट् ही विविध लोकों की सृष्टि, स्थिति और संहार की लीलाभूमि है!

परीक्षित–भगवन्! एक जिज्ञासा है मेरी।

शुकदेव–क्या?

परीक्षित–महाभारत के उपरान्त भगवान् कृष्ण की क्या लीला थी? मैं वह कथा सुनना चाहता हूँ।

शुकदेव–(हँस कर) वह यदुवंशियों पर श्राप की कथा है। समस्त यदुवंशियों का संहार हो गया। और जिस श्राप से यह हुआ, वह विनाश-शक्ति जरा नामक बहेलिये का शर बन कर कृष्ण के तलवे में बिंध गयी।

रंगमंच का सारा प्रकाश लुप्त हो जाता है और पृष्ठ भूमि में एक धौंसे पर एक एक करके छह प्रहार होते हैं, फिर यह मत्र उठता है—"योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्म रूपिणे। संसार सर्पदष्ट यो विष्णुरातममूमुचत्।"

जहां मत्र समाप्त होता है वहां धौंसे पर सातवां प्रहार शक्तिपूर्ण ढग से होता है! फिर सारा वातावरण एक ही क्षण में, शंख ध्वनि, रणभेरी के तुमुलनाद से भर जाता है। धीरे धीरे रंगमंच पर प्रकाश लौटता है, जहां हम देखते हैं कि रंगमच पर परीक्षित के तीनो पुत्र, दो अन्य महारथियों के साथ परीक्षित को घेर कर खड़े हैं, पास कश्यप नामक वैद्य बैठा है, दूसरे किनारे युद्धवेष में राजमाता उत्तरा खड़ी है। परीक्षित समाधि लगाए निश्चल मौन बैठे हैं।

शुकदेव—(पृष्ठभूमि के जन-कोलाहल और रणभेरी के तुमुल नाद को समाप्त करते हुए) शात हो! बद करो यह रणभेरी, बद करो, शात! शात हो! ...शात!

पृष्ठभूमि में शान्ति फैलने लगती है।

शुकदेव—तुम्हारी शक्ति का फल युद्ध नहीं, शान्ति है। (रुक कर) किससे युद्ध करने आये हो? तुम्हारे युद्ध की नीति क्या है? क्या उद्देश्य है तुम्हारा?

उत्तरा—यह सब मुझे मालूम है। उस उत्तरा माँ को सब ज्ञात है। मैं वह माँ हूँ, जिसने अश्वत्थामा का तेजस्वी ब्रह्मास्त्र देखा है, जिसने कुरुक्षेत्र की रण-सज्जा देखी है। हमारी यह शक्ति आत्मरक्षा के लिए है, आक्रमण के लिए नहीं।

शुकदेव—लेकिन यह धर्म-भूमि है। यहाँ परीक्षित की मुक्ति के लिए भक्ति हो रही है।

उत्तरा—मेरे पुत्र की मुक्ति यह राजसेना देगी!

शुकदेव—(क्रोध से) पर लड़ाई होगी किससे?

उत्तरा—तक्षक से।

शुकदेव—नहीं, जिसे तुम इतना भयानक शत्रु मान बैठी हो वह अकेला है, कोई सेना नहीं। वह अकेला है, सूक्ष्म अकेला, और सब जगह है।

उत्तरा—कोई बात नहीं! चारों ओर मेरे महारथी खड़े हैं। चारों ओर अमोघ औषधियों के साथ महावैद्य बैठे हैं।

उसी समय पृष्ठभूमि में कोई जनमेजय का नाम ले-ले कर पुकारने लगता है।

उत्तरा—कौन है, जनमेजय को पुकारने वाला? (बाहर निकल जाती है और स्वय जनमेजय को ढूंढती हुई पुकारने लगती है।)

उत्तरा—(आ कर, जैसे सब से पूछती हुई) कहाँ है मेरा जनमेजय? बोलते क्यों नहीं, मेरा बाहुबली कहाँ गया?

श्रुतिसेन—सैन्य सचालन कर रहे हैं।

शुकदेव—सचालन तो कर रहा है, पर जनमेजय यहाँ नहीं है। वह पिता से रूठ कर कहीं चला गया।

उत्तरा—असम्भव!

शुकदेव—जब तक यहाँ जनमेजय उपस्थित था, परीक्षित की समाधि ही नहीं लगती थी। क्योंकि जनमेजय को देख कर जीवन से मोह होता था। समाधी और मोह!

उत्तरा—यह तुम्हारा छल है, यह सत्य नहीं हो सकता। (रुक कर) अब ध्यान आया, मेरा बाहुबली जनमेजय सुमेरु पर्वत से सजीवनी बूटी लाने गया है! वह अभी आता है।

शुकदेव—(हँस कर) यह दृश्य-जगत् मन का स्वप्न है, आर्या!

पृष्ठ भूमि में फिर तूफान उठता है, राजमाता और परीक्षित पुत्र सावधान होते हैं।

उत्तरा–(घबड़ाहट से पुकारने लगती है) जनमेजय! जनमेजय!! आह! मेरा जनमेजय कब तक लौटेगा?......श्रुतसेन!

श्रुतसेन–क्या है राजमाता?

उत्तरा–देखो...वह देखो... वह तक्षक आ रहा है... ..बंदी करो...बंदी करो!

शंख-ध्वनि के साथ, पृष्ठभूमि में रणभेरी बज उठती है।

कोलाहल उभरने लगता है। लेकिन कुछ ही क्षणों में शांत होने लगता है।

उत्तरा–आगे न बढ़ना...आगे न बढ़ना तक्षक! रुक जा वहीं!

श्रुतसेन–भीमसेन, उग्रसेन कहाँ हैं? राजमाता, कहाँ है वह तक्षक?

उत्तरा–(डरी हुई) वह है! वह है......देखते नहीं?

श्रुतसेन–कुछ नहीं दीखता!

भीमसेन–शून्य है वहाँ!

उग्रसेन–कहाँ?

श्रुतसेन–कहाँ देख रही हो राजमाता? मुझे दिखाओ!

उत्तरा–वह देख रही हूँ देखते क्यों नहीं, वह बढ़ा चला आ रहा है।

श्रुतसेन–ओह, मुझे क्यों नहीं दीखता!

भीमसेन–उग्रसेन कहाँ है? आह, कहाँ है?

उत्तरा–आह! वह आ गया...देखो, बाण चलाओ...कृपाण से वार करो!

सम्मिलित स्वर–कहाँ? कहाँ...हमें तक्षक नहीं दीख रहा है। दृष्टि दो हमें! कहाँ है हमारा शत्रु?

उत्तरा–(करुणा से) कैसे दिखाऊँ! तुम सब देखते क्यों नहीं? इतने महारथी यह शक्तिमय सेना क्या अंधी हो गयी? (रो पड़ती है) देखो... वह देखो, तक्षक आ गया।

तक्षक का प्रवेश पृष्ठभूमि में और रंगमंच पर 'जनमेजय' 'जनमेजय' की आर्त पुकार उठती है।

उत्तरा–(भिक्षा के स्वर में) तक्षक! आज मैं तेरी शरण हूँ, मेरे परीक्षित को मत डँस नहीं तो मुझे कौन शरण देगा! अपने से डरो, कालकूट! (अधीरता से) नहीं, नहीं, अब आगे मत बढ़ो, रुको.. रुक जाओ!

श्रुतसेन–मौत के पास दया नहीं होती राजमाता! (आवेश में) यह लो मेरी तलवार!

भीमसेन–और मेरा धनुष-बाण लो!

श्रुतसेन–तक्षक पर प्रहार कर दो, राजमाता! मौत से भिक्षा नहीं मिलती!

उत्तरा पृथ्वी पर निष्क्रिय बैठी रह जाती है।

श्रुतसेन–ओह! यह क्या हो गया? (रुँधे कंठ से) इतनी ठंडी! उठ तक नहीं सकती?

उत्तरा–मैं निष्क्रिय हो चुकी! (गिरी वाणी से) मेरी दृष्टि तक्षक से मिल गयी। आज तक्षक के अणु-अणु में विष भरा है! मैं तक्षक से बँध गयी! (पुकारने लगती है) जनमेजय! जनमेजय!! जल्दी आ, मैं तक्षक से बँधी हूँ!

श्रुतसेन–तक्षक को बाँधे रखिए! वह बढ़ने न पाए मैं जनमेजय को ढूँढ लाता हूँ।

उत्तरा–नहीं, मत हटो यहाँ से...जनमेजय का बनाया हुआ व्यूह मत तोड़ो, (रुक कर) वह देखो...

सुनो महारथियो ! देखो ..वह देखो, तुम्हारा गज में बड़ा वैद्य कश्यप तक्षक से संधि कर रहा है। आक्रमण क्यों नहीं करते उस पर .. ...मारो उसे !

सहसा रंगमंच का सारा प्रकाश सिमट कर कश्यप और तक्षक पर केन्द्रित हो जाता है, जैसे रंगमंच पर केवल वही दो है, शेष अन्धकार में शून्य हो उठता है।

तक्षक–तो तुम सर्प-विष के इतने बड़े चिकित्सक हो ? ‍हूं ! क्या चाहते हो ? मुँहमाँगा दे सकता हूँ, खुल कर माँग लो।

कश्यप–(धन का संकेत करता है।)

तक्षक–बस ! .. .. और कुछ नहीं !

कश्यप–(प्रसन्नता से सिर हिलाता है।)

तक्षक–यह लो अपार धन ! इतनी मणियाँ, हीरे जवाहिरात !

कश्यप ग्रहण करता है।

तक्षक–चले जाओ यहाँ से ! भाग कर छिप जाओ कहीं, ऐसा छिपो कि सूर्य की किरण तुम्हें न पा सके चले जाओ !

कश्यप–मुझे डर लग रहा है।

तक्षक–किसी का डर नहीं। आओ, कोई भय नहीं। इस सेना के महारथियों से मत डरो ! (हँसता है) जानते नहीं, यह सारी सेना अंधी खड़ी है, आँखें है, पर किसी के पास दृष्टि नहीं। तुम शांति से चले जाओ.. तुम्हें कोई नहीं देख सकता ! आज ही मैंने सबकी दृष्टि हर ली है। जाओ...चले जाओ।

कश्यप चला जाता है फिर धीरे-धीरे पूरे रंगमंच पर प्रकाश फैल जाता है। तक्षक परीक्षित की ओर बढ़ने लगता है।

उत्तरा–मत डँसो मेरे परीक्षित को, कालकूट ! तुझे दो हत्याएँ लगेंगी। सोच लो......तुम उसे डँसने जा रहे हो, जिसने तुम्हें शरण दी थी। अरी मौत ! तू जीवन को मत डँस, नहीं तो तुझे शरण कौन देगा ! (बेहोश हो जाती है।)

जहरीले फुंकार से तक्षक परीक्षित के पास पहुंच जाता है।

शुकदेव–विषदंश करो न ! करो विषदंश !

तक्षक–ओह ! यह छल ! मेरे विषदंश के पहले ही परीक्षित मर गया। जीवन का यह विश्वासघात ! मैं बदला लूँगा !

शुकदेव–शव में ही विषदंश करो, तक्षक ! तेरी मर्यादा निभ जाएगी ! पूरा कर लो ऋषि-पुत्र का शाप ! जानता है ? प्रकृति मृत्यु दे सकती है, पर प्राणों को अभिशप्त नहीं कर सकती !

तक्षक–(पागल-सा, आत्मग्रस्त) अब मैं अपने विष को कहाँ ले जाऊँ ?

शुकदेव–(हँसते हुए) एक क्षण की देरी में जीवन तुझे पीछे छोड़ गया ! तू अब स्वयं जल, अपने विष से !

तक्षक–मेरे विष के लिए प्राण चाहिए। तक्षक प्राण चाहता है। प्राण, रक्त, चेतना !

शुकदेव–अब वह यहाँ नहीं है।

तक्षक–(गिड़गिड़ा कर) क्षमा महर्षिराज ! बचाओ मुझे ! मैं अपने विष से जला जा रहा हूँ ! बताओ, कहाँ ले जाऊँ इतना विष ! मुझे मार्ग दो, नहीं तो अपने विष से मैं स्वयं भस्म हो जाऊँगा !

उसी क्षण आवेश में जनमेजय आता है।

जनमेजय–कहाँ है तक्षक ? कहाँ है ?

तक्षक–मैं हूँ ! मेरा सारा विष मुझी में है ! मुझे प्राण चाहिए, महाबली ! मेरे साथ विश्वासघात हुआ है, मैं बदला लूँगा .....!

शुकदेव–जनमेजय ! मृत्यु को प्राण बताओ ! इसके विष का पथ निर्देश करो परीक्षित पुत्र !

जनमेजय–(क्रोध से) जाओ, उस कलियुग को विषदंश करो तक्षक, जिसने परीक्षित के साथ विश्वासघात किया ! ...चलो...अभी बढ़ो...उन सब को डँसो, कालकूट ! जो मृत्यु का अभिशाप देते हैं ! (पूरी शक्ति से चलाता हुआ) चलो तक्षक...... चले जाओ, चले जाओ...जाओ !

क्रोध से जलता हुआ तक्षक बाहर भागता है। उत्तरा को चेतना आती है। सब के ऊपर तेजी से पर्दा गिरता है।

रामधारीसिंह 'दिनकर' | आगे क्या लिखूँगा ?

आगे क्या करना है, ऐसे प्रश्नों के सही जवाब तो पंचवर्षीय या दसवर्षीय योजना वाले ही दे सकते हैं। किन्तु, उनके भी उत्तर सोलह आने ठीक नही उतरते, क्योंकि उत्पादन का लक्ष्य कभी समय से पहले पूरा हो जाता है और कभी वह बहुत बाद को पूरा होता है। कुछ ऐसी भी योजनाएँ होती हैं जो पूरी होती ही नहीं। तब किसान हैं, जिनसे बैसाख में आगे का कार्यक्रम पूछिए, तो अनायास कह देंगे, कि क्यों, सावन में धान के बिरार जमाएँगे, भादों में उन्हें रोपेंगे, और अगहन-पूस में अनाज घर लाएँगे। किन्तु, ये केवल मनसूबे हैं। असल बात यह है कि वर्षा ठीक समय पर होगी या नहीं, नदियों में अचानक बाढ़ तो नहीं आएगी, अथवा भयानक सूखा तो नहीं पड़ जाएगा ?

जो बात किसानों के संबंध में सही है, वही लेखकों के बारे में भी ठीक लगती है। योजना बना कर काम करना काम करने का अच्छा ढंग है, किन्तु लेखक और किसान, ये प्रायः योजना नहीं बना पाते। ऋतु के अनुसार, उनका काम स्वयमेव आगे बढ़ता है और उनकी प्राप्ति भी उतनी ही होती है जो अप्रत्याशित बाधा-विघ्नों से बच जाती है। इस दृष्टि से विचार करने पर, आगे मैं क्या लिखूँगा, इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन हो जाता है, क्योंकि क्या पता है कि जो कुछ मैं आज कहूँगा, वह कल पूरा हो होगा। मन के खेत में भावों, विचारों और कल्पनाओं के अनेक बीज भरे पड़े हैं। वे रोज अंकुरित होते और कुछ-कुछ रोज बढ़ते हैं। किन्तु दुनिया तो उनका फल तभी चखेगी जब कोई अप्रत्याशित बाढ़ नहीं आए, अतिवृष्टि की बाधा नहीं हो। अतएव, जो कुछ मैं कहूँगा उसे आप मेरा मनसूबा भर मानिए। इसकी कोई गारंटी नहीं है कि ये मनसूबे पूरे ही हो जाएँगे।

सद्यः, मेरे आगे सबसे पहला काम 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक ग्रंथ को पूरा करने का है। यह पुस्तक एक ही जिल्द के अन्दर चार खंडों में होगी। तीन खंड इसके छप चुके हैं। चौथे खंड की सामग्री के लिए महीनों से समय की तलाश में था कि कब थोड़ी निश्चिन्तता हो कि यह खंड भी लिख डालूँ। किन्तु, ऐसा संयोग कि पिछले २३ दिसंबर को अनेक अन्य पांडुलिपियों के साथ यह सामग्री भी खो गयी। निदान, उसे फिर से तैयार कर रहा हूँ और कोशिश में हूँ कि मई मास तक यह पुस्तक प्रकाशित हो जाए। संस्कृति के चार अध्याय, असल में, भारतीय संस्कृति के चार सोपान हैं। पहला सोपान वह है जब आर्य भारत में आये और आर्येतर जातियों से मिल कर उन्होंने आर्य, हिन्दू अथवा भारतीय संस्कृति की नींव रखी। दूसरा सोपान वह है, जब इस स्थापित हिन्दुत्व में पार्श्वनाथ और महावीर ने सुधार और बुद्धदेव ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। तीसरा सोपान वह है, जब मुसलमान विजेता बन कर आये एवं इसलाम की टकराहट से हिन्दुत्व के भीतर नयी स्फूर्ति उत्पन्न हुई। एवं चौथा सोपान वह है, जब भारतवर्ष और यूरोप, भारत की ही भूमि पर मिले और इस मिलन से वह सांस्कृतिक नवोत्थान उठा, जिसका प्रवाह आज भी चल रहा है। यह तो पुस्तक का ऐतिहासिक दिग्दर्शन है, वैसे मैं यह ग्रंथ सामाजिक संस्कृति की खोज के लिए लिख रहा हूँ। अतएव, यह पुस्तक इतिहास नहीं, साहित्य की ही चीज होगी।

जब यह महाग्रंथ समाप्त हो जाए तब कविता की परिचित भूमि की ओर लौटने का विचार है। किन्तु राह में एक और काम है जिसे पूरा कर लेना है। कोई दो वर्ष पूर्व मैंने, अचानक ही, थोड़ी कहानियाँ लिख डाली थीं। किन्तु, शुद्धत वे कहानियाँ नहीं हैं। उनका मूल आकर्षण दर्शन और कवित्व का आकर्षण है। हाँ, ढाँचा उनका कहानी का अवश्य रखा गया है। असल में, ये कथाएँ, कविता, कहानी और दर्शन के त्रिमुहाने पर खड़ी हैं और उनके भीतर, प्राय, उसी प्रकार का ठिठरा या गाढ़ा रस है जो रस हमें खलील जिब्रान की रचनाओं में मिलता है। ये कहानियाँ मैंने क्यों शुरू की, कुछ ठीक समझ में नहीं आता। साहित्य का सबसे अधिक केन्द्रित आनन्द काव्य में होता है और आनन्द का यह केन्द्रीकरण प्रबन्ध-काव्य से अधिक स्फुट कविताओं में उतरता है। किन्तु मेरी ये कहानियाँ कविता से कुछ नीचे रह जाती हैं। एक बात और है कि इधर हाल में, कविता की चढ़ाई मुझे बहुत कठिन दिखाई देने लगी है। जहाँ तक पहुँचने की क्षमता है, वहाँ डेरा डाल कर पड़ा रहना पसंद नहीं और जहाँ जाना चाहता हूँ, वहाँ तक ऊपर उठने में थकान महसूस होती है। ऐसी दशा में मन कभी-कभी कविता के घेरे से बहक कर बाहर निकल जाता है और तब जो लकीरें बन जाती हैं, वे ही मेरी कहानियाँ हैं। पता नहीं, पाठकों को ये कहानियाँ कैसी लगेंगी, किन्तु नाम उनका मैंने 'उजली आग' रखा है यानी वह आग जिसमें धुआँ नहीं होता, जिसमें ज्वालाएँ नहीं उठती, जो सुस्थिर, अकंप अंगारों का पुंज है। आग और पानी का भेद मिटा दें तो यह 'नील कुसुम' के आमुख का ही प्रतिरूप है। 'नील कुसुम' में जो तत्त्व 'आसिन का दर्पण-सा जल' है, कहानियों में उसी का नाम 'उजली आग' हो गया है।

'उजली आग' के बाद मैं फिर से शुद्ध कविता की भूमि में वापस आना चाहता हूँ। कविता में भी एक चीज अधूरी पड़ी है, जिसका नाम 'उर्वशी' है। उर्वशी नाम से यह नहीं समझना चाहिए कि हिन्दी को मैं रवि बाबू की उर्वशी के समान कोई अतीन्द्रिय स्वप्न देने जा रहा हूँ अथवा इसमें सौन्दर्य की छायावादी अनुभूति होगी। मेरी सीमाएँ अब सब लोग जानते हैं। साकार को निराकार करने की अपेक्षा निराकार को ही साकार बनाने का काम मुझे कुछ अपने बस का मालूम होता है। अभी काव्य का प्रारम्भिक अंश ही लिखा गया है। अतएव, यह कहना कठिन है कि उसका निर्वाह और

परिणति कैसी होगी। किन्तु, अपने स्वभाव को मैं जानता हूँ और मुझे यह भी पता है कि सामाजिकता की छाप मेरा महान से महान रचना पर भी, अनायास ही पड़ जाती है। अतएव, उर्वशी इस बार बुरी फँसी है। कालिदास और रवीन्द्रनाथ की मोहिनी इस बार एक ऐसे कवि के हाथों पड़ी है, जिसकी उँगलियाँ खुरदुरी और खूनर है, तथा जिसकी कलम मिट्टी के रस में भीगते-भीगते पूर्ण रूप से मटमैली हो चुकी है।

यहाँ तक के काम तो दिखाई देते हैं, जिन्हें सम्भवतः बरस दो बरस में पूरा हो जाना चाहिए। इसके बाद क्या करूँगा, ठीक बता नहीं सकता। प्रबन्ध काव्य लिखने से अभी तृप्ति नहीं हुई है। लगता है, 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' की रचना में जो अनुभव हुआ, वह किसी अगले काव्य में काम आएगा। रोज सुनता हूँ कि यह युग प्रबन्ध-काव्य का नहीं है, किन्तु मन इसे मानने को तैयार नहीं दीखता। लोग यूरोप की बात भारतवर्ष में दुहरा रहे हैं। प्रबन्ध-काव्य ही क्या, यूरोप में तो काव्य-मात्र का युग निकल चुका है। तो क्या भारतवर्ष यूरोप का नवीन संस्करण बनेगा? या उसके व्यक्तित्व में कुछ अपनी भी विशेषताएँ शेष रहेंगी? काव्य के क्षेत्र में मुझे तो अपना देश प्रबन्ध-काव्यों का देश दिखाई देता है। यह सिर्फ इसलिए नहीं कि अतीत काल में यहाँ कविता की सर्वाधिक सेवा प्रबन्ध काव्यों द्वारा ही हुई, बल्कि इसलिए भी कि आज भी इस देश की जनता प्रबन्ध-काव्यों के लिए जो उत्साह दिखाती है, वह स्फुट काव्यों के लिए नहीं दिखाई देता। यह सच है कि पहले जो काम प्रबन्ध काव्य करते थे, वही काम अब उपन्यासों ने उठा लिया है और वे इस काम को बड़ी ही खूबी के साथ कर भी रहे हैं। किन्तु, भारतीय मत में तो उपन्यास खुद काव्य है। हाँ, यह बात और है कि उसका रस काव्य-रस की अपेक्षा जरा पतला पड़ता है। फिर भी, मुझे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उपन्यास और प्रबन्ध काव्य साथ-साथ चल सकते हैं, कम-से-कम तब तक तो चल ही सकते हैं जब तक कि एक एक करके प्रत्येक पाठक की मनोदशा खंडित नहीं हो जाती अथवा उसकी यह अवस्था नहीं हो जाती कि वह केवल विटामिन की गोलियाँ खा कर जी सके, तथा उसे साग-सब्जी और अनाज खाने की जरूरत ही नहीं रह जाए। लेकिन, तब तो मनुष्य उपन्यास से भी भागेगा, क्योंकि उपन्यासों में केवल विटामिन ही नहीं होता। साग सब्जी और अनाज की तो बात ही क्या, अधिकांश उपन्यास तो भूसे को भी नहीं छोड़ते। भूसे ही तो हैं, जो उपन्यासों के आकार को इतना विशाल बना देते हैं। किसी समय यदि विटामिन की गोली खाकान का अनावश्यक बना दे तो मात्र विटामिन पर जीने वाले मनुष्य की कविता मंत्र, और समस्त साहित्य सूत्र हो जाएगा, इसमें सन्देह नहीं।

किन्तु, मैं विटामिन-युग से बहुत दूर उस युग का प्राणी हूँ जिसमें अनाज और भूसा, दोनों की खपत है, जिस युग में विटामिन खाने वाले लोग भी अनाज खाते हैं, बल्कि, जिस युग की स्पष्ट घोषणा है कि फल और तरकारी को छील कर खाने से आदमी विटामिन के अधिकांश से वंचित हो जाता है।

इसलिए, मेरा ख्याल है कि प्रबन्ध काव्य न तो अनावश्यक साहित्य है और न अस्वाभाविक प्रयास। सच तो यह है कि अपने भावों और विचारों को मूर्त रूप देने में, उन्हें चित्रों में परिवर्तित करने में जैसी सुविधा मुझे प्रबन्ध-काव्य में दीखती है, वैसा स्फुट कविता में नहीं। स्फुट कविता पर मेरा वश भी नहीं है। टहनी को चीर कर फूल आप-से-आप खिल उठते हैं। यह हुआ स्फुट काव्य। फूलों को चुन कर माली गजरा तैयार करता है, यह हुई प्रबन्ध-कविता। जहाँ तक फूलों के, स्वतः, खिल उठने का प्रश्न है, प्रबन्ध-कविता भी प्रेरणा की अधीनता में चलती है। किन्तु, फूलों से हार गूँथने का काम कला है, कौशल है, चातुर्य है, जो अनुभव से बढ़ता जाता है।

प्रबन्ध-कविता लिखने में भी भाव और लक्ष्य मुझे पहले दिखाई देते हैं, प्रबन्धकत्ता के उपयुक्त कथानक बाद में। अगले प्रबन्ध-काव्य का कथानक अभी दिखाई नहीं दे रहा है, किन्तु भावों का आभास कई वर्षों से मिलने लगा है। ये भाव हैं जीवन के छिपे हुए भेदों के, यह जिज्ञासा है यह जानने की कि जन्म के पहले क्या था और मृत्यु के बाद क्या होगा ? क्या विज्ञान और धर्म परस्पर-विरोधी तत्त्व हैं ? यदि हाँ, तो दोनों में से कौन सत्य है ? यदि नहीं तो यह विरोध कहाँ से आ गया ? क्या धर्म को अनादृत करके मनुष्य ने कोई श्रेष्ठ कार्य किया है ? किन्तु ईश्वर की सत्ता तो सिद्ध नहीं की जा सकती ? तो क्या हम बुद्धि को ले कर सन्तुष्ट बैठ जाएँ, या उस शक्ति का भी आदर करें जो यह संकेत देती है कि बुद्धि बहुत कुछ होती हुई भी सब कुछ नहीं है ? अथवा क्या ईश्वरहीन धर्म चलाया नहीं जा सकता ? बुद्ध ठीक थे या गाँधी सही हैं ? आइन्स्टीन और परमहंस रामकृष्ण के बीच समता कहाँ पर है ? और कैसे हम एक को ले कर दूसरे का बिलकुल त्याग कर सकते हैं ?

पानी के बुलबुलों जैसे ये छूँछे प्रश्न जिनका न तो आर मिलता है, न छोर। सोचते-सोचते दिमाग फटने लगता है और अपने मस्तिष्क की चरमराहट आप सुनाई दे जाती है। किन्तु कहने लायक कोई बात नहीं मिलती। शंकाओं में डूब कर उतरा रहा हूँ। मेरा अगला काव्य क्या इन्हीं शंकाओं का काव्य होगा अथवा कोई किरण झलक दिखा जाएगी, कौन जाने !

ꝏꝏꝏ

धर्मवीर भारती | अंधा युग*

कथा-गायन :

आसन्न पराजय वाली इस नगरी में
सब नष्ट हुईं पद्धतियाँ धीमे-धीमे

यह शाम पराजय की, भय की, संशय की
भर गये तिमिर से ये सूने गलियारे
जिनमें झूठा बूढ़ा भविष्य याचक-सा
है भटक रहा टुकड़े को हाथ पसारे

अंदर केवल दो बुझती लपटें बाकी
राजा के अंधे दर्शन की बारीकी
या अंधी आज्ञा माता गांधारी की

वह संजय जिसको यह वरदान मिला है
वह अमर रहेगा और तटस्थ रहेगा
जो दिव्य दृष्टि से सब देखे-समझेगा
जो अंधे राजा से सब सत्य कहेगा

जो मुक्त रहेगा ब्रह्मास्त्रों के भय से
जो मुक्त रहेगा उलझन के संशय से

*'अंधा युग' एक नये ढंग का, ५ अंकों का दृश्य काव्य है, जिसमें महाभारत के प्रतीकों को उठाया गया है। इसका कथाकाल है, महाभारत के अन्तिम दिन की संध्या से ले कर कृष्ण की मृत्यु की घड़ी तक। कृष्ण महाभारत की समस्त जटिल परिस्थितियों और आचरण की उलझी हुई मर्यादाओं के सूत्रधार थे, किंतु पांडवों को विजय दिला देने के उपरांत उन्हें स्वतः गान्धारी का शाप झेलना पड़ा था, जिसके फलस्वरूप उनकी मृत्यु हुई। कहते हैं, उनकी मृत्यु के क्षण से ही द्वापर समाप्त हो गया और कलियुग का प्रथम चरण प्रारम्भ हुआ।

युद्ध और युद्धोत्तर कटुताओं ने समस्त मानवीय मर्यादाओं को उलट-पलट दिया था, और उस अव्यवस्था

वह संजय भी
इस मोहनिशा से घिर कर
है भटक रहा
जाने किस कंटक पथ पर

संजय तटस्थ द्रष्टा शब्दों का शिल्पी है
पर वह भी भटक गया असमंजस के वन में
दायित्व गहन, भाषा अपूर्ण, श्रोता अंधे
पर सत्य वही देगा उनको संकट क्षण में

वह संजय भी
इस मोहनिशा से घिर कर
है भटक रहा
जाने किस कंटक पथ पर

पर्दा उठने पर वनपथ का दृश्य। कोई योद्धा बगल में अस्त्र रख कर वस्त्र से मुख ढाँप सोया है। संजय का प्रवेश।

संजय

भटक गया हूँ
मैं जाने किस कंटक वन में
पता नहीं कितनी दूर और हस्तिनापुर है
कैसे पहुँचूँगा मैं ?
जा कर कहूँगा क्या
इस लज्जाजनक पराजय के बाद भी
क्यों जीवित बचा हूँ मैं ?
कैसे कहूँगा मैं
कमी नहीं शब्दों की आज भी
मैंने ही उनको बनाया है
युद्ध में घटा जो जो
लेकिन आज अन्तिम पराजय के अनुभव ने
जैसे प्रकृति ही बदल दी है सत्य की
आज कैसे वही शब्द
वाहक बनेंगे इस नूतन अनुभूति के ?

सहसा जाग कर वह योद्धा पुकारता है—'संजय'।

किसने पुकारा मुझे ?
प्रेतों की ध्वनि है यह
या मेरा भ्रम ही है ?

कृतवर्मा

डरो मत
मैं हूँ कृतवर्मा !
जीवित हो संजय तुम ?
पांडव योद्धाओं ने छोड़ दिया
जीवित तुम्हें ?

संजय

जीवित हूँ !
आज जब कोसों तक फैली हुई धरती को
पाट दिया अर्जुन ने
भूलुंठित कौरव कबन्धों से,
शेष नहीं रहा एक भी
जीवित कौरव वीर
सात्यकि ने मेरे भी वध को उठाया अस्त्र;

में सभी पात्र उलझ गये थे। पहले अंक में धृतराष्ट्र और गान्धारी बैठे हुए संजय की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जो अन्तिम दिन के युद्ध का समाचार लाने गया है। धृतराष्ट्र इस पराजय के क्षण में सहसा दार्शनिक हो उठे हैं, (यद्यपि जीवन भर वे ममता में अंधे रहे) और गांधारी, जिनका विवेक जीवन-भर अकुंठित रहा, अकस्मात् मातृत्व की ममता से पागल हो उठी है। विदुर, धृतराष्ट्र और गांधारी से वार्तालाप कर ही रहे हैं कि एक वृद्ध ज्योतिषी आता है, जिसने कौरवों की विजय घोषित की थी किंतु पराजय के क्षण में वह निराश्रित है और याचक बन कर गांधारी के पास आता है, गांधारी उसके मुख से दुर्योधन की जयजयकार सुन कर मुद्राएँ देती है, यद्यपि जानती है कि यह जय का आशीर्वाद झूठा है। समस्त कौरव-नगरी सूनी है, भयभीत है, घायलों और विधवाओं के क्रन्दन से गूँज रही है।

(पहला अंक और इस दृश्य काव्य के शिल्प-विधान और विषय-वस्तु के लिए द्रष्टव्य—'नई कविता'—२)

अच्छा था
मैं भी
यदि आज नहीं बचता शेष,
किन्तु कहा व्यास ने, 'मरेगा नहीं
संजय अवध्य है'

कैसा यह शाप मुझे व्यास ने दिया है
अनजाने में
हर संकट, युद्ध, महानाश, प्रलय, विप्लव के बावजूद
शेष बचोगे तुम संजय
सत्य कहने को
अन्धों से
किन्तु कैसे कहूँगा हाय
सात्यकि के उठे हुए शस्त्र के
चमकदार ठंडे लोहे के स्पर्श में
मृत्यु को इतने निकट पाना
मेरे लिए यह
बिलकुल ही नया अनुभव था!
जैसे तेज बाण किसी
कोमल मृणाल को
ऊपर से नीचे तक चीर जाय
चरम त्रास के उस बेहद गहरे क्षण में
कोई मेरी सारी अनुभूतियों को चीर गया
कैसे दे पाऊँगा मैं सम्पूर्ण सत्य
उन्हें विकृत अनुभूति से ?

कृतवर्मा

धैर्य धरो संजय !
क्योंकि तुमको ही जा कर बतानी है
दोनों को पराजय दुर्योधन की !

संजय :

कैसे बताऊँगा ?
वह जो सम्राटों का अधिपति था
खाली हाथ
नंगे पाँव,
रक्त-सने
फटे हुए वस्त्रों में
टूटे रथ के समीप
खड़ा था निहत्था हो;
अश्रु भरे नेत्रों से
उसने मुझे देखा
और माथा झुका लिया
कैसे कहूँगा
मैं जा कर उन दोनों से
कैसे कहूँगा ?
[जाता है]

कृतवर्मा :

चला गया संजय भी
बहुत दिनों पहले
विदुर ने कहा था
यह हो कर रहेगा
वह हो कर रहा आज

नेपथ्य में कोई पुकारता है, "अश्वत्थाऽऽमाऽऽ!" कृतवर्मा ध्यान से सुनता है।

यह तो आवाज है
बूढ़े कृपाचार्य की।

नेपथ्य में पुनः पुकार 'अश्वत्थाऽऽमाऽऽ।' कृतवर्मा पुकारता है—'कृपाऽऽचार्य।' कृपाचार्य का प्रवेश।

यह तो कृतवर्मा है।
तुम भी जीवित हो कृतवर्मा ?

कृतवर्मा

जीवित हूँ
क्या अश्वत्थामा भी जीवित है ?

कृपाचार्य

जीवित है
केवल हम तीन
आज !
रथ से उतर कर
जब राजा दुर्योधन ने
नतमस्तक हो कर
पराजय स्वीकार की

अश्वत्थामा ने
यह देखा
और उसी समय
उसने मरोड़ दिया
अपना धनुष
आर्तनाद करता हुआ
वन की ओर चला गया।

अश्वत्थाऽऽमाऽऽ . .. ...

पुकारते हुए जाते हैं, दूर से उनकी पुकार सुन पड़ती है। पीछे का पर्दा खुल कर अन्दर का दृश्य। अन्धेरा। केवल एक प्रकाशवृत्त अश्वत्थामा पर, जो टूटा धनुष हाथ में लिये बैठा है।

अश्वत्थामा :

यह मेरा धनुष है
धनुष अश्वत्थामा का
जिसकी प्रत्यंचा खुद द्रोण ने चढ़ायी थी

आज जब मैंने
दुर्योधन को देखा
नि:शस्त्र, दीन
आँखों में आँसू भरे
मैंने मरोड़ दिया
अपने इस धनुष को।
कुचले हुए साँप-सा
भयावह किन्तु
शक्तिहीन मेरा धनुष है यह
जैसा है मेरा मन
किसके बल पर लूँगा
मैं अब
प्रतिशोध
पिता की निर्मम हत्या का।
वन में
भयानक इस वन में भी
भूल नहीं पाता हूँ मैं
कैसे सुन कर

युधिष्ठिर की घोषणा
कि 'अश्वत्थामा मारा गया'
शस्त्र रख दिये थे
गुरु द्रोण ने रणभूमि में।
उनको थी अटल आस्था
युधिष्ठिर की वाणी में
पा कर निहत्था उन्हें
पापी धृष्टद्युम्न ने
अस्त्रों से खंड खंड कर डाला
भूल नहीं पाता हूँ
मेरे पिता थे अपराजेय
अर्द्धसत्य से ही
युधिष्ठिर ने उनका
वध कर डाला।
उस दिन से
मेरे अन्दर भी
जो शुभ था, कोमलतम था
उसकी भ्रूण हत्या
युधिष्ठिर के
अर्द्धसत्य ने कर दी।
धर्मराज हो कर वे बोले
'नर या कुंजर'
मानव को पशु से
उन्होंने पृथक् नहीं किया।
उस दिन से मैं हूँ
पशुमात्र, अन्ध बर्बर पशु
किन्तु आज मैं भी एक अन्धी गुफा में हूँ भटक गया
गुफा यह पराजय की।
दुर्योधन सुनो!
सुनो, द्रोण सुनो!
मैं यह तुम्हारा अश्वत्थामा
कायर अश्वत्थामा
शेष हूँ अभी तक
जैसे रोगी मुर्दे के
मुख में शेष रहता है
गन्दा कफ

बासी थूक
शेष हूँ अभी तक मैं

[वक्ष पीटता है]

आत्मघात कर लूँ ?
इस नपुंसक अस्तित्व से
छुटकारा पा कर
यदि मुझे
पिघली नरकाग्नि में उबलना पड़े
तो भी शायद
इतनी यातना नहीं होगी !

[नेपथ्य में पुकार—अश्वत्थाऽऽमाऽऽ]

किन्तु नहीं !
जीवित रहूँगा मैं
अन्धे बर्बर पशु-सा
वाणी हो सत्य धर्मराज की ।

मेरी इस पसली के नीचे
दो पंजे उग आयें
मेरी ये पुतलियाँ
बिन दांतों के चीथ खाएँ
पाएँ जिसे !

वध, केवल वध, केवल वध
अंतिम अर्थ बने
मेरे अस्तित्व का ।

[किसी के आने की आहट]

आता है कोई
शायद पांडव योद्धा है
आहा !
अकेला, निहत्था है ।
पीछे से छिप कर
इस पर करूँगा वार
इन भूखे हाथों से
धनुष मरोड़ा है
गर्दन मरोड़ूँगा
छिप जाऊँ, इस झाड़ी के पीछे।

[छिपता है । संजय का प्रवेश ।]

संजय

फिर भी रहूँगा शेष
फिर भी रहूँगा शेष
फिर भी रहूँगा शेष
सत्य कितना कटु हो
कटु से यदि कटुतर हो
कटुतर से कटुतम हो
फिर भी कहूँगा मैं

केवल सत्य, केवल सत्य, केवल सत्य
है अन्तिम अर्थ
मेरे ....आह !

अश्वत्थामा आक्रमण करता है । गला दबोच लेता है ।

अश्वत्थामा
इसी तरह
इसी तरह
मेरे भूखे पंजे जा कर दबोचेंगे
वह गला युधिष्ठिर का
जिससे निकला था
'अश्वत्थामा हतोहतः'

कृतवर्मा और कृपाचार्य प्रवेश करते हैं

कृतवर्मा (चीख कर) :
छोड़ो अश्वत्थामा !
संजय है वह
कोई पांडव नहीं है ।

अश्वत्थामा
केवल, केवल वध, केवल......

कृपाचार्य :
कृतवर्मा, पीछे से पकड़ो
कस लो अश्वत्थामा को ।

वध—लेकिन शत्रु का
कैसे योद्धा हो अश्वत्थामा ?
संजय अवध्य है
तटस्थ है।

अश्वत्थामा
(कृतवर्मा के बन्धन में छटपटाता हुआ)

तटस्थ ?
मातुल मैं योद्धा नहीं हूँ
बर्बर पशु हूँ
यह तटस्थ शब्द
है मेरे लिए अर्थहीन।

सुन लो यह घोषणा
इस अन्धे बर्बर पशु को
पक्ष में नहीं है जो मेरे
वह शत्रु है।

कृतवर्मा
पागल हो तुम।
संजय, जाओ अपने पथ पर।

संजय
मत छोड़ो
विनती करता हूँ
मत छोड़ो मुझे
कर दो वध।

जा कर अन्धों से
सत्य कहने की
मर्मान्तक पीड़ा है जो
उससे तो वध ज्यादा सुखमय है।
वध करके
मुक्त मुझे कर दो
अश्वत्थामा।

अश्वत्थामा [illegible] दृष्टि से कृपाचार्य की ओर देखता है, उनके [illegible] से शीश टिका देता है।

अश्वत्थामा
मैं क्या करूँ ?
मातुल !
मैं क्या करूँ ?
वध मेरे लिए नहीं रही नीति
वह है अब मेरे लिए मनोग्रन्थि
किसको पा जाऊँ
मरोड़ूँ मैं !

मैं क्या करूँ,
मातुल, मैं क्या करूँ ?

कृपाचार्य
मत हो निराश
अभी......

कृतवर्मा
करना बहुत कुछ है
जीवित अभी भी है दुर्योधन
चल कर सब खोजें उन्हें।

कृपाचार्य
संजय
तुम्हें ज्ञात है
कहाँ हैं वे ?

संजय (धीमे से)
वे हैं सरोवर में
माया से बाँध कर
सरोवर का जल
वे निश्चल
अन्दर बैठे हैं

ज्ञात नहीं है
यह पाण्डव-दल को।

कृपाचार्य :
स्वस्थ हो अश्वत्थामा
चल कर आदेश लो दुर्योधन से

संजय चलो
तुम सरोवर तक पहुँचा दो

कृतवर्मा :

कौन आ रहा है यह
वृद्ध व्यक्ति ?

कृपाचार्य :

निकल चलो
इसके पहले हमको
कोई भी देख पाय

अश्वत्थामा (जाते-जाते)

मैं क्या करूँ मातुल
मैंने तो अपना धनुष भी मरोड़ दिया

वे जाते हैं। कुछ क्षण स्टेज खाली रहता है।
धीरे धीरे वृद्ध याचक प्रवेश करता है।

वृद्ध याचक :

दूर चला आया हूँ
काफी,
हस्तिनापुर से

वृद्ध हूँ दीख नहीं पड़ता है
निश्चय ही अभी यहाँ देखा था मैंने कुछ लोगों को
देखूँ मुझको जो मुद्राएँ दीं
माता गान्धारी ने
वे तो सुरक्षित हैं।

मैंने यह कहा था
'यह है अनिवार्य
और वह है अनिवार्य
और यह तो स्वयं होगा
वह तो स्वयं होगा'

आज इस पराजय की वेला में
सिद्ध हुआ
झूठी थी सारी अनिवार्यता भविष्य की।
केवल कर्म सत्य है

मानव जो करता है इसी समय
उसी में निहित है भविष्य
युग-युग तक का!

(हाँफता है)

इसलिए उसने कहा
अर्जुन
उठाओ शस्त्र
विगतज्वर युद्ध करो
निष्क्रियता नहीं
आचरण में ही
मानव अस्तित्व की सार्थकता है।

(नीचे झुक कर धनुष देखता है। उठा कर)

किसने यह छोड़ दिया धनुष यहाँ ?
क्या फिर किसी अर्जुन के
मन में विषाद हुआ ?

अश्वत्थामा (प्रवेश करते हुए) :

मेरा धनुष है
यह।

वृद्ध याचक

कौन आ रहा है यह ?
जय अश्वत्थामा की !

अश्वत्थामा :

जय मत कहो वृद्ध।
जैसे तुम्हारी भविष्यत् विद्या
सारी व्यर्थ हुई
उसी तरह मेरा धनुष भी व्यर्थ सिद्ध हुआ।
मैंने अभी देखा दुर्योधन को
जिसके मस्तक पर
मणिजटित राजछत्रों की छाया थी
आज उसी मस्तक पर
गँदले पानी की
एक चादर है।

तुमने कहा था
जय होगी दुर्योधन की।

वृद्ध याचक :

जय हो दुर्योधन की
अब भी मैं कहता हूँ।

वृद्ध हूँ
थका हूँ
पर जा कर कहूँगा मैं
'नहीं है पराजय यह दुर्योधन
इसको तुम मानो नये सत्य की उदय वेला।'
मैंने बतलाया था
उसको झूठा भविष्य
अब जा कर उसको बतलाऊँगा
'वर्तमान से स्वतन्त्र कोई भविष्य नहीं'
अब भी समय है दुर्योधन,
समय अब भी है!
हर क्षण इतिहास बदलने का क्षण होता है

[धीरे-धीरे जाने लगता है।]

अश्वत्थामा :

मैं क्या करूँगा
हाय मैं क्या करूँगा ?
वर्तमान में जिसके
मैं हूँ और मेरी प्रतिहिंसा है!
एक अर्द्धसत्य ने युधिष्ठिर के
मेरे भविष्य की हत्या कर डाली है
किन्तु नहीं,
जीवित रहूँगा मैं
पहले ही मेरे पक्ष में
नहीं है निर्धारित भविष्य अगर
तो वह तटस्थ है!
शत्रु है अगर वह तटस्थ है!

(वृद्ध की ओर बढ़ने लगता है।)

आज नहीं बच पाएगा
वह इन भूखे पंजों से
ठहरो! ठहरो!
ओ झूठे भविष्य
वंचक वृद्ध!

दाँत पीसते हुए दौड़ता है। विंग के निकट वृद्ध को दबोच कर नेपथ्य में घसीट ले जाता है।

वध, केवल वध, केवल वध
मेरा धर्म है।

नेपथ्य में गला घोंटने की आवाज, अश्वत्थामा का अट्टहास। स्टेज पर केवल दो प्रकाशवृत्त नृत्य करते हैं। कृपाचार्य, कृतवर्मा हाँफते हुए अश्वत्थामा को पकड़ कर स्टेज पर लाते हैं।

कृपाचार्य :

यह क्या किया,
अश्वत्थामा।
यह क्या किया।

अश्वत्थामा :

पता नहीं मैंने क्या किया,
मातुल मैंने क्या किया!
क्या मैंने कुछ किया ?

कृतवर्मा :

कृपाचार्य
भय लगता है
मुझको
इस अश्वत्थामा से!

कृपाचार्य अश्वत्थामा को बिठा कर, उसका कमरबन्द ढीला करते हैं। माथे का पसीना पोंछते हैं।

कृपाचार्य

बैठो
विश्राम करो
तुमने कुछ नहीं किया
केवल भयानक स्वप्न देखा है!

अश्वत्थामा :

मैं क्या करूँ

मातुल !

वध मेरे लिए नहीं नीति है

यह है अब मनोग्रन्थि !

इस वध के बाद

मांस-पेशियों का सब तनाव

जैसे खुल गया !

कहते क्या इसी को हैं

अनासक्ति ?

कृपाचार्य (अश्वत्थामा को लिटा कर)

सो जाओ

तुम हो अस्वस्थ आज

सो जाओ !

कहा है दुर्योधन ने

जा कर विश्राम करो

कल देखेंगे हम

पांडवगण क्या करते हैं

करवट बदल कर

तुम सो जाओ

[कृतवर्मा से]

सो गया

कृतवर्मा (व्यंग्य से)

सो गया।

इसलिए शेष बचे हैं हम

इस युद्ध में

हम जो योद्धा थे

अब लुक-छिप कर

बूढ़े निहत्थों का

करेंगे वध।

कृपाचार्य :

शान्त रहो कृतवर्मा !

योद्धा नामधारियों में

किसने क्या नहीं

किया है

अब तक ?

द्रोण थे बूढ़े निहत्थे

पर

छोड़ दिया था क्या

उनको धृष्टद्युम्न ने ?

या हमने छोड़ा अभिमन्यु को

यद्यपि वह बिलकुल निहत्था था

अकेला था

सात महारथियों ने.. ..

अश्वत्थामा :

मैंने नहीं मारा उसे . .

मैं तो चाहता था, वध करना भविष्य का

पता नहीं कैसे वह

बूढ़ा मरा पाया गया।

मैंने नहीं मारा उसे

मातुल विश्वास करो।

कृपाचार्य :

सो जाओ

अश्वत्थामा सो जाओ !

सो जाओ कृतवर्मा !

पहरा मैं देता रहूँगा आज रात भर

[वे लौटते हैं। पर्दा गिरने लगता है।]

जिस तरह बाढ़ के बाद उतरती गंगा

तट पर तज जाती विकृत शव अधखाया

वैसे ही तट पर तज अश्वत्थामा को

इतिहासों ने खुद नया मोड़ अपनाया

यह छुटी हुई आत्माओं की रात

यह भटकी हुई आत्माओं की रात

यह टूटी हुई आत्माओं की रात

इस रात विजय में मदोन्मत्त पांडवगण

इस रात विवश छिप कर बैठा दुर्योधन

यह रात मर्म में

तने हुए भावों की

यह रात हाथ पर

धरे हुए हाथों की

[पटाक्षेप]

ꣳꣳꣳ

केशवप्रसाद मिश्र | नाच-घर

उस नाच-घर से मन ऊब गया था, इसलिए बहुत दिनों से वहाँ नहीं गया था। लगभग दो महीने हो चले थे। उस रात नाच के किसी विशेष आयोजन के साथ, छोटे-से मेले का भी इन्तजाम था। शाम को घूमने निकला, अनायास ही मन में आया, नाच-घर की ओर बढ़ गया। हॉल के भीतर बैंड बज रहा था। लेकिन नाच शुरू होने में देर थी। दीवार के पास चारों ओर कतार से लगी कुर्सियों पर बैठे हुए लोग, नाच आरम्भ होने की प्रतीक्षा कर रहे थे और हॉल के बीच, खाली जगह में, बहुत-से छोटे छोटे बच्चे उछल-कूद मचा रहे थे। वे ही चिरपरिचित, पाउडर और रूज से पुते हुए सूखे चेहरे, लिपस्टिक से रँगे हुए काले-काले होंठ, गालों की निकली हुई हड्डियाँ और आँखों के नीचे साफ नजर आने वाले गड्ढे दीख पड़े।

ताजगी और मनबहलाव की उम्मीद से गया था, मन में नीरसता और उचटन भर गयी। हॉल में इधर-उधर चक्कर काटने लगा, कहीं कोई खिला चेहरा दिखाई पड़े, कहीं भी तो आँखें टिकें। मन को ताजगी और स्फूर्ति की जरूरत थी। लेकिन रंग-बिरंगे स्कर्ट, और मुरझाये चेहरों के सिवा और कुछ देखने को नहीं मिला।

मन अपने पर ही झुँझला उठा। इससे अच्छा तो उस सड़क पर टहलना होता। भीड़-भाड़ से दूर, कोलाहल से परे। अकेलापन भले ही होता पर यह सुस्ती और मन को तोड़ने वाली नीरसता तो न होती और उस मकबरे जैसे हॉल के भीतर चलती-फिरती ये लाशें तो न होतीं!

अकेले होने से, घूमते घूमते, पैरों को थकन-सी लगी। तीन चार कुर्सियाँ खाली पड़ी थीं, बैठ गया। नाच शुरू हो चला था। एक दूसरे की कमर और

कन्धे पर हाथ रखे दो-चार जोड़े नाचने लगे। बैन्ड के साथ बजने वाली क्लेरेनेट की आवाज क्रमशः तेज होने लगी। सामने से गुजरते हुए नाचने वाले जोड़ों को देख रहा था, कि तीन लड़कियों का दल भीतर आया और मेरे बगल की खाली कुर्सियों पर बैठ गया। उसमें दो चीनी थीं। मेरी बगल में बैठने वाली हिन्दुस्तानी लाल साड़ी में। लम्बा भरा हुआ शरीर, लगभग पाँच फीट ऊँचाई। सिर पर रूखे बालों का जूड़ा सँवार कर बँधा था। कुहनी तक की आस्तीन वाला नीले लिनेन का ब्लाऊज और पाँवों में लाल सुनहरे पट्टों का मोटे सोल वाला चप्पल पड़ा था। नाचने वालों पर से हट कर मेरी नजर, उस स्वस्थ मांसल शरीर पर पड़ने लगी। नाच घर की सारी नीरसता और ऊब मैं भूल गया।

लगा, किसी नयी जगह में पहुँच गया। आधी, नगी टाँगों के ऊपर, केवल स्कर्ट में बदन ढकने वालियों के बीच में, यह ब्लाऊज और लाल साड़ी, जैसे टाट के बड़े पर्दे में रेशम के छोटे से पैवंद की तरह लगी। बगल में बैठी उस सयानी लड़की को ऊपर से नीचे तक देखने लगा, बार-बार देखने लगा। मन में कुछ खुशी और उमंग आने लगी और सामने नाचने वाले जोड़ों से अब कुछ प्रलोभन मिलने लगा।

नाच का पहिला दौर समाप्त हुआ। नाचने वाले खड़े हो मुस्काने लगे। मैं उस लड़की को फिर देखने लगा। अब तक चुप शान्त बैठी हुई, मेरे इस व्यवहार से, अब वह इधर-उधर देखने लगी।

"आप शायद किसी को तलाश रही हैं?" मुझसे बिना बोले रहा नहीं गया।

"जी नहीं!" धीमा और सकोच-भरा उत्तर मिला।

"नाच पसन्द आया?"

"अच्छा ही है।" वह मेरी ओर देखती हुई मुस्करा कर बोली। इसके पहिले कि वह चुप हो कर दूसरी ओर देखने लगे, मैंने फिर पूछा, "आप नहीं नाचती?"

"जी?"

"क्या आप नहीं नाचती?"

"मुझे पूरी तरह नाचना नहीं आता?"

बैन्ड फिर बजने लगा, बिखरे हुए जोड़े एक-दूसरे से फिर सटने लगे। मैं उठ कर उसके सामने खड़ा हो गया, 'तो आइए न, हम भी नाचें!"

बैठे ही बैठे उसने मेरी ओर आँखें उठा कर देखा, उसके चेहरे पर एक आभा दौड़ गयी थी, गंभीर और रक्तिम!

"आइए!" मैंने फिर कहा।

हाथ का वैनिटी बैग कुर्सी पर रख कर वह खड़ी हो गयी, तो मेरे अंग-अंग में खुशी की एक लहर दौड़ गयी, और हम नाचने लगे।

इस बार "टैंग" डान्स शुरू हो गया था, जिसमें सबसे अधिक टिकट पाने वाली के लिए कोई विशेष इनाम रखा गया था।

'दो-तीन लोगों को नाचने से जब आपने मना कर दिया तो मुझे लगा केवल देखने आयी हैं।" मैंने नाचते हुए पूछा।

"मुझे पूरी तरह से नाचना नहीं आता। मम्मी सिखाती है, जबर्दस्ती। ऐसी जगहों में आने को मन नहीं होता, लेकिन आना ही पड़ता है।" मैंने देखा, कहते हुए उसका चेहरा उतर गया। और उस खिले हुए चेहरे पर पल-भर को स्याही छा गयी। नाचते हुए पंखे की हवा से उसके एक-आध बाल उड़ने रहते, जिसे बार-बार वह पीछे सँवार देती। मैंने विषय बदलने की कोशिश की।

"आप बालों में तेल नहीं डालती ?"

"कम डालती हूँ।"

इस तरह से तीन चार लोगों के साथ नाचने के बाद मैंने उसे फिर पकड़ा तो वह मुसकराती हुई बोली, "आप अच्छा नाचते हैं और कायदे से।

"यानी !" मैंने बात कुछ साफ होने की नीयत से पूछा।

"और लोग तो जरूरत से ज्यादा 'जर्क' देते हैं।" वह कहने लगी, "भले ही यह बुरा लगे, लेकिन कहा कैसे जा सकता है, 'बालडान्स' जो ठहरा !"

नाच का दूसरा दौर समाप्त हुआ, हम एक-दूसरे को छोड़ कर पास पास खड़े हो गये।

"मुझे प्यास लग रही है।" उसने कहा।

"हाँ हाँ ! आइए मुझे भी लग रही है।" और हम लोग पास ही के 'बार' की ओर बढ़े। 'बार' को दो हिस्सों में बाँटने वाले लकड़ी के उस लम्बे काउन्टर पर पहुँच कर हमने पूछा, "बोलिए ! क्या पीजिएगा, स्काच, जिन, रम, या बीयर, क्या मँगाऊँ ?"

चुप हो विस्मयता से वह मेरा मुँह देखने लगी। बोलिए न ! आपको क्या अच्छी लगती है, चुप क्यों हैं ? ेने फिर पूछा।

"यह सब मैं नहीं पीती।" एक अजीब-सी टूटी हुई आवाज में वह बोली।

"यह सब आप नहीं पीती ! तो यहाँ क्लब में क्यों आती हैं ? यहाँ पर प्यास सिर्फ पानी से नहीं बुझायी जाती।"

"आज पहली बार आयी हूँ।"

मुझे अजीब-सा लगा, खैर तो मोठा सोडा ही पीजिए। और मैंने दो शीतल मीठे सोडे के लिए कह दिया।

वैसे तो 'बार' में लोग आ-जा रहे थे, लेकिन जमने वालों में से, हमारे बगल में खड़े हुए चार मर्द और स्कर्ट पहिनी हुई लगभग चालीस साल की एक अधेड़ औरत थी। होंठों को लिपस्टिक से उसने बुरी तरह रँग रखा था। गालों के चमड़े पर शिकनें पड़ गयी थीं और सिर के एक-आध बाल सफेद हो चले थे। बायें हाथ में सिगरेट लिये हुई, दो आदमी अपने बायें और दो दायें किये हुई, वह एक ऊँची स्टूल पर बैठी थी। सबों के सामने शीशे के गिलासों में 'रम' और सोडा पड़ा था। उनकी चढ़ी हुई लाल आँखों से मैंने अन्दाज लगाया कि वे देर से पी रहे थे। औरत लड़खड़ाती जबान से कह रही थी, "यू से आई एम ड्रंक ! नो ! नो ! स्टिल आई केन टेक फिफ्टीन ग्लासेज लाइक दिस, इवन देन, आई शैल नॉट बी ड्रंक, बट सोबर ! ! (तुम कहते हो मुझे नशा हो गया है, बिलकुल नहीं। अभी मैं पन्द्रह गिलास शराब का और पी सकती हूँ, और मुझे तनिक भी नशा न होगा।) सोडा पी हम हॉल में आये। नाच शुरू हो गया था।

"थक गयीं क्या ?"

"नहीं तो।"

"तो आइए थोड़ी देर और !"

"चलिए।"

और हम फिर नाचने लगे। अभी एक-दो मिनट हुए होंगे, कि चार-पाँच साल की एक गोरी छोटी बच्ची हमारे बगल में नाचने वाली एक औरत से चिपटती हुई बोली, "ममी घर चलो, मुझे भूख लग रही है।" एक ही जगह स्टेपिंग करती हुई अपने नाच में बिना बाधा डाले, वह बच्ची को समझाने लगी, "थोड़ी देर और खेलो डार्लिंग पापा आते ही होंगे, तो सभी घर चलेंगे।"

सयाने समझदार आदमी की तरह निराश और उदास मुंह लिये हुई लड़की दीवार से सटी एक आराम कुर्सी पर जा के औंधी लेट गयी। बच्ची को देख कर जैसे मुझे ही भूख लग गयी। मैंने आपस की चुप्पी तोड़ी, "न जाने क्यों, अभी तक आपका नाम नहीं पूछ सका।"

"सुनीता।"

"घर में और कौन है?"

"एक बड़ा भाई और माँ।"

"भाई क्या करता है?"

"कुछ नहीं, लोफर है। तीन-तीन दिनों तक घर नहीं आता।"

"तो!" मैंने बात आगे बढ़ायी।

"बस हमी दो को समझिए।"

"आप क्या करती हैं?"

"एक एडवोकेट के पास सवेरे दो घंटे टाईप करती हूँ।"

"मिलते क्या हैं?"

"पैसठ रुपये।"

"शायद आमदनी का यही एक जरिया है?" मैंने पूछा। उत्तर में इस बार उसकी आँखें उदास हो कर झुक गयीं।

नाचते हुए हम लोग, उस छोटी-सी मासूम बच्ची की कुर्सी के पास पहुँच गये। पखें की हवा में उसकी पीठ पर का फ्रॉक रह-रह कर उड़ रहा था और वह पेट और मुंह के बल जमीन पर पैर लट-काए अपने दोनों हाथों में मुंह छिपाए सो रही थी। घड़ी देखी, रात के ११ बज रहे थे।

"मुझे भूख लग रही है, यहाँ तो कुछ भी खाने को नहीं मिलता। चलिए न, कुछ खाया जाए।" मैंने पूछा। वह चुप रही। "चलिए न!" मैंने फिर पूछा।

"कहाँ?"

"पास के किसी होटल में।"

"चलिए।" वह जरा रुक कर बोली।

बाहर हवा में ताजगी और ठंडक मिली। लगने लगा किसी खान से निकल कर आये हों।

होटल में खाना खाने वाले शायद हमी लोग आखिरी थे। मुझे तो भूख लगी ही थी, सुनीता ने भी खूब खाया जैसे तीन दिनों की भूखी हो। बाहर रिक्शे वाला हमारा इन्तजार कर रहा था। "आइए, बैठिए।" मैंने कहा।

"नहीं, ठंडी चाँदनी रात है पैदल चलने को जी चाहता है। और मैं जैसे उसकी इच्छाओं का गुलाम हो रहा था।

"किधर चलें जो आपके घर का नजदीक रास्ता हो।" मैंने पूछा।

"चाहे जिधर चलिए आज मैं रात-भर के लिए आज़ाद हूँ।"

जैसे मुझे बिजली छू गयी। मैं वहीं खड़ा हो गया। और लैम्प पोस्ट की पड़ती हुई रोशनी में सुनीता का मुंह देखने लगा।

"और सवेरे अपने घर वालों को आप क्या जवाब देंगी?" मैंने पूछा।

"अगर ममी के हाथों में बीस रुपये रख दूँगी, तो कुछ भी जवाब नहीं देना पड़ेगा। और अगर खाली हाथ लौटी, तो उसके चार सुनी बातें सामने आएँगी। कल मकान का किराया देना है।" कह कर वह चुप हो गयी।

मैंने देखा, एक अजीब-सी करुणा, बेबसी, घुटन और मायूसी ने छोटे-से मासूम चेहरे को धर दबाया

बालकृष्ण राव | राष्ट्रभाषा या राजभाषा ?

भारत में गणतन्त्र की स्थापना से बहुत पहले, देश के प्रथम नागरिक और गणतन्त्र के प्रमुख पदाधिकारी के लिए प्रयुक्त होने के पहले, हमारे देश में 'राष्ट्रपति' कांग्रेस के सभापति को कहा जाता था। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग समाचारपत्रों में, सभाओं में, बातचीत में, सभी ढंग से होता था और न किसी को इस प्रयोग से आपत्ति होती थी, न किसी के कान ही खड़े होते थे। कांग्रेस का भारत की राष्ट्रीय महासभा माना ही जाता था उसके निर्णय राष्ट्र के निर्णय थे, उसके झंडे के नीचे चलाया हुआ आन्दोलन राष्ट्र का आन्दोलन था। इसी प्रकार उसके अध्यक्ष को हम सहज ही 'राष्ट्रपति' के नाम से सम्बोधित करने लगे थे। इसके पीछे केवल बहुसंख्यक हिन्दी-भाषी जनता की बहुसंख्यक कांग्रेसदल में आस्था ही कही जा सकती है।

कुछ-कुछ इसी प्रकार 'राष्ट्रभाषा' शब्द का व्यवहार भी आरम्भ हुआ और प्रयोग से वह हिन्दी के लिए रूढ़-सा हो गया। न कांग्रेस के अध्यक्ष के लिए 'राष्ट्रपति' का नाम ही कभी औपचारिक ढंग से बहुमत ले कर रक्खा गया और न हिन्दी के लिए 'राष्ट्रभाषा' शब्द ही कभी नियमानुसार बहुसम्मत हो कर स्वीकार किया। हम इसे हिन्दी के लिए एक पर्यायवाची शब्द मानने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि यदि इस शब्द की अयुक्तता की बात चलायी जाए तो निश्चय ही हमें आश्चर्य होगा। संभव है कि हम आपत्ति करने वाले के देश-प्रेम अथवा उसकी राष्ट्रीय-भावना के प्रति सन्देह करने लगें।

पर वास्तव में 'राष्ट्रभाषा' से हमारा अभिप्राय क्या है ? हिन्दी के लिए इस शब्द का प्रयोग हम क्यों, किस आशय से, किस अर्थ में करते हैं ? स्पष्ट है कि राष्ट्र की एकमात्र भाषा तो हम हिन्दी को नहीं मानते, इसलिए राष्ट्र की मुख्य भाषा के अर्थ

में ही 'राष्ट्रभाषा' शब्द का प्रयोग माना जा सकता है। पर 'मुख्य' किस अर्थ में है, यदि इसका स्पष्टीकरण चाहें तो निश्चय ही दो बातें सामने आएँगी, एक तो यह कि संविधान में हिन्दी को यह स्थान दिया गया है और दूसरे यह कि हिन्दी भारत राष्ट्र के बहुसंख्यक जन-समुदाय की भाषा है। हिन्दी बोलने वालों की संख्या देश में सबसे अधिक है, यह तो विवाद का विषय न है न हो सकता है पर संविधान में हिन्दी को जो स्थान दिया गया है, उसके विषय में देश में बहुत सी भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं।

संविधान में 'राष्ट्रभाषा' शब्द का उपयोग कहीं, एक बार भी, किसी रूप अथवा अर्थ में नहीं किया गया है। वहाँ हिन्दी को केवल 'संघ की सामकीय भाषा' ही माना गया है और कुछ नहीं। दूसरे शब्दों में, हिन्दी को संविधान के द्वारा 'राष्ट्रभाषा' नहीं, 'राजभाषा' का पद दिया गया है।

हम 'राष्ट्रभाषा' शब्द का प्रयोग यदि यों ही, बेकार, बिना कुछ सोच-विचारे करते हैं, तब तो हमें उसे छोड़ने में अधिक संकोच न होगा। पर यदि अकारण ही नहीं, भली-भाँति समझ-बूझ कर हम इसका व्यवहार करते हैं तो हमारी आवश्यकता है कि हम यह जान जाएँ कि इसका प्रयोग क्यों अवांछनीय है।

हिन्दी राष्ट्र की एकमात्र भाषा नहीं है और न भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वह देश की अन्य भाषाओं से प्राचीनतम है, न ही उसका अन्य सभी भाषाओं से पारिवारिक सम्बन्ध है। दक्षिण भारत की भाषाएँ हिन्दी से पुरानी हैं और उनका उद्भव हिन्दी के इतिहास से असम्बद्ध है। उन भाषाओं को बोलनेवाले हिन्दी की अपेक्षा अल्पसंख्यक ही सही पर वे इतने थोड़े नहीं हैं कि उनकी उपेक्षा की जा सके। प्रजातंत्र की प्रणाली अवश्य अल्पसंख्यक दल के मत को मान्यता नहीं देती, पर सार्वदेशिक सांस्कृतिक जीवन में यह व्यवहार्य नहीं है। हम यह जानते हैं कि हिन्दी को देश की भाषाओं में प्रमुखता का पद बहुतों के मन के विरोध से मिल सका है। संविधान-सभा में जब राजभाषा के प्रश्न पर विचार किया जा रहा था, उसी समय दक्षिण-भारत के कुछ सदस्यों ने बलपूर्वक हिन्दी का विरोध किया था, यहाँ तक कि कुछ लोगों ने अँग्रेज़ी को ही बनाए रखने की इच्छा की थी। हिन्दी-विरोध की प्रेरणा उन्हें हिन्दी के प्रति वैमनस्य की भावना से नहीं, अपनी भाषाओं के प्रति प्रेम और उनके भविष्य के विषय में स्वाभाविक चिन्ता से मिली। उनके सामने प्रश्न केवल हिन्दी को राजभाषा बनाने का था, पर उन्हें आशंका हुई कि राजभाषा बन कर हिन्दी इतनी छा जाएगी कि उनकी अपनी प्रादेशिक भाषाओं का विकास ही रुक जाएगा और क्रमशः वे लुप्त होने लग जाएँगी। एक राष्ट्र की भावना को सजीव बनाने के लिए सारे देश में एक ही भाषा और लिपि का व्यवहार निश्चय ही सहायक होता है, पर बलात् किसी वर्ग से एक भाषा को स्वीकार कराने की चेष्टा उसी राष्ट्रीय भावना के प्रस्फुटन और विकास के लिए घातक हो जाती है। उनकी आशंका निर्मूल हो सकती है, पर इस दिशा में हमारा दुराग्रह अदूरदर्शिता ही प्रमाणित होगा।

संविधान-सभा के सदस्य केवल अपना ही नहीं अनेक व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। हिन्दी के देश की अन्य भाषाओं पर छा जाने की आशंका केवल उनको ही नहीं उनके प्रान्त अथवा प्रदेश के बहुत से लोगों के मन में थी। समाचार-पत्रों से हम यह भी जानते हैं कि उनकी यह आशंका, और उसके कारण उनका हिन्दी विरोध, आज भी जीवित है, बहुत कम भले ही हो गया हो। 'राष्ट्रभाषा' का नाम लगा कर हम वृथा ही इस प्रायः बुझती हुई आग को फिर से सुलगाते रहते हैं।

यह कहना पर्याप्त नहीं है कि हमारे मन में ऐसी कोई भावना नहीं है कि विकास का अधिकार अब केवल हिन्दी का ही है। निःसन्देह यह सत्य

हिन्दी राजभाषा बन जाए, हिन्दी में ही सब का समस्त प्रशासकीय कार्य किया जाए, न्यायालयों में हिन्दी का ही व्यवहार हो तो राजभाषा के चारों ओर राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी स्वतः विकसित होती जाएगी। उस विकास की सहायता के लिए उद्योग भले ही हो, आन्दोलन की अपेक्षा न रहेगा। पर निश्चय ही राजभाषा बनाने के लिए सक्रिय आन्दोलन की आवश्यकता है।

हमें यह पूछने का अधिकार है कि संविधान द्वारा केन्द्रीय शासन की भाषा, अथवा भारत की राजभाषा, माना जाने के बाद से आज तक पांच वर्ष की लम्बी अवधि में हिन्दी के लिए शासन की ओर से क्या किया गया और क्या किया जा रहा है। इस प्रश्न का उत्तर भारत शासन के शिक्षा मन्त्रालय ने एक बार नहीं अनेक बार, दिया है। हिन्दी प्रशासन के सभी विभागों में प्रयुक्त होने योग्य बन जाए, अंग्रेजी का पूरा काम सम्हाल ले, उसमें इतनी सम्पन्नता हो, इतना बल हो, इतनी लोच हो कि उसे अपनाकर हमें अंग्रेजी की समर्थ प्रेषणीयता का अभाव न खटके, इस ध्येय को अपने समक्ष रख कर भारत के केन्द्रीय शासन का शिक्षा-मन्त्रालय हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली तैयार कराने में लगा हुआ है। उस पारिभाषिक शब्दावली के तैयार हो जाने के बाद अगला कदम उठाया जा सकेगा। पारिभाषिक शब्दावली जिस गति से तैयार की जा रही है, उससे हमें सन्तोष होना चाहिए, यह सोचकर कि काम कितना कठिन, कितना बड़ा और कितना दायित्वपूर्ण है। और अभी ऐसी उतावली ही क्या है? संविधान ने वैसे ही राम के बनवास से एक वर्ष अधिक अवधि दे दी है और इसकी भी छूट दे दी है कि आवश्यकतानुसार यह अवधि घटायी-बढ़ायी भी जा सकती है। काम चल ही रहा है। धीरे-धीरे आगे बढ़ने से इसकी भी आशंका न रहेगी कि हिन्दी-विरोधी दलों को कुछ कहने का अवसर मिल जाए, न हो इसका खतरा होगा कि अपरिपक्व, अक्षम अवस्था में ही हिन्दी के कन्धों पर इतना भार पड़ जाए कि वह उसे वहन ही न कर सके। हिन्दी की तरक्की तो हो ही रही है। हिन्दी-प्रचार के लिए ही नहीं, शासन की ओर से हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए भी धन दिया जाता है। नागरी प्रचारिणी-सभा आदि की आर्थिक सहायता इसका प्रमाण है। हिन्दी कवियों और लेखकों की भी बड़ी पूछ है। रेडियो में और शिक्षा-विभाग में उन्हें स्थान, मान, वेतन, पुरस्कार सभी-कुछ मिल रहा है।

यह सब हो रहा है, पर वास्तव में हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए कुछ भी नहीं किया गया। जिस १५ वर्ष की अवधि की बात चला कर हमें सन्तोष दिला दिया जाता है, वह हिन्दी को बाहर रखने और पदग्रहण के योग्य बनाने के लिए नहीं रखी गयी थी। संविधान ने यह कहीं नहीं कहा कि हिन्दी को 'इतने वर्षों के बाद राजभाषा का स्थान दिया जाए'। उसने केवल १५ वर्ष पर्यन्त हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी का प्रयोग करते रहने की अनुमति दी है। हमें अधिकार है कि हम हिन्दी को ही शासन के सभी कार्यों में व्यवहृत कराएं। पर्याप्त हिन्दी-टाइपराइटरों के न होने के कारण, हिन्दी-भाषी और हिन्दी जानने वाले कर्मचारियों की कमी के कारण हम अंग्रेजी का भी प्रयोग करते रहें, पर हिन्दी के साथ-साथ, न कि हिन्दी के स्थान में हिन्दी को दूर रख कर।

हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों का बनना रोक दिया जाए, यह कोई नहीं चाहता। पर पारिभाषिक शब्दों के व्यवहार से ही राजभाषा नहीं बनती। न्यायालयों में प्रतिदिन अंग्रेजी के विचारकों के फैसले होते रहते हैं, जिनमें अनेक संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फारसी शब्दों को ज्यों का त्यों रख दिया जाता है। कर्ता, मिताक्षर, दयाभाग वली, वक्फ, कुर्की, बेनामी, इत्यादि न जाने कितने पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय न जज और मैजिस्ट्रेट जानते हैं न खोजते या गढ़ते हैं। पर उनके प्रयोग के कारण अंग्रेजी भाषा कोई दूसरी भाषा तो बन

'शिशु' | दो कविताएँ

जलद से

गगन में उड़ने वाले सिन्धु ! तुम्हारा सादर अभिनदन।
पधारो राधा के घनश्याम ! हरित अचल के जीवन-धन!
पिकी की सुनो सुरीली तान, मयूरो का हेरो नर्तन।
दूब को अंकुर दे कर नये भरो वियोगिन में पुलकन।

करारे-कजरारे घर वेश, बनो कजली मलार के स्वर।
तुम्हें पहनाएँगे वक-वृन्द, श्वेत मालाएँ उड़-उड़ कर।
जुही की गुही महकती माल फुही का सिंचन पाएगी।
माधवी की पिछली पहचान दुबारा चुम्बन पाएगी।

बनो तुम मन्दाक्रान्ता छन्द, यक्ष के विरहातुर स्वर में।
दूत बन ले जाओ सन्देश, सुन्दरी के अन्तःपुर में।
बना कर के नदिया को नदी, नदी को वर दे कर नद का।
भले हो परिचय दो तुम हमें जलद हो कर अपने मद का।

किन्तु उनका भी रखना ध्यान, कि जो निर्जला उपासे हैं।
तुम्हारी एक बूंद के लिए एक सम्वत से प्यासे हैं।

चरवाहा

गाँव से दूर पूर्व की ओर ढोर अपने ले जाता हूँ।
और सारे दिन वन के घोर विजन में उन्हें चराता हूँ।
विषम थल होने से, हैं सुगम नहीं साधन संचरणों के।
चिह्न कुछ पगडंडी ही लिये हुए वनचारी चरणों के।

उसे भी कहीं उतरना और कहीं पर चढ़ना पड़ता है।
कहीं खो कर अपने को पुनः प्रकट हो बढ़ना पड़ता है।
क्योंकि मिट्टी के टूहे उठे—लिये कूबड़ सी ऊँचाई।
दिखाई पड़ती खड्डों बीच कहीं खाई-सी गहराई।

कहीं नुकीले कीले लिये पड़े हैं काँटे कर्कश-से।
प्रखर शर एकलव्य के बिखर पड़े हैं मानो तरकस-से।
कुशों की पैनी सुइयाँ सदा दिया करतीं गति को कसकन।
पगों के तलवों को हैं ज्ञात व्यथाओं के पूरे विवरण।

किन्तु दुर्गमता का भूगोल उस समय निपट भुलाता हूँ।
लताओं के मण्डप में बैठे जब कि बाँसुरी बजाता हूँ।

ooo

सुधीर कुमार | इला

"सुबह-सुबह क्या पढ़ रहे हो ?"

मैंने पुस्तक का टाइटिल पेज सामने कर दिया। बोलने लगा, "दीदी..." कि एक चपत। मुझे जो लगी हो, किन्तु उन्हें तो कटहल के काँटे अवश्य गड़े होंगे—मैंने चार दिनों से शेव नहीं किया था। तुरत बोली, "उठा कर पटक दूंगी .."

फिर किंचित् व्यग्य से—"अभी तो घेरे के बाहर जा रहे हो, वापस आ सकने की नहीं सोचते। किसने दी यह किताब ?—" स्वर का वाल्यूम कम कर, "पता नहीं बच्चों के हाथ में यह सब कूड़ा-कर्कट कैसे रख देते हैं।"

मैं कुछ ढीठ बना, 'मैं अभी बच्चा ही हूँ, बीसवाँ पार करने को हूँ।"

"तो आप अपने को सयाना समझने लग गये ! किसी से आखें लड़ीं या नहीं ? मैं तो समझती थी कि .." और बाद के शब्द गुस्से के कारण बाहर आये ही नहीं।

मैं चुप रहा। दीदी मुलायम पड़ी—"तुम अभी बहुत कच्चे हो। ज्ञान अनुभव में अपने को पका लो, तब चाहे जो करना। यों अधजल गगरी छलकत जाए।"

पुन बुजुर्गों के से अदाज में, "अभी कालेज की कमर तक ही नहीं पहुँचे हो। इसलिए जो भी पुस्तक पढ़ो, मुझे दिखला लिया करो। और.. तुम जैसा कहते हो, तुम सयाने हो गये हो, अतएव मैं जो किताबें दे रही हूँ, पढ़ जाना।"

ढेर-सी पुस्तकें मेरे बिस्तर पर ला पटकी गयीं। उनका विषय समझने का अधिक है, कहने का कम। जो हो, मैंने उन्हें सँभाल कर रख लिया।

ऊपर की घटना में दीदी का (और मेरा भी) काफी परिचय आ जाता है। फिर भी कुछ अपनी ओर से जोड़ना होगा। जैसा कि प्रकट है, वह मेरी दीदी थीं यों कि जब मैं थर्ड इयर में था तो वह एम० ए० फाइनल में थीं। वराज्येष्ठता के कारण भी मुझ पर शासन करने का उनका अधिकार था। मेरी अपील भी खारिज हो जाती थी। कहा जाता, "बड़ी बहिन की न मानोगे, तो पिटाई खाओगे हो।"

अधिकार-प्रयोग के कारण अकारण सकारण मैं बहुत पिटा। खूब पीट लेने पर उनका गुस्सा उतर आता था, तब सन्धि करती थीं।

कहती थीं, "अरे नक्कू (नरेशकुमार का बिगड़ा रूप) खाएगा नहीं? चल, खिला दूं।" तब बाहर से मुँह लटका, अन्दर से खुश मन उन्हीं के हाथों खाना अच्छा लगता था। हम कितनी बार आपस में झगड़े होंगे। कितनी बार एक-दूसरे से रूठ हुए होंगे, रूठे होंगे किन्तु अब की सन्धियाँ वैसी तरल नहीं हो पाती, मनौतियाँ सरल नहीं होतीं जैसे उनका रस सूख गया हो, क्योंकि बुद्धिमान हो गये हैं।

दीदी केवल पिता जी से दबती हैं, माँ का अधिक दुलारा मैं हूं। जब दीदी ने एम० ए० पढ़ने का प्रस्ताव रखा तो माँ ने कहा कि बिटिया की शादी पहले ही ले। पिता पुत्री के पक्ष में आ गये, बोले कि इला पू० के० से पी० एच० डी० लाएगी। इस पर कितनी बहसें हुईं, कितनी बातें कही सुनी गयीं, जिनका हिसाब नहीं। विवाह तो टल गया। लोगों ने दो वर्षों तक धैर्य रखा। पिता जी ने सारी बात दीदी पर छोड़ रखी थी। किन्तु कोर्ट-शिप स्वयंवर से कुछ हो तब ? भाई बनने को सब थे, शादी का रिस्क कौन ले ? हार कर दीदी को कनवेंशनल बनना पड़ा। वर-वरण का कार्य पिता जी पर फिर आ पड़ा। हाँ अंतिम स्वीकृति दीदी के हाथ में।

बात यह है कि विवाह से उन्हें चिढ़ थी। अपना अहं (जो इतनी शिक्षा-दीक्षा के बावजूद प्रबल रहा) किसी पुरुष के अस्तित्व में विलीन कर देने की भावना उन्हें सुखकर नहीं लगती थी। सम्भवतः इसी कारण पुरुषों के प्रति एक प्रच्छन्न घृणा का भाव उनके मन में था ऐसा सोचता हूँ। फिर भी उनके पुरुष मित्र थे और अन्य लोगों से भी उनके व्यवहार सधत और विवेकपूर्ण होते थे। वार्तालाप में व्यंग्य का प्रयोग भी करती थीं। एक घटना याद आ रही है।

मैं पहली बार उनके साथ घूमने जा रहा था, शाम का समय, वह आगे-आगे। मैंने मार्क किया, दीदी ने भी समझ लिया कि कुछ कालेज-ब्रांड आशिक लोग पीछे लगे हैं। जब उनकी फब्तियाँ असह्य हो गयीं तो मैंने मारा पहलवानी का मौका है। किन्तु वह मुड़ी, उन तीनों को पास बुलाया। पूछा

'आप लोग किस इयर में हैं ?" पुनः रुक कर 'किस कालेज में ?"

उत्तर कौन दे ? कौन जानता था कि कुछ ही लड़कियाँ प्रिंसिपल तक पहुँचती हैं। कौन उस 'कुछ' की परिभाषा जानता था ?

उत्तर नहीं मिलने पर दीदी ने अपनी बात कही :

"इस अशिष्ट व्यवहार से आपको मिलता क्या है ? चप्पलें खाइएगा। मैं मना करती रहूँगी लेकिन आपके चारों ओर के महात्मा आपको मर-म्मत नहीं छोड़ेंगे। मेरा कुछ नहीं बिगड़ता। तीनों में दो तो चुप रहे किन्तु तीसरे ने, जो अपने को डायलाग-विशेषज्ञ मानते होंगे, कोशिश की, "जी, जी...मैं..."

"हाँ, जी जी तक मुझे एतराज नहीं। आगे बढ़ना चाहें तो मैनर्स सीखिए। बोलने में लड़खड़ाइएगा तो कैसे डिप्टी कलक्टर बनिएगा ? कहना ही तो

स्पष्ट कहिए कि आप मजनूँ और फरहाद के लाइन में हैं। साकी और..."

और वे तीनों सिर झुकाये लौट गये थे। मैं बाकी रास्ते हँसता रहा।

वही हँसी मानो उदासी का 'ब्लाक' डालने को फिर आ गयी है; किन्तु मेरे लिए वह हँसी थी, दूसरे के लिए पागलपन। पिता जी कमरे में घुसे—

"क्या बेमतलब हँस रहे हो? पागल तो नहीं हो गये?"

मैं गंभीर हुआ। फिर प्रश्न—

"नहाओगे कब? समय का ध्यान भी है?

"जा रहा हूँ।"

"और सुनो!"

"जी?"

"सुना है किसी अमला या विमला से तुम्हारी खूब पटती है।"

"जी, साधारण जान-पहचान है।"

"जो हो, लड़कियों से अधिक हेलमेल न रखा करो। मुझे पसन्द नहीं।"

"जी!"

और पिता जी चले गये किन्तु मेरे सिर पर एक बोझ लाद कर। क्या जाने पिता जी ने अपने अनुभव के आधार पर यह चेतावनी दी हो। उन्हें भी सुनना पड़ा हो, "बेटा..."

किन्तु यह बात उन तक गयी कैसे? ओह, दीदी, वही मेरी परम शुभचिन्तिका, उन्होंने कही होगी। उन्हें तो कभी कुछ ऐसा नहीं कहा। बेटी पर इतना विश्वास और मुझ पर नहीं। ठीक है, मैं उतना उग्र जो नहीं हूँ, बाप-बेटी की तरह। लेकिन दीदी की ममता वहाँ न? शायद संस्कार-वश। आखिर जाति-प्रभाव पड़ता है। वह भी नारी है न!

शाम आयी। पूरे बारह घंटों के अंतर पर संधि हुई।

दीदी आयीं मनाने—"नाराज हो गये?...मैं तो तुम्हारे लिए ही कह रही थी। क्या कहते हो? चुप हो, क्या मैं बात करने लायक भी नहीं। इतनी बुरी हूँ। ..ठहरो, तुम्हारा खाना यहीं ला दूँ। खिलाये अरसा बीता। लाऊँ न?"

मैंने अपने अंदर के ननकू को कहा, "इतनी ही पूजा से क्या प्रसन्न होओगे?" किन्तु प्रकट में चुप रहा। मौनं स्वीकार लक्षणम् मान एक कुरसी बिस्तर से लगा दी गयी। व्यंजन सजा दिये गये, तारीफ यह कि सभी मेरे लिए बने थे।

भोजन के उपसंहार-स्वरूप, "आओ, आज तुम्हें पढ़ा दूँ।"

और पढ़ाई की मत पूछिए। विषयान्तर पर विषयान्तर। स्पष्टतया यह किसी उत्तेजना के कारण हो रहा था। विद्यापति के बाद बिहारीलाल। वहाँ से रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्र से प्रसाद तक कामायनी में। यहाँ से कालिदास और आदिकवि तक। चलिए परिक्रमा पूरी हो गयी। किन्तु अभी निस्तार कहाँ!

"नरेश, तुम्हारी जाति ही छिछली है। ऊपर जो रंग हो, गहराई सब जगह एक ही है।"

यह आक्षेप, और पुरुष जाति पर! मैंने समझना चाहा। पूछा, "कैसे?"

"स्वार्थ, लिप्सा के कारण। अधिकार चाहिए न! स्त्रियों को तो एक वोटिंग राइट मिला है, वह भी दोषपूर्ण। और शास्त्रों के शिकंजे तो अब भी हैं।

'किन्तु छिछलापन, छल प्रकट कहाँ हुआ ?"

"होगा न। छल से छिछलापन प्रकट हो जाएगा। आदिकवि के मर्यादा पुरुषोत्तम की धर्म-पत्नी महासती सीता जी से ही प्रारंभ कीजिए न ! राम ने कहा लक्ष्मण को, 'सुनने में आया है कि प्रजा हमारी निन्दा कर रही है . ...।' बस इतना सुनना था, यह रही मर्यादा। अर्द्धांगिनी से बातें नहीं कीं, सिर्फ सुनी बात का पकड़ एकतरफा फैसला दे डाला। और सीता ? भारतीय नारी का चरमोत्कर्ष, सहनशीलता की पराकाष्ठा ! सीता को भी तलाक का अधिकार मिलना चाहिए था।"

"राम को तो मनुष्य-रूप में गलतियाँ करनी ही पड़ीं। लेकिन आगे ?"

"हाँ, आगे एक ही तब ! जो अधिक प्रसिद्ध हैं, जिनमें संदेह की जगह न हो, उन्हीं को लो न ! दुष्यन्त ने शकुन्तला को कहा होगा, 'तुम मेरा प्रेम स्वीकार कर लो, मैं आजीवन तुम्हारा ही रहूँगा।' और शकुन्तला धरती कुरेदती रही होगी, मुँह से क्या कहती। पीछे दुष्यंत ऐसा भूले कि बस। यही भूल बराबर दुहरायी जाती रही है। कहीं, डिलिबरेट, कहीं संयोगवश। मनु गर्भवती श्रद्धा को छोड़ कर आये थे। बुद्ध साता यशोधरा को त्याग आये थे। तुलसीदास को एक झटके में जो ज्ञान हुआ, उसे उतार कर रखा, तो नारी को शूद्र और पशु से भी बदतर बतलाया। क्या इतने से छल अत्याचार नहीं सिद्ध होता। फिर भी ये महान् थे, आदर्श थे। मेरी समझ से इन महामानवों को विसर्जित कर देना चाहिए। जो बीसवीं सदी में आ कर भी इनके आदर्शों की बातें करते हैं, गंगा की धारा में उन्हें नितरने को डाल देना चाहिए।"

"लेक्चर तो सुन्दर हुआ, लेकिन आजकल की छूट गयी।"

"क्या कल और क्या आज। आदमी वही है, वही घटनाएँ फिर-फिर कर घटती हैं, फर्क इतना ही है कि जो होता है, सभ्यता के नाम पर। तुम 'घेरे के बाहर' पढ़ रहे थे न ? देखा, किसकी क्या इज्जत है ? और भेद कहाँ है ? पुरुष स्त्रियों को सगी न समझ सम्पत्ति अब भी समझते हैं जैसे, घड़ी है अंगूठी है। इस समझने का बाह्य भले भिन्न हो, मैटर सब में एक ही है। फिर किसकी गरदन भारी है, जो कहे कि विवाह केवल कंट्रेक्ट है, धर्म नहीं।"

"आखिर स्त्रियाँ चाहती क्या हैं ?"—मैंने ऊब कर पूछा।"

"चाहने से क्या होता है। हो तब, वे कुछ अधिक तो नहीं माँगती। समान अधिकार, विकास की समान सुविधाएँ। अगर पोंगा-पंथियों को छोड़ भी दो तो प्रगतिवादी भी अंदर से डरते हैं, कहीं स्त्रियाँ उनके हाथ से बाहर न हो जाएँ।"

अब तक इतने आक्षेप पुरुषों पर होते रहे। मैं भी कुछ कहूँ, अपने को अयोग्य प्रतिनिधि नहीं सिद्ध करूँगा। बोला—

"किन्तु नारी स्वयं माया, छलना आदि कही गयी है।

"उसका छल छिछला नहीं होता। गहराई होती है उसमें। सन्तान की ममता, परिवार का मोह।

"और पुरुष ?"

"समझ सकोगे तुम ? आज सुबह ही सयाने हुए हो। अच्छा सुनो, तुम लोग जो भी कहते हो, काम के कारण। तुम लोगों की समस्त चेतना सेक्स में ही केन्द्रित रहती है। अपने को ही लो न ! तुम सूट-बूट, टाई चश्मे में क्यों लैस रहते हो ? शाम को क्यों टहलते हो ? सिनेमा क्यों देखते हो ? उपन्यास क्यों पढ़ते हो ? अमला से बातें करना तुम्हें क्यों भला लगता है ? कभी सोचा है ? कारण

अपनी राह के निर्माता, जिम्मेदार आप हैं। उन्हें चिंता करने की कोई जरूरत नहीं।" किन्तु क्षण में अन्तर पर वही मुसकान।

"एक बात अब तक न कह सकी। सब निरर्थक नानमेंस बकती रही।"

"वह क्या ?"

"यह, कि मैं शादी कर रही हूँ। क्यों रुलाई आ गयी ? लेकिन उस बेवकूफ को तो घरजमाई बन कर रहना होगा।"

तो आखिर पहाड़ खोदने पर इतनी ही बात निकली। उत्तर दिया—"नहीं, सोच रहा हूँ कि लोग सिद्धान्त ताक पर रखते हैं, बैठते हैं सोफे पर आराम से।"

"इसमें सिद्धान्त की नहीं बात है। मैंने कोई प्रतिज्ञा तो की नहीं। समझो, एक पुरुष का उपकार कर रही हूँ, त्याग। पहले लोग कन्याओं का उद्धार किया करते थे, अब वरों का आया है।

"पात्र ?"

"पात्र की परख मुझे करनी है, उसे मेरी। फिर मियाँ बीबी राजी तो .."

"अगर पटी नहीं तो ? मान लो तुम्हारे मनोभावों को न पढ़ सका, या परंपरावादी, बुर्जुआ, नर्मपंथी हो।"

'यही सब तो देखना है। बाद में मैं अत्याचार सहने वाली नहीं। परंपरा का उत्तर विद्रोह है सीता सावित्री के नाम हैं, तो अपने-अपने कारण से। उसी ठुकी-पिटी लाइन पर चलना इला नहीं जानती।

'फिर जाँच कैसे होगी ? फिजिकल, केमिकल, साइकोलाजिकल, या इंटर्व्यू।"

"इंटर्व्यू ही। नौकरी लेते समय भी गये होगे। कल सुबह पिता जी ने चाय पर बुलाया है। तुम भी रहना, इसी कमरे में जमाव होगा। ड्राइंग रूम के लिए मना किया है, न जाने क्यों। और वह पूरे ठाठ से आएगा तौर-तरीकों की रिहर्सल कर। सीखना।'

"किन्तु, वह है कौन ?

"अब कल।"

पर सुबह कोई आए तब। ज्ञात हुआ कि शाम को। यह भी कि उम्मीदवार पुरोहित नाई आदि के कन्वेंशनल और फिजियोलाजिकल, एथ्रोपोलाजिकल साइकोलाजिकल आदि टेस्टों में सफल उतरे हैं। एक इंटर्व्यू बाकी है, जिस पर आगे का सब कुछ निर्भर है। मैंने पूछा, "और तुम ?"

"अरे, मुझे कौन-सी परीक्षा देनी है।" इस बात में संदेह करना ठीक नहीं था। अस्तु शाम हुई। मैंने बिस्तर फैला कर पुस्तकें पत्रिकाएँ इस तरह बिखरा दीं कि लगे, "हाँ, यहाँ कोई पढ़ाकू रहता है।"

छह बजे के आसपास पिता जी 'किन्हीं' के साथ घुसे। कहा, "नरेश, इन्हें तो तुम पहचानते होगे।" मैंने सोचा, "इन्हें, और न पहचानूँगा। अच्छी तरह जानता हूँ। किसी छात्रा से शादी न की, गनीमत है। तीन महीनों तक हमारे कालेज में लेक्चरर थे। तब सुबह शाम प्रणाम करता था। खैर, अभी तो बढ़ कर उन्होंने ही हाथ जोड़े। सहज प्रोफेसरी टोन में पूछा, "कैसा कर रहे हैं आजकल ?"

मैंने भी, "हाँ, चल रहा है।" कह कर छुट्टी पायी।

'नरेश, आपका स्वागत तुम्हीं को करना है। मुझे आवश्यक कामों से बाहर जाना पड़ेगा।"

मैंने सोचा, प्रोसपेरो भी जरूरी काम करने चला गया था, कण्व भी पहले से ही गायब रहे। आखिर पता पिता है न ! आगन्तुक को आसन दिया। वह उसी कुर्सी पर विराजे, जिस पर मैं रोज बैठता था। अब मैंने उनकी तैयारियों पर ध्यान दिया। शानदार सूट, कामदार बूट, चार्ली परफ्यूम। आखिर विवाह-प्रस्ताव ले कर आये थे ! वातावरण बनाने के ख्याल से काव्यचर्चा शुरू कर दी। मैं खाक-पत्थर समझ रहा था, किन्तु पाण्डित्य है, किसी पर सिक्का जमना चाहिए। रवीन्द्र को अमुक-अमुक विदेशी कवियों से प्रभावित बतला रहे थे। सार यह कि गीतांजलि' में केवल रवीन्द्र का ही नहीं, उधार का भी है पछांह के बनियों से। ऐसा क्रिटिक कोट कहते हैं। कि इसी समय दीदी आ धमकी।

छूटते ही मुझसे पूछा, "तुम बंगला भी जानते हो ?"

संकेत प्रोफेसर की ओर था।-प्रकट में उन्हें तो मंद मुस्कान के साथ अभिवादन मिला। उन्होंने उत्तर तो दिया किन्तु मेरे बंगला-ज्ञान की बात से कुंठित हुए होंगे। ऐसा मैं इसलिए सोचता हूँ कि वह भी बंगला अधिक नहीं जानते थे (जैसा बाद में मालूम हुआ)।

दीदी बैठी ठीक उनके सामने। अब चाय आयी तो तैयार कर देना अनिवार्य था। चीनी के सम्बन्ध में पूछा गया। प्रोफेसर रुद्रदत्त ने बतलाया कि वह कुछ मीठा ही पसन्द करते हैं। इला दीदी ने किंचित् मुसकरा कर कहा, "मरदों को थोड़ी तीखी ही पीनी चाहिए।"

यह हुई भूमिका। मैं बाहर जाने लगा किन्तु जा नहीं सका, रुका, देखा वह कुछ सोच रही है, बोली, "तुम भी रहो न। अच्छा रहेगा।' और प्रोफेसर साहब क्या बोलते !

दीदी जैसे जोर लगा कर बोली, 'आपके आने का कारण मैं जानती हूँ। आपको बकायदा मनोनयनपत्र नहीं पेश करना होगा। आप अपने प्रश्न रख सकते हैं।"

रुद्रदत्त जी क्या पूछते, रूप लिए वह प्रत्यक्ष थी, शिक्षा-शील में संदेह की जगह न थी, गाने का हाल स्वयं जानते न थे, शास्त्रार्थ करने से अविश्वास प्रकट होता। बस चुप थे। दीदी को ही बोलना था—'मेरे कुछ सवाल हैं। आपको आपत्ति तो नहीं ?"

'ठीक है ठीक है ." यह रही स्वीकृति।

"अच्छा, आप मुझे सहधर्मिणी बनाना पसंद करेंगे या सहधर्मी बनना ?

इस प्रश्न के साथ धैर्य रखना मुश्किल हो गया, बहाने के साथ बाहर आया। पुन जब लौटा तो पाया कि प्रोफेसर साहब दीदी के सादे से भी साधारण पोशाक को घूर रहे थे, शायद धर्म की खोज कर रहे हों। मुझे उनके सज के सूट का धर्म याद आया।

"अच्छा, आप स्त्रियों की सर्वतोमुखी स्वतन्त्रता में विश्वास रखते हैं ?"

"सर्वतोमुखी माने ?" प्रोफेसर ने व्यंग्य से पूछा।

व्यंग्य से ही उत्तर "मतलब तो साफ है, क्या हिंदी कम समझते हैं ? ऐसे तो बड़ी मुश्किल होगी।"

'मैंने इस पर कभी अधिक विचार नहीं किया। जरूरत भी क्या है।"

"इसीलिए कि भारतीय संस्कृति के विरुद्ध पड़ता है। आप लोगों को शर्म चाहिए न : संस्कृत, कल्चर्ड। जाने दीजिए इन सब बातों को। प्रोफेसरी पसंद है आपको ? यों तो, जैसा लोग कहते हैं, बहुत बोरिंग नौकरी है। लेक्चर, लेक्चर, लेक्चर। शरीर दिमाग दोनों की गत बन जाती है।"

इस बात में प्रोफेसर ने थोड़ा अपनापा पाया। उत्साह से बोल चले—"हाँ मैं भी सोचता हूँ कि बहुत तकलीफदेह है। सोचा है, I A S. कंपिटीट करूँ।'

"अच्छा विचार है।' दीदी ने सहमति जतायी, "किन्तु स्वास्थ्य का भी ख्याल रखा कीजिए बड़े लापरवाह हैं। मैंने तो सुना कि जन्म के तीसरे दिन ही प्रोफेसरी में जुत गये, ज़रा आराम तो ले लेते। बुद्धि के साथ बल भी तो चाहिए।"

व्यंग्य को अनदेखा कर, अपनापा खोज, व्याख्या चाही 'जन्म के तीसरे दिन ?"

'मतलब एम० ए० पास करने के तीसरे दिन।" मेरा भी रिजल्ट निकलने वाला ही है। मैंने भी लेक्चररी को ही सोचा है।"

"किन्तु . ..." प्रोफेसर साहब ने ऐसे असहमति प्रकट की जैसे दीदी पर उनका कोई अधिकार हो।

चलते समय प्रोफेसर ने हाथ बढ़ाया। दीदी ने भी शायद अनिच्छापूर्वक हाथ बढ़ाया, कहा, "मैं आपको सूचना दे दूँगी।"

बाद में पिताजी को कहा, उन्हें स्वीकार नहीं। दासीत्व पसंद नहीं, स्वतन्त्रता प्रिय है। वह क्या कहते।

मुझे आश्चर्य था, इतनी पुस्तकें पढ़ इतना ज्ञान बटोर, दीदी ऐसे सोचती थीं, जैसे वह एक युनिट हो, इकाई।

किन्तु मैं नहीं, दीदी। उन्हें ही ऐडवेंचर की सूझी है। और संसार में पागल एक दो नहीं होते, उनकी बस्तियाँ बसती हैं, उपनिवेश मेंटल हास्पिटल। हमारे सहयात्री भी तो पागल ही हैं। जोड़े-जोड़े गरम कपड़ों से लैस, एक दूसरे को सहयोग देते, सहारा देते। यहाँ दासीपन नहीं है, गुड़ियापन नहीं है, देवीपन नहीं है कंट्रेक्ट है, समझौता। मैं सोचता हूँ इनका ही जीवन है।

जीवन भी एक चढ़ाई है, जिसे अकेले चढ़ना मुश्किल है। मान हमें सब से आगे कर देता है, बुद्धि जैसे धकेलती जाती है पर आदमी थक जाता है गिर पड़ता है। दीदी ने मुड़ कर उन सबों को देखा है। मुझसे कहा, "तुम्हारी श्रीमती जो भी साथ होती तो इतना आगे हम नहीं आ पाते।" अच्छा है। ठीक हुआ जो अमला ..किन्तु हम सबसे आगे हैं. परिमित पूँजी के साथ जो दोष होती जा रही है, पाँव डगमग पड़ रहे हैं, ज़रा सा इधर से उधर हुए कि .

मैं उनकी दशा देखता रहा। उनकी विवशता निरखता रहा, असमंजस में डोलता रहा।

और वह डिसेपरेट हो गयी, हाँ डिसपरेट।

उन्होंने कातर दृष्टि से मुड़ कर देखा। वह स्वर, जो दुविधा का शत्रु है—

"अरे नालायक! क्या मैं मर जाऊँ?"

और हम लोग सैर को निकले थे। शिमले आ कर शृंगों पर चढ़े-उतरे, नहीं तो क्या हुआ। इसलिए जाकू जाना आवश्यक है। रात बरफ पड़ी है, आज दिन भर फूट्रियाँ गिर रही हैं, आस्तीन पर बटोरा। उज्ज्वलता, शीतलता, कोमलता और, जाने क्या-क्या। धरती उजली हो गयी है आसमान उजला हो गया है। क्या यह साम्यवाद नहीं? किन्तु यह ठंड है सो 'पोयटिक मूड' को जमा देता है। हवा लगने पर लगता है, बर्छियाँ चुभीं।

तो हमारा पागलपन है कि हम चढ़ रहे हैं।

लौटने पर वह दो दिन दो रात सोती रहीं या सोचती रहीं, कौन कहे। प्रत्यक्ष वह बीमार थीं। इस बीमारी की जिम्मेवारी मढ़ी गयी मुझ पर। माँ बिस्तर पर बैठी रहीं। पिता फिर-फिर कर आते रहे। असल में "बिटिया का कभी ठंट लगा न थी।"

अच्छी होने पर या रुग्णावस्था में ही दीदी ने विवाह की स्वीकृति माँ को दी थी—"बरेली वालों को चिट्ठी लिख दी जाए।"

हंसराज 'रहबर' | प्रगतिवाद बनाम यथार्थवाद

दो साल पहले मार्च सन् १९५३ में, प्रगतिशील लेखक-संघ का छठा अधिवेशन दिल्ली में हुआ, जिसमें एक नया घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया। उससे यह आशा बँधी थी कि प्रगतिशील आंदोलन फिर फले-फूलेगा और यह घोषणा-पत्र लेखकों और कलाकारों को नयी रचनाओं की प्रेरणा देगा, और समुचित दिशा में उनका नेतृत्व करेगा। लेकिन इस दो साल के अरसे के बाद हम देख रहे हैं कि साहित्य का प्रगतिशील-आंदोलन पहले से कहीं अधिक निर्जीव और शिथिल है, और साहित्य-सृजन के बारे में बराबर गतिरोध महसूस किया जा रहा है। आंदोलन की यह दुर्दशा देख कर बहुत सी बातें उठती हैं और लोग मनमाने निष्कर्ष निकालते हैं। उर्दू के एक बुजुर्ग और पुराने लेखक ने इस बारे में हाल ही में लिखा है, 'प्रगतिवादी कविता अथवा साहित्य का उद्देश्य समाज-सुधार अथवा साहित्यिक न था, राजनीतिक और समाजवादी था। उसकी उम्र बीस-पच्चीस साल से अधिक नहीं है। राजनीतिक और समाजवादी दृष्टि से उसमें चाहे जितनी उन्नति हुई हो, सुधार और साहित्य की दृष्टि से उसे सफलता नहीं मिली . . ."

लेखक महोदय ने अपने इस वक्तव्य को सही सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ और प्रमाण जुटाये हैं, मुझे उनसे बहस नहीं है। वे निश्चय ही निराधार और भ्रामक हैं। देखना यह है कि प्रगतिशील आंदोलन अब जिस दीन अवस्था में है, अगर परिस्थितियों का सही विश्लेषण न किया गया, तो लोग ऐसे ही निराधार और भ्रामक निष्कर्षों पर विश्वास करने लग जाएँगे, जिससे साहित्य और संस्कृति के भावी विकास की स्वाभाविक दिशा निर्धारित करना कठिन हो जाएगा, और वर्तमान गतिरोध और असंतोष की अवधि कुछ और बढ़ जाएगी।

यह कहना दुरुस्त नहीं है कि प्रगतिशील-आंदोलन का उद्देश्य समाज सुधार और साहित्यिक न था, राजनीतिक और समाजवादी था। यह वह पुराना और रूढ़िवादी दृष्टिकोण है, जो साहित्य, समाज और राजनीति के पारस्परिक गहरे सम्बन्ध की सदा उपेक्षा करता आया है और आगे भी उपेक्षा करने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक युग में वह कोई न कोई रूप ले कर सामने आता है और आज उसने हमारे देश में साम्यवाद के विरोध का रूप धारण कर रखा है। जिन लोगों ने प्रगतिशील लेखक संघ की नींव रखी, उनमें चन्द नौजवानों के अतिरिक्त वे बुजुर्ग शामिल थे, जिन्हें समाजवाद अथवा साम्यवाद से कोई सरोकार नहीं था, जो देश में राजनीतिक नेता के रूप में नहीं, साहित्यिक के रूप में प्रसिद्ध थे, और उस समय जो घोषणा-पत्र स्वीकृत हुआ था, उसमें आंदोलन के उद्देश्यों का पता चलता है। लिखा है, 'हमारे संघ का उद्देश्य यह है कि साहित्य और ललित कलाओं को रूढ़िवादियों के घातक प्रभाव से मुक्त कराया जाए और उनको जनता के सुख दुःख और संघर्ष का माध्यम बनाकर उस उज्ज्वल भविष्य का मार्ग दिखाया जाए, जिसके लिए मानवता इस युग में प्रयत्नशील है।"

संघ का यह उद्देश्य बहुत ही उत्तम और स्पष्ट है और इसका अर्थ यह है कि साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधि होता है। उसका कर्तव्य यह है कि वह अपनी रचनाओं को युग-सत्य और वस्तु-स्थिति का दर्पण बनाए, और साहित्य की उपयोगिता और जनता के सुख दुख को समझे और कल्पना की भूल-भुलैया में खो जाने के बजाय पूरी ईमानदारी के साथ 'कला जीवन के लिए' के सिद्धान्त को अपनाए। जो व्यक्ति इस उद्देश्य के सुधारक और साहित्यिक होने से इनकार करता है और उसे राजनीतिक और समाजवादी बताता है, उसके लिए चुप रहना ही बेहतर है। इसी प्रकार के रूढ़िवाद और विडम्बना के विरुद्ध संघर्ष करना प्रगतिशील-आंदोलन का प्रमुख कार्य रहा है।

और इसी संघर्ष के कारण आंदोलन में वह भूल हुई, जिससे उसमें वे त्रुटियाँ शुरू से ही आ गयीं, जिन्होंने उसे आज असफल और निर्जीव बना दिया है। उन त्रुटियों पर विचार करना इस लेख का अभीष्ट है।

दुर्भाग्यवश आंदोलन के प्रारम्भिक दो-तीन वर्षों के बाद ही उसकी बागडोर ऐसे नौजवानों के हाथ में आ गयी, जिन्होंने कालेजों और युनिवर्सिटियों में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, जो पतनोन्मुख साम्राज्यवादी लेखकों से प्रभावित थे, जिनका जनता से कोई सम्पर्क नहीं था और जिन्हें देश की ऐतिहासिक और साहित्यिक परम्परा का न कुछ अधिक ज्ञान था, और न उसके प्रति आदर और सम्मान। वे 'नये' की धुन में इतने रँगे हुए थे कि उन्होंने साहित्य के राष्ट्रीय स्वभाव को भुला कर रूप और टेकनीक के नये-नये प्रयोग शुरू कर दिये। रूढ़िवाद के विरुद्ध संघर्ष के उन्माद में प्राचीन साहित्य में जो कुछ सुन्दर और स्वस्थ है, उसे भी स्वीकार करने से इनकार कर दिया। इससे पहले अध्यात्मवाद और अयथार्थ चित्रण हमारे साहित्य की प्रमुख विशेषता थी, अब उसका स्थान अश्लीलता, नग्नता और यौन-प्रधान साहित्य ने ले लिया (विशेष रूप से उर्दू में)। फ्रायड के अनुयायी इन नौजवानों ने इसे निर्भीकता और स्वतंत्रता का नाम दिया, और कहा कि समाज में जब यह सब कुछ हो रहा है तो इसे चित्रित करने से झिझकना निश्चय ही रूढ़िवाद है।

जब बुजुर्गों ने उन्हें पुचकारने और समझाने के बजाय इस अराजकता के लिए डाँटना शुरू किया तो पुराने और नये के नाम पर बुजुर्गों और नौजवानों में ठन गयी। अगर ठंडे मन से विचार किया जाए तो साहित्य के प्रगतिशील आंदोलन का गत सतरह अठारह साल का इतिहास विशेषतः आपस की दाँता किलकिल का इतिहास है। अगर अब तक उसका परिणाम हितकर और उपयोगी सिद्ध नहीं

हुआ तो हमें समझ लेना चाहिए कि आगे भी नहीं होगा। जो बुज़ुर्ग थे, उनमें से अधिकतर इस दुनिया से जा चुके हैं, और जो रह गये हैं, वे जाने को तैयार बैठे हैं, इसलिए उनसे लड़ना-झगड़ना व्यर्थ है। और उस समय जो नौजवान थे, उनकी जवानी भी आज ढल चुकी है। बाद में आने वाले नये लेखक ख़ुद उन पर गिरोहबंदी आदि के दोष लगा रहे हैं, और वर्तमान असन्तोष और गतिरोध के लिए उन्हें ज़िम्मेदार ठहरा रहे हैं।

मैं समझता हूँ कि इस असन्तोष और गतिरोध के लिए व्यक्ति नहीं, प्रवृत्तियाँ और घटनाएँ ज़िम्मेदार हैं, और हम उन्हीं से बहस करनी चाहिए। लेकिन प्रवृत्तियों और घटनाओं का कोई अलग अस्तित्व नहीं होता, वे भी व्यक्तियों के ही द्वारा प्रकट होती हैं, इसलिए महज़ प्रवृत्तियों को लेकर बहस करना सम्भव नहीं होता। उनके प्रतिनिधि व्यक्ति अनायास सामने आ जाते हैं। आन्दोलन की बुनियादी कमज़ोरियों को समझने-समझाने के लिए कुछ ग़लत प्रवृत्तियों का उल्लेख अनिवार्य है। अगर कुछ व्यक्तियों को यह बुरा लगे, तो वे झुँझलाने और नाक-भौं चढ़ाने के बजाय आत्म-आलोचना के सिद्धान्त को मानते हुए सजीदगी और ईमानदारी से इस बहस में हिस्सा लें और इसे आगे बढ़ाएँ, ताकि हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकें और वर्तमान परिस्थिति से निकल सकें।

संघ के घोषणा पत्र में कहा गया था कि "भारतीय साहित्य की एक बड़ी विशेषता यह रही है कि वह जीवन की ठोस और यथार्थ वस्तु स्थिति से जी चुराना चाहता है। सत्य और वास्तविकता से भाग कर हमारे साहित्य ने निराधार अध्यात्मवाद और काल्पनिक चित्रण की आड़ में पनाह ली है।' इस ग़लत प्रवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए नौजवानों ने यथार्थ चित्रण का मार्ग अपनाया। लेकिन इस यथार्थ-चित्रण में वे डी० एच० लारेंस, जेम्स ज्वाइस, टी० एस० इलियट और इज़रा पौंड आदि पतनोन्मुख साम्राज्यवादी लेखकों से प्रभावित थे, और फ्रायड के सिद्धान्तों के अनुसार पुरुष और स्त्री के यौन-सम्बन्धों का चित्रण ही उनके समीप जीवन का सबसे बड़ा सत्य था। अतः आन्दोलन की बागडोर (सन् '३८-३९) नौजवानों के हाथ में आते ही छह-सात साल तक पाश्चात्य फ्रायडवादी लेखकों के अंधे अनुसरण को ही प्रगतिवाद का नाम दिया गया। आन्दोलन के नाम पर जिस नये साहित्य का निर्माण हुआ, उसमें नग्न-अश्लील, अराजकता और अश्लीलता का खुल कर प्रचार हुआ। इस रुझान का जो विरोध हुआ और इस सम्बन्ध में जो बहसें छिड़ीं, उनके ब्यौरे में जाना व्यर्थ है। नौजवानों ने अपने नये साहित्य का धड़ल्ले से वकालत की और कहा कि हमारे साहित्य में जो कुछ अश्लील और असुन्दर है, वह समाज की असुन्दरता और अश्लीलता है। हम यथार्थवादी हैं, समाज के जर्राह हैं, उसकी दुखती रगों पे नश्तर लगाते हैं और उसकी गन्दगी और बीमारियों को उघाड़ कर दिखाते हैं, ताकि उनका निदान हो सके। भारतीय नारी सदियों से पुरुष की दासी है उसे बरबस गृहस्थी की चारदीवारी में बन्द करके रखा गया है। अगर वह अपनी सुन्दरता का प्रदर्शन करना चाहती है, आज़ादी और अधिकार की माँग करती है, तो हम उसकी आज़ादी और अधिकारों के समर्थक और पक्षपाती हैं। रूढ़िवादियों और प्रतिक्रियावादियों को अगर यह सब-कुछ खलता है तो खला करे, हमें इसकी परवाह नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था बहुत ही रूढ़िग्रस्त और जर्जर है और इसमें अभी तक पिछड़े हुए सामन्ती सम्बन्ध क़ायम हैं, ब्याह के रिवाज सदियों पुराने हैं, स्त्री पुरुष को प्रेम का अधिकार प्राप्त नहीं है, जीवन को कोमल और सुन्दर बनाने वाले रोमांस का एकदम अभाव है। मगर इसका यह इलाज कदापि नहीं कि इन सामाजिक सम्बन्धों को बिलकुल खत्म कर दिया जाए और यौन अराजकता और अनाचार उनका

स्थान ले ले। वर्तमान समाज और उसमें स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बन्ध सदियों के ऐतिहासिक विकास के परिणाम है। सामाजिक जीवन को अधिक सुन्दर बनाने के लिए वैज्ञानिक ढंग से इन सम्बन्धों के विकास की आवश्यकता है। इस युग के साहित्य में मनुष्य का हीन रूप ही अधिक चित्रित हुआ है। उसे चोरा, कौदा और कुत्तों से अधिक असभ्य, बर्बर, नीच और स्वार्थी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। यह एकदम पतनोन्मुख साम्राज्यवादी लेखकों का सिद्धान्त है, जिनका खयाल है कि पूजीवादी युग तक संसार की जो उन्नति सम्भव था, वह हो चुका। मनुष्य सभ्यता और संस्कृति के शिखर पर पहुँच कर अब फिर पतन की ओर जा रहा है। दरअसल बर्बरता और वहशत उसकी प्रकृति का अविच्छेद्य अंग है। वह उन्नति और विकास की अवस्था में भी उसका पिंड नहीं छुड़ा सका, अब कृत्रिम सभ्यता और संस्कृति का खोल उतर रहा है और उसका जन्मजात स्वभाव प्रकट हो रहा है।

लेकिन इतिहास साक्षी है कि मानव सभ्यता और संस्कृति का आश्चर्यजनक विकास हुआ है और इस विकास में विज्ञान, उद्योग और ललित कलाओं का बड़ा हाथ रहा है। इस बीच में मनुष्य की काया-पलट हुई है और बर्बरता के युग के बहुत-से संस्कार अब लेशमात्र भी उसमें बाकी नहीं है। निकट भविष्य में जो वर्ग-रहित समाज स्थापित होगा उसमें शोषण, स्वार्थपरता और दुःस्वार्थप्रियता की प्रवृत्ति का अन्त हो जाएगा। वहशत और बर्बरता के जो भौतिक कारण है, उनके दूर हो जाने के बाद हर तरह के लड़ाई-झगड़े और राष्ट्रीय द्वेष का कोई आधार न रह जाएगा। फिर शान्ति और मैत्री के जिस युग का सूत्रपात होगा, उसमें मनुष्य इस समय से कहीं अधिक सुसभ्य और सुसंस्कृत होगा।

इस तरह निराधार रोमासवाद के इस युग मे सामाजिक और ऐतिहासिक सत्य का बुरी तरह तोड़ा-मरोड़ा गया और यथार्थ के नाम पर अयथार्थ का समर्थन किया गया।

यद्यपि इस प्रवृत्ति को बहुत पहले गलत मान लिया गया है, लेकिन गलती मान लेना ही काफी नहीं होता। प्रत्येक प्रवृत्ति का सामाजिक और वर्गीय आधार होता है। जब तक उस पर सजग रूप से प्रहार न हो और उस प्रवृत्ति के विरुद्ध तीव्र और सतत संघर्ष न किया जाए, उसे खत्म करना सम्भव नहीं। अब भी प्रगतिवादी आंदोलन में उसका प्रभाव अत्यन्त सबल है और गिरोहबन्दी के कारण जाने अनजाने उसकी हिमायत हो रही है, या अधिक-से अधिक उसकी उपेक्षा की जा रही है। प्रगतिशील कहलाने वाले लेखकों की रचनाओं में स्त्री और पुरुष का एक दूसरे की ओर आकर्षित होना नाक छीकने से भी सहज है। इसलिए कई बार उन पर अश्लील और 'ड्रैब' होने का दोषारोपण भी होता है।

इस प्रवृत्ति को गलत मान लेने के बाद "रोमान से इनक़लाब तक*" का जो नया युग शुरू हुआ, उसमें भी सामाजिक और ऐतिहासिक सत्य और यथार्थ को कुछ कम तोड़ा मरोड़ा नहीं गया। प्रगतिवाद में लोकप्रिय नारों ने अत्यन्त भोंडा और विकृत रूप धारण कर लिया। यह सच है कि साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधि होता है। उसका अर्थ है कि उसके समय तक ऐतिहासिक शक्तियों का जो विकास हुआ है, साहित्य, विज्ञान और दर्शन की जो उन्नति हुई है, साहित्यकार उसे समझे और फिर अपने अनुभव के प्रकाश में यथार्थ और वास्तविकता को इस ढंग से प्रस्तुत करे कि उसकी कला-कृतियाँ ऐतिहासिक विकास का, जनता की चेतना और प्रतिक्रिया के विरुद्ध उसके संघर्ष को, आगे बढ़ाने में सहायक और उपयोगी सिद्ध हो सकें। मगर जोशीले नौजवानों ने गहराई में जाने की जरूरत ही महसूस नहीं की और यों भी इसमें मेहनत कुछ ज्यादा पड़ती है। इसलिए उन्होंने इसे 'दो और दो चार'

* सरदार जाफ़री की कविता, १९४८।

उनमें छपती है तो इसका अर्थ यह है कि हम उनके द्वारा अधिकाधिक जनता तक पहुँचते हैं। सवाल यह पैदा होता है कि वह किस प्रकार की जनता है, जिसमें ये पत्र-पत्रिकाएँ पसन्द की और पढ़ी जाती हैं। फिर कुख्यात अर्ल स्टेनले गार्डनर जैसे अमरीकी साम्राज्यवादी लेखकों की विदेशी कृतियाँ भी इन्हीं पत्रिकाओं के माध्यम से जनता तक पहुँचती हैं। समझ में नहीं आता कि प्रगतिवाद और घोर प्रतिक्रियावाद के डांडे यहाँ आ कर परस्पर क्यों कर मिल जाते हैं?

आखिर जीवन के इस विरोध का—इस दोहरे चरित्र का कारण क्या है, कि एक ओर तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति बनाए रखने के लिए प्रगतिवाद का दम भरा जाता है और दूसरी ओर अश्लीलता का प्रचार और जनता के आचरण और रुचि को भ्रष्ट करने वाली पत्रिकाओं और उनके प्रकाशकों से सहयोग किया जाता है? ये लोग जो पारिश्रमिक इन 'प्रगतिशील' लेखकों को देते हैं। अपने पुराने और स्थायी लेखकों का उसका आधा अथवा चौथाई भी नहीं देते। मैं यह नहीं समझता कि इन लेखकों की रचनाओं पर इन पत्रिकाओं की लोकप्रियता निर्भर है। अगर कुछ ऐसी ही बात होती तो वे साहित्यिक पत्रिकाएँ क्यों लोकप्रिय नहीं हो गयीं, जिनमें वे शुरू से लिखते आये हैं? आखिर खुद उन्हें जनता तक पहुँचने के लिए इन अश्लीलता और निराशावाद का प्रचार करने वाली पत्रिकाओं का क्यों सहारा लेना पड़ा?

यह स्पष्ट है कि प्रगतिशील-आंदोलन और स्टेज, जिन उद्देश्यों के प्रसार और प्रचार के लिए स्थापित हुए थे खुद प्रगतिवादियों ने उन उद्देश्यों को विकृत किया है, जिसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि वह आन्दोलन और स्टेज आज समाप्त हो रहे हैं। उद्देश्य से भटक जाने का नतीजा ही वर्तमान असंगठन, गतिरोध और बेचैनी है।

अब रह गया यह सवाल कि क्या प्रगतिवाद का उद्देश्य समाजवाद का प्रचार था। समाजवाद की कई किस्में हैं। एक काल्पनिक समाजवाद (Utopian Socialism) है, जो वैज्ञानिक अथवा मार्क्सवादी समाजवाद से भिन्न है। दासता के युग से ले कर जब से समाज में वर्ग विभाजन हुआ है, दुनिया के सत्पुरुष वर्ग-शोषण, अत्याचार और अन्याय का विरोध करते आये हैं। उन्होंने मानव भ्रातृभाव पर स्थापित एक सुखी और समृद्ध समाज के स्वप्न देखे हैं, जिसमें अन्याय, अत्याचार और शोषण सदा के लिए खत्म हो जाएँगे। समाज की एक विशेष अवस्था तक काल्पनिक समाजवाद का यह सिद्धान्त भी प्रगतिशील है, क्योंकि उसमें जनसाधारण को अन्याय और अत्याचार का विरोध करने की प्रेरणा मिलती है। हमारे समाज की भी इस समय जो अवस्था है, उसमें इस प्रकार का साहित्य चाहे उसका आधार सुधारवाद और आदर्शवाद ही क्यों न हो, प्रगतिशील है।

दूसरी किस्म—वैज्ञानिक समाजवाद अथवा मार्क्सवादी समाजवाद है, जिसे साम्यवाद भी कहते हैं। यह साम्यवाद अथवा मार्क्सवाद एक ऐसा विज्ञान है, जो समाज और उसकी संस्कृति को ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि में समझने में सहायता देता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त उसके मूलाधार हैं, जिनके द्वारा हमारे इस युग में विज्ञान, दर्शन और साहित्य ने आश्चर्यजनक उन्नति की है, और महत्तर उन्नति के मार्ग खोल दिये हैं।

यहाँ इस बात की गुंजायश नहीं कि साहित्य और मार्क्सवाद के आपसी सम्बन्ध पर विचार किया जाए। कहना सिर्फ यह है कि प्रगतिशील आंदोलन के आरम्भ ही से बहुत से नौजवानों का रुझान मार्क्सवाद की ओर था। उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिन्होंने, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को अभी तक नहीं समझा, इसलिए साहित्य में उसे लागू करने अथवा मार्क्सवाद को एक रचनात्मक शक्ति बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने जिस प्रकार दूसरे सत्यों और सिद्धान्तों को विकृत किया

उसी प्रकार मार्क्सवादी सिद्धान्तों को भी विकृत किया है। उदाहरण के लिए मार्क्सवाद के अनुसार नैतिकता की भौतिकवादी व्याख्या यह है कि इन्सान अपने आप अच्छा या बुरा नहीं होता, सामाजिक परिस्थितियाँ ही उसे अच्छा या बुरा बनाती है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बदल दो, तो इन्सान आप ही-आप बदल जाएगा। इस युग के प्रगतिशील साहित्य में इस सिद्धान्त को अश्लीलता और अनाचार के समर्थन के तौर पर इस्तेमाल किया गया। आपको ऐसी कहानियां मिलेंगी, जिनमें बताया गया कि एक मजदूर को हड़ताल में हिस्सा लेने के कारण मिल से निकाल दिया गया, अथवा एक ग्वाले की गायें और भैंसे बीमारी से मर गयीं तो जीविका का और कोई साधन न होने के कारण वह पत्नी से पेशा करवाने पर मजबूर हो गया। तथा एक शरीफ नौजवान है। घर पर क्वाँरी बहन और बूढ़ी माँ है, जिनका उसके सिवा और कोई सहारा नहीं और उसे कोई रोजगार नहीं मिलता, इसलिए उसने जेबकतरा बनना गवारा किया। अन्त में यह शरीफ नौजवान माँ-बहन की निःस्वार्थ सेवा में शहीद हो जाता है। बेचारे मजदूर, ग्वाले और जेबकतरे! मार्क्सवाद की यह समझ ऊँचे मध्यम-वर्ग की समझ है जो हर हालत में आत्मसेवी होता है और जिसके नजदीक नैतिकता का महत्व नहीं। इस वर्ग के पराश्रित मनोवृत्ति के बुद्धिजीवी अपने वर्ग की यह अस्थिर नैतिकता मजदूर और मेहनतकश जनता पर भी ठूँस देते हैं।

इनमें से बहुतों ने समाजवाद को फैशन के तौर पर अपनाया था और उसकी शिक्षा, ब्रिटिश साम्राज्यवादी लेखक जान स्ट्रेची की पुस्तक से प्राप्त की थी। अब वे डालरी संस्कृति के पक्षपाती हैं और कुछ अध्यात्मवाद के प्रचारक बने हुए हैं। उनमें कुछ साम्यवादी भी थे, जो कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे और अब तक हैं। लेकिन यह एक कटु सत्य है कि हमारे देश में मार्क्सवाद समाज, राजनीति और साहित्य में अभी तक रचनात्मक शक्ति नहीं बन सका। शुरू में नये सिद्धान्तों को समझना और सामाजिक स्थिति पर उन्हें लागू करना कठिन होता है। और कुछ लोग बदलती हुई परिस्थितियों से अनुचित लाभ भी उठाते हैं। इसलिए इस अन्तरकालीन युग में स्वच्छन्दता और अराजकता का कुछ समय अवश्य होता है। लेकिन दुर्भाग्यवश हमारे देश में यह समय कुछ अधिक लम्बा हो गया। इसके लिए उत्तरदायित्व किसी व्यक्ति विशेष पर नहीं, हम सब पर है। इसलिए बेहतर यह है कि वस्तुस्थिति पर गम्भीरता से विचार किया जाए और पुरानी गलतियों को दोहराने के बजाय उनके विरुद्ध ईमानदारी से सघर्ष किया जाए। प्रगतिशील साहित्य की जो पूँजी इस समय हमारे पास है, अगर किसी ऐसे यंत्र अथवा छलनी का आविष्कार हो सके, जिसमें इसे छाना जा सके तो उसमें से अधिकांश प्रतिक्रियावादी और व्यर्थ सिद्ध होगा, और जो लोग इस समय प्रगतिशील आंदोलन से बाहर हैं लेकिन लेखक हैं उनकी बहुत-सी रचनाएँ प्रगतिशील और उपयोगी सिद्ध होंगी। मेरा खयाल है कि यह काम अन्त में समय करेगा: क्योंकि समय ही सबसे बड़ा आलोचक है। समझने वालों के लिए वह अपना फैसला पहले ही से दे चुका। प्रगति-प्रगति चिल्लाने से काम नहीं चलेगा जो यथार्थ और सत्य है, उसे आत्मसात् करके और उसे जन-जीवन के विस्तृत और महान् अनुभवों के रूप में व्यक्त करके ही साहित्यिक और सांस्कृतिक आंदोलन आगे बढ़ सकता है।

आखिर में मुझे एक बार फिर यह कहना है कि सारी परिस्थिति पर गम्भीरता से विचार किया जाए। प्रगतिशील बनने से पहले तो लेखक बनना बहुत जरूरी है और यह बड़ी साधना और तपस्या का काम है। उर्दू कवि हाली ने कहा है:

फरिश्ते से बेहतर है इन्सान बनना
मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज्यादा।

राजेन्द्र यादव | कलैण्डर की अनबदली तारीख !*

न हुआ जरा-सा कष्ट
और यह महीना जैसे टिटक गया
धूल की परतों में लुकती-छिपती
कलैण्डर की तारीख महीने-भर पहले की,
ये हफ़्तों से बिखरे पर्चे सब
यद्यपि कमरे में नित आया बैठा हूं
पर कुछ मन ही न किया कि बदल डालूं
कलम हाथ में
आंखें खाली
घंटों ही इसको ताका है
तारीख न बदली गयी मगर !
जब-जब देखा
कुछ ऐसी अजब निगाहों से जैसे ये अरु अर्थ सब खो बैठे !
जब-जब हाथ बढ़े कि कोई बोला है
मैं क्यों बदलूं ?

इस दिन के बदले जाने में मेरा तो कुछ भी योग नहीं
फिर रात हुई
दिन बदल गया
डिक्टेशन लेते मुंशी-सा दिन की तारीखें बदल बदल
मैं कैसे कह दूं यह सब दिन जी कर ही मैंने काटे हैं ?
कभी-कभी देखा ही है
जीना कितना दुःसाध्य द्वन्द्वमय मुश्किल है
हलचल से हट
संघर्ष छोड़
अपनी खिड़की से सूरज को चढ़ता ढलता ही देख
करूँ स्वीकार कि दिन यह बदल गया
यह बात गवारा नहीं मुझे !
यह दिशा-हीन, चिर भाग दौड़
यह अर्थहीन-सी चहल-पहल !
कैसे क्षण-क्षण को ठेल बदल दिन को सकती ?

---

*"सुबह होती है शाम होती है, उम्र यों ही तमाम होती है !"

मन मान नहीं पाता सचमुच !
प्रश्नों की स्याही सोख हृदय की धड़कन चूस गया सारी !

यह एक महीने पहले की तारीख
शायद विश्वास दिलाने को बदली न गयी—
समय गतिशील नहीं !

वह वहीं रुका, ठिठका, ठहरा
कर रहा प्रतीक्षा मैं आ कर उसके चक्के को घुमा सकूं,
इतना बल संचित कर लूं
पर इस सच को झुठला भी तो आज नहीं सकता
सब घड़ियाँ टूटे फनर नहीं रखतीं
सुइयाँ समय न फाँद सकें
इसलिए सभी भयभीत नहीं कि चाभी ही न भरे !

सब लोग मुझी से उलझन में, प्रश्नों में डूबे नहीं पड़े !
वे खुद उठ कर—
"वह पेस्ट हमारा कहाँ गया ?
कुछ पानी दो तो 'शेव' करूँ
बदनो को कितनी बार कहा ।"
या चाय चढ़ा कर घर वाली
कुछ खटर-पटर करती-करती
उठ बहुत अँधेरे-मुँह जग कर
"देखो जी, आटा नहीं रहा
यह महरी रात नहीं आयी
अब उठो, दफ्तर जाना है ।"
हो इधर उधर कुछ झाड़-पोंछ
तारीख बदल ही देती हैं !

ꝋꝋꝋ

विष्णुस्वरूप | प्रेत

अपनी इठलाहट मे अधी बनी मौत, किसी शिकारी के तीखे तीर की तरह बूढे चाचा के ऊपर से साफ निकल गयी। उनके पोते की बहू पर उसका पूरा वार हुआ। आस-पास के घरो मे तहलका मच गया। असल में बारी बूढे चाचा की थी। बहू के बारे में तो कोई गुमान भी नही कर सकता था। या तो मौत धोखा खा गयी और चाचा के पास ठिठकी तक नही, या पौरख-थके चाचा के मन में अभी साधें बाकी है, यह सोच कर उसे दया हो आयी। यमराज को जवाब देना ही था। घर के एक दूसरे प्राणी को, जो उसे रात-दिन मन ही मन बुला रहा था, वह अपने साथ लेती गयी। जो हो, घर में और बाहर, चाचा को धिक्कारने वालो की कमी न रही। कुछ समझदार लोगो के मन में चाचा के लिए सहानुभूति भी जगी, बेचारे बुढाई को यह दिन भी देखना था...हलक में उँगली डाल कर प्राण कैसे निकाले जाएँ।

चाचा के कोई लडका न था। भतीजे को गोद लिया थ। सोनी उसी की पत्नी थी। बहू की मौत पर उसने छाती पीट ली। जब तक बहू जीवित थी, उसके प्रति सानी का बर्ताव पास पडोस के लोगो से छिपा न था। इधर बीमारी मे उसे डायन और कुलच्छिना की उपाधियाँ भी दी गयी थी। पर आखिर है तो सास की ही ठाती! लडता कौन नही, कहावत है—'सास सीधा भी लडै, झाऊ गीली भी जरै।' और फिर अपने बेटे की जवान बहू की इस तरह असमय मौत, सास की छाती फटनी ही चाहिए। जिन लोगो ने सानी के शोक-उदगारो को ध्यान से सुना, उन्होंने किसी तरह का हिसाब लगाये बिना भी यह अच्छा तरह जान लिया कि उनमें बहू की मौत पर दुख का दूध उतना नही, जितना कि चाचा की बेशर्मी और ढिठाई पर नानाज़नी का पानी था।

लोक-लाज के तकाजे से चाचा की इकलौती बेटी जमना को भी सूचना भेजी गयी। पर उसके आने का इन्तजार करना बेकार था। बरसात के दिनों में यों भी लाश खराब हो जाने का डर। साँझ से पहले ही दाह संस्कार से निबट कर सब लोग घर लौट आये।

कोई एक बजे रात को जमना आयी—नौकर और छोटे लड़के के साथ। जमना के साथ रोनी का रोना फिर फूट पड़ा। चाचा छोटी-सी अधटूटी चारपाई पर बाहर बरामदे में ही पड़े रहे। मैले चीकट तकिये को आँसुओ से भिगोती उनकी आँखो को बेटी के आने का पता तो मिला, पर नक्कारखाने में तूती की *आवाज कौन सुनता!* वे उसी तरह गुमसुम पड़े रहे। जमना का लड़का रास्ते-भर नाना की याद करता आया था, इस समय जैसे वह भी भूल गया। सब लोग सोने चले गये।

सुबह बादल घिरे थे, रुक-रुक कर वर्षा होती थी। मैले तकिये में मुंह गड़ाए चाचा औंधे पड़े थे। रह-रह कर वे गर्दन उचकाते, धुंधली आँखों से चारों ओर के धुंधलके में कुछ खोजने की कोशिश करते, फिर लाचार से पड़ रहते। कभी-कभी आसमान में चंचल बालिका-सी बिजली की कौंध उन कमजोर आँखों से छेड़खानी कर बैठती। चाचा जैसे क्षमा के भाव से शान्त रहते।

"राम राम चाचा!"

चाचा चौंके। धीरे से गर्दन उठा कर देखा, तेज होती हुई बूँदों की टपाटप सुन पड़ी। चारपाई के पास किसी को खड़ा जान कर बोले—"राम राम भइया, कौन हो तुम?"

"मैं हूँ, चाचा, बुलाकी, पहचाने नहीं? बूँदें तेज *हो गयी, तो रुक गया।... ..क्या बीमार थी वह,* चाचा?"

"आओ भैया बुलाकी, बैठो, अच्छे रहे न, बहुत दिनों पर दिखाई पड़े हो।" चारपाई पर एक ओर सिकुड़ते हुए चाचा ने बुलाकी को बैठने की जगह दी। बुलाकी *मना करते करते सकुचाया सा बैठ गया।* वर्षा की तेजी और बढ़ी, बरामदे में फुहार आने लगी, बुलाकी चाचा को आड़ देने लगा।

"हाँ चाचा, *आपने बताया नहीं, क्या बीमार* थी वह?"

चाचा *ने एक गहरी साँस ली—"मौत के लिए* क्या बीमारी बेटा, उसे तो बस कोई बहाना चाहिए। देख न रहे हो, इतने दिनों से मुझ बूढ़े की हालत। मेरे भाग में वह कहाँ! जिनकी यहाँ पूछ नहीं, *उनकी वहाँ भी नहीं है?"* चाचा एक-एक कर असंतोष के भाव में कह गये।

चाचा की सूरत पर दृष्टि गड़ाए बुलाकी उनका एक एक शब्द ध्यान से सुन रहा था। उस पर अंकित बुढ़ापे और कमजोरी के चिह्नों की जगह जैसे एक दूसरा रूप उसकी याद के आगे आता जा रहा *था। अपने दिनों में कस्बे भर में* चाचा की धाक थी। लम्बा-चौड़ा गठीला बदन, साठ पार कर जाने पर भी फुर्तीलेपन में कोई कमी नहीं। 'साठा तो पाठा' की कहावत इस कलजुग में भी चाचा में सच *हो उठी थी। ओज से तमतमाते चौड़े माथे पर* ऊँची बँधी उजली पगड़ी, बड़ी-बड़ी बेधक आँखें और उठी हुई लम्बी नाक देखने वाले पर पहली ही बार में दबदबे की छाप छोड़ती थी। फैले हुए होठों पर हर समय बसने वाली मुसकान किसी को भी अपने विश्वास में लेने के लिए काफी थी। चाचा के गहरे मीत बैद रामरतन रोगियों के आगे *चाचा की मिसाल रखते—जिन्होंने* कभी दवा की एक भी गोली या पुड़िया नहीं खायी—जरूरत ही नहीं पड़ी उन्हें। यों रुपये-पैसे की भी चाचा के पास कमी न थी, पर वह तो औरों के पास भी था, *चाचा से कहीं अधिक। चाचा की धाक थी,* उनकी कर्मठता और न्याय-बुद्धि के कारण। दूर या पास

के किसी भी मुहल्ले में झगड़ा हो, चाचा के पहुँचने भर की देर होती, सारा झगड़ा चुटकियों में रफा-दफा, और मजा यह कि दोनों पक्ष बराबर सन्तुष्ट। कल की सी बात लगती है—बाप की जमा पूँजी के बटवारे पर रमजनुआ की अपने भाई से तन गयी थी, सिर-फुटौवल की नौबत आ पहुँची थी। बाच-बचाव किसी के किए न होता था। लाल-लाल पगड़ियाँ झमकाते पुलिस के सिपाही लट्ठ लिये आ धमके थे। दिन-भर की धूप और लू झेल कर पन्द्रह मील का रास्ता तै करके चाचा आ कर बैठे ही थे, कि झगड़े की खबर सुनी। फिर क्या था, झट जा पहुँचे। चाचा को देखते ही दोनों भाई जैसे भीगी बिल्ली बन गये। पुलीस वाले दुम दबा कर लापता! फिर किसी ने जाना ही नहीं कि वहाँ कोई झगड़ा था भी। हबीब के लिए ही कस्बा छोड़ने में क्या कसर रह गयी थी। अपनी छोटी-सी बिसातखाने की दूकान पर न जाने कितना कर्जा चढ़ा लिया था, उस घामड़ ने। फिर भी दूकान खाली दिखाई देती थी। बेचारे की घरवाली कुछ ही दिन पहले मरी थी। छोटे-छोटे बच्चों और बूढ़ी माँ को ले कर कहीं भाग जाने की सोच रहा था। चाचा के कान तक बात पहुँची। न जाने कौन गुपचुप 'मन्तर' फूंक दिया कि वही गुमान भरा हबीब जो चाचा को सलाम करने में भी अपनी हेठी समझता था, अगले दिन चाचा के पैरों पर गिर पड़ा। अब कस्बे भर में उसकी टक्कर का कोई बिसाती नहीं। उसकी बूढ़ी माँ और बच्चे तक चाचा को दुआएँ देते नहीं थकते।

बूँदें कुछ हल्की हो आयी। बुलाकी चलने को हुआ। एकाएक सामने चौतरे की काई पर कोई बच्चा रपट कर गिर पड़ा। बुलाकी ने झपट कर उसे गोद में उठाया। भोले स्वर में बच्चा 'नाना नाना' पुकारता बुलाकी की गोद में से छूट कर चाचा के पास जाने को छटपटाने लगा। बच्चे को चाचा के पास बैठा कर बुलाकी ने पूछा—"जमना का लड़का है चाचा, कब आयी बिटिया?"

चाचा ने सीधे बैठने का प्रयत्न किया। बच्चे को गोद में भर कर उसके उजले मुलायम मुखड़े को झुर्रियों पड़े होठों से बार-बार चूमा। बच्चे की कुतूहल भरी दृष्टि चाचा की धुंधली आँखों में झाँकने लगी। हड्डियों की कोटरों में धँसती हुई उन आँखों में, जिनके आसपास की खाल सकोच से सिमटती जा रही थी, स्नेह की नमी छलक आयी। बालक का नन्हा मुलायम हाथ चाचा की सफेद झबरी छितराई मूछों तक उठा, और उन्हें एकाएक अपनी मुट्ठी में दबोच लिया। बालक अपनी विजय पर किलकारी भर उठा। चाचा का चेहरा खिल गया। पोपला मुँह जिसमें अब घिसे-घिसाए दो ही दाँत रह गये थे, खुशी के मारे अनायास खुल गया।

"आज भी रोटी खायी जाएगी कि नहीं? रोज-रोज दूध और फल को कहाँ से आयें रोकड़े। जिनके खाने पहनने के दिन हैं सो तो चल बसे भरी जवानी में, जो अपनी पूरी कर चुके, हट्टे-कट्टे-से छाती में मूँग दलने को तैनात हैं।" दरवाजे के भीतर से एक तीखी व्यंग्य-भरी आवाज सुन पड़ी। बुलाकी की दृष्टि अनजाने उस ओर घूमी, पर कुछ सोच-कर गर्दन से ही लौट आयी। चाचा उसी तरह बालक के साथ खेलने में लगे रहे। व्यंग्य का भारी पत्थर जैसे उनकी खुशी के समुद्र की गहराई में लापता हो गया।

"हूँ, कुतिया हूँ मैं तो, भूँकती रहूँ। घर के बालकों को तो कभी आँख उठा कर भी नहीं देखा जाता, वे तो गैर हैं, सगों को प्यार दिखाया जा रहा है।.. बातसी स्वार कर रक्खी है इन बुढ़ऊ ने। न जाने किस-किस को खा कर टलेंगे।...... तो नहीं खायी जाएगी रोटी आज......" धूमते हुए पैरों की धम धम बुलाकी को सुनाई दी। चाचा उसी तरह बालक के खेल की उजाली में मगन, इस दुनिया की किसी भी कालिख की जिसमें पहुँच नहीं।

बच्चा भूख से रोने लगा। जमना आ कर उसे ले गयी। चाचा उसी तरह सिमटे-सिमटाये खाट

कर दे, इसमें उसे रस्सियों में जकड़ कर रखना चाहिए। चाचा के हाथ-पैरों को कस कर बाँध दिया गया और उन्हें बाहर की उसी खाट पर डाल कर सब लोग डरे-डरे मन से सोने चले गये।

पौ फटने से पहले सोनी उठी। बाहर आ कर देखा जमना चाचा के पैरों में सिर गड़ाये पड़ी थी। उस की सिसकियाँ चल रही थीं। आँसुओं से चाचा के पैर तर हो गये थे। सोनी चिल्ला उठी — "हाय, हाय! क्या कर रही हो जमना जीजी? कब से हो तुम यहाँ—वह का प्रेत—।"

जमना ने धीरे से गर्दन उठायी, एक बार लाल आँखों से सोनी की ओर देखा, फिर जैसे खून का घूँट पी कर बोली — हाँ, चाचा पर प्रेत उतरा है भाभी! तुम्हारी जवान बहू की आत्मा का प्रेत नहीं, जिसे तुमने कुढ़ा-कुढ़ा कर मार डाला। यह प्रेत है चाचा की उस दुखती हुई आत्मा का, उस बूढ़े बैल का, जिसने जवानी में अपने खून और पसीने से तुम्हारे लिए सोना उगाया था — उसकी अँतड़ियों की आग का प्रेत है यह!"

सोनी क्षण-भर को ठक्‌ से रह गयी, उसका शरीर क्रोध से थरथरा उठा। जैसे कटघरे में बंद भूखा बाघ अपने शिकार को देखता है, वैसी ही क्रूर दृष्टि जमना पर डाल कर वह धम-धम पैरों से भीतर की ओर बढ़ गयी।

ꭥꭥꭥ

सिद्धेश्वर वर्मा | **वर्ण-उच्चारण**

'वर्ण-मीमांसा' इस शीर्षक से एक लेख 'कल्पना' (जुलाई, १९५२) में प्रकाशित हो चुका है, उस लेख में "*भाषाध्वनिविषयक 'वर्ण' का तत्व क्या है?*"—इस प्रश्न पर विमर्श *किया गया था।* लेख में मुख्यत यह प्रतिपादित किया गया था कि वर्ण का चरम तत्त्व अभी तक अस्पष्ट है। प्राचीन और अर्वाचीन, दोनो दृष्टिकोणो से वर्ण का स्वरूप-निर्धारण भविष्य का विषय है। परन्तु यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से वर्ण अभी तक अज्ञात है, व्यावहारिक दृष्टि से वर्ण '*मानव भाषा की न्यूनतम* अखड ध्वनियाँ' है, और इसी दृष्टि से प्राचीन भारतीय ग्रन्थो में 'वर्ण अकारादि होते हैं' (वर्णा अकारादयः)। ऐसे रूपों से वर्ण की परिभाषा की जाती थी। परन्तु 'न्यूनतम अखड ध्वनियाँ' इस भाव को प्रकट करने के लिए 'वर्ण'—यह सज्ञा सर्वथा अपर्याप्त है, क्योंकि अर्वाचीन अनुसधान से यह सिद्ध हो गया है कि इन 'अखड' ध्वनियो में वे ध्वनियाँ भी सम्मिलित होनी चाहिए, जिनका प्रकटन लेखबद्ध वर्णों द्वारा या तो असभव है या *अत्यन्त कठिन है।* उदाहरणार्थ निम्न-निर्दिष्ट घटनाओं पर विचार *कीजिए* —

(१) *'नागपुर'—इस शब्द में जिस 'गकार'* का *वास्तव में उच्चारण* होता है, वह न तो शुद्ध 'गकार' है, और न शुद्ध 'ककार' ही है। इसे 'निर्घोषित गकार' कहा जा सकता है। क्या इस विशेष ध्वनि के लिए 'वर्ण' इस सज्ञा की कल्पना हो सकती है? इस प्रकार की घटनाओ की झलक हमारे पूर्वजो को भी प्राप्त हो *गयी थी*। उन्होने ऐसी घटनाओ का प्रतिपादन 'अनुप्रदान' इस सज्ञा से किया था। 'अनुप्रदान' का अर्थ 'अनुपगो ध्वनि-सामग्री' है (पाणिनि-शिक्षा—मनमोहन घोष, कलकत्ता, १९३८, श्लोक १०, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २३२)।

(२) 'माँप बड़ा लंबा था'—इस वाक्य में 'साँप' का पकार सुनाई नहीं देता। केवल 'बड़ा' का बकार सुनाई देता है। परन्तु 'पकार' के उच्चारण-क्षण में कुछ मौन कुछ अटकाव अवश्य होता है। ध्वनिशास्त्रियों ने इस मग्न 'पकार' के मौन को भी उपलक्षक (फानीम) बकार का एक 'मेम्बर' कहा है (देखिए, एल० आर० पामर—ऐन इण्ट्राडक्शन टू माडर्न लिंग्विस्टिक्स L. R Palmer. An Introduction to Modern Linguistics १९३६, पृष्ठ ३१)। पामर ने वास्तव में अंग्रेजी उदाहरण 'डैम्प बेड' (damp bed) 'आर्द्र शय्या' के पकार का दिया है। उपर्युक्त हिन्दी उदाहरण इस आधार पर कल्पित किया गया है। क्या इस मौन मग्न पकार का हम 'वर्ण' कह सकते हैं ?

इसी प्रकार बोलचाल की हिन्दी भाषा में 'मेरा दोस्त चल बसा' इस वाक्य में 'दोस्त' शब्द का तकार सुनाई नहीं देता। इस प्रकार की घटना पर प्रोफेसर वेब्स्टर लिखते हैं, "इस ध्वनि को 'मौन भाषा ध्वनि' कहने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि ध्वनि-धारा में मौन से भी हमें एक विशेष ध्वनि का सस्कार उपलब्ध होता है।" (प्रोफेसर वेब्स्टर का अपना उदाहरण अंग्रेजी वाक्य ऐक्ट कामली (act calmly) 'शांति से करना' है। इस वाक्य में ऐक्ट् का टकार सुनाई नहीं देता। इस वाक्य के आधार पर 'मेरा दोस्त चल बसा' यह हिन्दी वाक्य कल्पित किया गया है। देखिए वेब्स्टर की अंग्रेजी डिक्शनरी १९५०, भूमिका, §§ ७४ §§ ४४-२)। क्या इस मौनमूलक तकार को हम 'वर्ण' कह सकते हैं ?

(३) 'जप करो', 'सब दे दो', इन वाक्यों में पकार और बकार स्पर्श व्यंजन हैं। वर्तमान भाषाशास्त्रियों के मत में प्रत्येक स्पर्श व्यंजन के उच्चारण में एक अवस्था आती है, जिसे अवरोध (स्टाप) कहते हैं, जिसमें ध्वनन बन्द हो जाता है। इन वाक्यों में पकार के अवरोध में तो कुछ भी सुनाई नहीं देता, परन्तु बकार के अवरोध में कुछ घोष अवश्य सुनाई देता है। ऐसी सूक्ष्म घटना का आविर्भाव प्राचीन भारत में ऋग्वेद प्रातिशाख्य को हो गया था। इस ग्रन्थ में इस घटना को 'ध्रुव' कहा गया है (ऋग्वेद प्रातिशाख्य 'नाद पराऽभिधानाद् ध्रुव तत' ६ ३१। देखिए, डब्ल्यू० एस० एलन, फोनेटिक्स इन ऐनशेंट इंडिया W. S. Allen, Phonetics in Ancient India. लन्दन, १९५३ पृष्ठ ७०)। अर्वाचीनों ने भी इस घटना का समर्थन किया है (देखिए डेनियल जान्ज़, औटलाइन ऑफ इंग्लिश फोनेटिक्स Daniel Jones Outline of English Phonetics §§ ५६२)। क्या इस घटना के लिए 'वर्ण'—यह संज्ञा पर्याप्त होगी ?

(४) एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ध्वन्यात्मक घटना इस सम्बन्ध में विचारणीय है। हिन्दी 'पियार' अथवा 'पिआर', 'गई' या 'गयी', इन शब्दों में जो 'यकार'-सा सुनाई देता है, वह एक ऐसी ध्वनि-घटना है जो आधुनिक हिन्दी वैयाकरणों के लिए विवाद-कण्टक बन गयी है। वास्तव में इस घटना का बोध अर्वाचीनों को ही हुआ है, और भारत की वर्तमान भाषाओं में तो इस घटना ने इतने रूप धारण कर लिये हैं, कि इसके अनुसन्धान के लिए एक पीढ़ी दरकार है। इस घटना का अंग्रेजी नाम 'ग्लाइड' (Glide) या 'सक्रामक ध्वनि' है, जिसे हम संक्षेपार्थ 'सक्रांति' कहेंगे। इस ग्लाइड (सक्रांति) की परिभाषा वेब्स्टर ने अपने कोष में यह की है, "ग्लाइड (सक्रांति) वह संक्रामक ध्वनि है जो उस दौरान में उत्पन्न होती है जब कोई उच्चारण-इन्द्रिय किसी अगली विशेष ध्वनि के लिए या तो कोई स्थान ग्रहण कर रही हो, या किसी स्थान को छोड़ रही हो"। संक्षेप में ग्लाइड (सक्रांति) एक ऐसी गौण ध्वनि है, जिसके बिना अगली मुख्य ध्वनि बोली नहीं जा सकती, और जिसका अनुभव प्राय वक्ता और श्रोता को भी नहीं होता। इस सक्रांति का साम्राज्य कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक की

गिरीशचंद्र चौधरी | मुनीन्द्र

सिविल लाइन्स की उस बड़ी दूकान में उस नवयुवक के मुंह से 'अभी आती हूं' सुन कर लोग थोड़ा चौंके। मैंने देखा, एक छरहरा नवयुवक, लम्बा चेहरा, चौड़ा ललाट, छोटी भूरी आंखें, लम्बी ऊँची नाक, किंचित् मोटे, औरतों जैसे कांपते ओठ, घुंघराले बाल, सफ़ेद कमीज और पतलून में, सब मिला कर बड़ा स्वप्निल, जरा तिरछे कलात्मक ढंग से, एक क्षण हतप्रभ खड़ा रह कर फिर जोर से बोला, "और चीज देखती हूं।" अब तो दूकानदार-खरीदार हँस पड़े। युवक ठिठक गया, तभी जो उसकी नजर मुझ पर पड़ी, तो मुझे कुछ पहचानते हुए-से, अंग्रेजी में पूछा, "क्या बात है?" "आती, जाती वगैरह औरतें कहती हैं," मैंने उत्तर दिया। उसका चेहरा लाल हो गया, छोटी-भूरी आंखें किंचित् संकुचित हो गयीं। जल्द ही उसने पैसे चुकाये और बोला, "चल रहे हैं?" बाहर आते ही उसने कहा, "मुझे हिन्दी नहीं आती।" "सीख जाइएगा," मैंने कहा। "आप मदद करेंगे?" उसने पूछा। "हम एक ही होस्टल में रहते हैं न?" फिर मेरी ओर दो टॉफ़ी बढ़ा दिये, और मेरे इन्कार करने पर वह बोला, "मुझे बहुत पसंद है।"

दूसरे दिन जो वह फिर सड़क पर मिला तो बड़ा अच्छा मुसकराता और बोला, "अब मैं दूकानों में अंग्रेजी ही बोलता हूं। फिर थोड़ा झेंपते हुए कहा, "उस दिन बड़ी गलती हो गयी, नहीं?" मैंने उसके चेहरे की ओर देखा, एक स्पष्ट सरलता की छाप, जैसे वह युवक नहीं, किशोर हो। उसने बातों का सिलसिला बनाते हुए कहा, "मैं इलाहाबाद बड़ी उम्मीदों के साथ आया था, परन्तु विश्व-विद्यालय का वातावरण तो लुभावना नहीं लगता। यहां के लड़के बड़े असभ्य हैं।"

संकोच में पड़ जाता है। बिल जो उसने चुकाया तो गोपाल बोला, "अच्छा मुल्ला फौमा है।"

वहाँ से निकल गोपाल के जाते ही उसने पूछा, "मुल्ला का क्या माने ?" मेरे समझाने पर थोड़ा वह उदास हो गया फिर एकाएक बोला, "यहाँ के लड़के सिवाय लड़कियों की चर्चा के और बातें ही नहीं करते। जब देखो तब! मैं तो बर्दाश्त नहीं कर सकता। युवतियों को देखते ही उनके होशो-हवास गुम हो जाते हैं . और!" वह चुप हो गया।

मुनीन्द्र से परिचय करके मित्रता बढ़ाने वालों की कमी नहीं थी। वह खर्च भी खूब करता था। घर से हर महीने उसे पाँच सौ रुपये आते थे, जरूरत पड़ने पर ज्यादा भी। उस दिन जो उसकी कोठरी में घुसा तो वह चिट्ठी लिख रहा था। लिखना समाप्त करके उसने कहा, "प्रयसी को लिख रहा हूँ।" फिर वह लजा गया। मेरे बहुत पूछने पर उसने बताया, 'माँ को भी वह पसन्द है। हमारी शादी तय हो चुकी है। मैं एम ए कर लूँ तो शादी करूँगा।" फिर उसने कहा, "मेरी माँ बड़ी अच्छी हैं।"

"वह तो तुम्हारे स्वभाव से ही मालूम पड़ता है।" मैंने कहा।

वह हँसा। थोड़े संकोच से बोला, 'मगर मेरा छोटा भाई एकदम सामन्तवादी विचार का है। वह कलकत्ता में—होटल में एक फ्लैट ले कर रहता है, बड़े रोब में। बड़ा गुस्सैल भी है। वह मुझे डाँटता है, जब मैं साधारण आदमियों से बातें करता हूँ, मगर मेरा स्वभाव...।" वह खड़ा होते हुए बोला, "अभी आता हूँ।"

"खत लिखना और घूमना, दो ही तो काम हैं तुम्हें!" मैंने कहा।

"नहीं, नहीं।" वह जल्दी से अपराधी की तरह बोला, "असल में ..।"

मुनीन्द्र गोपाल से बहुत घबराता था। क्योंकि हमेशा ही गोपाल उससे मजाक किया करता। उस रात जब वह करीब बारह बजे लौटा, और अपने कमरे में जाने के पहले मेरी बत्ती जलती देख मेरे कमरे में घुसा और गोपाल को देखा, तो तुरन्त मुड़ते हुए बोला, "जगे हो? चलूँ वैसे ही आया था।" मगर गोपाल ने हाथ पकड़ उसे बैठा लिया, "कहाँ चले डीयर! मैर करके आ रहे हो?" फिर मेरी ओर घूम कर आँखें झपकाते हुए कहा "बड़ा किस्मतवर है सन्म!"

"उसी परिवार में गये थे न?" मैंने पूछा "नाच सिखा रहे हो?" वह हक्का-बक्का मेरी ओर देखता रहा, फिर पूछा, 'तुम्हें कैसे मालूम?"

"अरे, हमें क्या नहीं मालूम है!" गोपाल ने टक् से जीभ बजायी और कहा, "हम तुम्हारा सब रग जानता।"

"शर्मा, मुनीन्द्र ने आजिजी से कहा, 'मैं चलूँ!"

इधर वह बराबर ही रुपयों के मामले में तंग रहता। वह कहता, 'मैं क्या करूँ? खर्च हो जाते हैं।" उस दिन जा उसने उस परिवार की दीन स्थिति सुना कर मुझसे सौ रुपये उन्हें देने के लिए माँगे तो मुझे देना ही पड़ा। "मेरे रुपये आ ही जाएँगे, तुम्हें तुरत वापस कर दूँगा।"

गर्मी की छुट्टियाँ नजदीक आ रही थीं। वह बहुत खुश था। उसने कहा, 'मैं उससे (प्रेयसी से) मिलूँगा...।" फिर बहुत सारी बातें उसके विषय में सुनायीं। अन्त में उसने कहा, "शर्मा, तुम चलो आसाम!' उसकी वाणी में भावावेश था, 'चलो आसाम! वहाँ की पहाड़ियों, पठारों, मैदानों, झरनों में तुम खो जाओगे।" वह बोलता रहा, "आसाम में सौन्दर्य बिखरा पड़ा है।"

छुट्टियों के बाद जो इलाहाबाद पहुँचा तो हॉस्टल के फाटक पर ही गोपाल मिल गया। रात के नौ

बज रहे थे। मैंने छूटते ही मित्र का कुशल समाचार पूछ डाला। उसने कहा कि मुनीन्द्र की प्रेमिका का देहान्त हो गया और वह बहुत ही उदास रहता है। मैं तुरन्त उसकी कोठरी में पहुँचा, देखा, वह लेटा छत की ओर टकटकी लगाए है। आहट पा कर उसने सिर घुमाया और मुझ पर नजर पड़ते ही बैठ गया, फीकी मुस्कराहट के साथ, "आ गए!" उसके शब्दों में उदासी और भारीपन था। मैं चुपचाप बैठ गया। उसी ने शुरू किया, "वह मर गयी!" परन्तु, आगे कुछ नहीं कह सका। उसका चेहरा कातर था, आँखें डबडबा आयी थीं, और उसने ऐसा कहा था जैसे अभी भी विश्वास नहीं है कि वह सचमुच में मर गयी।

वह बराबर ही उदास रहता, घूमना-फिरना भी उसने कम कर दिया था। लेकिन एकाएक उसकी गतिविधि बदली। वह खुश नजर आने लगा, फिर खूब चिट्ठियाँ लिखता और शाम-सुबह सज-धज कर मेरे पास आ कर लजायी आवाज में पूछता, "साइकिल ले जाऊँ?" कुछ बातूनी भी हो गया था। मगर उसका मर्मीला स्वभाव, उसकी सरलता, और बच्चों जैसी उन्मुक्तता वैसी ही थी।

उस दिन जो गोपाल ने आते ही टक् से जीभ बजाते हुए पूछा, "कहो डीयर! आजकल मिस मुकर्जी से मुहब्बत फरमा रहे हो?" तो वह चौंक उठा। अपराधी की तरह मुझे देखा और मुझे विश्वास दिलाते हुए कहा, "देखो शर्मा, मैं क्या करूँ?" वह रुका, "वह मुझे बराबर चिट्ठी लिखती है...मैंने कुछ नहीं किया है...।" "हाँ, हाँ", गोपाल ने व्यंग्य किया, "केवल रोज उसके घर चाय पीते हो। मगर देखो मेरे मुन्ने!" गोपाल ने उसे थपथपाते हुए कहा, "वह लड़की बड़ी तेज है, तुम्हें बेच लेगी, समझे!"

मैं मुकर्जी को देख चुका था—सुन्दर नहीं थी, मगर पाउडर, क्रीम, लिपस्टिक के इस्तेमाल में उसे कमाल हासिल था। विद्यालय में वह अजन्ता-पेंटिंग के नाम से मशहूर थी। थोड़ी देर बाद मुनीन्द्र फिर मेरे कमरे में आया और बिस्तरे पर थका-सा लेटते हुए पूछा, "शर्मा, वह बुरी लड़की है?" मैं बड़े पसोपेश में पड़ा। तभी उसने कहा, "मैं क्या करूँ? वह कहती है कि मेरे बिना वह मर जाएगी।" मैंने उसके आनन पर वही सरलता देखी—नहीं रहा गया, कहना ही पड़ा, "वह तुम्हारे योग्य नहीं है।" वह एकदम थका-सा, उदास लेटा रहा। कुछ देर बाद बोला, 'यहाँ किसी को पहचानना बड़ा कठिन है, मैं अब उससे नहीं मिलूँगा।"

रुपये पैसे की किल्लत उसकी बढ़ती ही गयी। कितनी ही बार उस परिवार से रुपये वापस लेने का आग्रह किया, परन्तु वह टालता रहा, यह कह कर कि उसे माँगते शर्म आती है। घर से आये पैसे वह एकदम रहस्यात्मक ढंग से खर्च कर डालता। फिर उसने मुझसे उस परिवार के लिए रुपये माँगे। उनकी गरीबी का बड़ा दर्दनाक वर्णन कर गया, और लाचारी मुझे रुपये देने पड़े। मेरी साइकिल पर तो अब उसका एकाधिकार हो चुका था।

एकाएक होस्टल का वातावरण इस सनसनीखेज समाचार से गूँज उठा कि मुनीन्द्र मिनिस्टर का लड़का नहीं है। जिन आसामी लड़कों ने उसे मिनिस्टर का पुत्र कहके मशहूर किया था, उन्होंने ही एकाएक इस रहस्य का भी उद्घाटन किया। मैं एकदम ही घबड़ा उठा, मगर मुनीन्द्र से कुछ नहीं पूछा। उसी रात वह मेरे पास उदास, सूखा चेहरा लिये पहुँचा और पूछा, "तुमने सुना होगा?" मेरे "हाँ" कहने पर एक क्षण मेरी ओर देखता रहा फिर धीमे बोला, "शर्मा, मैंने तो किसी से नहीं कहा था, कि मैं मिनिस्टर का लड़का हूँ, उन्होंने ही प्रचार किया था। फिर चुप हो गया। मुझे शान्त देख उसने करुण स्वर में कहा, "देखो शर्मा, बात यह है कि मेरी माँ जब विधवा हो गयी तो उसने फिर शादी की। असल में इन दोनों का पूर्व-प्रेम था पर कई कारणों से शादी नहीं हो सकी

थी। हम दोनों भाई माँ के पहले पति से हैं, इसी लिए इन लोगों ने—।" उनकी आँखों में आँसू आ गये, "मेरा क्या दोष ? शर्मा मैं और किसी की परवाह नहीं करता। परन्तु तुम्हें मुझ पर विश्वास है न ? बोलो।" उसने थोड़ा रुक कर टूटी आवाज में पूछा, "तुम भी मुझे झूठा समझते हो ?"

इम्तहान के नजदीक होने से होस्टल में गुलगपाड़ों का दौर कम हो चला था। मैं भी व्यस्त रहता और मुनीन्द्र भी कम ही आता था। एक दिन गोपाल ने कहा, 'यार ! यह छोकरा बड़े गहरे में है!" 'क्या मतलब ?' मैंने पूछा। "मिस मुकर्जी से शादी कर रहा है।" उसने ढंग से सीटी बजायी, "और उस परिवार में तो कम ! है लड़का तेज।" मैंने टाँग अड़ाना अनुचित समझ मुनीन्द्र से कुछ नहीं पूछा। वह भी, उसी सिलसिले से आना, बैठना और इधर-उधर की बातें करके चला जाना।

लेकिन एकाएक सामान वगैरह बाँध-बूँध कर जो वह मेरे पास पहुँचा तो मैं अचरज में पड़ गया। "मैं इलाहाबाद नहीं रहना चाहता।" उसने झटके से कहा। "क्यों ? और इम्तहान ?" मैंने आश्चर्य से पूछा। तो उसने झेंपते हुए कहा, 'लेक्चर कम हैं।" मैं अब और फेरे में पड़ा, क्योंकि यहाँ तो केवल वैसे ही लड़कों को रोका जाता है, जिनकी हाजिरी एकदम कम होती है। तो वह कहाँ चक्कर काटता रहता था ?

मुझे आसाम आने का निमन्त्रण दे, रुपये मनी-आर्डर से वापस करने का वादा करते हुए, बहुत धन्यवाद कर वह चला गया।

उसके चले जाने के पाँच छह दिनों बाद एक बारह-तेरह साल का लड़का मेरे कमरे में पहुँचा और बोला, "दीदी बुला रही है।" मुझे कौन दीदी बुला रही है ? लेकिन फाटक पर देखा, एक युवती खड़ी है। मुझे देखते ही उसने कहा, "मुनीन्द्र के दो सौ रुपये आपके पास हैं ?"

"मेरे पास ?" मैं चौंका। "हाँ, हाँ," उसने साधारण भाव से कहा, "उसने हमसे रुपये लिये थे और जाते वक्त कहा कि उसके रुपये आपके पास हैं जो आप मुझे दे देंगे। साथ ही उसकी साइकिल, जो आपके पास है, दे दें।" "आपके कमरे में जो रखी है।" लड़के ने तपाक से कहा।

मैं हक्का-बक्का खड़ा रहा।

❦❦❦

चारुचन्द्र झा | एकान्त गायिका*

हरे-भरे ऊँचे नीचे खेतों की रानी—
बोती जाती धान, लबालब घुटने भर कीचड औ' पानी।
अभी उगी आतीं सूरज की रक्तिम किरणें
उड़ते जाते विहग पाँति-पर-पाँति बनाये
दूर धेनु की टुन्-टुन् घंटी बोल रही है
अभी सूख भी सका नहीं फूलों से पानी
हरे-भरे ऊँचे-नीचे खेतों की रानी।

छप् छप्-छ्, छप् छप्-छ्, उसके नन्हें पैरों की मधुध्वनियाँ
गुनगुन, बुलबुल से भी मीठा उसके सरल हृदय का सरगम।

दूर नगाड़े पर बजती जो आल्हे की धुन, मीठी उससे
इस पर्वत से घिरे भाग में उसकी मधुर चूड़ियाँ छम छम।
तलहटियों की कोयल से भी मीठी-मीठी उसकी वाणी।
हरे भरे ऊँचे-नीचे खेतों की रानी।

उसे सुनो या नहीं, गा रही, उसको मत छेड़ो, गाने दो
चढ़ती वरखा, भरते सावन, वह अपने-अपने गाएगी
गिरते आसिन, कटते कातिक, और उपजते अगहन तक वह
बढ़ती-बढ़ती, गाती गाती नित आएगी-नित जाएगी
दुनिया भर के गीत, भावना, मानो उसको याद जबानी।
हरे-भरे ऊँचे-नीचे खेतों की रानी।

ooo

*वर्ड्सवर्थ की प्रसिद्ध कविता 'सॉलिटरी-रीपर' से प्रभावित।

समालोचना

() मालवी और उसका साहित्य · लेखक, श्याम परमार, सम्पादक, क्षेमचन्द्र 'सुमन', प्रकाशक, सरस्वती सहकार, दिल्ली–६ की ओर से राजकमल प्रकाशन, पृ०-सं०१२८, मूल्य ?)

दो वर्ष पूर्व की बात है। श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने दिल्ली में एक साहित्यिक सहकारी प्रकाशन योजना बनायी। देखते-देखते आज इस माला में अवधी, मालवी बोलियों के और तमिल, तेलुगू, उर्दू, बंगला भाषाओं के चार-छह ग्रंथ भी प्रकाशित हो गये। चाहे ये ग्रंथ विहंगम-परिचयमात्र हों, चाहे कितनी ही उनमें खामियाँ हों—इस माला का बड़ा उपयोग है। भारतीय साहित्य की एकता की ओर यह एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

सम्पादक तथा लेखक दोनों हमारे मित्र होने से पुस्तक की आलोचना का कार्य हमारे लिए कठिन हो गया है। लेखक-परिचय में हमारा नामोल्लेख है। इसके पहले भी श्याम की पुस्तक 'मालवी लोकगीत' की समालोचना 'प्रतीक' '५२ में मैं कर चुका हूँ। और लोकगीत जमा करने वाले उनके जैसे धुनी नौजवानों की कृतियों की ऐतिहासिक महत्ता का यथायोग्य मूल्यांकन कर चुका हूँ। अब श्याम की छह किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'मालवी कविताएँ', 'भारतीय लोकसाहित्य', 'मालवी की लोककथाएँ' प्रकाशित हो चुके हैं, हिन्दी नाटकों की पृष्ठभूमि में लोकमंच और लोकनाट्य का अध्ययन है, जो यशस्य है। जनता कालेज, शाजापुर (मध्य-भारत) में श्याम अब अध्यापक हैं, और हाल में दिल्ली में हुए स्वातन्त्र्य-दिन के लोकनाट्योत्सव में वह एक परीक्षक भी रह चुके हैं। 'मालवी लोक-साहित्य' पर श्याम अपना प्रबंध लिख रहे हैं, और उसी का प्रास्ताविक मानो यह पुस्तक है।

प्रश्न दो हैं: एक, मालवी नामक स्वतंत्र भाषा है या नहीं, और उसका साहित्य क्या है ? दूसरा अधिक व्यापक है—जनभाषाओं का अध्ययन किस दृष्टिकोण से हो ? इस पुस्तक को पढ़ कर ये दो सवाल उठते हैं, जिनके समाधान के प्रयत्न में पुस्तक की आलोचना हो जाती है। ग्रीयर्सन ने मालवी को स्वतन्त्र भाषा नहीं माना था, राजस्थानी का एक अंश ही कहा था। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने उसे राजस्थानी से सर्वथा भिन्न माना है। मालवी के विषय में ग्रीयर्सन के मत विश्वसनीय नहीं हैं जैसे राजस्थानी और मैथिली के हिंदी से भिन्नत्व के विषय में उसके अभिमत अब ग्राह्य नहीं माने जाते। बात असल में यह है कि ग्रीयर्सन ने जब अपना 'लिंग्विस्टिक सर्वे' एक जगह बैठ कर, कर डाला, तब यानी १९०७-८ में भारत की भाषिक स्थिति भिन्न थी, अंग्रेज़ी शासकों की भाषा-विषयक कूट-नीति और थी, शिक्षा का प्रसार कम था, औद्योगिक नगर इतने बने नहीं थे, और सबसे बड़ी बात, आर्य भारतीय भाषाओं के विषय में भाषा-वैज्ञानिकों की मान्यताएँ भिन्न थीं। अब वे मान्यताएँ प्रायः सब खंडित नहीं, तो ऐतिहासिक वैज्ञानिक दृष्टि से मिथ्या साबित हो चुकी हैं। और मालवी के क्षेत्र और उसकी प्राचीनता आदि के विषय में और अभिमत उठ खड़े हुए हैं। आवश्यकता इस बात की है कि पुनः नये सिरे से भारत की भाषा-वैज्ञानिक पैमाइश प्रस्तुत की जाए—और श्याम की यह किताब या भिन्न भिन्न जनपदों में इस दिशा में होने वाला ऐसा ही कार्य इस दिशा में एक आवश्यक भित्ति तैयार कर रहा है। उदाहरणार्थ, असमिया में स्वर्गीय कमलदेव नारायण और प्रफुल्लचरण गोस्वामी, बंगला में क्षितिमोहन के 'बाउल'-संग्रह, महाराष्ट्र में दुर्गा भागवत और डाक्टर सरोजिनी बाबर द्वारा प्रस्तुत संग्रह और शोधकार्य, धर्हाड़ी में ना० गो० सँडे आदि का क्षेत्रीय 'संशोधन'; डांगी में डा० नरेश बवडो, सौराष्ट्री में मेघाणी या पंजाबी में देवेन्द्र सत्यार्थी का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी की जनपदीय बोलियों में मेरठ-अंचल के गीतों में राहुल सांकृत्यायन और चन्द्र, कुमायूनी आदि पहाड़ी बोलियों में यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक' और चंद्रलाल वर्मा, गढ़वाली में पूरणचंद्र जोशी और रमेशचंद्र नैथाणी; भोजपुरी में कृष्णदेव उपाध्याय और दुर्गाशंकर सिंह; अवधी में रामनरेश त्रिपाठी और हिन्दी सभा, सीतापुर, मैथिली में रामइकबाल सिंह 'राकेश' और नागार्जुन, छत्तीसगढ़ी में श्यामलाल चतुर्वेदी 'श्याम', बुंदेलखंडी में कृष्णानन्द गुप्त, कोया में मामत और गोंडी में दिनेश पालीवाल या हिवाले; ब्रज में चंद्रभान 'राधे राधे' और डाक्टर सत्येन्द्र; राजस्थानी में मोतीलाल मेनारिया और नरोत्तमदास स्वामी, सूर्यकरण पारीक और कन्हैयालाल सहल, निमाड़ी में रामनारायण उपाध्याय और कृष्णलाल हरसोदे का कार्य उल्लेखनीय है। अब होना यह चाहिए कि एक केन्द्रीय लोक साहित्य-समिति हो जो एक बड़े पैमाने पर देश भर की बोलियों और उपभाषाओं के संग्रहकर्ताओं की सहायता से बृहद् लोक साहित्य संदर्भ-कोश बनाए, जिसमें प्रत्येक प्रदेश की अब लुप्तप्राय होने वाली इस लोकगीत, लोककथा, मुहावरे, कहावतें, लोक-नाट्य, लोकगाथा आदि द्वारा व्यक्त होने वाली लोक संस्कृति का पूरा जायज़ा लिया जाए। यदि यह कार्य अभी न किया गया तो बाद में कभी नहीं होगा। हमारे मित्र वि० ग० न्ट्रधि, (जो रूसी लोककथाओं का हिन्दी में सीधे रूसी से पुस्तकाकार अनुवाद कर चुके हैं) हमें बता रहे थे कि रूस में बूढ़े-बूढ़ियों में ये कहानियाँ जमा करने का कष्टकर कार्य कैसे वहाँ की उपाधि-प्राप्त लड़कियाँ करती हैं। साथ में ध्वनि-मुद्रण और छाया चित्रण के सब यांत्रिक साधन-सज्जा ले जाती हैं—वहाँ का शासन यह कार्य कराता है। वैसे जनपद-साहित्य परिषद् भारत में भी शिक्षा-मंत्रालय में कार्य कर रही है, पर उसका लक्ष्य ग्रामीण साक्षरता पर अधिक है। हमारे यहाँ साथ या इस आंचलिक संस्कृति-रक्षा पर ध्यान कम दिया गया है, सिवा वैयक्तिक प्रयत्नों के।

इसी कारण दूसरा प्रश्न जो उठता है, और वह बहुत अर्थपूर्ण है—वह यह है कि क्या आवश्यकता है, इन जनसंस्कृतियों के संरक्षण की ? राजनैतिक विचारों से इस वृहद्राष्ट्र को जो लोग अनेक सांस्कृ-तिक इकाइयों या राष्ट्रों का एक समूह मानते हैं, उनकी दृष्टि में इन जनपदीय मातृभाषाओं का विकास एकमेव उपाय है। देहली में 'इस्कस' (भारत-सोवियत मैत्री-संघ) के एक जलसे में मैंने पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और महापंडित राहुल सांकृत्यायन को जोरों से इन उपभाषाओं के अलग का समर्थन करते हुए सुना। आचार्यप्रवर डा० रामविलास शर्मा, जो कम्युनिस्टों के स्वतन्त्र विकास के विरुद्ध हैं और राष्ट्रीयस्वयंसेवक संघ की भांति हिन्दी को एक केंद्रीय भाषा की भांति एकता का सूत्र मानते हैं, यह विवाद सुन रहे थे और चुप बैठे थे। शायद १९४३ में प्रयाग में हुए प्रगतिशील साहित्य सम्मेलन के समय प्रगतिवादियों की भाषिक नीति-सम्बन्धी 'थीसिस' भिन्न थी। वह जो हो, अलग-अलग स्थानों पर यह उपभाषिक जागरण का आन्दोलन बहुत अलग रूप ग्रहण करता रहा है। सन् '४८ में मैं जोधपुर में एक साहित्यिक समारोह का सभापतित्व कर रहा था, तब मैंने देखा कि "यह राजस्थानी राजपूतों की है, जाटों की नहीं"—इस बात पर वहाँ विवाद चल पड़ा। राज-स्थान की प्राचीन गौरव गाथा के संरक्षण से लाल ना दूसरी प्रतिष्ठा को कहीं समर्थन मिला है और कहीं भामाशाह की सनातन का व्यापार के अलावा पर भाषिक अंचल-विशेष में भक्ति का भी अतिरिक्त लाभ (-शुभ)' तात्पर्य, इसमें कहीं जातिवाद मिला हुआ है, कहीं सामंतों का पुरा-प्रीति—परन्तु इसके साथ साम्यवादी तथा अन्य राजनैतिक विचारों वाले सोवियत-पैटर्न का समाज-व्यवस्था का अनुकरण भी देखते हैं।

एक तर्क सन्या का यह है यदि डेढ़ दो करोड़ कन्नड़-भाषी या मलयालम-भाषी स्वतन्त्र भाषा संस्कृति के प्रान्त की मांग कर सकते हैं तो दोई करोड़ मालवियों, या उससे कुछ ही कम मैथिलों ने क्या पाप किया है? तर्क दिया जाता है कि भाषिक संस्कृति भिन्न होना चाहिए। कहा जाता है कि निमाड़ी मालवी से भिन्न नहीं—और उसी को माना है—इस मामले में राहुल जी का मत श्याम परमार ने मान्य माना है। नर्मदा से ऊपर का और नीचे की हिन्दी-भाषियों की संस्कृति में क्या कोई विशेष अन्तर है? राजस्थानी से मालवी अवश्य भिन्न है—बोलने वाले की संस्कृति भिन्न है। वैसे तो समूचे भारतवर्ष की एक संस्कृति मानने वाले और वैदिक मूल अभेद की खोज करने वाले चिंतक इस देश में कम नहीं हैं। आशय यह है कि प्राचीन अवन्ती जो भी रही हो, अब जो मालवी का रूप है, वह कोई स्वतन्त्र उपभाषा नहीं, पर हिन्दी का ही एक बोली हुआ भेद है—कुछ गुजराती और मराठी का अधिक असर लिए हुए। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि इस विषय में मेरी दृढ़ धारणा है कि साहित्य में वही उपभाषा धीरे-धीरे एक स्वतन्त्र भाषा बन सकती है, जिसके बोलने वालों का रहन-सहन, तौर-तरीके, आचार-विचार—संक्षेप में संस्कृति भिन्न हो। एक-सी भाषा बोलने वाले उत्तर प्रदेश के हिन्दू और मुसलमान धीरे-धीरे हिन्दी और उर्दू जैसी दो पुष्ट भाषाओं के समर्थक क्या बनते गए? क्या यह केवल अंग्रेजी साम्राज्यवादी भेद-नीतिज्ञों का ही जादू था? या दोनों में सांस्कृ-तिक मतभेद भी अवश्य था और है। कृपया सांस्कृ-तिक का अर्थ साम्प्रदायिक या जातीय न समझें। वही भेद तुलना में बंगाल के हिन्दू मुसलमान या महाराष्ट्र या तमिलनाड के हिन्दू-मुसलमान में शायद कम है।

इस प्रकार से सोचते हुए मालव-अंचल (या मध्यभारत) की अपनी भाषिक विशेषता हिन्दी-प्रदेशों से भिन्न नहीं है। बुंदेलखंडी या छत्तीसगढ़ी और ग्वालियरी पुरानी हिन्दी से बहुत निकट थे मालवी निमाड़ी भाषाएँ हैं। इसलिए श्याम परमार की पुस्तक में भाषा बारे अब जितना सुचिंतित

और सुगठित है; साहित्य वाला अंश उतना ही कमज़ोर। जब जायसी और तुलसी की पुष्ट परंपरा वाली अवधी में अब सिर्फ कभी-कदास हास्य लिखने वाले कुछ कवि बचे हैं, रमईकाका या वंशीधर शुक्ल के प्रयत्न उसे खड़ी बोली के आगे बचा नहीं सके हैं। अत्यंत परिपुष्ट ब्रजभाषा में अब साहित्यिक निर्माण, गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से, कितना कम हो रहा है? ब्रज साहित्य-मंडल के अध्यक्षीय मंच से यह कहा जा रहा है कि हिन्दी से हम अलग नहीं हैं—सारे केंद्रीय और अन्तर-प्रादेशिक कार्य हिन्दी में ही हों। तो फिर बेचारी मालवी की कथा क्या कही जाए—जब उसकी कोई पुष्ट साहित्यिक परम्परा नहीं।

यह सब ध्यान में लेने पर भी श्याम की पुस्तक का एक बड़ा मूल्य यह है कि इस भाषाक्षेत्र में इस प्रकार का शोध का प्रयत्न अपने-आप में एक प्राथमिक सामग्री जमा करने वाले का, 'पायोनियरिंग' कार्य है। उस कार्य की कठिनाइयाँ ध्यान में रखते हुए उन्होंने जो कुछ किया है, सराहनीय है। मैं उनके प्रबंध के प्रकाशन की प्रतीक्षा करूँगा जो इस अध्ययन की पूरक रचना होगी।

प्रभाकर माचवे

() उर्दू और उसका साहित्य : लेखक, गोपीनाथ 'अमन', सम्पादक-प्रकाशक उपर्युक्त पृ०-सं० १२८, मूल्य २)

उर्दू साहित्य के कई इतिहास मेरे पढ़ने में आये हैं। डा० रामबाबू सक्सेना की ऐतिहासिक पुस्तक से उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की 'उर्दू काव्य की नई धारा' तक। श्रीपाद जोशी के 'उर्दू के अदीब' की चर्चा (या 'कर' चर्चा?) मैं इसी स्तम्भ में 'कल्पना' के पुराने अंकों में कर चुका हूँ। 'अमन' साहब खुद शायर हैं और उर्दू अदब का सबसे बड़ा हिस्सा अब भी शायरी ही है। आधुनिक उर्दू की बात जब की जाती है। इकबाल का विवाद्य नाम आता ही है। 'अमन' ने उन्हें इस्लामी कवि कहा है। १३ अप्रैल को आकाशवाणी से अंग्रेज़ी में डाक्टर अब्दुल अलीम (अलीगढ़ युनिवर्सिटी में अरबी के प्रोफ़ेसर और प्रगतिशील लेखक संघ के अनेक वर्षों के मन्त्री) ने कहा कि इकबाल विश्व के एक सर्वश्रेष्ठ कवि थे। आधुनिक उर्दू में उन्होंने ग़ालिब, दाग़, हाली, अकबर, जोश, इकबाल और कुछ प्रगतिशील लेखकों के नाम लिये। चकबस्त और प्रेमचंद को भी उन्होंने चलते चलते याद कर लिया था। उस भाषण के दृष्टिकोण में और अमन साहब की इस पुस्तिका के नुक्ताए-नज़र में बड़ा अंतर है। 'प्रगतिशील कविता और प्रेम' नामक मज़मून (पृष्ठ ९८ से १०० पृष्ठ तक) उर्दू में छपा कर सब उर्दू-दाँवों को मुफ्त बाँटने लायक है। इसी से मैंने कई उर्दू लेखकों के मुँह से इस किताब की बुराई सुनी, क्योंकि उर्दू के अधिकांश अदीब तरक्कीपसंद हैं। थोड़े-से जो नहीं हैं, वे भी रजतपसंद नहीं कहलाना चाहते, इसलिए तरक्कीपसंदगी के मामले में चुप हैं। जब लेखक भी खेमों में बँट गये हैं तब मध्यम मार्ग कई लोग अपनाना पसंद करते हैं—पब्लिकेशन्स डिवीज़न से हाल में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य की नवीन धाराएँ' में कविता पर लिखते हुए एक आलोचकप्रवर ने इसी मध्यम मार्ग के लिए कहा है—"यह एकांत वैयक्तिक कविता है। ये मन के गीत हैं और इसलिए इतने लोकप्रिय भी हैं। नागरिक सभ्यता के इस युग में भी नाना वस्त्रादि से अलंकृत अपने शरीर को कभी-कभी अनावृत करने में भी जिस प्रकार हमें एक सहज सुख का अनुभव होता है उसी प्रकार अनेक सामाजिक नैतिक आदर्शों और नीति नियमों से आच्छादित अपनी अन्तश्चेतना को भी व्यक्त करने में एक विशेष आनन्द मिलता है। यह प्रवृत्ति दक्षिणपक्षीय आदर्शवाद और वामपक्षीय भौतिकवाद की मध्यवर्ती है।" 'अमन' साहब का यही मध्यम मार्ग है।

सुना है कि मास्को में उर्दू के एक प्रगतिशील प्रमुख कवि ने जा कर कहा कि आजकल "हिन्दु-

में ऐकमत्य नहीं है। तब सोमसुन्दरम् से अपेक्षा क्यों करें कि वे उसके विषय में निश्चित रूप से कुछ बता सकें।

एक ऐसी भाषा के साहित्य का इतिहास लिखना और भी कठिन कार्य हो जाता है जो बहुत प्राचीन हो। और फिर उसे अन्य भाषा-भाषी के लिए परिचयात्मक रूप में लिखना और भी कठिन कार्य है। इस बात को ध्यान में रखें तो सोमसुन्दरम् ने बहुत अच्छा कार्य किया है। स्वयम् तमिल भाषी हो कर उन्हें हिन्दी पर अच्छा अधिकार प्राप्त है। हमें शिकायत केवल इतनी ही है कि आधुनिक काल कुछ जल्दी में लिखा गया है या उसे अपेक्षाकृत कम स्थान मिला है। इस स्थल-संकोच में वहाँ की नवीन साहित्य चेतना के पूरे दर्शन इस पुस्तक में नहीं हो पाते। 'कलिक' जैसे महत्त्वपूर्ण साहित्यकार का परिचय छह पंक्तियों में केवल उनकी कृतियों के नाम दे कर पूरा नहीं माना जा सकता, और ऐसा ही कई अन्याय आधुनिक रचनाकारों का हुआ है।

प्रारंभिक परिचय वाले भाषाविषयक अध्याय से भी हमारा समाधान नहीं हुआ—यह कदाचित् इसलिए कि 'कम्पैरेटिव ग्रामर और द्राविडियन लेंग्वेजज़' हमने पढ़ा है, और उत्तर और दक्षिण की भाषाओं का अंतर अधिक स्पष्टता से दिखाना आवश्यक था, ऐसा हम मानते हैं। परन्तु पुस्तक का मूल्य इन दोषों से कम नहीं हो जाता।

प्रभाकर माचवे

() भावना के फूल लेखक, नीलकण्ठ तिवारी, प्रकाशक भारतीय पुस्तक भण्डार, कालबादेवी रोड, बम्बई—२, मूल्य ३॥)

प्रस्तुत पुस्तक कवि नीलकण्ठ तिवारी के 'पौद्ह वर्षीय सिनेमावास' में 'लगटाई रफ्तार में लिखी गयी कविताओं का संग्रह है। पुस्तक के आवरण और वस्तु दोनों पर इस समय विस्तार में अंजित मामा-जिक और व्यक्तिगत सम्बन्धों का भरपूर संग्रह है। कविताओं से ज्यादा प्रभावशाली और वजनी 'कृतज्ञता-ज्ञापन', 'शुभ संदेश', 'अभिनंदन', 'आशी-र्वचन' और सम्मतियाँ हैं, जो मन पर अनायास ही सिनेमाई गम के तरानों की तरह छा जाती हैं। निश्चय ही इन्हें इकट्ठा करने में कवि को काफी जेरबार उठाना पड़ी होगी।

संग्रह में कुल ८३ कविताएँ संगृहीत हैं, जिनमें कवि की रूमानी आदर्शवादिता का स्वर जगह-जगह प्रखर है। कुछ एक कविताओं पर सिनेमा की चलती धुनें और बाकी पर कवि सम्मेलनों में लो जाने वाली वाह वाह के लिए दुहरायी जाने वाली, छायावादी शब्दावली, प्रियतम, प्रिय, पुजारी, मंदिर आग और अंगार इत्यादि का गहरा प्रभाव है।

कविता में विशिष्ट अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति के अनोखे साधनों को ही ग्रहण करने की कला को एकमात्र साधन न मान कर भी काव्यरसिक का इतना आग्रह तो हो ही सकता है कि नया कवि अनुभूतियों की ओर गहराई में ले जाए। विषय की पुनरावृत्ति हो भी, तो क्या हुआ? कवि नयी दिशाओं, नये माध्यमों की ओर संकेत करे, शब्दों की ध्वनियों में नये मर्म भरे। कुछ वह ऐसा कहे, जो हमारे पुराने काव्य-रस का कुछ दे न सके, तो कम-से-कम ताजा तो करे हो। शायद इसलिए हमें महान् काव्यों के बावजूद भी नये काव्य की अपेक्षा रहती है, पर यहाँ कुछ भी वैसा नहीं है, जिसे हम जैनेन्द्र जी के शब्दों में कहें तो कहें 'हमें सूना है'। जगह जगह भाषा और मात्राओं की गलतियाँ हैं जो गीतों के प्रभाव को कम कर देती हैं। फिर भी कवि में अपनी तथा अपने समाज की स्थितियों के प्रति जागरूकता है जो आज के मध्य वर्गीय समाज के संघर्ष-रत साहित्यकार की दृष्टि देती है।

किताब अच्छी छपी है—कागज छपाई, सफाई सब पर ध्यान दिया गया है।

राजेन्द्र रघुवंशी

() अखंड विश्व लेखक, 'आदर्श', प्रकाशक आदर्श प्रकाशन मंदिर, दारागंज प्रयाग मूल्य १॥)

प्रस्तुत पुस्तक में जिसे 'आदर्श' जी के शब्दों में ग्रन्थ कहा जाएगा, उनके गद्य काव्य संगृहीत हैं—जो मूलतः गद्य हैं—काव्य का कोई भी रस इनमें नहीं है, और स्पष्ट कहें तो ऐसा रहने पर यह पुस्तक छपवाने का शौक है। दो अंग्रेजी के पैबन्द भी इसमें टँके हैं।

'अपनी अखंडता', 'कवि का स्वप्न' कवि चिंतित मुद्रा में', 'परीक्षा', 'अमर लोक', 'दिल्ली के राष्ट्र-पति भवन में', आदि छोटे शीर्षकों में कवि ने अपने स्वप्न को बाँधा है। शान्तिदेवी की उड़ान की व्यापक कल्पना कवि ने अपने स्वप्न में की है, जो जगह जगह जा कर अपनी बातें कहती तथा दूसरों की सुनती है। बेहद शिथिलता है—भाषा में और साथ ही भावधारा में। लगता है, कवि छकड़े पर बैठ कर इस लम्बी यात्रा को तय करना चाहता है। विश्व में शान्ति की स्थापना के प्रति जो आग्रह कवि के मन में है, उसकी प्रशंसा की जानी चाहिए। छपाई-सफाई सुथरी है।

राजेन्द्र धनुर्वंशी

() सृष्टि की साँझ और अन्य काव्यरूपक लेखक, सिद्धनाथ कुमार, प्रकाशक, पुस्तक मंदिर बक्सर (आरा), डिमाई आकार, पृष्ठ ११६, मूल्य४॥)

प्रस्तुत पुस्तक श्री सिद्धनाथ कुमार के पांच काव्य-नाटकों का संग्रह है। 'फ्लैप' पर लिखा है कि ये काव्य-नाटक प्रकाशित रूप में आपके सामने हैं। रेडियो के लिए ये लिखे गये और ऑल इंडिया रेडियो के विभिन्न स्टेशनों से ये सभी नाटक अनेक बार प्रसारित हो चुके हैं।" इस तरह ये काव्य-नाटक रेडियो-काव्य-नाटक हुए। भूमिका में लेखक ने लिखा है - "सामाजिक समस्याओं से उलझना गद्य-नाटक का ही काम है (एवरनाबी के इस कथन को लेखक स्वीकार करता है) लेकिन मेरा विश्वास है कि सामाजिक समस्याओं में उलझने का काम काव्य नाटक भी कर सकता है और राग-प्रधान होने के कारण उन्हें जितनी मार्मिकता से वह (काव्य-नाटक) उपस्थित कर सकता है, वह गद्य नाटक के लिए कठिन है (पृष्ठ १३)।" सो ये काव्य नाटक समस्यामूलक रेडियो काव्य-नाटक हुए। श्री सिद्धनाथ कुमार के तर्कों को थोड़ी देर के लिए सही मान लें और निष्पक्षतया इन काव्य-नाटकों को परखें तो कहना होगा कि इतनी भारी उद्देश्य भूमिका को सँभालने में ये नाटक अक्षम हैं। अर्थात् काव्य नाटकों की सर्वप्रमुख विशेषता—यानी रागात्मक अनुभूतियों की अभिव्यंजना, समस्याओं के बौद्धिक भार से दब गयी है। सिद्धनाथ जी की प्रतिभा निःसन्देह प्रथम श्रेणी की है उन्हें कविता में भी सिद्धि हासिल है, किन्तु काव्य-नाटकों के रूप में यह प्रतिभा प्रस्फुटित न हो सकी। ये नाटक समस्यामूलक होने के कारण उतने रागात्मक और सहज अनुभूति-परक न हो सके, जितना काव्य-नाटकों को होना चाहिए। एवरनाबी के कथन पर सिद्धनाथ जी को एक बार फिर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए, अन्यथा इन नाटकों के उद्देश्य में भी अनास्था उत्पन्न हो सकती है।

सिद्धनाथ जी शायद हिन्दी की वर्तमान पीढ़ी के सबसे जागरूक, बौद्धिक साहित्यकारों में एक हैं, यानी वे संसार की वैज्ञानिक प्रगति के साथ चलते हैं, उससे उत्पन्न समस्याओं पर विचार करते रहते हैं, यह निःसन्देह बड़ी बात है। हिन्दी लेखक इस दिशा में कितना पीछे रहता है, इसे कहने की जरूरत नहीं। मैं सिद्धनाथ जी को उनकी इस बौद्धिक जागरूकता के लिए बधाई देता हूँ, किन्तु उन्होंने अपने विचारों को प्रकट करने के लिए जो माध्यम चुना है, वह शायद उपयुक्त नहीं है। आज के युग की अत्यन्त तीव्र संघातपूर्ण समस्याओं को उन्होंने काव्य का विषय बनाया है। 'सृष्टि की साँझ' विनाशकारी आणविक विस्फोटों के परिणाम

की ओर सकेत करती है। युद्ध क्यों होते हैं ? यह कितना गहरा और उत्तर-सापेक्ष प्रश्न है, इसे सिद्धनाथ जी ने अपने इस नाटक में दिखाया है। भयानक युद्धों के विजेता अन्त में एक नारी के लिए लड़ कर मर जाते हैं, सिद्धनाथ जी यदि इस प्रश्न को नितान्त गद्य-नाटक या उपन्यास के रूप में बाँधने का यत्न करते तो 'दि एप एड एसेन्स' की तरह कोई जानदार चीज आयी होती। 'लोह देवता' मशीनी सभ्यता से उत्पन्न प्रश्न है 'सघर्ष' कलाकार पकज के आन्तरिक और बाह्य जीवन का सघर्ष है। अविकसित मनुष्यता विकलागों के देश में चित्रित है। पीडित लोग अपने दुखों के कारण का अनुमान नहीं कर पाते, इसे कभी भाग्य-दोष मानते हैं, कभी प्रकृति का कोप लेखक ने 'बादलों के शाप' में इस परिस्थिति पर विचार किया है।

इन नाटकों में जहाँ कहीं लेखक बौद्धिक विचारों से मुक्त रहता है, वहाँ सहज रागात्मक भाव-प्रेरित कविताएँ मन को आकृष्ट करती हैं। सिद्धनाथ जी का काव्य-नाटक की टेकनीक का कौशल प्राप्त है, और उन्होंने स्थान स्थान पर प्रतिध्वनि, पार्श्वध्वनि और समवेत ध्वनि के द्वारा गहराई उत्पन्न करने का सफल कोशिश भी की है इस तरह 'लौह देवता' और 'बादलों के शाप' सफल रूपक हैं। काव्य-नाटकों मे प्राय इतिवृत्तात्मक निर्देशन परक और कथा सूत्र जोड़ने वाले सकेतों का, जिन्हें गद्य नाटककार कोष्ठकों में देते हैं, बताना पड़ता है कहीं ऐसे स्थल भी काव्य बद्ध कर दिये गये तो हास्यास्पद लगते हैं। अधिक से-अधिक रागात्मक अश ही चुनने चाहिए। 'विकलागों के देश में' पृष्ठ १२८ के डायलाग इसी तरह नीरस हो गये हैं। उन्हें यदि 'सघर्ष' के कथोपकथनों की तरह गद्य में रखा जाता तो कोई हर्ज न था।

अन्त में एक बात और कह दूँ कि इन नाटकों में ससार की जिस मर्शीनी, स्नेहहीन जुगुप्सित तथा कदर्य जीवन का चित्रण है, उसमें बीच-बीच में आशावादी स्वरों को इतनी मार्मिकता से लेखक ने पिरोया है, कि इस मायूसी के वातावरण में नयी प्रेरणा अकुरित होती दिखाई पड़ती है।

शिवप्रसाद सिंह

() प्राणगीत: प्रथम भाग (जिसका पुस्तक में कहीं उल्लेख नहीं है) लेखक नीरज, प्रकाशक, जैमिनी प्रकाशन, कलकत्ता, ४९ कविताएँ, पृष्ठ ८८, मूल्य २)

() प्राणगीत द्वितीय भाग, लेखक-प्रकाशक, उपर्युक्त, १७ कविताएँ पृष्ठ ३४, मूल्य १)

आजकल हिन्दी में सभवत कविता सग्रहों का प्रकाशन ही सर्वाधिक होता है। उन सबो मे प्राय: दो ही सुर होते हैं या तो प्रेम का सुर, या रोटी का। वस्तुतः प्रस्तुत दोनों सग्रहों में भी ये दोनों ही सुर वर्तमान हैं। अगर कुछ कविताएँ प्रेम-पथ, भाल सिन्दूर अजन, शलभ, दिया विधुर,साँस, मिलन विरह, हृदय सिंगार-सेज, उर्वशी इत्यादि से भरपूर हैं तो कुछ कविताओं में जमीन, आसमान, मौत, मरघट, कब्र आग, अगारे, आँसू, पेट, पूँजी, श्रम, रोटी, भूख, हँसिया हथौड़ा ऐटम बम, टैंक, कोरिया, एशिया शान्ति इत्यादि का बड़े जोर-शोर से गायन है। ऐसी भी कविताएँ हैं, जिनमें कवि दार्शनिक के रूप में सामने आता है और ऐसी भी जिनमें उपदेष्टा के रूप मे पाठकों का प्रकृति-पाठ कराता है—इन सग्रहों में कोई नवीनता नहीं, सब कुछ पुराना है, हिन्दी में आए दिन छपने वाले सैकड़ों कविता सग्रहों की कविताओं की तरह! किन्तु कुछ विशेषताएँ भी हैं इनमें, जो प्रस्तुत दोनों सग्रहों को अन्य सैकड़ों सग्रहों से पृथक् करती हैं, और जिनकी हम आगे चर्चा करेंगे।

विषय वस्तु की दृष्टि से देखें, तो हम दोनों सग्रहों की कविताओं को पाँच श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं

१ जिनमें ऐन्द्रिक प्रेम का स्वर प्रधान है और जो व्यष्टि के मधुचिन घेरे की है।

२. जिनमें ऐन्द्रिक प्रेम और कर्तव्य-भावना का समन्वय हुआ है, जिनमें कवि का 'व्यष्टि' अपनी पृथक् सत्ता रखते हुए भी 'समष्टि' के लिए है।

३. जिनमें विशुद्ध सामाजिक वस्तु तत्व है, जो समष्टि के विस्तृत क्षेत्र की है।

४ जिनमें दार्शनिकता का प्राधान्य है, कहीं निरपेक्ष रूप में और कहीं कर्तव्य-भावना के प्रेरक रूप में।

५ जो अपनी अथवा दूसरे कवि की कविताओं के अनुवाद है।

प्रथम भाग के प्रारम्भ में १० पृष्ठों की एक भूमिका 'दृष्टिकोण' शीर्षक से प्रकाशित है, जिसे कवि ने स्वयं लिखा है। उसमें उसने बड़े परिश्रम और अध्यवसाय से जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण, गद्य, कविता, काव्यगत सत्य, सौन्दर्य, प्रेम, मृत्यु, चिति, गति, यति इत्यादि की दार्शनिक विवेचना करते हुए अपनी कविताओं की व्याख्या की है। सौन्दर्य, प्रेम और मृत्यु का, उनके अलग-अलग शीर्षक देकर, उसने विशद् वर्णन किया है और उन्हीं के प्रकाश में अपनी कविताओं का स्पष्टीकरण किया है। इसमें एक तो लाभ यह हुआ है कि कवि के प्रतीक-विधानों को समझने में अब पाठकों को अधिक उलझन में नहीं पड़ना होगा। किन्तु ऐसे प्रतीक-विधानों में दार्शनिकता ही अधिक परिलक्षित होती है। उदाहरण के लिए कवि ने यह दर्शाने के लिए कि सौन्दर्य और मिट्टी के स्पर्श से चेतना (प्राण अथवा ताप) का जन्म होता है, अपनी कविताओं के ये उद्धरण दिये हैं

एक ऐसी हँसी हँस पड़ी धूल यह
लाश इन्सान की मुस्कराने लगी।
तान ऐसी किसी ने कहीं छेड़ दी
आँख रोती हुई गीत गाने लगी।

एक नाजुक किरण छू गयी इस तरह
खुद ब खुद प्राण का दीप जलने लगा।
एक आवाज आयी किसी ओर से
हर मुसाफिर बिना पाँव चलने लगा।

इसी प्रकार कवि कहता है, "यह एक विज्ञान-सम्मत सत्य है कि दो वस्तुओं के स्पर्श या घर्षण से ताप (heat) का उत्पत्ति होती है। मेरे गीतों में कई स्थानों पर इसकी प्रतिध्वनि मिलेगी, जैसे इन पंक्तियों में।

कहाँ दीप है जो किसी उर्वशी की
किरन उँगलियों को छुये बिन जला हो।"

ऐसी पंक्तियों में अभिव्यक्ति का कौशल अधिक हो जाता है, जिससे पाठक एक चमत्कारिक उलझन में पड़ा रह जाता है। भूमिका को समाप्त करते हुए अंत में कवि कहता है, "इन तीनों सत्यों (सौन्दर्य, प्रेम, मृत्यु) के अतिरिक्त एक चौथा सत्य भी है जिसका नाम है रोटी (पेट की भूख)।" फिर वह कहता है "जिस प्रकार हृदय (प्रेम) के माध्यम से मनुष्य अंत में विश्व की एकता तक पहुँचता है, उसी प्रकार रोटी के माध्यम से भी हम अंत में मानव-एकता तक पहुँचते हैं।" हम चौथे सत्य की उद्भावना के लिए कवि को बधाई। किन्तु फिर भी हमें यह कहना ही पड़ता है कि यदि कवि को अपनी कविताओं में बार बार अलापे हुए रोटी के राग का औचित्य न सिद्ध करना होता तो वह शायद उसकी मानव-एकता तक पहुँचने के एक माध्यम के रूप में अवतारणा करने की अतिशयोक्ति न करता।

अब हम उन कविताओं पर विचार करेंगे, जिनमें ऐन्द्रिक प्रेम की प्रधानता है और जो व्यष्टि के मधुचिन घेरे की है। उनमें कवि को संसार की चिन्ता नहीं है। उसे सिर्फ अपनी प्रियतमा की बाँह का सहारा चाहिए। उसके लिए उसकी प्रियतमा ही सब-कुछ है, जिसके बिना उसके लिए स्वर्ग भी व्यर्थ है :

जब न तुम ही मिले राह पर तो मुझे
स्वर्ग भी अब धरा पर मिले, व्यर्थ है।

कुछ कविताएँ आद्योपान्त पिष्टपेषण मात्र हैं और उनमें हैं, केवल पुरानी अभिव्यक्तियाँ! उनकी शैली बहुत घिस पिटे, सड़े-गले पुराने प्रेम गीतों की है। उदाहरण के लिए एक गीत की ये प्रथम दो पंक्तियाँ

मत इसे समझो खिलौना प्राण प्रेयसि
यह हृदय है यह हृदय है यह हृदय है!

किन्तु शेष प्रेम-गीत कवि की समष्टि चेतना के प्रति जागरूक हैं। उनमें कवि अपनी प्रिया को प्रेरणा के रूप में पाता है, जिसके मिलन में उसे लोक रंजन की प्रेरणा प्राप्त होती है और जिसके विरह में वह अपने को असहाय तथा अनिश्चय की स्थिति में पाता है

मिलन ने कहा था कभी मुसकरा कर
हँसो फूल बन विश्व-भर को हँसाओ
मगर कह रहा है विरह अब सिसक कर
झरो रात दिन अश्रु के साथ उठाओ
इसी से नयन का विकल जल कुसुम यह
न झर पा रहा है न खिल पा रहा है!
तुम्हारे बिना आरती का दिया यह
न जल पा रहा है न बुझ पा रहा है!
एक बार यदि अपने मदिर मदिर अधरों को
छू लो मेरे तृषित अधर मदिरागामयी तुम!
सच कहता हूँ हँस हँस कर मैं
जग भर का
विष पी जाऊँगा!

इस प्रकार के प्रेम-गीत अपने-आप में महत्त्वपूर्ण हो गये हैं और उनमें ऐन्द्रिक प्रेम एवं कर्तव्य-भावना का सुन्दर समन्वय हुआ है। उनमें कवि का 'व्यष्टि' अपनी पृथक् सत्ता रखते हुए भी 'समष्टि' के लिए सतत आग्रहशील है। यहीं पर उसकी कविताएँ सैकड़ों की संख्या में छपने वाले कविता-संग्रहों की पेटेंट प्रेम कविताओं से पृथक् होती हैं।

इधर नीरज के काव्य में जो एक मोड़-सा आया है, उससे हिन्दी-संसार भली भाँति परिचित है। इससे सभी को हर्ष हुआ है। और सचमुच उसी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन-क्षण में 'जमाने को यह खबर हुई है कि नीरज गा रहा है'! क्योंकि अब उसमें (जैसा कि प्रस्तुत दोनों संग्रहों में हम देखते हैं) सामाजिक चेतनाओं का उभार आया है, वह जीवन के समस्त मूल्यों पर अपनी राय रखता है, युद्धोत्तर संस्कृति के बढ़ते खोखलेपन को पहचानता है और फिर जीवन के नवीन मूल्यों की स्थापना चाहता है।

नीरज को वर्तमान समाज एवं संस्कृति से घोर असन्तोष है। वह कहता है :

घृणा और बारूद बाँटती हँसती मुसकाती है,
करो वेलकम नयी सभ्यता की देवी आती है!
मैं सोच रहा हूँ इस गति से चल कर जमीन
किस ओर आदमी की किस्मत ले जाएगी?
ऐसे ही गर विज्ञान चाटता रहा लहू
दुनिया सारी कितने दिन खैर मनाएगी?

उसके आँखों में नया सपना भी है

खेतों में सज रही बरातें खलिहानों में शादी है
डाल फसल का घूँघट बैठी मिट्टी की शहजादी है
रचा रही है मेंहदी खुरपी कुमकुम दिया कुदाली ने
हल ने बाँधा मौर, जोड़ दी गाँठ ज्वार की बाली ने
मस्त किसान खड़ा मेंड़ पर बिरहा कजली गाता है।
सोने वाले जाग, समय अँगड़ाता है।

इन कविताओं के अतिरिक्त कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिनकी 'अपील' देश-काल-निरपेक्ष है और जो प्रेरणा या उद्बोधन मात्र हैं जैसे 'क्या है यह तूफान, अरे मैं खुद आँधी बन कर चलता हूँ' इत्यादि अथवा 'उठो', 'जागो', 'आगे बढ़ो', 'फूल की तरह मुसकराओ', 'दिये की तरह जल कर प्रकाश दो' इत्यादि। इनमें नीरज का उपदेष्टा व्यक्तित्व एकदम नीरस एवं प्रभावशून्य रूप में आता है। ऐसे गीतों में इतिवृत्तात्मकता है, अतिशयोक्तियाँ हैं और व्यंजना का गुण अथवा परोक्ष 'अपील' शून्य है!

इसी प्रकार कुछ अन्य कविताओं में ये ही आशय दृष्टांत वर्णनाओं के माध्यम से प्रकट किये गये हैं, जिनमें कभी-कभी मनोपकथनों की भी व्यवस्था हुई है, जैसे,

सृष्टि हो जाए सुरभिमय इसलिए
कंटकों में फूल मुस्काता रहा
फूल ने मुस्करा कर तभी यह कहा
'यह बुझा है दिया क्यों इसे दिल दिया ?'
बोलने तब लगा नीड का एक तृण
'हर दुखी को दुखी से सदा प्यार है...'

ऐसी कविताओं में नीरज का कलापक्ष अत्यंत सबल नहीं है और जैसा अभी हमने कहा, उनमें पराक 'अपील' का अभाव है। उनकी शैली में वर्णनात्मकता और भयंकर एकरसता है। अन्य कविताओं में भी यत्र-तत्र भावों की पुनरावृत्तियाँ और घिसी-पिटी पुरानी कैफियतें प्रचुर मात्रा में देखने को मिलती हैं, और ऐसे स्थल खटकते हैं किन्तु शब्दों की योजना एवं लयों में अद्भुत बहाव के कारण पाठक उन पर अधिक ध्यान दिए बिना आगे बढ़ जाता है। इस अद्भुत बहाव का कारण संभवतः यही है कि कवि के पास कहने के लिए इतना कुछ है कि वह सारी उम्र में भी शायद पूरा न कह पाए। यह अद्भुत बहाव नीरज की शैली की एक अपनी आश्चर्यजनक विशेषता है।

अब हम उन कविताओं पर विचार करेंगे जिनमें दार्शनिक विचार हैं। इनमें अधिकांशतः जीवन, मृत्यु तथा उनके विविध रूपों की कल्पना-मात्र है। इन कविताओं में अधिकतर कवि की वास्तविक अनुभूति से शून्य कोरी दार्शनिकता है। इनमें कवि का अपना कुछ भी नहीं है सब कुछ उधार लिया गया है। 'नसेनी' इत्यादि कविताएँ इसी कोटि में आती हैं। इसके अतिरिक्त जीवन और मृत्यु की एक ही प्रकार की पेटेंट व्याख्याएं सुनते-सुनते हमारे कान पक गये हैं और कम-से कम नीरज के मुख से इस राग का आलाप हमें सुखद नहीं लगा। हाँ कुछ दार्शनिक विचार, जो विचारोत्तेजक एवं कर्तव्य प्रेरक रूप में स्वत: प्रसंगों या वर्णनाओं के बीच उद्भूत हो गये हैं, वे सुन्दर बन पड़े हैं।

उपर्युक्त कविताओं के अतिरिक्त इन संग्रहों की कविताओं में अनुवाद-पद्य भी सम्मिलित हैं। प्रथम भाग में अरविंद की सात कविताओं के पद्यानुवाद हैं और द्वितीय भाग में कवि की अपनी कविताओं के स्वत:-कृत हिन्दी से अंग्रेजी में अनुवाद एवं एक कविता का प्रोफेसर विष्णुपद भट्टाचार्य-कृत हिन्दी से बंगला में अनुवाद है। हमारी राय में अंग्रेजी और बंगला अनुवादों को इन संग्रहों में स्थान देना उचित न था। उनका पृथक् संग्रह होता तो अच्छा था। जहाँ तक प्रथम भाग में प्रकाशित अरविंद की कविताओं के सात पद्यानुवादों का प्रश्न है, हम उन पर विचार करेंगे। यदि हम उन्हें ध्यान से पढ़ें, तो एक बात तुरन्त स्पष्ट हो जाएगी कि मूल कविता की अभिव्यक्तियों का शब्दश: अनुवाद करने की चेष्टा की गयी है। फलत: भाषा संस्कृत गर्भित, भारी एवं दुरूह हो गयी है। वैसे संस्कृत-गर्भित भाषा के व्यवहार को मैं अनुचित नहीं मानता, बल्कि उसे गंभीर विचारों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम स्वीकार करता हूँ, किन्तु 'मम' और 'तव' इत्यादि शब्दों के व्यवहार का पक्ष मैं कतई नहीं ले सकता। यह भाषा प्रवृत्ति कभी कभी नीरज की उन मौलिक कविताओं में भी देखने को मिल जाती है जिनमें 'दृक्' जैसे शब्दों के प्रयोग हैं।

इन पद्यानुवादों में 'दिव्यसुमन', 'वृक्ष और आत्मा', 'निमंत्रण', 'विजयगान' बहुत सुंदर बन पड़े हैं। 'महालक्ष्मी' इत्यादि शेष अनुवादों की भाषा लचर और कहीं-कहीं अशुद्ध है। उस पर कहीं-कहीं प्रूफ की अशुद्धियों ने तो गजब कर दिया है। ये प्रूफ की अशुद्धियाँ सारी पुस्तक में टिड्डी दल की भाँति छायी हुई हैं और आपको बराबर आद्योपान्त ठंडी के लिए डंडी, धरती के लिए धड़ती, दिव्य के लिए दिघ्य, चेतना के लिए चतना इत्यादि पढ़ने को देती हैं।

अब जरा 'महालक्ष्मी' शीर्षक पद्यानुवाद की एक पंक्ति में 'जादूई' शब्द की अनुपम छटा देखिए *'माधुर्यमयी अपनी अनुपम जादूई छवि से'।* ध्यान देने योग्य बात यह है कि निश्चित रूप से यह प्रूफ की अशुद्धि नहीं है वरन् कवि की पाडुलिपि का ही चमत्कार है। इसी प्रकार 'जीवन और मरण' शीर्षक कविता की 'जीवन है सक्षिप्त मृत्युस्मय न शेष है' पंक्ति में 'स्मय' कौन-सा शब्द है, समझ में नहीं आता! निश्चय ही यह भी प्रूफ की अशुद्धि नहीं है। यदि मात्रा के ध्यान से 'समय' शब्द को ही यह रूप प्रदान किया गया है, तब तो अवश्य ही यह अपने आप में एक विचित्र प्रयोग है।

यति-भग एव मात्रा-दोष भी देख लीजिए 'ज्योति-शिखा-सी भृकुटिप्रदीपित तप्त काचन सदृश शरीर'। अब यदि 'तप्त कांचन' का 'तप्तकाचन' पढ जाए तब तो ठीक, वरना पंक्ति अशुद्ध है। इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण हमें मिलेंगे, जैसे, 'जीवन का चिर-वांछित सुख सब स्मृति पटल पर गया बिखर', 'भूतल के मानस में उतरो हे हिरण्यगर्भ मधु-गधनूर्य!', उनकी वेटी वेश्या बनायी जाएगी!', 'जा रहा हूँ किधर गति रथ विज्ञान चलाओ का' (मात्रा दोष) – इत्यादि।

इस प्रकार के यतिभग-दोषों, मात्रा-दोषों एव शब्द रूप के विकृतीकरण की तो कम से कम गीतकार नीरज से आशा नहीं की जाती थी! स्त्रीलिंग और पुल्लिंग के दोषों से भी कवि नहीं बच पाया है (*'गीता का साड़ी'* इत्यादि)!

उपर्युक्त श्रेणियों की कविताओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी विविध कविताएँ है, जिन्हे किसी विशिष्ट श्रेणी मे स्थान नहीं दिया जा सकता और जिन्हे सग्रह में स्थान देने का लोभ कवि नहीं सवरण कर पाया, जैसे महात्मा गांधी जवाहरलाल नेहरू, एवरेस्ट-विजय ३० जनवरी इत्यादि विषयक कविताएँ।

सम्यक् रूप से देखने पर कुछ त्रुटियों के बावजूद हमें कवि की महान् संभावनाओं के दर्शन होते है। भविष्य में कवि और भी उच्चकोटि के कलाकार के रूप मे आएगा, ऐसा हमारा विश्वास है। उसकी लेखनी में शक्ति है और ईश्वर करे, वह शक्ति मानवता को चिर-शक्ति प्रदान करने मे अधिक सक्षम हो! प्रथम भाग की २, ११, ३६, ३७, ३८ वी कविताएँ और द्वितीय भाग की २, ३, ४, एव १० वी कविताएँ विशेष रूप से सुन्दर और अच्छी बन पड़ी है।

पुस्तक की छपाई-सफाई अत्यत साधारण तथा विशेषता-रहित है। आवरण पृष्ठ सुन्दर है। पुस्तकों का मूल्य अधिक जान पड़ता है।

श्याममोहन

पुस्तक-परिचय

() **फिरदौसी**: मूल कवि, जि जाषुवा, अनुवादक, दुर्गानन्द, शिक्षक पब्लिशर्स, विजयवाड़ा-तेनाली, पृष्ठ सख्या ४२, मूल्य १)

तेलुगू भाषा के श्रेष्ठ कवि जाषुवा की यह अनुपम कृति है, जिसका अनुवाद हिन्दी के लिए गर्व की बात है।

() **रेखा चित्र**: राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, पृष्ठ-सख्या ९८, मूल्य १)

इस पुस्तक में हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा लिखे गये सग्रह रेखा चित्र, जीवनी सस्मरण सकलित किये है।

() **एकांकी रत्न** सपादक, प्रा. रा. मुडदकर, प्रकाशक, हिन्दी प्रचार सभा, वर्धा, पृष्ठ-सख्या १८१, मूल्य १॥)

हिन्दी के नाटककारों के सात एकांकियों का यह सग्रह है।

आत्मदेव

साहित्य-धारा

पिछले कई वर्षों से हिन्दी की नयी कविता वाद-विवाद का विषय बना हुई है। पूर्व निर्धारित-कसौटियाँ इस कुटकल विविध काव्य प्रयोगों को कसते-कसते घिस-घिसा कर, किनारे भी लग चुकी हैं। काव्य में केवल प्रयोग एवं शब्द श्रृंगार की उपयोगिता मानने वाले अथवा छिछले नारों के शब्द-समूह में अभिव्यक्ति शून्य काव्य की रचना करने वाले, दोनों आज एक सामञ्जस्य की ओर संकेत करने लगे हैं। लेकिन यह संकेत ही काफी नहीं है। हमारे कवि जो विशेषतः महज अभिजात्य, मनोवृत्तियों एवं कुण्ठाओं के वशीभूत हो कर अपने अहं की अभिव्यक्ति को परम काव्य मान कर, यह कहने लगे थे कि वे साधारण पाठक के लिए नहीं लिखते—उनका साहित्य तो विशिष्ट मानव-समुदाय का ही मन रंजित करना जानता है, वह भी संस्कारों की एक छैमाही ट्रेनिंग के बाद। उन्हें भी इन थोड़े दिनों के अनुभव ने शायद यह ज्ञान दे दिया है कि शब्दों की जादूगरी और विचारों के घालमेल को शायद कुछ थोड़े से उपजीवी पाठक या सहयोगी, समानवर्मी लोग पसन्द करें वर्ना उनके काव्य का कोई स्थायी महत्व नहीं है।

लेखक की खोखली वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं समाजवादी सामूहिक चिन्तन के हामी—दोनों ने अपने क्षेत्र-विशेष में काव्य की दुरूह अवगति देखी है। एक ओर वैयक्तिक अनुभूतियाँ निरे अहं के दायित्वहीन विचारों की शिकार बन कर शांति को तंकार हो गयी हैं तो दूसरी ओर रैक्सिन-बाउन्ड मोटे-मोटे काव्य पोथे शेल्फ की शोभा बढ़ाने-मात्र को खरीदे जाने लगे हैं। हमारी समस्या इन दोनों से परे है। एक ओर परम्पराओं की निर्जीव लीकें हैं तो दूसरी ओर विदेशी विचारकों के चिन्तन का उधार लिया हुआ चर्वित-चर्वण। सबसे

बड़ी चिन्ता की बात तो यह है कि हमारे साहित्यकारों में ही नहीं सारे समाज के पढ़े-लिखे बौद्धिक वर्ग में मौलिक चिन्तन का अभाव बढ़ता जा रहा है। यहाँ तक कि पराधीनता के समय, गाँधी जी के नेतृत्व में हम विचारों के लिए इतने गुलाम नहीं थे, जितने आज हो गये हैं। परम्पराओं के खूँटे के नीचे सामाजिक कुरीतियों को अन्धे हो कर हम ऐसे मानते चले जा रहे हैं, जैसे मिट्टी के पुतले हों। हमारे समाज के विचारकों में जीवन के प्रति विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण की यह भयानक कमी ही शायद हमें इस प्रकार के थोथे, निर्मूल और साहसहीन विचारों की ओर अग्रसर कर रही है। शायद हम कुछ नया सोचने में, नया कहने में, जो हमारी बुद्धि के अनुरूप और यथार्थ के समीप हैं, डरते हैं। शायद हम खड़े होने की ताकत महसूस नहीं नहीं करते, शायद हमारा स्वभाव अवसर के अनुकूल काम करके, पीछे चल पड़ने का बनता जा रहा है। शायद इसीलिए अपने चारों ओर फैले इस घोर अन्याय, व्यथा, कुसंस्कार गलाजत से आँख मूँद कर हम टी० एस० ईलियट और एजरापाउण्ड की दुहाई देने लगते हैं। अमेरिकन लैटिन पोएट्री और ग्रीक पोएट्री के मोटे-मोटे संग्रह पढ़ कर कविताएँ रचने लगते हैं। हम काव्य-निर्माण के लिए विषय निर्धारण या उसके संकेतमात्र को उपयोगी नहीं मान सकते, पर हमारे सामने समस्याओं के जो बिखरे सूत्र हैं, उनमें यह स्पष्ट है कि नया कवि हमारे नये समाज की समस्याओं को छूने से डरता है, जैसे वह उसका दुधमुँहा बच्चा हो और देखादेखे चलने से उस पर डाँट पड़ सकती हो। यह आधारभूत कमी है और शायद इसीलिए हमारे आगे इतना भटकाव है। छायावादी कवियों के यहाँ, जिन्हें हम यथार्थ से दूर, स्वप्नों में जीने वाला, न जाने क्या-क्या कहते रहे हैं, इतनी घोर निराशा, साहसहीनता, दायित्वों के प्रति उदासीनता और सबसे बढ़ कर सामाजिक समस्याओं के प्रति विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का इतना अभाव नहीं रहा है। सहसा 'सरोज स्मृति' का ध्यान हो आता है। इतनी व्यथा साधारणतः हमारे युग की किसी अन्य एक कविता में नहीं व्यक्त हो पायी, पर कवि की समाज-संगति उसकी अन्तर्दृष्टि, जिससे वह समाज को देखता है, कहीं भी धुँधली नहीं होती। उसकी दृष्टि समाज की कुंठाओं को अंधी हो कर नहीं स्वीकार करती—

वे जो जमुना के-से कछार
पद फटे बिवाई के, उधार
खाये के मुख ज्यों, पिये तेल,
चमरौंधे जूते से सकेल
निकले, जी लेते, घोर गंध
उन चरणों को मैं यथा अंध,
कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूँ ऐसी नहीं शक्ति।
ऐसे शिव से गिरिजा-विवाह
करने की मुझको नहीं चाह।

उस महान् रचना में काव्य का गहरा मर्म ही नहीं, छिपा है, बल्कि उसके कवि के उज्ज्वल व्यक्तित्व की अपनी सामाजिक प्रक्रियाएँ भी जगह-जगह व्यक्त हुई हैं। केवल यही दर्शाने के लिए प्रस्तुत पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं।

जब हम आज के नये कवि की रचना पढ़ते हैं, तो सामाजिक अन्तर्दृष्टि का अभाव और सबसे बढ़ कर उसकी वैयक्तिक निर्विकल्पता प्रायः इस बात का कारण बन जाती है कि हम उस काव्यमर्म को जान कर, रस ले कर भी अछूते रहें, क्योंकि कवि बड़ा नहीं है—वह पिछलग्गू की तरह कुछ थिरकती-कूदता बह कर कवि-धर्म का अनुगामी बन गया है। इसीलिए हिन्दी का नया काव्य व्यक्तित्वहीन काव्य है। वह परमुखापेक्षी है—कहीं भावनाओं के लिए, कहीं विचारों के लिए और मेरा तो ख्याल है कि इन असंगतियों से छुटकारा पाये बिना कोई महान् रचनाकार हमारे बीच उद्भूत नहीं हो सकता। मानवता को प्रकाश देने वाली काव्य-धारा,

'निराला के प्रति' पंत की इस कविता के अनुरूप ही होगी।

छंद-बंध ध्रुव तोड़, फोड़ कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता धारा
मुक्त, अबाध, अभग, रजत निर्झर सी निःसृत—
गलित ललित आलोक राशि, चिर अकलुष अविजित

'काव्य-धारा' (सपादक शिवदानसिंह, गोपाल कौल, प्रकाशक आत्माराम एन्ड संस, दिल्ली।) को पढ जाने पर भी मन को यही बात खटकती रही। कविताओ का सचयन इससे खराब शायद मैंने कुछ ही एक सकलनो में देखा होगा। यह ठीक है कि सम्पादक का आग्रह छदोबद्ध गीतात्मक रचनाओ पर रहे, पर उनमें कुछ तो ऐसा हो जो मन को भाए। अधिकाश ऐसी ही छन्दोबद्ध रचनाएँ देखने को मिली जो बच्चन के पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य-मच पर अपनी किसी पक्ति-विशेष के लिए वाह-वाह अर्जित करने में समर्थ होती रही है। बच्चन और उनके बाद के दो-एक कवियो के सगीत एवं छन्दो को आधार बना कर जो बहुत सारी काव्य-ममक्कन हिन्दी में होती है, उसका खासा बडा हिस्सा इसमे देखने को मिल जाएगा। और तो और, इधर हिन्दी के कवियों को रुबाइयात और गजल कहने का भी शौक लगने लगा है। जरा एक गजल का नमूना तो लीजिए—

प्राण समान हुई जाती है, शाश्वत गान हुई जाती है।
एक मधुर-सी टीस हृदय का जीवन यान हुई जाती है।
नभ में तारा, दृग में आँसू, जो धरती पर थी हिम कणिका,
ही बूँद दुर्दिन में जाने क्यों तूफान हुई जाती है।

इन्हीं कवि की कुछ रुबाइयात भी छपी है। इन तारीफ में बस इतना ही कहना काफी है कि वे मृत स्वर्गीय आत्माएँ जिन्होने न जाने कितने श्रम और साधना के बाद इस नयी छन्द-योजना निर्माण किया होगा, इस नवीन अभिधा से तड़प कर सिर पटक डालती होगी। ऐसे सग्रहों के सपादन में पर्याप्त परिश्रम और काव्य-पारखी दृष्टि की अपेक्षा होती है। बहुत सारा न छापने के योग्य भी इसमें छपा हुआ है। लेकिन साथ ही इस सकलन मे विशेषताएँ भी है। इसके गद्य-पद्य दोनो में व्याप्त मनोवृत्ति के पीछे उदार एव स्वस्थ प्रवृत्तियो का सकेत मिलता है। अवरोधात्मक मनस्थिति में इसके सम्पादकगण नही दीखते।

इस अक में गद्य का हिस्सा सबल एव विचारणीय है। चौहान जी का लेख और सम्पादकीय दोनो विचारपूर्ण और हिन्दी कविता पर महत्त्वपूर्ण राय देते हैं लेकिन प्रकाशित सामग्री का किसी ऐसे संकलन में इस तरह उपयोग उसके पाठको के प्रति अन्याय है।

इस अक की सर्वश्रेष्ठ रचना है नागार्जुन की 'तालाब की मछलियाँ'। यह कविता प्रस्तुत अंक ही की नही, प्रत्युत हिन्दी कविता की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। साथ ही गजानन माधव मुक्तिबोध, केदारनाथसिंह प्रयागनारायण त्रिपाठी आदि की कविताएँ इस अक के विशेष आकर्षण है।

उर्दू कविता का हिस्सा भी बहुत सन्तोषजनक नही है। लेख तो लगता है रेडियो की सोदाहरण स्क्रिप्ट हो।

'काव्यधारा' की ही भाँति साहित्यकार-संसद द्वारा प्रकाशित 'साहित्यकार' का पहला अक (मई, १९५५) सामने आया है।

देवी जी और इलाचन्द्र जोशी की देख-रेख में कोई पत्र निकले—यह हमारे लिए गौरव की बात है। 'साहित्यकार' के प्रस्तुत अक में महादेवी जी का 'श्री सुभद्राकुमारी एक सस्मरण,' अज्ञेय की कविता 'वहाँ हूँ,' शोपनहार का अनुवाद 'साहित्यिक ख्याति और उसका मूल्य' अच्छी रचनाएँ है। बालकृष्णराव का लेख 'आधुनिक कविता' नये काव्य की समस्याओ पर रोशनी डालता है। विचारो का सुलझाव तो